भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा

रामपूर्ति शर्मा

मणिद्वीप, दिल्ली

भारतीय दर्शन
की
चिन्तनधारा

रामभूर्ति शर्मा

मणिद्वीप, दिल्ली

भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा

भारतीय दर्शन
की
चिन्तनधारा

डॉ० राममूर्ति शर्मा
डी०लिट्०, एफ०आर०ए०एस०
राष्ट्रपति-सम्मानित
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
पूर्वकुलपति
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी

मणिद्वीप
दिल्ली-५२

२००१

प्रकाशक एवं वितरक

मणिद्वीप

बी.एस.-५, शालीमारबाग,

दिल्ली-५२

दूरभाष - ७४७३५७२

प्रथम संस्करण, १९९९

द्वितीय संस्करण, २००१

मूल्य रू० ८००/-

मुद्रक

श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स

नाटी इमली, वाराणसी-१



श्री वाग्देवी मन्दिर में स्थापित **श्री वाग्देवी की मूर्ति**

समर्पण

भारतीय मनीषा के धनी

महान् कवि

अप्रतिम प्रतिभासम्पन्न महामानव

परम सहृदय एवं प्रशासन-प्रवीण

प्रधानमन्त्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी

को

सूरज भान
राज्यपाल, उत्तर प्रदेश

सत्यमेव जयते

राज भवन
लखनऊ-227132

भारतीय दर्शन समस्त विश्व का प्रतिष्ठित दर्शन है, जिसका इतिहास भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम कृति ऋग्वेद से प्रारम्भ होकर आज तक सतत रूप से चला आ रहा है। इस प्रकार भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों, श्रीमद्भगवद्गीता, वेदान्तसूत्र, श्रीशङ्कराचार्य के भाष्य-ग्रन्थों, वैष्णव आचार्यों के ग्रन्थों, शैव-शाक्त ग्रन्थों एवं अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थों में प्रवहमान मिलती है। वर्तमान युग में, भारतीय दर्शन का व्यावहारिक विवेचन रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द घोष, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि रमण, स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं डॉ. सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् आदि दार्शनिकों के द्वारा सरलता से किया गया है।

भारतीय दर्शन जहाँ एक विशद दर्शन है, वहाँ दूसरी ओर यह एक मानवतावादी दर्शन है। इसमें **''वसुधैव कुटुम्बकम्''** की भावना होने के कारण समस्त विश्व एक सूत्र में बाँधने की क्षमता है। यह एक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन है। इसीलिये भारतीय दर्शन का अध्ययन एवं समादर योरप, अमरीका, लैटिन अमरीका एवं एशिया में भी विशेष रूप से हुआ है।

मुझे प्रसन्नता है कि भारतीय दर्शन के विद्वान् **डॉ. राममूर्ति शर्मा** ने प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तर्गत **'भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा'** का आद्योपान्त अनुशीलन सरल शैली में प्रस्तुत किया है। डॉ. शर्मा के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनका आदर देश-विदेश में हुआ है। इनके ग्रन्थों में 'अद्वैत-वेदान्त' तथा 'इन्साइक्लोपीडिया आफ़ वेदान्त' विशेष रूप से समादृत हुए हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि डॉ. शर्मा की प्रस्तुत कृति का भारतीय दर्शन के क्षेत्र में सर्वथा समादर होगा। मैं इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के लेखन के लिये लेखक को बधाई देता हूँ तथा इसकी सफलता के लिये अपनी शुभ कामनाएँ प्रस्तुत करता हूँ।

सूरज भान
(सूरज भान)

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा जीवन्त एवं गतिशील होने के कारण सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक परिवेष के अनुरूप विविध रूपों एवं आयामों में परिवर्तित होती रही है। दार्शनिक चिन्तनधारा के मूल स्रोत, यदि ऋग्वेदसंहिता में हैं, तो इसका प्रौढ प्रवाह उपनिषदों से प्रारम्भ होता है। यद्यपि उपनिषदों में सभी दार्शनिक सिद्धान्तों के बीज उपलब्ध हैं, किन्तु उनका प्रमुख प्रतिपाद्य वेदान्त है। भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में, यह तथ्य विचारणीय है, कि समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास परस्पर संबद्ध एवं उत्तरोत्तर विकासशील है। अत एव, जहाँ, प्रत्येक दर्शनपद्धति में, तत्पूर्ववर्त्ती दार्शनिक विचारधारा के सूत्र वर्त्तमान हैं, वहाँ दूसरी ओर, उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नवीन उद्भावनाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। यह तथ्य भी अविस्मरणीय है, कि सभी दार्शनिक चिन्तनधाराएँ, उत्तरोत्तर पूर्ववर्त्ती विचारधाराओं की न्यूनताओं की पूरक हैं। निदर्शनार्थ, न्यायशास्त्र की पदार्थशास्त्रविषयक न्यूनता, वैशेषिक में पूर्ण हुई थी। प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत अनुशीलित ऋग्वेद से प्रारम्भ कर उन्नीसवीं, बीसवीं शताब्दी तक के दार्शनिक चिन्तन के अन्तर्गत उपर्युक्त तथ्यों की चरितार्थता सुस्पष्ट है।

यह उल्लेखनीय है, कि प्रायः, भारतीय दर्शन के इतिहास लेखकों ने उन्नीसवीं, बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों, रामकृष्ण परमहंस एवं जे.कृष्णमूर्ति आदि के विचारचिन्तन का स्वतन्त्र रूप से निरूपण नहीं किया है। निश्चय ही, विविध सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप प्रादुर्भूत आधुनिकयुगीन दार्शनिकों की उद्भावनाएँ एवं विचारणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। अत एव, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, इस ग्रन्थ के अन्तर्गत आधुनिक युग के दार्शनिकों के विचार-चिन्तन को स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत किया गया है। इससे भारतीय दर्शन के परिशीलन की समग्रता सम्पन्न हुई है। इस लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ में, अधिकतर दुर्लभ पाण्डुलिपियों एंव दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों का आश्रय लिया है। अतः उपर्युक्त दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ को विनतभाव से अपने ढंग का प्रथम प्रयास कहा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार पर भारतीय दर्शन की विशेषताएँ, इस प्रकार रेखाङ्कित की जा सकती हैं–

१. भारतीय दर्शन के मूल बीज वैदिक संहिताओं में वर्त्तमान हैं, किन्तु उपनिषदें समग्र भारतीय दर्शन की गंगोत्री हैं। भोगवादी चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन के सूत्र भी उपनिषदों में ही वर्त्तमान हैं। चार्वाक का देहात्मवाद उपनिषदों में वर्णित पूर्वपक्ष का ही सिद्धान्त रूप है। बौद्ध भी प्रच्छन्न रूप से आत्मवादी ही है।

२. भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा की सभी विचारधाराएँ एक-दूसरी की विरोधिनी न होकर परस्पर सम्बद्ध, समन्वयात्मक, गतिशील एवं विकासोन्मुख हैं।

३. भारतीय दर्शन के अन्तर्गत विविध सम्प्रदाय एवं सिद्धान्तगत विचारवैचित्र्य भारतीय मनीषा की उदात्त प्रतिभा के परिचायक हैं।

४. भारतीय दर्शन की चेतना के मूल स्वर अध्यात्मपरक होने के कारण, सम्प्रदायभेद होने पर भी भारतीय दर्शन में उद्देश्य की एकता है।

५. वेदों का सिद्धान्तपक्ष, वेदान्त भारतीय दर्शन का केन्द्रस्थ एवं प्रौढ स्तम्भ है। अत एव उपनिषत्परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तों पर औपनिषद वेदान्त का प्रभाव परिलक्षित है।

६. शङ्कराचार्य समस्त दर्शन जगत् के सम्राट् हैं। परिणामतः, रामानुजाचार्य आदि वैष्णवों के विशिष्टाद्वैतवाद आदि सिद्धान्त शाङ्करवेदान्त की प्रतिक्रिया के ही परिणामस्वरूप हैं।

७. शैव दर्शन का शिवाद्वयवाद, प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ईश्वराद्वयवाद एवं शक्त्यद्वैतवाद आदि सिद्धान्त अद्वैतवाद के ही यत्किंञ्चित्, परिवर्त्तित, प्रगत एवं परिवर्द्धित रूप हैं।

८. १८वीं बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द घोष, स्वामी रामतीर्थ एवं महर्षि रमण आदि के दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त दर्शन के ही प्रतिफल हैं।

९. आधुनिकयुगीन कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य एवं जे. कृष्णमूर्ति प्रभृति विचारशील दार्शनिकों के सिद्धान्त वेदान्त के ही रूपान्तरित स्वरूप हैं। इन दार्शनिकों का Absolutism (निर्गुणवाद) मूलतः, ब्रह्मवाद ही है।

१०. भारतीय दर्शन वर्त्तमान से सम्बन्धित एवं मोक्षपरक होने के कारण एक सम्पूर्ण दर्शन है। विशेषकर वेदान्त-सम्मत जीवनदर्शन जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त के अनुरूप, इसी संसार में आदर्श जीवन व्यवहार से मोक्ष का साधक है। अतः भारतीय दर्शन को पलायनवादी कहना भ्रमपूर्ण है।

११. अध्यात्मवाद एवं आत्मवाद के भारतीय दर्शन के अधिष्ठान होने के कारण, यह दर्शन विश्वजनीन दर्शन है।

१२. भारतीय दर्शन के समष्टिमूलक एवं समग्र मानवता से सम्बद्ध होने के कारण, इसका अध्ययन-अनुशीलन समस्त विश्व में दीर्घकाल से होता रहा है, तथा विश्व इसके प्रति आस्थावान् है।

१३. भारतीय दर्शन के अन्तर्गत व्याख्यात पुनर्जन्मवाद एवं परलोकवाद का यह प्रत्यक्ष फल है, कि व्यक्ति दुष्कर्म से भयभीत एवं सत्कर्म के प्रति प्रेरित होता है।

१४. यों तो, भारतीय दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदाय न्यूनाधिक रूप में, मानव जीवन का आदर्श पक्ष निर्धारित करते हैं, किन्तु जीवन दर्शन का प्रमुख व्याख्याता होने के कारण, इस सम्बन्ध में वेदान्त अग्रणी है।

१५. वर्त्तमान जीवन की वैयक्तिक, नैतिक एवं सामाजिक समस्याओं तथा पारिवारिक विषमताओं एवं विविध विसंगतियों का समाधान एवं जीवन मूल्यों की रक्षा वेदान्त के द्वारा ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त दर्शनशास्त्रविषयक अनेक संघर्ष वेदान्त द्वारा समाधेय हैं।

चालीस वर्ष से अधिक अध्ययन के फलस्वरूप, प्रस्तुत ग्रन्थ, भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा को भारतीय दर्शन के अध्येताओं एवं अनुसन्धित्सुओं को उपहृत करने में, मुझे परम हर्ष का अनुभव हो रहा है। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है, कि मेरा यह सारस्वत प्रयास उसी प्रकार समाहत होगा, जिस प्रकार मेरे अन्य ग्रन्थ–शङ्कराचार्य (डॉ. राधाकृष्णन् द्वारा प्रशंसित), अद्वैतवेदान्त : इतिहास तथा सिद्धान्त, वेदान्तसार, वेदान्त एवं जीवन दर्शन, Some aspects of Advaita Philosophy, Glimpses of Vedānta तथा Encyclopaedia of Vedānta, अन्तरराष्ट्रिय विद्वत्समाज में समादृत हुए हैं। इस प्रोत्साहन के लिए, मैं भारतीय दर्शन के अध्येताओं का कृतज्ञ हूँ।

यह कहने में प्रसन्नता है, कि एतद्ग्रन्थविषयक अध्ययन के निमित्त मुझे भारतीय दर्शन के अनेक विद्वानों एवं उनके ग्रन्थों से सहयोग प्राप्त हुआ है। एतदर्थ, मैं इन विद्वानों के प्रति श्रद्धावनत हूँ। इसके साथ-साथ, देश के अनेक पुस्तकालयों एवं मैनुस्क्रिप्ट-केन्द्रों, जैसे, सरस्वतीभवन लाइब्रेरी, वाराणसी, मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी त्रिवेन्द्रम्, एल.डी. रिसर्च इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद एवं ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा से पर्याप्त सहयोग मिला है, जिसके लिए मैं इन सब के अधिकारियों के प्रति धन्यवाद निवेदन करता हूँ। इस सम्बन्ध में, मैं, दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय के असिस्टेंट लाइब्रेरियन डा.जे.बी. खन्ना का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ, जो सदैव अध्येताओं की सेवार्थ तत्पर रहते हैं!

मैं अपनी समस्त सारस्वत साधना का श्रेय अपनी पत्नी श्रीमती चेतन शर्मा को देता हूँ, जिनके सौहार्द्र एवं सहयोग से ही मेरी यत्किञ्चित् साधना निष्पन्न हो सकी है। पुत्री डा. श्रीमती प्रीति कौशिक ने भी इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि आदि तैयार रहने में मुझे सहयोग देकर मेरे कार्य को सरल किया है। एतदर्थ मैं इन्हें आशीर्वाद देते हुए, इनके कल्याण की कामना करता हूँ। स्वाध्यायचिन्तन समस्त पारिवारिकों के सहयोग के बिना असम्भव है। एतदर्थ मैं सभी पारिवारिकों का शुभकामी होते हुए, उनके सर्वविध अभ्युदय की कामना करता हूँ। इस सम्बन्ध में, पौत्री चि. शिवी का उल्लेख किए बिना नहीं रह सकता, जिसने प्रायः अपने सहज हासोल्लास से मेरी स्वाध्यायजन्य श्रान्ति को दूर किया है।

अपने विशेष प्रतिभाशाली छात्रों में, डा. मायावती, रीडर संस्कृत-विभाग, करोड़ी मल कालेज (दिल्ली विश्वविद्यालय), डा. हरि सिंह शास्त्री, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, एम.एल.एन. कालेज, रादौर (कुरुक्षेत्र, विश्वविद्यालय) एवं डा. प्रेमपाल राणा (हि. प्र.) ने भी प्रस्तुत प्रायोजना में येन केन प्रकारेण सहयोग किया है, जिसके लिए मैं इन सब के प्रति नितान्त श्रेयस्काम हूँ। इस ग्रन्थ की अनुक्रमणिका आदि तैयार करने में, मेरे मित्र डा.राजपाल सिंह एम. ए. (अवकाशप्राप्त, अंग्रेजी लेक्चरर) एवं डा. सीमा अग्निहोत्री ने मुझे विशेष सौहार्द्र. पूर्ण सहयोग प्रदान किया है, जिसके लिए मैं इनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

श्री राजीव छावड़ा (अमृत प्रिंटिंग प्रेस, किंग्सवे कैम्प) एवं एस. एन कम्प्यूटर्स, लारेंस रोड़, केशव पुरम, प्रस्तुत ग्रन्थ के मुद्रण में विशेष मनोयोग से सहायक सिद्ध हुए हैं। ये मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

महाशिवरात्रि १९९९ **राममूर्त्ति शर्मा**

मणिद्वीप
शालीमारबाग (बी. एस. ५)
दिल्ली-५२

कृतज्ञता-ज्ञापन

प्रशासन-प्रवीण एवं चिन्तनशील, महामहिम राज्यपाल परम सम्माननीय श्री सूरजभान जी ने अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी अपना बहुमूल्य समय प्रदान कर प्रस्तुत ग्रन्थ, भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा, का आमुख लिखने की अनुकम्पा की है, एतदर्थ मैं उनका परम अनुगृहीत हूँ।

राममूर्ति शर्मा

पुरोवाक्

(द्वितीय संस्करण)

मुझे परम हर्ष का अनुभव हो रहा है, कि मेरे, **भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा** (१९९९) का प्रथम संस्करण एक वर्ष से भी कम समय के अन्तर्गत समाप्त हो गया। पाठकों एवं पुस्तक विक्रेताओं के अत्यन्त आग्रह किये जाने पर भी, विश्वविद्यालय के प्रशासनिक कार्य की व्यस्तता के कारण प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में विलम्ब हुआ है, एतदर्थ यह लेखक क्षमा-प्रार्थी है। इस संस्करण में यथापेक्षित परिवर्तन-परिवर्द्धन भी किया गया है। आशा है, यह पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। इसके प्रकाशन में, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रकाशन संस्थान के निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** ने जो सहयोग किया है, तदर्थ डॉ. त्रिपाठी को मेरा विशेष धन्यवाद है। इसी प्रकार **श्री अनूप कुमार नागर** भी धन्यवादार्ह हैं, जो इस ग्रन्थ की साज-सज्जा के कर्ता-धर्ता हैं। जिन अन्य व्यक्तियों ने प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में सहयोग किया है, उनमें **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय, डॉ. ददन उपाध्याय, श्री कन्हई सिंह कुशवाहा, श्री अशोक कुमार शुक्ल** तथा **श्री अतुल कुमार भाटिया** के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके प्रति मेरी प्रचुर शुभकामनाएँ हैं।

अन्त में, मेरी पौत्रियों **चि० शिवी** एवं **चि० आद्या** ने भी अपनी वात्सल्यस्वभावजन्य लीलाओं से मेरे श्रम को दूर किया है, एतदर्थ उनके प्रति मेरी प्रचुरातिप्रचुर आशीराशि निवेदित है।

मुझे पूर्ण विश्वास है, कि मेरे अन्य बीस ग्रन्थों के समान प्रस्तुत संस्करण का भी विद्वत्समाज में पूर्ण समादर होगा।

वाराणसी
मकर-संक्रान्ति
संवत् २०५७

राममूर्ति शर्मा
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

भूमिका

दर्शन मानव की शाश्वत सम्पत् है। जब से मानव जाति का आरम्भ है तभी से दर्शन का भी आरम्भ मानना चाहिए। इस संसार का स्रष्टा कौन है, संसार की कोई सर्वोपरि नियन्त्रण शक्ति अवश्य है, कर्मफल अवश्यंभावी एवं भोग्य है, सुखशान्ति कैसे प्राप्त हो, इस प्रकार की धारणाएँ एवं जिज्ञासाएँ मानव स्वभाव में अन्तर्निहित हैं। यह इसी से सिद्ध है, कि वैदिक-वाङ्मय एवं तत्परवर्ती समस्त भारतीय दर्शनसाहित्य के अन्तर्गत, उपर्युक्त मूलसूत्रों का ही विस्तार एवं व्याख्या सर्वतोभावेन सम्पन्न हुई है। वैदिक ऋषि ने ऐहिक एवं पारलौकिक रहस्यों का साक्षात्कार करते हुए परम 'सत्' तत्त्व को समस्त ब्रह्माण्ड का आधार कहते हुए, मानोंभावी आस्तिक दर्शनपरम्परा का शिलान्यास किया है। संहितावर्त्ती समस्त देववाद इसी परम सत् तत्त्व का प्रकारान्तर से व्याख्यार्थ है। उपनिषदो में जिस वेदान्त सम्मतअद्वैतवाद की प्रतिष्ठा हुई है, तथा शंकराचार्य ने जिस अद्वैतवाद का महान् प्रासाद निर्मित किया, उसका बीजमन्त्र भी ऋग्वेदसंहितावर्त्ती उक्त 'सत्' तत्त्व ही है। इस प्रकार आस्तिक दर्शन का आधार एवं केन्द्रबिन्दु संहितावर्त्ती सद्वाद है। परिणामतः, इसी सत् तत्त्व की गवेषणा एवं प्राप्ति समस्त आस्तिक दर्शन का साध्य है। अत एव भारतीय दर्शन की मूल चिन्तनधारा वैदिक संहिताओं के मूल स्रोत से प्रस्फुटित हो, ब्राह्मणों एवं आरण्यकों के मार्ग से प्रवाहित होती हुई, उपनिषदों की गंगोत्री में अपने नितान्त सशक्त रूप में प्रकट हुई है। दूसरे शब्दों में, उपनिषदें ही भारतीय दर्शन की दृढ़ आधारभूमि हैं। यद्यपि प्रधानतया उपनिषदें वेदान्त की ही प्रस्थापक एवं प्रवर्त्तक हैं, किन्तु फिर भी यह कहना दुष्कर है, कि उनमें वेदान्तेतर सिद्धान्तों के आधारसूत्र उपलब्ध हैं। वास्तविकता तो यह है, कि उपनिषदें साम्प्रदायिकता से बहुत दूर हैं। उनमें तपस्वी आध्यात्मिकों एवं महान् (दार्शनिक) विभूतियों के स्वतन्त्र चिन्तन एवं स्वानुभूतियाँ वर्णित एवं व्याख्यात हैं। यही कारण है, कि भारतीय दर्शन के गवेषी विद्वानों ने भारतीय षड्दर्शन ही नहीं, अपितु नास्तिक दर्शनों, बौद्ध एवं जैन दर्शन के भी मूल, उपनिषदों में उपलब्ध किए हैं। ये विद्वान् जैन-बौद्ध दर्शन के अंहिसा एवं विज्ञानवाद तथा शून्यवाद सिद्धान्त का आधार औपनिषद आत्मवाद को ही मानते हैं। इस प्रकार यह कहना समुचित होगा, कि जिस सूत्रपद्धति के द्वारा गौतम एवं कणाद आदि के द्वारा न्यायादि षड्दर्शनों का शिलान्यास किया गया था, उसकी मूलाधार उपनिषदें ही हैं। इसीलिए षड्दर्शन के भाष्यकारों, वात्स्यायन (न्याय), प्रशस्तपाद (वैशेषिक), विज्ञानभिक्षु (सांख्य), शबर ने (पूर्वमीमांसा), व्यास (योग) एवं शंकराचार्य (वेदान्त) तत्-तत् सूत्रग्रन्थों के भाष्यप्रणयन में उपनिषद् सिद्धान्तों का यथापेक्षित आश्रय लिया है तथा न्यूनाधिक उपनिषद् वाक्यों को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है।

भारतीय दर्शन की आस्तिक चिन्तनधारा के अन्तर्गत यह पक्ष विशेष रूप से अवलोकनीय है, कि भारतीय दर्शन पूर्णतया एक आशावादी एवं समन्वयात्मक दर्शन है। फलतः, भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा में जगदीश्वर अथवा जगत् का नियन्त्रण करने वाली सर्वोपरिशक्ति, जीव, जगत्, प्रकृति, कर्म, सृष्टि एवं मोक्षादि की जो मीमांसा साक्षात् अथवा प्रकारान्तर से सम्पन्न हुई है, इससे भारतीय दर्शन की एकरूपता सुस्पष्ट है। जहाँ तक, तत्-तत् दर्शनों के अन्तर्गत पारस्परिक सिद्धान्तभेद का प्रश्न है, वहाँ यह कहना होगा, कि सिद्धान्तभेद भारतीय प्रतिभा एवं स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का द्योतक है, एवञ्च यह भारतीयदर्शन ही नहीं; अपितु इतर शास्त्रों की भी चिन्तन एवं व्याख्यानपरम्परा का एक वरदान है। वस्तु-तस्तु भारतीय दर्शन के अन्तर्गत विषमता में समता है।

भारतीय षड्दर्शन के अन्तर्गत भी, यह तथ्य विशेष रूप से अवलोकनीय है, कि यह एक समन्वित चिन्तनधारा है, विषमता बाह्य प्रतीति है, आन्तरिक नहीं। निदर्शनार्थ षड्दर्शन मोक्षपरक हैं। विषमता इसी प्रकार समझी जा सकती है, जिस प्रकार एक ही लक्ष्य स्थान तक पहुँचने के लिए, अनेक मार्ग हों। न्याय आदि सभी दर्शनों ने मोक्षप्राप्ति में अविद्या-माया एवं मिथ्याज्ञान को बोधक माना है। न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र, "दुःखजन्मप्रकृति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" में ही मिथ्याज्ञान की मोक्ष में बाधकता का निर्देश किया है। इसी प्रकार वैशेषिक के अन्तर्गत भी, प्रशस्तपाद ने संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय एवं स्वप्नभेद से अविद्या के चार भेद किए हैं। (प्र.पा.भा. बुद्धि निरूपण) वैशेषिक का विपर्यय वेदान्त का अध्यास ही है। इसी प्रकार सांख्यदर्शन में पुरुष के कर्तृव्य एवं प्रकृति के चैतन्यभाव की प्रतीति अज्ञान है। संक्षेप में, सांख्य में प्रकृति एवं पुरुष में भेदबुद्धि ही विवेकबुद्धि अथवा ज्ञान है, तथा इसके विपरीत प्रकृति एवं पुरुष का सम्पृक्त मानना ही अज्ञान है।

योगदर्शन में भी अविद्या को अस्मितादि एवं समस्त क्लेशों का कारण कहा गया है (अविद्याक्षेत्र प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मिताहीनाय, मो. भा. २।४)। ऐसे ही, पूर्वमीमांसा में भी प्रपञ्च को अविद्या निमित्तक कहा है (अविद्यानिमित्तो हि प्रपञ्चः, शास्त्रदीपिका पृ. ३५६)। अद्वैतवेदान्त का तो अद्वैत प्रासाद ही अविद्या के सिद्धान्त पर आधारित है (अध्यासं पण्डिता अविद्या इति मन्यन्ते, ब्र.सू. शा.भा. १।१।१)। इन सन्दर्भों में अक्षरभेद होते हुए भी समन्वयात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट है। सभी दर्शनों में इस विषय में भी ऐकमत्य है कि अविद्या की निवृत्ति होने पर एवं तत्त्वबोध होने पर ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं। न्यायसूत्र (१।१।२) में स्पष्ट ही "तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" कहा है। वैशेषिक में भी "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" कहकर निःश्रेयस को चरम साध्य के रूप में वर्णित किया है। एवं विपर्यय को वस्तुज्ञान में बाधक माना है (प्र.पा. भा. पृ० ५३८)। सांख्य के अन्तर्गत तत्त्वज्ञान साध्य केवलज्ञान को परमार्थ के रूप में निरूपित किया है : "एवं तत्त्वाऽभ्यासान्नास्मि न मे" सां. का. ६८ "नाऽहमिव परिशेषम्। अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते" योगदर्शन में, अविद्या को समस्त क्लेशों का कारण कहा है। (भोजवृत्ति, २।८) तथा अविद्यानिवृत्ति होने पर मोक्ष सिद्धि प्रतिपादित की गई है। इसी प्रकार पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत भी "प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः" (शा. दी. पृ. ३५) अविद्याजनित प्रपञ्च को मोक्ष में बाधक मानते हुए, प्रपञ्चसम्बन्ध के नाश को मोक्ष कहा है। अद्वैत दर्शन में तो अनेकानेक स्थलों पर अविद्यानिवृत्ति के होने पर मोक्षप्राप्ति की बात कही है। जहाँ तक, मोक्ष का सम्बन्ध है, यदि वह न्याय में अपवर्ग है, तो वैशेषिक में निःश्रेयस है, एवं सांख्य, योग में कैवल्यात्मक ज्ञान है। जैसा कि कहा गया है, मीमांसा का मोक्ष भी प्रपञ्चबुद्धि के नाश से उत्पन्न ज्ञान ही है। वेदान्त का मोक्ष तो

साक्षात् ज्ञानस्वरूप ही है–"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"। सभी दर्शनों के मोक्ष सिद्धान्त का यही चरम स्वरूप है।

अब ईश्वर के सम्बन्ध में विचार करें। न्यायकुसुमाञ्जलिकार ने अनेक तर्कों के आधार पर ईश्वरसिद्धि की है। न्यायदर्शन के अनुसार परमाणुओं में अदृष्ट संयोग होता है, एवं ईश्वर जगत् का निमित्तकारण है। अदृष्ट ही ईश्वर है। वैशेषिक के अनुसार ईश्वर निःश्रेयस के हेतु तत्त्वज्ञान के कारण स्वरूप धर्म का प्रेरक है–"चोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव", प्र. पा. भा. पृ. २, सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति सिद्ध की गई है। पुरुष एक प्रकार से, ईश्वर का ही पूर्वस्वरूप है। विज्ञानभिक्षु का सांख्य तो सेश्वरसांख्य के रूप में प्रसिद्ध ही है। अत एव योगदर्शन में "पुरुष विशेष" को ईश्वर कहा है–"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"। पूर्वमीमांसा में जैमिनि ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते। ईश्वर की अस्वीकृति में प्राचीन मीमांसक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं, कि एक ईश्वर अनेक प्रकार की सृष्टि नहीं कर सकता। जहाँ तक व्यक्ति के कर्मों के फल प्रदान करने का प्रश्न है, यह कार्य वे ईश्वर के स्थान पर अपूर्व सिद्ध करते हैं। 'अपूर्व' कर्म एवं फल के बीच की श्रृंखला है। वेदान्तदर्शन में आकर ईश्वर की प्रतिष्ठा सगुण ब्रह्म के रूप में हुई है। यह स्वाभाविक है, कि कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में सभी दर्शनों में समानरूप से विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक असत्कार्यवादी है, तो सांख्ययोग सत्कार्यवादी है। मीमांसा इन सब का समाहार वेदान्त के विवर्त्तवाद सिद्धान्त में हुआ है। कर्म एवं ज्ञान, दोनों ही भारतीय दर्शन के सर्वोपरि तत्त्व हैं। यद्यपि कर्म संसार है, एवं ज्ञान परलोक अथवा अध्यात्म, किन्तु धर्म के बिना अध्यात्म कहाँ, तत्त्वज्ञान कहाँ! कर्म ही तो ज्ञान का, अध्यात्म का पथप्रदर्शन करता है, चाहे वह, जैसा कि शांकरवेदान्त स्वीकार करता है, परमार्थज्ञान का साक्षात् कारण न हो। इस प्रकार कर्म की महत्ता स्पष्ट है। न्यायवैशेषिक के अन्तर्गत कर्मपदार्थ भी गुण के समान द्रव्य में आश्रित धर्म है। कणाद ने कर्म का लक्षण करते हुए कहा है–"एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्"। (वै.सू.१.१.१६) सांख्य एवं योग, दोनों में ही कर्म की महत्ता स्वीकार की गई है। सांख्य धर्म (कर्म) को उत्थान, एवं अधर्म को पतन का कारण मानता है–"धर्मेण गमनमूर्ध्वगमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण" (सां. का. ४४)। एवञ्च "संस्कारवशाच्चक्रनेमिवद्धृतशरीरः" (सां. का. ६६), कहकर भी पुरुष के जीवनधारण के मूल में संस्कारों का उल्लेख करके अप्रत्यक्ष रूप से पुनर्जन्म एवं कर्म की ओर ही निर्देश किया है। क्योंकि, कर्म एवं संस्कार का चक्र स्वाभाविक है, कर्म संस्कारों के आधार हैं, एवं संस्कार, भावी कर्मों के संस्कार ही वृत्ति के भी जनक हैं। योग में तो सविकल्पक समाधि-पर्यन्त यम-नियमादि कर्म का ही खेल है। पूर्वमीमांसा का यज्ञादि कर्म चित्तशुद्धि का कारण होने से मोक्ष का हेतु है। अप्रत्यक्ष रूप से, उत्तरवर्ती पूर्वमीमांसा तो समग्रतया ही कर्मदर्शन है। पूर्वमीमांसा में ईश्वरार्पण बुद्धि से किए गए कर्म को निःश्रेयस का हेतु कहा है। "ईश्वरार्पणबुद्ध्याक्रियमाणं तु कर्म निःश्रेयसहेतुः" (अर्थसंग्रह)। यही स्थिति वेदान्त की भी है। शंकराचार्य उपदेशसाहस्री में कहते है–"तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः"।

इस प्रकार भारतीय दर्शन के अहम् सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दृष्टिपात करने से, यह स्पष्ट है कि षड्दर्शन में एक समन्वयात्मक एवं समग्र दृष्टि है। जो परस्पर विरोधप्रतीति है, वह स्वतन्त्रचिन्तन की द्योतक है। इस थोड़ी-बहुत विषमता से यह भी सिद्ध है, कि भारतीय दर्शन में कट्टरपन्थी अथवा अन्धानुकरण नहीं है। दूसरे, भारतीय दर्शन की यह समन्वय भावना केवल आस्तिक दर्शनों तक ही

सीमित नहीं है, अपितु नास्तिक दर्शनों, चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। उदाहरणार्थ, आस्तिक दर्शनों–न्यायादि में तो किसी न किसी रूप में आत्म तत्त्व को स्वीकार किया ही गया है, किन्तु सूक्ष्मतया विचार करने पर अनात्मवादी नास्तिक दर्शनों में भी आत्मवादी पृष्ठभूमि स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। जैसे, चार्वाक शरीर को ही आत्मा कहता है "शरीरमात्मेति"। इसी प्रकार जैन दर्शन का स्याद्वाद एवं बौद्धों का शून्यवाद एवं विज्ञानवाद भी औपनिषद आत्मवाद की ही पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। जिस प्रकार आत्मा निराकार एवं निरूप है। उसी प्रकार विज्ञान एवं शून्य भी निराकार तथा निरूप है। इस प्रकार यदि बौद्ध को प्रच्छन्नात्मवादी कहा जाय, तो अनुचित न होगा।

भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में एक तथ्य और निदर्शनीय है, कि ये परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। उदाहरणार्थ, न्याय में न्यायविद्या (Logic) तो थी, किन्तु पदार्थशास्त्र नहीं, जिसका निरूपण वैशेषिक के अन्तर्गत सम्पन्न हुआ। इसी प्रकार बाहय एवं अन्तःप्रकृति का निरूपण जो न्याय-वैशेषिक में अनुपलब्ध था, सांख्य एवं योग में सम्पन्न हुआ, तथा कर्म एवं ज्ञान का पूर्वाकृत गम्भीर विवेचन क्रमशः मीमांसा एवं वेदान्त में पर्यवसित हुआ। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो भारतीय दर्शन के उत्तरोत्तर विकास की परम्परा में वेदान्त पूर्णता का ही पर्याय है। इसमें न्याय की न्यायमीमांसा भी है, तथा वैशेषिक की पदार्थमीमांसा भी, सांख्ययोग का प्रकृतिपुरुषचिन्तन भी एवं मीमांसा की कर्मयोजना भी। इन सभी की समाहृति उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त के अद्वैतब्रह्मज्ञानसागर में आकर होती है। इसके अतिरिक्त षड्दर्शन का पारस्परिक पूर्वापर सम्बन्ध भी दार्शनिक समन्वयभावना एवं विकासशीलता का ही निर्देश करता है। यह तथ्य भी अविस्मरणीय है, कि जैन-बौद्ध दर्शन के अहिंसादि सिद्धान्त भी सभी दर्शनों के लिए अनुसरणीय हैं। आचार्यों में अद्वैत वेदान्त के सर्वातिप्रमुख व्याख्याता एवं प्रतिपादक शंकराचार्य वेदान्त ही नहीं, प्रत्युत समस्त भारतीय दर्शन के दिग्दर्शक हैं। यद्यपि आचार्य ने पूर्णतया वेदों एवं उपनिषदों के आधार पर अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की है, किन्तु वेदान्त को सम्प्रदाय के रूप में सुप्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य शंकर को ही है। किसी भी सिद्धान्त को सम्प्रदाय का रूप प्रदान करने के लिए यह अपेक्षित है कि (१) उसकी एक पूर्ववर्त्ती एवं परवर्त्ती आचार्य परम्परा हो। इस निकष के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है, कि शङ्कराचार्य से पूर्ववर्त्ती वेदान्तियो की भी एक परम्परा मिलती है, जिसके अन्तर्गत बादरि, जैमिनि, काशकृत्स्न, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, आश्मरथ्य, काश्यप, बोधायन, उपवर्ष, गुददेव, कपर्दी, भारुचि, भर्तृहरि, भर्तृमित्र, ब्रह्मनन्दी, टक, द्रविडाचार्य एवं गौडपादाचार्य प्रभृति महर्षि एवं आचार्य आते हैं। इसी प्रकार शङ्कराचार्यपरवर्त्ती परम्परा के अन्तर्गत सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य एवं वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यों की एक बृहत् परम्परा है, जो अठारहवीं शताब्दी के आचार्य आयन्न दीक्षित तक स्पष्ट रूप से सम्प्राप्त है। (२) सम्प्रदाय सम्राट् के द्वारा एक ऐसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जाय, जो अपने में पूर्ण हो, तथा जिसके सिद्धान्त-उपसिद्धान्त परस्पर सम्बद्ध हों। इस कसौटी पर भी आचार्य शंकर खरे उतरते हैं। जिन्होंने ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा, अविद्या एवं माया के आधार पर की है। (३) किसी भी सम्प्रदाय विशेष के प्रवर्त्तन के लिए यह अपेक्षित है, कि उसका सिद्धान्त पूर्णतया पुष्ट हो, एवं उसमें तत्संबद्ध सिद्धान्तों के पुनः प्राकट्य की क्षमता हो। इस सम्बन्ध में यह कहना होगा कि शङ्कराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठित एवं प्रतिपादित अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनन्तर भी शाङ्कर वेदान्त-सूत्रों के आधार पर अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त की पुनः पुनः प्रतिष्ठा होती

रही। इससे यह स्पष्ट है, कि जो सिद्धान्त अपने साथ ही निरुद्ध हो जाता है, वह किसी सम्प्रदाय का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकता। (४) सम्प्रदाय प्रवर्त्तन के लिए यह भी अपेक्षित है, कि वह तत्कालीन समाज के द्वारा स्वीकृत हो। इसमें सन्देह नहीं, कि शाङ्कर-अद्वैतवाद बौद्ध दर्शन की प्रतिक्रिया के रूप में एक सर्वथा स्वीकृत सिद्धान्त था। इस प्रकार उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर शाङ्कर वेदान्त सम्प्रदाय एक सर्वथा सुप्रतिष्ठित सम्प्रदाय है।

सिद्धान्ततः भी शाङ्कर सिद्धान्त–अद्वैतवाद एक दृढ़मूल एवं सम्पुष्ट सिद्धान्त है। शङ्कराचार्य ने एक ओर परमार्थ सत्य के रूप में ब्रह्म तत्त्व की प्रतिष्ठा की थी, तो दूसरी ओर जगत् को माया एवं मिथ्या कहा था–"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" (विवेकचूडामणि)। किन्तु, जैसा कि कुछ मन्दबुद्धि समालोचकों का कहना है, मिथ्यात्व से, शङ्कराचार्य का तात्पर्य जगत् के पूर्णतः अनस्तित्व से न होकर, उसकी पारमार्थिकता का निषेध है। इसीलिए वेदान्त में द्वैतमूलात्मक जगत् को "मायामात्रमिदं द्वैतम्" कहकर उसकी मायामात्रता सिद्ध की है। अतः माया के सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण मायिक जगत् की व्यावहारिकता स्वतः सिद्ध है। प्रायः वेदान्तदर्शन के अनेक समालोचक विद्वानों ने शाङ्कर वेदान्त की त्रिविध सत्ताओं–पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता एवं प्रातिभासिक सत्ता का उल्लेख किया है, जो असमीचीन है। सत्तात्रय की असमीचीनता का कारण यह है कि, शङ्कराचार्य ने गीताभाष्य में 'सत्' का लक्षण "यन्न व्यभिचरति तत् सत्" (जिसमें त्रिकाल में भी व्यभिचार नहीं होता) किया है। इस दृष्टि से विनाशर्शील होने के कारण न जगत् त्रैकालिक सत् है और न शुक्ति में प्रतिभासमान रजत सत् है। इसीलिए शङ्कराचार्य ने अपने भाष्यग्रन्थों में जगत् एवं शुक्तिरजत के लिए क्रमशः व्यवहार शब्द (सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिदं ममेति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः, शा.भा. ब्र. सू. उपोद्घात) एवं प्रतिभास अथवा अवभास (शुक्तिरजतवदवभासते) का प्रयोग किया है, व्यावहारिक सत्ता अथवा प्रातिभासिक सत्ता का नहीं। एक अन्य तथ्य भी विचारणीय है, कि यद्यपि परम 'सत्' एवं ब्रह्म तत्त्व का निरूपण अनेकशः वेदों एवं उपनिषदों में प्राप्त है, किन्तु जगत् के स्वरूप की सम्यक् मीमांसा आचार्य शंकर ने ही की है। उनकी इस जगत्परक मीमांसा का आधार आचार्य शङ्कर का अद्वैत-उपसिद्धान्त, मायावाद है। इस प्रकार उपस्कर सिद्धान्त मायावाद की सहायता से अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा शाङ्कर दर्शन की महीयसी देन है। उनके इस विलक्षण योगदान को स्वीकार करते हुए ही मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है–न स्तौमि तं व्यासमशेषमर्थं सम्यङ् न सूत्रैरपि यो बबन्ध। विनापि तैः संग्रथिताखिलार्थं तं शङ्कर नौमि सुरेश्वरं च।। (मैं उन व्यास को प्रणाम नहीं करता, स्तुति नहीं करता), जो सूत्रों (ब्रह्मसूत्र) से भी वेदान्त के समग्र विषय को ग्रथित नहीं कर सके। किन्तु सूत्रों के बिना ही जिन्होंने वेदान्त के समग्र अर्थ को संग्रथित कर दिया, उन शङ्कर एवं सुरेश्वर को प्रणाम करता हूँ)। शङ्कराचार्य की भाष्यपद्धति की भी यह विशेषता निरूपणीय है, कि वह सर्वथा ऐकान्तिक नहीं है, अपितु आचार्य ने स्वमतप्रस्थापन से पूर्व तत्-तत् महत्त्व ईश्वरवाद को विचार करते हुए, यह उल्लेखनीय है कि न्यायादि सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रसन्न गम्भीर शैली, सरल भाषा एवं न्यायादि के प्रयोग ने प्रस्थानत्रयी को सुग्राह्य बना दिया है। निःसन्देह शाङ्करभाष्य रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य की अपेक्षा जो अत्यन्त दुष्कर है, अधिक प्रशस्त है।

इस प्रकार वैदिक सिद्धान्त के रूप में, समग्र अद्वैत सिद्धान्त को प्रस्तुत करना, शाङ्कराचार्य की उत्कृष्ट देन है। इतना ही नहीं, समस्त भारतीय दर्शन के अध्ययन, परिशीलन की प्रक्रिया पद्धति एवं

सिद्धान्तविश्लेषण को भी शाङ्कर दर्शन की श्रेयस्करी देन है। भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में ब्रह्मवाद सम्मत भारतीय दर्शन के अन्तर्गत केवल नास्तिक दर्शनों को छोड़कर ब्रह्मवाद का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है। न्यायादि पाँच आस्तिक दर्शनों में तो किसी न किसी रूप में ईश्वर तत्व को स्वीकार किया है, किन्तु इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि शङ्कराचार्य भारतवर्ष ही नहीं, विश्व के दार्शनिक हैं। विश्व के दार्शनिकों ने शङ्कराचार्य, अद्वैतवेदान्त से प्रेरणा ग्रहण की है, यह निःसंकोच कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में, यह कथन भी अपेक्षित है, कि पाश्चात्य दार्शनिकों की चिन्तनधारा के अनेक तथ्य एवं सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त की विचारधारा के समान हैं। उदाहरण के लिए, फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्त ने "Cogito, ergo sum" (मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ) यह कहकर अहमनुभव की सिद्धि की है। इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है, "नहि कश्चित् सन्दिग्धो नाऽहमस्मीति"। इसी प्रकार अद्वैतवेदान्त की माया एवं लाइब्निज़ के "मैटिरिया प्राइमा" में यह समानता है कि दोनों ही आत्मदर्शन में बाधक हैं। वेदान्त का दृष्टिसृष्टिवाद एवं बर्कले का विषयों की आन्तरिक सत्ता का सिद्धान्त भी समान ही है। जहाँ तक, काण्ट का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में वेदान्त एवं काण्ट दोनों का ऐक्य है कि ईश्वर जगत् का आधार है। इसके अतिरिक्त दोनों ही आत्मा के शुद्ध ज्ञान की स्थिति को स्वीकार करते हैं। जर्मन दार्शनिक फिक्ते (Eichte) जिसने काण्ट एवं स्पिनोजा के सिद्धान्त का समन्वय किया था, ईश्वर को एक अद्वितीय सत्ता के रूप में स्वीकार करता था। फिक्ते एवं वेदान्त के इस सिद्धान्त का साम्य अवलोकनीय है, कि व्यावहारिक जगत् की सत्ता केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही है, पारमार्थिक दृष्टि से कदापि नहीं। इस सम्बन्ध में फिक्ते का कथन है, कि वास्तविक दृष्टि से तो यह जगत् कल्पना के दर्पण में परमात्मा का अतात्त्विक प्रतिबिम्ब मात्र है। देखा जाय, तो वेदान्त का प्रतिबिम्बवाद भी इसी तथ्य का प्रकाशक है। इस प्रकार वेदान्त एवं फिक्ते दोनों के ही विचार से जगत् का मिथ्यात्व है। जब हम वेदान्त सिद्धान्त की तुलना जर्मन दार्शनिक हेगल (Hegal) की विचारधारा के साथ करते हैं, तो देखते हैं, कि वेदान्त एवं हेगल दोनों के ही अनुसार सत्यबोध में भ्रम अर्थात् अविद्या का महत्व है। वेदान्त में अध्यारोप एवं अविद्या ब्रह्मज्ञान की सहायिका है–"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा तनोऽमृतमश्नुते"। हेगल ने भी लिखा है–Otherness or error as cancelled is itself a necessary moment of truth. (Hegal's Encyclopaedia. Works, Vol. VI. P. 15). जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर (Schopenhaur) तो उपनिषदों का भक्त ही था। वह संकल्पवादी था। वह सृष्टि को संकल्प का फल मानता था, तथा वह संकल्प की अनेकता का पक्षपाती था। वेदान्त में भी सृष्टि ईश्वर के संकल्प का ही फल है–"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति"। इस सन्दर्भ में ग्रीक दार्शनिक प्लेटो एवं वेदान्त की विचारधारा भी तुलनीय है। प्लेटो अनेक विज्ञानों के (ideas) ऊपर एक सर्वोच्च विज्ञान (Idea) को स्वीकार करता था। प्लेटो द्वारा स्वीकृत यह सर्वोच्च विज्ञान शिवरूप था। यह नितान्त स्पष्ट है कि यह शिवरूप सर्वोच्च विज्ञान उपनिषदों के "शिवमद्वैत" ब्रह्म के ही समान है।

कतिपय वेदान्त सिद्धान्तों एवं ग्रीक तथा पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धान्तों के उपर्युक्त साम्य के आधार पर चाहे, विश्व दर्शन पर वेदान्त के प्रभाव की बात न भी कही जाय, तो भी इतना अवश्य स्पष्ट है, कि औपनिषद एवं शांकरवेदान्त एक सार्वभौम दर्शन है, एवं इनके सिद्धान्त सार्वजनीन हैं।

भारतीय दर्शन के समग्र अनुशीलन से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है, कि प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय एवं प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त, एक ओर अपने पूर्ववर्त्ती दार्शनिक सम्प्रदाय एवं सिद्धान्त की प्रतिक्रिया है,

तो दूसरी ओर उनमें पूर्ववर्त्ती सम्प्रदाय एवं सिद्धान्त की न्यूनाधिक छाया प्रतिबिम्बित रहती है। शाङ्कर वेदान्त की प्रतिक्रिया से उत्पन्न वैष्णवचिन्तनधारा के सम्बन्ध में भी, उक्त तथ्य सर्वथा चरितार्थ है। शाङ्करवेदान्त की प्रतिक्रिया से उत्पन्न यामुन, रामानुज, निम्बार्क, मध्व एवं वल्लभ की वैष्णव चिन्तनधारा शाङ्कर अद्वैतवाद के स्थान पर विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, द्वैतवाद एवं शुद्धाद्वैतवाद की जन्मदात्री है, एवं शङ्कराचार्य द्वारा अद्वैतसिद्धि के लिए स्वीकृत मायावाद की विरोधिनी है। अत एव रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य में मायावाद के विरोध में आश्रयानुपपत्ति आदि सात अनुपपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। परञ्च, यह अवलोकनीय है, कि शाङ्करवेदान्त की विरोधिनी प्रतिक्रिया से प्रादुर्भूत वैष्णवचिन्तनधारा में वेदान्त के ब्रह्मवाद का स्पष्ट अनुसरण है। यह कहना असंगत न होगा कि शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित सगुण ब्रह्मवाद वैष्णवों के सगुणब्रह्मसिद्धान्त एवं भक्तिधारा का मूल आधार बना है। प्रतिक्रिया एवं पृष्टभूमि की यह प्रक्रिया वैष्णवदर्शन ही नहीं, शैव एवं शाक्तदर्शन के सम्बन्ध में भी द्रष्टव्य है। जब वैष्णवों के सखिभाव के अन्तर्गत राधा का महत्त्व इतना अधिक बढ़ गया कि कृष्ण भी राधा में समा गए, एवं राधा का भक्त राधा की सखि के रूप में, स्त्रीत्व भाव के साथ, जीवन निर्वाह का अभिलाषी हो गया, एवं वैष्णवों में शृंगार विलास की भावना बलवती हो गई, तो एक ऐसे दर्शन की अपेक्षा स्वाभाविक थी, जो शृंगारिक भावनाओं से ऊपर उठकर लोकमंगल की व्यवस्था कर सके। लोकमंगल (शिव) के विधायी शैव दर्शन का विकास वैष्णव दर्शन की उक्त प्रतिक्रिया का ही फल था। यद्यपि पार्वती भी शिव की पत्नी थीं, किन्तु पार्वती का स्वरूप राधा के समान शृंगारिक है। शैवदर्शन का विकास पाशुपत आदि अनेक रूपों में हुआ, किन्तु इसमें काश्मीर में प्रत्यभिज्ञादर्शन का विकास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कर्णाटक में वीरशैव मत का विशेष प्रचार हुआ। वीर-शैव-लिंगायत सम्प्रदायी कण्ठ या बाहु में शिवलिंग धारण करते हैं। इस मत के अनुरूप जीव एवं शिव में अद्वैतभाव न होकर सामरस्यस्वरूप ऐक्य है। गाणपत्य सम्प्रदाय एवं स्कन्द सिद्धान्त भी शैव सम्प्रदाय एवं सिद्धान्त के ही अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार रसेश्वर दर्शन भी शैव सम्प्रदाय का ही एक रूप है। जहाँ तक शैव दर्शन में वैष्णव दर्शन की पृष्ठभूमि का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह कहा जाएगा, कि जिस प्रकार राधाकृष्ण-भक्तों ने राधा एवं कृष्ण के ऐक्यभाव की कल्पना की थी, उसी प्रकार शैव दर्शन में अर्धनारीश्वर की कल्पना की गई है। किन्तु जब शैव दर्शन में शिव का महत्त्व चरम सीमा पर पहुँच गया, एवं शिव ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो गए, तो इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शाक्त चिन्तनधारा का विकास हुआ। यद्यपि शक्ति भगवान् शिव की शक्ति के रूप में पहिले से ही वर्त्तमान थी, शक्ति के विना शिव शव मात्र कहे जाने लगे थे–"न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि", किन्तु शाक्तचिन्तनधारा में आकर एक समय शक्ति का इतना प्राधान्य हो गया कि शक्ति का शिव से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। निदर्शनार्थ, दुर्गा महाशक्ति कुमारिका ही हैं। शक्ति की सर्वोच्च ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठा हुई–"एषाउहं ब्रह्मस्वरूपिणी"। यही शाक्त धर्म की पराकाष्ठा का स्वरूप है। किन्तु शाक्तपरम्परा में काली महाकाल शिव की पत्नी भी हैं। शाक्त साधना के अन्तर्गत त्रिपुरसुन्दरी, पञ्चदशी एवं षोडशी आदि परम शक्ति के ही अनन्त रूप हैं। यह साधना का रहस्यपूर्ण मार्ग है।

दार्शनिक एवं धार्मिक तथा विविध अन्य सम्प्रदायों के विकास के मूल में सामाजिक चेतना की पृष्ठभूमि सदैव परिलक्षित हुई है। अत एव यह देखा गया, कि उन्नीसवीं, बीसवीं शताब्दी में विविध सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द एवं रामतीर्थ तथा महर्षि रमण प्रभृति दार्शनिकों ने एक ऐसा दर्शन प्रस्तुत किया, जो मानव सेवा में अध्यात्मप्राप्ति का समर्थन करता था।

इन भारतीय मनीषियों की चिन्तनधारा में आध्यात्मिकता की अपेक्षा मानवसेवा की चेतना का प्राबल्य था। यह वेदान्त का ही व्यावहारिक रूप था। सामाजिक चेतना के प्राबल्य के इसी युग में अनेक ऐसे मनीषी व्यवहारवादी एवं आचारवादी चिन्तक भी हुए, जिन्होंने देश के स्वातन्त्र्य, सुधार एवं अध्यात्म-दर्शन की समन्वित चिन्तनधारा की त्रिवेणी प्रवाहित की। इन महान् चिन्तकों में पण्डित बाल गंगाधर तिलक, एम.एन.राय, राम मोहन राय एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रभृति अनेक गम्भीर विचारक थे। वर्त्तमान शताब्दी में विनोबा भावे ने भी आध्यात्मिकता के आधार पर भूदानयज्ञ आदि विविध रूपों में सामाजिक सुधार का आन्दोलन चलाया था। विनोबा ने स्पष्ट कहा था–"हमारा मिशन कुल दुनिया को अद्वैत बनाना है"। भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा.के अन्तर्गत, जैसा कि अभी तक किए गए विवेचन से देखा गया है, यह तथ्य स्पष्ट है, कि उसमें आध्यात्मिक चेतना किसी न किसी रूप में, न्यूनाधिकभाव से अवश्य वर्त्तमान रही है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है, कि उपर्युक्त विवेकानन्द प्रभृति व्यवहारवादी दार्शनिक चिन्तकों की दृष्टि में जो आध्यात्मिक चेतना कुछ हो गई थी, वह, के.सी. भट्टाचार्य एवं जे. कृष्णमूर्त्ति की दार्शनिक चिन्तनधारा में बौद्धिक-आध्यात्मिक चेतना के रूप में पुनः जागृत हो उठी। निदर्शनार्थ, यद्यपि भट्टाचार्य मूलतया अद्वैतवादी ही थे, किन्तु इन्होंने अपनी ज्ञान-दृष्टि के बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर विशेषतः तीन पक्ष प्रस्तुत किए थे। पक्ष के अन्तर्गत ज्ञान की ज्ञातता के आधार पर ज्ञान के अनेक तरह प्रस्तुत किए थे, जैसे वेदान्त में प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक। द्वितीय पक्ष के अन्तर्गत मानसिक चेतना के व्यावहारिक, (Combined) शुद्ध विषयात्मक (pure eligletive) आध्यात्मिक (spiritual) एवं सर्वातिशायी सर्वोच्च विचार (trans evcluatal thought) ये चार स्तर स्वीकार करते हुए, अन्त में पूर्ण सत्य की निर्गुणता स्वीकार की है। इसी प्रकार जे. कृष्णमूर्ति भी ईश्वर की साध्यता एवं उसके साधन का निषेध करते हुए, एक तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जब ईश्वर सर्वत्र सदा वर्त्तमान है, तो उसकी प्राप्ति का प्रयत्न कैसा, साधन की खोज कैसी (Pathless cond)। अतः उनका कहना है, कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए मन की एकाग्रता, आत्मस्वरूप बोध, सत्यस्वरूप का स्मरण एवं आचार-व्यवहार की अपेक्षा है। किन्तु क्या, एकाग्रता एवं आचार-व्यवहार, साधनों में नहीं आते। अपने ग्रन्थ पाथलैस लेण्ड में जे. कृष्णमूर्त्ति कहते हैं कि मनुष्य स्वयं एक पुस्तक है, एवं वही उसका पाठक भी है। तात्पर्य यह है कि अध्यात्म के साधक को आत्मनिरीक्षण एवं आत्म-साक्षात्कार अपेक्षित है। इस प्रकार कृष्णमूर्त्ति के मत में स्वयंबोध ही ईश्वरीय ज्ञान है।

वस्तुतः यह कहा जाएगा कि उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी (आधुनिक युग) के दार्शनिकों की चिन्तनधारा के मूल में अद्वैत दर्शन की पृष्ठभूमि स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। पुनश्च, इस युग में कहीं सामाजिक चेतना का प्राबल्य है, तो कहीं बौद्धिक तर्कों एवं विश्लेषणों का। किन्तु अन्ततोगत्वा भारतीय दर्शन का विचारक इसी परिणाम पर पहुँचता है, कि जीवन का परम लक्ष्य अध्यात्म प्राप्ति ही है, यही मनुष्य को अभीष्ट आनन्द एवं शाश्वत शान्ति का अनुभव करा सकती है। आध्यात्मिक व्यक्ति के द्वारा लोकसेवा एवं परहित के कार्य स्वतः सम्पन्न होते हैं।

"अध्यात्मविद्या विद्यानाम्"। इति (गीता, १०।३२)

विषयक्रम

द्वितीय अध्याय

चार्वाक-दर्शन

तृतीय अध्याय

जैनदर्शन

चतुर्थ अध्याय

बौद्धदर्शन

पंचम अध्याय

न्यायदर्शन

षष्ठ अध्याय

वैशेषिकदर्शन

सप्तम अध्याय

सांख्यदर्शन

अष्टम अध्याय

योगदर्शन

नवम अध्याय

पूर्वमीमांसादर्शन

शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद और उनका मायावाद का सिद्धान्त

शङ्कराचार्य-पश्चाद्वर्त्ती अद्वैतवादी आचार्य और अद्वैतवाद का विश्लेषण

एकादश अध्याय

वैष्णवदर्शन

पाञ्चरात्र

द्वादश अध्याय

शैव एवं शाक्तदर्शन

प्रथम अध्याय

वैदिक, ब्रह्मसूत्र, पुराण, गीता एवं योगवासिष्ठदर्शन

भारतीय दर्शन की महिमा विश्व भर में विख्यात है। संसार का यह प्राचीनतम दर्शन है। आज भी भारतीय दर्शन का अनुशीलन विश्वभर में किया जाता है। भारतीय दर्शन एक समन्वयवादी दर्शन है। इस दर्शन की यह विशेषता है, कि जहाँ, एक ओर यह प्रमुखतया तत्त्वज्ञान अथवा मोक्ष का पथ प्रदर्शित करता है, वहाँ, दूसरी ओर, जीवन में सत्पथ का अनुसरण करते हुए सन्मार्ग पर चलना भी यही सिखाता है। इस प्रकार मानवीय आदर्शदृष्टि ही भारतीय दर्शन का उद्देश्य है। भारतीय दर्शन की महत्ता प्रदर्शित करते हुए, डा. राधाकृष्णन् ने लिखा है :

"The intelligent student interested in philosophy will, however, find in Indian thought an extraordinary mass of material which for detail and variety has hardly any equal in any other part of the world. There is hardly any height of spiritual insight or national philosophy attained in the world that has not its parallel in the vast stretch that lies between the early Vedic seers and the modern Naiyāyikas."[1]

वैदिक दर्शन

दर्शन शब्द का अर्थ

दर्शन शब्द 'दृश्' (दर्शनार्थक) धातु से निष्पन्न हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है–'दृश्यतेऽनेन, इति दर्शनम् (दृश्+ल्युट्), जिसके द्वारा देखा जाय, या तत्त्वबोध सम्भव हो, तथा 'दृश्यते इति दर्शनम्' (जिसका तत्त्वबोध या साक्षात्कार हो, जैसे आत्मदर्शन या तत्त्वबोध)। भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में प्रथम व्युत्पत्ति ही सार्थक है। एतदनुसार भारतीय दर्शन अपनी वेदान्तादि अनेक शाखाओं के माध्यम से तत्त्वबोध का साधन है। सामान्यतः भारतीय दर्शन के दो भेद हैं :- आस्तिक एवं नास्तिक। आस्तिक दार्शनिक वेद एवं तत्प्रतिपाद्य ईश्वर में आस्था एवं विश्वास रखते हैं, तथा नास्तिक

---

१. *Radhakrishnan:* Indian Philosophy, Vol. I, p. VIII (Preface)

वे हैं, जो न वेदविश्वासी हैं और न ईश्वरविश्वासी (नास्तिको वेदनिन्दकः)। आस्तिक दर्शन छः हैं–न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त, तथा नास्तिक दर्शन हैं–बौद्ध, जैन एवं चार्वाक।

सर्वप्रथम, हम उपर्युक्त दर्शनपद्धतियों के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व भारतीय दर्शन के मूल स्रोतों के सम्बन्ध में विमर्श प्रस्तुत करेंगे।

भारतीय दर्शन के मूल स्रोत

भारतीय दर्शन के मूल स्रोत हमें वैदिक वाङ्मय–संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों एवं उपनिषदों में प्रमुख रूप से मिलते हैं।

संहिताओं में प्रमुख दार्शनिक तत्त्व

संहिताएँ भारतीय चिन्तन का प्रमुख एवं प्राचीनतम आधार हैं। इनमें मन्त्रद्रष्टा ऋषियों (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः) के नितान्त रहस्यपूर्ण अनुभव वर्त्तमान हैं। यहाँ, यह स्पष्ट करना अपेक्षित है, कि संहिताओं के अन्तर्गत औपचारिक रूप से किसी पूर्ण, सिद्धान्त विशेष की खोज करना बहुत समीचीन नहीं है। इसका कारण यह है, कि संहितावर्त्ती दार्शनिक चिन्तन ऋषियों के स्वतन्त्र चिन्तन हैं, अतः उनमें वर्तमानकाल जैसे पूर्ण औपचारिक सिद्धान्त नहीं देखे जा सकते। हाँ, उनमें अद्वैतवाद जैसे दार्शनिक सिद्धान्तों के पुष्ट बीज अवश्य उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में इम्पीरियल गज़ेटियर में कहा गया है, कि संहिताकाल में आत्मवाद का चिन्तन आरम्भ हो गया था[1]। कीथ ने भी यही मत स्पष्ट किया है, कि भारतवर्ष की प्राचीनतम कविता के अन्तर्गत भारतीय दर्शन के मौलिक स्वरूप के चिह्न पहले से वर्त्तमान हैं। कीथ ने लिखा है :

The earliest poetry of India already contains traces of the essential character of the philosophy of India.[2]

इसी प्रकार जर्मन विद्वान् मैक्समूलर[3] एवं ड्यूसन भी वैदिक संहिताओं में भारतीय दर्शन के बीज स्वीकार करते हैं[4]।

यहाँ, यह कहना और अपेक्षित है, कि संहिताकाल से पूर्व रहस्यमयी सत्ता एवं अग्नि के प्रति की गई प्रार्थनाओं में भी दार्शनिक दृष्टि का सूक्ष्म आधार उपलब्ध होता है। जहाँ तक, संहिताओं में दार्शनिक विचारधारा का प्रश्न है, सर्वप्रथम ऋग्वेद संहिता के अन्तर्गत दार्शनिक सूत्रों का गवेषण समीचीन होगा। ऋग्वेदसंहिता में कुछ विद्वानों ने बहुदेववाद के दर्शन किए हैं। एकेश्वरवादी, ऋग्वेद में इन्द्र, वरुण एवं अग्नि आदि के रूप में एक ही ईश्वर तत्त्व का वर्णन स्वीकार करते हैं, जब कि बहुदेववादी विचारक ऋग्वेदवर्त्ती देववर्णन के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् देवताओं की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं। वैदिक-देववाद

---

१. *Imperial Gaszetteer of India, vol. 1, p. 404.*

२. *Keith, Religion and philosophy of the Veda, P. 433 Harvard oriental series, Longman, vol. 32.*

३. *Max Muller. The six systems of Indian philosophy, vol. II, P.32.*

४. Deussen, Allgemliue Geschichte Der philosophy, vol. II, p.83.

के सम्बन्ध में मैक्समूलर का विचार भी विचारणीय है। मैक्समूलर ने वैदिक देववाद को हेनोथीज़्म (Heno-theism) का नाम देते हुए लिखा है–

......to address either Indra or Agni or Varuṇa, as for the time being the only God existing with an entire forgetfulness of all other gods, is quite another; and it was this phase, so fully developed in the hymns of the Veda, which wished to mark definitely by a name of its own calling it Heno-theism.[१]

इस प्रकार जब ऋग्वैदिक ऋषि किसी देवता का वर्णन सर्वोच्च देव के रूप में करता है, तो यह देववर्णनपद्धति हेनोथीज़्म के अन्तर्गत आती है। किन्तु, इससे यह निष्कर्ष ग्रहण करना अनुचित होगा, कि एक देवता का सर्वोच्च देव के रूप में वर्णन करने से अन्य देवों का महत्त्व न्यून हो जाता है। जैसा कि, पाश्चात्त्य विद्वान् केगी ने भी स्वीकार किया है।[२] हमारे विचार से, प्रकरण एवं अभिप्राय के अनुसार जिस समय जिस देवता की स्तुति की गई है, उस समय उसी का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार यदि एक स्थल पर वरुण को अखिल भुवन का अधिपति कहा गया है, तो दूसरे प्रकरण में अग्नि को त्रिलोक का शिरोभूत कहा है।[३] इस प्रकार के वर्णनों को जर्मन विद्वान् मेक्डानल ने अत्युक्तिपूर्ण कहा है। जो भी हो, उपर्युक्त विचारों के अन्तर्गत एकदेववाद एवं बहुदेववाद के दर्शन सरलतया किए जा सकते हैं। इन्हीं विचारबीजों में अद्वैतवाद के आधारस्वरूप का देखना असमीचीन न होगा।

प्रजापति, विश्वकर्मा एवं त्वष्टा के वर्णन में दार्शनिक दृष्टि

प्रजापति, विश्वकर्मा एवं त्वष्टा का वर्णन ऋग्वेद में सर्वोच्च देवता के रूप में किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रजापति को अधीश्वर तथा समस्त जगत् का स्रष्टा कहा गया है।[४]

इसी प्रकार विश्वकर्मा को भी जगत् का स्रष्टा तथा पालक एवं इन्द्रादि देवों का निर्माणकर्ता तथा उन्हें तत्-तत् पदों पर प्रतिष्ठित करने वाला कहा है।[५] त्वष्टा को भी ऋग्वेद में द्यावापृथिवी एवं संसार के समस्त प्राणियों का स्रष्टा कहा है।[६]

एकत्व एवं अनेकत्व

एकता एवं अनेकता तथा अनेकता में एकता की दृष्टि भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता है। इस दृष्टि का प्रमुख आधार ऋग्वेद में "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"[७] के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से मिलता

---

१. Max Muller, Six systems of Indian Philosophy, vol. II, p. 39.

२. Adolf Kaegi, The Ṛgveda, p. 27

३. ऋग्वेद, ५।८५।३।

४. ऋग्वेद, १०।८८।५।

५. ऋग्वेद, १०।१२१।१-१०।

६. ऋग्वेद, १०।८२।३।

७. देखें, रामपूर्तिशर्मा, Cosmogony in the Veda, DHICIR, Delhi 1996

है। भारतीय दर्शन की एकत्व एवं अजत्व की अभिव्यक्ति भी ऋग्वेद के उस मन्त्र में स्पष्ट रूप से मिलती है, जहाँ षड्लोकों के धारणकर्त्ता को अजन्मा एवं एक कहा गया है।[१] इस प्रकार के ऋग्वैदिक वर्णन एकेश्वरवाद के समर्थक कहे जा सकते हैं।

पुरुषसूक्त एवं नासदीय सूक्त में दार्शनिक विचार

ऋग्वैदिक दार्शनिक दृष्टि से, पुरुषसूक्त एवं नासदीयसूक्त का अतिशय महत्त्व है। पुरुषसूक्त के अन्तर्गत विराट् पुरुष को सहस्र शिरों, अनन्त बाहुओं तथा अनन्त चरणों वाला कहा है। विराट् पुरुष भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके तथा दशांगुलपरिमाण अधिक होकर ब्रह्माण्ड से बाहर भी है। यह सारा ब्रह्माण्ड विराट् पुरुष का चतुर्थांश मात्र है। इस विराट् पुरुष के अविनाशी तीन पाद दिव्यलोक में स्थित हैं। पुरुष के स्रष्टा स्वरूप का वर्णन करते हुए, कहा गया है, कि आदि पुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह) की उत्पत्ति हुई है, तथा ब्रह्माण्ड देह का आश्रय लेकर जीवरूप से पुरुष उत्पन्न हुए है। ये देव-मनुष्यादि रूप हुए, तथा उन्होंने भूमि का निर्माण किया, तथा पुनः जीवों के शरीरों की रचना की। पुरुष के इस वर्णन के अन्तर्गत वेदान्तियों ने अद्वैतवाद की स्पष्ट झलक के दर्शन किए हैं। यह आश्चर्यास्पद प्रतीत होता है, कि जर्मन विद्वान् मेक्डानल[१] ने पुरुषसूक्त का अनुवाद "hymns of man" किया है।[२] यहाँ पीटरसन ने 'पुरुष' को सर्वव्यापक आत्मा (Universal Soul) कहा है, जो समुचित प्रतीत होता है।[३] मैक्डानल ने 'पुरुषसूक्त' में विश्ववाद एवं बहुदेववाद के दर्शन किए हैं।

पुरुषसूक्त के समान नासदीय सूक्त के अन्तर्गत प्रकटित दार्शनिक विचार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

नासदीय सूक्त

दार्शनिक दृष्टि से ऋग्वेद का नासदीय सूक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूक्त है। लोकमान्य तिलक ने तो इस सूक्त को मनुष्य जाति का सर्वोत्कृष्ट स्वाधीन-चिन्तन कहा है।[४] वस्तुतः नासदीय सूक्त ऋग्वेद-काल के ऋषियों के अलौकिक दार्शनिक चिन्तन का पूर्णतया परिचायक है। इस सूक्त का देवता भी परमात्मा है। इस सूक्त का ऋषि, परमेष्टी प्रजापति जगत् की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है, कि सृष्टि के आरम्भ में न असत् था और न सत्, न दिन था और न रात थी। पृथ्वी भी नहीं थी, और आकाश तथा आकाश में विद्यमान सप्तभुवन भी नहीं थे। आवरण (ब्रह्माण्ड) भी कहाँ था? किसका कहाँ स्थान था? क्या उस समय दुर्गम और गम्भीर जल था?[५] इस प्रकार जगत् की आरम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि उस समय सभी अज्ञात और सभी जलमय था।

---

१. ऋग्वेद, १।१६४।४६।

२. Macdonell, A Vedic Reader, P. 195

३. *Although as the Universal Soul he prevades the universe as the individual Soul he is enclosed in a space of narrow dimensions.* Peterson, *The Hymns of the Rgveda, p. 517.*

४. ऋग्वेद, १०।१२६ पर देखिये, पादटिप्पणी (गौरीनाथ झा द्वारा प्रकाशित, सुल्तान गंज, १६६२)।

५. ऋग्वेद, १०।१२६।३।

तुच्छ अज्ञान के द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से वह एक तत्त्व उत्पन्न हुआ।[१] इसके पश्चात् परमात्मा में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई।[२] उपनिषद् में भी परमात्मा की सिसृक्षा की ओर संकेत करते हुए कहा है–'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति'[३]। सृष्टि का आरम्भ बतलाते हुए, नासदीय सूक्त में कहा है, कि सर्वप्रथम परमात्मा से बीज की उत्पत्ति हुई, और बुद्धिमानों ने बुद्धि द्वारा अपने अन्तःकरण में विचार करके अविद्यमान वस्तु से विद्यमान वस्तु का उत्पत्ति स्थान निरूपित किया।[४] इसी सूक्त के सप्तम मन्त्र में परमात्मा की ओर संकेत करते हुए कहा है, कि यह नाना सृष्टियाँ कहाँ से उत्पन्न हुईं, किसने सृष्टियाँ उत्पन्न कीं, किसने नहीं कीं-यह सब वे ही जानें, जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। वह सर्वज्ञ परमात्मा ही इस सृष्टि को जानता है, अन्य कोई नहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन की दृष्टि से, नासदीय सूक्त में परमात्मा को अज्ञान से आच्छन्न कहना, परमात्मा की सिसृक्षा का वर्णन करना, परमात्मा से बीजोत्पत्ति का निरूपण करना तथा परमात्मा की सर्वज्ञता की ओर निर्देश करना, अद्वैत वेदान्त के परमेश्वर के रूप का ही अप्रत्यक्ष रूप में समर्थन करना है।

शतपथब्राह्मण के अन्तर्गत नासदीय सूक्त की प्राचीनतम टिप्पणी मिलती है।[५] इस टिप्पणी के अनुसार "आरम्भ में यह जगत् न सत् रूप था, ओर न असत् रूप था। आरम्भ में यह था भी और नहीं भी था, उस समय केवल मन मात्र की ही सत्ता थी। यही कारण था, कि ऋषि ने यह कहा, कि 'न असत् आसीत् न सत् आसीत् तदानीम्' अर्थात् आरम्भ में न असत् था, और न सत् था, क्योंकि मन न सत् है और न असत् है। उस मन ने ही अनेक रूपों में प्रकट होकर अनेक रूप ग्रहण करके सृष्टि की इच्छा की। उसने अपने आपको खोजा, फिर तप किया, और इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति हुई।"[६]

इस प्रकार शतपथब्राह्मण की उपर्युक्त टिप्पणी से यह पता चलता है, कि सत् एवं असत् तत्त्व की जो विवेचना उत्तर काल में आकर अद्वैत वेदान्त की मूलाधार बनी, उसका आरम्भिक रूप हमें नासदीय सूक्त के अन्तर्गत मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत मायिक जगत् को सत् तथा असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है। यह सिद्धान्त नासदीय सूक्त के अन्तर्गत 'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्' मन्त्र में अन्तर्भूत है। नासदीय सूक्त के अन्तर्गत प्रयुक्त असत् शब्द का अर्थ शशविषाणवत् असत् तथा सत् शब्द का अर्थ निर्वाच्य पदार्थ से है।[७] इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ

---

१. ऋग्वेद १०।१२६।३।
२. कामस्तदग्रे समवर्तत।–ऋग्वेद १०।१२६।३।
३. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्ली, षष्ठ अनुवाक।
४. ऋग्वेद १०।१२६।४।
५. शतपथब्राह्मण १०।५।३।१।
६. Dr. Muir : Sanskrit Texts, p. 358. Eggling's Translation of S.B.S.B.E. Vol. XLIII, p. 374, 375
७. यदस्य जगतो मूलकारणं तत् असत् शशविषाणवन्निरुपाख्यं न आसीत्। तथा नो सत् नैव सदात्मवत् सत्त्वेन निर्वाच्यम् आसीत्।।सायणभाष्य ऋग्वेद १०।१२६।१।

में जो मूल तत्त्व था, वह न शशविषाणवत् असत् था और न निर्वाच्य (व्यावहारिक) सत्। इसलिए वह सत् तथा असत् से विलक्षण है।

प्रो० गफ़ ने नासदीय सूक्त के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के मायावाद सिद्धान्त के मूल रूप के दर्शन किये हैं।[1] प्रो० गफ़ के कथन का औचित्य इस तथ्य से प्रकाशित होता है, कि जिस प्रकार नासदीय सूक्त में जगत् के मूल कारण को सत् तथा असत् से बिलक्षण कहा गया है, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य, शंकराचार्य ने भी जगत् की उत्पादिका बीजशक्ति, अविद्या को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है। परन्तु, यहाँ, यह और विचारणीय है कि नासदीय सूक्त में मूल तत्त्व के जिस सत् रूप का निषेध किया गया है, उससे निर्वाच्य एवं व्यावहारिक सत् का तात्पर्य है, परन्तु इसके विपरीत माया की सद्‌रूपता के निषेध से उसकी (माया की) पारमार्थिक सत्ता के निषेध का तात्पर्य है।

हंसवती ऋचा

दार्शनिक चिन्तनधारा की दृष्टि से, ऋग्वेद की हंसवती ऋचा (४/४०/५) अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस ऋचा के अन्तर्गत सर्व प्राणियों के चित्त में स्थित एवं समस्त उपाधियों से रहित परमात्मा का वर्णन, हंस रूप में किया गया है। यहाँ, हंस शब्द का अर्थ आदित्य है। इस ऋचा के अन्तर्गत आदित्य का वर्णन सर्वाधिष्ठान ब्रह्म के रूप में करते हुए कहा गया है, कि आदित्य दीप्त द्युलोक में स्थित रहते हैं। वे ही वायुरूप में, अन्तरिक्ष में अवस्थित रहते हैं, तथा होता (वेदिकाग्नि) के रूप में, वे ही स्थूल गार्हपत्यादि रूप में स्थित रहते हैं, एवं अतिथिवत् पूज्य होकर गृह में (पाकादि साधन रूप से) अवस्थिति करते हैं। वे मनुष्यों के मध्य में चैतन्य रूप से स्थित रहते हैं। इस लेखक की दृष्टि से, उक्त विचार आदित्य की परमात्मरूपता का द्योतक है। इस ऋचा में, आदित्य की परमात्मरूपता का वर्णन करते हुए, कहा है, कि वे वरणीय मण्डल, ऋत (सत्य, ब्रह्म या यज्ञ) तथा अन्तरिक्ष में स्थित रहते हैं। वे (आदित्य) जल में उत्पन्न हुए हैं, रश्मियों में उत्पन्न हुए हैं, सत्य में उत्पन्न हुए हैं तथा पर्वतों में उत्पन्न हुए हैं। आदित्य के सर्वदृश्य एवं सत्यजात स्वरूप को सिद्ध करते हुए, सायण का कथन है कि आदित्य इन्द्रादि की तरह परोक्ष नहीं होते।[2]

हंसवती ऋचा के अन्तर्गत आदित्य का वर्णन सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में किया गया है। आदित्य के उक्त रूप का वर्णन ऐतरेयब्राह्मण के अन्तर्गत भी मिलता है। ऐतरेयब्राह्मण के मन्त्र में भी आदित्य का सूचक हंस शब्द है।[3]

इस प्रकार ऋग्वेदसंहिता के अन्तर्गत वेदान्त की मूल पृष्ठभूमि अपने परिपक्व रूप में मिलती है।

---

१. गफ़ के मत के लिए देखिए–J. Kirtikar, Studies in Vedānta, P. 38
२. ऋग्वेद, सायणभाष्य, ४।४०।७।
३. हंसः शुचिषदित्येष वै हंसः शुचिषत्। ऐ.ब्रा.४।२०।

हिरण्यगर्भ सूक्त एवं वाक् सूक्त

वैदिक दार्शनिक दृष्टि से ऋग्वेद का हिरण्यगर्भ सूक्त भी महत्त्वपूर्ण है, जिसमें हिरण्यगर्भ (परमात्मा) का वर्णन प्रजापति के रूप में किया गया है। हिरण्यगर्भ सूक्त के अनुसार परमात्मा का हिरण्यगर्भ रूप, सृष्टि की उत्पत्ति से भी पूर्व उत्पन्न हुआ था, तथा उत्पन्न होते ही वह समस्त प्राणियों का एक मात्र स्वामी हुआ। वह पृथ्वी एवं द्युलोक को धारण किए हुए है।[1] इस सूक्त के अन्तर्गत हिरण्यगर्भ प्रजापति को, सृष्टि-उत्पत्तिरूप यज्ञ को उत्पन्न करने वाला तथा सृष्टि-उत्पत्ति में दक्ष प्रजापति को धारण करने वाले जलों को अपनी महिमा से देखनेवाला कहा गया है। हिरण्यगर्भ प्रजापति सभी देवताओं के मध्य में, उनके स्वामी के रूप में तथा अद्वितीय देव के रूप में स्थित रहता है।[2]

यहाँ, यह कहा जा सकता है, कि पुरुषसूक्त की तरह हिरण्यगर्भ भी एकदेववाद की ऋग्वैदिक धारणा की पुष्टि करता है।

ऋग्वेद की दार्शनिक विचारधारा का मन्थन करते समय वाक् सूक्त की अवहेलना नहीं की जा सकती। वाक् सूक्त के अन्तर्गत वाक् का समस्त जगत् के अधिष्टान के रूप में वर्णन किया गया है। इस सूक्त में जगत् के कारणस्वरूप ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करती हुई अम्भृण ऋषि की पुत्री वाक् को ग्यारह रुद्रों के रूप में, आठ वसुओं के रूप में, तथा बारह आदित्यों एवं विश्वदेवों के रूप में विचरण करने वाली कहा गया है। वाक् सूक्त के प्रथम मन्त्र में, वाक् को, मित्र तथा वरुण, इन्द्र तथा अग्नि एवं दोनों अश्विनी देवताओं को धारण करने वाली भी बतलाया गया है।[3] वाक् सूक्त के अन्तर्गत वाक् तत्त्व का सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के साथ तादात्म्य स्पष्ट है। यही वाक् समस्त जगत् की सृष्टिकर्त्री बतलाई गई है। "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे"। वैयाकरण भर्तृहरि ने भी "अनादि-निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्" (वाक्यपदीय १।१) कहकर वाक् तत्त्व का ब्रह्म स्वरूप में निरूपण किया है। इस प्रकार ऋग्वेद के वाक् सूक्त की दार्शनिकता, विशेषतः, सृष्टिपरकता स्पष्ट है। जैसा कि, ऊपर स्पष्ट हुआ है, यहाँ यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है, कि संहिताओं एवं समस्त वैदिक वाङ्मय की दार्शनिक चिन्तनधारा वेदान्तपरक ही है। अग्रिम विवेचन से यह तथ्य और विशद हो जाएगा।

ऋग्वेदसंहिता और माया

मायासम्वन्धी विचार भारतीय दर्शन का प्रमुख पक्ष है। प्रायः प्रत्येक (आस्तिक) दर्शन के अन्तर्गत माया को किसी न किसी प्रकार स्वीकार किया गया है। अद्वैतवेदान्त के ब्रह्मवाद की तो प्रतिष्ठा का प्रमुख आधार ही माया है। यह बात दूसरी है, कि शांकर वेदान्त का मायावाद सिद्धान्त ऋग्वैदिक मायासम्वंधी अवधारणा से बहुत कुछ भिन्न है, किन्तु यह मानने में संकोच नहीं किया जा सकता कि

---

१. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा। विधेम।। ऋग्वेद, १०।१२१।१

२. ऋग्वेद, १०।१२१।२।

३. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि अहम् इन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ।। ऋग्वेद, १०।१२५।१।

ऋग्वेद में मायावाद के मूल सूत्र उपलब्ध होते हैं, जिनका परिवर्द्धन औपनिषद वेदान्त में देखने को मिलता है। इस स्थल पर ऋग्वैदिक माया के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

ऋग्वेदसंहिता में 'माया' शब्द का प्रयोग

ऋग्वेदसंहिता में 'माया' शब्द का प्रयोग लगभग ७५ मन्त्रों में हुआ है। इन मन्त्रों में प्राप्त माया के रूप मायाः, मायया, मायाभिः, माया और मायाम् हैं। 'मायाः' शब्द का प्रयोग ऋग्वेदसंहिता में २४ बार हुआ है।[१] तृतीयान्त 'मायया' का प्रयोग ऋग्वेद में २० बार पाया जाता है।[२] डा० प्रभुदत्त शास्त्री ने 'माया' का प्रयोग १६ बार ही खोज पाया है।[३] ऋग्वेद में लगभग १३ बार हुआ है।[४] प्रथमान्त 'माया' का प्रयोग इस संहिता में केवल ३ बार ही हुआ है।[५] 'मायाम्' का प्रयोग भी ऋग्वेद में ३ बार ही हुआ है।[६]

माया शब्द के इन उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त मायी और मायावी शब्दों के विभिन्न रूप भी ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर मिलते है। 'मायी' का प्रयोग ऋग्वेद में ३ बार हुआ है।[७] 'मायिनः' का प्रयोग ऋग्वेद में १५ वार आया है।[८] 'मायिनम् ' का प्रयोग इस संहिता में १० वार हुआ है।[९] 'मायिनम् ' ३ बार और 'मायिनी' २ बार प्रयुक्त हुआ है।[१०] 'मायिनि'[११] और 'मायिना'[१२] शब्द केवल एक-एक बार ही

---

१. ऋग्वेद संहिता, १ मण्डल ३२ सूक्त ४ मन्त्र। १-११७-३, २-११-१०, २-२७-१६, ३-२०-३, ३-५३-८, ५-२-६, ५-३१-७, ५-४०-६, ५-४०-८, ६-१८-९, ६-४४-२२, ६-४५-९, ६-५८-३, ७-१-१०, ७-९९-४, ८-४१-८, १०-५३-९, १०-७३-५, १०-९९-२, १०-१११-६।

२. ऋग्वेद संहिता, १-८०-७, १-४४-१, १-१६०-३, २-१७-५, ३-२७-७, ४-३०-१२, ४-३०-२१, ५-६३-३, ५-६३-६, ५-६३-७, ६-२२-६, ७-१०४-२४, ८-४१-३, ९-७३-५, ९-७३-५, ९-७३-९, ९-८३-३, १०-७१-५, १०-८५-१८, १०-१७७-१।

३. P.D. Shastri, The Doctrine of Māyā, P. 7 –Luzac & Co., London, 1911.

४. ऋग्वेदसंहिता, १-११-७, १-३३-१०, १-५१-५, १-१५१-९, ३-३४-६, ५-४४-२, ५-७८-६, ६-४७-१८, ६-६३-५, ८-१४-१४, १०-१४-१४, १०-१४८-२।

५. वही, ३-६१-७, ५-६३-४, १०-५४-२।

६. वही, ५ ८५-५, ५-८५-६, १०-८८-६।

७. वही, ७-२८-४, १०-९९-१०, १०-१४८-५।

८. वही, १-३९-२, १-५१-५, १-५४-४, १-६४-६०, १-१५९-४, २-११-१०, ३-११-१०, ३-३८-७, ३ ३८-९, ३-५६-१०, ५-४४-११, ६-६१-३, ७-८२-३, ८-३-१९, ८-२३-२४, १०-१३८-३।

९. वही, १-११-७, १ ५३-७, १ ८०-७, २-११-५, ५-३०-६, ५-२८-२, १-४८-१४, ८-७६-१, १०-१४८,२

१०. वही, मायिनाम् – १-३२-४, ३-२०-३, ३-३४-३।
मायिनी – ५-४८-१, १०-५-३।

११. वही, मायिनी – ५-४८-३।

१२. वही, मायिना – ६-६३-५।

प्रयुक्त हुए हैं। 'मायाविना', 'मायाविनम् ' और 'मायाविनः' शब्दों का प्रयोग भी ऋग्वेदसंहिता में केवल एक-एक बार ही हुआ है।[1] 'मायावान्' शब्द का प्रयोग केवल एक बार ही हुआ है।[2]

यास्क एवं सायणाचार्य द्वारा प्रयुक्त 'माया' शब्द के अर्थों के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहिए। वैदिक साहित्य के प्राचीन कोष निघण्टु में माया को 'प्रज्ञा' के ११ प्रर्यायों में स्वीकार किया गया है। निघण्टु के अन्तर्गत 'प्रज्ञा' के ये ११ पर्याय (१) कतः, (२) केतुः, (३) चेतः, (४) चित्रम् , (५) क्रतुः, (६) असुः, (७) धीः, (८) शचीः, (६) माया, (१०) वयनम् और (११) अभिख्या है।[3] निरुक्तकार यास्क ने भी माया का अर्थ प्रज्ञा ही किया है। ऋग्वेद के मन्त्र-६-२७-१ में प्रयुक्त 'विश्वा हि माया अवसि' पर टिप्पणी लिखते हुए, यास्क ने पूषा को प्रज्ञारक्षक कहा है।[4] ऋग्वेद के मन्त्र १०-८८-६ में प्रयुक्त 'मायाम्' का अर्थ भी निरुक्तकार ने 'प्रज्ञा' ही किया है।[5] इसके अतिरिक्त निरुक्तकार ने अन्यत्र भी माया का अर्थ 'प्रज्ञा' ही किया है।[6] भाष्यकार सायण ने अपनी 'यद्वा', 'अथवा' की शैली के द्वारा माया के अनेक अर्थ किये हैं। माया के, सायण द्वारा किये गये प्रमुख अर्थ, कपट विशेष[7], प्रज्ञा[8], ज्ञान[9], कर्मविषयक विज्ञान[10], कर्म[11], शक्ति[12], और प्रभा[13] हैं। माया के इन अर्थों में भी कपट, प्रज्ञा और शक्ति अर्थ ही प्रमुख हैं। सायण द्वारा दी गई माया शब्द की व्युत्पत्ति भी प्रज्ञा अर्थ की ही पोषक है। सायण ने माया शब्द को मानार्थक एवं शब्दार्थक माङ् धातु से कर्ता अथवा कर्म में य प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न किया है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर सायण ने माया की परिभाषा 'मिमीते जानीते कर्म, मीयते अनयेति वा माया' दी है। इस प्रकार माया का अर्थ कर्म-विषयक-ज्ञान है।[14] माया के शक्ति अर्थ से सायण का तात्पर्य भौतिक अथवा शारीरिक शक्ति से न होकर मानसिक शक्ति ही प्रतीत होता है। ऋग्वेद के मन्त्र-२-५३-८ के भाष्य में सायण द्वारा दिया गया 'मायाः' का अनेकरूपग्रहणसामर्थ्योपेता, पर्याय सूक्ष्म शक्ति की ओर संकेत करता है।

---

१. ऋग्वेद संहिता – मायाविना १०-२४-४ मायाविनम् २-११-६, मायाविनः ६-८३-३।
२. वही ४-१६।
३. निघण्टु ३-६, सीताराम शास्त्री संपादित, दिल्ली।
४. सर्वाणि प्रज्ञानान्यवस्यत्रवन् भाजनवती पूषन्निहदतिरस्तु, निरुक्त १२-१७।
५. प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानाम् यज्ञसम्पादिनाम्, निरुक्त ७-२७।
६. निरुत्म ६-१३।
७. मायाभिः तत्प्रतिकूलैः कपटविशेषैः, सायणभाष्य, ऋग्वेद १-११-७।
वैदिक संशोधनमण्डल, पूनासंस्करण।
८. यद्वा तद्वा कोपाय गोचरप्रज्ञाभिः अवातिरः हिंसितवानसि। वही १-११-७।
६. वही ६-४७-१८।
१०. वही ३-२७-७।
११. वही ३-६०-१।
१२. 'इन्द्रो मायया स्वकीयया शक्त्या'''वही ४-३०-२१, ५-३०-६।
१३. वही ३-६१-७।
१४. सा. भा. ऋग्वेद, ३-३७-७।

सामवेदसंहिता में दार्शनिक दृष्टि

जैसा कि, प्रो० ग्रिफिथ ने कहा है, सामवेद का महत्त्व पवित्रता एवं धार्मिकता की दृष्टि से ऋग्वेद से दूसरा है।[१] परमात्मा कृष्ण ने तो गीता में अपने आप को सामवेद ही कहा है-"वेदानां सामवेदोऽस्मि" (गीता १०। २२)। अतः परमात्मारूप सामवेद में परमतत्त्वसम्बन्धी विचारसूत्र मिलना आश्चर्यास्पद नही है। सामवेद के अन्तर्गत वेदान्त के परम तत्त्व ब्रह्म को सत्यरूप वाला कहा है।[२] ब्रह्म की एकमात्र सत्यता अद्वैत वेदान्त का प्राण ही है। इसके अतिरिक्त सामवेद के एक मन्त्र[३] में सृष्टि के आदिकारण के रूप में भी अद्वैततत्त्वस्वरूप परब्रह्म की चर्चा हुई है। यद्यपि उक्त मन्त्र के अन्तर्गत ब्रह्म शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु, जैसा कि, आचार्य सायण मानते हैं, तत्[४] शब्द से यहाँ ब्रह्म का ही तात्पर्य है।[५] स्टीवेन्सन ने 'तत्' (that) शब्द से आदिम मूल तत्त्व का अर्थ ग्रहण किया है।[६] मेरे विचार से, यहाँ तत् शब्द का अर्थ सृष्टि का आदिकारणरूप मूल तत्त्व ही प्रतीत होता है। इसी मूल तत्त्व की परवर्ती वेदान्त दर्शन में ब्रह्मरूप से विस्तृत व्याख्या की हुई है। सामवेद संहिता में एक स्थल[७] पर ब्रह्मज्ञान का संकेत भी मिलता है। इस स्थल पर स्कालिअस्ट (Scholiast) के अनुसार 'Great delight' का अर्थ ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान है।[८] मेरी विचारदृष्टि से 'Great delight' का अर्थ ब्रह्मानन्द ही है।

उपर्युक्त संकेतों के आधार पर यह सन्देहास्पद नहीं रह जाता, कि सामवेद के अन्तर्गत भी वेदान्तदर्शन के पुष्ट एवं प्रामाणिक संकेत मिलते हैं।

यजुर्वेदसंहिता

यजुर्वेदसंहिता के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर दार्शनिक चिन्तनधारा से सम्बन्धित विचाररेखायें मिलती हैं। यहाँ, इस सम्बन्ध में कतिपय स्थलों की ओर ही संकेत किया जाएगा।

यजुर्वेद के ३२ वें काण्ड के प्रथम से पंचम मन्त्र तक के स्थल में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन

---

१. The Sāmaveda of Veda of : holy things, Third in the usual order-. of enumeration of the three vedas, ranks next i sanctity & litergical importance to the Ṛgveda or the veda of Recited praise.

२. सामवेद, ६।३।४।१० (श्रीराम आचार्य संपादित, गायत्री तपोभूमि, मथुरा १६६०।

३. In all the worlds that in as the book of highest where sprong the mights are, of splndid valour. R.T.H. Griffith : Hymns of the Samaveda, ६।३।१७

४. तदिहास भुवनेपु ज्येष्ठं यतो यज्ञ उग्रस्त्वेप नृम्णः, सामवेद ६।३।१७ श्रीराम आचार्य संपादित, पृ० ३६२।

५. That : meaning, according to Sāyaṇa. Brahman, the original cause of the universe, that (Primoval essence alone) Stevenson, *R.T.H. Griffith* : The hymns of the Sāmaveda, p. 266 (F.N.)

६. *R.T.H. Griffith : The hymns of the Sāmaveda*, p. 266 (F.N.)

७. सामवेद ६।२।१० (ग्रिफिथ सम्पादित)

८. Great delight : meaning according to Scholiast, perfect knowledge of Brahman. R.T.H. *Griffith* : The hymns of the Sāmaveda, p. 331 (F.N.)

करते हुए कहा गया है, कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा आदि नाम उस एक ही परमात्मा के हैं। वही परमात्मा अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति आदि नामों से अभिहित होता है। सब निमेषादि कालविभाग, उसी के उत्पन्न किये हुए हैं। वह ऊपर, नीचे, तिरछे और मध्य से नहीं ग्रहण किया जा सकता। उसकी कोई प्रतिमा नहीं है, क्योंकि वह महान् यश वाला है। इसीलिए अनेक वेद मन्त्र उसकी स्तुति करते हैं। परमात्मा के सर्वव्यापकत्व एवं अधिष्ठातृत्व को सिद्ध करते हुए, इसी स्थल पर कहा है, कि वही देव सब दिशा-विदिशाओं में व्याप्त है, और वही सब के अन्दर पहिले से स्थित है।[1] इसके अतिरिक्त बीसवें काण्ड के ३२ वें मन्त्र में परमात्मा को समस्त भूतों का अधिपति तथा समस्त लोकों का अधिष्टान स्वीकार किया गया है।[2] वेदान्त के अनुसार भी ब्रह्म समस्त जगत् का अधिष्टान ही है। एक और मन्त्र में परमात्मा को समस्त लोक-लोकान्तरों का वेत्ता कहा गया है।[3] ४०वें अध्याय के अन्तर्गत 'ईशावास्यमिदं सर्वं' द्वारा भी अद्वैत सत्ता का ही बोध होता है। यजुर्वेद के अन्तर्गत उपलब्ध प्रसिद्ध विराट् पुरुष का वर्णन[4] भी अद्वैत मत का ही समर्थक है। एक अन्य स्थल पर ब्रह्मस्वरूप होने की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है, कि जो द्यावा-पृथ्वी को ब्रह्म जानकर और लोकों को भी ब्रह्म मानते हुए तथा दिशाओं और स्वर्गादि की परिक्रमा कर, यज्ञ कर्म को अनुष्टान आदि से सम्पन्न कर, ब्रह्म को देखता है, वह अज्ञान से छूटते ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

यजुर्वेद में ब्रह्म और माया

ब्रह्म शब्द का प्रयोग यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर हुआ है।[5] परन्तु, यह विचारणीय है, कि इस शब्द का प्रयोग यजुर्वेद में कहीं परमात्मा,[6] कहीं ब्रह्मा,[7] कहीं ब्राह्मण और कहीं प्रजापति[8] के लिए किया गया है।

वेदान्त सिद्धान्त की प्रतिपादक माया का उल्लेख भी यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर मिलता है। यजुर्वेद के २२ वें अध्याय के ६६ वें मन्त्र में आसुरी माया का वर्णन किया गया है। यहाँ, माया की अचिन्त्यरूपता तथा विचित्रता भी प्रतीत होती है। यजुर्वेद में माया शब्द का प्रयोग प्रायः प्रज्ञा के लिए ही किया गया है।

---

१. यजुर्वेद ३२।१-४।
२. यो भूतानामधिपतिर्यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः–यजुर्वेद २०।३२।
३. यजुर्वेद ३२।१०।
४. वही, ३१।५।
५. वही, २३।४८, २३।६२ ११।८१, २२।२२ ३२।११, ३२।१२, ३१।१।
६. वही, २३।४८, २२।२२, ३२।११ ३२।१२।
७. वही, २३।६२।
८. वही, ११।८१, ३२।१६।

इस प्रकार यजुर्वेदसंहिता में, हमें वेदान्त से सम्बन्धित पर्याप्त विकीर्ण सामग्री मिलती है।

अथर्ववेदसंहिता में दार्शनिक विचार

ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद संहिताओं की अपेक्षा वेदान्त के सिद्धान्तों का कहीं अधिक स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेदसंहिता में उपलब्ध होता है। इस सम्बन्ध में यहाँ, कतिपय स्थलों का विवेचन किया जायेगा।

वेदान्त सूत्र के अन्तर्गत बादरायण ने 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'[1] सूत्र के द्वारा कारणब्रह्म से कार्यजगत् की अनन्यता स्वीकार करते हुए, अद्वैतवाद के समर्थक विवर्तवाद सिद्धान्त की पुष्टि की है। अथर्ववेदसंहिता के अन्तर्गत भी हमें परमात्मा के इस अनन्यत्व एवं अधिष्ठान रूप के दर्शन होते हैं। अथर्ववेदसंहिता में कहा गया है, कि गुहारूप सब प्राणियों के हृदय में सत्य, ज्ञानादि लक्षण वाला परब्रह्म विद्यमान है, जिस अधिष्ठान रूप ब्रह्म में आरोपित सम्पूर्ण जगत् एकाकार हो जाता है, क्योंकि आरोपित वस्तु अधिष्ठान से अलग नहीं होती।[2] ऐसे ब्रह्म को वेन-सूर्य ने देखा। इस प्रकार नामरूप वाले प्रपंचमय भौतिक जगत् को ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण, सर्वशक्तिसम्पन्न होने से पृश्नि (सूर्य या आकाश)[3] ने प्रकट नाम और रूप वाला कहा है।[4] अथर्ववेद में एक स्थल पर ब्रह्म को उपदेशयोग्य सिद्ध करते हुए कहा है, कि निरुपाधिक ब्रह्म के तीन पद गुहा में निहित हैं। इससे यहाँ, तात्पर्य है कि गुहा में स्थित पदार्थ के समान अज्ञात एवं अपरिच्छिन्न ब्रह्म केवल उपदेश द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।[5] अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक सदानन्द ने भी अध्यारोप एवं अपवाद न्याय के द्वारा ब्रह्मविद्या के उपदेश की बात कही है।[6]

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड में एक स्थान पर मायाशक्तिसम्पन्न ब्रह्म का वर्णन है। इस स्थान पर कहा गया है, कि परब्रह्म अपनी माया शक्ति से आदित्य (वेन) का रूप ग्रहण करके अपने तेज से भूतभौतिकात्मक प्रपंचरूप जगत् को व्याप्त किये रहता है।[7] एक अन्य स्थल पर भी ब्रह्म की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए कहा है, कि वह (ब्रह्म) ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र, अक्षर एवं परम तत्त्व का स्वरूप है।[8] परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत परब्रह्म के उक्त स्वरूप का चित्रण विस्तार से किया है।

वेदान्त के दृष्टिकोण के अनुसार परब्रह्म का बोध अविद्यानिवृत्ति होने पर जीव को अपने में

---

१. ब्र० सू० २।१।१४।

२. यत्र यस्मिन् अधिष्ठानरूपे ब्रह्मणि विश्वम् आरोपितम् कृत्स्नं जगत् एकरूपं एकाकारं भवति, आरोपितस्य अधिष्ठानव्यतिरेकेण सत्त्वाभावात् ।। सायणभाष्य – अ. वे. सं. २।१।१।१।

३. दिवश्च आदित्यस्य च साधारणनामैतत् (सायणभाष्य–अ० वे० सं० २।१।१।१)

४. अथर्ववेदसंहिता–२।१।१।१।

५. देखिए, अथर्ववेदसंहिता २।१।१।१ पर सायणभाष्य।

६. वेदान्तसार, ५।६।

७. सा. भा. अ. सं. ४।१।१।

८. सा. भा. अ. सं. ७।१।१।

ही होता है। उक्त विचार की मूल पृष्ठभूमि हमें अथर्ववेदसंहिता में, उस स्थल पर मिलती है, जहाँ विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए कश्यप ऋषि यह कहते हैं, कि अप्राण विराट् प्राणन करने वाली प्रजाओं के प्राणरूप में आता है, और विराट् स्वराट् रूप को प्राप्त हो जाता है। सर्वस्पर्शी विराट् के दर्शन पुरुष माया से अमोहित होने पर ही कर सकते हैं, मोहित होने पर कदापि नहीं।[1] वेदान्तसम्मत जगत् की उपादानकारणता के स्पष्ट बीज भी हमें अथर्ववेद में, उस स्थल पर उपलब्ध होते हैं, जहाँ ब्रह्म की स्तुति की गई है। इस स्थल पर कहा गया है, कि ब्रह्म 'होता' है, और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ भी ब्रह्म ही हैं। ब्रह्म के द्वारा ही सप्त स्वरों एवं उदात्तादि की यज्ञानुप्रविष्टता अर्थात् उद्गातृत्व आदि हैं। इस स्थल पर ब्रह्म के 'होता' आदि कहने से ब्रह्म का जागतिक पदार्थों से अपार्थक्य एवं उपादानकारणत्व सिद्ध होता है।[2]

इस प्रकार अथर्ववेदसंहिता के अन्तर्गत हमें वेदान्त का पर्याप्त विकसित पृष्ठाधार मिलता है।

ब्राह्मणग्रन्थ एवं दार्शनिक विचार

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत, संहिताओं के पश्चात्, ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत ज्ञान एवं कर्मकाण्डसम्बन्धी अनेक विवेचन मिलते हैं। ब्राह्मणों में वेदान्त से सम्बन्धित अनेक विचार-संकेत मिलते हैं।

ऋग्वेद में ब्रह्म का दार्शनिक अर्थ में स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। सर्वप्रथम, शतपथब्राह्मण में ब्रह्मसंबन्धी विवेचन मिलता है। शतपथब्राह्मण के अन्तर्गत ब्रह्म का स्पष्ट विवेचन करते हुए, कहा गया है, कि आरम्भ में यह जगत् ब्रह्म रूप ही था।[3] इसी ने पहले देवताओं की सृष्टि की, और फिर उन्हें भिन्न लोकों का स्वामित्व प्रदान किया, जैसे अग्नि को इस मर्त्यलोक का, वायु को वायुलोक का, और सूर्य को आकाशलोक का। तत्पश्चात् ब्रह्म परार्थ अथवा सत्यलोक को चला गया।[4] फिर उसने इस पर विचार किया, कि वह किस प्रकार इस जगत् में अवतरित हो सकता है। उक्त विचार के बाद, वह नाम और रूप के द्वारा इस जगत् में अवतरित हुआ। इसी प्रसंग में, आगे कहा गया है, कि नाम और रूप ब्रह्म की महती शक्तियाँ हैं। जो इन नाम और रूप शक्तियों को जान लेता है, वह स्वयं महती शक्ति से सम्पन्न हो जाता है।[5] एक दूसरे स्थान पर ब्रह्म का पूर्ण सत्ता के रूप में उल्लेख किया गया है, तथा उसका सम्बन्ध प्रजापति, पुरुष एवं प्राण (वायु) से दिखाया गया है।[6] इसके अतिरिक्त शतपथब्राह्मण में

---

१. सा. भा. अ. सं. ८।५।६।६।
२. अ. सं. १६।५।४२।१।
३. श० ब्रा० ११।२।३।१।
४. श० ब्रा० ११।२।३।१ पर हरिस्वामी की टीका।
५. श० ब्रा० S.B.E. vol. XLIV pp. 27-28
६. श० ब्रा० S.B.E. vol. XLIII, pp. 59.8.400.

ही, एक अन्य स्थल पर ब्राह्मण को स्वयम्भू भी कहा गया है।[1] शतपथ में ही सृष्टि के आरम्भक तत्त्व के सम्बन्ध में भी सूक्ष्म दृष्टि प्रस्तुत करते हुए कहा है, कि आरम्भ में न सत् था, और न असत्। उस समय केवल मन (mind) मात्र ही था। मन ही ने अनेक रूपों में प्रकट होने की इच्छा की।[2] इसी सिद्धान्तबिन्दु का सविस्तार विकास हमें अद्वैत वेदान्त के 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'[1] सिद्धान्त के अन्तर्गत मिलता है। शतपथब्राह्मण में ईश्वर शब्द का प्रयोग भी मिलता है, परन्तु, वहाँ, इस शब्द का अर्थ परमेश्वर न होकर सामर्थ्यवान् है।[2]

शतपथब्राह्मण के उपर्युक्त स्थलों में, अद्वैत वेदान्त की विचारधारा का स्पष्ट आधार कहा जा सकता है।

ऐतरेयब्राह्मण के अन्तर्गत ईश्वर शब्द का प्रयोग तो हुआ है, परन्तु वह परमात्मा के अर्थ में नहीं।[3] ऐतरेयब्राह्मण में ही बृहस्पति का ब्रह्मरूप से भी वर्णन मिलता है।[4] इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण में परमात्मा का विराट् रूप से भी वर्णन किया गया है।[5]

तैत्तिरीयब्राह्मण में ऋग्वेद के[7] इस प्रश्न का उत्तर देते हुए, कि किस काष्ठ और किस वृक्ष से स्वर्ग एवं भूलोक की सृष्टि हुई, कहा गया है, कि ब्रह्मरूप काष्ठ एवं ब्रह्मरूप वृक्ष से ही स्वर्ग एवं भूलोक का निर्माण किया गया है।[8] उक्त कथन से ब्रह्म की जगत्कारणता का तथ्य प्रकट होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही, ब्रह्मज्ञानी के अर्थ में ब्रह्मवादी की चर्चा मिलती है।[9] उक्त अर्थ में ही, एक स्थान पर तैत्तिरीयब्राह्मण में ब्रह्मविद् शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[10] तैत्तिरीयब्राह्मण में ही ब्रह्म को शुद्धि का साधन भी कहा है।[11] पंचविंश ब्राह्मण के अन्तर्गत भी ब्रह्मवाद की चर्चा मिलती है[12] षड्विंश ब्राह्मण में प्रजापति का वर्णन किया गया है, जो अनेक रूपों में प्रकट होने की कामना करते हैं।[13] सामवेद के देवतब्राह्मण में समग्र साममन्त्रों की सृष्टि ब्रह्म से स्वीकार की गई है, तथा भिन्न-भिन्न देवताओं के व्याज से ब्रह्म

---

१. तै० उ० ब्रह्मवल्ली ६।
२. श० ब्रा० १३।२।६।६, १३।१।२।४, १३।३।४।
३. ईश्वरः पर्जन्योवर्ष्टोः (ऐ० ब्रा० ३।१८) ईश्वरोह्यनृणाकर्तोः (ऐ० ब्रा० १।१४) (डॉ० मंगलदेव शास्त्री के 'हिस्ट्री आफ दि वर्ड ईश्वर' नामक लेख से उद्धृत। यह लेख सातवीं आल इन्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेंस बड़ौदा की रिपोर्ट के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है।)
४. ऐतरेय ब्राह्मण ३।२।१३।
५. S.B.E. Vol. XLIV. pp. 417, 418
६. वही, (प्रथम भाग पृ० २८) आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थमाला, बनारस।
७. ऋग्वेद १०।३१।४।
८. ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। तै० ब्रा० २।८।९।६।
९. ब्रह्मवादिनो वदन्ति, तै० ब्रा० १।३।१०।६।
१०. तै० ब्रा० १।४।८।६।
११. वही, १।४।८।२।
१२. पंचविंशब्राह्मण २।१।१।
१३. पंचविंशब्राह्मण, ४।३।३, ६।४।१९।

का ही प्रतिपादन किया गया है।[1]

ब्राह्मणग्रन्थों के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी उपर्युक्त संकेतों से वेदान्त के मूल इतिहास का परिचय मिलता है। संहिताओं की अपेक्षा ब्राह्मणों का वेदान्त, कुछ अधिक स्पष्ट एवं सैद्धान्तिक है।

आरण्यकग्रन्थों में दार्शनिक विचार

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आरण्यक ग्रन्थों में भी ब्रह्मविद्या का पर्याप्त उल्लेख मिलता हैं। ऐतरेय आरण्यक में परम पुरुष को ही महान् प्रजापति का रूप दिया गया है-'अयमेव महान् प्रजापतिः' (ऐ० आ० २।२।२)। आत्मा के विभुत्व को सिद्ध करते हुए, ऐतरेय आरण्यक में कहा है, कि आकाश और पृथिवी आत्मा के ही रूप हैं।[2] ऐतरेय आरण्यक में ही कहा है, कि सच्चिदानन्द रूप परमात्मा ही जगत् का कारण है, और वह मृत्पाषाणादि, औषध्यादि एवं प्राणधारियों में क्रम से अपने को प्रकट करता है।[3] सृष्टि की आरम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए, ऐतरेयारण्यक में कहा है, कि आरम्भ में केवल आत्मा की सत्ता थी। उसने ही लोकों की सृष्टि की इच्छा की, और फिर लोकों की सृष्टि की।[4] ऐतरेयारण्यक में ब्रह्म को प्रज्ञानस्वरूप कहा है।[5] ऐतरेयारण्यक में ही एक स्थान पर ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा है, कि शार्कराक्ष (शर्कराक्ष नामक महर्षि के पुत्र) 'उदर ब्रह्म है', यह मानकर उपासना करते हैं।[6] इसके अतिरिक्त पुरुषार्थोपलब्धि के सम्बन्ध में कर्म और ज्ञान का समन्वय सिद्ध करते हुए, ऐतरेय आरण्यक में कहा है–एष पन्थाः-एतत् कर्मैतद् ब्रह्म (ऐ० आ० २।१।२) अर्थात् यह कर्म और ब्रह्म दोनों ही, पुरुषार्थ के साधन हैं। यहाँ, सायण ने कर्म शब्द से विषय के ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान का तात्पर्य ग्रहण किया है और ब्रह्मशब्द से विषय के ज्ञानमात्र का।[7]

इस प्रकार ऐतरेयारण्यक में अद्वैत वेदान्त की विचारदृष्टि के सम्बन्ध में अनेक संकेत उपलब्ध होते है।

तैत्तिरीय आरण्यक में प्रजापति के सम्बन्ध में कहा है, कि उन्होंने पहले अपने आपसे जगत् को उत्पन्न किया, और फिर, वे उस जगत् में प्रवेश कर गये।[8] इस प्रकार समग्र जगत् प्रजापति का ही रूप है। यहाँ प्रजापति का वर्णन परमात्मा के रूप में किया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में परब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करते हुए कहा है, कि वह परब्रह्म ही अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र, जल और

---

१. दैवत ब्राह्मण २।२१ तथा देखिए, इसी पर सायण भाष्य।
२. यावती वै द्यावापृथिवी तावानात्मा ऐ० आ० १।३।८।
३. डॉ० मंगलदेव शास्त्री : ऐतरेयारण्यकपर्यालोचनम्, पृ० ३५।
४. ऐ० आ० २।४।१।
५. प्रज्ञानं ब्रह्म–ऐ० आ० २।६।१।
६. उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्ष्या, उपासते। हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयः–ऐ० आ० २।१।४।
७. ऐतरेयारण्यकपर्यालोचनम्, पृ० १७।
८. तै० आ० १।२३।

प्रजापति है।[1] इसी प्रकार तैत्तिरीय आरण्यक में एक और स्थल पर भी कहा है, कि वह ब्रह्म ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र, अक्षर और परमतत्त्व है। वह स्वतःदीप्त रहता है।[2]

अद्वैतवेदान्तदृष्टि के अनुसार ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म रूप ही हो जाता है–'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। उक्त विचार के सम्बन्ध में तैत्तिरीय आरण्यक में भी स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हुए, कहा गया है–'ब्रह्म वै सन् ब्रह्माप्येति'[3] अर्थात् ब्रह्म रूप होता हुआ पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। एक दूसरे स्थल पर भी कहा है, कि ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म में लीन हो जाता है–ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'। तैत्तिरीय आरण्यक में ही, यह भी कहा है, कि परमात्मा ने इस जगत्प्रपंच की सृष्टि की और फिर वह उसी में प्रवेश कर गया।[5]

शांखायनारण्यक में, जिसे कावेल ने कोषीतक्यारण्यक भी कहा है, आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है, कि आत्मा ही ब्रह्म है, और ब्रह्म अपूर्व, अपर, अनपर, अनन्त एवं अबाह्य है।[6]

उपर्युक्त संकेतस्थलों के आधार पर, हम यह कह सकते हैं, कि उपनिषत्पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में भी वेदान्त के ब्रह्म, आत्मा, जगत् और मोक्ष आदि विचारों के स्पष्ट संकेत वर्णन मिलते हैं। उपनिषत्पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में आत्मा का व्यवहार तीन अर्थों में मिलता है-प्राण–श्वास के अर्थ में, विश्वात्मा के रूप में और जीवात्मा के रूप में।[7]

उपनिषद् और दार्शनिक विचार

उपनिषदों में प्राप्त दार्शनिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यहाँ उनमें से कतिपय मतों का उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

सदानन्द का मत

वेदान्त को उपनिषत्प्रमाण कहकर सदानन्द ने उपनिषदों में वेदान्त दर्शन की प्रामाणिक पृष्ठभूमि की ओर संकेत किया है। (वेदान्तसार ३)

ब्लूमफील्ड का मत

पाश्चात्य विद्वान् ब्लूमफील्ड का तो यहाँ तक कहना है, कि नास्तिक बुद्धवाद को मिलाकर

---

१. तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत् सूर्यस्तच्चन्द्रमाः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तत् आपस्तत् प्रजापतिः–तै० आ० १०।
२. तै० आ० १०।११।२।
३. वही, २।१।
४. वही, ८।१।
५. वही, ८।६।
६. शाङ्खायनारण्यकम्, त्रयोदश अध्याय; आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावली, १९२२।
७. S.N. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. : I, p. 26.

हिन्दू दर्शन का कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण रूप नहीं है, जिसका मूल रूप उपनिषदों में निहित न हो।[१]

मेक्समूलर का मत

प्राचीन उपनिषदों में वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि खोजते हुए मैक्समूलर का विचार है, कि शंकर वेदान्तिक विचारों या अंकुरों को प्रत्येक स्थिति में प्राचीन उपनिषदों में खोजने में सफल हुए हैं।[२]

डायसन का मत

पाश्चात्य विद्वान् डायसन, मैक्समूलर के मत के ही समर्थक प्रतीत होते हैं। उन्होंने परवर्ती वेदान्त की आधारभूमि वेदान्तसूत्र को औपनिषद सिद्धान्त का ही सूक्ष्म संग्रह कहा है।[३]

मेकेन्ज़ी का मत

प्रो० मेकेन्ज़ी का कथन है, कि सृष्टिविज्ञान के क्रमिक सिद्धान्त का प्राचीनतम एवं महत्त्वपूर्ण प्रयत्न वह है, जो उपनिषदों में प्रकट किया गया है। इस प्रकार मेकेन्ज़ी ने भी उपनिषदों को वेदान्त सिद्धान्तों की प्राचीनतम पृष्ठभूमि के रूप में ही स्वीकार किया है।[४]

गफ़ का मत

गफ़ महोदय का विचार है, कि उपनिषद्दर्शन के सर्वातिमहान् व्याख्याता शंकर या शंकराचार्य हैं।[५] गफ़ कहते है कि स्वयं शंकर की शिक्षा उपनिषद्दर्शन की ही स्वाभाविक एवं उचित व्याख्या है।

उपरिनिर्दिष्ट उद्धरणों से, यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है, कि प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी आलोचक विद्वान् उपनिषदों को वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ, यह कहना उपयुक्त होगा, कि उपनिषदों में केवल शांकर वेदान्त के ही मूल बीज नहीं उपलब्ध होते, वरन् रामानुज, वल्लभ, मध्व और निम्बार्क के दार्शनिक विचारों के बीज भी उनमें देखे जा सकते हैं। इसका प्रधान कारण यही है, कि उपनिषद् किसी एक सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं हैं, परन्तु जैसा कि, प्रो० दास-गुप्त भी मानते है,[६] शंकराचार्य का दार्शनिक दृष्टिकोण प्राचीन उपनिषदों के सिद्धान्तों के प्रतिनिधित्व में अत्यधिक सफल हुआ है। वैसे तो, जहाँ उपनिषदों में विभिन्न दर्शन पद्धतियों के मूल बीज खोजने

---

१. There is no important form of Hindu thought, heterodox Buddhism included, which is not rooted in the Upaniṣads. (The Religion of the Veda, p. 51)
२. Max Muller : Vedānta Philosophy, p. 25.
३. Deussen : Philosophy of Upaniṣads, p. 27
४. *E.R.E. Vol. VIII, p. 597.*
५. *Gough :* Phylosophy of Upaniṣads, Preface p. VIII.
६. *Das Gupta* : Indian Phylosophy, Vol. I, p. 42.

की बात है, वहाँ यह कहना असंगत न होना, कि उनमें केवल रामानुज एवं वल्लभादि आचार्यों के वेदान्तिक सिद्धान्तों के बीज ही नहीं उपलब्ध होते, अपितु, जैसा कि, रानाडे आदि विद्वानों ने अपने खोजपूर्ण अध्ययन के अन्तर्गत स्पष्ट किया है,[१] बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा एवं शैवदर्शन के बीज भी उपनिषदों में मिलते हैं। यहाँ, हमारा अभिप्राय उपनिषदों में अद्वैत वेदान्त के बीजदर्शन मात्र से है। इस दिशा में, यह देखने का प्रयत्न किया जाएगा, कि उपनिषदों में अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों की आधारभूमि किस रूप में उपलब्ध होती है।

उपनिषदें और ब्रह्मसम्बन्धी विवेचन

परवर्ती अद्वैत-प्रासाद का आधार ब्रह्म और जगत् के बीच भेददृष्टि का अभाव एवं एकमात्र ब्रह्म की सत्यता स्वीकार करना है। कठोपनिषद् में उक्त विचार को स्पष्ट करते हुए कहा है कि, जो इस जगत् में भेद देखता है, वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं होता, परन्तु अद्वैतविद्या से बुद्धि के संस्कृत होने पर ही द्वैत दृष्टि का विनाश सम्भव है।[२] इसके अतिरिक्त छान्दोग्य-उपनिषद् में श्वेतकेतु और उनके पिता आरुणि के संवाद में भी ब्रह्म एवं नामरूपात्मक जगत् की एकरूपता का स्पष्ट विचार मिलता है। जब द्वादश वर्ष के पश्चात् श्वेतकेतु विद्या अध्ययन करके अपने पिता आरुणि के पास पहुँचे, तो वह बड़े गर्वित एवं सन्तुष्ट थे, और अपने आपको विद्वान् समझ रहे थे। पिता आरुणि ने श्वेतकेतु से पूछा, कि क्या तुमने अपने गुरु से वह शिक्षा प्राप्त कर ली है, जिसके प्राप्त कर लेने पर अश्रुत श्रुत, अचिन्तित चिन्तित एवं अज्ञात ज्ञात हो जाता है। पिता के उक्त वचनों को सुनकर श्वेतकेतु ने अपनी अज्ञानता स्वीकार की और पिता से अपनी जिज्ञासा प्रकट की। तब पिता आरुणि ने श्वेतकेतु को समझाते हुए कहा, कि एक मृण्मय पिण्ड का ज्ञान होने पर सारे मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, सुवर्ण पिण्ड का ज्ञान होने पर सुवर्णजन्य कुण्डलादि विकारों का ज्ञान हो जाता है, एवं जिस प्रकार निहिन्ने का ज्ञान होने पर सारे लौहनिर्मित पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि मृत्तिका सुवर्ण एवं लौह के विभिन्न विकार, नाम मात्र के तथा वाचारम्भण मात्र हैं।[३] इसी प्रकार जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है, सारा जगत् ब्रह्म का ही रूप है। यही विचार बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है।[४] बृहदारण्यक-उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं, कि ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, समस्त लोक, सहस्र देवता, समस्त भूत और यह सब आत्मा का ही स्वरूप है।[५] इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय-उपनिषद् में ब्रह्म की जो परिभाषा मिलती है, वह भी पूर्णतया अद्वैत मत की ही समर्थक है। तैत्तिरीय-उपनिषद् के अन्तर्गत वरुण अपने पुत्र, भृगु से ब्रह्म के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए कहते हैं, कि जिससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिसमें उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, और मृत्यु होने पर जिसमें प्रवेश करते हैं, उसी को जानने ही

---

१. *Ranade* : Constructive Survey of Upaniṣadic Phylosophy. p. 182-184.

२. क० उ० ६।१।२-७।

३. छा० उ० ६।१।२-७।

४. बृ० उ० २।४।६-६।

५. वही ४।२।६।

इच्छा करो, वही ब्रह्म है।[1] तैत्तिरीय-उपनिषद् के उक्त उद्धरण में अद्वैतवेदान्तसम्मत ब्रह्म की अधिष्ठानता के पूर्ण लक्षण मिलते हैं। अधिष्ठानवाद के अनुसार ब्रह्म अधिष्ठान है, और जगत् अध्यास। जगतृरूप अध्यास ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अविद्या से उत्पन्न होता है और, अविद्यानिवृत्ति होने पर अध्यास भी नष्ट हो जाता है। कठोपनिषद् में अश्वत्थ वृक्ष के माध्यम से ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है, कि यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष, ऊर्ध्वमूल एवं अवाक्‌शाख है। वही शुद्ध, शुभ्र ब्रह्म एवं अमृतरूप है। समस्त लोक उसी में आश्रित है। उस ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यहाँ, अश्वत्थ वृक्ष से संसाररूप वृक्ष का संकेत किया गया है, और ब्रह्म से उसके मूल का।[2] यहाँ भी ब्रह्म के अद्वैत एवं अधिष्ठान रूप का चित्रण स्पष्ट ही है।

उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश अनेक रूपों में मिलता है। यहाँ उनमें से कतिपय विशिष्ट स्वरूपों का उल्लेख किया जाएगा।

१-सत् एवं असत् रूप में ब्रह्म का चित्रण

बृहदारण्यक-उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन सत् एवं असत्, दोनों रूपों में किया गया है।[3]

२-ब्रह्म का चित् रूप में वर्णन

ब्रह्म का चिद् विशेषण उसके ज्ञान एवं प्रकाशमयता का द्योतक है। ब्रह्म ज्ञान एवं प्रकाश रूप है। इसीलिये बृहदारण्यक में ब्रह्म को 'ज्योतिषां ज्योतिः'[4] कहा गया है। बृहदारण्यक में ही एक स्थल पर परम तत्त्व को सत्, चित् एवं आनन्द से पूर्ण कहा है। (बृ० उ० २।४।१२)

३-आनन्दरूप में किया गया ब्रह्मवर्णन

आनन्दवादी अद्वैत दर्शन में, ब्रह्म को आनन्द स्वरूप कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मबोध की स्थिति को आनन्द का ही रूप कहा है। (छा० उ० ७।२३)

४-देशातीत ब्रह्म का वर्णन

उपनिषदों में ब्रह्म को देशादि की सीमा से अतीत कहा गया है। याज्ञवल्क्य गार्गी

---

१. कठोपनिषद् २।३।१।

२. यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात् ।। शा० भा० क० उ० २।३।१।

३. द्वे वाव ब्राह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च। (बृ० उ० २।३।१)।

४. बृ० उ० ४।४।१६।

को ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं, कि-हे गार्गी, जिसमें सब ओतप्रोत है, वह अविनाशी है, वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न बड़ा है, न वह लोहित है, न वह संसार जीव की तरह स्नेह वाला है। वह आवरणरहित, तमरहित, वायुरहित, स्वादरहित, गन्धरहित, नेत्ररहित, क्षेत्ररहित, वाणीरहित, मनरहित, तेजरहित, प्राणरहित, मुखरहित, परिणामरहित, अन्तरहित[1] तथा वाह्यरहित है। न वह कुछ खाता है और न कोई उसको खाता है।[2] इस प्रकार उक्त विवेचन में ब्रह्म का देशातीतरूप स्पष्ट रूप से वर्णित हुआ है।

५-कालातीत ब्रह्म का वर्णन

जिस प्रकार कि ब्रह्म देशातीत है, उसी प्रकार कालातीत भी है। बृहदारण्यक में ब्रह्म को भूत एवं भविष्यत् काल का स्वामी[3] तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में त्रिकालातीत कहा है।[4]

६-कार्य-कारणावस्था से अतीत ब्रह्म का वर्णन

बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म को अक्षर[5] कहना उसकी कार्य-कारणावस्था का निषेध करना है। क्योंकि जो अक्षर है, उसमें परिवर्त्तन सम्भव नहीं होता। उक्त विचार को ही स्पष्ट करते हुए बृहदारण्यक (४।४।२०) में याज्ञवल्क्य जनक से कहते हैं, कि यह ब्रह्म अप्रमेय एवं ध्रुव है। इस प्रकार उपनिषदों के अन्तर्गत कार्य-कारणावस्था से अतीत ब्रह्म का वर्णन भी उपलब्ध होता है।

७-पूर्णसत्य के रूप में ब्रह्मवर्णन

उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन पूर्णसत्य के रूप में भी मिलता है। बृहदारण्यक-उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा है, कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है। बृहदारण्यक में ही एक स्थल पर यह भी कहा गया है, कि आत्मा के दर्शन, श्रवण एवं ज्ञान से समग्र जगत् का ही ज्ञान हो जाता है।[6] इस प्रकार औपनिषद दर्शन के अनुसार अद्वैतब्रह्म एवं पूर्ण सत्ता है।

---

१. बृ० उ० ३।८।८।
२. ईशानम् भूतभव्यस्य -बृ० उ० ४।४।१५।
३. 'परस्त्रिकालात्' श्वे० उ० ६।५।
४. बृ० उ० ३।८।८,९,१०।
५. न तु तद् द्वितीयमस्तितोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्, बृ० उ० ४।३।२३।
६. बृ० उ० २।४।५ तथा देखिए, मु० उ० १।१।३।

८-ईश्वर रूप में ब्रह्मवर्णन

परवर्त्ती वेदान्त के अन्तर्गत मायाशक्तिविशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी परमेश्वर को मायी कहा है।[1] कौषीतकि उपनिषद् में, ईश्वर के सम्बन्ध में, कहा गया है, कि वह न साधु कर्मों से महान् बनता है और न असाधु कर्मों से हीन बनता है। वही जिसकी उन्नति चाहता है, उसे साधु कर्म करने की प्रेरणा देता है और जिसकी अवनति चाहता है, उसे असाधु कर्म करने की प्रेरणा देता है। वही लोकपाल, लोकाधिपति एवं सर्वेश है। इसी प्रकार उपनिषदों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म का ईश्वर रूप में वर्णन मिलता है।[2]

९-स्रष्टा रूप में ब्रह्मवर्णन

सूत्रकार बादरायण ने 'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।१) सूत्र के अन्तर्गत ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का कारण कहा है। परवर्ती वेदान्ती बादरायण का उक्त विचार अपने मूल रूप में हमें सर्वप्रथम तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत मिलता है।[3] तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म के स्रष्टा रूप का वर्णन करते हुए, वरुण ने अपने पुत्र भृगु से कहा है, कि जिससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, और अन्त में जिसमें प्रवेश कर जाते हैं, उसे जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है। इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म का स्रष्टा रूप भी प्राप्त होता है।

१०-रक्षकरूप में ब्रह्मवर्णन

बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य ने आत्मा को ईश्वर का रूप दिया है, और उन्होंने कहा है, कि वह आत्मा ही सबका ईश्वर है। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य ने आत्मा की तुलना सेतु से की है, क्योंकि जगत् का रक्षक आत्मा ही सेतु की तरह सब को पार लगाने वाला है। वही लोकों की रक्षा के लिये, उसको धारण करता है।[4] इस प्रकार उपनिषद्दर्शन में ब्रह्म एवं आत्मा के रक्षक का वर्णन भी स्पष्ट रूप से मिलता है।

११-उपनिषदों में ब्रह्म के नियन्ता रूप का वर्णन

उपनिषदों में परमात्मा का नियन्ता रूप भी मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थल

---

१. श्वे० उ० ४।१०।
२. कौषीतकी-उपनिषद् ३।८ तथा देखिए, ईशावास्योपनिषद् १ छा० उ० ४।१५।२,४ बृ० उ० ४।४।२२।
३. तै० उ० ३।१।
४. एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय.......... बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२२।

पर गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो पृथिवी के अभ्यन्तर और बाहर, ऊपर और नीचे स्थित है, जिसको पृथिवी नहीं जानती है और जो पृथिवी को जानता है, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी के बाहर व भीतर रहकर पृथिवी का शासन करता है, जो अविनाशी एवं निर्विकार है और जो तुम्हारा और सब का आत्मा है, वही है गौतम, अन्तर्यामी है।[१] इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद,[२] नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्[३], नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्[४], रामोत्तरतापिन्युपनिषद,[५] एवं ब्रह्मोपनिषद[६] में भी ब्रह्म के अन्तर्यामी रूप का वर्णन मिलता है।

उपनिषदों में ब्रह्म के नकारात्मक रूप का वर्णन

उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म का नकारात्मक रूप से भी वर्णन किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य ने पाँच स्थलों पर आत्मा एवं ब्रह्म के अज्ञेयत्व की ओर संकेत किया है।[७] ब्रह्म के नकारात्मक रूप का वर्णन करते हुए, बृहदारण्यक के अन्तर्गत एक स्थल पर याज्ञवल्क्य कहते हैं–

..................स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसंगो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजयनीयात्,[८] अर्थात् वह आत्मा 'नेति-नेति' शब्द करके अग्राह्य है। वह आत्मा अशीर्य, असंग एवं अबद्ध है। क्योंकि न वह जीर्ण हो सकता है, न किसी में आसक्त है, और न उसको कोई पीड़ा दे सकता है, तथा न वह हत हो सकता है। मैत्रेयी से याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि हे मैत्रेयि, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा को कोई किसके द्वारा जान सकता है। बृहदारण्यक के उपर्युक्त अंश में प्रयुक्त 'असितः' शब्द के विद्वानों ने एकाधिक अर्थ किये हैं। यहाँ इस सम्बन्ध में डाक्टर दासगुप्त के मत के सम्बन्ध में विचार करना उपयुक्त होगा।

डा० दासगुप्त का मत और उसकी आलोचना

डाक्टर दासगुप्त ने 'असित' का अर्थ करते हुए कहा है, कि वह आत्मा खड्ग के आघात से आहत नहीं हो सकता।[९] डायसन ने 'असित' का अर्थ Not Fettered अर्थात् अबद्ध किया

---

१. बृ० उ० ३।७।१।
२. माण्डूक्योपनिषद्-६।
३. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् १।
४. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्।
५. रामोत्तरतापिन्युपनिषद् १।
६. ब्रह्मोपनिषद् १।
७. बृ० उ० ४।२।४, ४।४।२२, ४।५।१५, ३।६।२६, २।३।६।
८. बृ० उ० ४।५।१५।
९. ...He cannot suffer by a stroke of the sword. *S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 44, 45.

है।[1] डाक्टर दासगुप्त ने डायसन, मैक्समूलर और विद्वान् रोर के मत की आलोचना करते हुए कहा है कि इन विद्वानों ने वृहदारण्यक के उपर्युक्त अंश की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या की है। उक्त विद्वानों के मत की आलोचना करते हुए डा० दासगुप्त का विचार है कि डायसन, मैक्समूलर और रोर ने 'असितः' की व्याख्या विशेषण अथवा कृदन्त शब्द मानकर की है। डा० दासगुप्त के मतानुसार 'असितः' की विशेषण अथवा कृदन्त शब्द मानकर की गई व्याख्या अप्रामाणिक है। डा० दासगुप्त के मतानुसार 'असितः' असि शब्द का अपादान कारक का रूप है।[2] मेरे विचार से डाक्टर दासगुप्त का 'असितः' को अपादान कारक का रूप मानना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अपादान कारक का व्यवहार पृथक्करण के अर्थ में होता है। इसके विपरीत डा० दासगुप्त ने 'असितो न व्यथते' का अर्थ करते समय असितः को अपादान कारक न मानकर करणकारक माना है। जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है, डा० दासगुप्त ने 'असितो न व्यथते' का अर्थ किया है-He cannot suffer by a stroke of the sword... अर्थात् वह आत्मा खड्ग के आघात से आहत नहीं हो सकता। इस प्रकार 'असितः' को अपादान स्वीकार कर लेने पर उससे करणकारक का अर्थ निकालना, मेरे विचार से अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है। अतः मैक्समूलर आदि विद्वानों द्वारा स्वीकृत 'असितः' का अबद्ध अर्थ ही समीचीन कहा जाएगा। इस मत के समर्थन में यह तर्क भी दिया जा सकता है, कि जिस प्रसंग में असितः का प्रयोग हुआ है, वहाँ असितः से पूर्व अगृहा, अशीर्य एवं असंग शब्द का अर्थ बोध्य है। अतः असितः में भी असि को पृथक् शब्द के रूप में न ग्रहण करके, नञर्थ बोध्य अबद्ध अर्थ लेना ही संगत होगा। जैसा कि, बृहदारण्यक के उपर्युक्त स्थल (बृ० उ० ४।५।१५) में भी कहा गया है, नेति-नेति के द्वारा उपनिषदों में अनेक स्थलों पर आत्मा एवं ब्रह्म के अवर्णनीय होने का अभिप्राय है।[3] याज्ञवल्क्य ने ब्रह्म को नकारात्मक रूप से ही वर्णन करते हुए कहा है, कि ब्रह्म अक्षर, अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अच्छाय, अतम, (तमरहित) अवायु, अनाकाश, असंग, अरस, अगन्ध, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेजस्क, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनन्तर तथा अबाह्य है।[4] याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के उक्त नकारात्मक रूप के प्रतिपादन में भी 'नेति नेति' वाली शैली की ही पृष्ठभूमि है। पश्चिमी विद्वान् हिलेब्रां और एकहार्ट ने नेति नेति के सम्बन्ध में एक विलक्षण मत प्रस्तुत किया है। यहाँ इस मत के सम्बन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

'नेति नेति' के सम्बन्ध में हिलेब्रां और एकहार्ट का मत और उसकी आलोचना

हिलेब्रां ने 'नेति नेति' में 'न' का अर्थ निषेधपरक न स्वीकार करके स्वीकृतिपरक माना

---

१. डायसन, फिलासफी आफ उपनिषद्स, पृ० १४७। मैक्समूलर ने भी डायसन के समान ही असितः का अर्थ अबद्ध किया है–मैक्समूलर के मत के लिए देखिए–सेक्रिड बुक्स आफ दी ईस्ट, भाग १५, पृ० १८५)

२. ....It is evidently the ablative of Asi, a sword. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 45 (F.N).

३. बृ० उ० ४।२।४, ४।४।२२, ३।६।२६, २।३।६।

४. बृ० उ० ३।८।८।

है।[1] इसी प्रकार पश्चिमी विद्वान् एकहार्ट भी 'न' अर्थ निषेधपरक न ग्रहण करके स्वीकारात्मक मानते हैं। एकहार्ट ने 'नेति नेति' की व्याख्या करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है, कि ब्रह्म नहीं है, ऐसा नहीं है, वरन् वह (ब्रह्म) है। (न इति न, इति) इस प्रकार एकहार्ट ने नकारद्वय के द्वारा निषेध का भी निषेध माना है।[2]

पश्चिमी विद्वानों का उपर्युक्त मत भारतीय अध्येताओं के लिए एक नवीन मत तो है, परन्तु उचित नहीं। 'नेति नेति' की व्याख्या करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है–

'नेति नेति' न ह्येतस्मादिति नेति, अन्यत् परमस्ति'[3] अर्थात् 'नेति नेति' से बढ़कर परमात्मा का उपदेश दूसरा नहीं है। इस स्थल पर स्पष्ट ही, नेति के अन्तर्गत प्रयुक्त नकार का अर्थ निषेधपरक है। बादरायण ने भी 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' (ब्र० सू० ३।२।२२) के अन्तर्गत यही कहा है, कि 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति प्रकृत में प्रधानतया उपन्यस्त ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों का ही निषेध करती है। शंकराचार्य ने भी बादरायण के उक्त सूत्र पर भाष्य करते हुए, स्पष्ट रूप से कहा है, कि 'नेति नेति'श्रुति ब्रह्म के रूप-प्रपंच का प्रतिषेध करती है, और ब्रह्म को शेष रखती है।[4]

प्रकरण एवं विषयसमन्वय की दृष्टि से, हिलेब्रां एवं एकहार्ट की 'नेति नेति' की व्याख्या ऊपर निर्दिष्ट की गई उपनिषद्वर्त्तिनी, एवं बादरायण और शंकराचार्यकृत व्याख्या की अपेक्षा हेय एवं अनुचित प्रतीत होती है।

उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप

ऋग्वेद में एक ओर आत्मा का प्रयोग, जगत् के मूल तत्त्व के लिये किया गया था, और दूसरी ओर मनुष्य के प्राणवायु के अर्थ में।[5] उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा शब्दों का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में मिलता है।[6] उपनिषदों मे, यह भी स्पष्ट कर दिया है, कि पुरुष और आदित्य में रहने वाला ब्रह्म एक ही है।[7]

---

१. A Review of Deussen's Translation of the Upaniṣads, Deutsche Literaturz, 1897.

२. देखिए, एकहार्ट के मत के लिए–*Deussen* : Philosophy of Upaniṣads, p. 149.

३. बृ० उ० २।३।६।

४. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२ तथा देखिये शा० भा०, बृ० उ० ४।५।१५।

५. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 45.

६. तद् ब्रह्म स आत्मा–तै० उ० १।५।१।

७. स यश्चायं पुरुषे यश्चासौ आदित्ये–तै० उ० २।८ तथा देखिए छा० उ० ३।१।३।७, ३।१४।२ ४; बृ० उ० ५।५।२; मु० उ० २।१।१०।

उपनिषदों में आत्मा के भेदों (विभिन्न स्वरूपों) का निरूपण

छान्दोग्योपनिषद् के एक प्रसंग के आधार पर आत्मा के निम्नलिखित तीन रूप मिलते हैं–[1] (१) शारीरिक आत्मा (२) जीवात्मा (३) सर्वोच्च आत्मा या परमात्मा।

शारीरिक आत्मा के सम्बन्ध में उपदेश करते हुए प्रजापति, इन्द्र तथा विरोचन से कह रहे हैं, कि अन्य पुरुष के नेत्र में पुरुष का दर्शन आत्मा का ही स्वरूप है, और यह आत्मा अमर तथा अभय है। उक्त विषय के सम्बन्ध में जब इन्द्र तथा विरोचन प्रजापति से पूछते हैं, कि भगवन् ! जल और दर्पण मे दिखाई पड़ने वाली वस्तु क्या है, तो प्रजापति यही उत्तर देते हैं, कि वह आत्मा ही जल में दिखाई पड़ता है।[2] आत्मा के दूसरे रूप जीवात्मा के सम्बन्ध में शिक्षा देते हुए प्रजापति कहते हैं, कि स्वप्न में जो आनन्द का अनुभव करते हुए विचरण करता है, वह आत्मा ही है। आत्मा के इस स्वरूप का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के एक तीसरे स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रजापति, इन्द्र और विरोचन से कहते हैं, कि यह जीव सुप्त रहता हुआ आनन्द की ऐसी ऊँची स्थिति को प्राप्त कर लेता है, कि उसे किसी स्वाप्निक विचार का ज्ञान नहीं होता।[3] आत्मा का यही सर्वोच्च रूप है।

इसके अतिरिक्त उपनिषदों में आत्मा के अन्य पाँच रूप और मिलते हैं। यह पाँच रूप हैं– (१) अन्नमय आत्मा (२) प्राणमय आत्मा (३) मनोमय आत्मा (४) विज्ञानमय आत्मा (५) आनन्दमय आत्मा।

उपनिषदों में मुक्ति का सिद्धान्त–मुक्तिसम्बन्धी विचार का पृष्ठाधार औपनिषद दर्शन में भी पूर्ण रूप से मिलता है : मुण्डक उपनिषद् में कहा है, कि जो उस परब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्मरूप हो जाता है।[4] मुक्त पुरुष का लक्षण बतलाते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है, कि जिस प्रकार पुष्करपलाश[5] को जल स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार आत्मज्ञानी को पापकर्म नहीं लगता है, मुक्त पुरुष का वर्णन करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है, कि जैसे, सर्प जब अपनी निर्जीव त्वचा को त्याग देता है तो वह किसी वामी के ऊपर पड़ी रहती है, उस समय सर्प न उसकी रक्षा का यत्न करता है और न उसे फिर ग्रहण करना चाहता है। इसी प्रकार ज्ञानी का शरीर उससे असम्बद्ध रहता है। इसीलिये ज्ञानी पुरुष शरीररहित और मरणधर्मरहित होता है। मेरे विचार से परवर्ती वेदान्तसम्मत जीवन्मुक्ति सम्बन्धी विचार की पृष्टभूमि बृहदारण्यक के उपर्युक्त विचार में मिलती है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है, कि परवर्ती अद्वैत दर्शन में मुक्ति के जिस स्वरूप की विवेचना की गई है, उसकी मूल रूपरेखा उपनिषद् दर्शन में उपलब्ध होती है।

---

१. *Deussen* : Philosophy of Upaniṣads, p. 94.

२. छा० उ० ८।७।४।

३. वही, ८।१०।१ तथा देखिये छा० उ० ८।११।१।

४. श्वे० उ० ४।१०।

५. यथपुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेनं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते। छा० उ० ४।१४।३।

उपनिषद्ग्रन्थ और माया

उपनिषद्-दर्शन भारतीय दर्शन की आधारशिला है। वेदान्त उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य ही है। वैसे तो, १२० उपनिषदें प्राप्त हैं, परन्तु उनमें प्राचीन और प्रामाणिक–ईशोपनिषद्, केनोपनिषत्, कठोपनिषत्, प्रश्नोपनिषत्, मुण्डकोपनिषत्, माण्डूक्योपनिषत्, तैत्तिरीयोपनिषत्, ऐतरेयोपनिषत्, छान्दोग्योपनिषत्, ही हैं। इन प्रामाणिक उपनिषदों पर शंकराचार्य ने भाष्य रचना की है। इन उपनिषदों में केवल दो बार ही माया शब्द का प्रयोग हुआ है। बृहदारण्यकोपनिषद्[1] और एक बार प्रश्नोपनिषत् में माया शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] बृहदारण्यकोपनिषद् के जिस मन्त्र (२-५-१६) में माया शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका मायावाला अंश ऋग्वेद के मन्त्र ६-४७-१८, की ही ठीक अनुकृति है। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रयुक्त माया शब्द का अर्थ रहस्यमयी शक्ति है और प्रश्नोपनिषद्वर्ती माया का अर्थ आचार की कुटिलता।

उत्तरकालिक उपनिषदों में भी माया का प्रयोग अनेक स्थलों पर आया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में माया, मायाम्, मायिनम्, मायी और मायया शब्दों का प्रयोग मिलता है।[3] शंकराचार्य ने श्वेताश्वतरोपनिषद् पर भी भाष्य लिखा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में माया को प्रकृति एवं परमेश्वर को मायी कहा गया है।[4] इस उपनिषद् में विश्वमाया की निवृत्ति का भी उल्लेख है।[5] विश्व के मायात्व का यह संकेत निश्चय ही, गौडापादाचार्य के 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' के अधिक निकट प्रतीत होता है। नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषत् में माया शब्द का शक्ति अर्थ में प्रयोग किया गया है।[6] इसी उपनिषत् में एक स्थान पर माया का अर्थ अविद्या भी है।[7] इस उपनिषद् में भी जगत् की मायिकता का ही संदेश है।[8] कैवल्योपनिषद् में माया शब्द का प्रयोग अविद्या के अर्थ में किया गया है।[9] सर्वसारोपनिषद् में अप्रत्यक्ष रूप से माया की अनिर्वचनीयता का स्पष्ट संकेत है।[10] रामपूर्वतापिन्युपनिषद् में श्रीराम जी की स्तुति करते हुए, माया शब्द का प्रयोग कई बार किया गया है। राम की माया का वर्णन करते हुए, यहाँ माया के द्वारा अविद्यात्मिका शक्ति का संकेत किया गया है।[11] गोपीचन्दनोपनिषद् में भी 'माया' का प्रयोग कई बार आया है। इस उपनिषद् में कृष्ण और गोपियों के द्वारा ब्रह्म और महामाया की कल्पना की गई है।[12]

---

१. बृ० उ० २-१६।

२. प्र० उ० १-१६।

३. माया–श्वे० उ० १-१०; मायाम्, मायिनम्–वही ४-१०, मायी, मायया–वही ४-६।

४. श्वे० उ० ४-१०।

५. वही १-१०।

६. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् ३-१।

७. वही ५-१।

८. वही १-१, ५ खण्ड।

९. कैवल्योपनिषद् १-१२, १-१३।

१०. सर्वसारोपनिषत् ४।

११. रामपूर्वतापिन्युपनिषद् २-४।

१२. गोपीचन्दनोपनिषद् २।

एक अन्य स्थल पर माया से शवलित ब्रह्म की भी चर्चा की गई है।[1] कठरुद्रोपनिषद् में संसार की माया आदि संज्ञायें दी गई हैं।[2] इसी उपनिषद् में माया का जीव और ईश्वर के साथ सम्बन्ध भी दिखाया गया है। गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद् में माया का चिन्तन ब्रह्म की शक्ति के रूप में मिलता है।[3] इस उपनिषद् में माया को अज एवं आद्या कहा गया है। कृष्णोपनिषद् में माया के त्रिगुणात्मक रूप की वर्णना की गई है।[4] इस उपनिषद् में कृष्ण को गोप रूप में मायाविग्रह धारण करने वाला भी कहा है।[5]

इस प्रकार प्राचीन उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में भी माया का संकेत किया गया है। इन उपनिषदों में माया के अविद्यात्मक एवं अनिर्वचनीय रूप का भी ध्वनन होता है। परमेश्वर की शक्ति के रूप में माया का चित्रण इन उपनिषदों में प्रधान रूप से मिलता है, परन्तु इन उपनिषदों की प्रामाणिकता में संशय होने के कारण भारतीय दर्शन के क्षेत्र में ब्रह्मसूत्र का विशेष महत्त्व है, इन्हें उपनिषद् दर्शन के क्रमिक विकास के अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता।

उपनिषद् ग्रन्थों के अतिरिक्त आरण्यक ग्रन्थों में भी मायाशब्द का प्रयोग मिलता है। तैत्तिरीयारण्यक में 'माया' के द्वारा शक्ति अर्थ को प्रकट किया गया है।

ब्रह्मसूत्र-दर्शन

अद्वैतवाद का प्रमुख आधार महर्षि बादरायण का ब्रह्मसूत्र है। ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत ब्रह्म शब्द का प्रयोग चार जगह हुआ है।[6] चारों स्थलों पर ब्रह्म शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में ही हुआ है। अद्वैतवाददर्शन की प्राणप्रतिष्ठाकर्त्री माया का संकेत ब्रह्मसूत्र में केवल एक स्थान पर हुआ है, और वह 'मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (ब्र० सू० ३।२।३) सूत्र के अन्तर्गत हुआ है। उक्त सूत्र में माया शब्द का प्रयोग स्वाप्निक प्रपंच के मिथ्यात्व के लिए किया गया है। इसके अतिरिक्त 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) सूत्र के अन्तर्गत सूत्रकार ने जागतिक प्रपंच की सत्यता का स्पष्ट निषेध किया है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र–अथातो ब्रह्मजिज्ञासा–में भी सूत्रकार के दर्शन का प्रमुख लक्ष्य ब्रह्मज्ञान ही बतलाया गया है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र के सूत्रों की रचना सिद्धान्तबद्ध नहीं है, तथापि उसमें अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि का पर्याप्त आधार मिलता है।

ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त शण्डिल्य सूत्र आदि में भी अद्वैतिक विचारधारा के स्रोत मिलते हैं,[7]

---

१. वही ४।

२. कठरुद्रोपनिषद् १०।

३. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत् १७।

४. कृष्णोपनिषद् ४।

५. वही १०।

६. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्र० सू० १।१।१), ब्रह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः (४।४।५), स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् २।३।५, ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ४।१।५।

७. S.K. Balvalkar & Ranade, History of Indian Philosophy, Vol. VII, p. 12.

परन्तु न्यून रूप में ही। शाण्डिल्य सूत्र में वैष्णव विचारधारा का बाहुल्य प्राप्त होता है।

पुराण-साहित्य

यद्यपि कालनिर्णय आदि की दृष्टि से पुराणों की प्रामाणिकता संशयग्रस्त है, परन्तु कहीं कहीं तो पुराणों को वेदों से भी प्राचीन बतलाया गया है।[1] अद्वैतवादी शंकराचार्य ने भी पुराणों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। पुराण भारतवर्ष के प्राचीन धर्म एवं दर्शन के अद्‌भुत संग्रहरूप हैं। भारतीय दर्शन के विविध सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित, नहीं तो, विस्तृत विवेचन पुराणों में अवश्य मिलता है। यहाँ पुराणों के दार्शनिक विचारसूत्रों के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा।

विष्णुपुराण के अन्तर्गत परमात्मा के वासुदेव नाम की चरितार्थता बतलाते हुए कहा है, कि यह सर्वत्र स्थित है और सब कुछ इसी में स्थित है, इसीलिए इसे वासुदेव कहते हैं।[2] यह तत्त्व पूर्णतया शुद्ध है, क्योंकि इसमें हेयांश किंचित् भी नहीं है।[3] परमतत्त्वसम्बन्धी उक्त संकेतों में ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व और उसकी शाश्वतता का स्पष्ट निरूपण मिलता है। विष्णु-पुराण के अन्तर्गत विष्णु की सर्वव्यापकता एवं अद्वैतता का संकेत करते हुए, एक स्थल पर कहा है, कि जगत् के अनेक रूप विष्णु के ही विकार रूप हैं।[4] विष्णु पुराण के अन्तर्गत विष्णु की माया का उल्लेख भी मिलता है। मोहिनी रूपधारी भगवान् विष्णु अपनी माया के द्वारा दानवों को मोहित करके उनसे कमण्डलु लेकर देवताओं को दे देते हैं।[5] विष्णुपुराण के अन्तर्गत एक स्थल पर विष्णु के मायामोह उत्पन्न करने का वर्णन भी मिलता है।[6]

शिवपुराण का शिवाद्वैतवाद तो प्रसिद्ध ही है। शिवपुराण की कैलाशसंहिता में शिव का वर्णन परब्रह्म के रूप में मिलता है। इसीलिए शिवपुराण का दार्शनिक सिद्धान्त शिवाद्वैत कहलाता है।[7] शिव पुराण की रुद्रसंहिता के द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत परमार्थसत्य का विवेचन करते समय जीव और ब्रह्म की अद्वैतता का निरूपण करते हुए कहा है, कि सर्वोच्च सत्य, जिससे कि मुक्ति की प्राप्ति होती है, शुद्ध चिद्रूप है, और उस चिद्रूपता की स्थिति में जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं होता।[8] जीव और ब्रह्म के इस ऐक्य का प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त में विस्तार से सम्पन्न हुआ है। अज्ञान के सम्बन्ध में शिव-पुराण में कहा गया है, कि वह तो बुद्धिभेद का ही फल है। अज्ञान की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है।[9]

---

१. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ।। (अग्निपुराण ५।३।३ अष्टादशपुराणदर्पण, पृ० ११ से उद्‌धृत)

२. विष्णुपुराण १।२।१२।

३. हेयाभावाच्च निर्मलम् – विष्णुपुराण १।२।१३।

४. विष्णुपुराण १।२।३२।

५. वही, ६।१०६।

६. वही, ३।१७।४१।

७. शिवाद्वैतमहाकल्पवृक्षभूमिर्यथाभवत् ।। शिवपुराण ६।१६।११।

८. शिवपुराण २।२।२३।

९. अज्ञानं च मतेर्भेदो नास्त्यन्यच्चाद्वयं पुनः। शिवपुराण ४।३८।८।

परमात्मा रूप शिव के अतिरिक्त जगत् के दर्शन का मूल खोजना शिवपुराण में भ्रान्ति बतलाई गयी है।[1] शिवपुराण में कारण और कार्य के भेद को भी अवास्तविक कहा गया है। इस प्रकार शिवपुराण के अन्तर्गत ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं, जहाँ अद्वैततत्त्व का स्पष्ट विवेचन मिलता है।

श्रीमद्भागवतपुराण का महत्त्व तो 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' से स्पष्ट ही है। श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक में ही अद्वैतवाद का विचारसूत्र वर्तमान है। इस श्लोक में परम सत्य का वर्णन किया गया है। श्रीधराचार्य ने इस श्लोक में प्रयुक्त 'पर' शब्द का अर्थ परमेश्वर किया है। इसी श्लोक में परमेश्वर के अधिष्टान रूप का भी संकेत उपलब्ध है।[2] इस पुराण में प्रायः सभी प्रमुख दर्शनपद्धतियों के सूत्र मिलते हैं। अद्वैतवेदान्त के ब्रह्म आदि तत्त्वों के सम्बन्ध में भी श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर विवेचन किया गया है। श्रीमद्भागवत में परमेश्वर के ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् नाम दिये गये हैं। परन्तु, वस्तुतः परमेश्वर को श्रीमद्भागवत में **अरूप एवं चिदात्मा** कहा है।[3] परमात्मा अपनी माया शक्ति के द्वारा ही जगत् का स्रष्टा है। माया के अस्तित्व के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में स्पष्ट रूप से कहा गया है, कि ब्रह्म के बिना माया की सत्ता सम्भव नहीं, परन्तु उसकी सत्ता की प्रतीति ब्रह्म में सम्भव नहीं है।[4] श्रीमद्भागवत में जगत् के स्रष्टा परमात्मा को आनन्द एवं अव्याकृत रूप तथा चित् एवं अचित् शक्ति से सम्पन्न बतलाया गया है।[5] इस प्रकार श्रीमद्भागवत में अद्वैतवादसिद्धान्तसम्बन्धी विचारों का निरूपण स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है।

मार्कण्डेयपुराण के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के समान ही ज्ञान का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। मार्कण्डेयपुराण के अनुसार ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति को ही 'योग' कहा है। जिसका फल एक ओर तो मुक्ति एवं ब्रह्मैक्य है, और दूसरी ओर प्राकृत गुणों के साथ अनैक्य का भाव है। जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य के सम्बन्ध में मार्कण्डेयपुराण में एक स्थल पर कहा है, कि जिस प्रकार जल में फेंका गया जल एकता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार योगी भी पूर्णता की स्थिति में एकता को प्राप्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है।[6] मार्कण्डेयपुराण के उक्त विचार अद्वैतदर्शन के प्रमुख विचारसूत्रों के अत्यन्त समान हैं।

नारदीयपुराण में तो नारायण का ही सर्वोच्च सत्य के रूप में वर्णन किया गया है। नारायण ही स्वयं स्रष्टा, ब्रह्मा, लोकरक्षक, विष्णु एवं संहारकर्ता रुद्र का रूप ग्रहण करते हैं।[7] नारदीयपुराण में सर्वोच्च सत्य को महाविष्णु भी कहा है। महाविष्णु या नारायण अपनी शक्ति के द्वारा संसार की सृष्टि

---

१. भ्रान्त्या नानास्वरूपो हि भासते शंकरस्सदा—शिवपुराण ४।४३।१५।
२. श्रीमद्भागवत, १।१।१, श्रीधरी।
३. श्रीमद्भागवत १।३।३०।
४. वही, २।६।३३।
५. वही, ७।३।३४।
६. मार्कण्डेयपुराण १।३।४।
७. नारदीयपुराण १।३।६।

करते हैं। नारायण की यह शक्ति सत् एवं असत् तथा विद्या एवं अविद्या दोनों प्रकार की है।[1] नारायण और उनकी शक्ति का उक्त विचार अद्वैत दर्शन की प्रमुख विचारधारा के बहुत कुछ समीप है। शक्ति के सम्बन्ध में नारदीयपुराण में कहा गया है, कि जिस प्रकार उष्णता अग्नि में व्याप्त होती है, उसी प्रकार परमेश्वर की शक्ति भी परमेश्वर से कभी पृथक् नहीं हो सकती।[2] नारदीयपुराण में ईश्वरप्राप्ति के दो साधन बतलाये हैं, एक ज्ञान और दूसरा कर्म। ज्ञान का विकास नारदीयपुराण में दो प्रकार से बतलाया गया है–एक श्रुतिग्रन्थों के अध्ययन से और दूसरा विवेक के द्वारा।[3]

कूर्मपुराण में सर्वोच्च सत्ता को विष्णु न कहकर महेश्वर कहा गया है। कूर्मपुराण के अनुसार महेश्वर को अव्यक्त, चतुर्व्यूह, सनातन, अनन्त, अप्रमेय, नियन्ता एवं सर्वतोमुख बतलाया गया है।[4] अव्यक्त रूप सनातन ईश्वर से ही सर्वप्रथम मन की उत्पत्ति होती है।

वायुपुराण में सर्वोच्च सत्य का वर्णन ब्रह्म, प्रधान, प्रकृति, प्रसूति, आत्मा, गुह, चक्षुष, क्षेत्र, अमृत, अक्षर, शुक्र, तप, सत्य एवं अतिप्रकाश आदि रूपों में किया गया है। वायुपुराण में ब्रह्म को सर्वोच्च सत्य, सूक्ष्म, अनन्त, आनन्दमय, सर्वव्यापी, कूटस्थ, स्वयंप्रकाश एवं चिद्रूप कहा है। वायुपुराण के अनुसार परमात्मा सर्वात्मा एवं भूतात्मा है। इस प्रकार ब्रह्म समस्त संसार में व्याप्त एवं सर्वोच्च है।[5] मोक्ष के उपाय के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए वायुपुराण में कहा गया है, कि सत् एवं असत् कर्मों का त्याग ही मोक्ष का हेतु है।[6] जो पूर्णतया शुद्ध एवं पापरहित है, वही परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मानुभव के सम्बन्ध में वायुपुराण में बतलाया गया है, कि समाधि के द्वारा उस वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसकी स्थिति में साधक ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है।[7] इस प्रकार वायुपुराण के उक्त विचार अद्वैतवाद की विचारधारा के लिये उपयुक्त विचार-सूत्र प्रदान करते हैं।

स्कन्दपुराण का अद्वैत-विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। स्कन्दपुराण की ब्रह्मगीता के अन्तर्गत ब्रह्म, ईश्वर, जीव, माया, जगत् एवं कार्यकारणवाद आदि के सम्बन्ध में अद्वैतदृष्टि से विचार किया गया है। स्कन्दपुराण में शिव को ही परमात्मा एवं परब्रह्म का रूप दिया गया है। यह शिवरूप परमात्मा, भोक्ता, भोग्य एवं भोग से विलक्षण है। यही सदाशिव एवं अद्वैत सत्य है।[8] यहाँ तक, कि व्यावहारिकसत्तारूप अज्ञान को भी स्कन्दपुराण में ब्रह्मरूप ही माना गया है।[9] इस प्रकार स्कन्दपुराण में अद्वैत सिद्धान्त का बहुत कुछ व्यवस्थित विवेचन मिलता है।

---

१. नारदीय पुराण, १।३।६।
२. वही, १।३।१३।
३. वही, १।३।४,५।
४. माहेश्वरः परो व्यक्तश्चतुर्व्यूहः सनातनः। अनन्तश्चाप्रमेयश्च नियन्ता सर्वतोमुखः।। कूर्मपुराण ४.५।
५. वायुपुराण १४।३, ६-८, १३-१४।
६. वही, १७।७।
७. वही, १०।८६, १८।५, १४।७।
८. ब्रह्मगीता २।१७, १८, ३।१६, १७, ५१-५३, ८।१, १४।१७, १०।३५, ३६, ११।३६।
९. वही, ५।८५, ८६।

गरुडपुराण में शिव का ही ब्रह्म रूप में वर्णन किया गया है। गरुडपुराण का शिव सर्वव्यापी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। गरुडपुराण में शिव का परब्रह्म रूप से वर्णन मिलता है।[१] गरुडपुराण के अनुसार अविद्याबन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय, ज्ञान है। ज्ञान द्वारा मुक्तिप्राप्ति का गरुडपुराण का उक्त विचार अद्वैतवेदान्त का प्रमुख विचार है।

ब्रह्मपुराण के अन्तर्गत अदिति द्वारा की गयी कृष्ण की एक स्तुति में उन्हें सनातन, भूतात्मा एवं सर्वात्मा कहा गया है।[२] इसके अतिरिक्त संसार में ममत्व की भावना का कारण परमेश्वर की माया को बतलाया गया है।[३] इसी स्थल पर भगवान् की माया के द्वारा पुरुषों के बद्ध होने का उल्लेख भी मिलता है।[४] ब्रह्मपुराण के अन्तर्गत माया को बन्धन का मूल स्वीकार करना, अद्वैतदर्शन के ही समान है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के अन्तर्गत **कृष्ण** को ही सर्वोच्च सत्य के रूप में वर्णित किया गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के अनुसार भगवान् एवं भक्त में भेद नहीं है। भगवान् स्वयं कहते हैं, कि मैं भक्तों का प्राण हूँ, और भक्त मेरे प्राण हैं।[५] इतना ही नहीं, भगवान् यह भी कहते हैं, कि मैं भक्तों की रक्षा करने के लिये सदा उनके समीप स्थित रहता हूँ।[६] ब्रह्मवैवर्तपुराण में कहा गया है कि जो आन्तरिक एवं बाह्यरीति से हरि का स्मरण करता है, वह इसी जन्म में मुक्तिलाभ करता है।[७]

आग्नेयपुराण में तो स्पष्ट रूप से ही अद्वैत सिद्धान्त का विवेचन मिलता है। अग्निपुराण के अनुसार चित् एवं ब्रह्म के योग के ऐक्य का नाम योग है। अग्निपुराण में विष्णु को ही ब्रह्म का रूप दिया गया है। अग्निपुराण के अनुसार ब्रह्म के भी दो रूप हैं—एक परब्रह्म और दूसरा शब्दब्रह्म।[८] विद्या भी दो प्रकार की है—एक, परा विद्या और दूसरी, अपरा विद्या। परा विद्या ब्रह्मसम्बन्धिनी है और अपरा विद्या वेद-वेदांग के ज्ञान से सम्बन्धित है।[९] जब जीव परमात्मा के साथ पूर्ण ऐक्य को प्राप्त हो जाता है, तो उसे आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। इस प्रकार अग्निपुराण के अन्तर्गत अद्वैतवाद सिद्धान्त के अत्यन्त स्पष्ट बीज मिलते हैं।

पद्मपुराण में एक स्थल पर भगवान् शंकर का वर्णन परमेश्वर के रूप में किया गया है। इस स्थल पर परमेश्वर शंकर को शरण्य, शाश्वत एवं शास्ता कहा गया है। इसी प्रसंग में विष्णु आदि की

---

१. गरुडपुराण ४६।६।
२. ब्रह्मपुराण २०३।६।
३. वही, ३०२।११।
४. यदेतत्पुरुषो बद्धो मायया भगवंस्तव। ब्रह्मपुराण २०३।१५।
५. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, ६।५२।
६. ब्रह्मवैवर्तपुराण, ६।४७।
७. *J.N. Sinha* : A History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 165. (Sinha Publishing House, Calcutta 1956).
८. अग्निपुराण १।१।११, ५।
९. वही, १।१।१५, १७।

उत्पत्ति भी मायिक बतलाई गयी है।[1] पद्मपुराण में आत्मा के अविनाशित्व का भी वर्णन मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त पद्मपुराण में ब्रह्मज्ञानियों की भी चर्चा मिलती है।[3]

वामनपुराण में एक स्थल पर जब वामन भगवान् की स्तुति की गयी है, तो उनके मायिक स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसी स्थल पर भगवान् की माया का भी वर्णन है।[4]

अद्वैतवेदान्त के माया सम्बन्धी विचार का उल्लेख **ब्रह्माण्ड पुराण** में भी किया गया है। ब्रह्माण्डपुराण में माया का प्रयोग अनाचारसूचक अर्थ में किया गया है।[5]

देवीभागवत में शक्ति को परब्रह्मस्वरूपिणी कहा गया है। देवीभागवत के अन्तर्गत ब्रह्मा जी के यह पूछने पर कि शक्ति और वैदिक ब्रह्म में क्या भेद है, देवी स्वयं कहती है कि मुझमें और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। मतिविभ्रम के कारण मनुष्यों को भेद की प्रतीति होती है।[6] देवीभागवत में अद्वितीय ब्रह्म को नित्य एवं सनातन कहा है।[7] शक्ति और परब्रह्म के सम्बन्ध को एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हुए देवीभागवत में कहा है, कि जो दर्पण और प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध ब्रह्म और शक्ति का है।[8] इस प्रकार देवीभागवत का शक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त भी अद्वैतवाद का ही पोषक है।

मत्स्यपुराण में एक स्थान पर देवता शंकर की स्तुति कर रहे हैं। देवताओं द्वारा की गई इस स्तुति में शंकर का स्वरूप अद्वैत-परमात्मासम्बन्धी विचार के अत्यन्त सन्निकट कहा जा सकता है। इस स्तुति-स्थल पर शंकर को विश्वात्मा विश्वस्रष्टा एवं विश्व को आवृत करके स्थित रहने वाला कहा गया है।[9] अद्वैतवेदान्तसम्मत ब्रह्म के भी उक्त लक्षण ही विशेष रूप से बतलाये गये हैं। मत्स्य पुराण के अन्तर्गत औपनिषद ज्ञान का भी संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त इस पुराण में नारायण को ब्रह्म स्वरूप बतलाया गया है।[10]

ऊपर पुराणों के जिन विचार-सूत्रों का उल्लेख किया गया है, उनमें अद्वैत वेदान्त की प्रधान विचारधारा, अद्वैतवाद की स्पष्ट पृष्ठभूमि मिलती है।

यहाँ यह उल्लेख करने योग्य है, कि यद्यपि पुराणों का प्रधान केन्द्रबिन्दु वेदान्त ही है, किन्तु

---

१. पद्मपुराण १।४५।१७३, १।४५।१७८।

२. वही, १।४५।१७६।

३. वही, १।३२।१२३।

४. वामनपुराण ३०-२४, २५, २६, २६।

५. ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वभाग, अनुषंगपाद १६।१०५।

६. देवीभागवत ३।६।२।

७. एकमेवाद्वितीयं वै ब्रह्म नित्यं सनातनम्, देवीभागवत ३।६।४।

८. देवीभागवत ३।६।५।

९. मत्स्यपुराण १६६।२१।

१०. वही, १६६।४, १६६।२१।

इसमें सांख्य-योग, मीमांसा एवं शैव, शाक्त तथा वैष्णव विचारधारा का भी पर्याप्त विकास देखने को मिलता है।

पुराण और माया

पुराणसाहित्य, दर्शन, धर्म एवं सामाजिक परम्पराओं का संग्रह है। इस साहित्य में माया के सम्बन्ध में भी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं। यहाँ संक्षेप में, पौराणिक मायासम्बन्धी अभिव्यक्तियों की गवेषणा की जाएगी।

विष्णुपुराण में माया शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।[१] विष्णुपुराण के मायासम्बन्धी वर्णनों में माया शब्द का प्रयोग विष्णु की माया के लिये प्रमुख रूप से पाया जाता है। मोहनीरूपधारी भगवान् विष्णु अपनी माया से दानवों को मोहित करके उनसे कमण्डलु लेकर देवताओं को देते हैं।[२] इसके अतिरिक्त, इस पुराण में एक स्थल पर विष्णु के मायामोह उत्पन्न करने का भी वर्णन है।[३] श्रीमद्भागवत पुराण में माया की परिभाषा देते हुए कहा है, कि जिस वस्तु के न होने पर भी अस्तित्व की प्रतीति होती है और जो आत्मा में प्रतीत नहीं होती, उसे आत्मा की माया समझना चाहिये।[४] यह माया, आभास एवं तम के सदृश है। दशम स्कन्ध में भगवान् की माया से मोहित होकर मनुष्यों के स्त्री-पुत्रादि में आसक्त होने और दुःख के अपार सागर में डूबने-उतरने का वर्णन है।[५] "ब्रह्मपुराण" में भी माया का प्रयोग भगवान् की माया के लिये किया गया है। मुनि कण्डु भगवान् से प्रार्थना करते हैं, कि हे भगवान्, आपकी माया से मोहित हुआ मैं चिरकाल से भ्रम में पड़ा हुआ हूँ। मैं विषयासक्त मनवाला होने के कारण आप की माया का पार नहीं पाता।[६] "वाराहपुराण" में कपिल और जैगीषव्य मुनि के, माया के द्वारा अनेक रूप धारण करने का वर्णन है। यहाँ, माया शब्द का प्रयोग आश्चर्यात्मिका शक्ति के लिये किया गया है।[७] इसके अतिरिक्त, इसी पुराण के २४१वें अध्याय में अमानुषी माया का भी वर्णन मिलता है।[८] शिवपुराण की वायवीयसंहिता के अन्तर्गत शक्तिमान् शिव से 'माया' की उत्पत्ति

---

१. विष्णुपुराण-१–९–१०९, ५-३३-९, ५-३०-१४, ५-२७-१४,
३-१८-८, १-७-३३, ३-१७-४२, ३-१८-३१, ५-२०-१०४।

२. मायया मोहयित्वा तान् विष्णुः स्त्रीरूपसंस्थितः।
दानवेभ्यस्तदादाय देवेभ्यः प्रददौ प्रभुः।। विष्णुपुराण ९-१०९, गी० प्रे० गोरखपुर।

३. विष्णुपुराण ३-१७-४१।

४. ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः।।
श्रीमद्भागवत पुराण २-९-३३, गीताप्रेस, गोरखपुर।

५. वही १०-६३-४०।

६. ब्रह्मपुराण १७८-१८१, क्लाइव रोड, कलकत्ता, १९५४।

७. वाराहपुराण ४-२६।

८. वही २४१-६५।

दिखाई गई है।[1] इस स्थल पर माया शब्द का प्रयोग शिव की शक्ति के लिये किया गया है। बृहत्काय ग्रन्थ "स्कन्दपुराण" के काशीखण्ड में, कपट से ब्राह्मण का रूप धारण करने वाले गणेश जी की माया के लिये माया शब्द का प्रयोग हुआ है। गणेश जी अपनी माया के द्वारा स्त्रियों के अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं। यहाँ, माया का प्रयोग रहस्यात्मिका शक्ति के लिए किया जान पड़ता है।[2] "ब्रह्मवैवर्तपुराण" में भगवती दुर्गा को जगत्संमोहनी माया का नाम दिया गया है।[3] "भविष्यपुराण" में महादेव द्वारा निर्मित शांबरी माया की चर्चा आई है।[4] "महानारदीयपुराण" में दैत्यों के लिये 'मायिनः' विशेषण दिया गया है।[5] यह भी आसुरी माया का ही एक रूप है। इस स्थल पर दैत्यों के देवता रूप ग्रहण करने की कथा भी आती है। "मार्कण्डेयपुराण" के अन्तर्गत विष्णु की माया शक्ति के लिये माया शब्द का प्रयोग हुआ है।[6] इस पुराण में, अन्य स्थलों पर शक्ति के लिये माया शब्द का प्रयोग मिलता है। "वामनपुराण" में वामन भगवान् की स्तुति करते समय उनके मायिक रूप की चर्चा की गई है।[7] यहाँ भी माया शब्द का प्रयोग भगवान् की योगमाया के लिए किया गया है। "गरुड़-पुराण" के अन्तर्गत माया शब्द का प्रयोग देवमाया के सम्बन्ध में प्राप्त होता है।[8] यहाँ, देव का तात्पर्य ब्रह्म से जान पड़ता है।[9] "ब्रह्माण्डपुराण" में माया शब्द को अनाचारसूचक अर्थ में प्रयुक्त किया है।[10] "पद्मपुराण" के अन्तर्गत माया शब्द का प्रयोग संसार की मोहिका शक्ति के लिए किया गया है।[11] साथ ही, भगवान् राम के मायामानुष रूप धारण करने का भी वर्णन मिलता है।[12]

यह असंदिग्ध है, कि पुराणों के अन्तर्गत माया के, आसुरी माया, विष्णु की जगन्मोहिका माया, अनैतिक माया और शक्तिरूपिणी माया आदि रूप मिलते हैं। इस प्रकार साक्षात् रूप से दर्शनग्रन्थ न होने पर भी पुराणों और शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित माया के अर्थ में पर्याप्त साम्य प्रतीत होता है। परन्तु पुराणों की प्रामाणिकता में संदेह है।

---

१. ततो माया ततोऽव्यक्तं शिवाच्छक्तिमतः प्रभो। शिवपुराण, वायवीय-संहिता, पूर्व भाग ६-३।
२. अथ मध्येऽवरोधस्य प्रविश्य निजमायया। स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ५६ ३१।
३. दुरत्यया मे माया यया संमोह्यते जगत्। ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृति खण्ड ६६-२५।
४. स ध्यात्वाशाम्बरीं मायां महादेवेन निर्मिताम्। भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व २३-१०१, १११, ११२, ११३।
५. दुरन्तं तत्तपः श्रुत्वा दैतेया मायिनोदितम्। महानारदीयपुराण, पूर्णखण्ड १०-३८।
६. 'विष्णुमायां प्रतुष्टुवुः', मार्कण्डेयपुराण ८२ ६।
७. वामनपुराण ३०-२४, २५, २६, २६।
८. 'देवमायाविमोहितः', गरुड़पुराण ४६ ३४।
९. अस्ति देवः परब्रह्मस्वरूपो निष्कलः शिवः। वही ४६-६।
१०. ब्रह्माण्डपुराण पूर्वभाग, अनुषंगपाद, १६-१०५।
११. पद्मपुराण उ० ख० २४३-४१।
१२. माया मानुषतां प्राप्य सा देवानब्रवीत् पुनः। वही २४३-४४।

योगवासिष्ठदर्शन

योगवासिष्ठ भारतीय दर्शन, धर्म एवं आचार शास्त्र का एक विशालकाय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में अद्वैतवाद एवं उनके पोषक अनेक सिद्धान्तों का विशद विवेचन मिलता है। यहाँ, हम योगवासिष्ठ के कतिपय दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।

योगवासिष्ठ में परमार्थसत्य ब्रह्म का स्वरूप–ब्रह्म तत्त्व का विवेचन योगवासिष्ठ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। योगवासिष्ठकार ने ब्रह्म का विवेचन करते समय लिखा है, कि ब्रह्म सर्वप्रकार की शक्तियों से युक्त है। वह सर्ववस्तुमय है तथा उसकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों की नेति-नेति की शैली में, योगवासिष्ठ के अन्तर्गत ब्रह्म को अवर्णनीय भी सिद्ध किया गया है।[1] योगवासिष्ठदर्शन के अनुसार एकमात्र ब्रह्म की ही अद्वैतात्मक सत्ता सिद्ध की गयी है।

जीव का स्वरूप–योगवासिष्ठदर्शन के अन्तर्गत जीव की सत्ता स्वतन्त्र न होकर, ब्रह्म में ही कल्पित है। योगवासिष्ठकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है, कि परब्रह्म में स्वतः ही इस प्रकार की कल्पना का उदय होता है, कि 'मैं प्रकाश का एक केन्द्र हूँ।' यही केन्द्र जीव कहलाता है। काल्पनिक चन्द्र के समान वह जीव सत्य न होता हुआ भी सत्य प्रतीत होता है।[2] जीव के बन्धन का मूल उसका संकल्प है। योगवासिष्ठकार का कथन है, कि जिस प्रकार शृंखलाबद्ध सिंह विवश होता है, उसी प्रकार जीव भी अपने ही संकल्पों द्वारा रचित विषयों की अग्नि में पड़कर विवश हो जाता है।[3] जब जीव के यह वासनाजन्य संकल्प नष्ट हो जाते हैं, तो वह शुद्ध ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

योगवासिष्ठ का कल्पनावाद–जहाँ, शांकर अद्वैतवाद में जगत् के स्वरूप का विवेचन करने के लिए, मायावाद सिद्धान्त की अवतारणा की गई है, वहाँ, योगवासिष्ठ का प्रमुख सिद्धान्त कल्पनावाद है। कल्पनावाद सिद्धान्त के अनुरूप समस्त जगत् कल्पनामात्र है। जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तिकाल का त्रिविध जगत् कल्पनामात्र है।[4] जिस प्रकार कुम्भकार घट का निर्माण करता है, तथा उसे भग्न करता है, उसी प्रकार मन ही रूप (विषय), आलोक (संवेदन), मनस्कार (मन का विचार) वत्ता (पदार्थ का तात्त्विक रूप) एवं काल और क्रियासम्पन्न जगत् का निर्माण तथा विनाश कर्ता है।[5] जागतिक पदार्थों के अतिरिक्त देश और काल की सत्ता भी मानसिक कल्पना पर ही आधारित है।[6] यही नहीं, देश और काल का परिमाण भी कल्पना पर ही आश्रित है। इसीलिए तो कभी-कभी, व्यक्ति को निमेष, कल्पसदृश और कल्प निमेषसदृश वर्तित होते दिखाई पड़ते है। यही कारण तो था, कि हरिश्चन्द्र को एक रात्रि द्वादश

---

१. योगवासिष्ठ ५।७२।४१ तथा देखिए ५।७२।४२, ५।७२।४३।

२. योगवासिष्ठ ३।१३।२०।

३. वही, ४।४२।३४।

४. मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम्। यो० वा० ४।११।२३।

५. यो० वा० ५।४८।५२।

६. वही, ३।११०।५६।

वर्ष की हो गई थी।[1]

पदार्थों को कल्पनामात्र सिद्ध करते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है, कि जिस प्रकार बालक को प्रेत न होते हुए भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार पृथिव्यादि पदार्थ असत् होते हुए सत् के समान प्रतीत होते हैं।[2] इस प्रकार जगत् के भौतिक तत्त्वों को भी कल्पनामात्र सिद्ध करते हुए, योगवासिष्ट में कहा गया है, कि भौतिक शब्द और अर्थ दोनों ही, शशशृंग के समान पूर्णतया असत् हैं। जहाँ तक जगत् के स्थूल रूप से दर्शन की समस्या है, योगवासिष्ठकार का तर्क है, कि मानसिक देह ही चिरकाल की भावना के अभ्यास के कारण भौतिक शरीर का रूप धारण करता हुआ प्रतीत होता है।[3] इस प्रकार मानसिक कल्पना ही जड़ता का रूप धारण कर लेती है।

योगवासिष्ठ का उपर्युक्त कल्पनावाद का सिद्धान्त बौद्ध विज्ञानवाद के अत्यधिक समान प्रतीत होता है। साथ ही, यह सिद्धान्त गौडपादाचार्य के स्वप्नवाद के भी समीप है। निश्चय ही, योगवासिष्ट के कल्पनावाद पर बौद्ध विज्ञानवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त योगवासिष्ठ के जगत् एवं मुक्ति आदि से सम्बन्धित सिद्धान्त भी अद्वैतवाद के ही पोषक हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में दार्शनिक विचार

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय दर्शन का आदर्श निदर्शन है। इसके १८ अध्यायों में ७०० श्लोक हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित दर्शन समग्र विश्व में प्रतिष्ठित हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीतावर्त्ती १८ अध्यायों के नाम ही श्रीमद्भगवद्गीता की दार्शनिक दृष्टि की झलक प्रस्तुत करते हैं। इन १८ अध्यायों के नाम हैं–(१) अर्जुनविषादयोग, (२) सांख्ययोग, (३) कर्मयोग, (४) ब्रह्मयज्ञप्रशंसा, (५) कर्मसंन्यासयोग, (६) ध्यानयोग, (७) ज्ञानविज्ञान योग, (८) तारक ब्रह्मयोग, (९) राजविद्या राजगुह्ययोग, (१०) विभूति योग, (११) विश्वरूपदर्शन (१२) भक्तियोग, (१३) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग, (१४) गुणत्रयविभागयोग, (१५) पुरुषोत्तमयोग, (१६) दैवासुरसंपद् विभागयोग, (१७) श्रद्धात्रयविभागयोग तथा (१८) मोक्षसंन्यासयोग। जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है, गीता समस्त उपनिषदों की तत्त्वस्वरूप है–

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

गीता महाभारत के भीष्मपर्व से संगृहीत है। विनोबा ने उपनिषदों को दादी तथा गीता को माँ कहा है। वस्तुतः जो मानव, जीवन में गीता के सिद्धान्तों पर व्यवहार करते हुए जीवन-यापन करते हैं, उनका इहलोक एवं परलोक दोनों में कल्याण होता है। श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित दर्शन, कर्ममीमांसा, सामाजिकदर्शन तथा मानवादर्श एवं ज्ञान का समन्वित रूप है। इसमें धर्म एवं कर्म तथा

---

१. रात्रिद्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रं तथा ह्यभूत्। यो० वा० ३।२०।५१ तथा देखिए *Dr. B.L. Atreya* : **Yogavāsiṣtha and Modern Thought, p. 41.**

२. योग० वा० ३।२२।४५।

३. वही, ३।५७।१६, ३।२१, ५४।

भोग एवं मोक्ष की समुचित मीमांसा, वर्तमान है। निःसन्देह गीता जैसा लोकोपयोगी एवं सरल दार्शनिक ग्रन्थ, जिसमें लोक एंव परलोक की सरल समीक्षा वर्तमान हो, दूसरा नहीं है। इसीलिए तो कहा गया है–सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

कर्मवाद गीता में प्रतिपादित कर्म दर्शन-जीवन की पूर्ण सफलता की दृष्टि प्रदान करता है। गीता के अनुसार आदर्श मानव निरीह-निष्काम भाव से कर्मसम्पादन करता है। श्रीकृष्ण कर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन को यही उपदेश देते हैं, कि अर्जुन तेरा अधिकार कर्म में है, उसके फलों में नहीं, एवञ्च कर्मफल का हेतु नहीं होना चाहिए, और न तेरी आसक्ति अकर्म अर्थात् अनुचित कर्म में अपेक्षित है।[1] किन्तु, यहाँ, समस्या उत्पन्न होती है, कि कर्म एवं अकर्म का निर्णय किस प्रकार हो। इस सम्बन्ध में, गीता का अन्तर्यामित्व पूर्णतया सहायक है। गीता के अनुसार ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में वर्तमान है।[2] अतः प्रत्येक प्राणी ईश्वर से सत्कर्म की प्रेरणा प्राप्त कर सकता है, किन्तु मनुष्य की यह दुर्बलता है, कि वह कर्म के अनौचित्य को जानते हुए भी स्वार्थवश उसका सम्पादन करता है। गीता का यह उपदेश है, कि व्यक्ति को कर्म करने से पूर्व निश्चयात्मिका बुद्धि बनानी चाहिए।

कर्म की निश्चिति न होने पर कर्म का सम्पादन यथावत् सम्भव नहीं है। गीता का यह कर्म–मर्म भी ध्यातव्य है, कि गीता अकर्मण्यता का उपदेश कभी नहीं करती–**न कर्मणामनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते** । साथ ही, गीता यह कहती है, कि बिना कर्म किए कोई व्यक्ति क्षण भर भी नहीं रह सकता[3]। यह उल्लेखनीय है, कि गीता कर्म से विरति का पाठ नहीं सिखाती, अपितु कर्म करते हुए अनासक्ति का उपदेश देती है। इस सम्बन्ध में निम्नोद्धृत श्लोक द्रष्टव्य है–

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी न निरग्निर्न चाक्रियः ।। गीता, ६।२।

गीता का अनासक्ति-कर्मयोग ही निष्काम कर्मयोग है। वस्तुतः गीता का आरम्भ ही आसक्ति एवं मोह से होता है। अर्जुन अपने पारिवारिकों में आसक्ति एवं मोह के कारण उनके साथ धर्मयुद्ध करने से कतराता है, जो क्षत्रिय का परम श्रेयस्कर धर्म है–**धर्म्याद् हि अन्यत् श्रेयो क्षत्रियस्य न विद्यते** ।

अतः गीतोपदेश श्रवण करने के पश्चात् अर्जुन यही कहता है–"मोहोऽयं विगतो मम[4]" (यह मेरा मोह समाप्त हो गया) देखा जाय, तो समस्त सांसारिक क्लेशों का कारण मोह ही है। इस प्रकार गीतोक्त दर्शन सर्वथा व्यावहारिक एवं परमश्रेयस्कर है।

भक्तियोग–श्रीभगवान् में अनन्य प्रेम का नाम भक्ति है। नारद ने शाण्डिल्यसूत्र के अन्तर्गत भक्ति का लक्षण करते हुए लिखा है–"परानुरक्तिरीश्वरे"।

---

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। गीता, २.४७।

२. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। गीता, १८.६१।

३. नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । गीता, ३.५।

४. गीता, ११.१, नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा, गीता, १८.७३।

श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति का विवेचन है। भक्ति एवं ज्ञान दोनों का मूल श्रद्धा है। गीतोक्त भक्तिदर्शन का यही प्रतिपाद्य है, कि भक्त को अपना सर्वस्व भगवान् को समर्पण कर देना चाहिए। इस प्रकार गीता के अनुसार जो व्यक्ति अपने समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर देते हैं, तथा तत्परायण होकर अनन्यभाव से ईश्वर का ध्यान करते हुए, उसकी उपासना करते हैं, उनका परमेश्वर संसार सागर से उद्धार करते हैं :

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्तुपासते ।। गीता १२.६ ।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । गीता १२.७ ।

गीतोपदेश की यह विशेषता बड़ी महत्त्वपूर्ण है, कि जो जिस भाव से भगवान् का ध्यान करते है, वे उसी भाव से उसे प्राप्त होते हैं–**"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"**[१]। इस प्रकार भक्त एवं ज्ञानी सभी भगवान् को प्राप्त करते हैं। अभ्यास, (चित्त को सब ओर से हटाकर परमेश्वर में लगाना) ज्ञान, ध्यान एवं कर्मफलत्याग भावना में करते हुए गीता में कहा गया है, कि अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान तथा ध्यान से कर्मफलत्यागभावना श्रेष्ठ है।[२] यहाँ, कर्मफलत्याग को श्रेष्ठ कहने का यही तात्पर्य है, कि उत्तम साधनों के अनुष्ठान में असमर्थ होने पर 'सर्वकर्मफलत्याग' साधन भी अनुष्ठेय है।[३]

भक्त के लक्षण बतलाते हुए, गीता में कहा गया है, कि भक्त किसी से भी द्वेष नहीं करता, सभी के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करता है, तथा दुःखियों के प्रति करुणापूर्ण दृष्टि से व्यवहार करता है। भक्त ममत्व एवं अहंकाररहित, दुःख एवं सुख में समभाव से रहने वाला तथा क्षमाशील होता है।[४] श्रीकृष्ण कहते हैं, कि जो सदा सन्तुष्ट रहता है, समाहितचित्तवाला है, तथा आत्मतत्त्व में दृढ़ निश्चय रखता है, तथा अपने मन एवं बुद्धि को मुझ में अर्पित कर देता है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।[५] जिससे न संसार दुःखी होता है, और न जो संसार से क्षुब्ध होता है, तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय एवं उद्वेग से मुक्त है, वह मेरा प्रिय है।[६] जो निःस्पृह, पवित्र, दक्ष अर्थात् स्तुत्यकर्म में चतुर, उदासीन, निर्भय तथा फलभोग के लिए किए जाने वाले कर्मों का त्याग करने वाला है, वही भगवान् का प्रिय भक्त है।[७] जो, न किसी वस्तु की प्राप्ति से हर्षित होता है, जो अनिष्ट की प्राप्ति से दुःखी नहीं होता, जो, इष्ट की अप्राप्ति से शोकाकुल नहीं होता, और न किसी प्रकार की आकांक्षा करता है, वह मेरा प्रिय भक्त है।[८]

---

१. गीता, ४.११।
२. श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।
३. सम्पन्नसाधनानुष्ठानाशक्तौ अनुष्ठेयत्वेन श्रुतत्वात् ।। शा.भा. गीता १२.१२।
४. अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।। गीता १२.१३।
५. गीता, १२.१४।
६. गीता, १२।१५।
७. गीता, १२।१६।
८. यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान् यः स मे प्रियः।। गीता, १२.१७।

भक्त की विशेषताएँ बतलाते हुए गीता में कहा गया है, कि भक्तिमान् पुरुष शत्रु तथा मित्र में समान व्यवहार करने वाला, सम्मान एवं अपमान की स्थिति में समानस्थितिवाला, तथा शीत, ऊष्मा एवं सुख तथा दुःख में समानस्थितिवाला एवं आसक्ति से रहित होता है। भक्त किसी की निन्दा सुनकर प्रसन्न नहीं होता, तथा जो मौनी अर्थात् संयतवाक् है, जो कुछ भी मिलने पर सन्तुष्ट रहता है, जिसका कोई निश्चित घर नहीं होता, तथा जो स्थिर बुद्धि है, ऐसा भक्त भगवान् का प्रिय होता है।[1] महाभारत में यही लक्षण ब्राह्मण का बतलाया गया है–

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाश्रितः ।
यत्र क्वचन शायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।

यहाँ, यह विचारणीय है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने, जहाँ, एक ओर ज्ञानी को "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्"[2] (मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूँ) कहा है, वहाँ भक्त को भी "भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः[3]" कहा है। इस प्रकार गीता में दोनों को ही समान महत्त्व प्रदान किया गया है।

ज्ञानयोग

जिस प्रकार भक्तियोग का प्रतिपादन गीता में वर्त्तमान है, उसी प्रकार ज्ञानयोग का विवेचन भी गीता में किया गया है। ज्ञानयोग से आत्मतत्त्व के ज्ञान का आशय है। आत्मतत्त्व का निरूपण करते हुए द्वितीय अध्याय में कहा गया है, कि आत्मा, अज, नित्य, शाश्वत एवं सनातन है।[4] आत्मतत्त्व के उपदेश के द्वारा अर्जुन को यही कहा गया है कि वह बान्धवों के साथ कर्त्तव्य युद्ध करने से पराङ्मुख न हो, क्योंकि आत्मा तो सर्वथा अवध्य है।[5] गीता में, आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी, इन चारों में, ज्ञानी को श्रेष्ठ कहा है।[6] भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, कि ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है–"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"।[7] ज्ञाननिष्ठ साधक वन, नदीतीरादि एकान्त देश का सेवन करने वाला, थोड़ा-हल्का भोजन करने वाला, मन, वचन एवं शरीर पर संयम रखने वाला, ध्यानयोग में तत्पर तथा वैराग्यवृत्ति वाला होता है।[8] 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के अनुरूप ब्रह्मज्ञानी सदैव आनन्दित रहता है। वह न शोक करता है, और न उसकी कोई आकांक्षा होती है। ऐसा ज्ञानी समस्त प्राणियों में समान भाव से व्यवहार करता है।[9]

गीता के अनुसार ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में वर्त्तमान है। अन्तर्यामी ईश्वर सभी को

---

१. तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः।।
२. गीता, ७.१७।
३. गीता, १२।२०।
४. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। गीता, २.२०।
५. देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।। गीता, २.३०।
६. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। गीता ७।१७।
७. गीता, ७।१८।
८. गीता, १८।५२।
९. समः सर्वेषु-भूतेषु, गीता, १८।

अपनी माया से भ्रमित करता हुआ, उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार खिलाड़ी यन्त्र पर आरूढ़ कठपुतलियों को चलाता है।[1] यहाँ, यह जिज्ञासा स्वाभाविक है, कि ईश्वर प्राणियों को किसलिए भ्रमित करता है। यहाँ, यह विचारणीय है, कि सभी प्राणी निज-निज पूर्वकर्म एवं संस्कार तथा वृत्ति के अनुसार संसारचक्र में भ्रमण करते हैं। ईश्वर तो अधिष्ठान एवं साक्षी मात्र है। गीता में, ईश्वर को उपद्रष्टा (साक्षी), अनुमन्ता, भर्ता (भरण-पोषण कर्ता), तथा भोक्ता कहा है।[2] यहाँ, अनुमन्ता का अर्थ अनुमोदनकर्ता-सा प्रतीत होता है, ऐसा लेना चाहिए। शंकराचार्य ने भी इस अर्थ का उल्लेख किया है।[3] राधाकृष्णन् ने यहाँ, अनुमन्ता का अर्थ "approver" किया है, जो समुचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ईश्वर हमारे असत् कर्मों का अनुमोदन नहीं करता, वह तो साक्षी होने के कारण अनुमोदन करता-सा प्रतीत होता है।

मोक्ष

जब व्यक्ति की बुद्धि, समाधि अर्थात् आत्मा में स्थित हो जाती हैं,[4] तो वह स्थितप्रज्ञ की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि, वर्णन है, स्थितप्रज्ञ जीवन्मुक्त ही है। जब साधक समस्त मनोगत कामनाओं का त्याग करके अन्तरात्मस्वरूप में सन्तुष्ट रहता है, तो वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।[5]

स्थितप्रज्ञ, दुःख की स्थिति में अनुद्विग्न, सुख में निःस्पृह, तथा राग, भय एवं क्रोध से रहित स्थितबुद्धि मुनि कहलाता है।[6] स्थितप्रज्ञ को न शरीर के प्रति मोह होता है, और न जीवन के प्रति, न वह शुभ को पाकर प्रसन्न होता है, और न अशुभ को पाकर खिन्न होता है। इस प्रकार आत्मज्ञानी पुरुष, जब समस्त कामनाओं का त्याग करके निःस्पृह रूप से व्यवहार करता है, तथा ममत्व एवं अहंकार से रहित हो जाता है, तो मोक्षस्वरूप शान्ति को प्राप्त होता है।[7] यही ब्राह्मी स्थिति है–"एषा ब्राह्मी स्थितिः"[8]।

इस प्रकार यदि देखा जाए, तो गीता, कर्म एवं धर्म, ज्ञान एवं विज्ञान, विधि एवं व्यवहारदर्शन एवं अध्यात्म का ऐसा अपार सागर है, जिसमें जीवनोपयोगी बहुमूल्य रत्नों का शाश्वत भण्डार है।

---

१. यन्त्रारूढानि मायया। गीता, १८।६१।

२. उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। गीता, १३.२२।

३. अथवा अनुमन्ता कार्यकारणप्रवृत्तिषु स्वयं अप्रवृत्तः अपि प्रवृत्त इव तदनुकूलो विभाव्यते तेन अनुमन्ता। शा. भा. गीता १३.२२।

४. समाधिः आत्मा। शा. भा. गीता, २.५४।

५. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदुच्यते ।। गीता, २.५५।

६. गीता, २।५६, ५।२८।

७. विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ।। गीता, २.७१।

८. गीता, २.७२।

द्वितीय अध्याय

चार्वाकदर्शन

पृष्ठभूमि

नितान्त भौतिकवादी चार्वाक दर्शन, औपनिषददर्शन एवं गीतादर्शन की आध्यात्मिक विचारधारा की तीव्र-प्रतिक्रिया का फल है। औपनिषद आत्मवाद की घोर निन्दा, पुनर्जन्म एवं मोक्षादि आस्तिक-दार्शनिक सिद्धान्तों का तर्को, भौतिकतावादी तर्कों के आधार पर अनौचित्यपूर्ण खंडन करते हुए, सर्वथा भौतिकसुखवाद का एकमात्र समर्थन ही चार्वाक दर्शन का उद्देश्य रहा है। किन्तु यह उल्लेखनीय है, कि चार्वाक दर्शन के आचार्यों की धारणा में भी, आत्मतत्त्व का प्रभुत्व स्वीकृत था, अत एव उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्त को 'शरीरात्मवाद' (शरीर ही आत्मा है) कहा है। वस्तुतः, जैसा कि, आगे स्पष्ट होगा, इतर नास्तिक दार्शनिकों, जैन एवं बौद्धों की दार्शनिक विचारधारा में भी, क्रमशः स्याद्वाद एवं विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के सन्दर्भ में, आत्मवाद की प्रच्छन्न पृष्ठभूमि मिलती ही है, भले ही, इन नास्तिकों ने आत्मवाद का खंडन किया हो। यह भी कहना समीचीन ही होगा, कि जैन एवं बौद्ध दर्शनों में अनात्मवाद की प्रतिष्ठा होते हुए भी, मानवता की मानसिकता की पूर्णचिन्ता एवं रक्षा की गई है। जैन-बौद्ध दर्शन के अहिंसा आदि आचारमूलक सिद्धान्तों से उक्त तथ्य सर्वथा स्पष्ट है। साथ ही, यह भी नितान्त स्पष्ट है, कि जैन–बौद्ध दर्शन अनात्मवादी होते हुए, भी भौतिकतावाद के पूर्णतया निन्दक थे। इस प्रकार अवैदिक होते हुए भी, चार्वाक के मूलकर्तन का कार्य, जैन-बौद्धदर्शन से ही आरम्भ होता है। श्रुतिविरोधी होने के कारण, जैन-बौद्धदर्शन अवैदिक अवश्य कहे जाते हैं, किन्तु जैसा कि, आगे स्पष्ट किया जाएगा, इन दोनों का मुख्याधार उपनिषद्वर्त्ती सिद्धान्त ही हैं। वैसे तो, यह कथन भी असङ्गत न होगा, कि पूर्वपक्ष के रूप में भूतात्मवादी, इन्द्रियात्मवादी, प्राणात्मवादी एवं मन आत्मवादी चार्वाक दर्शन औपनिषद ही हैं–

"स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" (तै. उ. २।१।१ भूतात्मवाद)

"ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः" (छा. उ. ५।२।६– इन्द्रियात्मवाद)

"अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः" (तै. उ. २।२।१ प्राणात्मवाद)

"अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः (तै. उ. २।३।१ मन आत्मवाद)

चार्वाक दर्शन की प्राचीनता एवं स्थापना

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, चार्वाक दर्शन का आरम्भ पूर्वपक्ष के रूप में, उपनिषदों में ही मिलना आरम्भ हो जाता है। बुद्धघोष ने लोकायत का अर्थ वितण्ड सत्य किया है।

न्यायमञ्जरीकार ने भी इसे वैतण्डिक कथा के समान बतलाए हुए, इसकी प्रामाणिकता का खंडन किया है–

नहि लोकायते किञ्चित्कर्तव्यमुपदिश्यते ।
वैतण्डिककथेवासौ न पुनः कश्चिदागमः ।। न्यायमञ्जरी।

वाल्मीकिरामायण के अन्तर्गत चार्वाक की निरर्थकता सिद्ध करते हुए, कहा गया है–

कच्चिन्न लोकायतिकान्ब्राह्मणांस्तात सेवसे ।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ।।

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः ।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ।। (वाल्मीकिरामायण, अयोध्या. अ. ११२, श्लोक, ३८, ३६)

आचार्य बृहस्पति एवं चार्वाकसम्बद्ध ग्रन्थ

चार्वाक दर्शन के आचार्यों में बृहस्पति ही एक प्रामाणिक नाम है। अनेक ग्रन्थों में बृहस्पति प्रणीत कतिपय सूत्रों के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु उनके द्वारा रचित कोई पूर्ण सूत्रग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। जिन ग्रन्थों में बृहस्पतिरचित सूत्रों का उल्लेख मिलता है, उनमें भास्करभाष्य, ब्रह्मसूत्रशाङ्कर भाष्य (३।३।५३) नीलकण्ठी टीका (गीता १६।११), श्रीमद्भागवत की श्रीधरी टीका, गीता की मधुसूदनी टीका एवं अद्वैतब्रह्मसिद्धि हैं। बृहस्पति आचार्यरचित सूत्रों में जिन सिद्धान्तों के संकेत मिलते हैं, वे वस्तुतः चार्वाक के ही सिद्धान्त हैं। उदाहरणार्थ, "काम एवैकः पुरुषार्थः" के अन्तर्गत काम को ही एक मात्र पुरुषार्थ कहा गया है। इसी प्रकार मृत्यु को ही, मोक्ष कहा है–"मरणमेवापवर्गः"।

यह भी उल्लेखनीय है, कि भास के प्रतिमानाटक में बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, बृहस्पति के मत का निर्देश मिलता है।[1] इस मत के अनुसार वार्ता एवं दण्डनीति, ऐहिक सुख की साधक कही गई हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि उपर्युक्त, सूत्रकार बृहस्पति एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उद्धृत बृहस्पति एक ही हैं।

जैसा कि ऊपर भी सङ्केत किया गया है, चार्वाकदर्शन के विशेष ग्रन्थ नहीं मिलते। फिर भी, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सन्दर्भ उल्लेखनीय हैं–

१. पतञ्जलि के महाभाष्य (६।३।५४) में "वर्णिका भागुरी लोकायतस्य" कहकर भागुरी टीका का उल्लेख किया गया है।

---

१. अर्थशास्त्र, १।२।

२. भट्टजयराशि विरचित तत्त्वोपप्लवसिंह (१०वीं. शता.) के अन्तर्गत भी चार्वाकदर्शन के सिद्धान्त वर्त्तमान हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज़, वड़ौदा से हुआ है।[1]

३. माधवाचार्य (१२०० ई.) ने चार्वाकमत का निरूपण कुछ विस्तार के साथ किया है।

४. पूर्वपक्ष के रूप में, चार्वाकदर्शन का न्यूनाधिक निर्देश, वैशेषिक एवं वेदान्त के ग्रन्थों में मिलता है। इन ग्रन्थों में, न्यायमञ्जरी, भास्करभाष्य, ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, विवरण-प्रमेयसंग्रह, सर्वसिद्धान्तसंग्रह, सर्वमतसंग्रह, षड्दर्शनसमुच्चय (सटीक), कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह की टीका-पञ्जिका, एवं नैषधीयचरित तथा प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में भी चार्वाकदर्शन के थोड़े-बहुत सिद्धान्त निर्दिष्ट हैं।

चार्वाकदर्शन के एक भी पूर्ण ग्रन्थ की अनुपलब्धि से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है, कि इस सम्प्रदाय की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा नहीं हो पायी। वस्तुतः इसका कारण यह है, कि चार्वाक की कोई समग्र दृष्टि नहीं थी, क्योंकि जीवन, मात्र भोग ही नहीं है, अपितु इसके अतिरिक्त कुछ और भी है–सूक्ष्म–चिन्तनपरक एवं आत्मपरक। मात्र भोग से व्यक्ति को परमसाध्यस्वरूप शान्ति की प्राप्ति नहीं होती ("न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति" गीता)। यही कारण था, कि चार्वाक की दृष्टि ने आचार्यों एवं प्राचीन विद्वानों को चार्वाकदर्शनविषयक ग्रन्थलेखन के लिए प्रेरित नहीं किया।

मेरे विचार से, तो चार्वाक के मात्र भोगपरक होने से, एकाङ्गी होने के कारण विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त इसे दर्शन नाम देना भी समुचित नहीं प्रतीत होता। किन्तु पाश्चात्त्य विद्वान् तुची मानते हैं, कि प्राचीन काल में लोकायत ग्रन्थों के बारे में लोगों को ज्ञान था। ये कालान्तर में लुप्त हो गए हैं।

चार्वाक नाम क्यों पड़ा

१. चार्वाक का प्राचीन नाम लोकायत है। वैदिक-शास्त्रीय प्रमाण को न मानने के कारण, केवल बौद्धिक तर्कों का अनुसरण करने वाले तथा भोगवाद एवं ऐहिक सुख के लिप्सु, सामान्य जनों का दर्शन होने के कारण ही, इस दर्शन का नाम लोकायत (लोक+आयत) पड़ा।

२. एक मत यह भी है, कि बृहस्पति के शिष्य चार्वाक ने इस मत का विशेष प्रचार किया था, अत एव इसका नाम चार्वाक प्रसिद्ध हो गया।

३. एक अन्य मत के अनुसार, क्योंकि इसमें चार्वी (चर्व अर्थात् खाने-पीने की) बुद्धि की ही बलवत्ता है, इसलिए इसका नाम चार्वाक पड़ा है। चार्वो नामक एक आचार्य का उल्लेख भी काशिका वृत्ति में मिलता है।[2]

---

१. Proceclings of the Indian Philosophical Congress.

२. नयते चार्वी लोकायते चार्वी बुद्धिस्तत्सम्बन्धादाचार्योऽपि चार्वी। स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते। काशिका, १।३।३६।

४. षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्न का कहना है, कि चार्वाकों द्वारा पुण्य एवं पापादि परोक्ष विचारों का चर्वण (भक्षण) करने के कारण, इस दर्शन का नाम चार्वाक पड़ा है। गुणरत्न का कथन है, कि चार्वाक साधारण जनों का दर्शन है।[१]

५. क्योंकि, चार्वाकदर्शन में सामान्य जनों की प्रिय, मात्र भोग की ही वाणी (चारु वाक्) है, इसलिए चार्वाक दर्शन की प्रसिद्धि हुई।

६. जैसा कि पहले भी कहा गया है, बृहस्पति आचार्य के द्वारा इसकी प्रस्थापना होने के कारण, चार्वाकदर्शन का एक नाम बार्हस्पत्य दर्शन भी है।

इस प्रकार, चार्वाकदर्शन, लोकायत या लोकायतिक, चार्वाक एवं बार्हस्पत्य दर्शन के रूप में प्रख्यात था। एवञ्च इसका मुख्य तात्पर्य सामान्य लोक के सामान्य भौतिक विचार से है।

माधवाचार्य ने लोकायत की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है–"लोकेषु आयतः लोकायतः"।[२] इसका अर्थ यही है, कि यह दर्शन लोगों (सामान्य जनों) में प्रचलित था।

हरप्रसाद शास्त्री ने भी लोकायत की सामान्य एवं व्यावहारिक व्याख्या करते हुए, इसे विश्व के सम्बन्ध में, लोगों का दृष्टिकोण माना है। इस परिभाषा से, यह स्पष्ट है, कि लोकायत दार्शनिक चिन्तन का सामान्य (लोगों का) स्वरूप है, तथा इसके समर्थन के लिए, किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं है।[३] दिव्यावदान (बौद्ध ग्रन्थ) के अनुसार भी लोकायत का अर्थ सामान्य लोगों का ही दर्शन है।[४]

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में देह का चैतन्य स्वीकार करने वाले प्राकृत जनों को लोकायतिक कहा है।[५] पञ्चानन तर्करत्न ने लोकायत को इसलिए लोकायत सिद्ध किया, क्योंकि इसका विश्वास ठोस भौतिक लोक में था।[६]

१२. प्राचीन आचार्यों में, बुद्धघोष ने आयत शब्द का अर्थ, आधार लेते हुए, लोकायत का अर्थ, ऐसा दर्शन किया, जिसका आधार, यह भौतिक संसार (लोक) है।[७]

---

१. तर्करहस्यदीपिका, पृ० ३००।

२. सर्वदर्शनसंग्रह, १२ (टि०)।

३. बौद्धधर्म, (बम्बई, ३७-३८)।

४. विशेष देखें, Das Gupta, History of Indian Philosophy, Vol. III, P. 513-514.

५. Das Gupta, History of Indian Philosophy, Vol. III, P. 52, 515.

६. Pali Texts Society Dictionary, by T.W. Rays Davids and W. Steel (Surrey 1925).

७. Monior Williams, Sanskrit English Dictionary.

१३. हरिभद्र ने षड्दर्शनसमुच्चय (८१) में, जिसका ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से हो, वह लोक है, इस प्रकार लोक की परिभाषा की है।

१४. षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार, मणिभद्र ने 'लोक' को संपूर्ण भौतिक अस्तित्व का नाम दिया। इस प्रकार हरिभद्र एवं मणिभद्र दोनों के ही अनुसार लोकायतदर्शन एक भौतिकतावादी दर्शन सिद्ध होता है। प्रतिष्ठित शब्दकोशों में भी लोकायत के सम्बन्ध में प्रामाणिक विचार प्रस्तुत किया गया है।

१५. सेंट पीटर्सवर्ग डिक्शनरी में लोकायत को केवल भौतिकवाद कहा गया है।

१६. पी.टी.एस. डिक्शनरी के अन्तर्गत लोकायत का तात्पर्य लोगों के विश्वव्यापी दृष्टिकोण से लिया है।[1]

१७. मोनियरविलियम्स ने नास्तिकवाद की प्रणाली के अन्तर्गत लोकायत का सम्बन्ध भौतिकवाद से बतलाया है।

१८. एच.टी. कोलब्रुक ने भी लोकायत का अर्थ भौतिकवादी ही किया है।[2]

चार्वाकदर्शन के सिद्धान्त

स्वभाववाद

चार्वाक न ईश्वर को जगत् का कारण मानता है, और न किसी अन्य तत्त्व को ही। चार्वाक-दर्शन के अनुसार, किसी भी वस्तु की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कार्यकारणवाद की कल्पना ही निरर्थक है। उसका तर्क है, कि किसी वस्तु का एक ही कारण नहीं होता, अपितु, कितने ही अस्पष्ट कारण होते हैं। अतः तब कार्यकारणवाद कैसा ? चार्वाक का तर्क है, कि अग्नि की उष्णता, एवं जल की शीतलता, उसका स्वभाव है। अतः सृष्टि की उत्पत्ति स्वाभाविक है। चार्वाक का कहना है, कि वस्तुओं की उत्पत्ति एवं विनाश, दोनों ही स्वाभाविक हैं–"यदुत्पादि विनाशि तत्"। स्वभाववाद के समर्थन में, चार्वाक का कथन है, कि जिस प्रकार मयूरों का चित्र-विचित्र वर्ण शोभित होना स्वाभाविक है, एवं कोकिल की मधुर कूज स्वाभाविक है, उसी प्रकार संसार में सब कुछ स्वभाव से घटित होता है।

चार्वाकदर्शन के समालोचक विद्वानों ने अनीश्वरवादी सांख्य के प्रधानकारणवाद में चार्वाक के स्वभाववाद की प्रतिकृति देखी है। इस सम्बन्ध में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय कहते हैं–

"यदि अपने मूल रूप में सांख्यदर्शन केवल 'प्रधानवाद' था, तो हमारा यह अपेक्षा करना भी स्वाभाविक है, कि यह स्वभाववाद भी था। क्योंकि, स्वभाववाद के विना प्रधानवाद अपूर्ण है। यह

---

१. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, लोकायत, पृ० ३०८, (हि० अनु०)

(मेकमिलन, दिल्ली, १९८२)

स्वभाव का सिद्धान्त हमें, सहज ही उस स्वभाववाद का स्मरण कराता है, जिसे बहुधा लोकायतिकों की विचारधारा माना जाता है।

वैसे तो, गौडपादाचार्य ने भी 'स्वभाव' से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है, किन्तु वह स्वभाव ईश्वर का है, स्वतन्त्र स्वभाव नहीं–"देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा"। (गौड़पादकारिका)

प्रमाण–लोकायत की प्रमाणचिन्तना विलक्षण है। वह इन्द्रियज्ञान एवं प्रत्यक्षप्रमाण के अतिरिक्त न अनुमान को प्रमाण मानता है, और न शब्द को। अनुमान का प्राण व्याप्ति है। व्याप्ति के सम्बन्ध में लोकायत का विचार है, कि धूम एवं अग्नि के उदाहरण में, लिंगपद (धूम) एवं साध्य पद (अग्नि) में एक सामान्य प्रत्यय (साहचर्यनियम) व्याप्ति है। किन्तु लोकायत का तर्क है, कि व्याप्ति (जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है) को पहले से ही स्वीकार करना अनुचित है। लोकायत मानता है, कि धूम एवं अग्नि के सार्वभौम सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए, कोई प्रमाणसिद्ध स्रोत नहीं है। इन्द्रियज्ञान के द्वारा इस प्रकार के ज्ञान को पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इन्द्रियज्ञान सीमित है। इस प्रकार चार्वाक का कथन है, कि अनुमान को व्याप्ति का आधार नहीं माना जा सकता। प्रमाणवाद के सम्बन्ध में चार्वाक का मूल तर्क तो यही है, कि ज्ञान का एकमात्र स्रोत इन्द्रियज्ञान है। यहाँ, यह तथ्य अवलोकनीय है, कि लोकायत का व्याप्ति के खंडन करने का अर्थ, तर्क का खंडन करना है, किन्तु अपने लोकायत पक्ष के समर्थन में वह स्वयं तर्क का आश्रय लेता है। इसलिए उसके सिद्धान्त में परस्पर विरोध दर्शनीय है। वास्तविकता तो यह है, कि लोकायत तर्क का आश्रय तो लेते थे, किन्तु आत्मा, ईश्वर एवं परलोक की स्वीकृति उन्हें तर्काश्रित ग्राह्य नहीं थी।

चार्वाक, अनुमान प्रमाण ही नहीं, **शब्द अर्थात् आप्त प्रमाण** को भी स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में, यह उल्लेखनीय है, कि यद्यपि जैन एवं बौद्ध दोनों ही वेदविरोधी हैं, किन्तु फिर भी वे आप्तप्रमाण को स्वीकार करते हैं। आप्तप्रमाण के विरोध में चार्वाक का तर्क है, कि आप्त वाक्य से जो अर्थज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होता है, अतः आप्त प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है। आप्तप्रमाण के आधार, वेदों की प्रामाणिकता का खंडन करते हुए, चार्वाक का कथन है, कि वेदों में अनर्थक शब्दों का प्रयोग है, एवं आनुमानिक तथ्यों एवं पदार्थों की कल्पना है, अतः वेदों का अप्रामाण्य है। वेदों के सम्बन्ध में घोर कटाक्ष करते हुए चार्वाक कहता है, कि वेदप्रतिपादित अश्वमेध यज्ञ में घृणित कार्यकलाप से एवं जर्भरी, तुर्फरी, पर्फरीका, जेमना एवं महेरु आदि अनर्थक शब्दों के प्रयोग से[1], तथा यज्ञ में आमिषभक्षण की विधि से यह प्रतीत होता है, कि वेद, भण्ड (भांड), धूर्तों एवं निशाचरों द्वारा प्रणीत हैं–

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्फरी-तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।। सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. ४।

इस प्रकार चार्वाक वेद के आप्तप्रामाण्य के विरोधी हैं।

---

१. ऋग्वेद १०।१०६।६।

तत्त्वमीमांसा–लोकायतिकों की तत्त्वमीमांसा बड़ी स्थूल है। न इन्हें आत्मा स्वीकार्य है, न शुद्ध चैतन्य, न पुनर्जन्म और न मोक्ष। तो फिर, क्या स्वीकार है, चार्वाक को केवल देहवाद स्वीकार्य है। भौतिक तत्त्व भी पृथिव्यादि केवल चार स्वीकार्य हैं। आकाश को ये, तत्त्व न स्वीकार कर बौद्ध की तरह मात्र शून्यता कहते हैं। स्पष्ट है, चार्वाक आत्मवादी के स्थान पर भौतिकवादी एवं देहवादी थे। इस प्रकार लोकायत तत्त्वमीमांसा में दो विचार विशिष्ट हैं–१. **देहवाद** तथा २. **विचित्र विश्वोत्पत्तिविज्ञान**। देहवाद के सम्बन्ध में ऊपर कहा गया है। विचित्र विश्वोत्पत्तिविज्ञान के अन्तर्गत चार्वाक की जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचित्र तर्कना है, और वह यह कि जगत् पृथिव्यादि चार तत्त्वों के संयोग से स्वभावतः उत्पन्न हुआ है। ईश्वर या कोई चेतन तत्त्व जगत् का स्रष्टा नहीं है। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति स्वाभाविक है। देहात्मवादी होने के कारण, ये देह को ही चैतन्य मानते हैं। जैसा कि, हम पहले भी कह चुके हैं, अनात्मवादी होते हुए भी, इन्होंने देहात्मवाद स्वीकार किया है। इस प्रकार आत्मवाद से इनका पीछा कहाँ छूटा।

जीव, देहात्मवादी होने के कारण, चार्वाक देह को ही जीवचैतन्य मानता है। चैतन्य को आत्मा का धर्म तो चार्वाक मानता है, किन्तु चैतन्य का सम्बन्ध शरीर से होने के कारण, वह शरीर को ही जीवात्मा मानता है। देहात्मवाद या देहचेतनवाद के सम्बन्ध में चार्वाकों ने जो तर्क दिए हैं, वह इस प्रकार हैं–यदि शरीर है, तो चैतन्य है, और यदि शरीर नहीं है, तो चैतन्य भी नहीं है, इस प्रकार न्याय की अन्वय-व्यतिरेकव्याप्ति के अनुसार चैतन्य एवं शरीर परस्पर सम्बद्ध हैं। यों भी कह सकते हैं, कि अन्न के भक्षण से शरीर में चैतन्य का उदय एवं विकास होता है, एवं यदि अन्न का उपयोग न किया जाय, तो चैतन्य भी समाप्त होता है। "स्थूलोऽहम्" (मैं स्थूल हूँ), "कृशोऽहम्" (मैं कृश हूँ), "मैं सुखी हूँ", या "मैं दुःखी हूँ", इस प्रकार के अनुभव भी शरीर एवं चैतन्य के सम्बन्ध को ही अभिव्यक्त करते हैं। शरीर एवं चैतन्य के सम्बन्ध के विषय में, तीसरा तर्क आयुर्वेद से सम्बन्धित है। उदाहरणार्थ ब्राह्मी घृत के प्रयोग से कुमार शरीर में प्रज्ञा-पाटव उत्पन्न होता है। इससे शरीर एवं चैतन्य का सम्बन्ध सुस्पष्ट है।

भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति–चार्वाक भूतचैतन्यवादी हैं। भूतचैतन्यवाद के अनुसार भूतसङ्घ से चैतन्य की सृष्टि स्वभावतः है, जैसे गोमय (गोबर) से वृश्चिक उत्पन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण और दिया जाता है, वह यह कि जिन पदार्थों से मदिरा बनती है, उनमें मादकता नहीं होती किन्तु विभिन्न पदार्थों के संयोग से मादक मदिरा का निर्माण होता है। इसी प्रकार भूतसङ्घसंयोग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

धर्माचरण–चार्वाकों का समस्त व्यवहार एवं आचार भोगपरक है। इतर दर्शनों में धर्माचरण मोक्ष का साधन है। किन्तु चार्वाक तो मृत्यु को ही मुक्ति मानता है–"मरणमेवापवर्गः"। इसीलिए यह पुरुषार्थचतुष्टय में केवल काम को ही पुरुषार्थ मानता है। 'अर्थ' को तो 'काम' की सिद्धि के निमित्त से स्वीकार करता है। जैसा कि, पहले भी कहा जा चुका है, अश्वमेध एवं ज्योतिष्टोम यज्ञ के अन्तर्गत हिंसा का समर्थक वैदिकधर्म, चार्वाक की दृष्टि में हेय है। इसी प्रकार वैदिक धर्म में श्राद्ध कर्म के प्रति भी चार्वाक की पूर्ण अनास्था है। उसकी दृष्टि में श्राद्धादि कर्मकाण्ड पाखण्ड मात्र हैं। वास्तविकता तो यह है, कि जब लोकायतिकों के अनुसार, आत्मतत्त्व एवं मोक्ष साध्य ही नहीं हैं, तो धर्म एवं आचार

की अपेक्षा ही क्या है। इनके अनुसार तो "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" ही वरीयान् है। जब चार्वाक पुनर्जन्म ही नहीं मानते, तो ये किस भय से सदाचरण करें। यह पुनर्जन्म का भय ही तो है, जो व्यक्ति को कदाचार से दूर रखकर, उसे सदाचार की ओर प्रवृत्त करता है। किन्तु चार्वाकमत में तो मृत्यु के पश्चात् कुछ है ही नहीं–"भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"। चार्वाकमत में तो ऐहिक सुख की प्राप्ति ही स्वर्ग है, तथा सांसारिक दुःख ही नरक है।

लोकायत का नीतिशास्त्र–लोकायत का नीतिशास्त्र एकमात्र अतिसुखवाद का समर्थक है। लोकायत के नीतिशास्त्र के अनुसार सुखभोग को ऐसा सर्वातिशायी उद्देश्य माना गया है, कि चाहे, किसी से ऋण ले लो, किन्तु सुखभोग करो। जैसे, यज्ञादि धर्म करने के लिए ऋण लेना उचित है, वैसे ही, सुखभोग के लिए भी ऋण का औचित्य है। जब सुख के साधनस्वरूप धर्म (धनाद् धर्मस्ततः सुखम्) के लिए ऋण का औचित्य है, तो धर्म के साध्य सुख के लिए ऋण लेने की (ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्) चार्वाक की नीतियोजना में क्या पाप है, क्या अनौचित्य है। यहाँ, विचारणीय यह है, कि धर्म के आचरण, यज्ञादि में सत्क्रिया-सत्कर्म होता है, जब कि ऋण लेकर 'घी पीने' में सत्कर्म माध्यम नहीं बनता। दूसरे, चार्वाक के नीतिशास्त्र "ऋण करके घी पिए" में यह ध्वनि है, चाहे जैसे भी हो, सुख भोगो। अच्छी बात यह है, कि चार्वाक ने ऋण न लौटाने की बात नहीं कही। किन्तु जब वह पुनर्जन्म को नहीं मानता, तो वह भी क्रिया है, क्योंकि परलोकभयस्वरूप नरकादि के भय से भी बहुत से व्यक्ति ऋण वापस करते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है, कि प्रत्येक व्यक्ति दुःख को टालकर सुख भोग करना चाहता है। फिर, चार्वाक ने ही क्या अनुचित किया, यदि उसने ऋण लेकर घी पीने की बात कही, सुखभोग का मन्तव्य स्पष्ट किया। यहाँ तक तो बात कुछ ठीक लगती है, किन्तु उसके नीतिशास्त्र में पुनर्जन्म को स्वीकार न करना ("भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः") सर्वथा अनुचित एवं अग्राह्य है, क्योंकि व्यक्ति पुनर्जन्म एवं परलोक के भय से असत् एवं कुत्सित कर्मों के सम्पादन से विमुख होना चाहता है। हाँ, तो दुःख से दूर रहने का प्रयत्न सभी करते हैं। इस सम्बन्ध में लोकायत दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहना है, कि सुख एवं दुःख का साथ स्वाभाविक है। हमें दुःख से डर कर सुख का त्याग नहीं करना चाहिए। दृष्टान्त है, जिस प्रकार मछली का इच्छुक व्यक्ति, छिलके तथा काँटों समेत उसे ग्रहण करता है, या जैसे तण्डुल का इच्छुक व्यक्ति, उसके छिलके एवं भूसीसहित उसे ग्रहण करता है। आशय यह है, कि दुःख के भय से सुख का त्याग नहीं करना चाहिए, जैसे, कि चावल के साथ भूसी का भी ग्रहण होता है। यह बात दूसरी है, कि चावल का इच्छुक, बाद में भूसी का भी त्याग कर देता है। लोकायत का कहना है, कि पशुओं द्वारा चर लिए जाने के भय से धान्य बोना बन्द नहीं किया जाता। एवञ्च भिक्षुओं के माँगने के भय से, भोजन बनाना रोक नहीं दिया जाता।

चार्वाक का निराकरण

चार्वाक का पक्ष (पूर्वपक्ष)

१. जैसा कि, उपर्युक्त विवेचन के अन्तर्गत कहा गया है, चार्वाक देहात्मवादी है। इस प्रकार

---

१. विशेष देखिए, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, लोकायत, पृ० २५।

देह ही आत्मा है, स्वतन्त्र आत्मा की सिद्धि अनुमान द्वारा भी नहीं होती, यह भी स्पष्ट किया जा चुका है। मैं स्थूल हूँ, मैं दुर्वल हूँ, इत्यादि भी चार्वाक के अनुसार देहात्मवाद की ही सिद्धि करते हैं।

पूर्वपक्ष का निराकरण–पूर्वपक्ष का उपर्युक्त मत अनुभव एवं तर्क के निकष पर खरा न सिद्ध होने के कारण सारहीन है। वस्तुतः चार्वाक अपने ही तर्क से धराशायी होता है। भौतिक चैतन्यवाद की पुष्टि में, वह "मैं स्थूल हूँ" इत्यादि उदाहरण देता है। किन्तु इससे तो 'मैं' के चेतनत्व तथा 'स्थूलत्व' का पार्थक्य स्वतः सिद्ध है। अर्थात् चेतन एवं स्थूल, ये दोनों पृथक् सत्ताएँ हैं। इस दृष्टिकोण को और स्पष्ट करते हुए, यह कहा जाएगा, कि मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियाँ एवं मेरा प्राण, इत्यादि प्रत्यक्ष, प्रतीति से, देह, इन्द्रिय एवं प्राण का अन्यात्मत्व स्पष्ट सिद्ध है। अतः शरीर एवं इन्द्रियादि से अतिरिक्त, अद्वितीय पदार्थों के भाव का बोधक नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं सच्चिदानन्दस्वरूप परिपूर्ण आत्मतत्त्व स्वीकरणीय है।[1]

२. चार्वाक का तर्क है, कि जब आत्मा एक है, तो प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् चेष्टाओं की सिद्धि किस प्रकार होगी। इस सम्बन्ध में, यह कहा जाएगा, कि आत्मा को एक होने पर भी, उसकी व्यापकता के कारण, विभिन्न शरीरों में चेष्टा की सिद्धि होने में कोई वाधा नहीं है।[2]

३. चार्वाक का पक्ष है, कि अदृष्ट सिद्ध है, एवं इसी प्रकार परलोकसिद्धि भी सन्दिग्ध है। इस सम्बन्ध में सिद्धान्तमत यह है, कि सन्देह की स्थिति में, अस्तित्वपक्ष बहुवादि सम्मत होने से आदरणीय है। इस सम्बन्ध में अद्वैतब्रह्मसिद्धिकार ने न्यायकुसुमाञ्जलिकार उदयन के निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत किया है–

सन्दिग्धेऽपि परे लोके त्याज्यमेवाहितं बुधैः।
यदि न स्यात् ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्ति को हतः॥

४. ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करने वाले चार्वाक का पक्ष है, कि ईश्वर की सत्ता, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान अथवा अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। इस विषय में सिद्धान्ती का समाधान है, कि ईश्वर के परोक्ष होने के कारण, उसकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं की जा सकती। ईश्वर अनुमान का विषय भी नहीं है, क्योंकि वह तो अनुभव सिद्ध है। ईश्वर, 'पर्वतो वह्निमान्' के समान स्थूलविषय तो है नहीं।

---

१. तस्माच्छरीरेन्द्रियाद्यतिरिक्ताद्वितीयवक्ष्यमाणभावाभावभासको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-सच्चिदानन्दविग्रहः परिपूर्ण एवात्मा मन्तव्य इति। सदानन्दयति, अद्वैतब्रह्मसिद्धि, पृ० १०२ (परिमल, दिल्ली–१९८९)।

२. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ श्वे. उ. ६।११।

ईश्वर उपमान प्रमाण का भी अविषय है, क्योंकि उपमान प्रमाण में 'उपमिति' अर्थात् सादृश्य की अपेक्षा है, किन्तु ईश्वर के अद्वितीय होने के कारण उसके सदृश कोई दूसरी वस्तु नहीं हो सकती। ईश्वरसिद्धि अर्थापत्ति से नहीं हो सकती, इसका कारण यह है, कि ईश्वर के बिना किसी भी पदार्थ की उपपत्ति का अभाव है, जैसा कि अर्थापत्ति के लिए अपेक्षित है। ईश्वर के अनुपलब्धि प्रमाण के विषय होने का तो प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता, क्योंकि ईश्वर एक भावात्मक सत्ता है, जब कि अनुपलब्धि प्रमाण अभावमात्र का साधक है। ईश्वर के निर्धर्मक होने के कारण, वह शब्दप्रमाण का भी विषय नहीं है, क्योंकि शब्दप्रमाण, जाति, गुण एवं क्रिया आदि धर्मों के निरूपण के द्वारा प्रवृत्त होता है–

दृष्टा जातिगुणक्रियासम्बन्धा शब्दहेतवः।
नात्मन्यन्यतमो ह्येषां तेनात्मा नाऽभिधीयते।। (सुरेश्वराचार्य)

इस प्रकार ईश्वर की सत्ता प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय न होने पर भी, श्रुति एवं अनुभवसिद्ध है।

निष्कर्षसूत्र

लोकायत एक सामान्य जनों का दर्शन है। सामान्य जनों के बारे में, यह देखने में आता है, कि उन्हें सांसारिक भोग-विलास के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। इस प्रकार लोकायत एक अपूर्ण एवं अधूरे जीवनमात्र भोगजीवन का निर्देश करता है। समग्र जीवन (भौतिक एवं आध्यात्मिक) लोकायत का विषय नहीं है। यही कारण है, कि लोकायत की आचार्यपरम्परा का विकास नहीं हो सका। परिणामतः, बृहस्पति के कतिपय सूत्रों के अतिरिक्त, चार्वाक के विचार अप्रत्यक्ष एवं श्रुतिपरम्परा पर ही आधारित हैं। इस सन्दर्भ में, यह कहना भी संगत होगा, कि वस्तुतः चार्वाक का मौलिक साहित्य, ना के बराबर होने के कारण, उसने परमतदूषण का ही आश्रय लिया है। अतएव यह देखने में आता है, कि चार्वाक के विचार परलोक, ईश्वर, पुनर्जन्म एवं मोक्ष के निराकरण से ही अधिक सम्बन्धित हैं। इस प्रकार चार्वाक का दृष्टिकोण प्रायः नकारात्मक ही है। उसकी दृष्टि मात्र स्थूलभोगवादी है। भोगविषय स्थूलभावेन स्पष्ट ही हैं, उनकी व्याख्या की क्या अपेक्षा है। सृष्टि के सम्बन्ध में लोकायत की स्वभाववाद की कल्पना भी निरर्थक है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, यों तो, वेदान्त में भी 'स्वभाव' का आश्रय लिया गया है, किन्तु वहाँ "देवस्यैष स्वभावोऽयम्" (गौडपादकारिका) कहकर ईश्वर के स्वभाव के फलस्वरूप सृष्टि की उत्पत्ति सिद्ध की गई है। इसके विपरीत चार्वाक तो ईश्वर की सत्ता मानता ही नहीं। उसके अनुसार तो पृथिव्यादि चार तत्त्वों के स्वभाव से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, जो असंगत है। लोक में भी, बिना कुम्भकार के, मृत्तिका आदि से स्वभावतः घट का निर्माण नहीं हो जाता। इस सम्बन्ध में यह कहना भी उपयुक्त होगा, कि अनेक समालोचक विद्वानों, जैसे, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, ने चार्वाक के स्वभाववाद का सम्बन्ध सांख्य के प्रकृतिवाद के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है। किन्तु

यहाँ, यह विचारणीय है कि क्या सांख्य के समान 'पुरुष' का सिद्धान्त चार्वाक दर्शन में प्राप्त है।[1] इसके अतिरिक्त, क्या सांख्य जैसी "धर्माधर्म"[2] की कल्पना चार्वाकदर्शन में प्राप्त होती है, और, क्या 'संसार, चक्र'[3] एवं पुनर्जन्म एवं कैवल्य का विचार लोकायत दर्शन में वर्त्तमान है। यदि नहीं, तो मात्र सांख्य के प्रकृतितत्त्व के आधार पर चार्वाक के स्वभाववाद की समानता निश्चित करना उचित नहीं है। इस प्रकार, सच तो यह है, कि चार्वाक के अनुसर्ताओं ने श्रुतपरम्परा एवं कल्पना के आधार पर ही, चार्वाकदर्शन का ताना-बाना खड़ा किया है, जो निराधार एवं निर्बल है।

किन्तु, फिर भी, जैसा कि हम कह आये हैं, उपनिषदों के दर्शन एवं अध्यात्मवाद की घोर प्रतिक्रिया होने के कारण, चार्वाकदर्शन से इहलोक के प्रति आस्था का पाठ अवश्य सीखने को मिलता है। दूसरे शब्दों में, उपनिषदों के अतिसूक्ष्मवाद के प्रति समाज में जो अनास्था उत्पन्न होने लगी थी, उसी अनास्था में भौतिकवाद के प्रति आस्था के बीज निहित थे। इस प्रकार मनुष्य को भौतिक जगत् के प्रति अवहेलना से चार्वाक ने किसी प्रकार बचाया था। किन्तु, फिर भी आप्तवचनों के प्रति अनास्था, ईश्वर, पुनर्जन्म, आत्मा एवं परलोक तथा मोक्ष के प्रति अश्रद्धा एवं अविश्वास, चार्वाकदर्शन की प्रमुख दुर्बलताएँ हैं, जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास में बाधक हैं। फिर भी, इस सम्बन्ध में, चार्वाकदर्शन का माहात्म्योल्लेख करते हुए, आलोचक विद्वानों की यह टिप्पणी, "श्रद्धा किसी भी सत् सिद्धान्त की जननी नहीं हैं, सिद्धान्त की सृष्टि तो तर्क से होती है। शुद्ध तर्क की उपयोगिता दिखाकर चार्वाकों ने भारतीय विचारकों के लिए एक मनोरम मार्ग की सृष्टि की है"[1] आश्चर्यजनक एवं निरर्थक है। प्रश्न यह है, कि क्या गीता में प्रतिपादित श्रद्धा का महत्त्व–"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्" निरर्थक है। क्या, सामान्य तर्क के आधार पर चार्वाकों ने भोग के अतिरिक्त कुछ और साध्य भी माना। यदि ऐसा ही है, फिर तो, भारतवर्ष में दर्शन में भोगवाद की ही प्रबलता होनी चाहिए। इससे तो भारतीय दर्शन के अध्यात्मपक्ष एवं तत्सम्बन्धी विपुल वाङ्मय की निःसारता ही सिद्ध होती है। मेरे विचार से, किसी भारतीय दर्शन के विद्वान् के द्वारा इस प्रकार की टिप्पणी सर्वथा अवाञ्छनीय एवं निराधार है। पण्डित बलदेव उपाध्याय चार्वाकदर्शन के सम्बन्ध में अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए पुनः लिखते हैं– "अतः आधिभौतिक सुखवाद के पुजारी होने पर भी चार्वाकों ने, मानवजीवन को विशृंखल होने से बचाया और पारलौकिक सुख की मृगतृष्णा में, अपने बहुमूल्य शरीर को व्यर्थ गलाने वाले अधिकांश लोगों के सामने, इस जीवन को सुखमय बनाने का ठोस उपदेश दिया।[5]" इस अंश के अन्तर्गत भी पारलौकिक सुख के उद्देश्य से साधना-तपस्या में रत आध्यात्मिकों के प्रयास को व्यर्थ कहना, पता नहीं, किस विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है। यदि यह चार्वाक का विचार होता, तब तो ठीक था, किन्तु विद्वान् लेखक की इस प्रकार की टिप्पणी अत्यन्त आश्चर्यजनक है।

---

१. पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि तत्कृतः सर्गः। सां. का. २१।

२. धर्मेण गमनमूर्ध्वे गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण। सा.का.४४।

३. तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः। सां. का. ५६।

४. **कैवल्यं** माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च। सां. का. १६।

५. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ८६-८८।

पश्चिमी जगत् में तो चार्वाकसंस्कृति का बोलबाला स्पष्ट ही है, जहाँ 'खाओ, पियो और खुश रहो' की प्रायः प्राथमिकता देखने में आती है। किन्तु, आज पश्चिम में भी ध्यान (Meditation) एवं योगाभ्यास के रूप में आध्यात्मिकता की किरण उदित होती दृष्टिगोचर होती है। यह भी पश्चिमी जगत् के भोगवाद की प्रतिक्रिया का ही परिणाम कहा जा सकता है।

चार्वाक के भौतिकवाद का स्वरूप, ग्रीकदार्शनिक देमोक्रितस (४६० ई. पू.), एपिकुरस (३८० ई. पू.) तथा ल्यूक्रेशियस (८५ ई. पू.) के दार्शनिक विचारों में स्पष्टतया देखा जा सकता है। इन दार्शनिकों के अनुसार जगत् का ईश्वर या अन्य कोई कारण नहीं है, प्रत्युत जगत् परमाणुओं के यादृच्छिक संघात का परिणाम है। आत्मा (Soul) के बारे में, इन दार्शनिकों का विचार है, कि यह शरीर का ही एक अंश है, एवं शरीर के विनाश के साथ ही आत्मा का भी विनाश हो जाता है। इस प्रकार शरीर के समान आत्मा भी विनाशशील है। आत्मा चतुर्विध परमाणुओं के सङ्घात का ही परिणाम है। एपिकुरस ने आनन्दवादी दृष्टिकोण को अपनाया था। किन्तु उसका अभीप्सित आनन्द, मानस था, मानस इसलिए, कि वह सुहृदों-मित्रों के सम्पर्क से प्राप्त होने वाले आनन्द को ही आनन्द स्वीकार करता था। भौतिक पदार्थों के भोग से प्राप्त होने वाला आनन्द एपिकुरस की दृष्टि में, आनन्द न था। उसका शिष्य ल्युक्रेशियस पूर्णतया आचारवादी था। उसके अनुसार सात्त्विक जीवनयापन, कर्तव्यनिष्ठता एवं सत्यप्रियता ही जीवन के परम एवं पवित्र लक्ष्य थे। जिस प्रकार चार्वाक के विरोध में, प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ईश्वरवाद, कार्यकारणवाद एवं तदनुकूल सिद्धान्तों की पुनः स्थापना एवं प्रतिपादना हुई, उसी प्रकार स्टोइक दार्शनिकों के द्वारा एपिकुरस के सिद्धान्त की पुष्टि की गई।[1]

---

१. देखिए, Encyclopaedia of Religion & Ethics, vol. I, के अन्तर्गत, Materialism and Lucretius, लेख।

तृतीय अध्याय

जैनदर्शन

मूलचिन्तन-दृष्टि

जैसा कि, पहले भी कहा जा चुका है, भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा के मूलाधार वेद ही हैं, जिनके अन्तर्गत स्याद्वाद एवं आत्मवाद के रूप में दार्शनिक दृष्टि का आरम्भ देखने को मिलता है, तथा यही आत्मतत्त्वविषयक दृष्टि वैदिक-वाङ्मय के दार्शनिक प्रौढ़ स्तम्भों–उपनिषदों में पूर्ण पुष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। यह कहना होगा, कि वैदिक अस्तित्ववाद तथा आस्था का पर्यवसित एवं सैद्धान्तिक रूप ही आत्मवाद है। औपनिषद आत्मवाद ने भारतीय दर्शन की चिन्तनपरम्परा को–चाहे वह आस्तिक हो अथवा नास्तिक, इतना प्रभावित किया है, कि कदाचित् ही कोई ऐसा दार्शनिक सम्प्रदाय होगा, जिसके मूल में आत्मवादी दृष्टि का स्पर्श न हो। फलतः, यह कहना संगत होगा, कि नास्तिक चार्वाक ने भी आत्मा के मौलिक रूप को स्वीकार किया था, तथा जैसा कि, बौद्धदार्शनिक चिन्तनदृष्टि के अनुशीलन के अवसर पर आगे स्पष्ट हो जाएगा, बौद्धदर्शन की 'तथता' एवं शून्यवाद की दृष्टि के मूल में स्पष्ट-रूप से आत्मवाद की धारणा ही प्रमुख है। इसी प्रकार, जैसा कि अभी स्पष्ट किया जाएगा, जैनदर्शन के मूल में भी आत्मवादी दृष्टि के सूत्र देखने को मिलते हैं। जहाँ तक आस्तिक दर्शनों की बात है, न्याय-वैशेषिक ने जीवात्मा एवं परमात्मा के रूप में आत्मा के स्वरूप को स्वीकार किया था। सांख्य का 'पुरुष', यदि विचार कर देखा जाए, तो एक प्रकार से आत्मा ही है। पुरुष ही भोक्ता, एवं मोक्ष का अधिकारी है। इसी प्रकार योगदर्शन में भी 'पुरुष' आत्मा ही है, तथा यही समस्त सांसारिक भोगों का भोक्ता है। "तदर्थ एवं दृश्यस्यात्मा" (यो. सू. २. २१. १) जहाँ तक, पूर्वमीमांसा दर्शन का प्रश्न है, इसमें आत्मा को चैतन्य के आश्रय के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त मीमांसक आत्मा की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी सब शरीरों में आत्मा की एकता नहीं स्वीकार करते। इस प्रकार आस्तिक एवं नास्तिक सभी दर्शनों में, किसी न किसी रूप में आत्मतत्त्व को जाने-अनजाने रूप में स्वीकार किया गया है।

वस्तुतः, भारतीय दर्शन के अन्तर्गत आत्मतत्त्व की अपेक्षा इसलिए स्वीकार्य है, कि आत्मा के अभाव में कर्मों के फलों का भोक्ता किसे माना जाय। इसी प्रश्न को उठाते हुए माधवाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह के अन्तर्गत स्पष्टरूप से कहा है–

"यद्यात्मा कश्चिन्नार्स्थायेत स्थायी तदैहलौकिक-पारलौकिकफलसाधनसंपादनविफलं

भवेत्"[1]। इस सन्दर्भ में, यह उल्लेखनीय है, कि जैनदर्शन के अन्तर्गत जीव को कर्मफल का भोक्ता स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त जैनदर्शन की औपनिषद एवं वेदान्तिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में, यह तथ्य विचारणीय है, कि औपनिषद विवर्त्तवाद की दृष्टि जैनदर्शन के परिणामनित्यत्ववाद के अन्तर्गत पूर्णरूप से दिखलाई पड़ती है। जैसा कि, छान्दोग्यश्रुति "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" से स्पष्ट है, जिस प्रकार घट एवं शरावादि विकार मृत्तिका के रूपान्तर मात्र होने के कारण वाचारम्भण मात्र हैं, उसी प्रकार नामरूपात्मक जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् न होकर उसी का विवर्त्त रूप है। यही औपनिषद वेदान्त का नित्यानित्य विचार है। जिसके अनुसार, अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म नित्य एवं विवर्त्त रूप नानाप्रपञ्चात्मक जगत् अनित्य है। आत्मा ब्रह्म की नित्यता-सत्यता एवं जगत् की असत्यता-अनित्यता का विचार करते हुए शङ्कराचार्य ने भी स्पष्ट रूप से कहा है–

"सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।"[2]

अब देखें, यह नित्यानित्य दृष्टि जैनदर्शन में किस प्रकार उपलब्ध है। इसी सम्बन्ध में जैनदर्शन का 'परिणामिनित्यत्व' सिद्धान्त विचारयोग्य है, जिसके अनुसार सत् (यत् क्षणिकं तत् सत्) नित्य एवं अनित्य है। अपने शाश्वत अंश के कारण, सत् (प्रत्येक वस्तु) नित्य है, तथा अशाश्वत अंश के कारण अनित्य है। यही तथ्य तत्त्वार्थसूत्र के अन्तर्गत स्पष्ट हुआ है, जहाँ, वस्तु को उत्पाद-विनाशशील (अनित्य) एवं ध्रौव्य (नित्यत्व) युक्त कहा गया है।[3] एतदनुसार परिणामवादी जैनदर्शन यह मानता है, कि वस्तु का परिणाम सिद्ध होने पर भी उसकी जाति स्थिर रहती है, यही उसका नित्यत्व है। उदाहरणार्थ, सुवर्ण के कुण्डलादि परिणाम प्राप्त होने पर भी, सुवर्णत्व जाति में कोई अन्तर नहीं आता, वह ज्यों की त्यों रहती है, यह उसका नित्यत्व है, तथा उसके परिणाम अनित्य हैं, क्योंकि कुण्डल को तोड़कर उसी सुवर्ण से अँगूठी आदि आभूषणों का निर्माण किया जा सकता है। यही तथ्य वेदान्त के नित्यानित्यत्ववाद के साधक ब्रह्मविवर्त्तवाद में भी अवलोकनीय है, जहाँ नामरूपात्मक अनित्य जगत् नित्य ब्रह्म का विवर्त्त है, जो अनित्य है। जिस प्रकार, जैनदर्शन के अभिमत परिणामवाद के अनुसार, जैसा कि ऊपर कहा गया है, वस्तु की जाति नित्य है तथा उसके परिणाम अनित्य हैं, उसी प्रकार विवर्त्तवाद के अनुसार वस्तु के विवर्त्त स्वरूप में ही अन्तर देखे जा सकते हैं, वस्तु में कदापि नहीं। निदर्शन के लिए, जल के, वीचि एवं भँवर आदि अनेक विवर्त्तरूप उपलब्ध होने पर भी जल तत्त्व नष्ट नहीं होता। इस प्रकार वेदान्तदर्शन के, ब्रह्मविवर्त्तवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जैनदर्शन के उपर्युक्त नित्यत्ववाद का आधार सरलता से द्रष्टव्य है। किन्तु यहाँ, यह अवश्य स्वीकार्य है, कि जैनदर्शन के अनुसार नित्यत्व वेदान्तदर्शन के समान कूटस्थतासम्पन्न नहीं है, अपितु वस्तु का जाति से च्युत न होना ही नित्यत्व है। जैनदर्शन की औपनिषदवेदान्तसम्बन्धी पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में, यह तथ्य विचारणीय है, कि मुण्डक उपनिषद् में परावर (परापर) तत्त्व का साक्षात्कार होने पर अज्ञानरूप ग्रन्थि के भेदन की बात कही गई है।[4] इसी प्रकार

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शनम्, पृ० ४८।

२. ब्र.सू.शा.भा. उपोद्घात।

३. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं, सत्, तत्त्वार्थसूत्र, ५.२६।

४. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। मु. उ. २।२।८।

जैनदर्शन के अन्तर्गत भी महावीर को 'निगण्ठ' (निर्ग्रन्थि) अर्थात् अज्ञान ग्रन्थि से रहित कहा है। सांसारिक बन्धनों की मूल अज्ञान ग्रन्थियों के भेदन होने के कारण ही तीर्थंकर महावीर को यह उपाधि प्रदान की गई थी। और फिर, क्या सत् एवं असत् के वैलक्षण्य से सिद्ध अनिर्वचनीयतावाद के वैदिक विचार को जैनदर्शन के स्याद्वाद का सूत्रधार कहना समीचीन नहीं होगा।

जैनदर्शन की औपनिषद वेदान्तविषयक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में एक और तथ्य चिन्तनीय है, और वह यह, कि औपनिषद वेदान्त के अनुसार जीव स्वभावतः सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही है, और जब जीव के अविद्यात्मक कर्मों का उच्छेद हो जाता है, तो वह अपने शुद्ध चैतन्य भाव को प्राप्त करता है। जीव का यही स्वरूप जैनदर्शन के अन्तर्गत भी द्रष्टव्य है। जैनदर्शनानुरूप भी जीव चैतन्य है[1] तथा उसका चैतन्य स्वरूप कर्मावृत है। आवरणस्वरूप कर्मों की निवृत्ति होने पर, जैनदर्शन के अन्तर्गत भी जीव के चैतन्यबोध की बात कही गई है। साथ ही, औपनिषद वेदान्त के समान जीव का कर्त्तव्य एवं सुखदुःखादि भोक्तृत्व भी जैनदर्शन में अङ्गीकार्य है।

इस प्रकार यह कहने में सङ्कोचानुभव नहीं होना चाहिए, कि जैनदार्शनिक चिन्तनदृष्टि के मूलतया अवैदिक होते हुए भी, उसके मूल में किसी न किसी रूप में वैदिक एवं वेदान्त की चिन्तनधारा वर्त्तमान थी। यही बात जैन आचार पक्ष के सम्बन्ध में भी है, जिसका निरूपण नीचे किया जा रहा है।

औपनिषद वेदान्त के अनुसार सत् कर्म चित्त-शुद्धि के हेतु हैं–"आचारहीनान्न पुनन्ति वेदाः"। यह बात दूसरी है, कि तत्त्वज्ञान होने पर व्यक्ति "शुभाशुभपरित्यागी" हो जाता है। वेदान्त में नित्य-नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासना कर्मों को, स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है।[2] इस सम्बन्ध में, जहाँ तक, जैनदर्शन का सम्बन्ध है, वह भी 'सम्यक्चारित्र' के अन्तर्गत सत् कर्मों द्वारा आत्मशुद्धि को निःसंशय स्वीकार करता है। सम्यक्चारित्र्य जैनदर्शन द्वारा स्वीकृत "त्रिरत्न" (सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चरित्र) का ही अङ्गभूत है। जैन आचार पक्ष के प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य हैं। पार्श्वनाथ ने इनमें प्रथम चार पर विशेष बल दिया है, किन्तु महावीर ब्रह्मचर्य को भी समानरूप से आवश्यक मानते हैं। यदि विचार कर देखा जाए, तो जैनदर्शन के अभिमत, ये पञ्चमहाव्रत भी वैदिक ही हैं। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त पञ्चमहाव्रतों में प्रथम एवं प्रमुख अहिंसा के सम्बन्ध में, यह कहा जाएगा, कि मैत्रायणीसंहिता[3] में अग्नि की प्रार्थना करते हुए कहा गया है, हे अग्नि, अपनी देह से मेरी प्रजा को मत मारो (मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः)। ऋग्वेद[4] के अन्तर्गत भी स्पष्ट रूप से कहा

---

१. चैतन्यलक्षणो जीवः, षड्दर्शनसमुच्चय, का. ४६।
२. नित्य-नैमित्तिक-प्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गत-निखिल-कल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः.....। वेदान्तसार, ४।
३. मैत्रायणीसंहिता, २.७.१०।
४. अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे। ऋग्वेद ५.६४.३।

गया है, कि "अहिंसक मित्र का प्रिय सुख हमें गृह में प्राप्त होवे। इसी प्रकार यजुर्वेद का यह कथन मैं सभी प्राणियों को मित्र के समान देखूँ "मित्रस्य चक्षुषा..."[1] भी अहिंसा सिद्धान्त का समर्थक है। जहाँ तक, वेदान्तदर्शन की आधारस्वरूप उपनिषदों का प्रश्न है, छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत स्पष्टरूप से अहिंसा का उल्लेख मिलता है।[2] इसी प्रकार आरुणेय उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा अपरिग्रह का स्पष्ट वर्णन मिलता है।[3] अपरिग्रह का उल्लेख जाबालोपनिषद् में भी उपलब्ध है।[4] जैनदर्शन के पञ्चमहाव्रतों में सत्यव्रत का तो कहना ही क्या, वेदों तथा उपनिषदों में सत्य का निरूपण अनेकानेक स्थलों पर हुआ है।[5] इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् के अन्तर्गत 'स्तेय' का व्यवहार निन्दनीय कर्म के अर्थ में किया गया है।[6] कौशीतकि उपनिषद् में भी 'स्तेय' शब्द का प्रयोग मिलता है।[6]

उपर्युक्त, संहितावर्त्ती एवं औपनिषद साक्षात् आचारविषयक सूत्रों से यह सुविदित है, कि जैन-दर्शन के आचारमूलक सिद्धान्तों की प्रत्यक्ष आधारभूमि वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत प्राप्त है। किन्तु यह भी स्वीकार्य है, कि आचारपक्ष की जितनी महत्ता जैनदर्शन के अन्तर्गत प्रदान की गई है, वैसी किसी अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय में नहीं।

उपर्युक्त विचारसूत्रों से यह सुस्पष्ट है, कि जैनदर्शन की दार्शनिक एवं आचारविषयक चिन्तनदृष्टि वैदिक दर्शन एवं आचार से विच्छिन्न न होकर उसी का साम्प्रदायिक रूप है, जिसे जैन धर्म एवं दर्शन के आचार्यों ने उपनिषदों की ज्ञानप्रचुरविचारधारा की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, युगानुरूप आचारबहुल चिन्तनधारा के रूप में प्रस्तुत किया था। सम्प्रदायों, आचार्यों एवं जैनदर्शन के सिद्धान्तों आदि के सम्बन्ध में सम्प्रति विचार करना उपयुक्त है।

जैनदार्शनिक एवं सम्प्रदाय

जैनधर्म-दर्शन की प्राचीनता–यों तो, श्रद्धालु एवं परम्परावादी जैनों के अनुसार जैन धर्म को अनादि स्वीकार करते हुए, इस मान्यता का समर्थन किया गया है, कि सृष्टि के आरम्भ में सदैव अनेक

---

१. यजुर्वेद, ३६।१८।

२. यत्तपोदानमार्जवमहिंसा, छा. उ. ३.१७.४, २०।

३. ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च। आरुणेयोपनिषद्।

४. मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिः। जाबालोपनिषद्; ५।

५. सत्यं सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य सत्यस्य सर्वाणि मधु। बृ. उ. २।५।१२।
 ते देवा सत्यमेवोपासते, बृ. उ. ५.५.१।
 सत्यं वद धर्मं चर, तै. उ. १।११।१।
 सत्यमुत्तरः पक्षः, तै. उ. २।४।१।
 श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च, मु. उ. २।७।१, सत्यमेव जयते नानृतम्, मु. उ. ३।१।६।

६. न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया। कौ. उ. ३-६।

तीर्थङ्करों द्वारा जैनधर्म के उपदेश प्रदान करने की प्रथा रही है, किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से महावीर (ई. पू. छठीं शताब्दी) तथा पार्श्वनाथ (ई. पू. आठवी शताब्दी) से जैन धर्म-दर्शन का प्रवर्त्तन प्रायः स्वीकार किया जाता है। इन दोनों में भी पार्श्वनाथ को ही जैनधर्म का प्रथम प्रवर्त्तक मानना संगत होगा, क्योंकि ये तेईसवें तीर्थङ्कर थे। जैनधर्म के श्रद्धालुओं की एक और मान्यता है कि जैनधर्म के प्रथम प्रवर्त्तक ऋषभदेव थे, जिनका काल करोड़ों वर्ष पूर्व माना जाता है। जैनधर्म के उद्‌गम के सम्बन्ध में एक और दार्शनिक, अरिष्टनेमि का भी उल्लेख मिलता है, जिनके बारे में कहा जाता है, कि ये महावीर से चौरासी हज़ार वर्ष पूर्व स्थित थे। किन्तु, प्रामाणिकता की दृष्टि से पार्श्वनाथ को ही जैन धर्म का प्रथम प्रवर्त्तक मानना समुचित होगा।

पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। इनका जन्म (८०० ई.) काशी में हुआ था। इनकी माता का नाम महारानी मायादेवी था, तथा इनके पिता काशी के राजा अश्वसेन थे। कहते हैं, इनकी माता ने अपनी बगल में एक कृष्ण सर्प को, इनके जन्म के पहले, रेंगते हुए देखा था। यही कारण था कि इनका नाम पार्श्वनाथ रखा गया। पार्श्वनाथ ने लगभग तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन के आनन्द का अनुभव किया। इसके पश्चात् ये सुखमय जीवन को त्याग कर भिक्षु हो गए, तथा इन्होंने घोर तपश्चर्या के फलस्वरूप कैवल्यानन्द का अनुभव किया। पार्श्वनाथ ने जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए सत्तर वर्ष की आयु में "समेत शिखा" पर निर्वाण प्राप्त किया। जैनधर्म द्वारा स्वीकृत पञ्चमहाव्रतों–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में इनका मत महावीर से इस दृष्टि से भिन्न है, कि ये उपर्युक्त महाव्रतों में प्रथम चार को ही अपेक्षित समझते थे, ब्रह्मचर्य को नहीं। महावीर उपर्युक्त पाँचों व्रतों को आवश्यक मानते थे। दोनों की विचार दृष्टि का यह अन्तर भी द्रष्टव्य है, कि पार्श्वनाथ महावीर के समान जैनधर्मानुयायियों के दिगम्बर होने के पक्षपाती नहीं थे। इस प्रकार यह कथन समुचित होगा, कि महावीर के समान पार्श्वनाथ जैनधर्म में कठोरता के समर्थक नहीं थे।

वर्धमान महावीर

महावीर जैनधर्म के २४ वें तीर्थङ्कर हैं। तीर्थङ्कर का अर्थ तीर्थ अर्थात् घाट का निर्माण करता है। जिस प्रकार तीर्थ का घाट प्राणियों का उद्धार करता है, उसी प्रकार जैन तीर्थङ्कर भी शरणागत प्राणियों का उद्धार किया करते थे। इनका वास्तविक नाम वर्धमान था। किन्तु रागद्वेषादि एवं कामादि शत्रुओं को जीत लेने के कारण वर्धमान "जिन" (जेता) एवं "महावीर" के नाम से प्रख्यात हुए। जैन भिक्षुओं को ईश्वर के समकक्ष स्थान देते हुए उन्हें 'अर्हत्' भी कहा गया।[1] अत एव 'अर्हत्' अर्थात् जैनों

---

१. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हत्परमेश्वरः।। सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. ६।

द्वारा प्रचारित होने के कारण जैनधर्म को 'आर्हत' कहा गया। महावीर का जन्म बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के ग्राम, असाढ़-वैशाली में, 'ज्ञातक' नामक क्षत्रिय वंश में ई.पू.५८८ में हुआ था। इनकी माता का नाम त्रिशला तथा पिता का नाम सिद्धार्थ था। अपने कुल (ज्ञातक) के आधार पर इन्हें पाली भाषा में नातपुत्त अर्थात् ज्ञातिपुत्र भी कहा जाता था। श्वेताम्बरों के अनुसार इनका विवाह यशोदा देवी के साथ सम्पन्न हुआ। किन्तु दिगम्बरों को यह स्वीकार नहीं है। जैन परिवार में जन्म लेने के कारण महावीर में संसार के प्रति वितृष्णा का भाव आरम्भ से ही था। किन्तु, फिर भी, माता-पिता के दिवङ्गत होने के पश्चात् ही, अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर इन्होंने ३० वर्ष की आयु में गृहत्याग किया, और ये जैन भिक्षु हो गए। इसके पश्चात् महावीर ने ऋजुकूला नदी के तट पर १३ वर्ष तक घोर-कठोर तपस्या की, तथा 'कैवल्य'लाभ किया, तथा ये 'केवली' कहलाए। इन्होंने जैनधर्म की शिक्षा-दीक्षा सर्वप्रथम अपने शिष्य इन्द्रभूति को प्रदान की थी, जो बाद में गोतम के नाम से प्रसिद्ध हुए। महावीर ने बयालीस वर्ष तक जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए पञ्चमहाव्रतों-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह पर विशेष बल दिया था। ये तत्कालीन राज्यों, अंग, मगध और कौशाम्बी में भी गए, और वहाँ जाकर लोगों को जैनधर्म के उपदेश दिए। किन्तु महावीर के उपदेशों का प्रधान स्थान मगध की तत्कालीन राजधानी 'राजगिरि' था। इनके उपदेशों का माध्यम अर्धमागधी थी। अर्धमागधी के द्वारा ही, इन्होंने उत्तर भारत में जैन धर्म-दर्शन का प्रचार-प्रसार किया। इस प्रकार ६२ वर्ष की आयु में महावीर ने 'पावापुरी' में निर्वाण को प्राप्त किया।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव, देखा जाय, तो उसी समय हो गया था, जब पार्श्वनाथ वस्त्र पहनने के पक्षपाती थे और महावीर दिगम्बर रहने का समर्थन करते थे। महावीर ने जैनधर्म एवं सिद्धान्तों के प्रचारार्थ संघ की स्थापना की थी, जिसमें स्त्री एवं पुरुष सभी सम्मिलित थे। महावीर के निर्वाण के दो सौ वर्ष बाद तक महावीर द्वारा स्थापित संघ का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा। ई. पू. ३१७ में संघ के सञ्चालन का कार्य जैन साधु भद्रबाहु के हाथों में आया। किन्तु इसके सात वर्ष पश्चात् ई. पू. ३१० में मगध में भयङ्कर अकाल पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप भद्रबाहु अपने अनेक शिष्यों के साथ दक्षिण की ओर चले गए, तथा संघ का भार, स्थूलभद्र को सौंप गए। स्वाभाविक था, भद्रबाहु को पैदल यात्रा के कारण आने जाने में बहुत समय लग गया। परिणामतः, इस बीच में स्थूलभद्र ने संघ की बृहत् सभा बुलाकर जैनधर्म की समस्याओं के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया। इस सभा में महावीर की परम्परा के विपरीत श्वेत वस्त्र धारण करने का भी निर्णय किया गया था। इतना ही नहीं, स्थूलभद्र ने भद्रबाहु की अनुपस्थिति में जैनागमों का नवीन संग्रह भी आरम्भ कर दिया। जब भद्रबाहु दक्षिण की यात्रा से लौटकर आए तो उनसे यह न सहा गया, तथा वे क्षुब्ध होकर अपने अनेक शिष्यों के साथ मगध को छोड़कर चले गए। इसी समय श्वेताम्बर एवं दिगम्बर का स्पष्ट विभाजन हुआ। जो भद्रबाहु के साथ चले गए, वे दिगम्बर कहलाए, क्योंकि वे महावीर के अनुयायी होने के कारण, वस्त्र नहीं धारण करते थे। इसके अतिरिक्त जो स्थूलभद्र के साथ मगध में ही रह गए, वे श्वेताम्बर कहलाए, क्योंकि उन्होंने भद्रबाहु की अनुपस्थिति में श्वेत वस्त्र धारण करने का निर्णय ले लिया था।

यहाँ यह कहना होगा, कि इन दोनों सम्प्रदायों में दिगम्बर होने, न होने का भेद तो था, किन्तु वैचारिक दृष्टि प्रायः समान ही थी, जैसा कि नीचे स्पष्ट हो जाएगा।

१. दिगम्वरों के अनुसार स्त्री तीर्थङ्कर नहीं हो सकती, अतः वे उन्नीसवें तीर्थङ्कर मल्ली को पुरुष ही मानते थे, किन्तु इसके विपरीत श्वेताम्बरों का मानना है कि उन्नीसवीं तीर्थङ्कर मल्ली स्त्री थी। दिगम्बरों का यह भी मानना था, कि स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हो सकती।[1] इसके विपरीत श्वेताम्वरों का कहना था, कि 'सम्यक्ज्ञान' के द्वारा स्त्रियों को भी मोक्षलाभ सम्भव है।

२. दिगम्वर इस तथ्य का समर्थन करते थे, कि जैन साधु कैवल्यज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् खाना छोड़ देते हैं, परन्तु इसके विपरीत श्वेताम्बरों को यह स्वीकार्य नहीं था।

३. दिगम्वरों और श्वेताम्वरों का, जैसा कि ऊपर भी कहा गया है, यह प्रधान भेद था, कि दिगम्बर वस्त्र धारण करने के विरोधी थे, जब कि श्वेताम्बर, श्वेतवस्त्र धारण करने के पक्षपाती थे।

४. दिगम्बर, क्योंकि वस्त्र धारण करने के विरोधी थे, अतः वे तीर्थङ्करों की मूर्त्तियों को भी वस्त्र पहनाना उचित नहीं मानते थे, जबकि श्वेताम्वरों को यह स्वीकार्य नहीं था।

५. प्रसिद्ध जैन दार्शनिक, उमास्वामी (दिगम्बरों के अनुसार) को श्वेताम्बर उमास्वामी नाम देते थे। उमास्वामी ने तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र की रचना की थी।

६. जैसा कि, ऊपर संकेत किया गया है, महावीर द्वारा स्थापित संघ के अध्यक्ष भद्रवाहु की अनुपस्थिति में स्थूलभद्र ने नये सिरे से अनेक आगमग्रन्थों का संग्रह किया था, किन्तु यह मत दिगम्वरों को स्वीकार नहीं है। उनका कहना है, कि उसके पूर्व ही 'पुव्वों' तथा 'अंगों' (धार्मिक ग्रन्थों) का विनाश हो चुका था। श्वेताम्बर यह नहीं मानते थे। दिगम्बर तथा श्वेताम्बरसम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थों के नाम में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। दिगम्बरों का विचार है, कि सिद्धसेन दिवाकर ने राजा विक्रमादित्य (१८६-२६१ ई.) को जैन धर्म की दीक्षा दी थी। इसके विपरीत श्वेताम्बर सम्प्रदाय, यह मानता है, कि दीक्षा का समय ई. पू. ५६ था। दिगम्बर सम्प्रदाय का विश्वास है, कि जिन्होंने कैवल्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनमें 'ज्ञान' एवं 'दर्शन' दोनों एक साथ अभिव्यक्त होते हैं, किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय इनका क्रमिक विकास मानता है।

१०. दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु एकान्तवास करते हैं, किन्तु श्वेताम्वरसम्प्रदायानुयायी एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते रहते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि दिगम्बर सम्प्रदाय के, कालान्तर में अनेक भेद-विभेद उत्पन्न

---

१. भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह।। जिनदत्तसूरि।

हो गए थे। उदाहरणार्थ, जब महावीर तथा भद्रबाहु के द्वारा आरब्ध दिगम्बर सम्प्रदाय, ८२ ई. में श्वेताम्बर सम्प्रदाय से भिन्न हो गया, तो दिगम्बर सम्प्रदाय के, कारणसंघ, मूलसङ्घ, माथुरसङ्घ तथा गोप्यसङ्घ, ये चार मुख्य विभाग हुए। इनमें गोप्य संघ एक समन्वयवादी संघ था। इसके कुछ सिद्धान्त यदि दिगम्बर सम्प्रदाय को अभीष्ट थे, तो कुछ श्वेताम्बर सम्प्रदाय को अभीष्ट थे। जैसे, गोप्यसङ्घ के साधु, हाथ में रखकर भोजन किया करते थे। ये सब बातें दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुरूप थीं। इसके साथ ही, गोप्यसंघी यह भी मानते थे, कि स्त्रियाँ भी मोक्ष की अधिकारिणी हैं, तथा केवल जैन मुनि ही भोजन करते हैं। ये दोनों बातें श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुरूप थीं। इस प्रकार दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय का मतभेद अद्यावधि चला आ रहा है।

जैन-आगमसाहित्य

जैनधर्म के अन्तर्गत मूल ग्रन्थ "आगम" है। जैनधर्म ही नहीं, शैव एवं वैष्णव धर्म के अन्तर्गत भी आगम साहित्य वर्तमान है। आगम किसी एक समय की रचना नहीं होते, अपितु इनकी रचना बहुत कुछ श्रुत परम्परा के आधार पर होती है।

जैनागमों के सम्बन्ध में भी 'आगम' का उपर्युक्त स्वरूप प्राप्त है। जैन संघ की मुख्य दो परम्परायें हैं– एक अचेलक परम्परा तथा दूसरी सचेलक परम्परा। अचेलक परम्परा से दिगम्बर परम्परा का अभिप्राय है, तथा सचेलक परम्परा से श्वेताम्बर परम्परा का।[1] दोनों ही परम्पराएँ यह स्वीकार करती हैं, कि आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा दुष्काल आदि के कारण स्थिर न रह सकी।

परिणामतः आगमों के वाचनाभेद–पाठभेद होते गए। सचेलक परम्परा द्वारा जब आगमों को पुस्तकबद्ध किया गया, तो श्रमणसंघ ने इकट्ठा होकर जो माथुरी वाचना (पाठ) रखी, वह ग्रन्थबद्ध की गई। साथ ही, उपर्युक्त वाचनाभेद भी लिखे गए। अचेलक परम्परा के आचार्यों ने, जिनमें धरसेन, यतिवृषभ, कुंदकुंद एवं भट्ट अकलंक प्रमुख थे, उक्त पुस्तकबद्ध आगमों एवं इनके पूर्ववर्त्ती उपलब्ध आगमों के आधार पर नवीन जैन साहित्य का प्रणयन किया।

वस्तुतः, आगम भगवान् महावीर की वाणी रूप हैं, जिनका संकलन पश्चाद्वर्त्ती गणधरों ने अर्धमागधी प्राकृत में श्रुतपरम्परा के आधार पर किया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि श्वेताम्बर सम्प्रदायी स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में, एक सभा में आगमों का जो संकलन किया था, वह सर्वमान्य नहीं हो सका था। अत एव गुजरात के वलभी नगर में आचार्य देवार्धगणि की अध्यक्षता में एक सभा ८५८, ई. में बुलायी गई थी। किन्तु, इस सभा में भी सर्वसम्मति से कोई निर्णय नहीं हो सका। फिर भी,

---

१. देखें, बेचरदास दोषी, जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, पृ० ३५ (पार्श्वनाथ शोधसंस्थान, वाराणसी, १९६६)।
संस्कृत चैल शब्द का अर्थ वस्त्र है, अतः वस्त्र न धारण करने वाले दिगंबर तथा वस्त्र धारण करने वाले श्वेताम्बर कहलाए।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार अंग, पूर्व (पुव्व), छेदसूत्र, मूलसूत्र एवं चूलिकसूत्र, इन पाँच आगम-ग्रन्थों का संकलन किया गया। इनके सम्बन्ध में, यत्किञ्चित् निरूपण अपेक्षित है।

१. **अंग**–अंगों का एक बाह्य रूप है और दूसरा अन्तरंग। बाह्यरूप के अन्तर्गत अंगों का परिमाण अथवा पद परिमाण आता है, तथा अन्तरंग रूप के अन्तर्गत अंगों के विषयादि का विवेचन गृहीत है। अंगों की संख्या द्वादश है। ये द्वादश अंग, आचारांग सूत्र, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती-सूत्र, ज्ञातधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद् दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत तथा दृष्टिवाद हैं।

२. **पूर्व (पुव्व)**–आगम ग्रन्थों के पूर्ववर्त्ती होने के कारण, इन्हें पूर्व कहा जाता है। ये संख्या में चौदह हैं, तथा इनका उल्लेख दृष्टिवाद नामक 'अंग' ग्रन्थ के अन्तर्गत उपलब्ध है। ये चौदह पूर्व ग्रन्थ, उत्पाद, अग्राणीय, वीर्यप्रवाह, अस्ति-नास्तिप्रवाह, ज्ञान-प्रवाह, सत्यप्रवाह, आत्मप्रवाह, कर्मप्रवाह, प्रत्याख्यानप्रवाह, विद्यानुप्रवाह, अवन्ध्य, प्राणायु, क्रियाविशाल तथा लोकबिन्दुसार हैं। ये ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं।

उपर्युक्त पूर्वों के १२ प्रसंग तथा १० प्रकीर्णों का भी उल्लेख मिलता है। बारह उपांग ग्रन्थ, औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिराम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निर्यावलिका, कल्याव तांसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका तथा वृष्णिदशा हैं। प्रकीर्णग्रन्थ, चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्त-परिज्ञा, संस्तार, तण्डुलवैतालिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणितविद्या, महाप्रत्याख्यान तथा वीरस्तव हैं।

३. **छेदसूत्र**–छेदसूत्र आगम ग्रन्थ के अन्तर्गत निशीथसूत्र, महानिशीथसूत्र, व्यवहारसूत्र, आचारदशा, बृहत्कल्प तथा पञ्चकल्प आते हैं।

४. **मूलसूत्र**–मूलसूत्र नामक आगम में उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक, दशवैकालिक तथा पिण्डनिर्युक्ति गृहीत हैं।

५. **चूलिकसूत्र**–चूलिकसूत्र आगम के अन्तर्गत नन्दी सूत्र तथा अनुयोगोद्धारसूत्र गृहीतव्य हैं।

जैनदार्शनिक आचार्य और उनके ग्रन्थ

जिन जैन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रवर्त्तन उपर्युक्त आगम ग्रन्थों के द्वारा सम्पन्न हो चुका था, उनका विस्तृत निरूपण एवं विवेचन जैनदर्शन के आचार्यों के द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस स्थल पर जैनदर्शन के इन आचार्यों तथा उनकी महत्त्वपूर्ण देन के सम्बन्ध में विचार करना समीचीन होगा।

कुन्दकुन्द

कुन्दकुन्दाचार्य का स्थितिकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है।[1] ये द्रविड देश के

---

१. ए. एन. उपाध्ये, प्रवचनसार की भूमिका, पृ. २२।

प्रख्यात आचार्य थे। ये, जैनाचार्य उमास्वाति के समसामयिक थे। कुन्दकुन्द का द्रविड़ नाम 'कुण्डाकुण्ड' था। कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा लिखित ग्रन्थों में ८६ पाहुड़ों (प्राभृतों) का विशेष महत्त्व है। इसके अतिरिक्त इनके चार ग्रन्थ, नियमसार, पञ्चास्तिकायसार, समयसार एवं प्रवचनसार जैनागम के नितान्त प्रमुख ग्रन्थ हैं। जैन साहित्य में, ये ग्रन्थ अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण समझे जाते हैं। उक्त चार ग्रन्थों में से, अन्तिम तीन ग्रन्थ "नाटकत्रयी" के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैनदर्शन में, इस 'नाटकत्रयी' का वही महत्त्व है, जो वेदान्त दर्शन में प्रस्थानत्रयी–उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का है। यहाँ यह कहना और अपेक्षित है, कि कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के मान्य थे।

उमास्वाति

दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी, इन्हें उमास्वामी कहते थे। उमास्वाति ने कुसुमपुर में रहकर अपने प्रमुख ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र अथवा तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की रचना की थी। तत्त्वार्थसूत्र का महत्त्व इसी से जाना जा सकता है, कि इस ग्रन्थ के ऊपर वृत्ति, भाष्य एवं अनेक टीकाओं की रचना की गई थी। निदर्शनार्थ, देवनन्दि की 'सर्वार्थ-सिद्धि', दिगम्बरों के अनुसार समन्तभद्र का, श्वेताम्बरों के अनुसार सिद्धसेन-दिवाकर का, तथा ऐतिहासिक आलोचना के अनुसार सिद्धसेनगणि का 'गन्धहीनभाष्य', भट्ट अकलंक का 'राजवार्त्तिक', विद्यानन्दि का श्लोकवार्त्तिक तत्त्वार्थसूत्र के प्रामाणिक एवं प्रधान भाष्य तथा वृत्तियाँ हैं।[१] यह भी उल्लेखनीय है, कि स्वयं उमास्वाति ने भी तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्य का प्रणयन किया था। इससे उमास्वाति एवं उनके ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' का महत्त्व स्वतः स्पष्ट है।

समन्तभद्र

जहाँ तक समन्तभद्र के काल का सम्बन्ध है, इनका समय तृतीय अथवा चतुर्थ विक्रम शतक निर्धारित किया जा सकता है। इसमें अन्तःसाक्ष्य हेतु है। देवनन्दि ने, जिनका समय षष्ठ शतक (विक्रम) है, अपने जैनेन्द्रव्याकरण में, 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' (५. ८. १६८) कहकर समन्तभद्र के मत का उल्लेख किया है। इससे निश्चित होता है, कि समन्तभद्र देवनन्दि से पूर्ववर्त्ती थे। इसके अतिरिक्त देवनन्दि ने उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर जो 'सर्वार्थसिद्धि' की रचना की है, उस पर भी समन्तभद्र के सिद्धान्तों का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः समन्तभद्र का समय देवनन्दि से पूर्व विक्रम का तृतीय या चतुर्थ शतक माना जा सकता है।

समन्तभद्र के चार ग्रन्थ आत्ममीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयंभूस्तोत्र तथा जिनस्तुतिशतक प्रमुख हैं। जिनस्तुतिशतक को स्तुतिविद्या, जिनशतक तथा जिनशतकालङ्कार भी कहते हैं। इनमें आत्ममीमांसा अत्यन्त प्रमुख है। इसे देवागम स्तोत्र भी कहते हैं। इस पर अकलंक ने अष्टशती तथा विद्यानन्द ने 'अष्टसाहस्री' व्याख्या लिखी है। इसके अन्तर्गत समन्तभद्र ने चौंसठ पद्यों में स्वमत तथा परमत के गुण-दोषों का सूत्ररूप में संक्षेपतः आकलन किया है। स्वयंभू स्तोत्र के अन्तर्गत, जिसे समन्तभद्रस्तोत्र भी कहते हैं, १४३ पद्यों में चौबीस तीर्थङ्करों के धर्म का प्रतिपादन किया गया है। 'स्तुतिविद्या' अथवा

१. विशेष देखिए, प० सुखलाल जी की तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका, पृ० ३६।

'जिनस्तुतिशतक' भक्तिरस से परिपूर्ण ११६ पद्यों का ग्रन्थ है। यह उत्कृष्ट कोटि का चित्रकाव्य होने के कारण पाठकों के लिए, दुरूह हो गया है। धर्मशास्त्रानुगत आचार की दृष्टि से प्रमुख, समन्तभद्ररचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार्य' भी उल्लेख योग्य है, जिसके अन्तर्गत सागरमार्ग का निरूपण वर्त्तमान है।

सिद्धसेन दिवाकर

सिद्धसेन दिवाकर का स्थितिकाल पंचम शताब्दी माना जाता है। इनके गुरु 'वृद्धवादी' थे, तथा इनकी प्रमुख रचनायें- न्यायावतार, सन्मतितर्क तथा तत्त्वार्थ-कल्याणमन्दिरस्तोत्र हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक द्वात्रिंशिकाएँ भी लिखी हैं। इनका न्यायावतार जैनन्याय का ग्रन्थ है, जिस पर सिद्धर्षि ने दशम शतक में, टीका लिखी थी। इनके द्वारा रचित सन्मतितर्क पर भी अभयदेव सूरि ने विस्तृत व्याख्या का प्रणयन किया था।

हरिभद्र

इनका स्थितिकाल अष्टम शताब्दी है। इनके द्वारा रचित षड्दर्शनसमुच्चय अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इन्होंने संस्कृत तथा प्राकृत दोनों ही भाषाओं में, जैनधर्म एवं दर्शन पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। हरिभद्ररचित 'दशवैकालिकनिर्युक्तिटीका', 'न्यायप्रवेशसूत्र' तथा 'न्यायावतार-वृत्ति' भी अत्यन्त प्रख्यात ग्रन्थ हैं।

अकलंकदेव

इन्हें अकलंक भी कहते थे। इनका स्थितिकाल अष्टम शताब्दी है। इनके द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्र पर 'राजवार्त्तिक' तथा आप्तमीमांसा पर 'अष्टशती' प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त अकलंक-देवरचित तीन अन्य ग्रन्थ, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय तथा प्रमाणसंग्रह हैं। इन तीनों ग्रन्थों का विषय जैन-न्याय है। ये दिगम्बर परम्परा के प्रधानाचार्य हैं।

विद्यानन्द

विद्यानन्द का स्थितिकाल नवम शताब्दी है। इन्होंने मीमांसक कुमारिल का अनुकरण करते हुए, अष्टशती पर अष्टसाहस्री तथा तत्त्वार्थसूत्र पर श्लोकवार्तिक की रचना की थी। अकलंक भट्ट की तरह विद्यानन्द का जैनदर्शन की प्रतिष्ठा में महान् योगदान है। विद्यानन्द ने शान्तरक्षित द्वारा जैन दर्शन में प्रस्तुत विचारपरम्परा की समीक्षा का आरम्भ किया था।

वादिराजसूरि

ये दक्षिण के सोलंकी वंश के राजा जयसिंह प्रथम के समकालीन थे। ये कवि एवं जैन-न्याय के पण्डित के रूप में विशेष रूप से प्रख्यात थे। इनका स्थितिकाल ११वीं शताब्दी है। इनके द्वारा रचित, न्यायविनिश्चयविवरण, जो अकलंक के न्यायविनिश्चय का भाष्य है, इनकी प्रमुख कृति है। यशोधरा के जैन आख्यान पर वादिराजसूरि द्वारा रचित 'यशोधरचरित' नामक, चार सर्ग का एक लघुकाव्य भी प्रख्यात है। इन्हें षट्तर्कषण्मुख तथा विद्यापति आदि अनेक उपाधियाँ प्रदान की गई थीं।

देवसूरि (१२वीं शताब्दी)

ये भी जैन-न्याय के पंडित थे। इन्होंने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार' तथा इस पर 'स्याद्वादरत्नाकर' की रचना की थी।

हेमचन्द्र (१२वीं शताब्दी)

इन्होंने जैनन्याय के ग्रन्थों तथा अनेक काव्यादि की रचना की थी। जैनन्याय के क्षेत्र में, इनके द्वारा रचित 'प्रमाणमीमांसा' की एक वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठा है। इनकी बहुज्ञता के कारण इन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि प्रदान की गई थी।

मल्लिषेणसूरि (१३वीं शताब्दी)

इन्होंने हेमचन्द्ररचित 'अन्ययोगव्यवच्छेद' 'द्वात्रिंशिका' की विस्तृत टीका के रूप में 'स्याद्वादमञ्जरी' की रचना की थी। स्याद्वादमञ्जरी के अन्तर्गत ब्राह्मणदर्शन, बौद्धदर्शन तथा चार्वाकदर्शन की समालोचना प्रस्तुत करते हुए, जैनधर्म के सिद्धान्तों का सप्रमाण विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

गुणरत्न (१४०० ई.)

गुणरत्न ने हरिभद्रसूरिरचित षड्दर्शनसमुच्चय की विस्तृत व्याख्या की है।

यशोविजय (१६वीं शताब्दी)

इनके द्वारा रचित 'जैनतर्कभाषा' जैन-न्याय का एक सरल ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत, गुजराती, प्राकृत एवं हिन्दी में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। जैनदर्शन के उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त जैनतर्कवार्त्तिक (शान्त्याचार्य की टीकासहित), नेमिचन्द्रकृत द्रव्यसंग्रह (११५० ई.), अनन्तवीर्यकृत परीक्षामुखसूत्रलघुवृत्ति (१०३० ई.) तथा प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (८२५ ई.) भी जैनदर्शन के उपयोगी ग्रन्थ हैं।

तत्त्वमीमांसा

जैन-दर्शन के अन्तर्गत विविध तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संकर, निर्जरा तथा मोक्ष, इन सप्त तत्त्वों का अन्वेषण किया है। यहाँ, इन तत्त्वों के सम्बन्ध में विवेचन अपेक्षित है।

१. जीव

जैन-दर्शन में, जीव को द्रव्य भी स्वीकार किया गया है। वेदान्तदर्शन की तरह, जैनदर्शन में भी जीव, आत्मा एवं चेतन स्वरूप है। इसके साथ ही जीव प्राणी भी कहा जाता है। मूलतया जीव के

अन्तर्गत विशुद्ध ज्ञान स्थित है, किन्तु कर्म के प्रभाव के कारण संसारदशा में जीव का स्वाभाविक एवं विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप आच्छादित रहता है। संसारी जीव 'औपशमिक', 'क्षायिक', 'क्षायोपशमिक', 'औदयिक' तथा पारिणामिक भाव से युक्त होता है, तथा इन्हीं के कारण जीव का विशुद्ध रूप आवृत्त हो जाता है। जब व्यक्ति को सम्यग्ज्ञान हो जाता है, तो वह अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है।

जीव अमूर्त्त तथा कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्वसम्पन्न है। जैनदर्शन के अनुसार जीव अपने स्थूल शरीर के आकार वाला है। उदाहरणार्थ, हाथी के शरीर में स्थित जीव हाथी के शरीर वाला है एवं चींटी के शरीर में स्थित जीव चींटी के आकार का है। अत एव जैनदर्शन का जीव संकोच एवं विकास की क्रिया से युक्त है। अरूप होने के कारण जीव की अदृश्यता है। जैसा कि, ऊपर भी संकेत किया गया है, अविद्या के कारण, कर्म जीव में प्रवेश करता है, तथा इसी कर्म के कारण जीव का बन्धन होता है।

जैनदर्शन के अनुसार जीव द्रव्य भी है। इसीलिए अन्य द्रव्यों के समान जीव में 'प्रदेश' भी हैं, तथा इन प्रदेशों को 'पर्याय' कहते हैं। जीव के नित्यपरिणामी होने के कारण, इसमें प्रतिक्षण परिणाम होते रहते हैं, किन्तु जीव का 'ध्रौव्य' रूप परिणमित नहीं होता। इस तथ्य का निरूपण, हम जैन चिन्तन-दृष्टि का निरूपण करते समय आरम्भ में ही कर चुके हैं। प्रधान रूप से जीव के दो मुख्य गुण हैं–एक चेतना और दूसरा 'उपयोग'। उपयोग के दो भेद हैं एक ज्ञानोपयोग तथा दूसरा दर्शनोपयोग। इनमें ज्ञानोपयोग, सविकल्पक तथा दर्शनोपयोग निर्विकल्पक ज्ञान के अन्तर्गत आता है। सविकल्पक ज्ञान के जैनदर्शन में आठ भेद हैं। ये आठ भेद, जीव में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय एवं केवल तथा कुमति, कुश्रुत तथा विभङ्गावधि (तीन विपर्यय) हैं। इनमें 'केवल ज्ञान' को 'क्षायिक' भी कहते हैं, और यह इसलिए कि 'केवल ज्ञान' कर्मों के क्षय होने पर उदित होता है। औपनिषद वेदान्त में भी 'परावर' तत्त्व का साक्षात्कार होने पर कर्मक्षय का प्रतिपादन किया गया है।[1]

सामान्यतः, बद्ध एवं मुक्त के भेद से जीव के दो भेद हैं। बद्ध या संसारी जीव जंगम (त्रस) तथा स्थावर के रूप में दो प्रकार का है। स्थावर जीव एकमात्र त्वक् इन्द्रिय सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा वनस्पति, ये सब स्थावर जीव हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य, पशु, पक्षी, देव एवं नारकीय जीव 'त्रस' अथवा जंगम जीव हैं। जंगम जीवों में उक्त स्थावर जीवों के विपरीत पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। ये जीव 'पृथिवीकाय', 'अप्काय' (जलकाय), 'वायुकाय' तथा 'तेजःकाय' के रूप में भी जैन-दर्शन में वर्णित हैं। पत्थर 'पृथिवीकाय' जीवों के अन्तर्गत आते हैं, तथा 'सेवार' (जो जल में उत्पन्न होने वाली घास है) 'अप्काय' जीवों की कोटि में आती हैं।

२. अजीव तत्त्व

अजीव तत्त्व के पाँच भेद हैं–धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल तथा काल। प्रथम चार अजीव तत्त्वों में अनेक 'प्रदेश' होते हैं, अतः इन्हें 'अस्तिकाय' कहते हैं। पाँचवें अजीव तत्त्व 'काल' में क्योंकि एक ही प्रदेश है, अतः वह 'अस्तिकाय' नहीं है।

---

१. क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। मु. उ. २।२।८।

सभी अजीव तत्त्व द्रव्य हैं। उपर्युक्त पाँच अजीव द्रव्यों में, केवल पुद्गल को छोड़कर सभी में रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श वर्त्तमान नहीं हैं। किन्तु पुद्गल में, रूपादि वर्त्तमान है। यहाँ, यह उल्लेखनीय है, कि धर्म, अधर्म तथा आकाश एकल हैं, किन्तु पुद्गल तथा जीव प्रत्येक अनेक हैं। इसके अतिरिक्त धर्म, अधर्म तथा आकाश में क्रिया नहीं है, जबकि पुद्गल तथा जीवों में क्रिया है। किन्तु 'काल' में क्रिया नहीं है, अतः इसके एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

धर्म, अधर्म तथा जीव के असंख्य प्रदेश हैं, तथा 'आकाश' में अनन्त प्रदेश हैं। 'अणु' प्रदेश-रहित है, अत एव यह अनादि, अमध्य तथा 'अप्रदेश' कहा जाता है। ये द्रव्यलोक में अबाधित रूप से भ्रमण करते रहते हैं।

यहाँ धर्मादि चार अस्तिकायों तथा 'काल' के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विचार करना समीचीन होगा।

धर्मास्तिकाय

यद्यपि धर्मास्तिकाय स्वतः अक्रियाशील है, किन्तु जिस प्रकार, जल क्रियाशील मछली को उसकी क्रिया में सहायक सिद्ध होता है, उसी प्रकार यह भी जीव तथा पुद्गलों की क्रिया में सहायक सिद्ध होता है।[1] धर्मास्तिकाय में रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श का नितान्त अभाव है।

अधर्मास्तिकाय

यह धर्म के विपरीत है, किन्तु इसमें भी धर्मास्तिकाय के समान रूप-रसादि का अभाव है। यह अमूर्त्त स्वभावसम्पन्न है, तथा जो जीव तथा पुद्गल जैसे पृथ्वी, विश्राम दशा में हैं, उनको यह विश्रामार्थ सहायता करता है। अधर्मास्तिकाय भी लोकाकाश में धर्मास्तिकाय के सदृश व्याप्त रहता है।

आकाशास्तिकाय

जैनदर्शन के अनुसार जीव, धर्म, अधर्म, काल तथा पुद्गलों को अपनी अपनी स्थिति के लिए, जो स्थान दे, वही आकाश है।[2] यही लोकाकाश है।

पुद्गलास्तिकाय

जीवद्रव्य, पुद्गलसंघटन एवं विघटन के द्वारा परिणामदशा को प्राप्त करता है। यह धर्मास्तिकायादि के विपरीत रूपरसादिसम्पन्न है, तथा मूर्त्त द्रव्य है। जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल में, मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष, ये आठ स्पर्श वर्त्तमान हैं। इसके साथ साथ पुद्गल के अन्तर्गत, तिक्त, कटु, कषाय, मधुर तथा अम्ल, ये पञ्च रस वर्त्तमान हैं। पुद्गल में 'सुरभि' तथा 'असुरभि' रूप

---

१. द्रव्यसंग्रह, १७।

२. पञ्चास्तिकाय, ९०।

में दो प्रकार के गन्ध स्थित हैं। इसमें, कृष्ण, लोहित, पीत, नील तथा शुक्ल रूप में पाँच प्रकार के रूप वर्त्तमान हैं।'

जीव की प्रत्येक चेष्टा पुद्‌गलों के रूप में देखी जाती है, अतः पुद्‌गलों के अनेक भेद हैं। जैन-दर्शन के अनुसार यह तथ्य विचारणीय है, कि 'कर्मपुद्‌गलों' के कारण जीव बद्धावस्था को प्राप्त होता है। एवञ्च अनादि जीव के साथ कर्म अनादिकाल से चला आ रहा है। 'अणु' तथा 'स्कन्ध', ये दो पुद्‌गल के आकार हैं। 'अणु' द्रव्य का सर्वाधिक लघु अंश तथा 'स्कन्ध' द्रव्य का संघात है। यह उल्लेखनीय है, कि दो अणुओं के संघटन से 'द्विप्रदेश' एवं द्विप्रदेश' तथा एक अणु के संघटन से 'त्रिप्रदेश' द्रव्य बनता है। इसी क्रम से स्थूल, स्थूलतर एवं स्थूलतम, द्रव्यों का निर्माण होता है। जैनाचार्य अमृतचन्द्रसूरि का कथन है, कि सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम रूप में भी पुद्‌गल द्रव्य वर्त्तमान रहते हैं।

काल

जैनदर्शन के अन्तर्गत 'काल' की कल्पना विलक्षण, किन्तु वैज्ञानिक है। यह काल निश्चय एवं नित्य है, तथा पुद्‌गल और अन्य द्रव्यों के परिणामों का कारण है। काल की स्थिति सतत है, अत एव उसके कार्यरूप पुद्‌गल में सदैव गति वर्त्तमान रहती है। काल ही व्यावहारिक दृष्टि से समय है, जिसके दिवस, रात्रि, घंटा एवं पलादि अनेक रूप हैं। 'समय' निश्चय काल का ही एक रूप है, एवं जीव तथा पुद्‌गलों के द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण, यह 'परिणामभव' कहलाता है। 'काल-अणु' के काय नहीं होते, ये काल-अणु समस्त लोकाकाश में आपूरित हैं, किन्तु ये पृथक्-पृथक् रहते हैं। काल-अणु असंख्य, अहृदय, अमूर्त्त एवं क्रियारहित हैं।

३. आस्रव तत्त्व

पूर्वोक्त सात तत्त्वों में 'जीव' एवं 'अजीव' तत्त्वों का विचार ऊपर किया जा चुका है। तीसरा तत्त्व 'आस्रव' तत्त्व है। आस्रव ही जीव के बन्धन का कारण है। आस्रव के सम्पर्क के कारण ही, जीव का वास्तविक स्वरूप आवृत हो जाता है, और बद्धावस्था को प्राप्त होता है। 'आस्रव' के बोध के लिए, यहाँ, यह उल्लेखनीय है, कि जीव तथा पुद्‌गल अनादि काल से लोकाकाश में वर्त्तमान हैं। जीवों के साथ उनके कर्म भी हैं। इनके साथ ही साथ जीव, अनादिस्वरूप अविद्या के कारण, क्रोध, मान, माया तथा लोभ, इन चार कषायों से भी युक्त हैं। जीव द्वारा कृत कर्म का फल संस्कार रूप से पुद्‌गलों के साथ विद्यमान रहता है। यहाँ, यह विचारणीय है, कि जीव का कर्मफल के साथ, किस प्रकार का सम्बन्ध है, क्योंकि कर्म पुद्‌गल जड़ होने के कारण, जीव में प्रवेश नहीं कर सकते। यहाँ, यह समाधेय है, कि जैनाचार्यों ने मन, वचन तथा काय में क्रिया स्वीकार की है, जिसे 'योग' कहा गया है। इन्हीं तीन के द्वारा कर्म पुद्‌गल जीवों में प्रवेश करते हैं। कर्म पुद्‌गलों के जीव में प्रवेश करने से पहले, जीव के प्रदेशों में मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रियाओं के द्वारा 'स्पन्दन' उत्पन्न होता है। इस प्रकार कर्मपुद्‌गलों के उपर्युक्त 'योग' द्वारा जीव में प्रवेश को, जैनदर्शन में 'आस्रव' कहा गया है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ५-२३।

'आस्रव' के दो भेद हैं–एक 'कर्मास्रव' तथा दूसरा 'भावास्रव'। 'भावास्रव' की स्थिति वह परिवर्तन है, जो कर्मपुद्गलों के जीव में प्रवेश करने के पूर्व, जीव के भावों में उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर जीव में कर्मपुद्गलों के प्रवेश को 'द्रव्यास्रव' की संज्ञा दी गई है। उदाहरण के लिए, जिस प्रकार तैललिप्त शरीर पर धूलि चिपक जाती है, उसी प्रकार 'कर्मपुद्गल' जीव पर चिपक जाते है। यहाँ शरीर का तेल से लिप्त होना 'भावास्रव' तथा धूलि से लिप्त होना, 'द्रव्यास्रव' का उदाहरण है।

जैनदर्शन के अनुसार ४२ प्रकार से कर्म-पुद्गल जीव में प्रवेश करता है। इसी प्रकार आस्रव के भी ४२ भेद माने जाते हैं। इनमें 'आस्रव' के १६ भेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, जो काययोग, मनोयोग, वाक्योग, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, चार कषाय तथा अहिंसा, अस्तेय, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह, इन पञ्च व्रतों का पालन न करना हैं। इनके अतिरिक्त २५ छोटे-छोटे 'आस्रव' और हैं, जो बन्धन के कारण है। इस प्रकार कुल मिलाकर ४२ प्रकार के 'आस्रव' हैं।

४. बन्ध

जीव के बन्धन का कारण कर्म है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, जीव में 'कर्म पुद्गलों' के प्रवेश के पूर्व जो 'भावास्रव' उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप जीव में 'भावबन्ध' का भाव उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् उपर्युक्त प्रक्रिया से 'कर्म-पुद्गलों' के जीव में प्रवेश करने पर 'द्रव्यास्रव' की उत्पत्ति के फलस्वरूप जीव में जो बन्धन का भाव उत्पन्न होता है, उसे 'द्रव्यबन्ध' कहते हैं। इस प्रकार 'आस्रव' ही बन्धन का कारण है[1], क्योंकि इसके द्वारा जीव का वास्तविक चैतन्य एवं ज्ञानस्वरूप तिरोहित हो जाता है। इसके अतिरिक्त अविरति, मिथ्यात्व एवं प्रमाद भी बन्धन के कारण हैं।

५. संवर तत्त्व

मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव में कार्मिक पुद्गलों के प्रवेश को रोकना अत्यावश्यक है। यह कार्य 'संवर' के द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार 'आस्रव' बन्धन, एवं 'संवर' मोक्ष का कारण है। पूर्वकृत कर्मों को निःशेष करके भावी कर्मों के मार्ग को अवरुद्ध करना 'संवर' कहलाता है।

इस प्रकार 'संवर' मोक्ष का हेतु है। पूर्वोक्त, प्रक्रिया के अनुरूप, संवर के 'भावसंवर' एवं 'द्रव्यसंवर', ये दो भेद हैं। 'संवर' के द्वारा जब जीव के राग, द्वेष एवं मोह विकारों का निरोध होता है, तो उसे 'भावसंवर' कहते हैं। इसके अनन्तर, जब कर्मपुद्गलों के जीव में प्रवेश का निरोध हो जाता है, तो उसे 'द्रव्यसंवर' कहते हैं। यह भी निर्देश किया जा चुका है, कि जीव में प्रविष्ट समस्त कर्मपुद्गलों के नष्ट होने पर ही, जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रस्तुत प्रसंग में यह तथ्य और उल्लेखनीय है, कि अतीत के कर्मों को निर्बीज बनाने की क्रिया 'निर्जरा' कहलाती है। निर्जरा के द्वारा कर्म में फल

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ६ १६, ७ ६।

देने की शक्ति नहीं रहती। जिस प्रकार भुने हुए बीज में पौधे एवं वृक्षोत्पत्ति की सामर्थ्य नहीं होती, उसी प्रकार निःस्वार्थ कर्म में फलोत्पत्ति की वृत्ति का अभाव देखा जाता है। यहाँ, 'निर्जरा' के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विचार किया जाएगा।

६. निर्जरा

जीव में चिपके अतीत के 'कर्म-पुद्गलों' का विनाश जिस क्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है, वह 'निर्जरा' है। 'निर्जरा' की प्राप्ति के लिए, कठोर तपश्चर्या की अपेक्षा है। इस तपस्या में निदिध्यासन परमापेक्षित है। निर्जरा की प्राप्ति के लिए, राग-द्वेष आदि का विनाश भी अत्यावश्यक माना गया है। यही आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया है। जैसा कि, पहले भी संकेत किया है, 'निर्जरा' के भी 'भावनिर्जरा' तथा 'द्रव्यनिर्जरा', ये दो भेद हैं। भावावस्था में कर्मों के नाश की भावना उत्पन्न होती है, अतः यह 'भावनिर्जरा' अवस्था कहलाती है। किन्तु जब जीव में प्रविष्ट 'कर्मपुद्गलों' का विनाश हो जाता है, तो वह 'द्रव्यनिर्जरा' स्थिति होती है। 'भावनिर्जरा' के पुनः दो भेद हैं–'सविपाक' अथवा 'अकाम' भावनिर्जरा तथा अविपाक अथवा सकाम भावनिर्जरा। सविपाक 'भावनिर्जरा' वह स्थिति है, जब भावावस्था में भोगसमाप्ति के पश्चात् कर्मपुद्गलों का स्वयं नाश हो जाता है। भोग की समाप्ति के पूर्व, तपस्या के प्रभाव से, यदि कर्मों का नाश हो जाय, तो उस स्थिति को 'अविपाक' अथवा 'सकाम' 'भावनिर्जरा' कहते हैं। यहाँ, यह कहना आवश्यक है, कि 'अविपाक' भावनिर्जरा दशा को प्राप्त करने के लिए छः बाह्य तथा छः अन्तरंग क्रियाएँ, अनिवार्यतः आवश्यक हैं। बाह्य क्रियाओं में, अनशन, अवमोदार्य (भोजन में संयम), वृत्तिसंक्षेप (अल्पाहार), रसत्याग, विविक्त शय्यासन तथा कायक्लेश, ये छः तपस्यामूल क्रियाएँ गृहीत हैं, तथा अन्तरंग क्रियाओं में, प्रायश्चित्त, विनय, साधुसेवा (वैयावृत्य), स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (विषयविराग) तथा ध्यान, ये छः क्रियाएँ आती हैं। इस प्रकार ये द्विविध क्रियाएँ बाह्य तपस्या एवं अन्तरंग तपस्या के ही रूप हैं।

७. मोक्ष

मोक्ष, प्रत्येक दर्शन का चरम साध्य है। जैसा कि, ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, 'आस्रव' बन्धन का कारण है, तथा 'संवर' एवं 'निर्जरा' के द्वारा 'आस्रव' का नाश होने पर जीव को 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है। मुक्तावस्था में जीव, कर्मपुद्गलों से मुक्त होने के कारण, सर्वज्ञ एवं सर्वद्रष्टा होकर मुक्ति का अनुभव करता है। यह अवस्था जीव की 'भावमोक्ष' अथवा 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था है। इस अवस्था में जीव के, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय, इन चार घातक कर्मों का नाश हो जाता है। जैनदर्शन के अनुसार उक्त अवस्था वास्तविक मोक्ष से पूर्व की अवस्था है। इसके पश्चात् जब आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय, इन चार 'अघातीय' कर्मों का भी उच्छेद हो जाता है, तो जीव को 'द्रव्यमोक्ष' की प्राप्ति होती है। यही जैनदर्शन के अनुसार 'विदेह' मुक्ति की स्थिति है। इस दशा में जीव सभी कर्मों, तथा पहले जिनका संकेत किया जा चुका है, औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं भव्यत्व, इन चार भावों से भी मुक्त हो जाता है। मुक्त जीव 'आलोकाकाश' के अन्तर्गत 'सिद्ध शिला' में अनन्त काल तक वास करता है। वह 'धर्मास्तिकाय' के न रहने के कारण 'ऊर्ध्वलोक' के बाहर नहीं जा सकता,

और न वहाँ से नीचे लौटकर आता है। यही उपनिषदों की 'न स पुनरावर्तते' की दृष्टि है।

प्रमाणचिन्तन

जैनदर्शन के अन्तर्गत प्रमाण को 'स्वपराभासी' माना गया है। एतदनुसार 'प्रमाण' वह ज्ञान है, जो स्वयं एवं दूसरों को निर्बाध रूप से प्रकाशित करता है। जैनदर्शन के सन्दर्भ में, यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है, कि प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए, इन्द्रियों एवं मन की अपेक्षा नहीं होती। यहाँ, यह ध्यातव्य है, कि जैनदर्शन के अनुसार 'अबाध', 'मनःपर्याय' तथा 'केवल', ये तीन प्रत्यक्ष के भेद हैं। इसके अतिरिक्त प्रमाण के मिथ्यात्व को जैनदर्शन कदापि स्वीकार नहीं करता।

जैनदर्शन के अन्तर्गत प्रमाणमीमांसा विचित्र है। इस दर्शन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष (अनुमान) दो प्रमाण माने गए हैं। कहीं-कहीं, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम, इन तीन प्रमाणों का भी सङ्केत मिलता है। भगवतीसूत्र में, प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य तथा आगम, ये चार प्रमाण माने गए हैं। प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में, न्यायादि दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन की विचित्र तर्कना यह है, **कि जो ज्ञान आत्मा विना किसी इन्द्रिय की सहायता से प्राप्त करता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है** । इसके विपरीत **जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मन की सहायता से प्राप्त होता है, वह परोक्ष अथवा अनुमान है** । यहाँ, यह स्मरणीय है, कि जैनदर्शन के अन्तर्गत मन को इन्द्रिय नहीं स्वीकार किया गया है।

अवधि, मनःपर्याय तथा केवल, प्रत्यक्ष के ये तीन भेद हैं। **'अवधि ज्ञान'** वह ज्ञान है, जब जीव विशिष्ट सात्त्विक साधनों की सहायता से आवरणीय कर्मों का क्षय प्रारम्भ करता है, तथा उसे दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान स्वयं आत्मा की योग्यता के कारण होना आरम्भ होता है। यही अवधिज्ञान है। **'मनः-पर्याय'** वह प्रत्यक्षज्ञान है, जब जीव ईर्ष्या एवं द्रोह आदि परकीय मन की प्रवृत्तियों के निरोधक कर्मों का क्षय कर देता है। इस सम्बन्ध में, जीव में, दूसरे के मन के विचारों को जानने की भावना का उदय होता है। तीसरे, **केवलज्ञान** की स्थिति वह है, जब जीव के आवरणीय कर्मों का सम्पूर्णतः क्षय हो जाता है, तथा आत्मा अपने शुद्ध-सर्वज्ञ स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

परोक्ष

परोक्ष (अनुमान) ज्ञान के दो प्रकार हैं–एक 'मति' तथा दूसरा 'श्रुत'। इन्द्रिय तथा मन के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान को 'मतिज्ञान' कहते हैं। 'मति' दो प्रकार की है–एक इन्द्रियजन्य, दूसरी अनिन्द्रियजन्य अर्थात् मानस। 'श्रुत' ज्ञान शब्दोत्पन्न ज्ञान है। यह अतीत, वर्तमान एवं भविष्यत् के विषयों में प्रवृत्त होता है। 'मति' ज्ञान एवं 'श्रुत' ज्ञान का यह अन्तर भी द्रष्टव्य है, कि 'मति' ज्ञान में शब्दों का उल्लेख नहीं होता, जबकि 'श्रुत' ज्ञान में शब्दों का उल्लेख अनिवार्यतः रहता है।

कतिपय जैन आचार्यों ने 'प्रत्यक्ष' एवं परोक्ष का भेदचिन्तन एक अन्य प्रकार से किया है। ये आचार्य प्रत्यक्ष के 'सांव्यवहारिक' एवं 'पारमार्थिक' दो भेद मानते हैं। इन आचार्यों के अनुसार जिस ज्ञान के लिए, इन्द्रिय तथा मन की अनिवार्यतः आवश्यकता है, वह सांव्यवहारिक ज्ञान है। किन्तु

आवरणोच्छेद हो जाने पर जीव के चैतन्यस्वरूप का प्राकट्य पारमार्थिक ज्ञान है।[1] इसी प्रकार कुछ आचार्यों के अनुसार 'परोक्ष' के भी, 'स्मृति', 'प्रत्यभिज्ञान', 'तर्क', हेतु से साध्य का अनुमान एवं 'आगम', ये पाँच भेद स्वीकार किए गए हैं।

जैन 'नय'

जैनदर्शन के अन्तर्गत एक प्रकार से दृष्टिभेद को 'नय' का रूप दिया गया है। 'नय' के अनुसार एक दृष्टि से तथा अनेक दृष्टियों से तत्त्वज्ञान आवश्यक है। नय के दो मुख्य भेद हैं-एक निश्चय 'नय' तथा दूसरा व्यावहारिक 'नय'। 'निश्चय 'नय' के द्वारा वास्तविक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, तथा 'व्यावहारिक नय' के द्वारा विषयों का सांसारिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रमाण तथा 'नय' यथार्थज्ञान में प्रमुख हेतु हैं।

स्याद्वाद

स्याद्वाद जैनदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद, दोनों एक-दूसरे के पूरक सिद्धान्त हैं। या फिर, यह भी कह सकते हैं, कि दोनों एक ही हैं। अनेकान्तवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनन्त विरुद्ध गुण वर्त्तमान हैं, जैसा कि, पहले कहा जा चुका है। अतः वस्तु का प्रत्येक स्वरूप निश्चित नहीं है। इस प्रकार किसी भी वस्तु के स्वरूपज्ञान की अनिश्चय अथवा संदेह की स्थिति 'स्याद्वाद' का मूल है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथंचित्' अथवा कदाचित् है। जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनन्तधर्मा है। अतः जैनाचार्यों ने उपलक्षण के रूप में वस्तु के सम्बन्ध में सप्तविध सम्भावनाओं पर विचार किया है। इसी दृष्टिकोण (नय) को जैनाचार्यों ने 'सप्तभंगी नय' का नाम दिया है। स्याद्वाद सिद्धान्त के स्पष्टीकरणार्थ, नीचे 'सप्तभंगी नय' का निरूपण अपेक्षित है।

सप्तभंगी

(१) 'सप्तभंगी नय' के अनुसार किसी एक दृष्टि से वस्तु की सत्ता सम्भव है-**स्यादस्ति द्रव्यम्**। २. दूसरी किसी दृष्टि से, उसी समय उसी वस्तु की सत्ता नहीं भी हो सकती है-**स्यान्नास्ति द्रव्यम्**। ३. तीसरी दृष्टि से, उसी समय वस्तु की सत्ता हो सकती है, और नहीं भी हो सकती है-**स्यादस्ति च नास्ति च द्रव्यम्**। ४. चतुर्थ दृष्टि से, वही वस्तु अवक्तव्य है, क्योंकि एक ही समय में, उस वस्तु की सत्ता का 'अस्तित्व' एवं '**अनस्तितत्त्व**' दोनों वक्तव्य हैं। अतः उसका शब्दों द्वारा व्याख्यान सम्भव नहीं है-**स्याद् अवक्तव्यं द्रव्यम्**। ५. पंचम दृष्टि के अनुसार वही वस्तु एक समय में हो सकती है तथा फिर भी अवक्तव्य है-**स्यादस्ति** च **अवक्तव्यं च द्रव्यम्**। ६. षष्ठ दृष्टि के अनुरूप वही वस्तु एक ही समय में न होकर अवक्तव्य हो सकती है-'**स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम्**'। ७. सप्तम दृष्टि के अनुसार वही वस्तु एक ही समय में हो सकती है, नहीं भी हो सकती है तथा फिर भी अवक्तव्य रह सकती है-**स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं द्रव्यम्**।

---

१. विशेष देखें, हेमचन्द्रकृत प्रमाणमीमांसा तथा षड्दर्शनसमुच्चय पर गुणरत्न की टीका, पृ० २०८।

यहाँ यह उल्लेखयोग्य है कि देश-काल एवं भाव के आधार पर द्रव्य में अनेक सम्भावनायें की जा सकती हैं, तथा वस्तु के बोध का प्रयास किया जा सकता है।[१]

जैनदर्शन स्याद्वाददर्शन के रूप में भी प्रख्यात है। स्याद्वाद सिद्धान्त की उत्पत्ति निम्नलिखित विविध रूपों में देखी जा सकती है–

१. औपनिषद वेदान्त के अन्तर्गत सदसद्विलक्षणवाद पर आधारित 'अनिर्वचनीयता' सिद्धान्त को स्याद्वाद का आधार कहा जा सकता है।

२. **सामञ्जफलसुत्त** में 'संजय वेट्ठिपुत्त' के मत का वर्णन 'स्याद्वाद' के बहुत कुछ समान है। उदाहरणार्थ, इस स्थल पर परलोक के अस्तित्व एवं अनस्तित्व दोनों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार इस वर्णन में स्याद्वाद के बीज देखे जा सकते हैं।

३. पाली ग्रन्थों में अमराविक्खेपिक बौद्ध दार्शनिकों के मत का उल्लेख मिलता है।[२] ये दार्शनिक वस्तु के सम्बन्ध में 'अस्तित्व' एवं 'अनस्तित्व' को अस्वीकार कर, अनेक मतों का प्रतिपादन करते हैं, अतः इन मतों को भी स्याद्वाद का आधार कहा जा सकता है। कहा जाता है, कि इस प्रकार के मत परिव्राजकों तथा ब्राह्मणों के हैं।[३]

४. जैनदर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ, भगवतीसूत्र में 'स्यादस्ति', 'स्यान्नास्ति' तथा 'स्यात् अवक्तव्यम्' इस त्रिविध नय का वर्णन मिलता है, जिसे स्पष्ट रूप से परवर्ती सप्तभङ्गी नय का मूल कहा जा सकता है। उक्त त्रिविध नय को 'मूलभंग' भी कहा गया है।[४]

समीक्षा

यों तो, जैनदर्शन का प्रमुख पक्ष आचार ही है, किन्तु जैनाचार्यों ने उसमे आध्यात्मिकता का पुट देते हुए, आत्मा के चैतन्य एवं उसकी ज्ञानस्वरूपता की प्रतिष्ठा करते हुए, मोक्षलाभ का पथ प्रदर्शित किया है। यदि देखा जाय, तो जैनदर्शन की यह दृष्टि उपनिषदों की ही देन है। इस सम्बन्ध में, यह तथ्य भी विचारणीय है, कि जिस प्रकार औपनिषद वेदान्त में आत्मसाक्षात्कार के लिए चित्तशुद्धि की अनिवार्यतः अपेक्षा स्वीकार की है, उससे कहीं अधिक, जैनदर्शन में, 'संवर' एवं 'निर्जरा' आदि कठोर

---

१. विशेष देखिए, उमेश मिश्र, History of Indian Philosophy, (Vol. I) P. 301—304

२. 'अमराविक्खेय' (अमराविक्षेप) नाम की मछलियाँ अत्यन्त चञ्चल होती थीं। अतः अनेकानेक तार्किक कल्पनायें करने पर भी किसी निर्णीत मत पर न पहुँचना 'अमराविक्खेप' सिद्धान्त कहलाता था। द्रष्टव्य, दीर्घनिकाय; पृ० ६।

३. द्रष्टव्य, स्याद्वादमञ्जरी की भूमिका, पृ. ७५-७६।

४. विशेष द्रष्टव्य, प्रमाणसमुच्चय की सुखलाल जी की प्रस्तावना, पृ० १८-२८ तथा ए.एन.उपाध्ये कृत प्रवचनसार की अंग्रेजी भूमिका, पृ० ८६-९१।

तपश्चर्या के द्वारा कायिक, वाचिक एवं मानसिक शुद्धि की आवश्यकता अनुभव की गई है। इस प्रकार यह कथन संगत होगा, कि औपनिषद वेदान्त, जहाँ, अध्यात्मप्रधान है, वहाँ, जैनदर्शन आचारप्रधान दर्शन है। इस प्रकार जैनदर्शन को उपनिषदों की अध्यात्मज्ञानप्रधान विचारधारा की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है, क्योंकि उपनिषदों में अध्यात्मवाद की अपेक्षा आचारवाद की एक प्रकार से न्यूनता ही कही जाएगी। किन्तु यहाँ, यह विशेषरूप से वक्तव्य है, कि जैनदर्शन के आचार्यों ने उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्त्व को यथावत् स्वीकार न करके, आत्मा में देह परिमाण मानकर, तथा उसमें संकोच एवं विकास की कल्पना कर, आत्मतत्त्व के साथ भौतिकता का मिश्रण कर दिया है। जैनदर्शन के अन्तर्गत आत्मा की भौतिकता की और अधिक पुष्टि तब हो जाती है, जब उसमें 'प्रदेशों' की स्थिति मानकर, आत्मा को अवयवी कहा जाता है, तथा उसके अन्तर्गत अनेक अंग-खण्ड माने जाते हैं। इस प्रकार जैनदर्शन की अखण्ड, खण्ड एवं ध्रुवोत्पाद–कल्पना विलक्षण ही कही जाएगी। इसके अतिरिक्त जैसा कि, पहले भी कहा जा चुका है, जैनाचार्यों ने तीर्थङ्कर को ईश्वर का रूप दिया है, किन्तु यहाँ, यह प्रश्न उठता है कि अनेक तीर्थङ्करों के होने पर ईश्वर भी अनेक होंगे। जो अविश्वसनीय, असैद्धान्तिक एवं अनुभवहीनता की स्थिति है[1]। यहाँ यह भी संकेत करना अपेक्षित है, कि जैनदर्शन में साधुओं एवं गृहस्थियों के लिए जिस कठोर तपश्चर्या, जैसे 'केशलुञ्चन' आदि का उपदेश किया गया है, वह अव्यावहारिक एवं दुष्कर है। किन्तु सापेक्षवाद के आधार पर जैनदर्शन में, जिस अनेकान्तवाद की कल्पना की गई है, वह बहुत कुछ तर्कपरक एवं दार्शनिक सूझ-बूझ की द्योतक है। जैनदर्शन में, यद्यपि 'अनेकान्तवाद' एवं 'स्याद्वाद' की कल्पना संशयमूलक नहीं है, किन्तु उसमें उस समन्वयात्मक दृष्टि का अभाव है, जो एक परम तत्त्व के लक्ष्य को सिद्ध कर सकती है। यही कारण है, कि शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के अन्तर्गत 'स्याद्वाद' का खंडन किया है। किन्तु फिर भी यह स्वीकार करना होगा, कि अनेकान्तवाद पर आधारित सापेक्षतावाद के द्वारा वस्तुओं के सत्यबोध की एक तर्कमयी प्रक्रिया प्रस्तुत की गई है, जिसका समर्थन जैनाचार्य गुणरत्न ने भी किया है। जैनदर्शन की दार्शनिक बहुत्ववाद की कल्पना संकलित बहुत्ववाद (Pluralistic realism) पर आधारित है, जिसके अनुसार जैनाचार्य, जगत् के समस्त प्रदेशों में जीव की सत्ता स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन में, ऐसा कोई 'प्रदेश' नहीं है, जहाँ जीव न हो। इस प्रकार कण-कण में जीव की सत्ता मानकर, जैनधर्म अखिल विश्व में 'अहिंसा-धर्म' के व्यवहार का समर्थन करता है। अतः यह कहना समीचीन होगा, कि उत्कृष्ट मानवीय चरित्र की, जैसी पवित्र योजना जैनदर्शन के अन्तर्गत वर्त्तमान है, वैसी किसी अन्य दर्शन पद्धति में नहीं, भले ही, यह साधना एवं तप की कल्पना विरले साधुओं एवं गृहस्थों में ही साकार रूप में देखने को मिलती हो।

●

१. एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः।। षड्दर्शनसमुच्चयटीका, पृ० २२५।

चतुर्थ अध्याय

बौद्धदर्शन

बौद्धदर्शन उपनिषदों के आत्मवाद की प्रतिक्रिया है। जैसा कि, कहा जा चुका है, नास्तिकत्रयी–चार्वाक, जैन एवं बौद्ध, उपनिषद्वर्त्ती आत्मास्तित्ववाद की साक्षात् प्रतिक्रिया से प्रादुर्भूत हुए हैं। वस्तुस्थिति यह है, कि औपनिषद दर्शन के अन्तर्गत आत्मवाद एवं अध्यात्मवादी दर्शन की प्रचुरता होने के कारण ही वार्हस्पत्य दर्शन (चार्वाक) के अन्तर्गत चरम भौतिकवाद का उदय हुआ था, एवञ्च चार्वाक के आचारहीन दर्शन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आचारवादी जैन एवं बौद्धदर्शन का विकास हुआ था। अपि च, जैन एवं बौद्धदर्शन के अध्यात्मवाद के विकास के मूल में उपनिषदों के आत्मवाद की प्रतिक्रिया तो थी ही। इस प्रकार बौद्धदर्शन उपनिषदों के आत्मवाद एवं चार्वाक के भोगवाद की मिली-जुली प्रतिक्रिया थी। किन्तु उपनिषदों की प्रतिक्रिया के साथ-साथ उपनिषद्वर्त्ती आत्मवाद, पुनर्जन्म के सिद्धान्त, कर्मफलभोग का सिद्धान्त एवं निर्वाण की पृष्ठभूमि भी बौद्धों को एक अच्छी धरोहर के रूप में प्राप्त हुई थी।[1] बौद्धों के असंगादि निराकार एवं नीरूप, किन्तु उपनिषदों के अनिर्वचनीय 'विज्ञान' एवं नागार्जुन के 'शून्य' में उपनिषदों के निर्गुण एवं निराकार आत्मा की छाया दुर्लभ नहीं है। बौद्धों का 'तथता' सिद्धान्त भी उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' एवं आत्मवाद का ही साक्षात् स्मरण दिलाता है। फिर माध्यमिक के अनुसार केवल निर्वाण ही सत्य है। इसके अतिरिक्त सब धर्म निःस्वभाव होने से शून्य हैं। यहाँ, यह द्रष्टव्य है, कि उपनिषदों में भी आत्मा-ब्रह्म स्वरूप मोक्ष के अतिरिक्त अनात्म जगत् की असत्यता सिद्ध की गई है। इससे हमारा यही मन्तव्य है, कि उपनिषदों की प्रतिक्रिया होने पर भी बौद्ध-दर्शन को उपनिषद् दर्शन से साक्षात् एवं प्रबल पृष्ठभूमि प्राप्त हुई थी।

१. गौतम बुद्ध

गौतम बुद्ध का जन्म ५०५ वि० पू० (४४८ ई. पू.) में लुम्बिनी में, जो प्राचीन नगर कपिलवस्तु के समीप (नेपाल) है, हुआ था। कुछ विद्वान् इनका जन्म समय ५०५ वि.पू. तदनुसार ४४८ ई.पू. वैशाख

---

१. कर्मवाद के अनुसार बौद्ध ये नहीं मानते थे, कि बुद्ध वरदान देंगे। किन्तु वे मानते थे, कि बुद्ध का ध्यान करने से चित्त समाहित और विशुद्ध होगा, और पूजक निर्वाण के लिए, अपने को तैयार करेगा। सिद्धान्त यह है, कि प्रत्येक जन्म में अपने किए कर्मों का फल भोगता है। आ. नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्मदर्शन, पृ० १०३ (वि. ग. परि. १९५५)।

पूर्णिमा मानते हैं। इनकी माता महामायादेवी तथा पिता शाक्यगणप्रिय शुद्धोदन थे। ऐसा कहा जाता है, कि ज्योतिर्विदों ने इनके जन्म के समय यह भविष्यवाणी की थी, कि ये किसी जर्जर वृद्ध, रोगी पुरुष, मृत व्यक्ति एवं भिक्षु को देखकर संन्यास ग्रहण कर लेंगे। यह जानकर बुद्ध के पिता ने उनका विवाह कर दिया, तथा उनके लिए अनेकविध विलासमयी सुख-सज्जा की व्यवस्था की, जिससे बुद्ध भोगविलासमय जीवन व्यतीत करें, और उनमें संन्यास की प्रवृत्ति उत्पन्न न हो। किन्तु भवितव्यता कुछ विपरीत ही थी। जब-जब बुद्ध वृद्ध, नितान्त कष्ट भोगते रोगी आदि को देखते थे, तो उनका मन कष्ट एवं करुणा से आप्लावित हो उठता था। इससे उन्हें संसार की अस्थिरता और क्षणभंगुरता का बोध हुआ, जिसके परिणामस्वरूप, वे जीवों के क्लेश निवारणार्थ, पूर्णतया तत्पर हो गए। इस प्रकार अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए, बुद्ध ने १८ वर्ष की अवस्था में सर्वथा, गृहत्याग दिया। यही उनका 'महाभिनिष्क्रमण' कहलाया। पहले, पैदल चलकर बुद्ध राजगिरि (राजगृह) पहुँचे, इसके पश्चात् वहाँ से वे अरुवेला पहुँचे, जहाँ उन्होंने अन्य पाँच संन्यासियों के, अत्यन्त कठोर व्रत एवं आत्मानुशासन के पथ पर चलना आरम्भ किया। इसका यह परिणाम हुआ, कि उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया, और एक दिन वे बेहोश होकर गिर पड़े, और उनकी मृतवत् स्थिति हो गई। इस घटना के छः वर्ष के पश्चात् गौतम बुद्ध ने अनुभव किया, कि कठोर व्रत एवं नियमों के पालन से सांसारिकों की क्लेश निवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः वे भ्रमण के लिए निकल पड़े। ४६१ वि. पू. में, वैशाख मास की पूर्णिमा को बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया। इसके पश्चात् काशी के समीप सारनाथ में, कौण्डिन्य आदि पाँच भिक्षुओं को सर्वप्रथम उपदेश प्रदान कर, धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन किया। इसके अनन्तर गणराज्य के आदर्शों के निमित्त बुद्ध ने भिक्षुसंघ की स्थापना की, तथा संसार को समस्त क्लेशों से मुक्ति दिलाने के लिए 'विनय' तथा 'धर्म' की शिक्षा में तत्पर हो गए। अन्त में, ४२६ वि. पू. वैशाख मास की पूर्णिमा तिथि को, ६० वर्ष की आयु में, मल्ल गणतन्त्र की राजधानी कुशीनगर (आज, कसया, गोरखपुर) में, बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया। यह उल्लेखनीय है, कि बुद्ध का जन्म, बोधिप्राप्ति एवं निर्वाण की प्राप्ति वैशाखमास की पूर्णिमा को ही सम्पन्न हुई थीं।[1] इसीलिए, बौद्ध धर्म के अनुयायियों में वैशाख मास की पूर्णिमा का विशेष महत्त्व है। अधुना, बौद्ध पूर्णिमा के विशेषोत्सव का भी यही आधार है।

अब यहाँ बौद्धधर्मदर्शन के प्रमुख साहित्य, आचार्यपरम्परा एवं सिद्धान्तों का निरूपण किया जाएगा।

त्रिपिटक साहित्य (पालिसाहित्य)

बौद्ध-धर्मदर्शन का प्राचीन रूप हमें त्रिपिटकों में मिलता है। पिटक शब्द का अर्थ पिटारा है। त्रिपिटक शब्द प्राचीन है। प्रथम शताब्दी के शिलालेखों में 'तेपिटक' शब्द का उल्लेख मिलता है। बुद्ध के निर्वाण पर प्रथम धर्म संगीति-धर्मसभा राजगृह में सम्पन्न हुई, जिसमें धर्म और विनय का संग्रह हुआ। धर्मसूत्रान्त हैं, जिनमें बुद्ध के उपदेश हैं। विनय के अन्तर्गत भिक्षु आदि के नियम वर्त्तमान हैं। त्रिपिटक इनके पश्चाद्वर्त्ती हैं। बुद्ध के मौखिक उपदेशों के संग्रह के लिए राजगृह में हुई प्रथम संगीति में, महाकाश्यप के सभापतित्व में, '**सुत्तपिटक**', नापित कुल में उत्पन्न हुए, उपालि के प्रमुख सहयोग से

---

१. महापरिनिब्बान सून्तान्त, (दीघ, ××1,6,8,9)।

नियपिटक संकलित किया गया। सुत्तपिटक में मातिका (मातृका) की व्याख्या से, पश्चात् (अभिधम्मपिटक) का संकलन सम्पन्न हुआ। मातृका शब्द का अर्थ विचारणीय है। धर्मगुप्तों के विनय में, विनयमातृका है। इसमें विनय के विषयों की विस्तृत तालिका है। ऐसा प्रतीत होता है, कि विनय, इसी का परिवर्तित रूप है। अतः यह तालिका विनय की एक प्रकार से माता है, प्रमुख आधार है, इसीलिए इसे मातृका कहते हैं।

सुत्तपिटक

बुद्ध के लोकोपकारक उपदेशों तथा संवादों का संग्रह सुत्तपिटक में वर्त्तमान है। इस पिटक के अन्तर्गत, दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तनिकाय तथा खुद्दकनिकाय, ये पाँच निकाय हैं। दीघनिकाय में ३४, मज्झिमनिकाय में १५२, संयुत्तनिकाय में ५६, अंगुत्तनिकाय में २३०८ सुत्त हैं। खुद्दक के अन्तर्गत १५ ग्रन्थों का समावेश है। ये पन्द्रह ग्रन्थ है–खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवृत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देश पटिसंभिदामग्ग, अवदान, बुद्धवंश एवं चरियापिटक।

विनयपिटक

विनयपिटक के तीन भाग हैं–पातिभोक्ख (प्रातिमोक्ष), खन्धक एवं परिवार। भिक्षुओं के आचरण का अनुशासन रखने के लिए, बुद्ध ने जो नियम बनाए थे, उन्हें पातिभोक्ख कहते हैं। खन्धक में महावग्ग तथा चुल्लवग्ग आते हैं। विनयपिटक का अन्तिम भाग परिवार है। यह भाग, बहुत बाद में बना होगा। इसका रचयिता सिंहल का कोई भिक्षु रहा होगा। 'परिवार' में अनेक प्रकार की सूचियाँ वर्त्तमान हैं।

अभिधम्मपिटक

अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत बुद्ध के उपदेशों के आधार पर दार्शनिक विचारों को संकलित किया गया है। इसमें सात ग्रन्थ हैं, जिनके नाम, धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञाति, कथावत्थु, यमक तथा पट्ठान हैं।

कतिपय अन्य पालिग्रन्थ

उपर्युक्त पिटकों के अतिरिक्त पालिभाषा में कतिपय अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं, जिनके सम्बन्ध में, यहाँ संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है। इन ग्रन्थों के निर्माता, मिलिन्दप्रश्न को छोड़कर सिलोन (Cylone) के बौद्ध थे।

मिलिन्दप्रश्न–इसके निर्माता का अनिश्चय है। आचार्य नरेन्द्रदेव का मानना है, कि इसका निर्माता उत्तर-पश्चिम भारत का रहा होगा।[1] ग्रीकसम्राट् मिनेण्डर (ई. पू. प्रथम शता.) ही मिलिन्द थे, तथा नागसेन के साथ उनके संवाद की योजना, इस ग्रन्थ में वर्त्तमान है। इसीलिए, इस ग्रन्थ का नाम

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव : बौद्धधर्मदर्शन, पृ. ३३।

मिलिन्दप्रश्न है। बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को पिटक के समकक्ष माना है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत अनात्मवाद, क्षणभंगवाद, कर्म, पुनर्जन्म एवं निर्वाण आदि के सम्बन्ध में तार्किक दृष्टि से विचार किया गया है।

वेत्तिपकरण–यह भी मिलिन्दप्रश्न के समान ही महत्त्वपूर्ण है। इसके रचयिता महाकच्चान हैं। इसमें बुद्ध के उपदेशों का व्यवस्थित सार दिया गया है।

पेटकोपदेश–इसके रचयिता भी महाकच्चान हैं। पिटकों के अध्ययन-अनुशीलन के लिए, यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

अट्ठकथाएँ–बुद्धघोष ने सिलोनी अट्ठकथाओं के आधार पर, चतुर्थ-पञ्चम शताब्दी में, विनयपिटक, दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर तथा संयुत्त निकायों की टीका की। बुद्धघोष ने अभिधम्मपिटक की व्याख्याएँ भी लिखी थीं। ये व्याख्याएँ अट्ठकथाएँ कही जाती हैं। यह भी मान्यता है, कि धम्मपद तथा जातक की अट्ठकथाएँ भी बुद्धघोष द्वारा रचित हैं।

विसुद्धिमग्गो–बुद्धघोष ने अनुराधपुर के महाविहार के स्थविरों की आज्ञा से विशुद्धिमग्गो की रचना की थी। इसे त्रिपिटक अट्ठकथा भी कहा जाता है, क्योंकि यह त्रिपिटकों के अध्ययन की कुञ्जिका है। इसके अन्तर्गत, शील, समाधि तथा प्रज्ञा का तेईस अध्यायों में विस्तृत वर्णन है।

परमत्थमंजूषा–यह ग्रन्थ विसुद्धिमग्गो की टीका है। इसके प्रणेता धम्मपाल स्थविर हैं। इसका रचनाकाल पाँचवीं शताब्दी है।

खुद्दक निकाय के ग्रन्थों की टीका–धर्मपाल स्थविर ने ही खुद्दक निकाय के ग्रन्थों–थेरगाथा, थेरीगाथा, विमानवत्थु आदि की टीकाओं का भी प्रणयन किया था।

अभिधम्मत्थसंगहो–अनिरुद्ध आचार्य (दसवीं-बारहवीं शताब्दी का मध्यकाल) ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ अभिधम्मपिटक के अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपादेय है।

बौद्ध आचारपक्ष

बौद्ध आचारपक्ष अत्यन्त प्रबल है। बुद्ध आध्यात्मिक परिष्कार का माध्यम आचार को मानते थे। इसीलिए समस्त बौद्धदर्शन आचारपरिपूर्ण है। सत्य, अहिंसा आदि सिद्धान्त सभी आचार के अन्तर्गत आते हैं। अत एव बुद्ध के शिष्य जब उनसे आध्यात्मिक प्रश्नों 'अतिप्रश्न' की जिज्ञासा करते थे, तो वे मौन हो जाते थे–"गुरोस्तु भाषणं मौनम्"। इसका आशय यही है, कि आध्यात्मिक ज्ञान भाषण से नहीं, अपि तु आचार-व्यवहार से प्राप्त होता है। निदर्शनार्थ, श्रावस्ती के जैतवन में, मालुक्यपुत्त के द्वारा जब संसार की नश्वरता एवं अनन्तता, तथा जीव की अनेकता आदि के विषय में दस मेण्डक प्रश्न बुद्ध के समक्ष प्रस्तुत किए, तो वे मौन हो गए। उन्होंने इन प्रश्नों को अकथनीय कहा। बुद्ध का तात्पर्य था, कि ये प्रश्न दुःखनिवृत्ति के साधन नहीं बन सकते। दुःखनिवृत्ति तो आचार-व्यवहार से ही सम्भव है। इसीलिए बुद्ध ने आचारपरिष्कार के लिए निम्नलिखित चार सत्यों की स्थापना की थी।

चार आर्यसत्य

मनुष्य जीवन के कल्याण की दृष्टि से बुद्ध ने जीवन के चार श्रेष्ठ सत्यों का निर्देश किया है, जिन्हें आर्यसत्य कहते हैं।

१. प्रथम आर्यसत्य **दुःखसत्य** है। इसकी व्याख्या करते हुए, बुद्ध ने कहा है–जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था एवं शोकरुदन आदि दुःख हैं। संक्षेप में, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान, ये पाँचों उपादान स्कन्ध दुःख हैं।[१]

२. द्वितीय आर्यसत्य दुःखहेतु है। दुःख का हेतु तृष्णा–काम अर्थात् भोग की तृष्णा, भव अर्थात् सांसारिक तृष्णा एवं विभव की तृष्णा है। बुद्ध कहते हैं, कि काम अर्थात् विभिन्न भोगों की प्राप्ति के लिए लोग, परस्पर कलह करते हैं, एवं प्राण भी दे देते हैं।[२]

३. तृतीय आर्यसत्य दुःखविनाश है। तृष्णा के आन्तरिक निरोध, परित्याग एवं विनाश को दुःखनिरोध कहते हैं। तृष्णा का त्याग होने पर ही तृष्णा का निरोध होता है। जन्म के निरोध से समस्त दुःखों का निरोध होता है। यही निरोध बौद्धदर्शन का प्रधान केन्द्रबिन्दु है।

४. चतुर्थ आर्यसत्य, दुःखविनाश का मार्ग है। बुद्धोपदेश के अनुसार दुःख विनाश की ओर ले जाने वाला 'अष्टांगिक' मार्ग है।

अष्टांगिक मार्ग

अष्टांगिक मार्ग के तीन प्रधान भाग हैं–ज्ञान, शील एवं समाधि। ज्ञान के तीन भाग हैं–सम्यक्संकल्प तथा सम्यक्दृष्टि तथा सम्यक्वचन। इसी प्रकार शील के भी तीन भाग हैं–सम्यक्कर्म, सम्यक्जीविका एवं सम्यक् प्रयत्न। समाधि के दो भाग हैं–सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि। इस प्रकार कुल मिलाकर ये आठ हैं, एवं अष्टांगिक मार्ग कहलाते हैं।

त्रिरत्न

बुद्ध ने शरीर, मन एवं बुद्धि की पवित्रता की दृष्टि से त्रिरत्न–**शील, समाधि** एवं **प्रज्ञा** का उपदेश किया है। **शील** के अन्तर्गत सात्त्विक कर्मों का परिगणन होता है। **शील** के अन्तर्गत, जिन पाँच कर्मों का विधान है, वे अहिंसा, अस्तेय, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य तथा मादक द्रव्यों का असेवन हैं। ये पाँच कर्म **पञ्चशील** कहलाते हैं। ये पाँच कर्म गृहस्थ एवं भिक्षु, दोनों के लिए, उपदिष्ट हैं। किन्तु भिक्षुओं के लिए, पाँच कर्म और उपदिष्ट हैं। ये पाँच कर्म–अपराह्नभोजन, मालाधारण, संगीत तथा सुवर्ण, रजत एवं महार्घ शय्या का त्याग हैं। इस प्रकार भिक्षु के लिए उपर्युक्त दश कर्मों का उपदेश है।[३]

---

१. महासत्तिसुत्त (दीर्घनिकाय, २।६)।

२. मज्झिमनिकाय, १।२।३।

३. विशेष देखें, दीर्घनिकाय, ३१ सुत्त।

सामञ्ञफलसुत्त[1] के अन्तर्गत **समाधि** का वर्णन वर्तमान है। विसुद्धिमग्ग में भी समाधि एवं उसके भेदों का वर्णन है।

प्रज्ञा

प्रज्ञा के तीन भेद हैं–श्रुतमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी। श्रुतमयी प्रज्ञा, आप्तप्रमाणजन्य निश्चय है। चिन्तामयी प्रज्ञा, मुक्ति से उत्पन्न निश्चय है, तथा भावनामयी प्रज्ञा समाधिजन्य निश्चय है। इस प्रकार त्रिविध प्रज्ञा से सम्पन्न व्यक्ति ध्यान का अधिकारी होता है। बुद्धस्वभाव को भी धर्म एवं प्रज्ञा कहा गया है। अष्टसाहस्रिका में प्रज्ञापारमिता को बुद्ध का धर्मकाय कहा है। प्रज्ञा को तथागतों की माता भी कहा गया है। प्रज्ञापारमिता–शून्यता, तथता, भूतकोटि एवं धर्मधात्वादि भी कही गई है।[2] प्रज्ञा से ज्ञान का साक्षात्कार, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ, दिव्यश्रोत्र, परचित्त का ज्ञान, पूर्वजन्म का स्मरण एवं दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होने पर, दुःखक्षय का बोध होता है। सामञ्ञसुत्त (दिघनिकाय, पृ० ३३२) के अनुसार, प्रज्ञा से चित्त, कामास्रव (भोगेच्छा) भवास्रव (संसार की इच्छा, जन्मग्रहण की इच्छा) एवं अविद्यास्रव अज्ञान से सर्वथा एवं सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है। यही निर्वाण की स्थिति है।

इस प्रकार शील, समाधि एवं प्रज्ञा, बुद्ध के उपदेश के प्राण तत्त्व हैं। धम्मपद के अन्तर्गत बुद्धानुशासन की व्याख्या करते हुए, कहा गया है, कि पाप का न करना, पुण्य संपत्ति का संचय एवं चित्त की परिशुद्धि, यही अनुशासन है।[3]

शमथयान एवं विपस्सनायान

शमथयान, लौकिक समाधि का मार्ग है। शमथ का अर्थ पाँच नीवरणों अर्थात् विघ्नों का उपशम है– 'पञ्च नीवरणानं समनट्ठेन समथ'।

विघ्नों के शमन से चित्त की एकाग्रता होती है। अतः शमथ का अर्थ, चित्त की एकाग्रता भी ग्रहण किया जाता है। इसका मार्ग (यान) **विपश्यन्त** का मार्ग है। विपश्यना लोकोत्तर समाधि है। अन्तरायों के नाश से लौकिक समाधि में प्रथम ध्यान सम्पन्न होता है। प्रथम ध्यान के अन्तर्गत पाँच अंगों का प्रादुर्भाव होता है। पाँच अंग–वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता हैं।[4] दूसरे, तीसरे स्थान ध्यान में उक्त पाँच अंगों का अतिक्रमण होता है। पांच नीवरण (विघ्न), कामछन्द, व्यापाह, स्त्यानमिच्द, औद्धत्य-कौकृत्य एवं विचिकित्सा हैं। कामछन्द–विषयानुराग एवं व्यापाद–हिंसा है। वितर्क स्त्यानमिच्द

---

१. दीघनिकाय, पृ० २८-२६।

२. एतदेव च प्रज्ञापारमिता-शून्यता-तथता-भूतकोटि-धर्मधात्वादिशब्देन संवृत्तिमुपादायाभिधीयते।
बोधिचर्यावतार पञ्जिक, ६। ३८।

३. समथो हि चित्तेकम्मता, अंगुत्तर निकाय कथा, बालवग्ग सुत्त, ३।

४. सब्बपापस्य अकरणं कुसलस्य उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदयनं एवं बुद्धान शासनं।। धम्मपद १४।५।

का प्रतिपक्ष है। औद्धत्य कौकृत्य–अव्यवस्थित चित्त एवं चित्त के खेद एवं पश्चात्ताप का लक्षण है। विचिकित्सा संशय है। विचिकित्सा का प्रतिपक्ष है। दूसरा तात्पर्य यह है, कि संशय होने पर विचार करना चाहिए।

बौद्धदार्शनिक सिद्धान्त

बौद्ध दार्शनिक विचारों में, क्षणिकवाद, प्रतीत्यसमुत्पादवाद एवं अनात्मवाद प्रमुख हैं। यहाँ, इनका व्याख्यात्मक निरूपण किया जाएगा।

क्षणिकवाद

बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानते हैं। बौद्धों के अनुसार जगत् सर्वथा अनित्य है, तथा वह दो क्षण भी किसी रूप में स्थिर नहीं रहता। बुद्ध ने तत्त्वविभाजन, स्कन्ध, आयतन एवं धातु के भेद से किया है। स्कन्ध के रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान, ये पाँच भेद हैं। रूप में, पृथिव्यादि चार महाभूत आते हैं। वेदना, सुख, दुःखादि का अनुभव है। संज्ञा अभिज्ञान है। संस्कार एक प्रकार की वासना है। विज्ञान चेतना या मन है। ये सब स्कन्ध अनित्य एवं क्षणिक हैं। बौद्धदर्शन में इन्हें–प्रतीत्यसमुत्पन्न, क्षय धर्मवाला, व्ययधर्मवाला तथा निरोध (विनाश) धर्मवाला कहा है।[1] **आयतन** बारह हैं। ये बारह आयतन–चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया तथा मन, ये छः इन्द्रियाँ तथा इनके छः विषय–रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श एवं इनके धर्म हैं। **धातु** अठारह हैं। ये अठारह–उपर्युक्त छः इन्द्रियाँ एवं उनके विषय, कुल बारह तथा छः विषयों के संपर्क से होने वाले छः विज्ञान (चक्षुविज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, रसविज्ञान, कायविज्ञान एवं मानसविज्ञान) हैं। इस प्रकार कुल मिलकर ये अठारह हैं। बौद्ध-दर्शन में जगत् के क्षणिक स्वरूप की व्याख्या सन्तानवाद के आधार पर की गई है। सन्तानवाद के अनुसार, दीपक की लौ प्रतिक्षण में उत्पन्न होती है, तथा अन्यान्य असंख्य लौ उत्पन्न होती हैं। यही स्थिति जागतिक अनित्य पदार्थों की भी है। वे क्षण-क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती हैं।

मध्यमाप्रतिपत्

बुद्ध परिणामवादी या विकारवादी हैं। वे सत्ता एवं असत्ता के मध्य परिणाम को मानते हैं। प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के प्रवाह में एक अवस्था की उत्पत्ति, एवं एक अवस्था का लय होता है। यह सत्ता एवं असत्ता की स्थिति है। इन दोनों की मध्यवर्त्ती दशा परिणाम दशा है। यही मध्यवर्त्ती दशा है। इसी को 'मध्यमा प्रतिपत्' कहते हैं।[2] 'गीता' में यही स्थिति, लगभग "व्यक्तमध्यानि भारत" के अन्तर्गत अभिव्यक्त है। बौद्धदर्शन की यह विशेषता विचारणीय है, कि बौद्ध, उपर्युक्त परिणामदशा तो स्वीकार करते हैं, किन्तु परिणामी जगत् उन्हें अमान्य है। इसीलिए वे शून्यता के पक्षपाती हैं। इस प्रकार बुद्ध आत्मवाद के घोर निन्दक थे।

---

१. महानिब्बानसुत्त (दीघनिकाय, २।१५; बुद्धचर्या १३३।

२. चूलसच्चकसुत्त (मज्झिमनिकाय, १।४।५)।

मिलिन्दप्रश्न में ग्रीक सम्राट् मिनेण्डर (मिलिन्द) एवं नागसेन के संवाद की योजना होने से ही, इस ग्रन्थ का नाम मिलिन्दप्रश्न है, यह कहा जा चुका है। मिलिन्दप्रश्न में आत्मा की असत्यता सिद्ध करते हुए, नागसेन ने एक दृष्टान्त दिया है। दृष्टान्त यह है–जब राजा रथ में बैठकर नागसेन के पास आए, तो नागसेन ने राजा से रथ के स्वरूप के विषय में पूछते हुए, कहा कि क्या दण्ड रथ है, यदि नहीं तो क्या चक्र रथ है, अथवा, रस्सियाँ रथ हैं, अथवा रश्मियाँ (लगाम) रथ हैं, या चाबुक रथ है। यदि ये सब रथ नहीं है, तो रथ क्या है ? इस पर नागसेन ने कहा, कि जिस प्रकार उपर्युक्त अवयवों के अतिरिक्त अवयवी रथ की सत्ता नहीं है, उसी प्रकार पञ्चस्कन्ध आदि अवयवों के बिना अवयवी की सत्ता न होने से, इन अवयवों पर आधारित आत्मा की सत्ता, केवल व्यावहारिक है, वास्तविक कदापि नहीं। इस प्रकार बौद्ध आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। यही सिद्धान्त नैरात्म्यवाद एवं संघातवाद है। संघातवाद के अनुसार केवल धर्मों का बाह्य अस्तित्व है, संघात का नहीं। हेतुप्रत्ययवश धर्मों की उत्पत्ति होती है। हेतु फल की केवल परम्परा है। अर्थात् इसके होने पर यह होता है। यह भी वक्तव्य है, कि तीन, धर्मविज्ञान, वर्णधर्म एवं चक्षुधर्म साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। इन तीन धर्मों का समान महत्त्व है।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद का स्वरूप

शून्यता, उपादायप्रज्ञप्ति और मध्यमाप्रतिपत् –ये शून्य की ही संज्ञाएँ हैं।[1] शून्यवादियों के अनुसार जो प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है, वही शून्यता का अर्थ है, परन्तु शून्यता अभाववाचक कदापि नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद के अनुसार संसार की समस्त वस्तुएँ प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। प्रतीत्यसमुत्पन्नता का आशय यह है, कि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति प्रतीत्य है, वस्तुतः वे अनुत्पन्न ही हैं। इसी प्रकार जगत् की वस्तुओं का भी जो समुच्छेद प्रतीत होता है, वह भी प्रतीत्यसमुच्छेद ही है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पादरूप शून्यता के स्वीकार कर लेने पर वस्तुओं की उत्पत्ति और उनके विनाश का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। शून्यता के अनुसार सभी वस्तुजगत् की उत्पत्ति विच्छिन्न-प्रवाह के समान है। उक्त विच्छिन्न प्रवाह के मान लेने पर शून्यवादी की अनात्मवादिता स्पष्ट है। परन्तु अनात्मवादी होने पर भी शून्यवादी भौतिकवादी भी नहीं है। उसने पदार्थों के क्षणिक विनाश एवं क्षणिक प्रादुर्भावरूप प्रवाह को माना है। इस प्रकार शून्यवाद आत्मवाद एवं भौतिकवाद का मध्यवर्ती सिद्धान्त है।

अनात्मवाद

यह कहा जा चुका है, कि बौद्धों का अनात्मवाद उपनिषदों की तीव्र प्रतिक्रिया है। उपनिषद् आत्मा को नित्य एवं ध्रुव कहते हैं, जब कि बुद्ध अनात्मा, अनित्य एवं अध्रुव के पक्षधर हैं। इस सम्बन्ध में बुद्ध का कथन है, कि रूप, वेदना, संज्ञा एवं विज्ञान, ये सभी धर्म अनात्मा हैं। आत्मवाद

---

१. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा।। –मा० का० २४।१८।

के लिए बुद्ध ने सत्काय दृष्टि शब्द का व्यवहार भी किया है। सत्काय का अर्थ है, काया में विद्यमान, काया से भिन्न, अजर एवं अमर तत्त्व। सत्काय (आत्मवाद) दृष्टि को बुद्ध एक भारी बन्धन के रूप में, उसकी भर्त्सना करते थे। एवञ्च वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिए, सत्काय दृष्टि का विनाशक आवश्यक समझते थे। आवागमन की तृष्णा सत्काय दृष्टि का कारण है। मज्झिमनिकाय में, आत्मवाद पर घोर कटाक्ष करते हुए, बुद्ध कहते हैं–"जो यह मेरा आत्मा अनुभवकर्त्ता, अनुभव का विषय है, वह मेरा आत्मा, नित्य, ध्रुव, शाश्वत एवं अनन्त है–हे भिक्षुओं, यह केवल पूर्ण बालधर्म अर्थात् मूर्खविश्वास है"।[1] इस प्रकार बुद्ध आत्मवाद के घोर निन्दक थे।

धार्मिक दृष्टिकोण

हीनयान एवं महायान

हीनयान एवं महायान बौद्धधर्म के विकास के परिचायक हैं। महायान ने बुद्ध को अलौकिक व्यक्तित्व प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप बुद्ध की, मैत्रीभावना एवं करुणा तथा समाहित चित्त को दर्शाने वाली मूर्त्तियाँ यूनान में बननी आरम्भ हुईं। **बोधिसत्व वह है, जो सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करता** है, तथा जिसमें **सम्यक् ज्ञान** है, **उसी के चित्त में जीवलोक के प्रति करुणा उत्पन्न हो सकती** है। यही **महायान धर्म** है। महायानवादी प्राचीन विचार वालों को हीनयानवादी कहते हैं, हीनयान का दूसरा नाम श्रावक-यान है। इसी प्रकार महायान को बोधिसत्वयान एवं अग्रयान भी कहते हैं। **हीनयान** अथवा **श्रावकयान** के अनुसार **श्रावक** (बुद्ध के **समीप शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाने वाला व्यक्ति**) को **स्वयं अष्टांगिक मार्ग** का **अनुसरण करना चाहिए । इस मार्ग से वह मुक्तिलाभ कर सकता है** । श्रावक के लिए–सोतापन्न, सकदागमी, अनागदानी तथा अरहत्त, इन चार अवस्थाओं का निर्देश किया गया है। सकदागामी (सकृद् आगामी) संसार में एक बार आता है। अनागामी के लिए पुनः इस संसार में आने की आवश्यकता नहीं होती। अन्तिम अवस्था में आस्रवों का क्षय होने पर जीव 'अर्हत्' स्थिति को प्राप्त करता है। श्रावक-यानी का लक्ष्य यही अर्हत्-प्राप्ति है। जैसाकि सोतापन्न (स्रोतापन्न) इस शब्द से स्पष्ट है, सोतापन्न व्यक्ति सांसारिक प्रपञ्च से मन को हटाकर आध्यात्मिक प्रवाह में पड़कर उन्नत अवस्था को प्राप्त करता है।[2] सोतापन्न व्यक्ति की सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा एवं शीलव्रत परामर्श का क्षय होता है, तथा वह नियत संबोधि की ओर प्रवृत्त होता है। सोतापन्न व्यक्ति की बुद्धानुस्मृति (बुद्ध में श्रद्धा) धर्मानुस्मृति (बौद्ध-धर्म में श्रद्धा) तथा संघानुस्मृति (संघ में श्रद्धा) उत्पन्न होती है, तथा उसके द्वारा श्रेष्ठ शीलों का सम्पादन होता है।

त्रिविधयान

बौद्ध धर्म के अन्तर्गत त्रिविधयान स्वीकार किए गए हैं–श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान तथा बोधि-सत्वयान। श्रावकयान का निरूपण ऊपर किया गया है। इसका सम्बन्ध हीनयान से है। प्रत्येक बुद्ध

---

१. अयं भिक्खे ! केवलो परिपूरो बाल्योधम्मो। मज्झिम निकाय, १।१।२।
२. वि. देखें महालिसुत्त (दी. नि. ६ सूक्त)।

सद्धर्म के लोप होने पर अपने उद्योग से बोधि प्राप्त करते हैं। प्रत्येक बुद्धयान एवं श्रावकयान में विशेष अन्तर नहीं है। प्रत्येकबुद्ध उपदेश से विरत हैं। ये केवल प्रातिहार्य द्वारा अन्य धर्मावलम्बियों (तीर्थियों) को बौद्ध धर्म की शिक्षा देते हैं। बोधिसत्वयान का सम्बन्ध महायान से है। बोधिसत्व वह कहलाता है, जिसमें बोधि प्राप्त करने की इच्छा होती है। बोधिसत्त्व के प्रधान गुण हैं–महामैत्री एवं करुणा। जब तक समस्त छोटे-बड़े जीवों के कष्ट दूर नहीं हो जाते, तब तक बोधिसत्त्व मुक्ति नहीं चाहता। वह दुःखी जनों के क्लेश से द्रवीभूत हो जाता है। उसका प्रधान लक्ष्य आर्तों का दुःख दूर करना है, शुष्क मोक्षप्राप्ति नहीं।[1]

हीनयान एवं महायान का अन्तर

महायानवादी, हीनयान की विचारधारा को तुच्छ समझते हैं। इसीलिए ही इन्होंने उसे हीनयान (तुच्छ मार्ग) संज्ञा दी है। कतिपय महायानवादियों का तो यहाँ तक कहना है, कि श्रावकयान द्वारा निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। शान्तिदेव का कथन है, कि श्रावकयान की कथा का उपदेश भी नहीं करना चाहिए; क्योंकि इससे दुःखान्त सम्भव नहीं है।

महायानवादियों को प्राचीन निकाय स्वीकार्य हैं, किन्तु हीनयानवादी महायान के ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं मानते। महायानवादियों का कहना है, कि महायान प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि हीनयान के आगम ग्रन्थ ही महायान की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। मध्यमकारिका के वृत्तिकार चन्द्रकीर्त्ति का कथन है, कि हीनयान के ग्रन्थों में भी महायान के प्रमुख सिद्धान्त शून्यवाद की व्याख्या उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त हीनयान के ग्रन्थों में महावस्तु में दशभूमि तथा पारमिता का वर्णन है। महायान के ग्रन्थ संस्कृत में हैं, जबकि हीनयान के वैभाषिक प्रस्थान के ग्रन्थ संस्कृत में हैं। हीनयान एवं महायान का एक विशेष अन्तर यह है, कि हीनयान का लक्ष्य 'अर्हत्' की प्राप्ति है, जबकि महायान का उद्देश्य बोधिसत्व है। नैरात्म्यपरिपृच्छासूत्र के अन्तर्गत बोधिसत्व का स्वरूप, इस प्रकार निश्चित किया गया है–

निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यं निरालयम्।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तं बोधिसत्त्वस्य लक्षणम्।। नै. परि. सू. १२।

जैसा कि, पहले भी संकेत किया गया है, हीनयान का अनुयायी एक आत्मा का ही निर्वाण करना चाहता है, जबकि महायान के अन्तर्गत बोधिसत्व समस्त प्राणियों को परमार्थ में स्थापित करना चाहता है। जहाँ, हीनयान पूर्णतः निवृत्तिमार्गी है, वहाँ महायान प्रवृत्तिपरक है। हीनयान में जहाँ, मात्र ज्ञान की साधनता एवं प्रामाण्य है, वहाँ महायान के अन्तर्गत भक्ति का महत्त्व है। जैसा कि, पहले भी कहा जा चुका है, यूनान में बुद्ध की मूर्त्तिकला के साथ ही भक्तिभावना का भी उद्भव हुआ था।

---

१. एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्।।
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेनारसिकेन किम्।। बोधिचर्यावतार, ३ परिच्छेद।

चार प्रमुख बौद्ध सम्प्रदाय

वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक, बौद्ध-दर्शन के, ये चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं। वैभाषिक बाह्याचार्यप्रत्यक्षवाद, सौत्रान्तिक बाह्यार्थानुमेयवाद, योगाचार विज्ञानवाद एवं माध्यमिक शून्यवाद का प्रतिपादन एवं समर्थन करता है। सभी दार्शनिकों के समक्ष प्रमुख समस्या इहलोक एवं परलोक की व्याख्या है, जिसे वेदों से लेकर आज तक सभी दर्शनों में व्याख्यात किया गया है। उपनिषदों के सूक्ष्म-आत्मवाद की प्रतिक्रिया होने के कारण, बौद्धों ने जगत् की प्रायः नकारात्मक व्याख्या पर विशेष बल दिया है। उपनिषदों में भी तो जगत् की व्याख्या नेति-नेति के द्वारा की गई थी। हमने यह भी कहा है, कि जहाँ, प्रत्येक दर्शनपद्धति अपने पूर्ववर्त्ती दर्शन की प्रतिक्रिया होती है, वहाँ उसे पूर्ववर्ती दर्शन से यत्किञ्चित् पृष्ठाधार भी प्राप्त होता है। अत एव बौद्धदर्शनकृत जगत् की व्याख्या बहुत कुछ उपनिषदों पर आधारित है। यह तथ्य उपर्युक्त चार सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के निरूपण एवं व्याख्या से स्पष्ट हो जाएगा।

वैभाषिक एवं वाह्यप्रत्यक्षवाद

जैसा कि, इस सिद्धान्त के नाम से ही स्पष्ट है, वैभाषिक बौद्ध इन्द्रियों का विषय वाह्य जगत् का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वैभाषिकों के द्वारा बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गई है। ये वाह्यजगत् के पदार्थों के साथ चैत्त (चित्त का) सम्बन्ध नहीं स्वीकार करते। चैत्त विषयों-पदार्थों की सत्ता, ये चक्षुरादि इन्द्रियों के प्रत्यक्ष के विषयों से पृथक् मानते हैं। सर्वास्तिवादी और वैभाषिक अभिधर्म को बुद्ध वचन मानते हैं। वैभाषिक की व्युत्पत्ति विभाषा से है।[1] आचार्य नरेन्द्रदेव का विचार है, कि प्रथमतः, गान्धार तथा काश्मीर में वैभाषिक नाम का प्रयोग हुआ।

वैभाषिक साहित्य एवं वैभाषिक मत के आचार्य

वैभाषिक सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ, कात्यनीपुत्रप्रणीत अभिधर्मज्ञानप्रस्थान–शास्त्र है, जिसका प्रणयन बुद्ध के निर्वाण के तीन सौ वर्ष पश्चात् सम्पन्न हुआ था। इस विशाल ग्रन्थ के अन्तर्गत आठ परिच्छेद, चवालीस वर्ग एवं पन्द्रह सहस्र श्लोक थे। आज इस ग्रन्थ का चीनी विद्वान् ह्वेन च्वांग कृत चीनी अनुवाद ही उपलब्ध है। कनिष्क काल में सम्पन्न चतुर्थ संगीति में इस ग्रन्थ पर 'अभिधर्म विभाषाशास्त्र' नामक ग्रन्थ का भाष्य के रूप में प्रणयन हुआ था। किन्तु यह मूल ग्रन्थ भी आज अनुपलब्ध है। इसके भी तिब्बती एवं चीनी अनुवाद ही आज उपलब्ध हैं।

वैभाषिक सम्प्रदाय के आचार्यों में वसुबन्धु एवं संघभद्र विशिष्ट हैं।

वसुबन्धु

वसुबन्धु असंग के छोटे भाई थे। इनका जन्म पेशावर (पंजाब) में ब्राह्मण वंश के कौशिक

---

१. 'विभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिकाः'।
'विभाषां वा विदन्ति वैभाषिकाः'। Bibliothica Buddhica P., १२, २१.

गोत्र में हुआ था। वसुबन्धु के एक छोटे भाई और थे। असंग की तरह वसुबन्धु भी आरम्भ में सर्वास्तिवादी थे। आरम्भ में वसुबन्धु स्वतन्त्र विचार रखते थे, किन्तु बाद में वे भी असङ्ग की तरह महायान धर्म के अनुसरणकर्त्ता हो गए।

ताकाकुसु के अनुसार वसुबन्धु का समय ४२० तथा ५०० ई. के मध्य है। किन्तु बोनिहारा ने वसुबन्धु का समय ३०० तथा ४२० ई. के मध्य माना है। किन्तु एन. पेरी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है, कि वसुबन्धु का समय ३५० ई. के आसपास है। इस आधार पर विन्टरनिट्स वसुबन्धु एवं उनके बड़े भाई का समय चतुर्थ शताब्दी निश्चित करते हैं।

वसुबन्धु का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधर्मकोश है। लुई दला पूसे ने इस ग्रन्थ का चीनी माध्यम से फ्रेंच में अनुवाद किया है। चीनी भाषा में इस ग्रन्थ के दो अनुवाद हैं। एक अनुवाद परमार्थकृत है, तथा दूसरा शुआनच्वांगकृत। अभिधर्मकोश में ६०० कारिकाएँ हैं। वसुबन्धु ने इस ग्रन्थ पर स्वयं भाष्य लिखा है। यह कथन समीचीन है, कि इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने पर, सर्वास्तिवाद के प्राचीन ग्रन्थों–अभिधर्म एवं विभाषा का महत्त्व कम हो गया था। प्राचीन बौद्ध साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से, इस ग्रन्थ का अत्यधिक महत्त्व है। अभिधर्मकोश पर अनेक टीकाओं का प्रणयन भी इस ग्रन्थ के महत्त्व को प्रदर्शित करता है। इन टीकाओं में यशोमित्र की स्फुटार्था प्रसिद्ध है। बोगिहारा ने जापान से इसका सम्पादन किया है। इसके अतिरिक्त दिङ्नाग, स्थिरमति एवं गुणमति ने अभिधर्मकोश पर मर्मप्रदीप, तत्त्वार्थटीका एवं लक्षणानुसार टीका लिखी है। वसुबन्धुरचित अन्य ग्रन्थ भी हैं। विश्वभारती (शान्तिनिकेतन) ने वसुबन्धु के त्रिस्वभावनिर्देश नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया है। इनके इतर ग्रन्थ–पञ्चस्कन्धप्रकरण, व्याख्यायुक्ति तथा कर्मसिद्धिप्रकरण हैं। वसुबन्धु का निधन अस्सी वर्ष की अवस्था में अयोध्या में हुआ था।

संघभद्र (४०० ई.)

संघभद्र वसुबन्धु के विरोधी थे। इन्होंने न्यायानुसार ग्रन्थ के अन्तर्गत वसुबन्धु के अभिधर्मकोश का खंडन किया था। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है, कि जहाँ-जहाँ वसुबन्धु वैभाषिक मत का खंडन करते हैं, वहाँ-वहाँ न्यायानुसार संघभद्र वसुबन्धु के मत का निराकरण करते हैं। इसके अतिरिक्त संघभद्र ने अभिधर्मकोश के खंडनार्थ 'कोशकरका' का प्रणयन किया था। इस ग्रन्थ में सात लाख श्लोक थे।

वैभाषिक सिद्धान्त

वैभाषिक सिद्धान्त का संक्षिप्त निर्देश आरम्भ में किया जा चुका है। वैभाषिक के अनुसार, जगत् के धर्म हेतु से उत्पन्न हैं। तथागत (बुद्ध) ने इनके हेतु तथा निरोध को बतलाया है। जैसा कि पहिले भी कहा गया है, बाह्यप्रत्यक्षवादी होने के कारण वैभाषिक बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष को स्वीकार करता है, तथा स्वतन्त्र सत्ता मानता है। यह भी कह आए हैं, कि चैत्त (चित्तगत) एवं बाह्य विषयों की स्वतन्त्र सत्ता है। इसी के आधार पर वैभाषिक के अनुसार, जागतिक पदार्थों की द्विविध सत्ता है, विषयिगत एवं विषयगत। इस स्थल पर इनका निरूपण अपेक्षित है।

विषयिगत पदार्थ

विषयिगत विभाजन में पञ्चस्कन्ध, **द्वादश आयतन तथा अष्टादश धातु** ग्राह्य हैं। पञ्चस्कन्धों में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान आते हैं। **द्वादश आयतनों** में चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन (अध्यात्म आयतन) तथा उनके विषय– रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पृष्टव्य एवं धर्म (अतीन्द्रिय), ये छः बाह्य आयतन आते हैं। **अष्टादश धातु** में, उपर्युक्त बारह आयतन, तथा छः विज्ञान धातु, चक्षु विज्ञान धातु, श्रोत्रविज्ञान धातु, घ्राणविज्ञान धातु, जिह्वाविज्ञान धातु, कायविज्ञान धातु एवं मनोविज्ञान धातु ग्राह्य हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ये अठारह हैं।

विषयगत पदार्थ

वैभाषिक मत में प्रत्येक सत्तात्मक पदार्थ को 'धर्म' कहते हैं। धर्म के दो रूप हैं–आस्रव एवं अनास्रव। आस्रव, समल अर्थात् मलसहित धर्म है। इसके अतिरिक्त अनेक पदार्थों के संघात से जो धर्म उत्पन्न होते हैं, वे अनित्य एवं 'संस्कृत' कहलाते हैं। यहाँ संस्कृत का अर्थ क्षणिक है।[१] मलरहित धर्म संस्कृत हैं। संस्कृत धर्म अनास्रव हैं। रागद्वेष आदि मलों के आश्रय होने के करण, सास्रव धर्म असंस्कृत हैं। इस प्रकार संस्कृत का अर्थ विशुद्ध एवं असंस्कृत का अर्थ नितान्त अशुद्ध है। असंस्कृत धर्म नित्य धर्म तीन प्रकार के हैं–आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध एवं अप्रतिसंख्यानिरोध।

आकाश

आकाश अनावृत है। यह रूप से आवृत नहीं होता। किन्तु सौत्रान्तिक आकाश को वस्तु सत् नहीं मानते। उनके अनुसार मात्र रूपाभाव के लिए तथा द्रव्य के अभाव के लिए आकाश का व्यवहार होता है। आकाश, आकाश धातु से भिन्न है। छिद्र आकाश धातु है। सौत्रान्तिक के अनुसार द्वार एवं गवाक्ष का छिद्र आधार बाह्य आकाश धातु है। नासिका एवं मुख आदि का छिद्र आध्यात्मिक आकाश धातु है। किन्तु वैभाषिक के अनुसार छिद्र का आकाश धातु, आलोक एवं तम हैं। छिद्र की उपलब्धि आकाश एवं तम से पृथक् नहीं है। यह उल्लेखनीय है, कि कमलशील ने तत्त्वसंग्रहपंजिका में, वैभाषिकों द्वारा आकाश को भावपदार्थ मानने के कारण, उनके बौद्ध होने में सन्देह प्रकट किया है।

प्रतिसंख्यानिरोध

प्रतिसंख्या का अर्थ प्रज्ञा है। प्रज्ञा के द्वारा, मलसहित (सास्रव) धर्मों का पृथक्-पृथक् वियोग होता है।[२] प्रज्ञा के द्वारा रागद्वेष का नाश होने पर, **प्रतिसंख्यानिरोध** की स्थिति आरम्भ होती है।

प्रतिसंख्यानिरोध सास्रव धर्मों से विसंयोग (पृथक्-पृथक् वियोग) को प्रतिसंख्या या निर्वाण कहते हैं। प्रज्ञाविशेष से जिस निरोध की प्राप्ति होती है, वह प्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है। निदर्शनार्थ, प्रज्ञा के उदित होने पर, किसी सास्रव धर्म के सम्बन्ध में, राग या ममता का सर्वथा परित्याग किए जाने पर प्रतिसंख्यानिरोध का उदय होता है।

---

१. "संस्कृतं क्षणिकं यतः"।

२. प्रतिसंख्यानिरोधो यो विप्रयोगः पृथक्-पृथक् । अभिधर्मकोश १। ६।

अप्रतिसंख्यानिरोध

अप्रतिसंख्यानिरोध प्रज्ञा के बिना होता है। जिस वस्तु का अप्रतिसंख्यानिरोध होता है, वह भविष्य में उत्पन्न नहीं होती। जो आस्रवक्षयज्ञान (समस्त मलों के नाश का ज्ञान) प्रतिसंख्यानिरोध से उत्पन्न होता है, भविष्य में उनकी (मलों की) उत्पत्ति की संभावना बनी रहती है। इस प्रकार अनुत्पादज्ञान अप्रतिसंख्यानिरोध का फल है, जिससे रागादिकों की पुनरुत्पत्ति असम्भव है। इसके परिणामस्वरूप जीव भवचक्र से मुक्तिलाभ करता है।

संस्कृत धर्म

यह कहा जा चुका है, कि संस्कृत धर्म-रूपादि स्कन्धपञ्चक हैं। स्कन्ध का अर्थ राशि है। स्कन्धपञ्चक के अन्तर्गत, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान हैं। संस्कृत धर्म के चार मुख्य भेद–रूप, चित्त, चैतसिक तथा चित्तविप्रयुक्त हैं। यहाँ, इन भेदों का निरूपण अपेक्षित है। **रूप** वह धर्म (भूत) है, जो रूप धारण करता है। रूप ही अवरोध उत्पन्न करता है। रूप ग्यारह प्रकार का है। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, एवं उनके पाँच विषय तथा ११ वाँ भेद अविज्ञप्ति है। अविज्ञप्तिं एक प्रकार का कर्म ही है। अविज्ञप्ति ऐसा कर्म है, जिसका फल कालान्तर में प्राप्त होता है। अविज्ञप्ति, कर्म न होकर कर्म का फल है। इसके विपरीत कुछ कर्म ऐसे हैं, जिनका फल सद्यः प्राप्त होता है। ये कर्म 'विज्ञप्ति' कहे जाते हैं। उदाहरणार्थ, कोई व्रत अथवा अनुष्ठान विज्ञप्तिकर्म है। किन्तु व्रत अथवा अनुष्ठान के पश्चात् व्रतकर्त्ता अथवा अनुष्ठानकर्त्ता में जो विज्ञानसौन्दर्य उद्भूत होता है, वही 'अविज्ञप्ति' कर्म है। वस्तुतः कर्म का यह नैतिक स्वरूप है। संस्कृत धर्म का दूसरा भेद **चित्त** है। चित्त, यों तो एक ही प्रकार का है, किन्तु आलम्बनों के सात प्रकार के होने के कारण, आलम्बन धर्म के रूप में यह सात प्रकार का है। बौद्धदर्शन में चित्त 'विज्ञान' है। सारे विषय चैत्त हैं। यही आलय विज्ञान है। मन भी चित्त का पर्यायवाची है। प्रत्येक विज्ञान (चित्त) प्रतिक्षण परिवर्त्तित होता रहता है। कार्यकारण के अनुसार वह नवीन रूप धारण करता है। चैतसिक धर्मों की संख्या ४६ है। चैतसिक धर्मों को चित्तसंप्रयुक्त भी कहते हैं। चित्त अथवा 'विज्ञान' से सम्बन्ध रखने वाले धर्म चैतसिक कहे गए हैं। संस्कृत धर्म का चतुर्थ भेद **चित्तविप्रयुक्त** है। ये चौदह प्रकार के हैं। जैसा कि, चित्तविप्रयुक्त इस नाम से ही स्पष्ट है, जिन धर्मों का समावेश न भौतिक धर्मों के अन्तर्गत है, और न चैत्त धर्मों के अन्तर्गत है, वे चित्तविप्रयुक्त धर्म हैं।

चित्तविप्रयुक्त धर्म–प्राप्ति, अप्राप्ति, समागता, आसंज्ञिक, दो समापत्तियाँ, जीवितेन्द्रिय, लक्षण, नामकायादि तथा जातीयक धर्म हैं। ये धर्म रूपस्वभाव नहीं हैं। ये संस्कार सम्बन्ध के अन्तर्गत हैं। सर्वास्तिवादी इन्हें चित्तविप्रयुक्त संस्कार कहते हैं।

ज्ञान के साधन

वैभाषिक के अनुसार 'ग्रहण' एवं 'अध्यवसाय' ज्ञान के साधन हैं। ये दोनों साधन सामान्यतया संगृहीत हैं। ग्रहण से किसी भी पदार्थ का सामान्य ज्ञान होता है। अध्यवसाय का अर्थ निश्चय है। सांख्य में भी 'अध्यवसायो बुद्धिः' कहकर अध्यवसाय का अर्थ, एक प्रकार से निश्चय ही किया है, क्योंकि बुद्धि ही निश्चयकर्त्री है। वैभाषिकमत में अध्यवसाय से वस्तु का विशिष्ट ज्ञान अर्थात् नामजात्यादिरूप

ज्ञान होता है। इस प्रकार वैभाषिक द्वारा ग्रहीत ज्ञान के साधन, ग्रहण एवं अध्यवसाय, निर्विकल्पक एवं सविकल्पक समकक्ष ही हैं।

निर्वाण

बौद्ध शिक्षा का एकमात्र सत्य निर्वाण है। यद्यपि बौद्धों में निर्वाण के सम्बन्ध में मतभेद है, किन्तु इस विषय में सभी का ऐकमत्य है, कि निर्वाण सांसारिक दुःख का आत्यन्तिक निरोध है। निर्वाण संसार से एक प्रकार का निःसरण है। इसके अतिरिक्त बौद्धदर्शन में जो आत्मप्रतिषेध, ईश्वरप्रतिषेध एवं सहेतुक तथा क्षणिक सत्ता के सिद्धान्त मिलते हैं, वे निर्वाण को निरोध मात्र एवं अभाव मात्र ही सिद्ध करते हैं।

विदेशी विद्वानों ने निर्वाण के सम्वन्ध में विशेष रूप से विचार किया है। **वर्थेलेमी, सेण्ट हिलेरी, चाइल्डर्स, रइस डेविड्स तथा पिशेल** का विचार है, कि बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने अपने सिद्धान्तों के अपने इस निष्कर्ष (निर्वाण) को विचार कोटि में लिया है। इस प्रकार बौद्धदर्शन में निर्वाण का स्वरूप अभावात्मक है। किन्तु रयिस डेविड्स निर्वाण को 'श्रामण्य' भी स्वीकार करते हैं। बर्थ तथा ओल्डनवर्ग का मत है, कि बुद्ध ने निर्वाण की व्याख्या नहीं की है। पूसे ने अपने निर्वाण ग्रन्थ के अन्तर्गत बौद्ध धर्म के दो रूप बतलाए हैं। एक बौद्ध उपासकों का धर्म, तथा दूसरा भिक्षुओं का धर्म। उपासकों का लक्ष्य स्वर्ग है, जबकि भिक्षुओं का लक्ष्य निर्वाण है। उपासक स्तूप-चैत्य की पूजा करते हैं, और बौद्धभिक्षु तीर्थयात्रा करते हैं।

मेरे विचार से, निर्वाण अभाव-भाव है, अत एव अनिर्वचनीय है। वैभाषिकों ने निर्वाण के दो भेद दिए हैं–सोपाधिशेष तथा निरुपाधिशेष। सोपाधिशेष निर्वाण की वह स्थिति है, जिसमें उपाधिशेष रहती है, अर्थात् आस्रवक्षय होने पर जो अर्हत् संसार में जीवित रहते हैं, उनके अनेक विज्ञान शेष रह जाते हैं। इसी कारण यह दशा सोपाधिशेष कहलाती है। यह दशा वेदान्त की जीवन्मुक्ति जैसी ही है, जिसके अन्तर्गत प्रारब्ध भोग पूरा न होने के कारण, जीव शरीर धारण करता है। निर्वाण की निरुपाधिशेष अवस्था वह है, जिसमें, शरीरपात होने पर समस्त संयोजन क्षय हो जाता है, तथा समस्त उपाधियों की निवृत्ति हो जाती है। यह वेदान्त की विदेहमुक्ति के सदृश है, जिसमें अज्ञान की सर्वथा निवृत्ति तथा प्रारब्ध कर्म का भोग पूर्ण होने पर जीव का सदा के लिए शरीरत्याग हो जाता है।

सर्वास्तिवाद

वैभाषिक सर्वास्तिवादी था। जैसा कि सर्वास्तिवाद, इस नाम से ही विदित है, सर्वास्तिवाद के अनुसार, समस्त बाह्य वस्तुविषय एवं आध्यात्मिक वस्तुजात, सभी का अस्तित्व है। बौद्ध धर्म के १८ निकायों में सर्वास्तिवाद की गणना की गई है। यह निकाय स्थविरवाद से बहुत पहले ही पृथक् हो गया था। दीपवंश से यह पता चलता है, कि वैशाली की धर्मसंगीति के पश्चात् महीशासक स्थविरवाद से और महीशासक से सब्बत्थिवाद (सर्वास्तिवाद) एवं धर्मगुप्त अलग-अलग हो गए थे। इत्सिंग के विवरण से भी यह ज्ञात होता है, कि उस समय जो चार निकाय प्रसिद्ध थे, उनमें, एक आर्यमूल सर्वास्तिनिकाय था। ये चार निकाय मूलसर्वास्तिवाद, धर्मगुप्त, महीशासक एवं काश्यपीय निकाय थे। यहाँ, यह भी उल्लेखनीय है, कि इन निकायों में परस्पर अत्यन्त समानता थी।

सर्वास्तिवाद का विकास अशोककालीन धर्मसंगीति से आरम्भ होता है, जब मोग्गलि पुत्त तिस्स ने कथावत्थु का संग्रह किया था। कथावस्तु के अन्तर्गत सर्वास्तिवादीविरोधी मतों का खंडन किया गया है। उदाहरणार्थ, कथावत्थु में पूर्वपक्ष के रूप में, तीन प्रश्न उठाए गए हैं–

१. क्या अर्हत् अर्हत्व से हीन हो सकता है।
२. क्या समस्त वस्तुविषय प्रत्यक्ष से बाहर हैं, और
३. क्या चित्तसन्तति समाधि है।

इन तीनों प्रश्नों का समाधान सर्वास्तिवाद के अनुरूप था।

यह तथ्य भी उल्लेखनीय है, कि इन निकायों में परस्पर समानता थी। सर्वप्रथम सर्वास्तिवाद के विकास का आरम्भ, गांधार एवं काश्मीर में, वैभाषिक नाम से हुआ था। इन प्रदेशों में, सर्वास्तिवाद का विशेष उत्थान हुआ था।

सौत्रान्तिक एवं बाह्यार्थानुमेयवाद

सौत्रान्तिकों के सम्बन्ध में कहा गया है, कि ये केवल बुद्ध वचनों–सूत्रान्तों को प्रमाण मानते हैं, शास्त्र को नहीं। इसीलिए इन्हे सौत्रान्तिक कहा जाता है। अभिधर्मकोश की व्याख्या में कहा है–

"ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकाः" सौत्रान्तिकों को सूत्रनिकायाचार्य भी कहते हैं।[1] सौत्रान्तिकवाद के प्रतिष्ठापक तक्षशिला के कुमारलात हैं। इसके प्रधान आचार्य, भदन्त, राम, श्रीलात एवं वसुधर्मा आदि हैं। अभिधर्मकोश की व्याख्या के अनुसार, सौत्रान्तिकों को दार्ष्टान्तिक भी कहा गया है।[2] तिब्बती पंडितों के अनुसार ये दोनों एक ही हैं। कुछ समालोचक सौत्रान्तिक को दार्ष्टान्तिक कहकर, इसका सम्बन्ध कुमारलात के दृष्टान्तपंक्तिग्रन्थ से जोड़ते हैं। किन्तु अन्य विद्वानों का कहना है, कि ये दार्ष्टान्तिक इसलिए कहे जाते हैं, क्योंकि सौत्रान्तिकवाद में दृष्टान्तों की बहुलता है। किन्तु पश्चिमी विद्वान् प्रजुलुस्की का विचार है, कि दृष्टान्त विनयसूत्र एवं अभिधर्म के विरुद्ध भी हो सकते हैं।

सौत्रान्तिक बाह्यार्थानुमेयवादी है। वैभाषिक के अनुसार सौत्रान्तिक बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष को नहीं स्वीकार करता। सौत्रान्तिक का तर्क है, कि बाह्य जगत् के पदार्थों के क्षणिक होने के कारण उनका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। निदर्शनार्थ, जब किसी बाह्य पदार्थ के साथ प्रथम क्षण में हमारा सम्पर्क होता है, तो द्वितीय क्षण में वह समाप्त हो जाता है। इसका संवेदन मात्र शेष रह जाता है। वास्तविकता तो यह है, कि प्रत्यक्ष होने पर पदार्थ का नील-पीत आदि चित्र ही चित्त पर पड़ता है, और इसी के आधार पर हम पदार्थ की बाह्य सत्ता का अनुमान कर लेते हैं। इससे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध है, कि पदार्थों की बाह्य सत्ता का प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु वे अनुमान से सिद्ध हैं। यही सौत्रान्तिक का बाह्यार्थानुमेयवाद है। सौत्रान्तिकों में भी अनेक स्थलों पर मतभेद है। उदाहरणार्थ, कुछ सौत्रान्त्रिकों का विचार है, कि पदार्थ का स्वयं आकार है, किन्तु कतिपय सौत्रान्तिकों का विचार है, कि पदार्थ का

१. अभिधर्मकोश, २।२२६।
२. दार्ष्टान्तिकाः सौत्रान्तिकाः, अभिधर्मकोशव्याख्या, पृ. ४००।

आकारविशेष चित्त के द्वारा निश्चित किया गया है। सौत्रान्तिकों के एक अन्य मत के अनुसार पदार्थ का आकार उभयरूप है।

तुलना

सर्वास्तिवादी वैभाषिक कहीं-कहीं बाह्य वस्तु की क्षणिकता मानते हैं। उदाहरणार्थ, अभिधर्मकोश में "संस्कृतं क्षणिकं यतः" कहा है। परन्तु यह सौत्रान्तिक प्रभाव ही है। सत्य तो यह है, कि पूर्वकालीन बौद्धों की क्षणिकता अनित्यता तक ही सीमित है। वैभाषिक सिद्धान्त में, संस्कृत-धर्म, जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता, इन चार अवस्थाओं में अनुवृत्त होकर सत् "सत्ता" होता है। इसलिए वैभाषिक के अनुसार धर्मों की प्रतीत्यसमुत्पन्नता अतीत, अनागत एवं प्रत्युत्पन्नवर्त्तिनी ही हो सकती थी। परिणामतः, वैभाषिक प्रतीत्यसमुत्पाद को आवस्थिक एवं प्राकर्षिक मानते हैं। इसके विपरीत सौत्रान्तिक प्रतीत्यसमुत्पाद को क्षणिक एवं साम्बन्धिक कहते हैं। ये अतीत एवं अनागतत्व का निषेध करते हैं, तथा प्रत्युत्पन्न में ही वस्तु के पूर्वोक्त लक्षणचतुष्टय का विनियोग मानते हैं। अतः, यद्यपि सौत्रान्तिक, अन्य हीनयानियों के समान बहुपदार्थवादी हैं, तथापि उनका प्रतीत्यसमुत्पादनय पदार्थों की क्षणभंगता एवं क्षणसन्ततिवाद की सिद्धि करता है।

वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक का यह भेद द्रष्टव्य है, कि वैभाषिक के अनुसार वर्णसंस्थानभेद से रूप दो प्रकार का है, किन्तु सौत्रान्तिक का कथन है, कि संस्थान का चाक्षुष ग्रहण सम्भव नहीं है। यह परिकल्पना केवल मानसिक है। संस्थान, एक प्रकार से वर्णसन्निवेश विशेष ही है। संस्थान कोई द्रव्य नहीं है। वर्ण का ग्रहण न होने पर संस्थान का भी ग्रहण नहीं हो सकता। अतः उसका अभाव सिद्ध होता है। सौत्रान्तिक कहते हैं कि एक द्रव्य की उभयथा द्रव्यता कैसे विद्यमान हो सकती है। दोनों में दूसरा भेद यह है, कि वैभाषिकों के अनुसार बुद्ध के वचन वाक्स्वभाव एवं नामस्वभाव दोनों हैं। किन्तु सौत्रान्तिकों के अनुसार वह वागृविज्ञप्ति-स्वभाव मात्र है।[1]

परमाणुवाद के सम्बन्ध में सौत्रान्तिक मानते हैं, कि परमाणुओं के निरवयव होने के कारण, वे स्पृष्टव्य नहीं हैं। परमाणुओं के निरवयव होने से, स्पर्श अवयवों का न होकर समस्त वस्तु (वस्तु संघात) का ही हो सकेगा। ऐसी स्थिति में, परमाणुओं का तादात्म्य होगा। इस प्रकार परमाणु संघात, परिणाम में, परमाणु से अधिक नहीं होगा। यह भी उल्लेखनीय है, कि परमाणुओं में नैरन्तर्य है, अतः उनमें अन्तर का अवकाश सम्भव नहीं है। पदार्थों के विनाश के सम्बन्ध में सौत्रान्तिक कहते हैं, कि पदार्थ स्वभावतः विनाशशील हैं, किन्तु वे अनित्य न होकर क्षणिक हैं। पुद्गल, (आत्मा) आकाश के समान असत् पदार्थ हैं। निर्वाण के सम्बन्ध में श्रीलात का यह विशिष्ट मत था, कि प्रतिसंख्यानिरोध एवं अप्रतिसंख्यानिरोध एक ही हैं। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। प्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ, प्रज्ञानिबन्धन भाविक्लेशानुपपत्ति है। जिसके अनुसार, प्रज्ञा के कारण, भविष्य में क्लेशों की उत्पत्ति नहीं होती। एवञ्च अप्रतिसंख्यानिरोध, दुःखों की अनुपपत्ति है, जो क्लेशनिवृत्तिमूलक है। इस प्रकार श्रीलात की निर्वाण कल्पना के अनुसार क्लेशानुदय ही दुःखाभाव का कारण है।

---

१. अभिधानकोशव्याख्या, १।२५, पृ० ५२।

सौत्रान्तिक मत के आचार्य

कुमारलात (२००–३०० ई०.)

तक्षशिला के ये आचार्य, सौत्रान्तिक मत के आदिम आचार्य कहलाते हैं। इनका एकमात्र ग्रन्थ–कल्पनामण्डतिका है। इस ग्रन्थ में बौद्ध-धर्म की कथाओं का वर्णन किया गया है। कुमारलात के मतानुसार सौत्रान्तिक सूत्रनिकायाचार्य के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। विभाषा में इनका कोई उल्लेख नहीं है। युवाङ्च्वांग ने इनके सम्बन्ध में विशेष वर्णन किया है।

कुमारजीव (४०३ ई.)

इन्होंने सत्यसिद्धिशास्त्र सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यसिद्धिशास्त्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इस सम्प्रदाय का प्रमुख सिद्धान्त नागार्जुन का सर्वधर्मशून्यता सिद्धान्त है।[1] सत्यसिद्धि सम्प्रदाय की स्थापना कुमारलात के ही एक अन्य शिष्य हरिवर्मा ने की थी।

श्रीलात

विभाषा में श्रीलात का कोई उल्लेख नहीं है। इन्होंने विभाषा-शास्त्र ग्रन्थ की रचना की थी। इन्होंने निर्वाण सिद्धान्त का विशेष आलोचन किया था। इनका एक नाम श्रीलब्ध भी था।

भदन्त

भदन्त का उल्लेख विभाषा में मिलता है। भगवद्विशेष का कथन है, कि भदन्त ही धर्मत्रात हैं। परन्तु अभिधर्मकोश की व्याख्या में, इस मत का खण्डन मिलता है। यशोमित्र मानते हैं, कि भदन्त एक स्थविर का नाम है, जो स्थविर है। विभाषा के अन्तर्गत भदन्त धर्मत्रात के नाम का उल्लेख है।[2] विभाषा की व्याख्या में अनेक बार भदन्त को सौत्रान्तिक कहा गया है।

धर्मत्रात

अभिधर्म की टीका में धर्मत्रात के कालसम्बन्धी मत का उल्लेख वर्त्तमान है। धर्मत्रात के मतानुसार भावान्यथात्व के कारण, भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान का भेद किया गया है। वस्तुतस्तु वर्तमान की ही सत्यता है। धर्मत्रात, अतीत एवं अनागत के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

बुद्धदेव

बुद्धदेव के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का उल्लेख प्रायः वैभाषिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों में किया गया है। इसके अतिरिक्त अभिधर्मकोश की टीका में, इनके कालविषयक मत का निर्देश प्राप्त होता है।

---

१. विशेष देखें, Yamakami Sozen, Systems of Buddhistic Thought. 172-175 (Calcutta).

२. विभाषा, व्याख्या, पृ. ४४।

बुद्धदेव के मतानुसार अन्यथान्यथात्व ही काल के भूत-भविष्यत् एवं वर्तमान स्वरूप का कारण है।

वसुमित्र

वसुमित्र ने समभेद-उपरचनचक्र नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत अष्टादश निकायों का विस्तृत वर्णन वर्तमान है।

यशोमित्र

अभिधर्म की स्फुटार्था वृत्ति के अनुसार ये सौत्रान्तिक मत के अनुयायी सिद्ध होते हैं। यशोमित्र ने ही सर्वप्रथम अभिधर्म ग्रन्थों का उल्लेख अभिधर्मकोशव्याख्या में किया है।[1] उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त, सौत्रान्तिक मत के अन्य आचार्यों, जैसे राम एवं वसुवर्मा का भी उल्लेख मिलता है।[2]

योगाचार सम्प्रदाय

योगाचार एवं विज्ञान एक ही हैं। ये चैत्त हैं। समस्त विज्ञानों का आधार चित्त है। इस प्रकार चित्त ही 'आलय विज्ञान' है। आलय विज्ञान के स्वरूप को जानने के लिए, योग का आचार (व्यवहार) आवश्यक है, इसीलिए इस सिद्धान्त का नाम योगाचार है। एक अन्य मत के अनुसार योगाचार सम्प्रदाय के अन्तर्गत योग (जिज्ञासा) एवं आचार (सदाचार) पर विशेष बल देने के कारण, इस सिद्धान्त को योगाचार कहा गया है। मैत्रेयनाथ (३०० ई.) योगाचार सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्त्तक थे। मैत्रेयनाथ ने ही, योगाचार सिद्धान्त, विज्ञानवाद का प्रवर्त्तन किया था। मैत्रेयनाथरचित पाँच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। ये ग्रन्थ–मध्यान्तविभाग (मध्यान्त-विभंग सूत्र), अभिसमयालङ्कार, सूत्रालङ्कार, महायान-उत्तरतन्त्र एवं धर्मधर्मताविभंग हैं। मध्यान्तविभाग के कारिकाभाग की रचना मैत्रेयनाथ ने एवं गद्यभाग की रचना असंग ने की थी। इसके ऊपर वसुबन्धु ने भाष्य का प्रणयन किया था, जिस पर स्थिरमति ने एक नितान्त उपयोगी टीका लिखी थी। इस ग्रन्थ के पांच प्रकरणों में से केवल एक प्रकरण ही उपलब्ध है। हाँ, तिब्बती संस्करण अवश्य उपलब्ध है। दूसरे ग्रन्थ, अभिसमयालङ्कार के अन्तर्गत प्रज्ञापारमिता के सिद्धान्तों की व्याख्या है। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं। यह बौद्धदर्शन की अष्टाध्यायी है। इस ग्रन्थ के ऊपर आर्यविमुक्ति सेन, भदन्त मुक्तिसेन (६०० ई.) तथा हरिभद्र (८०० ई.) ने टीकाओं का प्रणयन किया है।

कतिपय विद्वानों का मत है, कि, योगाचार के प्रवर्त्तक मैत्रेयनाथ न होकर असंग हैं। वैसे, असंग मैत्रेयनाथ के शिष्य थे। विन्टरनिट्स का मत है, कि महायान-सूत्रालंकार के प्रणेता भी मैत्रेयनाथ ही थे। किन्तु सिलवाँ लेबी, जिन्होंने महायानसूत्रालंकार का अनुवाद किया है, इसे असंग प्रणीत मानते हैं। जो भी हो, इतना स्पष्ट है, कि योगाचार के प्रवर्त्तक आचार्य के रूप में असंग, मैत्रेयनाथ की अपेक्षा, अधिक प्रसिद्ध थे।

---

१. Bibliothica, 21, p. 12.

२. विशेष देखें, आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्मदर्शन।

आचार्य असंग (४०० ई.)

सिलवाँ लेवी के अनुसार असंग का समय पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। किन्तु विन्टरनिट्स असंग एवं वसुबन्धु, दोनों भाइयों का काल ४०० ई. निर्धारित करते हैं। असंग तीन भाई थे। वसुबन्धु इनसे छोटे थे। आरम्भ में दोनों भाई सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे। असंग का जन्म पुरुषपुर (पेशावर) में, कौशिकगोत्री ब्राह्मण परिवार में हुआ था। अपने अन्तिम समय में, ये अयोध्या में आकर बस गए थे। असंगरचित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं–महायानसंग्रह (परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में अनूदित), प्रकरण आर्यवाचा, महायाननिर्धर्मसंगीतिशास्त्र (शुआन च्वांग द्वारा अनूदित) एवं वज्रच्छेदिका की टीका (धर्मगुप्त द्वारा अनूदित) हैं। इसके अतिरिक्त योगाचार भूमिशास्त्र एवं महायानसूत्रालङ्कार असंग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। सिल्वाँ लेवी ने इस गन्थ का अनुवाद फ्रेंच में किया है।

स्थिरमति (४०० ई. उत्तरार्द्ध)

वसुबन्धु इनके गुरु थे। स्थिरमति रचित ५ प्रमुख ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ, त्रिंशिका-भाष्य, मध्यान्त-विभंगसूत्र-भाष्यटीका, अभिधर्मकोश-भाष्यवृत्ति, सूत्रालंकार-वृत्तिभाष्य एवं मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति हैं। स्थिरमति माध्यमिक एवं विज्ञानवाद की मध्यवर्त्ती शृंखला के रूप में जाने जाते हैं।

दिङ्नाग या दिग्नाग (३४५-४२५)

दिङ्नाग असंग के शिष्य थे। इनका जन्म कांची के समीप हिंसेवक्र में, ब्राह्मण कुल में हुआ था। दिङ्नाग विज्ञानवाद की दूसरी शाखा के प्रतिष्टापनकर्त्ता हैं। इस शाखा का माध्यमिक से सर्वथा विच्छेद हो गया था। इस शाखा का केन्द्र नालन्दा था। दिङ्नाग बौद्धन्याय के प्रतिष्ठापक ही थे। इनके ग्रन्थों में, न्यायप्रवेश, आलम्बनपरीक्षा (वृत्तिसहित) प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, हेतुचक्र डमरु एवं प्रमाणशास्त्रन्यायद्वार प्रमुख हैं। इनकी शास्त्रार्थ पद्धति के कारण, इन्हें 'वादिवृषभ' की उपाधि दी गई थी।

धर्मकीर्त्ति (६७५-७०० ई.)

बौद्धन्याय के क्षेत्र में धर्मकीर्त्ति का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। दिङ्नाग के पश्चात् बौद्धन्याय की सीमा में इन्हीं को सर्वाधिक कीर्त्ति मिली है। इनके सात प्रामाणिक ग्रन्थ इस प्रकार हैं–प्रमाणवार्त्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, प्रमाणविनिश्चय, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा एवं सन्तानान्तरसिद्धि। आचार्य नरेन्द्रदेव ने इनके सात ग्रन्थों में वादन्याय के स्थान पर चोदना नामक प्रकरण ग्रन्थ का उल्लेख किया है। प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायवार्त्तिक इनके सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। इन दोनों ग्रन्थों में ब्राह्मण नैयायिकों का खंडन, एवं बौद्धन्याय के सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है। सन्तानान्तरसिद्धि में मनःसन्तानता की विशेष व्याख्या है, जिसके अनुसार मन क्षण-क्षण में उत्पन्न एवं नष्ट होता है। इस प्रकार की यह सन्तानता (सतत गति) बराबर चलती रहती है।

उपर्युक्त सात ग्रन्थों में, प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायबिन्दु, संस्कृत में उपलब्ध हैं। शेष-ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद ही प्राप्त हैं।

धर्मपाल (छठीं शता. का पूर्वार्द्ध)

धर्मपाल नालन्दा के एक प्रसिद्ध आचार्य थे। इन्होंने वसुबन्धु के प्रसिद्ध ग्रन्थ विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि की व्याख्या लिखी थी। इसके अतिरिक्त इनका शतशास्त्रवैपुल्य भाष्य भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। त्रिंशिका पर इनकी टीका अत्यन्त उपयोगी है।

धर्मपाल के प्रसिद्ध शिष्य चन्द्रकीर्त्ति थे, जिन्होंने माध्यमिक दर्शन पर अनेक ग्रन्थ लिखे थे। धर्मपाल विज्ञानवाद एवं शून्यवाद दोनों के ही व्याख्याता थे।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त आचार्य जयसेन एवं चन्द्रगोमिन् (७०० ई.) भी विज्ञानवादी आचार्य थे। तारानाथ के अनुसार, चन्द्रगोमिन् ने अनेक स्तोत्र एवं इतर ग्रन्थों का प्रणयन किया था। इतना निश्चित है, कि सप्तम शताब्दी में विज्ञानवाद की विचारधारा का पूर्ण प्रभाव था। तत्पश्चाद्वर्त्ती महायानवादियों का विज्ञानवादी आचार्यों के साथ प्रायः शास्त्रार्थ होता था। यहाँ, यह उल्लेखनीय है, कि यद्यपि माध्यमिक विज्ञानवादियों के पूववर्त्ती हैं, तथापि बौद्ध धर्म-दर्शन के तिब्बती एवं चीनी इतिहासों के अन्तर्गत योगाचार विज्ञानवाद को हीनयान एवं महायान के बीच की शृंखला के रूप में स्वीकार किया गया है।

अब यहाँ योगाचार-विज्ञानवाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

विज्ञानवाद का संक्षिप्त परिचय

मैत्रेयनाथ और उनके शिष्य असंग विज्ञानवाद सिद्धान्त के मूल प्रतिपादक हैं। इनकी कृति–महायानसूत्रालंकार विज्ञानवाद का मौलिक ग्रन्थ है। महायानसूत्रालंकार के अन्तर्गत प्रतिपादित विज्ञानवाद का विचार विज्ञानवादी अद्वयवाद एवं असंग के अद्वैतवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है।

योगाचार और 'विज्ञान' का अर्थ–योगाचार सम्प्रदाय का ही दार्शनिक सिद्धान्त विज्ञानवाद है। बौद्धों के योगाचार सम्प्रदाय के अनुसार परम सत्य की उपलब्धि योगाभ्यास के द्वारा ही सम्भव बतलाई गई है, इसलिए इस सम्प्रदाय का नाम योगाचार प्रचलित हुआ है। इस प्रकार योगाचार शब्द इस सम्प्रदाय के साधनापक्ष पर विशेष बल देता है, जब कि, विज़्ञानवाद उसके दार्शनिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

जहाँ तक, 'विज्ञान' शब्द के अर्थ का प्रश्न है, लंकावतारसूत्र के अन्तर्गत चित्त तथा मन को विज्ञान का पर्यायवाची बतलाया गया है।[1] चित्त, मन तथा विज्ञान को स्पष्ट करते हुए लंकावतारसूत्र के अन्तर्गत कहा गया है, कि चित्त 'आलयविज्ञान' है। इस प्रकार चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण ही 'चित्त' संज्ञा का प्रचलन हुआ है। मनन क्रिया करने के कारण मन संज्ञा का प्रचार हुआ है, और विषयग्रहण में कारण होने के कारण विज्ञान शब्द का प्रवर्तन हुआ है।[2] त्रिशिंका के अन्तर्गत वसुबन्धु

---

१. चित्तं मनश्च विज्ञानं संज्ञा वैकल्पवर्जिताः।
विकल्पधर्मतां प्राप्ताः श्रावका न जिनात्मजाः।। –लंकावतारसूत्र ३।४०।

२. चित्तमालयविज्ञानं मनो यन्मननात्मकम्।
गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते।। –लंकावतारसूत्र, गाथा २।

ने जगत् को आत्मधर्म का उपचार तथा विज्ञान का ही परिणाम माना है–"आत्मधर्मोपचारादिर्विविधो यः प्रवर्तते। विज्ञानपरिणामोऽसौ।" बोधिचर्यावतारपंजिका में भी ज्ञान को अप्राप्तलक्षण कहा है–'अप्राप्ति-लक्षणं ज्ञानम्'। इस प्रकार विज्ञान की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर विज्ञान का चित्त रूप होना निश्चित ही है।

विज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुसार जगत् उपर्युक्त चित्त अथवा विज्ञान का ही रूप है। दशभूमीश्वर का यह वाक्य–'चित्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्'[1] जगत् की सत्ता को चित्त मात्र ही सिद्ध करता है। इस प्रकार विज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुसार जगत् को चित्तमात्र स्वीकार करना योगवासिष्ठ के कल्पनावाद सिद्धांत के अत्यधिक समीप है। जिसके अनुसार जगत् चित्त के संकल्प मात्र का फल है।[2] योगवासिष्ठ के इस कल्पनावाद सिद्धान्त का विवेचन अभी पीछे किया जा चुका है। कल्पनावाद की ही तरह विज्ञानवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जगत् की बाह्यसत्ता का निराकरण किया गया है।

विज्ञानवादी सिद्धान्त के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता पृथग्भूता नहीं है। ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता को विज्ञानवादी ने संवृत्ति सत्य के अन्तर्गत माना है। विज्ञानवादी, ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता को न भावरूप मानता है और न अभाव रूप।[3]

ज्ञाता और ज्ञेय अथवा ग्राहक एवं ग्राह्य विज्ञानवादी के मतानुसार पृथक्-पृथक् न होकर चित्त मात्र ही हैं।[4] विज्ञानवादी ने चित्त को आलयविज्ञान का रूप दिया है। आलयविज्ञान समस्त क्लेशों को उत्पन्न करने वाले धर्मों का मूल स्थान है। इस प्रकार स्थिरमति के अनुसार आलय और स्थान दोनों पयार्यवाची शब्द हैं।[5] लंकावतारसूत्र के अंतर्गत आलयविज्ञान को स्पष्ट करते हुए, बतलाया गया है, कि आलयविज्ञान समुद्र रूप है। सांसारिक विषय पवनरूप तथा सप्तविध विज्ञान तरंगरूप हैं।[6] जिस प्रकार कि पवन से प्रेरित होकर समुद्र में तरंगों का नृत्य दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार आलयविज्ञान में भी विषयरूप वायु से प्रेरित होकर अनेक प्रकार के विज्ञान उत्पन्न होते हैं।[7] जैसे कि समुद्र और उसकी तरंगों में भेद नहीं है, उसी प्रकार आलयविज्ञान और अन्य विभिन्न विज्ञानों में भी कोई भेद नहीं है। यहाँ, यह और कथ्य है, कि विज्ञानवादी का यह आलयविज्ञान उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश से रहित है।

---

१. देखिए–*V. Bhattacharya*: The Central Conception of Buddhism, p. 33.

२. चित्तमेव जगत्कर्तृ संकल्पयति यद्यथा।–यो०वा० ६।१३३।१।

३. असंग–महायानसूत्रालंकार, पृ० ५८-५९।

४. चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति द्विधा चित्तं हि दृश्यते।
ग्राह्यग्राहकभावेन शाश्वतानन्दवर्जितम्॥–लंकावतारसूत्र ३।६५।
तथा देखिये–सर्वसिद्धान्तसंग्रह, पृ० १२।

५. तत्र सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानाद् आलयः। आलयः स्थानमिति पर्यायः।–त्रिशिंकाभाष्य, पृष्ठ १८।

६. लंकावतारसूत्र, २।१००।

७. वही, १।९९।

उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश से रहित आलयविज्ञान की यह अवतारणा जागतिक विषयों की समस्या के स्पष्टीकरणार्थ की गयी प्रतीत होती है। इसीलिए डाक्टर दासगुप्त ने इसे आनुमानिक कहा है।[१]

विज्ञानवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध हुआ है, कि जागतिक विषयों का जो प्रत्यक्ष हमें दिखाई पड़ता है, वह हमारे विज्ञानों का ही अनुभव है।

क्षणिकविज्ञानवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पादवाद

विज्ञानवादी क्षणिक-विज्ञानवाद का समर्थक है। क्षणिक-विज्ञानवाद के अन्तर्गत प्रत्येक क्षणिक विज्ञान एक दूसरे क्षणिक विज्ञान को उत्पन्न करके[२] नष्ट हो जाता है।[३] विज्ञानों की उत्पत्ति और निरोध का क्रम सतत रूप से चलता है। यही प्रतीत्यसमुत्पादवाद का सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद के अनुसार समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह के समान है। विज्ञानवादी के मतानुसार विज्ञानों का उत्पन्न होना और निरोध होना ही परम तत्त्व है।[४] कुछ-एक विज्ञानवादी आचार्यों ने प्रतीत्यसमुत्पादवाद का द्विविध रूप स्वीकार किया है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद के दो रूप व्यावहारिक प्रतीत्यसमुत्पादवाद और आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पादवाद हैं। व्यावहारिक प्रतीत्यसमुत्पादवाद का विषय जगत् के भौतिक विषयों का विवेचन है। जागतिक विषय व्यावहारिक या बाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद रूप हैं। इसके अतिरिक्त अविद्या, तृष्णा, कर्म और स्कन्ध एवं उनसे उत्पन्न आयतन आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पादवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं।[५]

विज्ञानवादी का सांवृत्तिक सत्य–अद्वैतवेदान्त में जागतिक सत्य को, आविधिक होने के कारण व्यावहारिक कहा है। परन्तु विज्ञानवादी के दर्शन में, शंकराचार्य का व्यावहारिक सत्य सांवृत्तिक है। दोनों का तुलनात्मक समीक्षण आगे यथा अवसर किया जाएगा। विज्ञानवादी के सांवृत्तिक सत्य (जागतिक सत्य) का मूल 'संवृत्ति' है। बौद्धदर्शन की यह 'संवृत्ति' अविद्यारूप है। संवृत्ति असत् पदार्थ के स्वरूप की आरोपिका तथा वस्तुओं के स्वभाव दर्शन में आवरण के समान बाधक है।[६]

विज्ञानवादी की इस 'संवृत्ति' के भी दो भेद हैं–एक तथ्य-संवृत्ति और दूसरा मिथ्या-संवृत्ति। तथ्य-संवृत्ति के अन्तर्गत, वे जागातिक विषय आते हैं, जिनका इन्द्रियों द्वारा अबाध प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस प्रकार संवृत्ति के अन्तर्गत वस्तुओं के भौतिक यथातथ्य रूप का प्रत्यक्ष होता है। 'मिथ्यासंवृत्ति' अद्वैत वेदान्त की प्रातिभासिक सत्ता के सदृश है। मृगमरीचिका आदि के समान जगत् में, जिन पदार्थों का दोषपूर्ण प्रत्यक्ष होता है, वे मिथ्या-संवृत्ति के अंतर्गत आते हैं। इस दृष्टि से तथ्यसंवृत्ति मिथ्यासंवृत्ति

---

१. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy. Vol. I. p. 146.
२. E.R.E. Vol. IX. p. 850.
३. आचार्य नरेन्द्रदेव : बौद्धधर्मदर्शन, पृ० ४४६।
४. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ० ६६६।
५. लंकावतारसूत्र, पृ० ८५।
६. बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ३५२।

की अपेक्षा कुछ सत्य है, परन्तु परमार्थ सत्य की उपलब्धि होने पर उक्त दोनों ही संवृत्तियाँ मिथ्या सिद्ध होती हैं। परमार्थ सत्य तो वस्तुस्वभाव के अधिगम का नाम है। अतः उसके जानने पर तो उक्त दोनों ही संवृत्तियों का क्षय हो जाता है।

इस प्रकार विज्ञानवादी भी अद्वैतवादी है। द्वैत का निराकरण करते हुए विज्ञानवादी का कथन है, कि वस्तुतः द्वैत नहीं है। माया हस्ती की आकृति के ग्रहण के समान ही द्वैत की अनुभूति होती है, अतः ग्राह्यग्राहकरूप द्वैत जगत् सत्य नहीं है।[1] इस प्रकार जगत् के समस्त भाव विज्ञानवादी की दृष्टि से मायोपम हैं।[2] अब यहाँ, परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

परमार्थ सत्य–मिथ्यादर्शी का विषय उपर्युक्त सांवृत्तिक सत्य है, और तत्त्वद्रष्टा का विषय परमार्थ सत्य है। विज्ञानवादी के अनुसार परमार्थ सत्य, भावाभाव के मिश्रित रूप एवं भाव और अभाव दोनों से अतीत है। इसके साथ-साथ, वह दुःख और सुख की कल्पना का विषय भी नहीं है।[3] आचार्य असंग ने परमार्थसत्य का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है, कि वह (परमार्थ सत्य) सत्–असत्, तथा-यथा, जन्म-मरण, ह्रास-वृद्धि, शुद्धि-अशुद्धि आदि कल्पनाओं से मुक्त है।[4]

विज्ञानवादी आचार्यों ने इस परमार्थ सत्य को विशेष रूप से विज्ञप्तिमात्र, आलयविज्ञान एवं भूततथता शब्दों के द्वारा अभिहित किया है। विज्ञानवादी आचार्य असंग और वसुबन्धु ने उस परमसत्य को 'विज्ञप्ति' मात्र कहा है, और लंकावतारसूत्र में उक्त तत्त्व को आलयविज्ञान रूप कहा गया है। अश्वघोष ने 'भूततथता' के रूप में चरमसत्य का विवेचन विशेष रूप से किया है। यहाँ उक्त तीनों मतों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

असंग और वसुबन्धु का 'चरम-सत्य'–असंग और वसुबन्धु जब चरम सत्य को 'विज्ञप्ति' मात्र कहते हैं, तो वे क्षणिकविज्ञानवाद के समर्थक हैं। क्षणिकविज्ञानवाद का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। विज्ञप्तिमात्रता की दृष्टि से निर्वाणकाल में विज्ञान में सक्रियता नहीं रहती। चरमसत्यरूप विज्ञप्ति विशुद्धचैतन्य, आनन्दरूप, अपरिवर्तनीय तथा अनिर्वचनीय है।

लंकावतारसूत्र में 'चरम-सत्य' का रूप–जैसा कि, ऊपर कहा गया है, लंकावतारसूत्र में चरमतत्त्व का विवेचन 'आलयविज्ञान' के रूप में मिलता है–आलयविज्ञान का स्वरूपोल्लेख भी ऊपर कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में, यहाँ, केवल यही वक्तव्य है, कि लंकावतारसूत्र के अनुसार ज्ञाता एवं ज्ञेय में अभेद है। इस प्रकार ज्ञाता रूप से देखने पर 'आलयविज्ञान' अहन्ता को प्राप्त होता दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त ज्ञेय रूप से देखने पर वही आलयविज्ञान पदार्थ रूप को ग्रहण करता प्रतीत होता है।

---

१. महायानसूत्रालंकार ११।२३।

२. वही, ११।२७।

३. अभावभावता या च भावाभावसमानता।
अशान्तशान्तकल्पा च परिनिष्पन्नलक्षणम् ।। –महायानसूत्रालंकार, ११।४१।

४. न सन्न न चासन्न तथा न चान्यथा, न जायते व्येति न चावहीयते।
न वर्धते नापि विशुद्ध्यते पुनः विशुद्ध्यते तत्परमार्थलक्षणम् ।। –महायानसूत्रालंकार, ६।१।

अश्वघोष और 'चरम सत्य'–अश्वघोष ने चरम सत्य को 'भूततथता' कहा है। भूततथता शाश्वत तथा स्वभावसत्य है। भूततथता न सत् है और न असत्। वह एक तथा अनेक भी नहीं है। इसी प्रकार वह भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों ही है।[१]

विज्ञानवादियों की उक्त भूततथता भी अद्वैतता की ही पोषिका है, क्योंकि जगत् की समस्त वस्तुओं में अद्वैतरूपा भूततथता ही सत्य है।[२] विज्ञानवादी की यह भूततथता भाषा द्वारा अवर्णनीय है। आलोचक सोज़न के शब्दों में तो सत्य की स्थिति उसी प्रकार अवर्णनीय है, जिस प्रकार कि, किसी भयानक युद्ध क्षेत्र का अथवा एक दृष्टि से देखे गये रमणीक दृश्य का वर्णन अवर्णनीय होता है।[३]

ऊपर किए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि एक ही चरम तत्त्व का वर्णन विज्ञानवादियों ने भिन्न-भिन्न रूप से किया है।

विज्ञानवाद एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद–वैसे तो, अद्वैतवाद के प्रमुख प्रस्थापक शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य के अन्तर्गत विज्ञानवाद का पूर्वपक्ष स्थापित करते हुए, उसका निराकरण प्रबल तर्कों के आधार पर किया है।[४] परन्तु शंकराचार्य द्वारा बौद्ध विज्ञानवाद का निराकरण होने पर भी विज्ञानवाद एवं शांकर अद्वैतवाद में बहुत-सी समानताएँ मिलती हैं। इन दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों में समानता का पाया जाना कोई आश्चर्यजनक उपलब्धि नहीं है, क्योंकि दोनों ही का मूल पृष्ठाधार एक ही उपनिषत् साहित्य है। अतः शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्ध विज्ञानवाद के अन्तर्गत वैधर्म्य के साथ साम्य स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए, शांकर अद्वैतवाद[५] एवं बौद्ध विज्ञानवाद,[६] दोनों ही दर्शनपद्धतियों के अन्तर्गत परमार्थ सत्य की अद्वैतता को स्वीकार किया गया है। इसके साथ-साथ, परमतत्त्व की सर्वव्यापकता भी शांकर अद्वैतवाद[७] एवं विज्ञानवाद[८] दोनों सिद्धान्तों में स्वीकार की गई है। इसके अतिरिक्त विज्ञानवादी एवं अद्वैतवादी दोनों के ही दृष्टिकोण के अनुसार परमार्थ सत्य वाङ्मनसातीत तो है, परन्तु शांकर अद्वैत दर्शन के अनुसार वह अभाव रूप नहीं है।[९] अद्वैती शंकराचार्य ने स्पष्ट ही

---

१. Systems of Buddhistic Thought, p. 257-258.

२. भूततथता implies oneness of the totality of things or धर्मधातु–the great all including whole; the quintessence of the doctrine. For, the essential nature of the soul is uncreated and eternal. *Suzuki*, The Awakening of Faith in Buddhism, p. 55-56.

३. Systems of Buddhistic Thought, p. 253.

४. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८-३२।

५. परमार्थसद् अद्वयं ब्रह्म–शा० भा०, छा० उ० ८।१।१ तथा देखिए–तै० उप०, शा० भा० २।६।

६. महायानसूत्रालंकार, ६।१।

७. बृ० उ०, शा० भा० २।४।६।

८. महायानसूत्रालंकार, ६।१४।

९. वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते। –ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।

परमार्थसत्य ब्रह्म को सत् स्वीकार किया है। इसके विपरीत विज्ञानवाद के प्रतिपादक आचार्यों ने परम तत्त्व को सत्, असत् एवं सदसत् से विलक्षण कहा है।[1]

विज्ञानवादी बौद्ध एवं अद्वैतवादी शंकराचार्य, दोनों ही भौतिक जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं। परन्तु दोनों के जगन्मिथ्यात्व में अत्यधिक अन्तर है। विज्ञानवादी बाह्य जगत् की उपलब्धि का ही निराकरण करता है। जैसा कि, विज्ञानवाद विचार का स्पष्टीकरण करते समय कह आये हैं, बाह्य जगत् की सत्ता चित्र की कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार विज्ञानवादी 'विज्ञप्तिमात्रता' का पक्षपाती है, परन्तु अद्वैती शंकराचार्य का दृष्टिकोण विज्ञानवादी के उक्त विचार से भिन्न है। अद्वैतवादी शंकराचार्य बाह्य जगत् को मिथ्या तो कहते हैं, परन्तु उनके अनुसार जगत् विज्ञानवादी की तरह कल्पनामात्र नहीं है। जगत् के मिथ्यात्व के द्वारा शंकराचार्य जगत् के नामरूपात्मक प्रपंच का ही निषेध करते हैं।[2] इसीलिए शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् को सत् (परमार्थ सत्) एवं असत् (अलीक) से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है। इसके विपरीत बौद्धदर्शन के अन्तर्गत सब कुछ अनिर्वचनीय ही है।[3]

बाह्य जगत् की सत्ता को स्वप्नादि के समान सिद्ध करते हुए, विज्ञानवादी का विचार है, कि जिस प्रकार स्वप्न, माया, मृगजल, गन्धर्वनगर आदि का ज्ञान बाह्य अर्थ के बिना ही ग्राह्य और ग्राहक के आकार में परिणत होता है, उसी प्रकार, जाग्रत् अवस्था में होने वाले स्तम्भादि ज्ञान भी हो सकते हैं, क्योंकि दोनों का प्रत्ययत्व समान ही है।[4] इस प्रकार विज्ञानवादी ने स्वप्न एवं जाग्रत् काल के प्रत्ययों में समानता मानकर स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में साधर्म्य की स्थापना की है, परन्तु शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत, यह साधर्म्य मान्य नहीं है। अद्वैतवादी शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के वैधर्म्य को स्पष्ट करते हुए कहा है, कि स्वप्नादि के ज्ञान के समान जाग्रत् अवस्था का ज्ञान हो, यह युक्त मत नहीं है। अपने मत की पुष्टि में शंकराचार्य का कथन है, कि स्वप्न एवं जाग्रत् काल के प्रत्ययों में वैधर्म्य है। यह वैधर्म्य आद्यरूप है। स्वप्नकाल की उपलब्धि का जाग्रत् काल में बाध हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी को स्वप्न में महाजन का समागम होता है, तो वह जाग्रत् में यही कहता है कि मुझे जो महाजनसमागम की उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है। इस प्रकार जाग्रत् काल में स्वप्नकालिक ज्ञान का बाध हो जाता है।[5] इसके विपरीत जाग्रत् काल में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तु का किसी अवस्था में भी बाध नहीं होता। अद्वैती आचार्य शंकर का तर्क है, कि स्वप्नकालिक अनुभव स्मृति रूप हैं और

---

१. महायानसूत्रालंकार, ११।४१, ६।१।
२. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।
३. एवं च सति सौगतब्रह्मवादिनोः को विशेष इति चेदयं विशेषः यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति. .....विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते। –खण्डनखण्डखाद्य, प्रथम परिच्छेद।
४. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८।
५. वही, २।२।२६।

जाग्रत्-काल के अनुभव उपलब्धिरूप हैं।[1] इस प्रकार विज्ञानवादी के विपरीत शांकर अद्वैतवाद के अनुसार स्वप्न एवं जाग्रत् का वैधर्म्य पूर्णतया स्पष्ट है।

विज्ञानवादी को परमार्थ एवं संवृत्तिरूप, दो सत्ताएँ मान्य हैं। परन्तु शांकर अद्वैतवादी पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक रूप से तीन सत्ताएँ स्वीकार करते हैं। परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि का निरूपण इस विवेचन के आरम्भ में ही किया जा चुका है। जहाँ तक, संवृत्ति सत्य का प्रश्न है, यह अद्वैतवादी की व्यावहारिक सत्ता के बहुत कुछ समान है। जिस प्रकार, अद्वैतवादी की व्यावहारिक सत्ता का मूल अविद्या है, उसी प्रकार विज्ञानवादी की संवृत्ति भी अविद्यारूप है। अविद्या रूप संवृत्ति वस्तुओं के स्वभावसत्य की आवरणस्वरूप है। संवृत्ति भी अविद्यारूप से असत् पदार्थ की आरोपिका है।[2] इस प्रकार जहाँ, अद्वैत वेदान्त में मायिक जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत् कहलाता है, वहाँ विज्ञानवाददर्शन में, उसे सांवृत्तिक सत्य कहा गया है। ऊपर स्वभावावरण एवं असदारोप रूप, जो कार्य संवृत्ति के बतलाए गए हैं, वे अद्वैतवादी की अविद्या-माया के भी हैं। माया की आवरण और विक्षेप शक्तियाँ शांकर वेदान्त में प्रसिद्ध हैं। आवरण शक्ति विज्ञानवादी की संवृत्ति के समान स्वरूपशक्ति की आवरणकर्त्री है, और विक्षेप शक्ति मिथ्या जगत् की निर्मात्री है।[3] संवृत्ति की तरह असत् वस्तु का आरोप अद्वैतवादी की अविद्या का प्रधान कार्य है। अविद्या, अद्वैत वेदान्त में अध्यास रूप है[4]–और अध्यास की परिभाषा 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' है। इस प्रकार विज्ञानवादी की संवृत्ति और अद्वैतवादी की अविद्या में बहुत कुछ साम्य है। परन्तु यहाँ, यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है, कि अद्वैतदर्शन की अविद्या एवं विज्ञानवाद दर्शन की संवृत्ति तथा अद्वैत दर्शन के व्यावहारिक सत्य एवं विज्ञानवाद दर्शन के सांवृत्तिक सत्य में परस्पर बहुत कुछ साम्य होने पर भी यह मौलिक भेद अवश्य द्रष्टव्य है, कि अद्वैतदर्शन के अनुरूप जहाँ, व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत् है, वहाँ सांवृत्तिक सत्य की स्थिति मिथ्या दृष्टि वालों के लिए है–'मृषादृशां संवृत्तिसत्यमुक्तम्' (बोधिचर्यावतार)।

यद्यपि अद्वैतवेदान्तसम्मत प्रातिभासिक सत्ता का उल्लेख विज्ञानवादी द्वारा नहीं किया गया, परन्तु संवृत्ति का मिथ्यासंवृत्ति भेद, जिसका उल्लेख 'संवृत्ति' का विवेचन करते समय पीछे किया जा चुका है, प्रातिभासिक सत्ता की ही ओर संकेत करता है। प्रातिभासिक सत्ता की ही तरह मिथ्यासंवृत्ति के उदाहरण मृगमरीचिका आदि हैं।

ऊपर किए गए विवेचन से, यह पूर्णतया स्पष्ट है, कि विज्ञानवाद, अद्वयवाद का ही रूप होते हुए भी, शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त से मौलिक रूप से भिन्न है। मौलिक भिन्नता के ही फलस्वरूप अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य ने विज्ञानवाद का प्रबल तर्कों के आधार पर निराकरण किया है।

---

१. वही, २।२।२६।

२. संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद् आवृतः प्रकाशाच्चानयेति संवृत्तिः। अविद्या ह्यसत्पदार्थस्वरूपारोपिका स्वभावदर्शनावरणात्मिका च सती संवृत्तिरुपपद्यते।

–बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ३५२।

३. विवेकचूडामणि, १४१, १४१, १४५।

४. अध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। –ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।

माध्यमिक मत (आचार्य)

नागार्जुन (२०० ई.)

कुमारजीव ने ४०५ ई. के लगभग, नागार्जुन की जीवनी का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। बौद्धदर्शन के अतिरिक्त नागार्जुन आयुर्वेद एवं ज्योतिष शास्त्र में भी निपुण थे।

शुआन च्वांग के अनुसार अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव एवं कुमारलात (कुमारलब्ध) समकालीन थे। शुआन ने इन्हें बौद्धदर्शन के चार सूर्यों का नाम दिया है। राजतरंगिणी में यह उल्लेख है, कि नागार्जुन, हुष्क, जुष्क और कनिष्क के काल में, काश्मीर के स्वामी थे। तारानाथ का कहना है, कि नागार्जुन कनिष्क के काल में हुए थे।

नागार्जुन शून्यवाद के पण्डित तो थे ही, उन्होंने बौद्ध-न्याय का भी श्रेष्ठ प्रतिपादन किया था। विग्रहव्यावर्त्तनी में, नागार्जुन ने, प्रमाण-प्रमेय एवं लक्षण आदि का खंडन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने माध्यमिककारिका में, जिस प्रौढ़ तर्कपद्धति से वादीपक्ष का खंडन किया है, उससे यह निश्चित होता है, कि नागार्जुन की एक विशिष्ट शास्त्रीय तर्कपद्धति थी।

नागार्जुन शून्यवाद के आधारस्तम्भ हैं। ये दाक्षिणात्य थे। बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् ये श्रीपर्वत पर निवास करते थे। नागार्जुन रचित ग्रन्थों में माध्यमिककारिका (४०० का १२०) युक्तिषष्टिका, शून्यतासप्तति, प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, महायानविंशक तथा विग्रहव्यावर्त्तनी प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रज्ञापारमिताशास्त्र एवं दशभूमिविभाषाशास्त्र भी इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहे जाते हैं। प्रज्ञापारमिताशास्त्र पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की टीका है। यह बात और कहनी होगी, कि नागार्जुन महायान के निःसन्देह प्रतिष्ठापक नहीं हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है, कि नागार्जुन से बहुत पूर्व महायानसूत्रों का प्रणयन हो चुका था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी नागार्जुन द्वारा रचित बतलाए जाते हैं। इनमें धर्मसंग्रह (पारिभाषिक शब्दों का कोश) एवं सुहल्लेख विशिष्ट हैं। इत्सिंग ने सुहल्लेख के महत्त्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। इत्सिंग के अनुसार सुहल्लेख के रचयिता नागार्जुन थे। चीनी विद्वानों के अनुसार सुहल्लेख शातवाहन को लिखा गया था। किन्तु तिब्बतियों के अनुसार यह उदयन था।

नागार्जुन ने अपनी माध्यमिककारिका अथवा माध्यमिकसूत्र पर अकुतोभया नाम्नी टीका का प्रणयन किया था। इसका केवल तिब्बती अनुवाद ही प्राप्त है। माध्यमिकसूत्र पर चन्द्रकीर्त्ति की प्रसन्नपदाटीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। चन्द्रकीर्त्ति ने यह सिद्ध किया है, कि माध्यमिक नास्तिक नहीं हैं। नागार्जुन सांवृत्तिक एवं पारमार्थिक सत्य की शिक्षा देते हैं। पारमार्थिक सत्य की दृष्टि से न संसार की सत्यता है और न निर्वाण की।

आर्यदेव (२००-२२८ ई.)

ये भी शून्यवाद के परमाचार्य थे, तथा नागार्जुन के शिष्य थे। इनके अन्य नाम देव, काणदेव एवं नीलनेत्र थे। शुआन च्वांग के अनुसार ये सिंहल देश से दक्षिण भारत में आए थे। नामदेव,

कुमारजीव ने इनकी जीवनी का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। आर्यदेव का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ चतुःशतक है। इसमें चार सौ कारिकाएँ हैं। चन्द्रकीर्त्ति ने चतुःशतक का उल्लेख शतक अथवा शतकशास्त्र के नाम से किया है। आर्यदेव का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विशुद्धिप्रकरण है। विन्टरनित्ज़ को इस ग्रन्थ के आर्यदेव प्रणीत होने में सन्देह है। चीनी त्रिपिटक में दो और ग्रन्थों का उल्लेख है, जो आर्यदेवरचित बतलाए जाते हैं। इन ग्रन्थों का अनुवाद बोधिसत्व (५०८-५३५ ई.) ने किया है। आर्यदेव का एक अन्य ग्रन्थ, मुष्टिप्रकरण है। इस ग्रन्थ का संस्कृत पाठ टॉमस ने चीनी एवं तिब्बती अनुवाद की सहायता से किया है।

बुद्धपालित (५०० ई.)

बुद्धपालित ने प्रासंगिकनिकाय की प्रतिष्ठापना की है। यह कहा जाता है, कि चन्द्रकीर्त्ति ने बुद्धपालित और कमलबुद्धि से नागार्जुन के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। बुद्धपालित ने माध्यमिक कारिका पर वृत्ति लिखी थी, जिसका तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है।

भावविवेक

ये बौद्धन्याय के विशेष पण्डित थे। बौद्धन्याय के क्षेत्र में, इन्होंने स्वतन्त्र मत की स्थापना की थी। इसीलिए इनकी विशेष ख्याति थी। भावविवेक द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में, प्रज्ञाप्रदीप, मध्यमहृदयकारिका, मध्यमार्थसंग्रह एवं हस्तरत्न प्रमुख हैं। इनमें, प्रज्ञाप्रदीप, माध्यमिककारिका की वृत्ति है, जिसका तिब्बती अनुवाद प्राप्त है। इनके प्रसिद्ध शिष्य कमलबुद्धि थे।

चन्द्रकीर्त्ति (६००-६५० ई.)

चन्द्रकीर्त्ति के गुरु धर्मपाल थे। चन्द्रकीर्ति का मुख्य ग्रन्थ मध्यमकावतार है। मूल मध्यमककारिका पर प्रसिद्ध प्रसन्नपदा टीका भी चन्द्रकीर्त्ति की ही है।[1] इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त, इनका एक ग्रन्थ, चतुःशतकवृत्ति है, जो आर्यदेवकृत चतुःशतक की टीका है। यह टीका संस्कृत में अधूरी ही मिलती है। चन्द्रकीर्त्ति शून्यवाद के प्रसिद्ध पण्डित एवं प्रासंगिक मत के प्रतिष्ठित आचार्य थे।

शून्यवादी आचार्य चन्द्रकीर्त्ति ने निर्वाण की अपारमार्थिकता के सम्बन्ध में कहा है, कि निर्वाण-सम्बन्धी समस्त देशना अनिर्वाण की ही देशना है। वे कहते हैं, कि निर्वाण की समस्त देशना का कार्य उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि आकाशकृत ग्रन्थि आकाश द्वारा ही मोचित होती है।[2] बौद्धदर्शन में समस्त क्लेशों का कारण अविद्या को बतलाया गया है। अविद्या ही, जन्म, मृत्यु, भाव एवं उपादानादि का मूलकारण है। इस सम्बन्ध में चन्द्रकीर्ति का विचार है, कि तृष्णा की पूर्ति के लिए भौतिक उपादान की अनिवार्य आवश्यकता है। उपादान की कारणभूता तृष्णा का निरूपण करते हुए कहा है, कि आस्वाद

---

१. *Dr. Suzuki* : Essays in Zen Buddhism. Third series, pp. 222-227.

२. देखिए—Indian Historical Quarterly, Vol. IX, 1933, pp. 170-187.

की कामना एवं भावना तृष्णा का मूल कारण है। अत एव तृष्णालु व्यक्ति प्रिय वस्तुओं से कदापि वियोग नहीं चाहता, इसके अतिरिक्त यद्यपि नाम-रूप का निरूपण उपनिषदों से ही आरम्भ हो जाता है। उपनिषदों के अन्तर्गत नाम एवं रूप सगुण ब्रह्म की विशेषताएँ हैं, एवञ्च जगत् नामरूपात्मक है। किन्तु चन्द्रकीर्त्ति नामरूप की व्याख्या करते हुए कहते हैं, कि प्रत्येक जन्म में चार स्कन्ध ही नाम के रूप में कार्य करते हैं एवं ये रूप के साथ मिलकर नामरूप हो जाते हैं।[1] इस प्रकार बौद्धदर्शन के सम्बन्ध में, चन्द्रकीर्ति की अनेक मौलिक अवधारणाएँ हैं।

शान्तरक्षित (८०० ई.)

इनका तत्त्वसंग्रह अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये नालन्दा में अध्यापक थे। शान्तरक्षित ने धर्मकीर्ति रचित वादन्याय पर विस्तृत टीका का प्रणयन किया है। तत्त्वसंग्रह के अन्तर्गत ब्राह्मणों के मत की आलोचना करते हुए बौद्ध सिद्धान्तों का समर्थन दृढ़ता के साथ किया गया है। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक कमलशील ने तत्त्वसंग्रह पर पञ्जिकामस्ती टीका का प्रणयन किया है। कमलशील तन्त्रशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे, तथा ये भी नालन्दा में अध्यापन करते थे।

अब यहाँ माध्यमिक मत के प्रमुख सिद्धान्त शून्यवाद का निरूपण किया जाएगा।

शून्यवाद

सौत्रान्तिक बौद्धों ने जगत् के बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुभव से ज्ञेय नहीं स्वीकार किया था, तथा विज्ञानवादियों ने जगत् के पदार्थों की सत्ता केवल चित्त रूप में स्वीकार की थी। शून्यवाद का विचार इन दोनों से आगे है। शून्यवाद जगत् के बाह्य अस्तित्व को शून्य का रूप मानता है। शून्यवाद का निरूपण बौद्धदर्शन में, हमें दो रूपों में मिलता है। शून्यवाद का एक रूप तो वह है, जिसके अनुसार व्यावहारिक जगत् की सत्यता का निराकरण किया गया है।[2] शून्यवाद के दूसरे रूप के अनुसार परमार्थ तथ्य को ही शून्य रूप कहा है।[3] परन्तु उक्त दृष्टिकोण के अनुसार बौद्धदर्शन को द्विविधामूलक अथवा विरोधात्मक नहीं समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में, हमारा तर्क यह है, कि नागार्जुन प्रभृति शून्यवादियों ने जो जगत् को शून्य रूप कहा है, उससे उनका तात्पर्य भाव, अभाव एवं भावाभाव से रहित तथा सर्वस्वभावानुत्पत्तिलक्षणवाली शून्यता से है।[4] बौद्धदर्शन की उक्त शून्यता जगत् एवं परमार्थ तत्त्व दोनों के ही सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। शून्यवादियों की शून्यता अनिर्वचनीयता रूप है और इस प्रकार परमार्थ तत्त्व एवं जगत् दोनों ही अनिर्वचनीय हैं। शून्यवादियों ने परम तत्त्व एवं जगत् दोनों को ही

---

१. वेदनादयो रूपिणश्चत्वारः स्कन्धास्तत्र तत्र भावे नामयन्तीति नाम। सहरूपस्कन्धौ न च नामरूपं चेति नामरूपमुच्यते। मा. वृ. ५६४।

२. माध्यमिक वृत्ति, (BTS) पृ. ५०।

३. अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मकं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव। सर्वदर्शनसंग्रहः, बौद्धदर्शनम्, ३१

४. भावाभावान्तरद्वयरहितत्वात्। सर्वस्वभावानुपपत्तिलक्षणा शून्यता। मा. वृ. XXIV

सत् तथा असत् से विलक्षण कहा है। यदि कहीं शून्यवादियों ने परमार्थ तत्त्व को सत् कह दिया होता तो अद्वैतवाद और शून्यवाद में अन्तर ही क्या रह जाता। इस प्रकार शून्यवादियों का परमार्थ तत्त्व सदसद् से विलक्षण है, परन्तु वह नितान्त अभाव रूप नहीं है, यही उसकी अनिर्वचनीयता है। जगत् का स्वरूप भी अनिर्वचनीय है। शून्यवादियों ने भी जगत् को सत् तथा असत् से विलक्षण माना है। जगत् की सत्ता को शून्यवादी यदि परमार्थ सत्य रूप नहीं मानते तो सांवृत्तिक सत्य रूप तो मानते ही हैं। जगत् को नितान्त अभाव रूप शून्यवादी भी नहीं मानते। इस प्रकार शून्यवादी की दृष्टि से भी जगत् सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। इस प्रकार शून्यसम्बन्धी सिद्धान्त परमार्थ सत्य एवं जगत् दोनों के सम्बन्ध में समान रूप से चरितार्थ होता है। यह बात दूसरी है कि अन्य सिद्धान्तों की तरह शून्यवाद के भी विविध अवान्तर पक्ष मिलते हैं। अतः इस विवेचन के आरम्भ में संकेतित शून्यवाद सम्बन्धी विरोध के सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि शून्यवाद का एक पक्ष यदि जगत् की सत्यता का निराकरण करता है तो दूसरा पक्ष परमार्थ सत्य को शून्य रूप कहता है। शून्यवादियों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद सिद्धान्त के द्वारा भी उक्त कथन का ही समर्थन होता है। शून्यवाद का अर्थ प्रतीत्यसमुत्पादवाद ग्रहण करने पर उक्त विरोध को अवसर नहीं रहता, क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार जागतिक विषयों की सत्ता प्रातीतिक है, वस्तुतः वे अनुत्पन्न हैं एवं अनष्ट है।

इस प्रकार जगत् के पदार्थों की स्थिति विच्छिन्न प्रवाह के समान है। उक्त ज्ञान ही शून्यता का ज्ञान है। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पन्न रूप शून्यता का ज्ञान होने पर एक ओर तो जागतिक पदार्थों की सत्यता का निराकरण होता है और दूसरी ओर परमार्थ सत्य रूप प्रत्युत्पन्न शून्यता का बोध होता है।

ऊपर किए गए विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि शून्यवाद के उपर्युक्त पक्षो में विरोध मानना उचित नहीं है।

शून्यता के विभिन्न रूप

महायानिक ग्रन्थों के अन्तर्गत शून्यता के विभिन्न प्रकार उपलब्ध होते हैं। कहीं शून्यता के १८ प्रकार[१] और कहीं २० प्रकार मिलते हैं।[२] शून्यता के यह रूप निम्नलिखित हैं–

(१) **अध्यात्म शून्यता**–अध्यात्म शून्यता आत्मा के अनस्तित्व की समर्थक है। एतदनुसार अध्यात्म तत्त्व को शून्य ही कहा गया है।

(२) **बहिर्धा शून्यता**–बहिर्धा शून्यता के अन्तर्गत बाह्य जगत् के समस्त पदार्थ आते हैं। इस प्रकार शून्यवाद दर्शन के अनुसार बाह्य जगत् के विषय भी शून्य रूप हैं।

१. Dr. Suzuki : Essays in Zen Buddhism, Third Series, pp. 222-227.

२. Indian Historical Quarterly, Vol. IX, 1933 pp. 170-187.

(३) **अध्यात्मबहिर्धा शून्यता**–शून्यवादी आन्तरिक एवं बाह्य वस्तुओं की भेदव्यवस्था का विरोधी है। शून्यवाद दर्शन में आध्यात्मिक एवं बाह्य वस्तुएँ शून्यता रूप ही हैं।

(४) **शून्यता की शून्यता**–जिस प्रकार कि अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत मिथ्यात्व के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार शून्यवादियों ने भी शून्यता की शून्यता का प्रतिपादन किया है। शून्यता की शून्यता के द्वारा ही परमार्थ की सिद्धि होती है।

(५) **महाशून्यता**–महाशून्यता के द्वारा समस्त दिशाओं की शून्यता की ओर संकेत किया गया है।

(६) **परमार्थ शून्यता**–शून्यवादी के मतानुसार परमार्थ रूप निर्वाण भी शून्यरूप ही है। इसीलिए शून्यवाद दर्शन में परमार्थ शून्यता का वर्णन किया गया है।

(७) **संस्कृत शून्यता**–निमित्त प्रत्यय से जिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, वे संस्कृत कहलाते हैं। ये पदार्थ स्वभावतः शून्य हैं। यही संस्कृत शून्यता का आशय है।

(८) **असंस्कृत शून्यता**–उपर्युक्त कथन के अनुसार यदि संस्कृत पदार्थ शून्य हैं तो असंस्कृत भी शून्य ही हैं। उत्पत्ति एवं विनाशराहित्य आदि धर्म जिन पदार्थों के कहे जाते हैं, वे असंस्कृत हैं। परन्तु अनुत्पन्नता आदि धर्म भी सापेक्षिक हैं। अतः यह भी शून्य रूप ही हैं।

(९) **अत्यन्तशून्यता**–अत्यन्तशून्यता के द्वारा पदार्थों की पूर्ण शून्यता का संकेत किया गया है।

(१०) **अनवराग्र शून्यता**–अनवराग्र शून्यता वस्तुओं के आदि, मध्य और अन्त की शून्यता की समर्थक है।

(११) **अनवकार शून्यता**–अनवकार से अनुपधिशेष निर्वाण का तात्पर्य है। यह भी सापेक्ष होने के कारण शून्य रूप ही है।

(१२) **प्रकृति शून्यता**–प्रकृति स्वभाव की वाचक है और समस्त पदार्थों की प्रकृति न परिवर्तनीय है और न अपरिवर्तनीय। इसलिए प्रकृति भी शून्य रूप ही है।

(१३) **सर्वधर्म शून्यता**–जगत् के समस्त पदार्थ या धर्म स्वभावविहीन होने के कारण शून्य रूप हैं, यही सर्वधर्म शून्यता का सार है।

(१४) **लक्षण शून्यता**–लक्षण शून्यता के द्वारा समस्त पदार्थों, जैसे अग्नि आदि के उष्णत्व आदि की शून्यता सिद्ध की गई है।

(१५) **उपलम्भ शून्यता**–उपलम्भ शून्यता के द्वारा भूतादि कालत्रय की शून्यता की पुष्टि होती है।

(१६) **अभाव-स्वभाव शून्यता**–अनेक धर्म संयोग से उत्पन्न पदार्थ का अपना स्वतन्त्र स्वरूप नहीं होता। अभाव-स्वभाव शून्यता के अन्तर्गत उक्त तात्पर्य ही अन्तर्निहित है।

(१७) **भाव-शून्यता**–भाव-शून्यता के द्वारा स्कन्ध सत्ता का निषेध किया गया है।

(१८) **अभाव-शून्यता**–आकाशादि, जिनकी सांसारिक सत्ता नहीं है, अभाव रूप होने से शून्य रूप ही हैं।

(१९) **स्वभाव-शून्यता**–साधारणतया वस्तुओं का जो स्वभाव दिखाई पड़ता है वह भी शून्य रूप ही है।

(२०) **परभाव शून्यता**–परमार्थ तत्त्व की किसी बाह्य कारण (परभाव) द्वारा उत्पत्ति स्वीकार करना नितान्त अनुचित है, यही परभाव शून्यता के निरूपण का उद्देश्य है।

इस प्रकार बीस प्रकार की शून्यता के द्वारा शून्यवाद-दर्शन में शून्यता का विशद रूप से वर्णन किया गया है। अब यहाँ शून्यवाद सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए, शून्यवाद सम्मत धर्म निःस्वभावता, सत्यद्वयकल्पना एवं निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

धर्मनिःस्वभावता–शून्यवाद दर्शन के अनुसार सभी संस्कार मृषा एवं मोक्षधर्मा हैं। केवल निर्वाण ही मोक्षधर्मा न होकर सत्य है।[1] जगत् के समस्त धर्म निःस्वभाव होने से शून्य है। इस प्रकार निःस्वभावता ही शून्यता है।

शून्यता की सत्यद्वयकल्पना–विज्ञानवादी की तरह शून्यवादी भी दो प्रकार का सत्य मानता है–एक संवृत्ति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्य[2]। विज्ञानवादी के अनुसार परमार्थ सत्य 'विज्ञान' है और शून्यवादी के दर्शन में 'शून्य'। चन्द्रकीर्ति ने संवृत्ति सत्य एवं परमार्थ सत्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि संवृत्ति सत्य मिथ्या दृष्टि का विषय है और परमार्थ सत्य सम्यक् द्रष्टा का विषय[3]। यह सम्यक् द्रष्टा का विषय ही परम तत्त्व है। परन्तु स्वरूपतः यह भी असिद्ध है।

संवृत्ति सत्यानुवर्तिनी मिथ्या दृष्टि भी सम्यक् और मिथ्या भेद से दो प्रकार की है। प्रथम प्रकार की संवृत्ति के अन्तर्गत शुद्ध तथा नीरोग इन्द्रिय सम्पन्न व्यक्ति का बाह्य विषयक ज्ञान आता है और दूसरे प्रकार की संवृत्ति के अन्तर्गत दोषपूर्ण इन्द्रियों वाले व्यक्ति का ज्ञान आता है। इन दोनों में भी आपेक्षिक दृष्टि से दूसरे प्रकार का सांवृत्तिक सत्य मिथ्या है। यहां यह कह देना और संगत होगा कि शून्यवादी के अनुसार सांवृत्तिक पदार्थों की सत्यता केवल लोकदृष्टि से ही विचार्य है, परमार्थ दृष्टि से तो यह कृत्रिम ही है[4]।

जहाँ तक परमार्थ सत्य का प्रश्न है, वह शून्यवादी के अनुसार वाणी एवं ज्ञान का विषय नहीं

---

१. एतद्धि खलु भिक्षवः परमं सत्यं यदिह न मोक्षधर्म निर्वाणम्, सर्वसंस्काराश्च मृषामोक्षधर्माण इति। –मा० का० वृ०, पृष्ठ २३७।

२. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः।। –मा० का० २४।८।

३. मा० का० ६।२३।

४. व्यवहारमनादृत्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते।। –मध्यमकावतार २४।१०।

है। वह तो स्वसंवेद्य सत्य है। अतः इस तत्त्व का उपदेश भी असम्भव है; क्योंकि यह तो भाव, अभाव, स्वभाव, परभाव, सत्य, असत्य, शाश्वत-उच्छेद, नित्य, अनित्य, सुःख-दुःख, शुचि, अशुचि, आत्मा, अनात्मा, शून्य, अशून्य, लक्षण, लक्ष्य, एकत्व, अनेकत्व एवं उत्पाद-विरोधादि से वर्जित है। परन्तु परमार्थ तत्त्व की देशना उपर्युक्त सांवृत्तिक सत्य को स्वीकार किए बिना असंभव ही है। इसके साथ ही साथ यह भी तो निश्चित ही है कि परमार्थ ज्ञान के बिना निर्वाण की उपलब्धि नहीं होती। चन्द्रकीर्ति का कथन है कि उक्त सत्यद्वय का ज्ञान हुए बिना दुर्दृष्टा शून्यता उसी प्रकार नाश कर देती है, जिस प्रकार कि दुर्गृहीत सर्प अथवा दुष्प्रसाविता विद्या नाशकर्त्री सिद्ध होती है।[1]

विज्ञानवादी एवं शून्यवादी की संवृत्ति का अन्तर

संवृत्ति सत्य के विषय में विज्ञानवादी एवं शून्यवादी की विचारधारा में भेद है। शून्यवादी के अनुसार धर्मों का आभासरूप संवृत्तिसत्य अनधिष्ठान है। क्योंकि शून्यवाद के अनुरूप शून्य धर्मों से ही शून्य धर्म उत्पन्न होते हैं। विज्ञानवादी का मत उक्त विचार से भिन्न है। विज्ञानवादी के अनुसार तो संवृत्ति-धर्मों का अस्तित्व धर्मता-तथता विशेष के कारण है।[2]

निर्वाण

शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत शून्यता ही निर्वाण रूप है। शून्यवादी निर्वाण की सक्रम व्यवस्था बतलाते हुए कहता है कि शून्यता शिवरूप है और यह शिवरूप शून्यता अशेष प्रपंचोपशमकर्त्री है। इस शून्यता का ज्ञान होने पर अशेष कल्पनाजाल रूप प्रपंच का विनाश हो जाता है और प्रपंचविनष्टि होने पर समस्त विकल्पों की निवृत्ति हो जाती है। विकल्पनिवृत्ति होने पर अशेष कर्म क्लेशों की निवृत्ति की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार शून्यता सर्व प्रपंच की निवृत्ति का कारण होने से निर्वाणरूपा है। बौद्धदर्शन का निर्वाण अप्रहीण, अश्रम प्राप्त, अनुच्छिन्न, अशाश्वत तथा अनिरुद्ध एवं अनुत्पन्न है। शून्यवादियों ने निर्वाण को भावाभाव रूप माना है।

शून्यवादी आचार्य नागार्जुन ने निर्वाण रूप शून्य का लक्षण बतलाते हुए शून्य की निम्नलिखित पाँच विशेषताएँ बतलाई हैं–

(१) **अपर प्रत्यय**–शून्य उपदेशादि द्वारा ज्ञातव्य न होकर स्वसंवेद्य है। अद्वैतवादियों का अद्वैत तत्त्व ब्रह्म भी इसी प्रकार का है। इस विषय का विवेचन अभी आगे यथास्थान किया जाएगा।

---

१. विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।
सर्वो वा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता। –मध्यमकावतार २४।११।

२. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्मदर्शन, पृष्ठ ४७८।

(२) **शान्त**–निर्वाण रूप शून्य शान्त होने के कारण समस्त धर्मों एवं स्वभावों से रहित है।

(३) **प्रपंचाप्रपंचित**–शून्य तत्त्व वाणी द्वारा व्याख्येय नहीं है। शून्यवादी नागार्जुन ने इस विषय का विवेचन करते हुए जहाँ प्रपंच शब्द का उल्लेख किया है, वहाँ उसका अर्थ वाणी ही है।

(४) **निर्विकल्प**–शून्य तत्त्व निर्विकल्प होने के कारण चित्त के समस्त सत् एवं असत् विकल्पों से रहित है।

(५) **अनानार्थ**–सधर्म वस्तुओं की तरह शून्य तत्त्व नानार्थ नहीं है। वह अधर्मी है। इसीलिए अनानार्थ है।

इस प्रकार निर्वाण रूप शून्यता समस्त क्लेशों की निवृत्ति एवं परम सुख के अनुभव का नाम है।

चारों सम्प्रदायों (वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक) का दृष्टिकोण

वैभाषिक सर्वास्तिवाद के अनुसार, बाह्य जगत् प्रत्यक्ष का विषय है। यह प्रकृति एवं मन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है। प्रकृति की प्रत्यक्ष उपलब्धि मन से होती है। सौत्रान्तिक भी बाह्य जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके अनुसार बाह्य जगत् प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। यह सुनिश्चित है, कि मन में, किसी धर्म-पदार्थ का आभास बाह्य वस्तुओं की सत्ता स्वीकार किए बिना नहीं हो सकता। इसलिए सौत्रान्तिक द्वारा बाह्य जगत् की वस्तुओं का अनुमान किया जाता है। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक, दोनों बहुस्वभाववादी हैं। जहाँ तक, विज्ञानवाद का प्रश्न है, समस्त जागतिक विषय मन के विकल्प हैं। इस मत के अनुसार त्रैधातुक चित्त मात्र है। इस प्रकार विज्ञानवाद बाह्य जगत् के विषयों का सर्वथा प्रतिषेधक है। इस मत के अन्तर्गत रूपादि की विज्ञप्ति उत्पन्न होती है। चित्त, मनस् विज्ञान और विज्ञप्ति पर्यायवाची हैं। वस्तुतः विज्ञान ही अर्थ के रूप में अवस्थित होता है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार नेत्र रोग–तिमिर का रोगी, सर्वथा असत् केशचन्द्रादि का दर्शन करता है। इसके विपरीत माध्यमिक शून्यवादी ग्राह्य एवं मादक, विज्ञान एवं बाह्य जगत् दोनों का निराकरण करता है। वह सर्वातीत केवल शून्य को मानता है। किन्तु विज्ञानवादी, दोनों, ग्राह्य एवं ग्राहक का अन्यार्थ वाद मानते हैं, जबकि सर्वास्तिवादी वैभाषिक, विज्ञान एवं विज्ञेय, दोनों को 'द्रव्य सत्' कहते हैं। शून्यवादी, विज्ञान एवं विज्ञेय दोनों को परमार्थतः सत् न मानकर, उनकी सांवृत्तिक सत्ता स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत विज्ञानवादी मात्र चित्त अथवा विज्ञान को 'द्रव्य सत्' मानते हैं। विविध आत्मोपचारों एवं धर्मोपचारों को, वे मिथ्योपचार ही कहते हैं। इस प्रकार विज्ञानवादी के अनुसार, परिकल्पित आत्मा एवं धर्म, विज्ञान एवं विज्ञप्ति के परिणाम मात्र हैं। सारांशतः, चित्त एवं चैत्त एकमात्र वस्तु सत् हैं।

निर्वाण की असत्यता–जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत बन्धन एवं मोक्ष की विवेचना पारमार्थिक नहीं है, उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत भी निर्वाण की सत्यता असिद्ध बतलाई गई है। शून्यवादी आचार्य चन्द्रकीर्ति निर्वाण की अपारमार्थिकता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि निर्वाण

सम्बन्धी समस्त देशना अनिर्वाण की ही देशना है। आचार्य चन्द्रकीर्ति का कथन है कि निर्वाण की समस्त देशना का कार्य उसी प्रकार है, जिस प्रकार आकाशकृत ग्रन्थि आकाश द्वारा ही मोचित होती है[1]।

शून्यवाद और अद्वैतवाद

शून्यवाद एवं अद्वैतवाद दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य एवं वैषम्य दोनों मिलते हैं। साम्य का कारण तो यह है कि दोनों दार्शनिकों की उपनिषद्विचाररूपिणी मौलिक पृष्ठभूमि एक ही है। जहाँ तक दोनों दर्शन पद्धतियों के सिद्धान्तों के वैषम्य का प्रश्न है, बौद्ध एवं अद्वैती दोनों के चिन्तन की दशा का क्रम पूर्णतया भिन्न है। अतः शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य एवं वैषम्य का पाया जाना स्वाभाविक ही है। यहाँ इन दोनों सिद्धान्तों के साम्य एवं वैषम्य का विवेचन किया जाएगा। शून्यवादी एवं अद्वैतवादी दोनों ने ही परमार्थ सत्य को अद्वैत कहा है। शून्यवादी का यह सत्य शून्य है तो अद्वैतवादी का ब्रह्म। शून्यवादी ने शून्य की निःस्वभावता सिद्ध करके उसी निर्गुणता का पिष्टपेषण किया है, जो उपनिषदों की भाषा में पूर्णतया संकेतित हुई है[2]। शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत जिस प्रकार परमार्थ तत्त्व को अपर प्रत्यय, शान्त, प्रपंचाप्रपंचित, निर्विकल्प एवं अनानार्थ कहा गया है, उसी प्रकार अद्वैतवाद के प्रस्थापकों ने भी परमार्थ तत्त्व को अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्यय स्वरूप, प्रपंचोपशम रूप, शान्त, शिवरूप तथा अद्वैत सत्य कहा है[3]। उक्त लक्षणों के कारण शून्यवादी का शून्य[4] एवं अद्वैतवादी का अद्वैत तत्त्व वाङ्मनसातीत हैं[5]। जिस प्रकार अद्वैतवाद सिद्धान्त के ब्रह्म एवं मुक्ति में भेद न होकर ब्रह्म ही मुक्तिस्वरूप है,[6] उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन में भी शून्यता ही निर्वाण है[7]। जैसा कि शून्यवादी की सत्यद्वय कल्पना की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, व्यवहार का आश्रय लिए बिना परमार्थ की देशना नहीं की जा सकती[8]। इस प्रकार शून्यवादी परमार्थ की उपलब्धि के लिए व्यवहार की भी देन मानता है[9]। अद्वैतवादी भी शून्यवादी के समान असत्य की उत्पत्ति स्वीकार करता है[10]। अद्वैती शंकराचार्य ने तो लोक व्यवहार को स्पष्ट ही सत्यानृत का मिथुन कहा है[11]। यह विवाद दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों में समान ही है कि परमार्थ की उपलब्धि हो जाने पर

---

१. अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम्।
आकाशेन कृतो ग्रन्थिराकाशेनैव मोचितः।। म० का० वृ० पृष्ठ ५४०।

२. केनोपनिषद्, ३।११, बृ० उ० २।५।१९, ३।८।८, कठ० उ० १।३।१५, ईशावास्योपनिषद् ५,६,७, मुण्डकोपनिषद् १।६, माण्डूक्योपनिषद् ७ तथा देखिए शांकर भाष्य।

३. मा. उ. ७ तथा शांकर भाष्य।

४. बोधिचर्यावतार, ९।२।

५. कठोपनिषद् १।२।२३।

६. ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था–ब्र० सू०, शा० भा० ३।४।५२।

७. शून्यतैव सर्वप्रपंचलक्षणत्वान्निर्वाणमुच्यते।–मा वृ०, पृष्ठ ३५१।

८. मा० का० २४।१०।

९. वही, २४।१०।

१०. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

११. सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः –ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।

तत्ववेत्ता के लिए शून्यवादी के सांवृत्तिक सत्य एवं अद्वैतवादी के व्यावहारिक सत्य की सत्ताएं शेष नहीं रह जातीं। इस प्रकार शून्यवादी के शून्य एवं अद्वैतवादी के परमार्थ सत्य–ब्रह्म सम्बन्धी विचार में पर्याप्त समानता है। इसी समानता के कारण एकाधिक विद्वानों ने शून्यवादी बौद्ध को अद्वैतवादी[1] और शून्यवाद को अद्वैतवाद कहा है[2]। परन्तु शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के अन्तर्गत कुछ ऐसा विरोध मिलता है कि दोनों की पृथक् स्थिति पूर्णतया निश्चित हो जाती है। अब दोनों सिद्धान्तों में विरोध मिलता है, कि दोनों की पृथक् स्थिति पूर्णतया निश्चित हो जाती है। अब दोनों सिद्धान्तों के विरोध का विवेचन किया जाएगा।

शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर साम्य होने पर भी यह भेद स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत जहाँ परमार्थ सत्य-ब्रह्म निश्चित रूप से 'सत्' घोषित किया गया है, वहाँ शून्यवाद के अन्तर्गत अनेक प्रकार से शून्य की अनिर्वचनीयता[3] का वर्णन किया गया है। इस प्रकार शून्यवाद दर्शन में अनिर्वचनीयता से जिस सत्, असत्, सदसत् एवं अनुभयात्मक तत्त्व[4] की ओर संकेत किया गया है, वह निश्चय ही अद्वैतवादी के 'सत् ' ब्रह्म से भिन्न है। अद्वैत दर्शन में तो सदसद्भिन्नत्वादि लक्षण ब्रह्म के न होकर माया के बतलाए गए हैं[5]। इसीलिए अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय न कहकर माया को ही अनिर्वचनीय कहा गया है। अतः शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत शून्य को अनिर्वचनीय मानने के कारण शून्यवाद को अद्वयवाद या अद्वैतवाद न कहकर अनिर्वचनीयवाद कहना अधिक संगत है। परन्तु शून्यवादी द्वारा शून्य की अनिर्वचनीय तत्त्व के रूप में स्थापना होने पर शून्यवाद को अभावमूलक या असद्वादमूलक दर्शन नहीं समझना चाहिए। इसीलिए शून्यवाद के समालोचकों ने शून्य की सत्ता मानने में संकोच नहीं किया है[6]। शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के उपर्युक्त भेद के अतिरिक्त यह अन्तर भी विचार योग्य है कि अद्वैतवादियों ने ब्रह्मावस्था में जहाँ अलौकिक ब्रह्मानन्द का अनुभव किया है, वहाँ शून्यवादी ने मानसिक परमसुख की चर्चा की है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, शून्यवाद दर्शन में तो शून्यता ही निर्वाण रूप है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के परमार्थ सत्य सम्बन्धी सिद्धान्त में परस्पर पर्याप्त साम्य होते हुए भी, बहुत कुछ मौलिक वैषम्य मिलता है। अतः दोनों सिद्धान्तों का पार्थक्य स्पष्ट ही है।

---

१. नामलिंगानुशासनम् –१।१४, नैषधीयचरितम्, २१।८७। –चण्डिकाप्रसादशुक्लद्वारा सम्पादित–१९५१, प्रथमसंस्करण।

२. अद्वैतवादसुगतस्य हन्तिपदक्रमो यच्च जडद्विजानाम्। –धर्मशर्माभ्युदय, १७।९६।

३. खण्डनखण्डखाद्य, प्रथम परिच्छेद।

४. माध्यमिक कारिका, १।७।

५. विवेकचूडामणि, १११।

६. There is in the midst of all then negative decriptions an inconvenable positive which is Sunya. (M.M. Harprasad Shastri. Journal of the Buddhist Text Society, Vol. 2. p. III. p. 6)

सत्तासम्बन्धी विचार

शून्यवादी की सत्यद्वय कल्पना का विवेचन करते समय शून्यवादी के सांवृत्तिक सत्य एवं पारमार्थिक सत्य का विवेचन पीछे किया जा चुका है। शून्यवादी की ही तरह अद्वैतवादी भी व्यावहारिक सत्ता एवं पारमार्थिक सत्ता को तो स्वीकार करता ही है, साथ ही वह प्रातिभासिक सत्ता का भी पक्षपाती है। शून्यवादी ने पृथक् रूप से भी प्रातिभासिक सत्ता को तो नहीं स्वीकार किया है, परन्तु शून्यवादी की मिथ्या संवृत्ति अद्वैतवादी की प्रातिभासिक सत्ता के पूर्ण रूप से समीप कही जा सकती है[1]।

संवृत्ति एवं अविद्या

शून्यवादी के जिस सांवृत्तिक सत्य का ऊपर हमने उल्लेख किया है, उसका मूल संवृत्ति है। इसी प्रकार अद्वैतवादी के जिस व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्य का ऊपर उल्लेख हुआ है उसका मूल अविद्या या माया है। अद्वैतवादियों की ही तरह शून्यवादियों ने भी संवृत्ति को अविद्यारूप माना है। यहीं तक नहीं, जिस प्रकार कि अद्वैतवाद दर्शन में माया आवरण शक्ति के रूप में परम तत्त्व की आवरणरूपिणी और विक्षेप शक्ति के रूप में जगत् की सृष्टिकर्त्री मानी गयी है,[2] उसी प्रकार शून्यवाद के अन्तर्गत भी अविद्यारूपिणी संवृत्ति यथार्थ परिज्ञान की आवरणकर्त्री तथा असत् पदार्थ की आरोपिका बतलाई गई है[3]। इस प्रकार शून्यवादी की संवृत्ति एवं अद्वैतवादी की अविद्या में भी पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती है।

शून्यवादी एवं अद्वैतवादी के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय जगत् के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। अद्वैतवादी परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण जगत् की सत्ता को व्यावहारिक रूप से सत्य मानता है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके व्यावहारिक जगत् की यथार्थता का समर्थन किया गया है। यहाँ तक कि अद्वैत मत में मुक्तावस्था में भी भौतिक जगत् का निराकरण नहीं किया जाता। अन्तर केवल यही है कि मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी को जगत् और ब्रह्म में भेद की वह प्रतीति नहीं होती, जो कि आत्मबोध न होने पर होती है। परन्तु शून्यवाद दर्शन की स्थिति अद्वैत मत के उक्त सिद्धान्त के विपरीत है। शून्यवाद के अन्तर्गत जगत् के भौतिक रूप का निराकरण करते हुए सर्वत्र शून्यता का ही प्रतिपादन किया गया है। जागतिक पदार्थों की स्थिति के सम्बन्ध में भी शून्यवादी एवं अद्वैतवादी के विचार भिन्न-भिन्न हैं। अद्वैत वेदान्त में जहाँ जगत् के पदार्थों को उत्पत्ति-विनाशशील कहा गया है,[4] वहाँ शून्यवादी जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश का विरोधी है[5]। इस प्रकार शून्यवाद के अन्तर्गत जगत् के पदार्थ अनुत्पन्न एवं अनुच्छिन्न माने गए हैं। जगत् के पदार्थों के उत्पाद एवं विनाश को शून्यवादी 'प्रतीत्य' मानता है। इसीलिए उसका शून्यवाद सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पादवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का निरूपण शून्यवाद का विवेचन

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृष्ठ २१४।
२. विवेकचूडामणि १४१, १४२।
३. वोधिचर्यावतार-पंजिका, पृ० ३५२।
४. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२६।
५. उदयो नास्ति न व्ययः, माध्यमिक कारिका, XXIV.

करते समय किया जा सकता है।

निर्वाण या मोक्ष जीवन की चरमसाध्यावस्था का नाम है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार परमार्थ अवस्था में निरोध, उत्पत्ति, बद्धता, साधकता, मुमुक्षुत्व एवं मुक्तता सम्बन्धी प्रश्न नहीं उपस्थित होते,[1] उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन में भी निर्वाण को अनिर्वाण कहा गया है[2]। शून्यवादी ने तो वास्तविक निर्वाण की प्राप्ति की परिकल्पना को ही मिथ्या ज्ञान कहा है[3]। इसके अतिरिक्त शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के निर्वाण या मुक्ति की स्थिति में व्यावहारिकसत्तागत ज्ञान का उच्छेद हो जाता है। दोनों ही दर्शन सिद्धान्तों के अनुसार निर्वाण एवं मुक्तिकाल में प्रपंचप्रवृत्ति का विलय स्वीकार किया गया है[4]। अद्वैतवादियों के जीवन्मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त की तरह शून्यवादी बौद्धों को भी यह मान्य ही है कि इसी जीवन में निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। उक्त कथन का उल्लेख भगवान् बुद्ध द्वारा बड़े बलपूर्वक किया गया है[5]। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिकों द्वारा अंगीकृत परिनिर्वाण और अद्वैतवादियों द्वारा स्वीकृत विदेह मुक्ति का सादृश्य भी देखा जा सकता है।

उपर्युक्त साम्य होते हुए भी शून्यवाद एवं अद्वैतवाद की मुक्तिविषयक स्थिति का यह अन्तर विचारणीय है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत साधक मुक्तावस्था को प्राप्त होकर स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है और ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है। अतः मुक्तावस्था सच्चिदानन्दस्वरूप सम्पन्न है। इसके विपरीत शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत निर्वाण को न भावरूप स्वीकार किया गया है और न अभावरूप[6]। इसके अतिरिक्त अद्वैतवादियों ने जहाँ मुक्तावस्था में ब्रह्मानन्द रूप परमानन्द की चर्चा की है, वहाँ बौद्धदर्शन में भी निर्वाण काल में परमसुख का अनुभव स्वीकार किया गया है[7]। परन्तु यहाँ यह और विचारणीय है कि बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत उक्त परमसुख या आनन्द निर्विषय मन का सुख या आनन्द और अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत वह आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द है। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन और शून्यवाद दर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत जहाँ जीव का मोक्ष माना गया है वहाँ शून्यवादी के अनुसार चित्त का निर्वाण स्वीकार किया गया है[8]।

---

१. आत्मोपनिषत् , ३१।
२. अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम् ।। –म० का० वृ, पृ० ५४०।
३. माध्यमिकवृत्ति (B.T.S.), पृ० १०१, १०८।
४. Nirvāṇa is nearly the cessation of the seeming phenomenal flow (Prapañca Pravṛtti). *S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 142.
५. अंगुत्तरनिकाय, तिकनिपात। –देखिए बुद्धवचन, पृ० १७।
६. न चाप्रवृत्तिमात्रं भावाभावेति परिकल्पितुं पार्य्यते, एवं न भावाभावं निर्वाणम् ।
–माध्यमिक वृत्ति, पृ० १९७।
७. निब्बाणं परमं सुखं। भागन्दियसुत्तन्त –मज्झिम० २।३।५ धम्मपद १५।८ थेरीगाथा, गाथा ४६७।
८. पदीपस्सेवनिब्बाणं विमोक्खोअदुचेतसो। थेरीगाथा, गाथा ११६।
तथा देखिए–आचार्य नरेन्द्रदेव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ५।

ऊपर शून्यवाद एवं अद्वैतवाद का जो तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उससे, एक ओर तो शून्यवाद एवं अद्वैतवाद सिद्धान्तों की शृंखला का योग सिद्ध होता है और दूसरी ओर दोनों की मूल विचारभूमियों का विरोध प्रतीत होता है। दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों के मौलिक सादृश्य के कारण ही विद्वानों एवं अनेक आलोचकों ने अद्वैतवाद के प्रमुख प्रस्थापक शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध तक कह दिया है। यहाँ उक्त समस्या की ओर दृष्टिपात करना अप्रासंगिक न होगा।

क्या अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य 'प्रच्छन्न बौद्ध' हैं ?

ऊपर, द्वैतवाद दर्शन एवं बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन करते समय अद्वैतवाद तथा उक्त बौद्ध सिद्धान्तों में साम्य एवं वैषम्य दोनों मिले हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र के अनेक आचार्यों एवं समालोचकों ने अद्वैतवाद एवं बौद्ध सिद्धान्तों के मौलिक वैषम्य की ओर ध्यान न देकर, उक्त सिद्धान्तों की कतिपय साम्यताओं के आधार पर ही शंकराचार्य के अद्वैतवाद दर्शन के मूल में बौद्ध दर्शन के विचार-तथ्यों के दर्शन किए हैं। इसके अतिरिक्त इन समालोचकों ने अद्वैतवाद के प्रस्थापक आचार्य शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ कतिपय प्रमुख मतों का उल्लेख करेंगे।

पद्मपुराण का मत–पद्मपुराण के अन्तर्गत शंकराचार्य के मायावाद को 'असत् शास्त्र' कहते हुए उस पर प्रच्छन्न बौद्धत्व का आरोप लगाया गया है[1]।

रामानुजाचार्य का मत–श्रीभाष्यकार आचार्य रामानुज ने शंकराचार्य को 'वेदवादच्छद्म' प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है[2]। उन्होंने शंकराचार्य के ज्ञानवाद को उपहासास्पद भी बतलाया है।

भास्कराचार्य का मत–भास्कराचार्य ने भी शंकर-दर्शन पर बौद्ध दर्शन के पूर्ण प्रभाव के दर्शन करते हुए, शांकर मायावाद को महायान बौद्ध दर्शन से ही गृहीत बतलाया है[3]।

योगवासिष्ठ का मत–योगवासिष्ठ के अन्तर्गत तो शून्यवादी के शून्य, ब्रह्मवादी के ब्रह्म और विज्ञानवादी के 'विज्ञान' को एक समान ही सिद्ध किया गया है[4]।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त उदयनाचार्य, आनन्दतीर्थ एवं भीमाचार्य आदि प्राचीन आचार्यों

---

१. मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि, कलौ ब्राह्मणरूपिणा।।–पद्मपुराण।
तथा देखिए *N. Shastri* : A Study of Śāṅkara, p. 92.

२. ......वेदवादच्छद्मप्रच्छन्नबौद्धनिराकरणे निपुणं प्रपंचितम्।–श्रीभाष्य २।२।२७।

३. महायानबौद्धगाथितं मायावादम्।–भास्करभाष्य १।४।४५।

४. यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम्।।–यो० वा०, ५।८७।१८।

ने भी मायावादसमर्थक शांकर दर्शन के मूल में, प्रच्छन्न रूप से बौद्ध विचारों का समर्थन किया है[१]। इन आचार्यों के अतिरिक्त कतिपय निम्नलिखित समालोचकों के कथन भी विचारणीय है।

डा० दास गुप्त का मत–भारतीय दर्शन के बृहत् इतिहास के लेखक डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने शंकराचार्य के 'ब्रह्म' को नागार्जुन के 'शून्य' के अत्यंत समीप बतलाते हुए कहा है–

His Brahman was very much like the Śūnya of Nāgārjuna[२]

उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त डा० दासगुप्त ने विज्ञानभिक्षु आदि प्रच्छन्न बौद्धवादियों के मत का अनुसरण करते हुए शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध बतलाया है तथा उनके दर्शन को उपनिषद् प्रतिपादित आत्मा की शाश्वतता के विचार के साथ बौद्धविज्ञानवाद एवं शून्यवाद का मिश्रण कहा है[३]।

डा० वरुआ का मत–डा० बी० एम० बरुआ तो माध्यमिक दर्शन के अभाव में शांकर दर्शन की सत्ता को ही असम्भव मानते हैं[४]।

राहुल सांकृत्यायन का मत–भारतीय दर्शनशास्त्र के बहुज्ञ समालोचक विद्वान् राहुल सांकृत्यायन ने शांकर मायावाद को नागार्जुन के शून्यवाद का ही नामान्तर मात्र कहा है[५]।

भरतसिंह उपाध्याय का मत–बौद्ध दर्शन के समालोचक लेखक भरतसिंह उपाध्याय तो शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने वालों से एक पग और आगे बढ़ गए हैं। उपाध्याय जी ने शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध के साथ प्रकट बौद्ध भी कह दिया है। अपने मत को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है–

ब्रह्म को शून्यत्व की ओर ले जाने के कारण, आत्मा को शाश्वत विज्ञान का रूप देने के कारण, शंकर प्रच्छन्न या प्रकट बौद्ध थे[६]।

समालोचना

ऊपर हमने शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' सिद्ध करने वाले जिन प्राचीन आचार्यों एवं अन्य

---

१. देखिए–भरतसिंह उपाध्याय : बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीयदर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०२८।

२. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 493.

३. वही।

४. डा० बरुआ के मत के लिए देखिए–*A.K. Roy Chaudhuri* : The Doctrine of Māyā, p. 186.

५. दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ ८२०, किताब महल १९४७, द्वितीय संस्करण।

६. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्धदर्शन तथा भारतीयदर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०४५।

समालोचकों के मत दिए हैं, उनके मतों का आधार शांकर मायावाद, अद्वैतवाद एवं विज्ञानवाद और शून्यवाद सिद्धान्तों की यत्किंचित् समानता तथा अध्ययन की अनुकरणमूलक प्रवृत्ति है। शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद दर्शन के पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन का अभाव समालोचकों की दृष्टि, निज-मत-स्थापन के सम्बन्ध में, पक्षपातपूर्ण हो गई है।

पद्मपुराण के अन्तर्गत मायावाद को असत् शास्त्र कहकर उस पर प्रच्छन्नबौद्धत्व का आरोप किया गया है। मेरे विचार से, जैसा कि मायावाद को स्पष्ट करते समय कहा जा चुका है मायावाद असत् शास्त्र कथंचित् नहीं है। यहाँ यह कहना ही पर्याप्त होगा कि बौद्ध दर्शन के विपरीत मायावाद के अन्तर्गत सदसद्वाद से विलक्षण अनिर्वचनीय सत् की प्रतिष्ठा की गई है। अतः मायावाद असत् शास्त्र नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पद्मपुराण का उक्त मत अधिक प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

रामानुजाचार्य ने शांकर वेदान्त की ज्ञानमात्र की परमार्थता के आधार पर शंकराचार्य को 'वेदवादच्छद्मप्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। वैसे तो, रामानुजाचार्य के कथन की पुष्टि में यह कहना सत्य ही है कि शांकर वेदान्त में जहाँ ब्रह्मज्ञान परमार्थ सत्य है, वहाँ विज्ञानवादी के अनुसार विज्ञप्ति मात्र ही परमार्थ सत्य है, परन्तु जैसा कि विज्ञानवाद एवं अद्वैतवाद दर्शन का भेद प्रदर्शित करते समय पीछे कहा जा चुका है, विज्ञानवादी के मतानुसार बाह्य जगत् भी विज्ञानमात्र ही है, जब कि शांकर अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत बाह्य जगत् की प्रत्यक्ष व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की गई है। यहाँ तक कि अद्वैत वेदान्त मत के अन्तर्गत जीव के मुख्य होने पर भी प्रत्यक्ष जगत् का निराकरण नहीं होता।

भास्कराचार्य का भी मायावाद को महायानिक बौद्ध दर्शन से गृहीत बतलाना संगत नहीं प्रतीत होता। इस कथन के समर्थन में हमारा तर्क है कि मायावाद के अन्तर्गत जगत् के सम्बन्ध में महायान बौद्ध दर्शन की तरह शून्यता का प्रतिपादन किया गया है, अपितु जैसा कि कह चुके हैं, व्यावहारिक जगत् की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। अद्वैतवाद एवं शून्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन करते समय इस विषय का निरूपण किया जा चुका है।

जहाँ तक, शंकराचार्य के प्रच्छन्नबौद्धत्व के सम्बन्ध में, डा० दासगुप्त, डा० बी० एम० बरुआ, राहुल सांकृत्यायन एवं भरतसिंह उपाध्याय के मतों का प्रश्न है, इन समालोचक विद्वानों ने शांकर अद्वैतवाद एवं मायावाद तथा विज्ञानवाद एवं शून्यवाद की यत्किंचित् समानता के आधार पर शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शांकर अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद, बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद से पूर्णतया भिन्न है, इस तथ्य का समर्थन अभी पीछे किया जा चुका है। अतः, यहाँ तो हम यह कहना पर्याप्त समझेंगे कि डा० दासगुप्त का शांकर दर्शन के मूल में बौद्ध विज्ञानवाद की विचारभूमि खोजना उचित नहीं है। जहाँ तक शांकर दर्शन के अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद को शून्यवाद कहकर शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने की बात है, मेरे विनम्र विचारानुसार यह भ्रममात्र ही है। इस भ्रम की आशंका आचार्य शंकर को भी थी। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि दिग्-देश-गुण-गति-फलभेदशून्य

परमार्थ सत्य अद्वयब्रह्म मन्दबुद्धियों को असत्-सा प्रतीत होता है[1]। शंकराचार्य के उक्त कथन से शून्यवाद तथा अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद का भेद स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित होता है। अतः जिन शंकराचार्य की समालोचक दृष्टि के अनुसार वैनाशिकों का सिद्धान्त सर्वथा अनुपपन्न है,[2] उन्हीं के सिद्धान्त के मूलरूप का शून्यवाद की पृष्ठभूमि में दर्शन करना निर्मूल एवं तर्कापुष्ट धारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार जैसा कि शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के तुलनात्मक अध्ययन के अवसर पर देखा जा चुका है माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) एवं अद्वैतवाद में पर्याप्त विरोध है। अतः डा० बरुआ का शांकर दर्शन के अद्वैतवाद एवं मायावाद को शून्यवाद के पूर्णतया समान मानकर माध्यमिक दर्शन के अभाव में शांकर दर्शन की सत्ता को ही असंभव मानना या शांकर मायावाद को नागार्जुन के शून्यवाद का ही नामान्तर कहना सर्वथा अनुचित ही कहा जाएगा। इसके अतिरिक्त भरतसिंह उपाध्याय का शंकराचार्य को 'प्रकट बौद्ध' कहना शांकर अद्वैतवाद और बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन के अभाव का फल या पूर्वाग्रह का परिणाम मात्र कहा जा सकता है। वस्तुतः, जैसा कि अद्वैतवाद और विज्ञानवाद एवं शून्यवाद सिद्धान्तों के पारस्परिक मौलिक वैषम्य से स्पष्ट किया जा चुका है, अद्वैतवादी शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहना किसी प्रकार संगत नहीं है। संक्षेपतः, अपने मत की पुष्टि में हम निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं–

(१) बौद्धदर्शन के प्रस्थापक और अद्वैतवादी आचार्य शंकर दोनों ने ही उपनिषद्रूपिणी माता का स्तन्यपान किया था, अतः दोनों के सिद्धान्तों में समानता होनी स्वाभाविक ही है। परन्तु इस समानता के आधार पर आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहना कदापि संगत नहीं है। दोनों उपनिषद् विद्या के ऋणी हैं। शांकर अद्वैतवाद तो उपनिषद् विद्या की व्याख्या है ही। बौद्धदर्शन के समालोचकों ने भी मूल बौद्धदर्शन पर उपनिषदों का प्रभाव निःसंकोच स्वीकार किया है[3]।

(२) शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्ध सिद्धान्तों में मौलिक विरोध है। यह विरोध इसी से स्पष्ट है कि अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्य ने विज्ञानवाद आदि बौद्ध सिद्धान्तों का निराकरण किया है[4]।

(३) शांकर अद्वैतवाद एवं बौद्धदर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में ही समालोचकों ने शांकर अद्वैतवाद एवं मायावाद को पूर्णतया बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के समान माना है, परन्तु दोनों में मौलिक वैषम्य है। इसीलिए तो अद्वैत वेदान्त के प्रख्यात व्याख्याता विवरणकार प्रकाशात्मयति ने

---

१. दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसद् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनाम् असद् इव प्रतिभाति।
–छा० उ०, शा० भा० ८।१।१ का प्रास्ताविक।

२. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३२।

३. It appears that early Buddhism was fundamentally influenced by the Upanisads which gave to it its early tendencies towards idealism and Absolutism. Studies in the origin of Buddhism, p. 556, *Dr. G.C. Pandeya* (University of Allahabad, 1957).

४. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८ ३२।

वेदान्तवाद को सुगतविज्ञानवाद के समान कहने वाली वाणी को 'दुर्जनरमणीय वाणी' कहा है[1]।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह लेखक शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध न स्वीकार करने वाले डा० राधाकृष्णन्[2] एवं सर जान वुडरफ[3] के मत का पूर्णतया समर्थक है। इस प्रकार शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष सूत्र

विश्व सत् एवं असत् की प्रहेलिका है। वैदिक दर्शन से आरम्भ कर आज तक इन्हीं सत् तथा असत् तत्त्वों की विवेचना एवं विश्लेषण भारतीय चिन्तनधारा का मूलाधार रहा है। इसी का पुष्पन एवं पल्लवन दृष्टचिन्तक एवं प्रकारान्तर से भारतीय दर्शन के विचारकों एवं आचार्यों के द्वारा सम्पन्न होता रहा है। सदसत् रूप से निष्पन्न हुआ है। किन्तु वेदों की मूल विचारधारा, आस्तिकमयी–आस्तिक है। वेद विविध ज्ञान-भण्डार का नाम है। इनके दार्शनिक एवं आध्यत्मिक पक्ष का विशेष उद्घाटन एवं व्याख्या उपनिषदों में सम्पन्न हुई है। इस तथ्य का उल्लेख समय-समय पर किया जा चुका है, कि उपनिषदें ही भारतीय दर्शन का मूलाधार हैं। उपनिषदों में वर्तमान दार्शनिक सूत्रों के आधार पर ही, विभिन्न आस्तिक सम्प्रदायों के प्रासाद निर्मित हुए हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, बौद्धदर्शन की चिन्तनधारा के मूल में भी उपनिषदों के आत्मवाद की प्रतिक्रिया ही मूल कारण है, किन्तु जैसा कि स्वाभाविक है, बौद्धदर्शन ही नहीं, समस्त नास्तिक दर्शनों में अनात्मवाद एवं अनीश्वरवाद की स्थापना के भगीरथ प्रयत्न के बावजूद आत्मवादी नास्तिक दर्शनों को सर्वथा मुक्ति नहीं मिल पाई है। जैसा कि अभी तक देखा गया है, और आगे भी स्पष्ट होगा, नास्तिक दर्शनों में भी आत्मवाद की भूमिका कहीं स्पष्ट रूप से वर्त्तमान रही है।

सही बात तो यह है, कि सभी दर्शनों के अन्तर्गत मानव को सांसारिक क्लेशों से मुक्त करने के लिए जगत् एवं परमार्थ की व्याख्या ही प्रचुर रूप से की गई है। परमार्थ तत्त्व में आत्मा, ईश्वर एवं मोक्ष स्वतः ही अन्तर्निहित हैं। किन्तु यदि आस्तिक दर्शनों में, क़िसी न किसी रूप में आत्मतत्त्व के निरूपण एवं विश्लेषण पर विशेष बल दिया गया है, तो नास्तिक दर्शनों में जगत् के स्वरूप की व्याख्या की चिन्ता ही प्रबल रही है। एक प्रकार से यह समीचीन भी है, क्योंकि आत्मा एवं ईश्वर-के प्रत्यक्ष का विषय न होने के कारण, चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दार्शनिकों की दृष्टि जाती भी कहाँ। जहाँ तक बौद्धों का प्रश्न है, वैभाषिकों से लेकर माध्यमिकों तक जगत् की व्याख्या अनेक रूपों में सम्पन्न हुई है। यदि वैभाषिकों–सर्वास्तिवादियों ने जागतिक विषयों को प्रत्यक्ष का विषय कहा है, तो सौत्रान्तिकों ने इन्हें बाह्यानुमेय कहा है, विज्ञानवादी योगाचारों ने विज्ञान मात्र एवं माध्यमिकों ने शून्यता मात्र कहा है। इस

---

१. दुर्जनरमणीयां वाचं जल्पति सुगतः विज्ञानवादसमानोऽयं विज्ञानवाद इति। पंचपादिकाविवरण, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीयदर्शन, भाग २, पृ० १०३२ से उद्धृत।

२. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 432.

३. *Sir John Woodroffe* : The World as Power, p. 72, (Ganesh and Co., Madras)

प्रकार बौद्धदर्शन का उपसंहार जगत् के प्रति अनास्थामूलक दृष्टि के साथ हुआ है। क्षणभङ्गवाद के द्वारा भी बौद्धों ने जगत् के प्रति अनास्था की दृष्टि की ही पुष्टि की थी। वैसे तो, वेदान्तियों ने भी जगत् की क्षणभंगुरता एवं नश्वरता का प्रतिपादन किया था, किन्तु दोनों में अन्तर यह है, कि वेदान्त में बाह्य जगत् की सत्ता का निराकरण नहीं किया गया है, जब कि बौद्ध-क्षणभंगवाद के अन्तर्गत पदार्थों की क्षणिक उत्पत्ति कहकर, उनके प्रत्यक्ष का ही निषेध किया गया है। किन्तु यहाँ यह विवेच्य है, कि क्षणभङ्गवाद का सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर निर्दोष नहीं सिद्ध होता। बौद्धों के क्षणभंगवाद के अन्तर्गत निम्नलिखित दोष स्पष्टतः वर्त्तमान हैं–

कृतप्रमाणदोष–प्रथमतः, यदि क्षणभङ्गवाद के अनुसार किसी भी पदार्थ की प्रथम क्षण में उत्पत्ति एवं दूसरे क्षण में विनाश माना जाएगा, तो जगत् के व्यवहार एवं परमार्थ की सिद्धि कथमपि सिद्ध नहीं हो सकेगी–"व्यवहारमनादृत्य परमार्थो न विद्यते"। दूसरी बात यह है कि क्षणभङ्गवाद के अनुसार कोई भी क्रिया फल को उत्पन्न किए बिना ही नष्ट हो जाएगी। यही कृतप्रणाश दोष है।

अकृतकर्मयोग दोष–क्षणभङ्गवाद के अनुसार, क्रिया को किए बिना ही अकृत कर्मों के फल को भोगना होता है। यही अकृतकर्मयोग दोष है।

भवभंग दोष–सिद्धान्ततः कर्मफलभोग के लिए पुनर्जन्मवाद को स्वीकार किया गया है। किन्तु क्षणभंगवाद के स्वीकार करने पर जगत् (भव) की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव होगी। ऐसी स्थिति में, कर्मफलयोग एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त कैसे सार्थक होगा। यही भवभंग दोष है।

मोक्षदर्शन दोष–बौद्ध दर्शन में, मोक्ष प्राप्ति के लिए, हीनयान में, अष्टांगिक मार्ग का उपदेश किया गया है। किन्तु जब कर्मफल क्षणिक होगा, तो मोक्ष-प्राप्ति का अवसर कैसे सम्भव होगा ?

स्मरणभंग दोष–स्मरणभंग दोष यह है, कि क्षणिकवाद के अङ्गीकार करने पर, यह वही व्यक्ति है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा सम्भव न होगी, क्योंकि क्षणिकवाद के अनुसार जिसने उस व्यक्ति को पहले देखा था, उसकी उपस्थिति आज सम्भव न होगी। अतः पूर्वदृष्ट व्यक्ति का स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञान नितान्त असंभव है।

अत एव जगत् को क्षणभंगुर एवं नश्वर कहने वाले वेदान्तियों ने भी बौद्धों के क्षणभंगवाद का निराकरण किया था[1]।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, बौद्धदर्शन में संसार के प्रति अनास्था एवं अस्वीकृति की चरम सीमा विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के अन्तर्गत मिलती है, जहाँ जागतिक विषयों की विज्ञानमात्रता तथा शून्यता सिद्ध की गई है। वैसे तो, यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाए, तो बौद्धों के 'विज्ञान' एवं 'शून्य' का आत्मा (स्वरूप) औपनिषद् वेदान्त का ही है। निदर्शनार्थ, यदि बौद्धों के अनुसार जगद्वेत्ता एवं विज्ञान मात्र है, तो वेदान्त के अनुसार भी नामरूपात्मक जगत् मानस ही है। इसी प्रकार, शून्यता यदि नामरूप का राहित्य एवं अनिर्वचनीयता है, तो वेदान्त के परमार्थ सत्यस्वरूप आत्मा-ब्रह्म की

१. शा. भा., ब्र. सू. २।२।१८।

नामरूपता भी उपनिषदों की शैली में 'नेति नेति' द्वारा निराकृत है। मनसा वाचा अव्याख्येय ब्रह्म की अनिर्वचनीयता भी स्वतः सिद्ध है। किन्तु यहाँ यह विशेष रूप से अवलोकनीय है, कि वेदान्त में जागतिक विषयों का आधार मानस होते हुए भी, वाह्य जगत् की भौतिक सत्ता को अङ्गीकार किया गया है, जबकि विज्ञानवादी बौद्ध ने बाह्य जगत् का सर्वथा निराकरण किया है। शून्यवाद के सन्दर्भ में भी, यह तथ्य अवलोकनीय है, कि जहाँ शून्यवादी शून्यता के अतिरिक्त और कुछ नहीं स्वीकार करता, वहाँ वेदान्त में ब्रह्म 'सत् एवं ज्ञान' स्वरूप माना गया है– "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"। अतः यदि हम विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्ध को अर्धवेदान्ती एवं अर्ध-बौद्ध कहें तो अनुचित न होगा, क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि में यदि वेदान्त है, तो आवरण बौद्ध दार्शनिक मान्यताओं का है। इससे यह निष्कर्ष भी अनुचित न होगा, कि जिस प्रकार शंकराचार्य जैसे वेदान्ती को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाता है, उसी प्रकार बौद्ध भी प्रच्छन्न वेदान्ती है, क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा गया है, बौद्धदर्शन की पृष्ठभूमि में, औपनिषद वेदान्त की ही आधारशिला वर्त्तमान है। सच पूछा जाय तो बौद्धों ने जिस अनात्मवाद एवं विज्ञानवाद का प्रासाद निर्मित किया है, वह निराधार है। अत एव परवर्त्ती काल में शंकराचार्य ने बौद्धों का युक्तिपूर्ण ढंग से खंडन किया है।

●

पंचम अध्याय

न्यायदर्शन

न्याय, बौद्ध एवं सांख्य

कार्यकारणवाद की दृष्टि से, बौद्ध, सांख्य एवं न्याय में विशेष असहमति है। क्योंकि न्याय भारतीय दर्शन का एक अहम् सिद्धान्त है, अतः यहाँ इस सम्बन्ध में विचार करना अपेक्षित है। इनमें, बौद्ध ने तो क्षणिकवाद के आधार पर कार्यकारणवाद को नकार ही दिया है। जब पदार्थ क्षणिक हैं, तो कौन सा पदार्थ किस क्षण में कारण होगा तथा किस क्षण में कार्य, यह कहना असम्भव है। यदि कोई पदार्थ प्रथम क्षण में कारण है, तो दूसरे क्षण में उसकी कारणता परिवर्तित हो जाएगी; तथा यह अव्यवस्था चलती ही रहेगी, जिसका परिणाम यह होगा, कि कारणता का अवसर ही नहीं आएगा। यही तर्क कार्य के सम्बन्ध में भी घटित होगा। कारण की अस्थिरता होने से कार्य की अस्थिरता ही रहेगी। और स्पष्ट करें, यदि कोई पदार्थ दूसरे क्षण में, क्षणिकवाद के अनुसार नष्ट हो जाएगा, तो कारण स्वरूप पदार्थ की, सत्ता ही किस प्रकार सिद्ध होगी। वास्तविकता यही है, कि घटादि के कारणों–मृत्तिका, कुम्भकार एवं चक्र चीवर आदि की सत्ता देखने में आती है, तथा इन्हीं से घटरूप कार्य की निर्मिति होती है। यह निगूढ नहीं है, कि हम पदार्थों-वस्तुओं को सत्ता में स्थित देख रहे हैं, पहिले देखा है, और भविष्यत् में देखेंगे। भविष्यत् में इसलिए, कि आज का सत्य, बीते कल का भविष्य है। मूल तथ्य यह है, कि अस्थिरवाद (Impermanance) के कारण, बौद्ध दर्शन में, कार्यकारणवाद का अवसर सिद्ध नहीं होता।

यदि हम न्याय की तार्किक दृष्टि से विचार करें, तो कहना होगा, कि दुग्ध में वर्त्तमान श्वेतिमा आदि सभी एकत्र तत्त्वों से दधि का निर्माण होता है, किसी एक तत्त्व से कदापि नहीं। यदि पृथक् तत्त्वों से दध्यादि का निर्माण माना जाएगा, तब तो क्षणिकवाद की सिद्धि ही सम्भव नहीं होगी, क्योंकि प्रत्येक तत्त्व को कार्य रूप में परिणत होने के लिए एक क्षण से अधिक समय लगेगा। इसके विपरीत, यदि बौद्ध कहे, कि समस्त पदार्थसंघात, जैसे सम्मिलित रूप से दधि आदि कार्य का कारण है, तो यह भी तर्कापुष्ट है, क्योंकि दुग्ध की श्वेतिमा को दधि की श्वेतिमा का कारण मानना होगा। अतः यह कहना सम्भव न होगा, कि लौहपिण्डवर्त्ती अणुओं की कठिनता, श्यामता एवं दूसरी विशेषताएँ लौह के सरिए या छड़ में वर्त्तमान नहीं हैं। जैसा कि अनुभवसिद्ध है। एक बात और भी है। यदि संयुक्त रूप से समस्त कारणों, कुम्भकार एवं चक्र-चीवरादि को घटादि का कारण माना जाएगा, ऐसी स्थिति में उपादान, निमित्त एवं सहकारी कारण का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हो सकेगा।

उपर्युक्त दृष्टि से न्यायतर्कानुसार वौद्ध कार्य-कारण सिद्धान्त असिद्ध ही है।

अब न्याय की दृष्टि से सांख्य-कारण-कार्य के सम्वन्ध में विचार करेंगे। जैसा कि, इस ग्रन्थ में, सांख्यसिद्धान्तों के निरूपण के अवसर पर स्पष्ट किया जाएगा,· सांख्य, सत्कार्यवादी होने के कारण कार्य की सत्ता कारण में स्वीकार करता है। उसके अनुसार घट की सत्ता मृत्तिका में है। यह कथन इस तर्क के आधार पर निःसार है, कि यदि मृत्तिका रूप कारण में घटरूप कार्य हुआ होता, तो मृत्तिका से ही घट का कार्य क्यों नही चल जाता। इस पर सांख्य का कथन है, कि घट का मूल कारण मृत्तिका में है, एवं कुम्भकारादि के द्वारा मृत्तिका को घट का रूप दिया जाता है। उदाहरणार्थ, क्योंकि तिलों में तेल है, अत एव तिलों से तेल निकाला जाता है, पत्थर से नहीं, क्योंकि पत्थर में तेल के मूलतत्त्व वर्त्तमान नहीं हैं। किन्तु यह तर्क निराधार है, क्योंकि यदि तिल में तेल हुआ होता तो तिलों से ही पूड़ियाँ क्यों न वना ली जातीं, और इसी प्रकार यदि मृत्तिका में घट की सत्ता होती, तो मृत्तिका में ही घट के समान पानी क्यों न भर लिया जाता। अतः न्याय का यही सिद्धान्त सङ्गत है, कि कार्य (घट) की सत्ता कारण, मृत्तिका में वर्त्तमान नहीं है। यदि यह पक्ष प्रस्तुत किया जाय कि जिन परमाणुओं से घट का निर्माण हुआ है, वे ही परमाणु मृत्तिका में भी हैं, अतः घटरूप कार्य की सत्ता मृत्तिकावर्ती परमाणुओं में स्वीकार कर लेनी चाहिए। किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। मृत्तिका के परमाणुओं में घट के दर्शन नहीं होते। यह भी विचारणीय है, कि मृत्तिकावर्त्ती मूलतत्त्व, जो कुम्भकार आदि की सहायता से घटरूपता को प्राप्त करता है, वही नहीं है, जो घटवर्त्ती मूल तत्त्व है। यदि ऐसा होता तो हम सरलता से कह सकते थे, कि घट से घट की उत्पत्ति हुई है।

सांख्य का यह मत भी असङ्गत है, कि पदार्थ एवं धर्म समान रूप से सत्य हैं। इस सम्बन्ध में यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है, कि गति एवं धर्म, दोनों का सम्वन्ध पदार्थ से है, न कि धर्म से। सांख्य का बुद्धितत्त्व को जड़ मानना भी निरर्थक है। सांख्य का यह सिद्धान्त भी निष्प्रयोजन ही है, कि 'ज्ञ' बुद्धि के गुणों का प्रतिबिम्ब पुरुष पर पडता है, एवं पुनः पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पडता है, अच्छा होता, यदि अनुभव के अनुसार, सांख्य, ज्ञान, संवेदन एवं इच्छा को बुद्धि के अन्तर्गत स्वीकार कर लेता। इसके अतिरिक्त सांख्य की, महत्तत्त्व, अहंकार एवं तन्मात्राओं द्वारा व्यांख्यात सृष्टिप्रक्रिया भी तर्क एवं अनुभव के द्वारा अपुष्ट ही कही जाएगी। नैयायिकों का विचार है, कि तर्क एवं अनुभव के आधार पर न्यायदर्शनसम्मत कार्यकारणवाद एवं अन्य सिद्धान्त ही सङ्गत हैं, जिनका निरूपण इस अध्याय में आगे किया जाएगा[1]।

न्याय की प्राचीनता

जिज्ञासा, तर्क एवं प्रमाण, मानव की मन-बुद्धि के स्वभाव हैं। जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में मानव की जिज्ञासा स्वाभाविक है। अत एव अनुमान के द्वारा मानव ईश्वर को जगत् का स्रष्टा मानता है। वस्तुज्ञान में सन्देह होने पर मनुष्य प्रमाण की शरण लेता है। ये तथ्य न्याय की स्वाभाविकता एवं उपादेयता को प्रकाशित करते हैं। यदि देखा जाय, तो वास्तविकता का निर्णय, **न्याय** ही करता है।

---

१. विशेष देखें, न्यायमञ्जरी, ४५२-४६६, ४८०-४६६।

न्यायदर्शन का वास्तविक मूलाधार उक्त मानवीय प्रवृत्ति में ही अन्तर्निहित है। इसी प्रवृत्ति का शास्त्रीय स्वरूप मीमांसा में उस समय देखने को मिलता है, जब वैदिक अनुष्ठानों के विरोध को देखकर, उनके समर्थन में तर्क का उपयोग किया जाता था। इसी आधार पर मीमांसा को भी 'न्याय' का नाम दिया गया था। अत एव प्राचीन काल में न्याय को मीमांसा का आत्मज कहा जाता था, किन्तु उत्तरकाल में वही न्यायवैशेषिक के द्वारा दत्तकपुत्र के रूप में स्वीकार किया गया था। उपनिषदों के अन्तर्गत भी न्यायशास्त्र के सूत्र स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत, पुरीतति नामक नाडी में, अन्य नाडियों के द्वारा, आत्मा (अन्तःकरण) के स्थित होने के सिद्धान्त को न्यायशास्त्र में स्वीकार कर, आत्मा के स्थान पर 'मन' को स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् (७/१४/१) के अन्तर्गत आकाश को शब्द का वाहक कहना, उत्तरवर्ती न्याय सिद्धान्त का ही बीज है। इसी प्रकार श्वेताश्वतर, मुण्डक आदि उपनिषदों में भी न्यायदर्शन के सुस्पष्ट सिद्धान्तसूत्र उपलब्ध होते हैं। वैदिक काल के पश्चात् न्यायदर्शन के उदय का द्वितीय चरण, वह कहा जा सकता है, जब वेदानुसर्ता हिन्दुओं एवं गौतम बुद्ध के शिष्यों में एक-दूसरे के मतखंडनार्थ परस्पर असंबद्ध एवं पक्षपातपूर्ण विवाद हो रहे थे। ऐसी स्थिति में दोनों ही सम्प्रदायों के निष्णात विद्वानों ने अपने-अपने सम्प्रदायों को सुसम्बद्ध एवं सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया था, एवंच वैदिक धर्म-दर्शन के प्रतिपादक हिन्दुओं एवं भगवान् बुद्ध के शिष्यों, दोनों ने ही, एक-दूसरे के मत को दृष्टि में रखकर, अपने अपने सम्प्रदायों को सुसम्बद्ध सैद्धान्तिक प्रस्थापना के द्वारा समृद्ध किया था। दोनों की सुसम्बद्ध खण्डन-प्रक्रिया में न्याय वैशेषिक का मूल वर्तमान था। जहाँ तक भारतीय षड्दर्शन की प्राचीनता का प्रश्न है, बौद्धों के त्रिपिटकों एवं जैनों के मूल ग्रन्थों-आगमग्रन्थों (५११ से ५२७ ई. पू.) में भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों एवं न्याय-वैशेषिक के बहुत से सिद्धान्तों के स्पष्ट संकेत-उल्लेख मिलते हैं। निदर्शनार्थ, बौद्धसुत्तों में न्याय एवं वैशेषिक तथा सांख्य एवं योग के स्पष्ट एवं अस्पष्ट संकेत मिलते हैं। इसी प्रकार, जैनों के आगम-ग्रन्थों में, प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाण, प्रमेय एवं जाति आदि पारिभाषिक शब्दों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इससे न्यायवैशेषिक का बौद्धों से प्राचीनतर होना सिद्ध होता है। बुद्ध का समय ५२४-५४४ ई. पू. एवं महावीर का समय, ५११ से ५२७ ई. पू. है। इसके लगभग एक शताब्दी के पश्चात् दोनों के मूलग्रन्थों, क्रमशः त्रिपिटकों एवं आगमग्रन्थों का संकलन किया गया होगा। इस संकलन के मूल में हिन्दुओं की वैदिक धर्म में आस्था रही होगी, जिसके निराकरण के लिए बौद्धों एवं जैनों ने त्रिपिटकों एवं आगम-ग्रन्थों का संकलन किया होगा। वैशेषिक एवं न्याय, दोनों के प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ कणाद का वैशेषिकसूत्र एवं गौतम का न्यायसूत्र है। वैशेषिक-सूत्रों का रचना काल, ५०० ई. पू. एवं न्यायसूत्रों का रचना काल १५० ई. पू. है।

इस प्रकार **वैशेषिक-सूत्र** न्यायसूत्र से प्राचीनतर हैं। वैशेषिक-सूत्र का प्रारम्भ धर्म के स्वरूपनिरूपण से किया गया है–"अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"। वैशेषिक दर्शन वेदों की प्रामाणिकता धर्म के आधार पर स्वीकार करता है। इतर आस्तिक दर्शनों के समान वैशेषिक का उद्देश्य भी निःश्रेयस की प्राप्ति है, जो कणाद, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय–**इन सप्तपदार्थों** के साधर्म्य एवं वैधर्म्य से साध्य तत्त्वज्ञान से प्राप्तव्य मानते हैं। यद्यपि कणाद ने 'अभाव' का अनेक अर्थों में प्रयोग किया है, किन्तु वे अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते। उदयन ने लक्षणावली के अन्तर्गत '**भाव**' एवं 'अभाव' पदार्थों का भेदनिरूपण तो किया है, किन्तु सप्तम पदार्थ के रूप में **अभाव** को **शिवादित्य मिश्र** ने ही माना है।

यहाँ यह उल्लेख करना अपेक्षित है, कि यों तो **अरस्तू** ने भी पदार्थों का अनुशीलन किया है, किन्तु उसका दृष्टिकोण, मात्र विषयों के तर्कपरक एवं वैचारिक अध्ययन पर आधारित है, उसमें वैशेषिकगत, प्रमेय पदार्थों के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पक्ष के उद्घाटन का अभाव है। इसी प्रकार कान्ट के सम्बन्ध में, यह कहा जा सकता है, कि उसका पदार्थविश्लेषण भी बौद्धिक तोड़-मरोड़ पर ही आधारित है, उसमें भी वैशेषिक जैसी पदार्थमीमांसा का अभाव ही है। जर्मन दार्शनिक हेगल के सम्बन्ध में भी यह तथ्य उल्लेखनीय है, कि वह पूर्ण आदर्शवाद (Absolute idealism) का अनुसर्त्ता होने के कारण भेद में अभेद का प्रतिपादन करता है, किन्तु वैशेषिक अनेकात्मक यथार्थवाद का पक्षपाती होने के कारण, पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्यात्मक विश्लेषण करता है।

यह सत्य है, कि वैशेषिकदर्शन दार्शनिक विश्लेषण की दृष्टि से मीमांसा एवं वेदान्त की श्रेणी में नहीं आता, किन्तु तत्कालीन **चार्वाकीय भौतिकवाद** से ऊपर उठकर उसने जिस वैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया है, तथा आगमनपद्धति पर बल दिया है, वह निःसन्देह उसकी अविस्मरणीय महत्ता का द्योतक है। यह भी उल्लेखनीय है कि, भले ही वैशेषिक को **"अर्धवैनाशिक"** कहा जाय, किन्तु तद्वर्त्ती आध्यात्मिक चिन्तनदृष्टि एवं विश्लेषण ने विविध शास्त्रों पर गम्भीर प्रभाव छोड़ा है–**"काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्"**।

वैशेषिकसूत्र के पश्चात् वैशेषिक दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रशस्तपाद का पदार्थधर्मसंग्रह है, जो प्रशस्तपाद भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य की टीका प्रकटार्थविवरण में रावणभाष्य (वैशेषिक सूत्र पर) का भी उल्लेख मिलता है। ऐसा माना जाता है कि रावणभाष्य की रचना १३०० ई. से पूर्व हुई होगी। वस्तुतः प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह ही वैशेषिक दर्शन का परम सारतत्त्व है, किन्तु प्रशस्तपाद का स्थितिकाल निश्चित नहीं है। बोदास ने तर्कसंग्रह की भूमिका में केवल यही कहा है कि प्रशस्तपाद वात्स्यायन के पूर्ववर्ती थे। जो भी हो, प्रशस्तपाद भाष्य की महत्ता इसी से जानी जा सकती है, कि इस पर अनेक टीकाओं एवं उपटीकाओं का प्रणयन किया गया। इनमें व्योमशिवाचार्य की व्योमवती, श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली, उदयनाचार्यरचित किरणावली एवं शंकरमिश्र, पद्मनाभमिश्र एवं जगदीश भट्टाचार्य आदि रचित उपटीकाएँ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। आधुनिक युग में वीरराघवाचार्य प्रणीत, वैशेषिक सूत्र पर आधारित 'रसायन' नाम्नी टीका (१६४१ ई०) उक्त दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

न्यायदर्शन का आधारभूत ग्रन्थ गोतम अक्षपादप्रणीत न्यायसूत्र है। न्यायसूत्रों के विषय में सर्वप्रथम वाचस्पति मिश्र (६०० ई०) ने न्यायसूचीनिबन्ध के अन्तर्गत विचार किया है। वाचस्पति मिश्र ने इस ग्रन्थ में न्यायसूत्र के अध्यायों (५), आह्निकों (१०), प्रकरणों (८४), सूत्रों (२०६) तथा ८४११ अक्षरों की संख्या भी दी है। वाचस्पतिमिश्रकृत इस गणना के सन्दर्भ में न्यायसूचीनिबन्ध के प्रथम पद्य के अन्तर्गत प्राप्त 'समुद्धरणात्' पद का व्यवहार महत्त्वपूर्ण है (श्रीगोतमसुगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्)। इससे यह ध्वनित होता है, कि वाचस्पतिमिश्र के समय न्यायसूत्रों की स्थिति सन्दिग्ध थी, जिसका उद्धार वाचस्पति मिश्र ने किया था। किन्तु वाचस्पतिमिश्र ने भी न्यायसूत्रों का रचनाकाल ८६८ ("वस्वङ्कवत्सरे") माना है। परञ्च इन्होंने ८६८ के सामने या पहिले न संवत् लिखा है, और न शक। किन्तु प्रायशः विद्वानों ने ८६८ को विक्रम संवत् मानकर तदनुसार सूत्रों का रचना-काल ८४१ ई. स्वीकार किया है। दिनेशचन्द्र

प्रभृति कतिपय विद्वानों ने ज्ञानश्री एवं रत्नकीर्ति द्वारा प्रदत्त तर्कों के आधार पर ८९८ को शक स्वीकार करते हुए, तदनुसार सूत्रों का प्रणयनकाल ९७० ई० निश्चित किया है।

न्यायसूत्रों के स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरा प्रयास वाचस्पतिमिश्र-२, के द्वारा न्यायसूत्रोद्धार नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार सूत्रों की संख्या ५३१ है, तथा सूत्रों का रचना-काल १४२८ वि. सं. एवं तदनुसार १३७१ ई. है, या फिर १४२८ को यदि शक संवत् माना जाय तो १५०६ ई. है।

न्यायसूत्रों के सम्बन्ध में तीसरा प्रयास **विश्वनाथपञ्चानन** द्वारा **न्यायसूत्रवृत्ति** (१६३४ ई.) के अन्तर्गत किया गया है। इस वृत्ति के अन्तर्गत सूत्रादि की गणना न कर, न्यायशास्त्र के सामान्य अध्येता के लिए पथप्रदर्शन किया गया है। वृत्ति का प्रकाशन आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज़ द्वारा न्याय-भाष्य के साथ किया गया है।

डा. गङ्गानाथ झा ने १९२४ में प्रकाशित अपने न्यासूत्रभाष्य के संस्करण में ५३२ सूत्रों पर व्याख्यात्मक टिप्पणी की है। इस संस्करण में डा.झा की 'खद्योत' टीका एवं किसी अज्ञातलेखक की 'भाष्यचन्द्र' व्याख्या भी वर्तमान है। इन्होंने वाचस्पति मिश्र-१ द्वारा निश्चित न्यायसूत्र के स्वरूप को ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त न्यायसूत्रों के अन्तर्गत षोडश पदार्थों एवं प्रमाण तथा प्रमेय का निरूपण किया है।

न्यायसूत्रों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है, कि (न्यायसूत्रकार) गोतम का उद्देश्य अपनी विशिष्ट तार्किक भाषा एवं तर्कपद्धति के द्वारा प्रतिपक्षियों को परास्त करना था। न्यायसूत्र के अन्तर्गत वाद, जल्प एवं वितण्डा, उक्त तथ्य का ही समर्थन करते हैं। जैसा कि वात्स्यायन ने स्पष्ट किया है, न्यायसूत्रकार, कणाद के एतदर्थ ऋणी हैं कि उन्होंने वैशेषिक सूत्र के कतिपय सूत्र यथावत् अथवा अंशतः ग्रहण किए हैं। न्याय-वैशेषिक के सम्बन्ध में यह तुलनात्मक दृष्टि अपेक्षित है, कि न्यायसूत्र जहाँ अधिक मौलिक, विशिष्टतर्कभाषामय एवं वस्तुपरक है, वहाँ वैशेषिकसूत्र की चिन्तनदृष्टि न्यायसूत्र की अपेक्षा अधिक समरूपात्मक, समन्वयात्मक, आध्यात्मिक एवं अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दृढ़मूल है। चाहे जो भी हो, इतना निःसन्देह स्वीकार करना होगा कि भारतीय दर्शन के क्षेत्र में न्यायदर्शन की भूमिका अत्यन्त सम्मानजनक रूप में स्वीकार की गई है।

कुछ विद्वानों का मत है कि **गोतम** एवं **अक्षपाद** भिन्न थे। इस सम्बन्ध में डा. **सतीशचन्द्र विद्याभूषण** ने विशेष रूप से विचार किया है। विद्याभूषण जी ने दोनों की भिन्नता में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं–

१. न्यायसूत्र के प्रणयन में दोनों का पृथक्-पृथक् योगदान है।

२. प्रमेय, वाद एवं प्रमाण का कुछ अंश, प्रथमतः आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत गोतम के द्वारा निष्पन्न हुआ था।

३. शेषपदार्थनिरूपण तथा क्रमबद्ध एवं समग्र प्रमाणस्वरूपविचार अक्षपाद के द्वारा सम्पन्न किया गया था।

४. अक्षपाद गोतम, प्रस्तुत आन्वीक्षिकी के वर्तमान न्यायसूत्र के प्रस्तुतकर्ता थे, जिस प्रकार कि चरक, **आत्रेयप्रणीत अग्निवेशतन्त्र** (आयुर्वेद) के सम्पादनकर्त्ता थे। इस सम्बन्ध में तर्कभाषा के सम्पादक अय्यर साहब लिखते है"- Dr. S.C. Vidyabhushan is of the opinion that अक्षपाद is not another name for गौतम, but was a different person, that both have contributed to the production of N.S., that प्रमेय, वाद and a portion of प्रमाण were first handled by Gautam under the name of आन्वीक्षिकी, that the other catagories and a fuller and systematic treatment of प्रमाण came from अक्षपाद and that the latter was the redactor of the आन्वीक्षिकी of गौतम into the present N.S. just as चरक was the redactor of अग्निवेशतन्त्र or the आयुर्वेद of आत्रेय (S.R. Iyer, introduction to Tarkabhāṣā, p. 22-23. Chaukhambha, 1979) जैसा कि अय्यर साहब के कथन से स्पष्ट है, विद्याभूषण जी के मत का अक्षरशः अनुकरण करते हुए तर्कभाषा के अनुवादक एवं व्याख्याता आचार्य विश्वेश्वर ने भी लिखा है-

"आयुर्वेद के प्रसिद्धतम ग्रन्थ **चरक** में संस्कारपद्धति का प्रयोग हुआ है। मूलग्रन्थप्रणेता महर्षि '**अग्निवेश**' हैं, परन्तु उसके प्रतिसंस्कर्ता 'चरक' माने जाते हैं। इसी प्रकार न्यायदर्शन के मूलप्रणेता गोतम और उसके 'प्रतिसंस्कर्ता' अक्षपाद हैं, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती है।" (तर्कभाषा की भूमिका, पृ. २७१)।

स्पष्ट है, **विश्वेश्वर** का उक्त मत किञ्चिन्मात्र मौलिक नहीं है, अपितु यह विद्याभूषण जी का ही पूर्ण अनुकरण है। गोतम एवं अक्षपाद की भिन्नता के सम्बन्ध में दासगुप्त का मत भी विचारणीय है। दासगुप्त का मत विलक्षण है। वे मेधातिथि गोतम को केवल काल्पनिक पौराणिक नाम मानते हैं। उनका कहना है, कि गोतम के द्वारा किसी ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया गया। इस प्रकार **दासगुप्त** अक्षपाद को ही न्यायसूत्र प्रणेता मानते हैं। वे लिखते हैं-

"Medhātithi Gotam is more or less a mythical person, and there is no proof that he ever wrote any thing"...

"Vatsyāyana himself refers to Akṣapāda as the person to whom Nyāya (the science of logic) revealed itself. Udyotakara also refers to Akṣpāda as the utterer of the Nyāyaśāstra and so also does Vācaspati. There is therefore absolutely no reason why the original authorship of Nyāya should be ascribed to a Gotam as against Akṣapāda"

The Nyāyaśāstra therefore can not be traced on the evidence of the earliest Nyāya authorities to any earlier Gotam, for had this been so, it would certainly have been mentioned by either Vātsyāyana, Udyotakara or Vācaspati. (History of Indian Philosophy, vol. II pp. 393-94).

मेधातिथि गोतम (एक नाम) के न्यायसूत्र के रचयिता होने के सम्बन्ध में दासगुप्त का चौंका देने वाला किन्तु निरर्थक एक तर्क और है, और वह यह कि भास के प्रतिमा नाटक में आए "मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्" का अर्थ, 'मेधातिथेः' में पञ्चमी विभक्ति मानकर, मेधातिथि से न्यायशास्त्र पढ़ा

है, जब कि प्रकरणानुसार "मेधातिथेः" में षष्ठी विभक्ति होने के कारण, 'मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्' का अर्थ 'मेधातिथि का न्यायशास्त्र' है। प्रतिमा नाटक का प्रकरण इस प्रकार है– **"मानवीयं धर्मशास्त्रम्, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रम्, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्"** ।

उपर्युक्त मतों की विवेचना करने पर यही निष्कर्ष प्राप्त होता है, कि गोतम, अक्षपाद एवं **मेधातिथि** एक ही व्यक्ति के नाम हैं, ये पृथक्-पृथक् कदापि नहीं हैं। इस सम्बन्ध में ये तथ्य-तर्क **विचारणीय** हैं : वाचस्पतिमिश्र, जयन्तभट्ट, उदयनाचार्य एवं श्रीधराचार्य आदि ने गोतम एवं अक्षपाद को एक ही माना है। डा. डी. आर. भण्डारकर ने भी तर्कभाषा की भूमिका में गोतम एवं अक्षपाद को एक ही स्वीकार किया है। वस्तुतः विद्याभूषण का गोतम को न्यायसूत्र का प्रणेता एवं अक्षपाद को प्रतिसंस्कर्ता मानना समुचित नहीं है; क्योंकि न्यायसूत्रों की प्रणयनपद्धति एवं भाषा-शैली से, उनके दो पृथक् प्रणेता होना सिद्ध नहीं होता। महाभारत के निम्नोद्धृत स्थलों से भी मेधातिथि गोतम ही न्यायशास्त्र के प्रणेता सिद्ध होते हैं–

चतुर्थश्चौपनिषदो धर्मः साधारणः स्मृतः ।

वानप्रस्थाद् गृहस्थाच्च ततोऽन्यः संप्रवर्त्तते ।।

अस्मिन्नेव युगे तात विप्रः सर्वार्थदर्शिभिः । मेधातिथिर्बुधः–(महाभारत, शा. प. अ. २४३, १४-१७)

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गोतमस्तपसि स्थितः ।

विमृश्यते न कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम् ।। (महा. शा. अ. २६५, २४५)

प्राचीन न्याय का प्रामाणिक ग्रन्थ यद्यपि न्यायसूत्र है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है, कि न्यायशास्त्र की प्राचीनता तत्पूर्ववर्ती है। इसका पाणिनि से पूर्ववर्त्ती होना निश्चित ही है।

वस्तुतः **न्यायसूत्र** की महत्ता इसी से ज्ञात है कि इस पर अनेक भाष्य एवं टीकाग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इस सम्बन्ध में **वात्स्यायन** (३०० ई.) रचित न्यायभाष्य, **उद्योतकर** (६३५ ई.) रचित न्यायवार्त्तिक, **वाचस्पति मिश्र** (८४० ई.) प्रणीत **न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, उदयनाचार्य** (९८४ ई.) प्रणीत **न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि, जयन्तभट्ट** (१००० ई.) कृत **न्यायमञ्जरी, वर्धमान** (१२२५ ई.) कृत **न्यायनिबन्धप्रकाश, श्रीकण्ठकृत न्यायालङ्कार, वाचस्पति मिश्र** (द्वितीय १४५० ई०) कृत **न्यायसूत्रोद्धार, रामभद्र** (१६९० ई.) कृत **न्यायरहस्य, जयरामकृत न्यायसिद्धान्तमाला, विश्वनाथकृत न्यायसूत्रवृत्ति** एवं **गोविन्दकृत न्यायसंक्षेप** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बौद्ध-जैन न्याय

उपर्युक्त प्राचीन न्याय एवं **गंगेशोपाध्याय** प्रवर्त्तित **नव्यन्याय** के **मध्यवर्त्ती न्याय** को **बौद्ध-जैन-न्याय**- कह सकते हैं। बौद्ध न्याय का प्रवर्तन **दिङ्नाग** के **प्रमाणसमुच्चय** एवं **जैनन्याय** का प्रवर्तन **सिद्धसेन दिवाकर** के **न्यायावतार** ग्रन्थ से माना जा सकता है।

बौद्धन्याय के आचार्य एवं ग्रन्थ

बौद्धन्याय के आचार्य एवं ग्रन्थों में दिङ्नाग (५४०-५२० ई.) कृत **प्रमाणसमुच्चय,**

प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, **न्यायप्रवेश**, **प्रमाणशास्त्रन्यायप्रवेश**, **हेतुचक्रत्रिकालपरीक्षा**, **आलम्बनपरीक्षा** एवं **आलम्बनपरीक्षावृत्ति**, **परमार्थ** (४९८-५६२ ई.) **कृत वसुबन्धु के तर्कशास्त्र** एवं **न्यायसूत्र** का चीनी भाषा में अनुवाद एवं न्यायसूत्र पर भाष्य, **शंकरस्वामी** (५५० ई.) **कृत हेतुविद्यान्यायप्रवेशशास्त्र**, **धर्मपाल** (६००-६३५ ई.) **कृत आलम्बनप्रत्ययध्यानशास्त्रव्याख्या**, **विद्यामात्रसिद्धिशास्त्रव्याख्या** तथा **षट्शास्त्रव्याख्या** एवं **षट्शास्त्रवैपुल्यव्याख्या**, आचार्य **शीलभद्र** (६३५ ई.), **धर्मकीर्त्ति** (५६० ई.) **कृत प्रमाणवार्त्तिककारिका**, **प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति**, **प्रमाण-विनिश्चय**, **न्यायबिन्दु**, **हेतुबिन्दुविवरण**, **तर्कन्याय** अथवा **वादन्याय**, **सन्तानान्तरसिद्धिसम्बन्धपरीक्षा** एवं **सम्बन्धपरीक्षावृत्ति**, **देवेन्द्रबोधि** (६५० ई.) **कृत प्रमाणवार्त्तिकपञ्जिका**, **शाक्यबोधि** (६७५ ई.) **कृत प्रमाणवार्त्तिकपञ्जिकाटीका**, **विनीतदेव** (७०० ई.) **कृत न्यायबिन्दु** एवं **हेतुबिन्दु** की **टीका**, **वादन्यायव्याख्या**, **सम्बन्धपरीक्षाटीका**, **आलम्बनपरीक्षाटीका** एवं **सन्तानान्तरसिद्धिटीका**, **रविगुप्त** (७२५ ई.) **कृत प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति**, **जितेन्द्रबोधि** (७२५ ई.) **कृत विशालमलवती नाम्नी प्रमाणसमुच्चयटीका**, **शान्तरक्षित** (७४८ ई.) **कृत तत्त्वसंग्रह**, **वादन्यायवृत्ति विपञ्चितार्थ**, **कमलशील** (७५० ई.) **कृत न्यायबिन्दु-पूर्वपक्ष** एवं **तत्त्वसंग्रहपञ्जिका**, **कल्याणरक्षित** (८२१ ई.) **कृत सर्वार्थसिद्धिकारिका**, **वाह्यार्थसिद्धिकारिका**, **अन्यापोहविचारकारिका**, **ईश्वरभद्रकारिका** एवं **श्रुतिपरीक्षा**, **धर्मोत्तराचार्य** (८४७ ई०) **कृत न्यायबिन्दुटीका**, **प्रमाणपरीक्षा**, **अपोहनामप्रकरणम्**, **परलोकसिद्धि**, **क्षणमात्रसिद्धि** एवं **प्रमाणविनिश्चयटीका**, **मुक्ताकुम्भ** (९०० ई.) **कृत क्षणभंगसिद्धिव्याख्या**, **अर्चट** (९०० ई.) **कृत हेतुबिन्दुविवरण**, **अशोक** (९०० ई०) कृत **अवयविनिराकरण** एवं **सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता**, **चन्द्रगोमिन-२** (९२५ ई.) **कृत न्यायसिद्ध्यालोक**, **प्रज्ञाकर गुप्त** (९४० ई.) **कृत प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार**, **सहावलम्बनिश्चय**, आचार्य **जेतारि** (९८० ई.) **कृत हेतुतत्त्वोपदेश**, **बालावतारतर्क** एवं **धर्मधर्मिविनिश्चय**, **जिन** (९४० ई.) **कृत प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार टीका**, **रत्नकीर्त्ति** (१००० ई.) **कृत अपोहसिद्धि** एवं **क्षणभंगसिद्धि**, **रत्नबल** (१०४० ई.) कृत **युक्तिप्रयोग**, **जिनमित्र** (१०२१ ई.) **कृत न्यायबिन्दुपिण्डितार्थ**, **दानशील** (१०२५ ई.) **कृत पुस्तकपाठोपाय**, **ज्ञानश्रीमित्र** (१०४० ई.) **कृत कार्यकारणभावसिद्धि**, **ज्ञानश्रीभद्र** (१०५० ई.) **कृत प्रमाणविनिश्चय टीका**, **रत्नाकरशान्ति** (१०४० ई.) **अपरनामकलिकालसर्वज्ञकृत विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि** एवं **अन्तर्व्याप्ति**, **शंकरानन्द** (१०५० ई.) **कृत प्रमाणवार्त्तिकटीका**, **सम्बन्धपरीक्षानुसार**, **अपोहसिद्धि** एवं **प्रतिबन्धसिद्धि**, **शुभाकर गुप्त** (१०८० ई.), **मोक्षाकर गुप्त** (११०० ई.) कृत **तर्कभाषा** (तिब्बती अनुवाद भी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बौद्धन्याय

बौद्धन्याय का आरम्भ पाँचवीं से सातवीं शताब्दी के अन्तर्गत हुआ। इससे पूर्व बौद्ध दार्शनिकों ने जगत् एवं मानव के सर्वविधक्लेशनिवारणार्थ अनेक उपायों तथा जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में गम्भीर विवेचना तो निःसन्देह की थी, किन्तु न्यायिक पद्धति की ओर उनका ध्यान नहीं गया। परन्तु जब बौद्ध-दर्शन के सिद्धान्तों का गम्भीर विश्लेषण एवं आलोचना-समालोचना आचार्यों के द्वारा सम्पन्न हुई, तो परस्पर खंडन-मंडन की प्रवृत्ति का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसी प्रवृत्ति ने बौद्धदर्शन के क्षेत्र में, आचार्यों एवं विद्वानों को तर्कविद्या के सिद्धान्तों एवं न्यायिक पद्धति के सम्बन्ध में विचार करने के लिए प्रेरित किया।

बौद्धन्याय के तीन सूर्य (वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्त्ति)

बौद्धदर्शन को प्रकाश में लाने वाले तीन देदीप्यमान सूर्य–वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्त्ति हैं। वसुबन्धु ने वादविधि (वादविधान) नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। किन्तु आज यह ग्रन्थ, अप्राप्त ही है। बसुबन्धु ने इस ग्रन्थ में प्रमाणलक्षण आदि का निरूपण किया है।

न्यायदर्शन के प्रख्यात ग्रन्थों न्यायवार्त्तिक एवं तात्पर्यटीका में पूर्वपक्ष के रूप में, वसुबन्धु के प्रमाणलक्षण उद्धृत मिलते हैं।

दिङ्नाग, वसुबन्धु के शिष्य थे। इन्होंने न्याय का प्रमुख ग्रन्थ, प्रमाणसमुच्चय एवं उस पर वृत्ति लिखी थी। दिङ्नाग द्वारा प्रतिष्ठित एवं प्रतिपादित न्यायविषय के सिद्धान्तों के मूल आधारसूत्र, अभिधर्मकोश में प्राप्त हैं। दिङ्नाग की प्रमुख देन यह है, कि उन्होंने अभिधर्मकोश के अन्तर्गत वर्त्तमान न्यायविषयक विचारों को संगृहीत कर सिद्धान्तरूप से प्रस्तुत किया। इन्हीं सिद्धान्तों को धर्मकीर्त्ति ने प्रौढि प्रदान की थी। प्रमाणसमुच्चय के अतिरिक्त, दिङ्नाग ने न्यायदर्शन पर जो लघु ग्रन्थ लिखे थे, उनके सङ्केत प्रमाणसमुच्चय में मिलते हैं। **धर्मकीर्त्ति** ने न्याय पर सात ग्रन्थ लिखे थे। ये ग्रन्थ **प्रमाण-वार्त्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, चोदनानामप्रकरण** तथा **सन्तानान्तरसिद्धि** हैं। **नागार्जुन** ने विग्रहव्यावर्त्तनी में प्रमाण-प्रमेय एवं लक्ष्य-लक्षणादि का खंडन किया है। इसके साथ-साथ माध्यमिक कारिका में वादिपक्ष का प्रौढता के साथ निराकरण भी किया है। इससे यह अनुमान करना सरल है, कि **नागार्जुन** का न्याय की शास्त्रीय पद्धति से अच्छा परिचय था।

बौद्धन्याय न्यायदर्शन का परवर्त्ती है–यह कहना अपेक्षित है, कि बौद्धदर्शन न्यायदर्शन का परवर्त्ती ही है। वास्तविकता यह है, कि जब **दिङ्नाग** ने न्याय के क्षेत्र में प्रवेश किया, तब तक न्याय-दर्शन के मौलिक सिद्धान्त सर्वथा प्रकाश में आ चुके थे।

संघातवाद–जहाँ न्याय, आरम्भवाद, सांख्य, परिणामवाद एवं वेदान्त, विवर्त्तवाद को स्वीकार करता है, बौद्ध, संघातवाद को स्वीकार करता है। संघातवाद के अनुसार, केवल धर्मों का बाह्य अस्तित्व है। संस्कृत या संघात का नहीं। प्रतीत्यसमुत्पाद परम्परा के अनुसार हेतु-प्रत्यय-वंश धर्मों की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि हेतुफल की केवल एक परम्परा ही है, जिसका अर्थ यह है, कि यह होने पर यह होता है। यह भी वक्तव्य है, कि जब वर्णसंज्ञान की उत्पत्ति होती है, तब उस वस्तु मात्र से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत विज्ञान, वर्णधर्म एवं चक्षुधर्म–ये तीन धर्म एक साथ उत्पन्न होते हैं। सर्वास्तिवादी बौद्ध एवं न्यायवैशेषिक, दोनों ही, बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, एवं बहुधर्मवादी हैं, किन्तु न्याय-वैशेषिक के अन्तर्गत अवयव एवं संघात, इन दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है।

बौद्धन्याय एवं धर्म

बौद्धन्याय् के स्वरूप एवं उद्गम को जानने के लिए तदन्तर्गत स्वीकृत धर्म के स्वरूप का बोध अत्यावश्यक है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है, कि बौद्धों का पञ्चस्कन्ध जो प्रमाणों के उद्गम की प्रमेय (धर्म) भूमि है, चित्त-चैत्त एवं रूप, इन दो भागों में विभक्त की गई है। इनमें रूप धर्म, पृथिव्यादि

चार महाभूतों या भौतिक रूप के परमाणु हैं। ये चार महाभूत सर्वत्र समस्त भौतिक रूपों में समान मात्रा में पाए जाते हैं।

चार महाभूत

पृथिवी धातु (धृति कर्म) अप् **(जल) धातु** (संग्रह कर्म), **तेजोधातु** (पक्तिकर्म), **वायुधातु** (व्यूहन कर्म), ये चार धातुएँ महाभूत हैं। इनके **स्वभाव**, क्रमशः, खर, स्नेह, उष्णता तथा ईरणा हैं।

उपर्युक्त चार महाभूत, या यों कहिए, चार धातु संस्कार, एक प्रकार के फोर्स हैं। उदाहरणार्थ, जलवर्त्ती पृथिवी धातु भी अपनी वृत्ति को प्रकट करता है, क्योंकि वह नौका को धारण करता है। यहाँ, यह विचारणीय है, कि भौतिक धर्म उन पाँच विज्ञानों के समकक्ष हैं, जिनका आश्रय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय है। ये पाँच धर्म–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द हैं। बौद्धों के अनुसार, भौतिक धर्म को अपनी धृति के लिए, चार महाभूतों में से प्रत्येक के एक-एक धर्म की अपेक्षा है। इस प्रकार बौद्धों के अनुसार, किसी द्रव्य के स्थान में महाभूतचतुष्क तथा भौतिक द्रव्य वर्त्तमान हैं। ये स्वतन्त्र एवं सम हैं। परन्तु ये हेतु-प्रत्ययवश, अन्योऽन्य-सम्बद्ध हैं। अत एव इनकी उत्पत्ति एक साथ होती है।

संघात परमाणु कम से कम अष्टद्रव्यक होता है। इनमें से चार मुख्यतया द्रव्य तथा चार महाभूत हैं। ये भौतिक रूप–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के आश्रयभूत हैं। इसके अतिरिक्त चार आयतन हैं, जो महाभूतों के आश्रयभूत हैं। यह भी वक्तव्य है, कि जब द्रव्य में शब्द की अभिनिष्पत्ति होती है, तो शब्द का एक परमाणु अधिक होता है।

चित्त एवं चैत्तधर्म–बौद्धों ने चित्त, चैत्त को कुछ धर्मों में विभक्त किया है। ये धर्म साथ-साथ तो रहते हैं, किन्तु एक-दूसरे से मिलते नहीं। ये हेतुप्रत्ययवश, अन्योऽन्यसंबद्ध हैं। सामान्य धर्म प्रत्यय-वश, अन्योऽन्यसंबद्ध हैं। सामान्य धर्म दश हैं। ये **महाभूमिक** भी कहलाते हैं। ये १० धर्म–वेदना (सौमनस्य दौर्मनस्य), चेतना, संज्ञा, द्वन्द्व, स्पर्श, मति, स्मृति, मनस्कार, अधिमोक्ष तथा समाधि हैं। ये धर्म ही चित्त को आवृत्त करते हैं। इसके अतिरिक्त वितर्क और विचार, ये दो धर्म और हैं। वितर्क आलम्बन में चित्त का प्रथम प्रवेश है। आलम्बन में चित्त की अविच्छिन्न प्रवृत्ति, विचार है। इसीलिए वितर्क औदारिक एवं विचार सूक्ष्म है। वितर्क एवं विचार, प्रत्येक चित्त में होते हैं। किन्तु जब योगी ध्यानावस्था में प्रवेश करता है, तो समाधि में इनका तिरोभाव हो जाता है। इन दो को लेकर चित्तसंघात के बाहर परमाणु होते हैं।

उपर्युक्त सामान्य धर्मों के अतिरिक्त कुछ **गौण धर्म** भी होते हैं। प्रथमतः, ये कुशल एवं अकुशल भेद से दो प्रकार के होते हैं। कुशल धर्म भी १० हैं। ये धर्म श्रद्धा, वीर्य, उपेक्षा, ह्री, अपक्षपा, अप्रमाद, मूलद्वय, अविहिंसा एवं प्रश्रब्धि हैं। अकुशल चित्त में १२ धर्मों के अतिरिक्त कुछ और धर्म भी होते हैं। प्रत्येक अकुशल कर्म के मूल में अही (निर्लज्जता) एवं 'अनपत्रपा' हैं। 'अही' स्वापेक्षा से है, जबकि अनपत्रपा परापेक्षा से लज्जा का अभाव है। बौद्धों का विचार है, कि प्रत्येक पाप कर्म के मूल में, इन दो धर्मों के प्रभाव पाए जाते हैं।

धर्म, गणित के बिन्दु के समान हैं। ये भिन्न संस्कारों के केन्द्र हैं। इनका क्षण-क्षण में उत्पाद, विनाश होता रहता है। यही चित्र दो भूमियों में प्रकट होता है।

अधोभूमि में, बिन्दु तथा क्षण हैं। न कोई द्रव्य है, न वर्ण संस्थान है, न स्थिति है, और न कोई आकार है। ऊर्ध्वभूमि में एक दूसरा लोक है, जो परिकल्प से निर्मित है। इस प्रकार दो भिन्न वस्तुएँ हैं–एक, तत्त्व, जहाँ इन्द्रिय विज्ञान तथा गणित के बिन्दु के समान क्षण हैं, तथा दूसरा व्यावहारिक तत्त्व, जो पर-परिकल्प द्वारा पहिले पर आरोपित होता है।

दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति

दिङ्नाग की ज्ञानमीमांसा उपर्युक्त विचार के साथ आरम्भ होती है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान, ये दो ही प्रमाण हैं। इसका कारण यह है, कि विशेष तथा सामान्य, यही विषय के दो प्रकार हैं। विशेष का समकक्ष क्षण है, जो समस्त का आधार है। सामान्य हमारी कल्पना के निर्माण के समान है। विशेष का तात्पर्य उस विशेष से है, जो विवेचन का विषय है, तथा सर्वसामान्य लक्षणों से रहित है। दिङ्नाग तथा धर्मकीर्त्ति का विज्ञानवाद यह है, कि वे परमार्थ द्रव्य एवं परिकल्प के रूप में तत्त्व की द्विविध तत्त्वभूमि सिद्ध करते हैं। परमार्थ द्रव्य का कोई रूप नहीं है। परिकल्पभूमि, शुद्ध कल्पना का आभास मात्र नहीं है। दूसरे शब्दों में, यह मात्र शशशृङ्ग या वन्ध्यापुत्र के समान नहीं है।

यदि विचार कर देखा जाय, तो **दिङ्नाग** एवं **धर्मकीर्त्ति** का सिद्धान्त उस वाद का परिणाम है, जो प्रत्यक्ष ज्ञान एवं अनुमानाश्रित ज्ञान में, मौलिक भेद उत्पन्न करता है।

'काल' सिद्धान्त–बौद्धों की ज्ञानमीमांसा करने से पूर्व काल एवं दिक्सम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण परमापेक्षित है। शंकराचार्य एवं माधवाचार्य ने दिक्सम्बन्धी सिद्धान्त को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हुए, बौद्धों के दिग्वाद का निराकरण किया है। बौद्धों के अनुसार बाह्य जगत् की अविद्यमानता के प्रमाण से दिक् की अविद्यमानता स्वतः सिद्ध है। बौद्धेतर दर्शनों में काल को एक स्वतन्त्र पदार्थ माना है, जिसका सम्बन्ध द्रव्यों से हो सकता है, अथवा उसे द्रव्यों का एक गुण माना है। इसके अतिरिक्त शाश्वत काल का सिद्धान्त भी मिलता है, जो समस्त संसार का कारण है।

दिक् के लिए, आकाश शब्द का व्यवहार भी होता है। आकाश, अनन्त के प्रतीक के रूप में भी स्वीकार किया गया है। इस रूप में आकाश दिक् एवं काल दोनों को व्याप्त करता है। शब्द आकाश का गुण एवं लिंग है, क्योंकि शब्द से ही आकाश का बोध होता है। वैशेषिक में भू, दिक्काल की विशेष चर्चा मिलती है। वहाँ, इन दोनों को नौ द्रव्यों के अन्तर्गत परिगणित किया गया है।

ऋग्वेदकाल में काल की उत्पत्ति का सिद्धान्त–ऋग्वेद (१०।१८०१२) के अनुसार संवत् (काल) की उत्पत्ति सर्वप्रथम अर्णव से हुई। इसी प्रकार बृहदारण्यक (१।२।८) में, यह वर्णन मिलता है, कि पुरुष ने सर्वप्रथम काल को प्रकट किया, तथा स्वयं मन द्वारा उसके साथ मृत्यु एवं बुभुक्षा के रूप में सम्भोग किया। इस सम्भोग में जो शुक्र स्खलन हुआ, वही 'संवत्सर' था। इसके पूर्व संवत्सर न था। मृत्यु की संतान संवत्सर स्वयं मृत्यु है। अत एव संवत्सर से व्याप्त संसार नश्वर है। इन वैदिक उदाहरणों से काल का संहारस्वरूप एवं नियतिस्वरूप, स्पष्ट रूप से संकेतित होता है।

महाकाल–महाकाल का तादात्म्य शिव एवं विष्णु के साथ किया जाता है। यह इसलिए कि शिव एवं विष्णु मृत्यु से पर हैं। इसी प्रकार महाकाल भी शाश्वत है। ऐसे ही विराट् पुरुष भी समस्त द्वन्द्वातीत एवं ईश्वर स्वरूप है–"कालः प्रत्यक्ष ईश्वरः"। ईश्वर स्वरूप काल उदासीन एवं पक्षपातरहित है।

शाश्वत एवं औपाधिक काल

वेदान्त में निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म निरूपित हुआ है। ब्रह्म उपाधिरहित शाश्वत एवं सर्वव्यापक तत्त्व है, किन्तु ईश्वर मायोपहित ब्रह्म है। इसी प्रकार शाश्वत काल भी संसार से ऊपर है, किन्तु औपाधिक काल सावयव एवं सान्त है। प्रातः, मध्याह्न एवं सायं, घटी-पल आदि अवयव ही तो हैं। औपाधिक काल का निर्माण भौतिक रूप से हुआ है। काल के पूर्वापर एवं भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान भेद भी भौतिक एवं व्यावहारिक आधारों पर आधारित हैं।

काल के सूक्ष्म द्रव्य होने का विचार अनेक दर्शनों में पाया जाता है। जैसा कि पहले भी कहा गया है, वैशेषिक ने काल की गणना नौ द्रव्यों में की है। मीमांसक भी काल को द्रव्य मानते हैं। जैनागम काल को द्रव्य तो मानते हैं, किन्तु वे इसे 'अस्तिकाय' नहीं मानते। इसका कारण यह बतलाते हैं, कि काल में प्रदेश नहीं हैं।

काल का स्वरूप एवं लक्षण

जिस प्रकार **मन, आत्मा** तथा **आकाश, प्रत्यक्ष** के विषय नहीं हैं, उसी प्रकार काल भी अनुमेय है। किन्तु **प्रभाकर** मानते हैं, कि काल षडिन्द्रियग्राह्य है। यह अनुमेय नहीं है।

मीमांसकों, वैशेषिकों एवं वेदान्तियों के अनुसार काल के लक्षण, सूक्ष्मत्व, विभुत्व, नित्यत्व एवं एकत्व अथवा अनवयवत्व हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा के अन्तर्गत, काल, अभौतिक एवं भौतिक की मध्यवर्त्ती शृंखला है। अभौतिक के समान काल में सूक्ष्मता, एकत्व एवं नित्यत्व हैं, एवं भौतिक द्रव्य के समान काल में अचेतनत्व एवं जडता हैं। इसके अतिरिक्त काल, उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाशलक्षण स्वरूप एवं भूत-भविष्यद्-वर्त्तमान रूप है[1]।

बौद्धों का कालवाद

बौद्धों के द्वारा काल का खण्डन एवं मण्डन दोनों किए गए हैं। अवश्य, कुछ मुख्य निकाय काल का खंडन करते हैं। **योगाचार के शत** धर्मों की सूची में दिक् एवं काल विप्रयुक्त संस्कार के अन्तर्गत गिनाए गए हैं। महाविभाषा (प्र० ३६३) में काल का नित्य स्वभाव व्याख्यायित हुआ है। अभिधर्मकोश (पृ० ६३) में त्रैकाल्यवाद (भूत-भविष्यत् एवं वर्त्तमान) का वर्णन है।

---

१. कालस्तूत्पत्तिस्थितिविनाशलक्षणस्त्रिविधः। सप्तपदार्थी, १४।

सचमुच, काल, एक ऐसा भाण्ड (महापात्र) है, जिसमें भूत, भविष्यत् एवं वर्त्तमान स्थित है। **संघभद्र**, न्यायानुसारशास्त्र के अन्तर्गत त्रैकाल्यवाद के विरोधी हैं। वे भूत एवं भविष्यत् को धर्म नहीं मानते। ये मात्र अवस्था भेद हैं। देशस्थ होने के कारण, मात्र वर्त्तमान ही धर्म है। वैभाषिक के अनुसार ७५ धर्मों की सूची में काल का निर्देश नहीं है। तथापि प्रच्छन्नतया काल एवं दिक् वैभाषिक ग्रन्थों में मिलते हैं। नित्य काल का तादात्म्य अमृत धातु से है, जो निर्वाण धातु का अधिवचन है। औपाधिक काल जाति, स्थिति, वंश एवं अनित्यता में वर्त्तमान है। इनका कारित्र प्रत्येक संस्कृत धर्म को त्रिकाल (भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान) की अवस्था में आकृष्ट करता है।

कारित्र क्या है—प्रत्येक धर्म का अपना कारित्र होता है। किन्तु यह कारित्र विशेष क्षण में ही उत्पन्न होता है। जब कोई धर्म विशेष क्षण में अपना कारित्र समाप्त कर लेता है, तो पुनः यह अवसर नहीं आता। यही क्षण, वर्त्तमान कहलाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि भविष्यत् धर्म वे हैं, जिन्होंने अपना कारित्र व्यक्त नहीं किया है। इस दृष्टि से वर्त्तमान ही भूत धर्म हो जाते हैं, क्योंकि वे अपना कारित्र व्यक्त कर चुके होते हैं। यही प्रत्येक धर्म का कारित्र है। कारित्र कर्म है।

दिग्वाद (आकाशवाद)

काल, दिक् एवं आकाश, ये तीनों लगभग एक ही हैं। तीनों नीरूप–निराकार एवं विभु हैं। ये द्रव्य विशेष हैं। इन तीनों के भेद जैसे दिक् के पूर्व, पश्चिम आदि, काल के भूत-भविष्यत् आदि एवं आकाश के घटाकाशादि औपाधिक हैं।

उपनिषदों के अनुसार, आकाश शब्द का आश्रय है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में, अव्यक्त से आकाश की सृष्टि बतलाई है—अव्यक्तादाकाशः। उपनिषदों में आकाश एवं दिक्, दोनों का व्यवहार होता था। जहाँ, आकाश शब्द का समवायिकारण है, वहाँ दिक् वह शब्द विशेष है, जो प्रदेश का निमित्त कारण है।

मीमांसकों की दृष्टि में, शब्द एक नित्य द्रव्य विशेष है, जिसकी अभिव्यक्ति वाक् में होती है। वस्तुतः मीमांसकों का उद्देश्य वेद का नित्यत्व एवं अपौरुषेयत्व सिद्ध करना था। अत एव उन्होंने शब्द को नित्य द्रव्य माना था।

वैशेषिक कणाद मीमांसक के मत का खंडन करते हुए कहते हैं, कि यदि मीमांसक यह मानता है, कि शब्द आकाश का गुण है, तो शब्द को दिक् का गुण भी माना जा सकता है। कुमारिल का मत है, कि दिक् आकाश को भी व्याप्त करता है। विचार करें—जो **दिग्भाग श्रोत्र (कान) की शष्कुली में व्याप्त है वह श्रोत्रेन्द्रिय है।** यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार वैशेषिक मानते हैं, कि श्रोत्रेन्द्रिय आकाश है—"कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः"। इस प्रकार बौद्धों के अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय दिग्भाग है। अतः बौद्धन्याय में आकाश एवं दिक्, एक ही हैं।

दिग्वाद एवं आकाशवाद के सम्बन्ध में यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है, कि इनके साथ ब्रह्म तत्त्व सम्बद्ध है, जो शब्द की निष्पत्ति करता है—"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्" (वा० प०) किन्तु यह विचार उपनिषदों में अविशदीकृत है, अव्याख्यात है। संक्षेप में, दिक् आकाश एवं श्रोत्र एक ही हैं।

पालि आम्नाय के अन्तर्गत 'आकासो' एवं 'ओकासो' (आकाश एवं अवकाश) की गणना पाँच महाभूतों में न करके केवल पृथिव्यादि चार महाभूत ही माने गए हैं। जहाँ तक सूत्रों की बात है, उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि महाभूत आकाशादि पाँच थे। वस्तुतः इस सम्बन्ध में निम्नलिखित अनेक मत मिलते हैं—

१. **अभिधम्मकोश** में आकाश को महाभूत न कहकर एक धातु बतलाया गया है।

२. **धम्मसंग्णी** में आकाश को देवलोक कहा है।

३. **बुद्धघोष** ने आकाश (धातु) की वही व्याख्या की है, जो वैशेषिक ने 'दिश्य' की है[1]। आकाश धातु का लक्षणरूप परिच्छेद है। अतएव परिच्छिन्न रूपों में, ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् की प्रतीति होती है।

४. थेरवाद में दिग् एवं आकाश का द्विविध भाव नहीं है। वहाँ शब्द को न स्वतन्त्र द्रव्य माना है, और न ही द्रव्यविशेष का गुण ही। शब्द को चार महाभूतों का कार्य मानते हुए अदृश्य माना है। किन्तु शब्द श्रोत्र ज्ञान का विषय है।

५. **विभाषा में आकाश धातु** को 'अघसामन्तक रूप' कहा है। अर्थात् आकाश धातु अत्यन्त अभिघात करने वाले—वृक्षादि का सामन्तक रूप है।

६. **नागार्जुन** के अनुसार, पृथिव्यादि चार महाभूत एवं आकाश तथा विज्ञान, ये छः धातु मानी गई हैं। नागार्जुन के अनुसार आकाश का अन्य द्रव्यों में प्राधान्य था, क्योंकि नागार्जुन मानते थे, कि जो आकाश पर लागू होता है, वह अन्य द्रव्यों पर भी चरितार्थ होता है।

७. **चन्द्रकीर्त्ति** का कथन है, कि आकाश, अनन्त है। अनावरण मात्र स्वभाव ही है। बहुधर्मवादी बौद्ध आकाश को अभाव कहते हैं।

अभाव का स्वरूप—अभाव के दो प्रकार हैं—एक बुद्धिपूर्वक एवं दूसरा अबुद्धिपूर्वक। प्रथम, किसी वस्तु के बुद्धिपूर्वक विनाश से उस वस्तु का विनाश है। द्वितीय, किसी वस्तु का निरन्तर विनाश जो चाक्षुष नहीं है। आकाश इनसे भिन्न तृतीय प्रकार का अभाव है। बौद्ध इसीलिए आकाश को द्रव्य

---

१. वै. सू. २।२।१०।

विशेष न स्वीकार कर अभाव मात्र स्वीकार करते हैं।

प्रमाण का स्वरूप–पञ्चम से षष्ठ शताब्दी के अन्तर्गत प्रमाणविनिश्चय का प्रयत्न **बौद्धन्याय** के अन्तर्गत विशेष रूप से किया गया। सम्यक् ज्ञान, अथवा प्रमाण वह है, जिसके पश्चात् निश्चय (अध्यवसाय) होता है। इसी ज्ञान से पुरुषार्थ–प्रयोजन की सिद्धि होती है। इसके विपरीत जो ज्ञान मिथ्या है, उससे प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। संशय एवं विपर्यय सम्यक्ज्ञान के विरुद्ध हैं। **धर्मोत्तर** ने **सम्यक्ज्ञान के दो भेद** किए हैं–१–प्रागवीय भावनाश्रित ज्ञान, जो आपाततः पुरुषार्थ-सिद्धि कराता है, तथा २–प्रमाणभूत ज्ञानभावना जो मात्र व्यापक है। बौद्धन्याय के अन्तर्गत इसी द्वितीय प्रकार के ज्ञान का अनुसंधान वर्त्तमान है। यही सम्यक् ज्ञान अर्थक्रियासमर्थ वस्तु का प्रदर्शक है।

प्रमाण लक्षण–बौद्धन्याय के अनुसार **प्रमाण** एवं सम्यक् ज्ञान अविसंवादक ज्ञान हैं। यह ज्ञान प्रदर्शित अर्थ का प्रापक है एवं यही ज्ञान प्रदर्शित अर्थ में प्रवृत्त करता है, एवं पुरुषार्थसिद्धि का हेतु है। एक ज्ञान की पुनरावृत्ति प्रत्यभिज्ञा है।

मीमांसक भी बौद्धों के समान प्रमाण को समाधिगत अर्थ का प्रापक मानता है। किन्तु नैयायिकों के अनुसार, प्रमाण, ज्ञान का साधकतम कारण है। **बौद्धों** के अनुसार, अर्थ क्षणिक हैं, तथा ये इन्द्रिय तथा कल्पना दोनों में भेद करते हैं। बौद्धों के अनुसार इन्द्रिय तथा कल्पना ज्ञान के उपकरण हैं। इन्द्रिय वस्तु को अधिगत करती है, एवं कल्पना निर्माणकर्त्री है। इस प्रकार ज्ञान का प्रथम क्षण इन्द्रियविज्ञान का क्षण है। यद्यपि यह अविकल्प है, किन्तु विकल्पोत्पत्ति की सामर्थ्य इसमें है। अर्थ का अधिगम होने के पश्चात्, प्रथम क्षण के बाद अर्थ का आत्मा स्फुट होता है। इस प्रकार बौद्धन्याय के अनुसार प्रमाण एक क्षण है, और यही क्षण सम्यक्ज्ञान का कारण है।

वस्तुसत्ता–दिङ्नाग एवं धर्मकीर्त्ति के अनुसार ज्ञान की व्याख्या के समान वस्तु (परमार्थ सत्) की व्याख्या भी विलक्षण है। वस्तु, अर्थक्रिया सामर्थ्य है। इसका अर्थ यह है, कि जिसमें अर्थक्रिया सामर्थ्य नहीं है, वह अवस्तु है। उदाहरणार्थ, जो अग्नि प्रज्वलित एवं शान्त है, वह अग्नि स्वलक्षण है, यह परमार्थ सत् है। इस प्रकार जो अग्नि न स्फुट है, न प्रज्वलित है, और न पाक क्रिया में सक्षम है, वह वस्तु है। यह कल्पना मात्र है, जैसे, भूत एवं भविष्यत् की अग्नि। अतः प्रत्युत्पन्न-वर्त्तमान की अग्नि ही सत् एवं निर्विकल्पक (वास्तविक एवं कल्पनारहित) है। वस्तु एवं अवस्तु के बीच का लोकसंवृत्ति सत्य (व्यवहार) है। वस्तु भी दो प्रकार की है–एक शुद्ध एवं दूसरी परिकल्पमिश्रित। शुद्ध वस्तु क्षण, परमार्थ सत् है, दूसरी वस्तु स्वलक्षण के अनन्तर विकल्पनिर्मित आकार है। जब वस्तुप्रतिबन्ध पारम्पर्येण होता है, तब अर्थसंवाद होता है। किन्तु यह अनुभव परमार्थ सत् की दृष्टि से भ्रान्त है। यह पारम्परिक सत् रूप है, प्रत्यक्ष की दृष्टि से सत् कदापि नहीं है।

प्रमाण की द्विविधता–जिस प्रकार वस्तु सत् द्विधा है, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उसी प्रकार

प्रमाण भी दो प्रकार का है–प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय व्यापार से उत्पन्न होता है, एवं अप्रत्यक्ष विकल्प से। प्रत्यक्ष, बौद्धन्याय में आभास है, एवं अप्रत्यक्ष कल्पना। प्रत्यक्ष से अर्थ का ग्रहण होता है। अप्रत्यक्ष से अर्थ भी कल्पना होती है। इसी प्रकार, धर्मोत्तर प्रमाण के ग्राह्य एवं अध्यवसेय, दो भेद मानते हैं। प्रत्यक्ष का क्षण एक है, और वह ग्राह्य है, और दूसरा अध्यवसेय प्रत्यक्षबल से उत्पन्न निश्चय (अध्यवसाय) है। यही क्षण सन्तान है। सन्तान ही प्रत्यक्ष अथवा प्राप्तव्य-प्रापणीय है। वस्तुतः क्षण की प्राप्ति अशक्य है।

बौद्धन्याय में प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो प्रमाण माने गए हैं। बौद्ध आप्त वचन को प्रमाण नहीं मानते। अर्थापत्ति एवं उपमान का अन्तर्भाव वे अनुमान में ही करते हैं।

अब यहाँ बौद्धों के अनुसार, प्रत्यक्ष एवं अनुमान के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

प्रत्यक्ष प्रमाण–बौद्ध न्याय में, ज्ञान के साक्षात् एवं परोक्ष भेदों के आधार पर ही समस्त ज्ञान-मीमांसा आश्रित है। साक्षात् को इन्द्रिय व्यापार एवं परोक्ष को विकल्प कहा गया है। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है, प्रत्यक्ष निर्विकल्प है, कल्पनारहित एवं साक्षात्कृत। वह वस्तु के स्वलक्षण का ग्रहण करता है। वह वस्तु के नाम, जाति, द्रव्य, गुण एवं कर्म का ग्रहण नहीं करता। वस्तुतः सविकल्पक प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि वह मन इन्द्रिय से जात्यादि का विवेचन करके विषय का ग्रहण करता है। इस प्रकार वस्तु मात्र का जो प्रथम ग्रहण होता है, वही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है, वही शुद्ध प्रत्यक्ष है। इसके अनन्तर मन द्वारा वस्तु के नाम स्मरण से वस्तु के नाम का ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि यह इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य नहीं है। इसमें इन्द्रिय व्यापार नहीं है।

उपर्युक्त इन्द्रियाश्रित ज्ञान में स्वरूपप्रत्यक्ष के अतिरिक्त **मानस प्रत्यक्ष** भी प्रत्यक्ष का एक रूप है। प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में, मानस प्रत्यक्ष का एक क्षण होता है, जो इन्द्रियज्ञान के विषयक्षण से उत्तरकालिक है। इस प्रकार भी कह सकते हैं, कि जब चक्षु का व्यापार होता है, तब रूपज्ञान चक्षुराश्रित होता है, और जब चक्षु का व्यापार उपरत होता है, तब मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। यही मानस प्रत्यक्ष है। एक **योगिप्रत्यक्ष** है, जिसके अनुसार योगी को भूत एवं भविष्यत् का वर्त्तमान जैसा ही आभास होता है। योगिप्रत्यक्ष अलौकिक योगज संनिकर्ष से जन्य है। यौगिक प्रत्यक्ष भी उपर्युक्त शुद्ध प्रत्यक्ष के समान निर्विकल्पक है। यह अर्थग्राही भी है।

इस सम्बन्ध में, यह उल्लेखनीय है, कि **सौत्रान्तिक** के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाशस्वरूप है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार दीपक स्वेतर विषयों को भी प्रकाशित करता है, एवं स्वयं को भी। दीपक को प्रकाशित करने के लिए, किसी अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं होती। यही स्वसंवेदन कहलाता है।

बौद्धेतर मत–प्रभाकर मीमांसक मानता है, कि ज्ञान का स्वतः प्रत्यक्ष होता है। किन्तु कुमारिल

के मतानुसार ज्ञानक्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता। कुमारिल का कथन है, कि ज्ञानक्रिया ज्ञातता के प्राकट्य अथवा संवित्ति से अनुमित होती है। न्यायवैशेषिक के मतानुसार ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है, किन्तु इसका स्वतःप्रत्यक्ष नहीं होता। ज्ञान का अनुमान ज्ञातता से नहीं होता। न्यायवैशेषिक के अनुसार एक ज्ञान का प्रत्यक्ष, दूसरे ज्ञान से होता है, यही अनुव्यवसाय है। **सांख्य योग** का मानना है, कि ज्ञान का प्रत्यक्ष आत्मा द्वारा होता है, अन्य ज्ञान से नहीं, क्योंकि ज्ञान अचेतन है। **वेदान्त** में ज्ञान स्वप्रकाश है। आत्मा स्वतः प्रकाश मात्र है। **हीनयान** के अन्तर्गत आत्मा और उसके गुणों का निराकरण किया गया है, किन्तु 'विज्ञान' को स्वीकार करता है, जिसके चैतसिक धर्म विषय हैं। **दिङ्नाग** उक्त मत के विरुद्ध न तो मन-नामक इन्द्रियान्तर को स्वीकार करते हैं, और न सुखादि प्रमेय को। सर्वास्तिवादी मन इन्द्रिय का बुद्धि से तादात्म्य मानता है। सर्वास्तिवादी के अनुसार चित्त, मन एवं विज्ञान एक ही हैं। किन्तु थेरवाद के अनुसार विज्ञान के साथ हृदय धातु स्वतन्त्रतया स्वीकार्य है। **दिङ्नाग** मन इन्द्रिय को तो स्वीकार नहीं करते, किन्तु मानस प्रत्यक्ष को मानते हैं। धर्मोत्तर के अनुसार, ज्ञान की प्रक्रिया के अन्तर्गत, प्रथम क्षण के पश्चात् विकल्प अनुगमन करता है। निश्चित ही आत्मा का ज्ञानरूप वेदन होता है, किन्तु इसके अनन्तर विकल्प नहीं होता। दिङ्नाग का विचार है कि चित्त की ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जिसमें संवेदन प्रत्यक्ष न होता हो। उदाहरणार्थ, यदि हम नीलपीतादि देखते हैं, और इसके साथ-साथ सुखादि का संवेदन होता है, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि सुखादि नीलादि से उत्पन्न इन्द्रिय विज्ञान के तुल्य आकार हैं। यहाँ, यह भी वक्तव्य है, कि जब किसी नीलादि जैसे बाह्य विषय का ग्रहण होता है, तो उसी समय सुखादि आकार से किसी अन्य का संवेदन होता है, जो रूपप्रत्यक्ष का आत्म संवेदन है। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है, कि हम रूप दर्शन के साथ-साथ, एक अन्य वस्तु का भी अनुभव करते हैं। यह अनुभव दृष्ट विषय (अर्थ) से भिन्न है, तथा यह चित्त की प्रत्येक अवस्था के साथ होता है, एवं इसके बिना चित्त की कोई भी अवस्था नहीं है। यही स्वात्मा है। यह ज्ञान ही है। इसी से ज्ञान का अनुभव होता है। यह ज्ञानरूपवेदन आत्मा का साक्षात्कार है। यह निर्विकल्पक एवं अभ्रान्त है, इसीलिए प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष एवं बौद्धेतर भारतीय दर्शन

सांख्य के अनुसार प्रत्यक्ष वह विज्ञान है, जिसके अन्तर्गत, जो जिस वस्तु के सम्बन्ध से सिद्ध होता है, उसी वस्तु के आकार को ग्रहण कर लेता है[1]। विज्ञानभिक्षु ने इस लक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है, कि प्रत्यक्ष वह बुद्धिवृत्ति है, जो वस्तु को प्राप्त कर तदाकार रूप हो जाती है। यह भी उल्लेख करने योग्य है, कि वस्तु के सान्निध्य से ही बुद्धिवृत्ति उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत बुद्धि वृत्ति का आकार ही तत् तत् वस्तुओं से उत्पन्न होता है। यहाँ यह भी निर्देश योग्य है, कि बुद्धि का तम उसकी वृत्ति में अन्तराय है। इसीलिए, जब गृहीत विषय में, इन्द्रिय व्यापार के कारण वह तम अभिभूत हो

---

१. यत् संबन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्। सा. सू. १।८९।

जाता है, तो **अध्यवसाय** होता है–"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" (सा. का.) वाचस्पति मिश्र कहते हैं, कि बाह्येन्द्रिय वस्तु का आलोचन कर मन को समर्पित करती है, मन अहंकार को समर्पित करता है, अहंकार बुद्धि को समर्पण करता है। यद्यपि बाह्येन्द्रिय, मन, अहंकार एवं बुद्धि परस्पर विरोधी हैं, तथापि भोग एवं अपवर्ग के लिए, इनमें परस्पर एकवाक्यता सिद्ध है।

न्यायदर्शन के अन्तर्गत इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न जो अव्यभिचारी ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है। यह ज्ञान दो प्रकार का है–अव्यपदेश्य एवं व्यवसायात्मक इन्द्रिय का अर्थ से, मन से और मन का आत्मा से संयोग होता है। किन्तु अन्तिम दो संयोगों का न्याय के अन्तर्गत, चारितार्थ्य नहीं है। भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं, कि मन भी इन्द्रिय है, अत एव मन द्वारा अनुभूत सुखदुःखादि का संवेदन प्रत्यक्ष ही है।

मीमांसा के अन्तर्गत, **जैमिनि,** नैयायिक के समान यही कहते हैं, कि प्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय विषय का ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार जैमिनि के मतानुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है। **मीमांसक** प्रभाकर साक्षात्प्रतीति को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की क्रिया दो प्रकार की है–निर्विकल्पक एवं सविकल्पक। प्रभाकर मत में, प्रत्यक्ष का ज्ञान अन्य प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता। प्रभाकर मानते हैं, कि प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रत्येक क्रिया में 'त्रिपुटीसंवित्' है। यह त्रिपुटीसंवित्, ज्ञाता आत्मा की संवित्ति, ज्ञेय की संवित्ति एवं ज्ञान की संवित्ति है।

वैशेषिक के अन्तर्गत **प्रशस्तपाद** का मत है, कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के पश्चात् ही वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष होता है। यह निर्विकल्प है। सविकल्प विशेष वस्तु का ग्रहण है।

अनुमान न्याय के अन्तर्गत अनुमान का विवेचन आगे किया जाएगा। अनुमान के दो भेद हैं–स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। स्वार्थानुमान (Syllogism) ज्ञानात्मक है, किन्तु परार्थानुमान शब्दात्मक है। स्वार्थानुमान अपनी प्रतिपत्ति (बोध) के लिए है, जबकि परार्थानुमान द्वारा किसी अन्य व्यक्ति को ज्ञान कराया जाता है।

स्वार्थानुमान–स्वार्थानुमान में लिङ्ग (हेतु) की त्रिरूपता स्वीकार की गई है। लिङ्ग का अनुमेय में होना (सत्त्व) **प्रथम रूप** है। यथा अग्नि अनुमेय एवं धूम (हेतु) में अविनाभाव (नान्तरीयकत्व) है। लिङ्ग का **द्वितीय रूप**, उसका सपक्षसत्त्व, सपक्ष में होना है। लिङ्ग, का **तृतीय रूप**, असपक्ष में निश्चित असत्त्व है। जैसे, शब्द बिना प्रयत्न के होता है, क्योंकि वह अनित्य है। यहाँ अनित्यत्व हेतु है।

त्रिरूप लिंग के तीन प्रकार अनुपलब्धि हेतु, स्वभाव हेतु एवं कार्य हेतु

अनुपलब्धि हेतु–अनुपलब्धि हेतु उस दशा में होता है, जब किसी देश में घट अनुपलब्ध होता है। इसमें हेतु यह है, कि घट का ज्ञान बोद्धा को नहीं होता, यद्यपि घट का लक्षण, अर्थात् हेतुप्रत्ययसामग्री वर्त्तमान है। इस प्रकार अनुपलब्धि का अर्थ विविध प्रदेश और उनके ज्ञान का होता है–"घटाभाववद्भूतलम्"।

स्वभाव हेतु–जिस साध्य की 'विद्यमानता' हेतु की अपनी सत्ता की ही अपेक्षा करती है, एवंच हेतु सत्ता व्यतिरिक्त किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं रखती, उस साध्य में जो हेतु है, वह स्वभाव ही है। उदाहरणार्थ, यह वृक्ष है, यहाँ वृक्ष साध्य है। हेतु, क्योंकि यह शिंशिपा है। शिंशिपा स्वभाव है। तीसरा हेतु, कार्य हेतु है। जैसे, यहाँ अग्नि है। हेतु, क्योंकि यहाँ धूम है। इस उदाहरण में, अग्नि साध्य एवं कार्य है तथा 'क्योंकि धूम है' यह हेतु है। यही कार्य हेतु है।

प्रतिषेध की सिद्धि–इस पर विचार करना चाहिए, कि जब प्रतिषेधवश पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, तब हम अदृश्य की अनुपलब्धि को सिद्धि का हेतु नहीं मानते।

जैन आचार्य एवं न्यायग्रन्थ

जैन आचार्य एवं उनके द्वारा प्रणीत न्यायग्रन्थों में, सिद्धसेन दिवाकर (४८०-५५० ई०) कृत न्यायावतार, जिनभद्रगणी (४८४-५८८ ई०) कृत आवश्यकनिर्युक्ति की विशेषावश्यक भाष्यटीका, सिद्धसेन गणी (६०० ई०) कृत तत्त्वार्थटीका, समन्तभद्र (६०० ई०) कृत गन्धहस्तीमहाभाष्य टीका, आप्तमीमांसा, युक्तीयानुशासन एवं रत्नकरण्डक, अकलंकदेव (७५० ई०) कृत अष्टशती टीका, न्यायविनिश्चय, लघीयस्तवार्थवार्त्तिक व्याख्यालङ्कार, अकलङ्कस्तोत्र एवं स्वरूपसम्बोधन, विद्यानन्द (८०० ई०) कृत प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा एवं तत्त्वार्थश्लोक-वार्त्तिक, माणिक्यनन्दी (८०० ई०) कृत परीक्षामुखसूत्र, प्रभाचन्द्र (८२७ ई) कृत धर्मोत्तरटिप्पण, रभसनन्दी (८५० ई०) कृत सम्बन्धोद्योत, अमृतचन्द्रसूरी (८५० ई०) कृत तत्त्वार्थसार एवं आत्मख्याति, देवसेन भट्टारक (८६६-६५० ई०) कृत न्यायचक्र एवं दर्शनसार, प्रद्युम्नसूरी (६८० ई०), अभयदेव सूरी (१००० ई०) कृत वादमहार्णव एवं तत्त्वार्थबोधविधायिनी, लघुसमन्तभद्र (१००० ई०) कृत अष्टसाहस्रीविषयतात्पर्यटीका, कल्याणचन्द्र (१००० ई०) कृत प्रमाणवार्त्तिक टीका, अनन्तवीर्य (१०३८ ई०) कृत परीक्षामुखपञ्जिका एवं न्यायविनिश्चयवृत्ति, देवसूरी (१०८६ ई०) कृत प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार एवं स्याद्वादरत्नाकर, चन्द्रप्रभसूरी (११०२ ई०) कृत दर्शनशुद्धि, हेमचन्द्र सूरी (१०८८-११७२ ई०) कृत प्रमाणमीमांसा, अभिधानचिन्तामणि, काव्यानुशास्त्रवृत्ति, छन्दोऽनुशास्त्रवृत्ति, अनेकार्थसंग्रह, द्वाशर्यमहाकाव्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुपचरित, योगशास्त्र एवं निघण्टुशेष, नेमिचन्द्रसूरी (११५० ई०) कृत पार्श्वनाथचरित, आनन्दसूरी (१०६३-११३५ ई०) अमरचन्द्र सूरी, हरिभद्र सूरी (११२० ई०) प्रणीत षड्दर्शनसमुच्चय, न्यायप्रवेशकसूत्र, न्यायावतारवृत्ति, दशवैकालिकनिर्युक्तिटीका, पार्श्वदेवगणी (११३३ ई०) कृत न्यायप्रवेशपञ्जिका, श्रीचन्द्र (११३७ ई०) प्रणीत न्यायप्रवेशटिप्पण, देवभद्र (११५० ई०) कृत न्यायावतारटिप्पण, चन्द्रसेन सूरी (११५० ई०) कृत उत्पादसिद्धिप्रकरण, रत्नप्रभसूरी (११८१ ई०) कृत स्याद्वादरत्नाकरावतारिका, तिलकाचार्य (११८०-१२४०) कृत आवश्यकलघुविवृत्ति एवं प्रत्येकबुद्धचरित, मल्लिसेन सूरी (१२६१ ई०) कृत स्याद्वादमञ्जरी, राजशेखरसूरी (१३४८ ई०) कृत रत्नावतारपञ्जिका एवं न्यायकन्दली-पञ्जिका, ज्ञानचन्द्र (१३५० ई०) कृत रत्नावतारिकाटिप्पण, गुणरत्न (१४०६ ई०) कृत तर्करहस्यदीपिकावृत्ति, श्रुतसागरगणी (१४६३ ई०) कृत तत्त्वार्थदीपिका, धर्मभूषण (१६०० ई०) कृत न्यायदीपिका, विनयविजय (१६१३-१६८१ ई०) कृत न्यायप्रदीप, तर्कभाषा, न्यायरहस्य, न्यायामृततरङ्गिणी,

न्यायखण्डनखाद्य, अष्टसाहस्रीविवरण एवं न्यायालोक उल्लेखनीय हैं। प्राचीन एवं नव्य न्याय के मध्यकाल में कतिपय प्रकरणग्रन्थों का सृजन भी हुआ था। यहाँ उनका निरूपण अपेक्षित है।

प्रकरणग्रन्थ

जिस प्रकार वेदान्त के उपदेशसाहस्री प्रभृति प्रकरणग्रन्थ उपलब्ध हैं, उसी प्रकार वैशेषिक एवं न्याय के भी प्रकरण ग्रन्थ (hand books) मिलते हैं। वास्तविक तथ्य तो यह है कि १०वीं शताब्दी तक इन दोनों ही सम्प्रदायों का विशाल साहित्य प्रणीत हो गया था, अतः प्रकरणग्रन्थों (लघुग्रन्थों) की नितान्त अपेक्षा अनुभव की जा रही थी, जिससे कि वैशेषिक एवं न्याय का जिज्ञासु अपेक्षाकृत थोड़े समय में इनका विषयबोध कर सके। ये प्रकरण ग्रन्थ विशेषतः तीन प्रकार के हैं–वैशेषिक-प्रकरणग्रन्थ, न्याय-प्रकरणग्रन्थ एवं तर्क-प्रकरणग्रन्थ। प्रथम प्रकार के वैशेषिकप्रकरणग्रन्थों में, छः या सात पदार्थों तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण का निरूपण एवं व्याख्या सम्पन्न हुई है। इनमें शिवादित्यप्रणीत सप्तपदार्थी (११५० ई०) तथा वल्लभाचार्य (१२०० ई०) प्रणीत न्यायलीलावती परिगणनीय हैं। सप्तपदार्थी में प्रशस्तपादभाष्य एवं भासर्वज्ञ के न्यायसार का अनुसरण किया गया है, किन्तु न्यायलीलावती एक स्वतन्त्र प्रकरण-ग्रन्थ है। इसकी शैली प्रबल तर्कपूर्ण एवं जटिल है। इसमें बौद्ध न्याय का निराकरण किया गया है। यह उल्लेखनीय है कि न्यायलीलावती की विषय-सामग्री ने वर्द्धमान, शंकर मिश्र, भगीरथ ठक्कुर एवं रघुनाथ शिरोमणि जैसे नैयायिकों का ध्यान इस पर टीका एवं उपटीका लिखने के लिए प्रेरित किया था। दूसरे प्रकार के न्यायविषयक प्रकरणग्रन्थों में, गौतम द्वारा व्याख्यात षोडश पदार्थों एवं वैशेषिकव्याख्यात प्रमेय की व्याख्या प्रमुख रूप से की गई है। न्याय के प्रकरणग्रन्थों में भासर्वज्ञ के न्यायसार, वरदराज की तार्किकरक्षा एवं केशव मिश्र की तर्कभाषा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। न्यायसार के लेखक भासर्वज्ञ (१००० ई०) काश्मीरी थे। भासर्वज्ञ ने न्यायसार पर एक विस्तृत टीका, न्यायभूषण का भी प्रणयन किया था। भासर्वज्ञ, भूषणकार एवं न्यायालङ्करण के नाम से भी जाने जाते थे। तार्किकरक्षा के लेखक वरदराज (१२०० ई०) आन्ध्रप्रदेश के निवासी थे। तर्कभाषा के लेखक केशव मिश्र (१२७५ ई०) हैं। तर्कभाषा का महत्त्व इसी से जाना जा सकता है कि इस पर अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाओं का प्रणयन मनीषी विद्वानों द्वारा किया गया है। इनमें गोवर्धनमिश्र (केशवमिश्र के शिष्य) कृत प्रकाशिका है, गोपीनाथकृत उज्ज्वला, रोमविल्व वेंकटबुद्धकृत तर्कभाषाभावटीका, रामलिंगकृत न्यायसंग्रह, माधवहेतुकृत सारमञ्जरी, भास्करभट्टकृत परिभाषादर्पण, बालचन्द्रकृत प्रकाशिका, चिन्नभट्टकृत तर्कभाषाप्रकाशिका, गणेशदीक्षितकृत तत्त्वबोधिनी, कौंडिन्य दीक्षितकृत तर्कभाषाप्रकाशिका, केशवभट्टकृत तर्कदीपिका, गौरीकण्ठ सार्वभौमकृत तर्कभाषाप्रकाशिका, नागेशभट्टकृत युक्तिमुक्तावली एवं विश्वकर्माकृत न्यायप्रदीप प्रमुखतया उल्लेखनीय हैं। यद्यपि केशवमिश्र की तर्कभाषा के अतिरिक्त मोक्षाकर गुप्त (११०० ई०) द्वारा रचित बौद्ध तर्कभाषा एवं यशोविजय (१६८८ ई०) द्वारा प्रणीत जैन तर्कभाषा भी उपलब्ध है, किन्तु इन तर्कभाषाओं का वैसा महत्त्व नहीं है, जैसा कि, केशवमिश्र की तर्कभाषा का। केशवमिश्र द्वारा प्रणीत तर्कभाषा में, न्यायसिद्धान्तों का विस्तृत एवं वैशेषिक सिद्धान्तों का अपेक्षाकृत संक्षिप्त निरूपण एवं व्याख्या की गई है। इस प्रकार इस तर्कभाषा में वैशेषिक सिद्धान्तों का निरूपण केवल आनुषंगिक है। तृतीय प्रकार के तर्क-प्रकरणग्रन्थों में वैशेषिक के सप्त पदार्थों का मूलरूप से निरूपण हुआ है, एवं च प्रमाणचतुष्टय की विशेष व्याख्या की गई है। तर्कप्रकरणग्रन्थों की रचना नव्य-न्याय के आचार्यों के द्वारा निष्पन्न हुई थी, अत एव इनमें वैशेषिक एवं

न्याय का समन्वय देखने को मिलता है। उपर्युक्त प्रकरणग्रन्थों की अपेक्षा, तर्कप्रकरण ग्रन्थों की यह विशेषता उल्लेखनीय है। तर्क-प्रकरण ग्रन्थों के अन्तर्गत जगदीश तर्कालङ्कार का तर्कामृत, अन्नंभट्ट रचित तर्कसंग्रह एवं विश्वनाथ पञ्चानन विरचित भाषापरिच्छेद उल्लेखनीय हैं। तर्कग्रन्थों में तर्कसंग्रह एवं कारिकावली, न्याय-वैशेषिक के अध्येताओं के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई है। चतुर्थ प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ कथमपि वे कहे जा सकते हैं, जिनमें न्याय एवं वैशेषिक का मिश्रित निरूपण है। इस प्रकार के ग्रन्थों में शशधरप्रणीत न्यायसिद्धान्तदीप गृहीत है।

इस प्रकार प्राचीन न्याय, मध्यन्याय एवं तदुत्तरवर्ती प्रकरणग्रन्थों की चिन्तनदृष्टि के पश्चात् नव्यन्याय युग (१२०० ई०) का प्रारम्भ होता है। नव्यन्याय युग की विशेषता वैशेषिक एवं न्याय की समन्वयात्मक प्रस्तुति कही जा सकती है, जो उदयन के समय से ही प्रारम्भ हो गई थी। निम्नलिखित विशेषताएँ, प्राचीन एवं नव्य न्याय के भेद को स्पष्ट करती हैं–

१–जैसा कि प्राचीन न्याय का निरूपण करते समय देखा जा चुका है, प्राचीन न्याय के अन्तर्गत न्यायसूत्रों एवं न्यायभाष्य में प्रतिपादित सिद्धान्तों का टीकाओं एवं उपटीकाओं की रचना के द्वारा व्याख्यान किया गया था। इस प्रकार न्यायसूत्रों एवं भाष्य के सिद्धान्तों को छोड़कर किसी भी स्वतन्त्र न्यायग्रन्थ का प्रणयन प्राचीन युग में नहीं हुआ।

२–नव्यन्याय के अन्तर्गत सूत्रसिद्धान्तपद्धति से हटकर स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन आरम्भ हुआ। ये ग्रन्थ न्याय-वैशेषिक के अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। यही नहीं, व्याकरण आदि शास्त्रों के क्षेत्र में भी प्राचीन एवं नवीन की प्रवृत्ति इसी युग में प्रारम्भ हुई।

३–वर्ण्य विषयगत अन्तर भी प्राचीन एवं नव्य न्याय के भेद की रेखाओं को स्पष्ट करता है। उदाहरणार्थ, सूत्रकार गोतम ने पञ्चम अध्याय में केवल 'जाति' एवं 'निग्रह स्थान' का विस्तृत निरूपण किया है, किन्तु इसके विपरीत नव्य न्याय के अन्तर्गत इनका नाममात्र का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार जहाँ अवयव आदि का निरूपण प्राचीन न्याय में न्यून रूप में ही मिलता है, वहाँ नव्यन्याय के अन्तर्गत ये विशेषरूप से व्याख्यात हैं।

नव्यन्याय के शिरोमणि आचार्य **तत्त्वचिन्तामणि** के लेखक **गंगेशोपाध्याय** हैं। तत्त्वचिन्तामणि 'मणि' के नाम से प्रसिद्ध है। न्यायदर्शन के क्षेत्र में गंगेश नवयुग के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इन्होंने जिस क्रान्तिकारी तर्कपद्धति का आविर्भाव किया, वह केवल न्याय शास्त्र के लिए ही उपयोगी नहीं थी, अपितु समस्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तबोध एवं अनुशीलन के लिए भी उसकी महती उपादेयता सिद्ध हुई थी। सच तो यह है, कि प्राचीनों द्वारा जहाँ विषयवस्तु, की प्रस्तुति पर विशेष बल दिया गया था, वहाँ गंगेश ने विशेष तर्क-पद्धति को जन्म दिया था। इसके अतिरिक्त जहाँ प्राचीन न्याय के अन्तर्गत पदार्थों के स्वरूप एवं स्वभाव का निरूपण किया गया था, वहाँ 'मणि' में वस्तुओं-पदार्थों की सुसम्बद्ध एवं सुदृढ़ परिभाषापद्धति अपनायी गई थी। यों कहिए, कि न्याय की पदार्थशास्त्रीय (Categoristic) पद्धति का स्थान 'मणि' की प्रमाणशास्त्रीय (Epistemological) पद्धति ने ले लिया था।

गंगेश (१४०० ई०) मिथिला (दरभङ्गा के समीपस्थ ग्राम करिओ) में जन्मे थे। कहना होगा,

मिथिला में इनकी तर्कपद्धति का इतना प्रभाव हुआ कि मैथिलसम्प्रदाय के रूप में एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय की ही प्रतिष्ठा हो गई।

मैथिल सम्प्रदाय के अन्तर्गत तत्त्वचिन्तामणिकार गंगेश के पुत्र वर्द्धमानोपाध्याय ने उदयन के समस्त ग्रन्थों की टीका लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने न्यायसूत्र के पञ्चम अध्याय एवं लक्षाचार्यविरचित लीलावती एवं खण्डनखण्डखाद्य पर भी टीका का प्रणयन किया था। किन्तु वर्द्धमान ने अपने पिता की तत्त्वचिन्तामणि की टीका नहीं की। उल्लेखनीय है कि वटेश्वर, जीवनाथ मिश्र, गंगादित्य, घटेशोपाध्याय एवं यज्ञपति प्रभृति ने 'मणि' पर टीका का प्रणयन किया था। ये सब टीकाकार प्रायः गंगेश एवं वर्द्धमान के समसामयिक ही थे। मिथिला सम्प्रदाय में जयदेव मिश्र (पक्षधर मिश्र १४२०-१५००) की 'मणि' पर आधारित आलोक टीका ने पूर्ववर्त्ती उपर्युक्त आचार्यों को एक प्रकार से भुला ही दिया। जयदेव ने अपने चाचा हरिमिश्र से न्याय विद्या की शिक्षा ग्रहण की थी। यह भी कहा जाता है, कि यज्ञपति भी इनके गुरु थे, यद्यपि यज्ञपति का इन्होंने 'आलोक' में अनेक स्थानों पर खंडन भी किया है। यह ध्यान रहे, कि ये जयदेव मिश्र, गीतगोविन्द एवं प्रसन्नराघव नाटक के प्रणेता जयदेव से भिन्न थे। इनके बारे में प्रसिद्ध था–"पक्षधरप्रतिपक्षो न लक्ष्यते लोकेऽस्मिन्।" जयदेव ने ही उडिपी मठ के प्रधान माध्व पुजारी व्यासराय को न्यायविद्या के अध्ययन-लेखन के लिए प्रेरित किया था। व्यासराय विजयनगर के कृष्णदेव-राय के शिष्य थे, तथा इन्होंने तर्कताण्डव नामक न्यायग्रन्थ का प्रणयन किया था। जयदेव के अनेक शिष्य थे, जिनमें, उनके गुरुपुत्र-नरहरि, उनके पुत्र माधव, भानजे वासुदेव एवं रुचिदत्त, सूचीकर, भगीरथ टक्कुर के नाम विशेषरूप से उल्लेख करने योग्य हैं। इन सब ने तथा उस समय के प्रतिष्ठित विद्वानों जैसे, शंकर मिश्र एवं वाचस्पति मिश्र प्रभृति ने इनमें 'मणि' पर टीका लिखी थी। इनमें रुचिदत्त प्रणीत 'मणि' की टीका दक्षिण में अधिक प्रचलित हुई थी।

इस प्रकार यह कहना होगा कि जहाँ १४०० ई० में गंगेश एवं उनके सुपुत्र वर्द्धमान का प्राधान्य था, वहाँ १५०० ई० में आकर 'मणि' के टीकाकारों के समर्थकों एवं विरोधियों में संघर्ष उत्पन्न हो गया था। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह संघर्ष जयदेव मिश्र (पक्षधर मिश्र) की 'आलोक' टीका के प्रणयन के पश्चात् समाप्त हो गया था, यद्यपि आलोक सम्पूर्ण 'मणि' पर न होकर केवल तीन अध्यायों पर ही आधारित थी।

'मणि' (तत्त्वचिन्तामणि) का सर्वशिरोमणि होना इसी से प्रतीत होता है कि जितनी टीकाएँ 'मणि' पर प्रणीत हुईं, उतनी जातुचित् किसी भी अन्य शास्त्र के ग्रन्थ पर नहीं हुईं। जैसा, सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने कहा है, तीन सौ पृष्ठ के इस ग्रन्थ, तत्त्वचिन्तामणि की टीकाओं की पृष्ठ संख्या १० लाख से भी अधिक है।

मैथिल पक्षधर मिश्र के शिष्य वासुदेव सार्वभौम ने १६०० ई० के प्रारम्भ में नवद्वीप आकर तत्त्वचिन्तामणि के पठन-पाठन को प्रचलित किया। तत्पश्चात् **रघुनाथ शिरोमणि** ने समस्त वङ्गप्रदेश में 'मणि' के अध्ययन का प्रचार-प्रसार किया, और इस प्रकार बंगाल भी मिथिला के समान नव्यन्याय के अध्ययन का विशेष केन्द्र बन गया। फिर तो, महाराष्ट्र, मद्रास, उत्तर प्रदेश एवं कश्मीर आदि प्रदेशों में भी नव्यन्याय का प्रचार-प्रसार हो गया।

वासुदेव सार्वभौम ने नदिया में नव्यन्याय की स्थापना की थी, इसीलिए इस शाखा का नाम नदिया शाखा के रूप में प्रख्यात हो गया। नदिया में वासुदेव सार्वभौम के पिता महेश्वरयज्ञ संभवतः, पहले बंगाली विद्वान् थे, जिन्होंने 'मणि' पर टीका लिखी थी, जिसका उल्लेख वासुदेव ने अपने ग्रन्थ–चिन्तामणि-प्रकाश के अन्तर्गत किया है। वासुदेव सार्वभौम के चार प्रधान शिष्य थे–नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि, तान्त्रिक कृष्णानन्द, विधिशास्त्रविशेषज्ञ रघुनन्दन एवं वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक एवं आन्दोलनकर्ता चैतन्य महाप्रभु। यद्यपि नदिया में नव्यन्याय की शाखा के प्रस्थापक वासुदेव ही माने जाते हैं, किन्तु शिरोमणि ने नदिया में नव्यन्याय के अध्ययन की व्यवस्था हेतु विद्यापीठ या विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। इस सम्बन्ध में अय्यर ने तर्कभाषा की भूमिका में लिखा है–'Though वासुदेव is famous as the founder of the Nadia school of नव्य न्याय it was his pupil who raised it to University status. He initiated a special Chair of Logic at Nadia and was its first occupant' (S.R. Iyer, Introduction to Tarkabhāṣā. P. 38 Varanasi) नदिया में, पीठ (Chair) के आचार्य पद के लिए 'मणि' पर मौलिक टीका लिखना आवश्यक था। इसके पश्चात् शिरोमणि की दीधिति पर टीका लिखना, पीठाचार्य पद के लिए अनिवार्य कर दिया-गया था। इतना ही नहीं, विद्वानों की सभा में, इस टीका का विशिष्टतया उत्कृष्ट सिद्ध होना भी अपेक्षित था। स्वयं शिरोमणि ने 'मणि' के अनुमान भाग पर दीधिति तथा उदयन के आत्मतत्त्वविवेक, वर्द्धमान की किरणावलीप्रकाश एवं लीलावतीप्रकाश पर टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त इन्होंने पदार्थखंडन एवं आख्यातवाद जैसे स्वतन्त्र गुटकों (लघु ग्रन्थों) का प्रणयन भी किया था। नदिया में कृष्णदास सार्वभौम, जानकीदास, रामभद्र-सार्वभौम, भवानन्द, मथुरानाथ, गुणानन्द, जगदीश एवं गदाधर जैसे नव्यन्याय के विलक्षण विद्वान् हुए।

यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि उधर वाराणसी में भी प्रगल्भ मिश्र, रुद्रन्याय वाचस्पति, पद्मनाभ मिश्र, रघुदेव, जयरामपंचानन ने भी तत्त्वचिन्तामणि, आलोक एवं दीधिति पर टीकाएँ लिखी थीं, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन टीकाओं के द्वारा किसी प्रकार भी जयदेव की आलोक टीका का स्थान नहीं लिया जा सका। अत एव आज भी आलोक 'मणि' की सर्वोच्च टीका समझी जाती है। आलोक का महत्त्व इससे भी आँका जाता रहेगा कि जगदीश तर्कालङ्कार एवं गदाधर ने भी आलोक पर टीका लिखी थी।

यह कहना होगा, कि नव्यन्याय के विस्तार के इतिहास का अन्त नदिया में गदाधरी के प्रणेता गदाधर (१६०३-१७०६ ई०) के साथ ही हो गया था। गदाधर के पश्चात् कदाचित् ही किसी विद्वान् ने 'मणि' अथवा दीधिति पर टीकालेखन का छोटा-मोटा प्रयास किया हो। गदाधर के पश्चात् तो कुछ क्रोडपत्र (नव्यन्याय विषयक गुटके) ही लिखे गए थे, जिनमें से कुछ ही प्रकाशित हो सके।

आज तो, उत्तरभारत में मथुरानाथ दीक्षित एवं जगदीश तर्कालङ्कार तथा दक्षिण भारत में गदाधर सम्यक् सुप्रतिष्ठित हैं। इधर काशी में पंडित बालकृष्ण शर्मा एवं उनके शिष्य पंडित बदरीनाथ शुक्ल भी सम्मानित नव्य-नैय्यायिक हुए हैं।

न्याय की पृष्ठभूमि

भारतीयदर्शन की मूल वैदिक दृष्टि दार्शनिक चिन्तनधारा के विविध आयामों के साथ किसी न किसी प्रकार से संबद्ध है। समस्त भारतीय दर्शन की मूल पृष्ठभूमि वैदिक दृष्टि है। यह तथ्य आस्तिक दर्शन ही नहीं, प्रत्युत अवैदिक एवं अनीश्वरवादी कहे जाने वाले नास्तिक दर्शनों के सम्बन्ध में भी न्यूनाधिक रूप से चरितार्थ होता है। जहाँ तक न्यायदर्शन का प्रश्न है, आस्तिक षड्दर्शन के अन्तर्गत होने के कारण, इसके उदय एवं विकास का स्वरूप वैदिक वाङ्मय एवं परवर्त्ती साहित्य में सरलता से परिशीलनीय है। यहाँ, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दार्शनिक चिन्तन का उद्देश्य सत्य के स्वरूप एवं उसकी उपलब्धि के साधनों का अन्वेषण तथा निरूपण है। अत एव यह भी कहना होगा कि प्राचीनतम वाङ्मय, ऋग्वेद-संहिता के अन्तर्गत जिस 'सत्' तत्त्व का निरूपण विविध प्रकार से किया गया है, उसी का ऊहापोह एवं विश्लेषण तथा प्रतिपादन परवर्त्ती वैदिक वाङ्मय–विशेषतः उपनिषदों तथा नास्तिक एवं आस्तिक सम्प्रदायों में कहीं यत्किंचित् तो कहीं प्रचुरता से निष्पन्न हुआ है। निदर्शनार्थ, जिस प्रकार, कमलनाल के खण्डित हो जाने पर भी तदन्तर्वर्ती सूत्र में विभाग न होकर, उसकी सततता बनी रहती है, उसी प्रकार वैदिक वाङ्मय का 'सत्' तत्त्वसूत्र, दार्शनिक सम्प्रदायों में विभाग होने पर भी, सतत रूप से आज तक वर्तमान है। इसका प्रधान कारण मुमुक्षा है। जैन एवं बौद्ध, जो आत्मवाद के विरोधी हैं, उनमें भी मोक्ष (निर्वाण) की कामना देखने को मिलती है। इस प्रकार मोक्ष अथवा निर्वाण को स्वीकार करना भी एक प्रकार से अस्तित्वमूलक है। जहाँ तक आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों के भेद दर्शन का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यह भेद विभाजन, क्रिया एवं प्रतिक्रिया का फल है। परिणामतः, उपनिषदों में यदि वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारधारा का प्राचुर्य है, तो दूसरी ओर यह विचारधारा संहितावर्त्ती दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि का पुष्टीकरण एवं दृढ़ीकरण भी कही जा सकती है। यही प्रक्रिया उपनिषत्परवर्ती नास्तिक एवं आस्तिक सम्प्रदायों के उदय एवं विकास में भी देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, भौतिकवादी चार्वाक दर्शन, उपनिषदों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दर्शन का स्थान भौतिक दर्शन ने ले लिया था। इसी प्रकार चार्वाकीय भौतिक दर्शन की प्रतिक्रिया के परिणाम जैन एवं बौद्ध दर्शन कहे जा सकते हैं, जिनमें एक ओर भौतिक जीवन की हेयता तथा दूसरी ओर आचारपक्ष की प्रबलता पर विशेष बल दिया गया है। यहाँ, यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि जैन एवं बौद्धदर्शन के अनात्मवादी होने पर भी उनमें वैदिक सद्वाद का तन्तु, क्रमशः जीवचैतन्यवाद एवं स्याद्वाद तथा बौद्धदर्शन के अन्तर्गत 'तथता' के सिद्धान्त में दृष्टिगोचर होता है। न्यायविषयक दृष्टि के उदय के सम्बन्ध में, कहा जाएगा कि इसकी अपेक्षा का प्रमुख कारण यह था, कि वैदिक वाङ्मय एवं विशेष कर उपनिषदों में जिस तात्त्विक दृष्टि का चिन्तन हुआ था, और जो तात्त्विक दृष्टि नास्तिक जैन एवं बौद्ध दर्शन में भी प्रकारान्तर से अभिव्यक्त हुई थी, उसकी परीक्षा एवं निष्पत्ति के लिये एक सम्पूर्ण प्रमाण दर्शन की आवश्यकता थी। "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः"। साथ ही, यह भी कहना संगत होगा, कि यह प्रमाणदर्शन, न्यायदर्शन, तत्पूर्ववर्ती तत्त्वदर्शन की परीक्षा एवं प्रतिपत्ति के लिये ही निकष सिद्ध नहीं हुआ, अपितु परवर्त्ती आचार्यों एवं सम्प्रदायों द्वारा प्रस्तुत प्रमेयसिद्धि के लिये भी इसकी अनिवार्य उपादेयता बनी रही, तथा आगे भी बनी रहेगी। यह बात और है कि न्यायेतर, प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रमाणादि की चिन्तना न्यूनाधिक भेद के साथ की गई, जैसा कि आस्तिक दर्शनों में स्पष्ट है। वैसे तो, तत्त्वदर्शन की पुष्टि के लिए

प्रमाणचिन्तन एवं न्याय की अपेक्षा नास्तिक दर्शनों, चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन में भी न्यूनाधिक रूप से अनुभव की गई थी। अत एव जैनन्याय एवं बौद्धन्याय का यत्किञ्चित् विकास हुआ था, इस सम्बन्ध में धर्मकीर्त्ति एवं दिङ्नाग की देन को नकारना समुचित न होगा। किन्तु सम्पूर्ण दृष्टि से न्यायदर्शन का सम्यक् विकास गोतम के न्यायसूत्र के आधार पर ही हुआ था, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा। परञ्च यह विस्मरणीय नहीं होना चाहिए, कि न्याय-दर्शन के मूल उदयस्थल, अन्य आस्तिक दर्शनों के समान, उपनिषदें ही हैं। यह तथ्य भी आगामी विवेचन में विचारणीय है। यों तो वैदिक संहिताओं में भी न्याय-दर्शन के मूल सूत्र किसी न किसी रूप में मिलते ही हैं।

न्याय शब्द का अर्थ

न्याय शब्द के गवेषणापूर्ण अध्ययन के लिये न्याय शब्द का अर्थ भी विचारणीय है। न्याय का आदिम रूप हमें उन वैदिक एवं औपनिषद शास्त्रार्थों तथा विद्वानों के वाद-विवादों में मिलता है, जिनमें विद्वज्जन एक-दूसरे को परास्त करना ही, अपने वैदुष्य का चरम लक्ष्य समझते थे। मेरा विचार है, कि इस प्रकार के शास्त्रार्थों एवं वाद-विवादों में विद्वानों की रुचि इतनी बढ़ गई, कि उन्होंने शास्त्रार्थप्रणाली को स्वतन्त्र अध्ययन का विषय बना लिया। यही शास्त्रार्थ जातुचित् वाकोवाक्य के नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे। आपस्तम्ब ने, जो बूलहर के मतानुसार ई. पू. तीसरी शताब्दी में वर्त्तमान थे, न्याय शब्द का प्रयोग मीमांसा के अर्थ में किया है। इस तथ्य का उल्लेख बोडास (Bodas) ने अपने "Historical Survey of Indian logic" नामक लेख के अन्तर्गत किया है।

प्राचीन काल में न्याय के लिये "आन्विक्षिकी" का प्रयोग प्रायः होता था। आन्वीक्षिकी का उल्लेख उपनिषदों[1], रामायण[2], महाभारत[3], मनुस्मृति, गौतमधर्मसूत्र तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। वात्स्यायन के अनुसार प्रमाणों के द्वारा वस्तुतत्त्व का परीक्षण न्याय है–"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।" (वात्स्यायन भाष्य, १।१।१) पारिभाषिक अर्थ में, प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन, परार्थानुमान के इन पाँच अवयवों को न्याय कहते हैं। न्याय शब्द का अर्थ आन्वीक्षिकी भी किया गया है। कौटिल्य (३२० ई. पू.) ने अपने अर्थशास्त्र (द्वितीय अध्याय) के अन्तर्गत न्याय अथवा वैशेषिक का उल्लेख न करके, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति के अध्ययन पर बल दिया है। कौटिल्य लिखते हैं–"सांख्य-योगो, लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी। धर्माधर्मौ त्रय्याम्। अर्थानर्थौ वार्तायाम्। बलाबलं चैतासां हेतुभिरन्वीक्षमाणा आन्वीक्षिकी लोकस्योपकरोति। प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता"।। अनुमान की प्रक्रिया का 'हेतु' प्राण है। अतः न्याय, 'हेतुशास्त्र' एवं हेतुविद्या के रूप में भी प्रख्यात है। 'वादविद्या' एवं 'तर्कविद्या' के रूप में भी न्याय शब्द का व्यवहार होता है। प्रमाणशास्त्र के रूप में भी न्याय शब्द का प्रचलन देखने में आता है। न्याय शब्द का एक अर्थ, औचित्य निर्णय भी है। इसी आधार पर भाष्यकार वात्स्यायन एवं वाचस्पति मिश्र ने न्याय की परिभाषा "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं

---

१. बृ. उ. १२-४-५ छा. उ. ७-१-२।
२. रामायण (अयो० का०) १००-३६।
३. महाभारत (शा. प.) ७-४३।

न्यायः"[1] (प्रमाणों की सहायता से वस्तुतत्त्व की परीक्षा करना न्याय है) की है। प्राचीनकाल में न्याय-शास्त्र, हेतुशास्त्र, हेतुविद्या, तर्कविद्या, तर्कशास्त्र, वादविद्या, न्यायविद्या, प्रमाणशास्त्र, तक्वी, विमंसी आदि अभिधानों में भी प्रख्यात हुआ है। यह कहना सङ्गत होगा, कि न्याय के इस प्राचीन रूप में मात्र तर्कशास्त्र की ही योजना थी। दर्शन एवं अध्यात्मपक्ष प्राचीन न्याय का अंग नहीं था।

वात्स्यायन ने न्यायदर्शन को समस्त विद्याओं का प्रदीप कहा है[2]। अत एव इस दर्शन की अपेक्षा समस्त शास्त्रों के तत्त्वबोध के लिए अनुभव की गई है। यहाँ तक कि साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में न्यायदर्शन की तर्कपद्धति का अनुसरण किया है। मनु ने भी वेदशास्त्र-सम्मत तर्क की उपादेयता, धर्म के सम्यक् स्वरूपज्ञान के लिये स्वीकार की है[3]।

यदि विचार कर देखा जाय तो न्याय की तर्कदृष्टि का आरम्भ संहिताओं के अन्तर्गत ही हो जाता है। निदर्शन के लिये, मीमांसकों ने श्रौतानुष्ठान के विरोध के परिहारार्थ प्रथम बार तर्कपद्धति का अनुसरण किया था। यही कारण था, कि बहुत समय तक मीमांसा के अर्थ में न्याय शब्द का प्रचलन होता रहा। इसके पश्चात् ही, न्याय का स्वतन्त्र दर्शन के रूप में विकास हुआ।

उपनिषदों में न्याय का स्वरूप

जैसा कि आस्तिक षड्दर्शनों के स्वरूप निरूपण के अवसर पर स्पष्ट होगा, सभी आस्तिक दर्शनों के मूल सूत्र उपनिषदों के अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक न्यायदर्शन का प्रश्न है, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः"[4] इस श्रुति के अन्तर्गत 'मन्तव्य' आत्मा की मननयोग्यता का स्पष्ट संकेत करता है, जो न्यायसम्मत तर्क का ही समर्थक है। आत्मा के सम्बन्ध में मनन करते समय अनेकविध तर्कनाओं का मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त न्यायदर्शन के अन्तर्गत शब्द को आकाश का गुण कहा है[5]। एवञ्च छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से कहा गया है, कि आकाश शब्द का वाहन है, तथा आकाश के द्वारा मनुष्य किसी को बुलाता है। आकाश के द्वारा मनुष्य सुनता है तथा आकाश के ही द्वारा मनुष्य शब्द की प्रतिध्वनि भी सुनता है[6]। न्यायदर्शन के अन्तर्गत जिस अणुवाद का विस्तृत रूप से विचार हुआ है, उसके स्पष्ट निर्देश भी उपनिषदों के अन्तर्गत

---

१. वात्स्यायनभाष्य, न्याय-सू. १-१-१ तथा देखें,
वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १-१-१।

२. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तितः ।। वात्स्यायन, न्यायभाष्य १.१.१।

३. आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिता ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।। मनुस्मृति १२.१०.६।

४. बृ. उ. २-४-५।

५. शब्दगुणकमाकाशम्, तर्कसंग्रह।

६. आकाशेनाह्वयति, आकाशेन शृणोति, आकाशेन प्रतिशृणोति। छा.उ. ७·१४·१।

वर्तमान हैं। उदाहरण के लिये, श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्तर्गत आत्मा के स्वरूप को 'अणोर्ग्णीयान् महतो महीयान्' कहा है। **मुण्डक उपनिषद्**[१] में भी एक स्थल पर आत्मतत्त्व की सूक्ष्मता का निरूपण 'अणु' कहकर किया गया है। और देखें, मुण्डक उपनिषद् के अन्तर्गत कहा गया है कि आत्मा न बलहीन के द्वारा जानने योग्य है, न प्रमाद से, न तप से और न लिङ्ग त्याग से[२]। इस स्थल पर 'लिङ्ग' चिह्नवाची है, जो न्यायदर्शन की अनुमान प्रक्रिया के अन्तर्वर्ती 'लिङ्ग'[३] (धूम) का सङ्केत देता है[३]।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत न्यायदर्शनाभिमत 'अनुमान' की बीजरूपता उस स्थल पर देखी जा सकती है, जब आरुणि श्वेतकेतु से कहते हैं कि जैसे एक सुवर्णपिण्ड के ज्ञान से समस्त सुवर्ण का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार एक आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर समस्त का ज्ञान हो जाता है,[४] क्योंकि आत्मतत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है, अर्थात् एकमात्र आत्मा ब्रह्म ही सत्य है। इस प्रकार प्रातीतिक नामरूपात्मक जगत् की सत्ता भी ब्रह्म (अधिष्ठान) से पृथक् नहीं है। जैसा कि अग्रिम विवेचन से स्पष्ट किया जाएगा, न्यायदर्शन असत्कार्यवादी है, जिसके अनुसार कार्य की सत्ता कारण में अवर्तमान है। इस सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् का वह स्थल उद्धरणीय है, जहाँ यह कहा गया है कि आरम्भ में 'असत्' ही था, तथा असत् से ही 'सत्' की उत्पत्ति हुई[५]। 'असत्' के इस निरूपण में न्यायदर्शन के असत्कार्यवाद की मूल भूमिका का पृष्ठाधार देखना अनुचित न होगा।

उपर्युक्त संकेतस्थलों के आधार पर न्यायदर्शन के अनेक सिद्धान्तसूत्र उपनिषदों में प्राप्तव्य हैं।

प्राचीन एवं नव्य न्याय

न्यायदर्शन का इतिहास लगभग दो सहस्र वर्ष प्राचीन है। न्याय की दो प्रसिद्ध धाराएँ हैं। प्रथम धारा के उद्‌गमस्थल आचार्य गोतम के सूत्र हैं। तथा दूसरी धारा का उत्पत्तिग्रन्थ, गंगेश उपाध्याय (१२वीं शताब्दी) रचित तत्त्वचिन्तामणि है। पहली धारा प्राचीन न्याय की प्रवर्त्तक है, तथा दूसरी धारा नव्यन्याय की। प्रथम धारा प्राचीन न्याय में षोडश पदार्थों के निरूपण के कारण 'पदार्थमीमांसात्मक' अर्थात् 'कैटेगोरिस्टिक' प्रणाली के रूप में प्रख्यात हुई, तथा दूसरी नव्यन्याय प्रणाली के अन्तर्गत प्रमाणों की मीमांसा होने के कारण, उसे प्रमाणमीमांसात्मक अर्थात् 'एपिस्टोमोलोजिकल' कहते हैं।

प्राचीन और नव्यन्याय में अन्तर

प्राचीन तथा नव्य-न्याय की दृष्टि में पर्याप्त अन्तर है। जहाँ प्राचीन न्याय अध्यात्मप्रधान है, वहाँ नव्य-न्याय शुष्क तर्कप्रधान है। वैसे तो, प्राचीन न्याय में भी तर्क की न्यूनता नहीं है। इसमें 'वाद' से लेकर, निग्रहस्थान तक की प्रमेययोजना वृहत्तर्क की ही प्रमाण है। परन्तु यह स्वीकार करना होगा,

---

१. एषोऽणुरात्मा चेतसो वेदितव्यः। मु.उ.३-१ ६।
२. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाऽप्यलिगात्। मु. उ. ३.२.४।
३. लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्।
४. यथा सोम्यैकेन लौहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लौहमित्येव सत्यम्। छा.उ. ६-१-४-६।
५. असदेवेदमग्र आसीत्–तस्मादसतः सज्जायते। छा.उ. २-३-२।

कि बौद्धों के साथ हुए प्रतिवाद के फलस्वरूप नव्यन्याय की तर्कप्रणाली अधिक मुखर एवं आकर्षक है। वस्तुतः तथ्य यह है, कि प्राचीन न्याय का लक्ष्य मुक्ति था, तथा नव्यन्याय का लक्ष्य एक प्रकार से शुष्क तर्क था।

न्यायदर्शन के आचार्य एवं साहित्य

गोतम या गौतम

गोतम, इनका गोत्र नाम था। इनका व्यक्तिगत नाम अक्षपाद था। ये मिथिला के निवासी थे। डा. सतीशचन्द्र विद्याभूषण के मतानुसार गोतम एवं अक्षपाद दो आचार्य थे। आचार्य विश्वेश्वर ने भी दोनों को एक न मानकर गोतम को अध्यात्मप्रधान सूत्रों का रचयिता तथा अक्षपाद को प्रमाणविवेचन के साथ न्यायसूत्रों का संस्कर्ता माना है[1]। इस सम्बन्ध में इसी अध्याय में विशेष विचार किया जा चुका है।

गोतम के न्यायसूत्र के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। इस आधार पर कि न्यायसूत्र के अन्तर्गत शून्यवाद का खंडन किया गया है, याकोबी न्यायसूत्र की रचना तीसरी शताब्दी मानते हैं। किन्तु हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार न्यायसूत्र का प्रणयन द्वितीय शतक में हुआ था। इन मतों से भिन्न, सतीशचन्द्र विद्याभूषण के अनुसार न्यायसूत्र की रचना विक्रमपूर्व षष्ठ शतक में हुई थी[2]। आधुनिक काल के समालोचक विद्वानों का विचार है, कि न्यायसूत्र के चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत शून्यवाद, बाह्यार्थभंगवाद आदि मतों का खंडन किया गया है, जो बौद्धमत की ओर संकेत करते हैं। किन्तु प्राचीन विद्वानों का मत है, कि ये वाद बुद्ध से पूर्व, आदि सर्ग से ही प्रवृत्त हैं। यह मत जयन्तभट्ट द्वारा प्रतिपादित है[3]। इस प्रकार उपर्युक्त मत बौद्धदर्शन के परवर्ती न होकर पूर्ववर्ती ही हैं। अतः न्यायसूत्र के रचयिता गोतम का स्थितिकाल विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक मानना संगत होगा।

न्यायदर्शन के प्रणयन की भूमिका के सम्बन्ध में यदि विचार किया जाय, तो यह मानना होगा, कि तत्कालीन समाज ने बौद्ध धर्म के आचार-विचार से प्रभावित होकर भावुकतावश उसे स्वीकार तो कर लिया था, किन्तु बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियों को बौद्ध धर्म की कठोर आचार-प्रणाली के पालन में कठिनता का अनुभव हो रहा था। वस्तुतः वे असमञ्जस में थे। न उनसे बौद्ध धर्म का त्याग बनता था और न उसका मनसा ग्रहण। इस प्रकार तत्कालीन बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ एक शुष्क एवं नीरस जीवन यापन कर रहे थे। ऐसे सामाजिक वातावरण में एक ऐसी तर्कपद्धति की अपेक्षा थी, जो बौद्ध धर्म के खण्डन का माध्यम बन सके। गोतम ने न्यायसूत्र की रचना करके यही कार्य सम्पन्न किया था। न्यायदर्शन के अन्तर्गत वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति तथा निग्रहस्थान का विस्तृत वर्णन यही सिद्ध करता है, कि न्यायदर्शन का प्रणयन प्रतिपक्षियों के खण्डन के लिये ही किया गया था।

---

१. देखिये, आचार्य विश्वेश्वर, तर्कभाषा की भूमिका।

२. विशेष देखिए, म.म. गोपीनाथ कविराज, न्यायभाष्य, अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ. १-१८ कलकत्ता।

३. आदिसर्गात् प्रभृति वेदवदिमा विद्याः प्रवृत्ताः। –न्यायमंजरी।

परिणामतः, न्यायदर्शन के अन्तर्गत, प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, विर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान, इन षोडश पदार्थों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया हैं। शास्त्रार्थ व्यवहार में इनका प्रयोग एक-दूसरे को परास्त करने के लिए तथा निर्णीत मत पर पहुँचने के लिए किया जाता है।

न्यायसूत्र का संक्षिप्त वर्ण्य विषय

न्यायसूत्र का प्रमुख वर्ण्य विषय साङ्गोपाङ्ग प्रमाणनिरूपण है। न्यायसूत्रकार गोतम ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं आप्त, इन चार प्रमाणों की न्यायसूत्र के अन्तर्गत विस्तार से व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त प्रमाणज्ञेय प्रमेयों–आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रिय विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग की व्याख्या की गई है। न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा, मन तथा शरीर से भिन्न है। न्यायदर्शन का प्रमुख उद्देश्य जीव को शरीर, इन्द्रिय एवं इन्द्रिय विषयों से मुक्ति (अपवर्ग) की प्राप्ति कराना है। मन, जो अणु, सूक्ष्म एवं नित्य है, आत्मा के सुख एवं दुःखादि के भोग का निमित्त है। मन अन्तरिन्द्रिय है। न्यायदर्शन के अन्तर्गत सुखानुभूति की प्रक्रिया यह है, कि जब आत्मा का मन तथा इन्द्रियों द्वारा किसी पदार्थ से सम्बन्ध होता है, तो उसे एक प्रकार की सुखानुभूति होती है, किन्तु यह सुखानुभूति आत्मा का नित्य गुण नहीं है। जब आत्मा अपवर्ग दशा को प्राप्त करता है, तो उसका समस्त सांसारिक विषयों से सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। मन परमाणु तथा आत्मा अमर एवं चैतन्य स्वरूप है। न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा ही सदसत् कर्म के फल का भोक्ता, रागद्वेषादि का कर्ता एवं जन्म-मरण के बन्धन का भोक्ता है। अतः प्रमाण-प्रमेयादि के तत्त्वज्ञान से मुक्ति भी आत्मा की ही होती है।

नैयायिक के अपवर्ग अर्थात् मोक्ष की यह विशेषता है, कि उसके अनुसार मोक्षावस्था में किसी आनन्द की अनुभूति नहीं होती, जैसा कि वेदान्तादि अन्य दर्शनों में प्रतिपादित किया गया है। अत एव न्यायसम्मत मुक्ति को जडस्वरूपा कहा गया है। न्यायदर्शन के अन्तर्गत ईश्वर तत्त्व का प्रतिपादन अनेक युक्तियों के आधार पर किया गया है। न्यायदर्शन का तर्क है, कि सूर्य-चन्द्रादि सांसारिक पदार्थों की सृष्टि अत्यल्प शक्ति-सम्पन्न मनुष्य के द्वारा सम्भव नहीं है। अतः समस्त संसार का स्रष्टा ईश्वर ही है। ईश्वर सर्वशक्तिमान्, ऐश्वर्यशाली एवं सर्वज्ञ है। ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण लोक-कल्याण के लिए किया है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र होने के कारण शुभाशुभ कर्मों के सम्पादन के द्वारा सुख दुःखादि का भोक्ता बनता है।

इस प्रकार सृष्टिवैषम्य का कारण मनुष्यों के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म हैं। ईश्वर के अनुग्रह से व्यक्ति शुभकर्मों में प्रवृत्त होता हुआ तत्वज्ञान के प्रति जागरूक होकर मोक्षपथ में अग्रसर होता है। अत्यन्त संक्षेप में, न्याय दर्शन की यही विचारप्रक्रिया है।

वात्स्यायन–न्यायसूत्र के प्रथम भाष्यकार वात्स्यायन हैं। वात्स्यायन का स्थितिकाल ई. पू.

द्वितीय शताब्दी है। वात्स्यायन भाष्य के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत अनेक वार्त्तिकों के उद्धरण तथा उनकी व्याख्या मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस भाष्य से पूर्व भी न्यायसूत्र की व्याख्या किसी न किसी विद्वान् के द्वारा की गई थी।

उद्योतकर–(६०० ई०) उद्योतकर ने वात्स्यायन भाष्य पर वार्तिक लिखकर न्यायशास्त्र की अत्यन्त दुरूह ग्रन्थियों को सुलझाया था। वार्त्तिक लिखने का उद्देश्य दिङ्नाग प्रभृति बौद्धों के मत का खण्डन था। उद्योतकराचार्य ने इस सम्बन्ध में स्वयं कहा था, कि "दिङ्नाग आदि बौद्ध कुतार्किकों के ज्ञान की निवृत्ति के लिए मैंने यह ग्रन्थ (वार्त्तिक) लिखा है"[1]।

वाचस्पति मिश्र–(६०० ई०) उद्योतकराचार्य के वार्तिक प्रत्येक अध्येता के लिये सरल नहीं थे। अत एव उनका विशदीकरण करने के लिये वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य टीका लिखी थी। यह टीका इतनी प्रशंसित हुई थी, कि वाचस्पति मिश्र 'तात्पर्याचार्य' के नाम से प्रख्यात हुए थे। ये भारतीय दर्शन के दिग्गज विद्वान् थे। इन्होंने वैशेषिक को छोड़कर सभी आस्तिक दर्शनों पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी थीं। उद्योतकर के वार्त्तिक पर न्यायसम्मत तात्पर्यटीका के अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र की ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य पर 'भामती', सांख्यकारिका पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी, योगदर्शन पर तत्त्ववैशारदी तथा मीमांसादर्शन के क्षेत्र में विधिविवेक की टीका न्यायकणिका एवं मीमांसा का मौलिक ग्रन्थ तत्त्वबिन्दु प्रख्यात हैं। न्यायदर्शन के क्षेत्र में, इनका ग्रन्थ–'न्यायसूचीनिबन्ध' अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

आज मिथिला में इनकी जन्मभूमि के समीप 'वाचस्पति नगर' रेलवे स्टेशन भी बन गया है।

जयन्त भट्ट–(६०० ई०) जयन्त भट्ट ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'न्यायमञ्जरी' के अन्तर्गत न्यायसूत्र के कतिपय सूत्रों की टीका की है। न्यायमञ्जरी जयन्त भट्ट का अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। ११वीं शती में वर्तमान जैन दार्शनिक देवसूरि ने अपने ग्रन्थ 'स्याद्वादरत्नाकर' में जयन्त भट्ट के प्रति तिरस्कार की भावना से लिखा है–

यदत्र शक्तिसंसिद्धौ मज्जत्युदयनद्विपः ।
जयन्त हन्त का तत्र गणना त्वयि कीटके ।।

इस पद्य में जयन्त भट्ट के स्थितिकाल ६०० ई० के उत्तरार्द्ध की ही पुष्टि होती है। न्यायमञ्जरी के अन्तर्गत चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त का खंडन जयन्त ने गम्भीर एवं वैदुष्यपूर्ण तर्कों के साथ प्रस्तुत किया है।

भासर्वज्ञ–(६०० ई०) रत्नकीर्ति (६५० ई०) नामक बौद्ध विद्वान् ने अपोहसिद्धि नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत भासर्वज्ञ के न्यायभूषण को उद्धृत किया है। इससे इनके स्थिति काल (६०० ई०) की पुष्टि

१. कुतार्किक-ज्ञाननिवृत्तिहेतुः, वात्स्यायन, भाष्यवार्त्तिक-मङ्गलाचरण।

होती है। इन्हें अपनी एक ही कृति, न्यायसार से पर्याप्त यश मिला था। मुक्ति के सम्बन्ध में इनकी धारणा थी कि मुक्ति आत्मा की निरतिशय उपलब्धि है।

उदयनाचार्य–(६८४ ई०) उदयनाचार्य प्राचीन न्याय के प्रौढ़ एवं अत्यन्त प्रख्यात आचार्य हैं। इन्हें अपने ग्रन्थ 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के आधार पर विशेष ख्याति प्राप्त हुई थी। न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने अनीश्वरवाद का खंडन करके ईश्वर के अस्तित्व का युक्तिपूर्ण मंडन किया था। उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि के अन्तर्गत अनुमान के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि करते हुए निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं–

१. जिस प्रकार घटरूप कार्य की उत्पत्ति से कर्ता का अनुमान लगाया जाता है, उसी प्रकार जगत् को जन्म देने वाला भी कोई सामान्य जन न होकर सर्वज्ञ ईश्वर ही हो सकता है। अतः जगत् का कर्त्ता सर्वज्ञ ईश्वर होना चाहिए।

२. प्रलयकाल में समस्त परमाणु जो जड़ हैं, आकाशस्थ होते हैं, अतः प्रलय के अनन्तर सृष्टिकाल में, परमाणु संयोग के लिये चेतन की अपेक्षा होती है। इस चेतनतत्त्व ईश्वर की इच्छा के द्वारा परमाणुओं में एक क्रिया उत्पन्न होती है और पुनः उन परमाणुओं में 'आरम्भक संयोग' उत्पन्न होता है। फिर, सृष्टि की प्रक्रिया आरम्भ होती है।

३. जगत् का कोई आधार एवं उसका विनाशक होना आवश्यक है। यह कार्य ईश्वर के अतिरिक्त किसी के द्वारा संभव नहीं है। अतः ईश्वर को मानना आवश्यक है।

४. प्रलय के पूर्वकाल में वर्तमान कला-कौशल एवं क्रियाकलापों को सृष्टि के आरम्भ में प्रवर्त्तित करने के लिये ईश्वर की अपेक्षा है। अतः ईश्वर की सत्ता अपेक्षित है।

५. वेद की प्रामाणिकता तभी सिद्ध हो सकती है, जबकि वेद के कर्त्ता (ईश्वरस्य निःश्वसिता वेदाः) ईश्वर की प्रामाणिकता सिद्ध हो। अतः वेद के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को मानना अनिवार्य है।

६. श्रुति में ईश्वर का प्रतिपादन है, अतः ईश्वर को स्वीकार करना चाहिए।

७. दो परमाणुओं से, न्यायदर्शन की प्रक्रिया से द्व्यणुक बनता है तथा तीन द्व्यणुकों से अपेक्षानुसार त्र्यणुक बनता है। इस प्रकार प्रलयकाल में तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक की अपेक्षा ईश्वर के अतिरिक्त किसी और में नहीं हो सकती[१]। अतः ईश्वर को स्वीकार करना अपेक्षित है।

---

१. कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ।। न्यायकुसुमाञ्जलि ५-१।
तथा देखें, न्यायकुसुमाञ्जलि १-१।

उदयनाचार्य के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ और हैं–एक तात्पर्यशुद्धि और दूसरा आत्मतत्त्वविवेक। तात्पर्यटीकापरिशुद्धि वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्त्तिक की तात्पर्य टीका की टीका है। उदयनाचार्य के आत्मतत्त्वविवेक के अन्तर्गत अनात्मवादी बौद्धों के शून्यवाद प्रभृति मतों का प्रबल खण्डन किया गया है। इसी- लिये इनका 'आत्मतत्त्वविवेक' 'बौद्धधिक्कार' के नाम से प्रसिद्ध है।

प्राचीन न्याय के उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त वर्द्धमान (१३०० ई०) ने उदयनाचार्य की कुसुमाञ्जलि पर न्यायनिबन्धप्रकाश नामक टीका लिखी थी, एवं तदनन्तर, पद्मनाभ ने न्यायनिबन्धप्रकाश पर 'वर्द्धमानेन्दु' नामक टीका का प्रणयन किया था। नैयायिक शंकर मिश्र ने पुनः इस पर 'न्यायतात्पर्यमंडन' का प्रणयन किया। विश्वनाथ (१७०० ई०) ने भी न्यायसूत्र पर एक 'वृत्ति' की रचना की थी।

नव्यन्याय के आचार्य एवं साहित्य

आचार्य गंगेश उपाध्याय–नव्यन्याय के ग्रन्थों में गंगेश उपाध्याय रचित ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' प्रमुख है। गंगेश ही नव्यन्याय के प्रमुख प्रतिष्ठापक हैं। इन्होंने प्राचीन न्याय प्रतिपादित 'पदार्थशास्त्र' के स्थान पर 'प्रमाणशास्त्र' का प्रतिष्ठापन एवं प्रतिपादन किया था। गंगेश ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' के अन्तर्गत केवल, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उपमान इन चार प्रमाणों का नवीन शैली में प्रतिपादन करके नव्यन्याय शैली की परम्परा का प्रवर्त्तन किया, जिसने पक्षधर मिश्र आदि नव्यन्याय के अनेक उद्‌भट विद्वानों को जन्म दिया। गंगेश की अवच्छेदावच्छेदक, अनुयोगी एवं प्रतियोगी की 'परिष्कार' शैली कुछ कठिन अवश्य है, किन्तु इसमें संक्षेप में, तथा सुगठित रूप में शास्त्रीय विचारों के प्रकटीकरण की जो तकनीक है, उसने न्यायदर्शन के अनेक आचार्यों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। इस शैली के अन्तर्गत शब्दावली एवं भाषा का व्यवहार भी मोहक है। यही कारण है, कि यह शैली वेदान्त, व्याकरण एवं काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा भी, ग्रन्थ लेखन में समादर के साथ अपनायी गयी है। श्रीहर्ष प्रणीत 'खण्डनखण्डखाद्य' इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। वस्तुतः गंगेश द्वारा आविर्भूत न्यायशैली की एक अद्‌भुत विशेषता यह है, कि इसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय को अल्पातिअल्प अक्षरों में प्रस्तुत करने की क्षमता है। तत्त्वचिन्तामणि में प्रयुक्त इनकी शैली के आधार पर न्यायदर्शन के दो महान् पीठों की स्थापना हुई थी। एक की बंगाल (नदिया) में तथा दूसरे पीठ की मिथिला में। इनमें भी मिथिला में न्यायदर्शन का मूल लेखन एवं अनुशीलन प्रमुख था। उदाहरणार्थ, पक्षधर मिश्र (१३०० ई०) ने जो मिथिलानिवासी थे, गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि के प्रतिपाद्य के विशदीकरणार्थ, 'आलोक' नामक टीका लिखी थी, तथा इनके शिष्य रुचितत्त्व ने 'मकरन्द' नामक टीका लिखी थी। मकरन्द उदयन की न्यायकुसुमाञ्जलि पर वर्द्धमान की कुसुमाञ्जलि की टीका है। यद्यपि मिथिला में लेखन की परम्परा कम ही थी। इस प्रकार मिथिला के विद्वान् विशेषतः अध्ययन-अध्यापन एवं शास्त्रार्थ में ही रत रहते थे। मिथिला के विद्वानों को यह भी चिन्ता रहती थी कि उनका शास्त्र मिथिला से बाहर न जाए। अतः वासुदेव आर्य ने मिथिला में जाकर नव्यन्याय का अध्ययन किया और फिर इसका प्रचार बंगाल (नदिया) में प्रचुर रूप से किया गया। वासुदेव सार्वभौम ने मात्र तत्त्वचिन्तामणि पर अपनी टीका लिखी थी। किन्तु इनके शिष्यों के अद्‌भुत वैदुष्य के कारण इन्हें आशातीत प्रतिष्ठा मिली थी। इनके शिष्यों में रघुनाथ शिरोमणि रघुनन्दन एवं कृष्णानन्द प्रमुख थे। श्रीकृष्ण चैतन्यमहाप्रभु को भी वासुदेव सर्वभौम का ही शिष्य कहा जाता है।

रघुनाथ शिरोमणि–(१५०० ई०) रघुनाथ शिरोमणि का मूल नामधेय रघुनाथ ही था, किन्तु बंगला में इनके प्रगाढ़ पाण्डित्य के आधार पर इन्हें शिरोमणि उपाधि प्रदान की गई थी। तभी से ये 'रघुनाथ शिरोमणि' के नाम से प्रख्यात हुए।

इन्होंने पक्षधर मिश्र प्रणीत तत्त्वचिन्तामणि की आलोक टीका पर 'दीधिति' नाम्नी टीका लिखी थी, जिसका विद्वत्समाज में विशेष समादर हुआ था।

मथुरानाथ भट्टाचार्य–(१५८० ई०) मथुरानाथ भट्टाचार्य शिरोमणि के शिष्य थे। इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि तथा दीधिति पर टीकाएँ लिखी हैं।

जगदीश भट्टाचार्य–(१५६० ई०) जगदीश भट्टाचार्य अपनी 'जागदीशी' टीका के प्रणयन के लिए प्रसिद्ध हैं। 'जागदीशी' 'दीधिति' की टीका है। जगदीश भट्टाचार्य का एक ग्रन्थ 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' भी है।

गदाधर भट्टाचार्य (१५६० ई०) इनकी प्रमुख रचना गदाधरी है। जो दीधिति की टीका है। गदाधर भट्टाचार्य ने उदयनप्रणीत आत्मतत्त्वविवेक पर तथा गंगेशरचित तत्त्वचिन्तामणि पर भी गदाधरी व्याख्या लिखी है। इनके द्वारा प्रणीत मौलिक ग्रन्थों में व्युत्पत्तिवाद एवं 'शक्तिवाद' विशेष रूप से समादृत हुए हैं।

न्यायवैशेषिक का मिश्रित योगदान

उपर्युक्त आचार्यों के ही काल में न्याय एवं वैशेषिक के सिद्धान्तों की मिलीजुली प्रस्तुति आरम्भ हो गयी थी। उदाहरणार्थ, विश्वनाथ पञ्चानन (१७०० ई०) द्वारा प्रणीत भाषापरिच्छेद या कारिकावली तथा उसकी टीका 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' के न्यायदर्शन का ग्रन्थ होने पर भी उसकी प्रणाली वैशेषिक पद्धति पर आधारित है। इसी प्रकार अन्नंभट्ट द्वारा प्रणीत तर्कसंग्रह के न्यायदर्शन के अन्तर्गत परिगणित होने पर भी इस लघु ग्रन्थ में वैशेषिक पद्धति से ही पदार्थ आदि का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार केशवमिश्र (१२०० ई०) रचित 'तर्कभाषा' के अन्तर्गत भी न्यायवैशेषिक की मिली-जुली सामग्री ही उपलब्ध होती है। इस मिश्रित प्रणाली में न्याय ग्रन्थों का लेखन बहुत समय तक चलता रहा। उदाहरणार्थ, माधव द्वारा 'न्यायसिद्धान्तमञ्जरी' तथा शशिधर द्वारा 'न्यायसिद्धान्तदीप' का प्रणयन किया गया था। इसी समय अनेक टीका ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ। जिनमें तर्कभाषा पर 'न्यायप्रदीप', वरदराजरचित तार्किकरक्षा पर मल्लिनाथ की 'निष्कण्टक', जानकीनाथ भट्टाचार्य की 'न्यायसिद्धान्तमञ्जरी' पर यादवाचार्य की 'न्यायमञ्जरीसार' तथा शशिधर की 'न्यायप्रदीप' पर शेषान्ताचार्य की 'प्रभा' नाम्नी व्याख्या प्रख्यात है।

न्यायदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त

षोडश पदार्थ–न्यायदर्शन के अन्तर्गत षोडश पदार्थों के बोध से मोक्ष लाभ की बात कही गई है। ये षोडश पदार्थ, प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह स्थान हैं। इस स्थल पर इन पदार्थों के स्वरूप का निरूपण आवश्यक है।

प्रमाण–न्यायदर्शन के अन्तर्गत 'प्रमाण' की परिभाषा निम्न रूप में दी गई है–"प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दस्तद्विशेषसमाख्यया अपि तथैव व्याख्यातम्"[1]।

वात्स्यायन के उपर्युक्त कथन के अनुरूप जिसके द्वारा प्रमिति की जाय, वह 'प्रमाण' है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर प्रमाण शब्द 'कारण' का वाचक है। इस प्रकार तत्तत् प्रमाणों, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द की व्याख्या भी 'करण' मूलक व्युत्पत्ति के आधार पर ही करनी चाहिए। इस प्रकार वात्स्यायन के मतानुसार जिसके द्वारा व्यक्ति ईप्सित अर्थ को जानता है, वह 'प्रमाण' है[2]। 'प्रमेय' वह ईप्सित अर्थ है जो जाना जाता है तथा 'प्रमिति' ईप्सित अर्थ का यथार्थ ज्ञान है। उदयनाचार्य ने भी उक्त मत की ही पुष्टि करते हुए, "यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्" कहा है।

भिन्न भिन्न दर्शनों में प्रमाणों की संख्या में मतभेद है। उदाहरणार्थ, चार्वाक ने एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार किया है तथा वैशेषिकों तथा बौद्धों ने प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण को भी स्वीकार किया है। किन्तु सांख्यदर्शन के अन्तर्गत प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अतिरिक्त शब्द प्रमाण को भी स्वीकार किया गया है। मीमांसक प्रभाकर ने उक्त प्रमाणों के साथ साथ, उपमान एवं अर्थापत्ति को भी स्वीकार किया है। मीमांसक कुमारिल भट्ट तथा वेदान्तियों ने पाँच प्रमाणों के अतिरिक्त 'अभाव' को भी स्वीकार किया है। पौराणिकों ने उक्त छः प्रमाणों के अतिरिक्त संभव तथा ऐतिह्य को भी माना है। जहाँ तक न्यायदर्शन की बात है, इसके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने गये हैं। बारह प्रमेयों, आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मनस्, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग एवं उक्त चार प्रमाणों के ज्ञान के द्वारा पदार्थों का तत्त्वज्ञान करने के पश्चात्, साधक को संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान का ज्ञान भी परमतत्त्व के ज्ञान के लिये परमावश्यक है[3]।

अब यहाँ, न्यायदर्शन के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों का निरूपण-विवेचन किया जाएगा।

प्रत्यक्ष प्रमाण–न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में प्रत्यक्ष की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। न्यायसूत्रकार गोतम ने प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए कहा है, कि इन्द्रिय और पदार्थ के संनिकर्ष (संयोग) से जो अव्यपदेश (अकथनीय) अव्यभिचारी (संशय एवं विपर्यय आदि दोनों से रहित), व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है।[4] गंगेश के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण 'साक्षात्कारित्व' (प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्, तत्त्वचिन्तामणि) है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय तथा किसी वस्तु के संनिकर्ष से जो

---

१. न्यायसूत्र भाष्य, १.१-३।

२. स येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्, वात्स्यायनभाष्य १.१.२।

३. आत्मशरीरेन्द्रियार्थ-बुद्धिमनःप्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्। न्यायसूत्र १-१-६।

४. इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्यायसूत्र १.१.४ बौद्धभारती, वाराणसी १६३६।

साक्षात् यथार्थानुभव होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, तथा इस ज्ञान में सर्वाधिक सहायक प्रत्यक्ष प्रमाण है। एतदनुरूप चक्षु इन्द्रिय द्वारा वस्तु के साक्षात्कार से जन्य-उपलब्ध ज्ञान को **चाक्षुष प्रत्यक्ष**, श्रवणेन्द्रिय द्वारा जन्य ज्ञान को **श्रावण प्रत्यक्ष**, रसनेन्द्रिय द्वारा उत्पन्न ज्ञान को **रासन प्रत्यक्ष**, घ्राणेन्द्रिय द्वारा उत्पन्न ज्ञान को **घ्राणज प्रत्यक्ष**, एवं त्वगिन्द्रिय द्वारा उत्पन्न ज्ञान को **त्वाक् प्रत्यक्ष** कहते हैं। बाह्येन्द्रिय का अर्थ के साथ संनिकर्ष होने से इस पञ्चविध प्रत्यक्ष को **बाह्य प्रत्यक्ष** कहते हैं।

इसी प्रकार एकादशेन्द्रिय मन के द्वारा किसी वस्तु के साक्षात्कार से जो ज्ञान उपलब्ध होता है, उसे **मानस प्रत्यक्ष** कहते हैं। व्यावहारिकता एवं अव्यावहारिकता की दृष्टि से ज्ञान के दो भेद हैं, एक निर्विकल्पक ज्ञान और दूसरा सविकल्पक ज्ञान। इसी आधार पर प्रत्यक्ष के भी निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दो भेद हैं। न्यायदर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु का ज्ञान प्रतिक्षण नष्ट होता जाता है। इस प्रकार प्रथम क्षण का ज्ञान द्वितीय क्षण में नहीं रहता। उदाहरणार्थ, घट को देखने पर प्रथम क्षण में उसका ज्ञान (यत् किंचित्) यह कुछ है, रूप से होता है, घट रूप का नहीं। इसीलिये इस यत्किञ्चित् रूप ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान कहा गया है। निर्विकल्पक ज्ञान की परिभाषा "नामजात्यादियोजनारहितं निर्विकल्पकम्" (नाम, जाति, गुण एवं क्रिया आदि की योजना से रहित ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है।) की गई है। किसी भी वस्तु का ज्ञान पहले निर्विकल्पक ही होता है। इसके विपरीत 'सविकल्पक ज्ञान' वह ज्ञान है जिसमें द्रष्टा को वस्तु का प्रत्यक्ष, उसके नाम, जाति, गुण एवं क्रिया के सहित होता है, जैसे, "गौर वर्ण वाला राम पुस्तक पढ़ रहा है।" यहाँ राम नाम, (मनुष्य) जाति, गौरवर्ण गुण तथा "पढ़ रहा है" क्रिया का बोधक है। ऐसा प्रतीत होता है, कि न्यायसूत्र (१-१-४) के अन्तर्गत प्रत्यक्ष के लक्षण में प्रयुक्त 'अव्यपदेश्य' एवं 'व्यवसायात्मक' पद क्रमशः निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्ष के आधारभूत हैं, क्योंकि जिस प्रकार 'अव्यपदेश' का अर्थ अशाब्द अर्थात् शब्दों द्वारा व्याख्यान के अयोग्य है, वही स्थिति 'निर्विकल्पक' की भी है। ऐसे ही, 'व्यवसायात्मक' ज्ञान के विशेष्य-विशेषणाभावावगाही होने के कारण, नाम, जात्यादि से सहित सविकल्पक ज्ञान भी व्यवसायात्मक ज्ञान के सदृश ही है। अतः व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष को सविकल्पक प्रत्यक्ष की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। तात्पर्य टीका[1] के अन्तर्गत, वाचस्पति मिश्र ने उक्त मत का सूत्र प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात् कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक के अन्तर्गत प्रत्यक्ष के उपर्युक्त दोनों भेदों का निर्देश मिलता है। वैयाकरण 'निर्विकल्पक' ज्ञान को न स्वीकार कर 'सविकल्पक' को ही स्वीकार करते हैं। किन्तु बौद्ध दार्शनिक 'सविकल्पक' को किसी प्रकार न स्वीकार कर निर्विकल्पक को ही मानते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के बोधार्थ 'संनिकर्ष' का ज्ञान परमापेक्षित है, अतः यहाँ छः संनिकर्षों का निरूपण किया जा रहा है।

संनिकर्ष के छः प्रकार ('षोढा संनिकर्षः')

लौकिक संनिकर्ष के लिये अभीष्ट, इन्द्रिय एवं अर्थ (वस्तु) का संनिकर्ष संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय तथा विशेषण-विशेष्यभावरूप से छः प्रकार का है।

---

१. तात्पर्यटीका, पृ० १३३।

१. **संयोगसंनिकर्ष**–चक्षु से घट का संयोग होने पर संयोग संनिकर्ष होता है। चक्षु एवं द्रव्य दोनों ही द्रव्य हैं, अतः द्रव्यों में संयोग सम्बन्ध होता है।

२. **संयुक्तसमवायसंनिकर्ष**–चक्षु के द्वारा घट, तथा घट रूप का भी प्रत्यक्ष होता है। अतः स्पष्ट है कि चक्षु का घट के रूप के साथ संनिकर्ष है। परन्तु यह, घटरूप के साथ चक्षु का संनिकर्ष साक्षात् नहीं है, प्रत्युत घट के द्वारा चक्षु का घट 'रूप' के साथ सन्निकर्ष होता है, क्योंकि चक्षु और घट से संयोगसम्बन्ध है। इसके साथ-साथ यह भी निरूपणीय है कि घट एवं घट 'रूप', इन दोनों में 'गुण-गुणिभाव' होने के कारण 'अयुतसिद्धत्व' है, अतः 'समवाय' सम्बन्ध है। इस प्रकार संयुक्तसमवायसंनिकर्ष से घट 'रूप' का प्रत्यक्ष होता है।

३. **संयुक्तसमवेतसमवाय**–जैसा कि, ऊपर स्पष्ट किया गया है, चक्षु का घट के साथ 'संयोग' सम्बन्ध है, तथा घट 'रूप' के साथ चक्षु का 'संयुक्तसमवाय' सम्बन्ध है। एवञ्च चक्षु के साथ 'घटरूपता' का 'संयुक्त-समवेत-समवाय' सम्बन्ध है, क्योंकि जाति (घटरूपता) एवं व्यक्ति, घट में अयुतसिद्धत्व होने के कारण 'समवाय' सम्बन्ध है। यहाँ यह स्पष्ट है, कि संयुक्तसमवेतसमवायसंनिकर्ष साक्षात् न होकर परम्परया है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु की 'जाति' तथा उसके 'अभाव' का भी ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, जब चक्षु, इन्द्रिय से 'घट' 'व्यक्ति' का ज्ञान होता है, तो उसके साथ-साथ 'घटत्व' जाति एवं घटरूपत्व का भी ज्ञान होता है। साथ ही, घटत्व 'जाति' के ज्ञान से 'पटभिन्नत्व' रूप 'अभाव' का भी ज्ञान होता है। अर्थात् जब घट का ज्ञान होता है, तो घट, पट से भिन्न है, यह ज्ञान भी होता है। घट में पट का 'अभाव' है, यही 'अभाव' ज्ञान है।

४. **समवायसंनिकर्ष**–श्रोत्र एवं शब्द में समवायसंनिकर्ष है। वस्तुतः श्रोत्र आकाश ही है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बाहर से दिखाई पड़ने वाला कान श्रोत्र नहीं है, अपितु श्रोत्र 'कर्णशष्कुलि' के अन्तर्गत वर्तमान है। अन्य ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है। अतः शब्द आकाश का गुण है, तथा इन दोनों में 'गुणगुणिभाव' सम्बन्ध है। 'गुणगुणिभाव' होने के कारण 'अयुतसिद्धत्व' होने से समवायसंनिकर्ष है। इस प्रकार श्रोत्र 'समवाय' सम्बन्ध के द्वारा शब्द का प्रत्यक्ष करता है।

५. **समवेतसमवायसंनिकर्ष**–श्रोत्र के साथ शब्द का 'समवाय' सम्बन्ध है, जैसा कि अभी कहा गया है, तथा शब्द का शब्दत्व के साथ समवायसम्बन्ध है, क्योंकि शब्द और 'शब्दत्व' में व्यक्ति तथा 'जाति' का सम्बन्ध है। यह 'अयुतसिद्धत्व' है, अतः 'समवायसम्बन्ध' है। इस प्रकार श्रोत्र के साथ शब्द का समवायसम्बन्ध एवं शब्द के साथ शब्दत्व का समवायसम्बन्ध होने के कारण, कान के साथ शब्दत्व का समवाय-समवाय (श्रोत्र+शब्द+शब्दत्व) अर्थात् 'समवेतसमवाय' सम्बन्ध है।

६. **विशेषणविशेष्यभावसंनिकर्ष**–उपर्युक्त पाँच प्रकार के संनिकर्ष के द्वारा भावरूप पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु 'अभाव' का प्रत्यक्ष 'विशेषण-विशेष्यभाव' संनिकर्ष के द्वारा ही सम्भव है। 'अभाव' क्या है ? सामान्यतः किसी वस्तु का किसी स्थान पर न पाया जाना 'अभाव' है, जैसे घट का किसी

कक्ष में अभाव हो सकता है। इस स्थल पर निर्देश करने योग्य है, कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु के भाव का प्रत्यक्ष होता है, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु के 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष होता है। उदाहरण के लिये, चक्षु इन्द्रिय द्वारा घट का प्रत्यक्ष होता है, तथा चक्षु के द्वारा ही जहाँ घट नहीं है, वहाँ घटाभाव का भी ज्ञान होता है। 'भाव' (घट) एवं 'अभाव' (घटाभाव) का यह भेद द्रष्टव्य है कि 'भाव' द्रव्य है तथा 'अभाव' पदार्थ है। 'अभाव' के विशेष्यविशेषणभावसंनिकर्ष से ज्ञान की यह प्रक्रिया है, कि जिस भूतल भाग पर घट नहीं है, उसे 'घटाभावविशिष्ट' भूतल कहा जाता है[1]। इस उदाहरण के अन्तर्गत 'भूतल' विशेष्य एवं 'घटाभाव' विशेषण है। अतः उक्त उदाहरण में विशेष्यविशेषण सम्बन्ध के द्वारा चक्षु इन्द्रिय के द्वारा घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है।

केशवमिश्र ने छः प्रकार के सन्निकर्ष को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा है–

अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाविकल्पिका ।
करणं त्रिविधं तस्याः संनिकर्षश्च षड्विधः ।।
घटवन्नीलनीलत्व-शब्द-शब्दत्वजातयः ।
अभावसमवायौ च ततः सम्वन्धषट्कतः ।।

अर्थात् इन्द्रियजन्य (इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न) प्रमिति अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है–१. सविकल्पक तथा निर्विकल्पक। प्रत्यक्ष प्रमा के करण तीन प्रकार के हैं–कदाचित् इन्द्रिय, कदाचित् इन्द्रियार्थसंनिकर्ष और कदाचित् निर्विकल्पक ज्ञान। इनमें इन्द्रियार्थसंनिकर्ष छः प्रकार का है–१. संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय तथा विशेषणविशेष्यभाव। इस छः प्रकार के संनिकर्ष से, क्रमशः घट का संयोग सम्वन्ध से, घट में रहने वाले नील रूप गुण का ग्रहण संयुक्त समवाय सम्बन्ध से, नील गुण में रहने वाले नीलत्व (जाति) का ग्रहण, संयुक्त समवेत समवाय सम्बन्ध से, शब्द रूप गुण का कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश रूप श्रोत्र के द्वारा समवाय सम्वन्ध से तथा शब्द में रहने वाली शब्दत्व जाति का समवेत समवाय सम्वन्ध से एवं अभाव तथा समवाय का विशेषणविशेष्य भाव से ग्रहण होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मीमांसक नैयायिक की उपर्युक्त प्रक्रिया अस्वीकार करते हुए, 'विशेष्य-विशेषणभाव' सम्बन्ध के द्वारा 'अभाव' का ज्ञान न मानकर 'अभाव' को पाँचवाँ स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, जो 'गौरवदोषात्' नैयायिक को स्वीकार नहीं है।

चाक्षुषज्ञान आदि में ज्ञान के लिये मन, आत्मा तथा त्वगिन्द्रिय के सन्निकर्ष की आवश्यकता–उपर्युक्त सभी प्रकार के ज्ञान के लिए इन्द्रियार्थ, जैसे (चक्षु इन्द्रिय एवं घट अर्थ) के अतिरिक्त, (मन), 'अन्तरिन्द्रिय' तथा ज्ञान के आश्रय, आत्मा के 'संयोग' की भी अनिवार्यतः आवश्यकता है। यों तो आत्मा के विभु होने के कारण आत्मा तथा मन का संयोग स्वाभाविक है, किन्तु वस्तु-ज्ञान के लिये यह सम्बन्ध पर्याप्त नहीं है। अत एव जब मन का, अर्थ के साथ सन्निकृष्ट इन्द्रिय के साथ 'संयोग' होता है, तथा इस संयोग से युक्त मन के साथ आत्मा का सन्निकर्ष होता है, तभी आत्मा में

---

१. घटाभाववद्भूतलम् ।

ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार मन का अर्थ के साथ सन्निकृष्ट इन्द्रिय के साथ 'संयोग' हुए बिना वस्तु का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसीलिए सांख्य दर्शन में 'मनोऽनवस्थानात्[1]' कहकर मन की अवस्थिति स्वीकार की गई है।

प्रत्यक्ष ज्ञान की सम्भवता में यह तथ्य भी अवलोकनीय है कि 'त्वक्' इन्द्रिय के साथ मन का संयोग न रहने पर भी वस्तु का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसका उदाहरण यह है कि सुषुप्ति अवस्था में जब मन 'पुरीतत्' नाड़ी में प्रवेश करता है, तो उस स्थिति में जीव को ज्ञान नहीं होता क्योंकि वहाँ 'त्वक्' इन्द्रिय नहीं है। इसीलिए सुषुप्ति से उठने के पश्चात् व्यक्ति यही कहता है कि "सुखमहमस्वाप्सम, न किञ्चिदवेदिषम्" (मैं सुख से सोया, किन्तु मुझे कुछ ज्ञान नहीं है)। ज्ञान के इस अभाव का कारण यह है, कि 'सुषुप्ति' अवस्था में त्वक् इन्द्रिय नहीं रहती।

मानस प्रत्यक्ष–जिस प्रकार बाह्येन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) द्वारा सन्निकर्ष से 'अर्थ' का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा सन्निकर्ष से सुख-दुःखादि का प्रत्यक्ष होता है। मानस प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में सन्निकर्ष की प्रक्रिया इस प्रकार समझनी चाहिए, कि सुखदुःखादि आत्मा के गुण होने के कारण, ये आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहते हैं[2]। इस प्रकार मन का आत्मा के साथ 'संयोग', आत्मा के गुणों के साथ संयुक्तसमवाय, गुणों की जातियों के साथ संयुक्त समवेतसमवाय संनिकर्ष से प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार मानस अभाव अर्थात् सुखाभाव-दुःखाभाव आदि का विशेष्यविशेषणभावसंनिकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष सम्भव है, जैसा कि 'अभाव' के प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में पहले भी कहा जा चुका है। उपर्युक्त लौकिक संनिकर्षों के अतिरिक्त न्यायदर्शन में अलौकिक संनिकर्षों की भी व्याख्या मिलती है। यहाँ उनके सम्बन्ध में भी विचार करना अपेक्षित है।

अलौकिक संनिकर्ष, सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति, ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति–इस त्रिविध अलौकिक संनिकर्ष की व्याख्या, न्यायदर्शन में की गई है। सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति के अनुसार धूमत्व सामान्य के साथ जब चक्षु का सम्बन्ध होता है, तो यह सामान्य-लक्षणाप्रत्यासत्ति 'संनिकर्ष' का उदाहरण बनती है। वस्तुस्थिति यह कि जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है (यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः) इस व्याप्ति के आधार पर लोक में जहाँ धूम को देखा जाता है, वहाँ चक्षु और धूम का संयोगसंनिकर्ष सम्भव है, किन्तु भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान में जिस धूम का प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, उस धूम के प्रत्यक्ष में व्याप्ति की चरितार्थता किस प्रकार सम्भव है। इस समस्या का समाधान न्यायदर्शन में इस प्रकार किया गया है, कि प्रथम बार जहाँ धुएँ का चक्षु से 'संयोग सम्बन्ध' हुआ, तो धूम विशेष्य है तथा धूमत्व, विशेषण अथवा 'प्रकार' है। अतः जब चक्षु के साथ धूम का 'संयोग सम्बन्ध' हुआ तो साथ ही 'धूमत्व' जाति के साथ भी चक्षु का 'संयुक्त समवाय सम्बन्ध' हुआ, एवञ्च धूमत्व का प्रत्यक्ष ज्ञान भी हुआ। यह विचारणीय है कि धूमत्वजाति नित्य होने के कारण, भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान, इन तीनों कालों में वर्तमान रहती है। इस प्रकार महानस (रसोईघर) के धूम तथा धूमत्व को देखकर, सभी अविद्यमान धूमों का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार चक्षु का 'धूमत्व' सामान्य के साथ सम्बन्ध होने से ही उक्त ज्ञान

---

१. सांख्यकारिका, ७।

२. गुणगुणिनोः समवायः।

सम्भव है। इस प्रकार इस सम्बन्ध को **सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिसंनिकर्ष** कहते हैं। दूसरा अलौकिक संनिकर्ष '**ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति**' है। उदाहरणार्थ, जब चन्दन के साथ चक्षु इन्द्रिय का संयोग होता है, तथा घ्राण से चन्दन की सुगन्धि का ज्ञान होता है, तो यह ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति कहलाती है। इस प्रक्रिया में 'यह चन्दन है', इस प्रकार का ज्ञान होने पर चन्दन की सुगन्धि का भी ज्ञान हो जाता है। इसीलिये इसे, ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति कहते हैं। तृतीय अलौकिक संनिकर्ष का उदाहरण **योगज प्रत्यक्ष** है। सामान्यतः, प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये जिन लौकिक उपायों की आवश्यकता होती है, योगियों के लिये उन उपायों की अपेक्षा नहीं होती। योगियों को योगबल से समस्त वस्तुओं का प्रत्यक्ष बिना किसी लौकिक सहायता से सम्पन्न होता है, इसीलिये इस ज्ञान को **अलौकिकयोगप्रत्यक्ष** कहते हैं। इस प्रकार के ज्ञान के लिये लौकिक सनिकर्ष की अपेक्षा नहीं होती। निदर्शन के लिये, योगी शंकराचार्य को अपने जन्मस्थान, कालडी से कोसों दूर होते हुए भी अपनी जननी के देहावसान का ज्ञान हो गया था।

अनुमान प्रमाण–परोक्ष वस्तु का ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा सम्भव है। न्याय के आचार्यों ने 'अनुमान' की एकाधिक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें निम्नलिखित प्रमुख परिभाषाएँ हैं–

"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत्, शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च"[1]।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्षपूर्वक अनुमितिकरण को अनुमान कहते हैं।

भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है, कि उक्त परिभाषा के अन्तर्गत 'तत्पूर्वक' से 'लिङ्ग' (हेतु अर्थात् धूम) लिङ्गी (हेतुमान् अर्थात् पर्वत) का सम्बन्ध (व्याप्ति दर्शन) तथा 'लिङ्ग' दर्शन, इन दोनों का भी परामर्श कर लेना चाहिए[2]। इस परिभाषा के अन्तर्गत यह भी समझ लेना चाहिए कि सम्बद्ध हेतु अर्थात् धूम लिङ्ग स्मृति (धूम की स्मृति) से सम्बद्ध होता है, तथा स्मृति एवं 'लिङ्ग परामर्श' से अप्रत्यक्ष अर्थ अर्थात् अग्नि का अनुमान होता है। यह अनुमान तीन प्रकार का है–पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट। इनके सम्बन्ध में विवेचन अभी आगे किया जाएगा।

अनुमान की निम्नलिखित परिभाषाएँ हैं–

१. अनुमीयतेऽनेन इति अनुमानम्।

जिससे अनुमान किया जाए, वह अनुमान है।

२. अनुमितिकरणमनुमानम्।

अर्थात् अनुमितिकरण अनुमान है। इस प्रकार लिङ्गपरामर्श अनुमान है।

३. लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।

अर्थात् 'लिङ्ग' का 'परामर्श' अनुमान कहलाता है। धूम तथा अग्नि के उदाहरण में धूम अग्नि का 'लिङ्ग' है एवं धूम का पर्वत पर 'परामर्श' अनुमान है।

---

१. न्यायसूत्र, १-१-५।

२. 'तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं चाभिसम्बध्यते। वात्स्यायन भाष्य १ १ ५।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त परिभाषाओं के अन्तर्गत किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

अनुमान की प्रक्रिया–सामान्यतः अनुमान की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए यह कहा जाएगा कि जिस प्रक्रिया के द्वारा 'परोक्ष', वस्तु का ज्ञान सम्भव होता है, उसे अनुमान कहते हैं। परोक्ष वस्तु का यह ज्ञान 'लिङ्ग' परामर्श के द्वारा होता है। अनुमान की प्रक्रिया के विशदीकरणार्थ, सर्वप्रथम लिङ्ग, लिङ्गी, पक्ष, सपक्ष, लिङ्ग, परामर्श एवं व्याप्ति का बोध आवश्यक है, अतः इस सम्बन्ध में विचार करना समुचित होगा।

लिङ्ग–'लिङ्ग' शब्द का सामान्य अर्थ 'चिह्न' अथवा पहचान है। लिङ्ग छिपे हुए अर्थ का बोध कराता है : "लीनमर्थं गमयति इति लिङ्गम्"। न्यायदर्शन में इसे 'हेतु' भी कहते हैं। उदाहरण के लिए, पर्वत पर अग्नि है। 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रतिज्ञा वाक्य में, पर्वत पर अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये धूम 'हेतु' का कार्य करता है। इस प्रकार लिङ्ग (धूम) छिपे हुए अर्थ अर्थात् अग्नि का ज्ञान कराता है।

लिङ्गी–जिसका उपर्युक्त 'लिङ्ग' होता है, वह 'लिङ्गी' है। धूमाग्नि के दृष्टान्त में अग्नि 'लिङ्गी' है। लिङ्ग-लिङ्गिभाव के सम्बन्ध से 'लिङ्गी' (अग्नि) का स्मरण होता है, तथा इस प्रकार पर्वत पर अग्नि का अनुमान होता है।

पक्ष–धूमयुक्त होने के कारण, पर्वत 'वह्निमान्' है, इस अनुमान वाक्य में, पर्वत पर अग्नि की सिद्धि, धूम हेतु के द्वारा, अनुमान की प्रक्रिया से सिद्ध होती है, अतः पर्वत 'पक्ष' है[1]।

इस प्रकार जहाँ 'अनुमेयार्थ' (अग्नि) का 'लिङ्ग' अर्थात् धूम दृष्टिगोचर होता है, वह (पर्वत), 'पक्ष' है। पर्वत पर धूम, पर्वत अर्थात् 'पक्ष' के धर्म के रूप में स्थित है, इसे पर्वत की पक्षधर्मता कहते हैं।

सपक्ष–"जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है" इस व्याप्ति के द्वारा पर्वत पर अग्नि की सिद्धि के लिये दृष्टान्त की आवश्यकता है, अतः इस सम्बन्ध में महानस (रसोईघर) का दृष्टान्त दिया जाता है, क्योंकि रसोईघर में धूमाग्नि का साहचर्य देखा जाता है। यहाँ महानस 'सपक्ष' 'समानपक्ष' है, वह इसलिये, जिस प्रकार पर्वत पर धूम 'हेतु' की सत्ता है, उसी प्रकार महानस में भी धूम की सत्ता है। अन्तर केवल इतना है कि महानस में 'अग्नि' (पर्वत पर साध्य अग्नि) सिद्ध है, जबकि पर्वत पर वह साध्य है।

लिङ्गपरामर्श–लिङ्गपरामर्श को अनुमान कहते हैं[2]। सामान्य रूप से लिङ्ग परामर्श का अर्थ हेतु का विचार है, किन्तु प्रकृत स्थल पर 'लिंग परामर्श' का अर्थ हेतु धूम के तृतीय ज्ञान का विचार है।

---

१. पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानं तद् द्वितीयम्। ततः पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा यत्र धूमस्तत्राग्निरिति तत्रैव पर्वते पुनर्धूमं परामृशति तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम्। अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निरिति अनुमितिज्ञानमुत्पद्यते। तर्कभाषा, अनुमाननिरूपणम्।

२. लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। तर्कभाषा, अनुमानप्रकरणम्।

इस सम्बन्ध में यहाँ यह बोध्य है कि धूम 'हेतु' का प्रथम ज्ञान वह है, जब द्रष्टा ने धूम को महानस (रसोईघर) में देखा था, दूसरा ज्ञान वह है, जब उसने पर्वत पर धूम को साध्य अग्नि के हेतु के रूप में देखा था, तथा तीसरा ज्ञान वह है, जब द्रष्टा पर्वत पर धूम 'हेतु' को उपसंहार रूप (यहाँ भी धूम है) में देखता है। यही तृतीय ज्ञान 'लिंग परामर्श' कहलाता है। इस स्थिति में, द्रष्टा यहाँ भी धूम है, अतः अग्नि है, इस रूप में उपसंहार करता है।

यहाँ यह उल्लेख योग्य है, कि अनुमान उसी स्थल पर होता है, जहाँ केवल लिंग (धूम) का प्रत्यक्ष होता है, लिंगी (अग्नि) का नहीं। उदाहरणार्थ, पर्वत पर धूम दर्शन। इससे यह स्पष्ट है कि महानस में द्रष्टा जो धूम एवं अग्नि का साहचर्य देखता है, वह प्रत्यक्ष का विषय है, अनुमान का कदापि नहीं।

व्याप्ति–'साहचर्य नियम' को व्याप्ति कहते हैं[1]। यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः (जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है) यह साहचर्य नियम है, क्योंकि महानस (रसोईघर) में धूम एवं अग्नि का साहचर्य दृष्टि-गोचर होता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, लिंग परामर्श (पर्वत पर तृतीय लिंग धूमज्ञान) अनुमान है। किन्तु लिंग अर्थात् धूमरूप हेतु व्याप्ति के साहाय्य से ही अग्नि का बोध कराता है[2]। इस प्रकार यदि देखा जाए तो व्याप्ति अनुमान की प्रक्रिया का प्राण है। द्रष्टा, पुनः पुनः जब रसोईघर में धूम एवं अग्नि का साहचर्य (साथ-साथ रहना) देखता है, तो वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है। (यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः)। इस व्याप्ति के आधार पर द्रष्टा पर्वत पर, उपर्युक्त प्रक्रिया से लिंग परामर्श करके साध्यरूप अग्नि की सिद्धि अर्थात् ज्ञान प्राप्त करता है। व्याप्ति का अर्थ 'अविनाभावसम्बन्ध' भी है। 'अविनाभाव' के अनुसार एक वस्तु दूसरी वस्तु के बिना नहीं रह सकती, जैसे कि धूम अग्नि के बिना नहीं रह सकता।

यहाँ यह तथ्य भी उल्लेख करने योग्य है कि व्याप्ति धूम तथा अग्नि के साथ सम्पन्न होती है, न कि अग्नि और धूम के साथ। इसका कारण यह है कि सर्वत्र अग्नि एवं धूम का साहचर्य नहीं देखा जाता उदाहरणार्थ अयस् पिंड (लौह के गोले में) अग्नि है, किन्तु धूम की सत्ता नहीं है। इसके विपरीत धूम के साथ अग्नि का साहचर्य सम्बन्ध सदैव देखने में आता है, किन्तु अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध आर्द्रेन्धनसंयोग (गीले ईंधन का संयोग) होने पर ही सम्भव है। किन्तु ईंधन के सूखे होने पर अग्नि एवं धूम का साहचर्यसम्बन्ध नहीं देखने में आता। अतः न्यायदर्शन में आर्द्रेन्धन संयोग को उपाधि कहा गया है। इस प्रकार व्याप्ति के लिए 'उपाधि' का अभाव अनिवार्यतः अपेक्षित है। अत एव न्यायदर्शन के अन्तर्गत धूम तथा अग्नि के उपाधिरहित नियत साहचर्यसम्बन्ध को व्याप्ति कहा गया है। वस्तुतः धूमाग्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक है, औपाधिक नहीं[3]।

---

१. साहचर्यनियमो व्याप्तिः।

२. व्याप्तिबलेनार्थपमकं लिङ्गम्। तर्कभाषा, अनुमानप्रकरणम्।

३. तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकः एव सम्बन्धो न त्वौपाधिकः। त. भा. अनुमाननिरूपणम्।

व्याप्तिपंचक–व्याप्ति के सम्यक् बोध के लिये 'व्याप्तिपंचक' का ज्ञान अत्यावश्यक है। व्याप्तिपंचक के अन्तर्गत अन्वयव्यतिरेक, व्यभिचाराग्रह, उपाधिनिरास, तर्क एवं सामान्य लक्षण, ये पाँच सिद्धान्त गृहीत हैं। एक वस्तु के रहने पर एक दूसरी वस्तु का भी रहना 'अन्वय' कहलाता है[1]। उदाहरणार्थ, धूम के रहने पर अग्नि का रहना 'अन्वय' है। इसका उदाहरण महानस है। व्यतिरेक अन्वय के विपरीत है। एक वस्तु के न रहने पर दूसरी वस्तु का न रहना व्यतिरेक है। जैसे कि सरोवर में अग्नि के न रहने पर धूम का न रहना व्यतिरेक कहलाता है[2]। इस प्रकार व्याप्तिसिद्धि के लिये 'अन्वय' एवं 'व्याप्ति' का रहना आवश्यक है। **व्यभिचाराग्रह** का अर्थ 'व्यभिचार' का ग्रहण न करना अथवा दिखाई न देना है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है, इसके विपरीत कोई दृष्टान्त नहीं मिलना चाहिए।

उपाधिनिरास से उपाधि का न होना अपेक्षित है, जैसा कि ऊपर भी स्पष्ट किया जा चुका है, आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। **तर्क** का आशय तर्क की अनुकूलता से है। उदाहणार्थ, जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है, इस तर्क का अनुकूल तर्क मिलना चाहिए, जैसा कि पर्वत पर यदि अग्नि नहीं होती, तो धूम भी नहीं होता। इस प्रकार पर्वत पर भी धूम एवं अग्नि का साहचर्य उपलब्ध होता है। सामान्यलक्षण व्याप्ति के लिये आवश्यक है। उदाहरणार्थ, जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है, यदि यह सामान्य लक्षण नहीं होगा, तो धूमाग्निसाहचर्यरूप व्याप्ति भी नहीं सिद्ध होगी।

इस प्रकार व्याप्ति सिद्धि के लिये उपर्युक्त व्याप्तिपंचक परम आवश्यक है।

अनुमान के भेद–सामान्यतः अनुमान दो प्रकार का है, स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। जो स्वयं अपने ज्ञान के लिये होता है, वह स्वार्थानुमान है। उदाहरणार्थ, द्रष्टा जब महानस में धूमाग्नि के विशेष प्रत्यक्ष से स्वयं ही धूम तथा अग्नि की व्याप्ति को ग्रहण कर, पर्वत के समीप गया हुआ, पर्वत पर अग्नि के विषय में सन्देह करता है, एवं पर्वत पर अविच्छिन्न धूमरेखा को देखकर संस्कारों के उद्बुद्ध होने पर, 'जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है' इस व्याप्ति का स्मरण करता है, तथा इसके पश्चात् समीपस्थ पर्वत में भी धूम है, इस प्रकार तृतीय बार उपर्युक्त लिंगपरामर्श करते हुए, पर्वत पर अग्नि है, ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है, तो यह स्वार्थानुमान होता है। किन्तु जब व्यक्ति उक्त प्रकार से अनुमान का ज्ञान प्राप्त करके, पञ्चावयववाक्य के द्वारा दूसरे व्यक्ति को अनुमान का बोध कराता है, तो वह परार्थानुमान कहलाता है। यहाँ पञ्चावयव वाक्य का जिसके अन्तर्गत, प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय एवं निगमन गृहीत हैं, निरूपण अपेक्षित है।

पञ्चावयव वाक्य

१. **प्रतिज्ञा**–पर्वत पर अग्नि है।

२. **हेतु**–क्योंकि पर्वत में धूम है।

३. **दृष्टान्त** अथवा **उदाहरण**–जैसे महानस (रसोईघर) में धूम के साथ अग्नि देखी जाती है।

---

१. तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः।

२. तदभावे तदभावो व्यतिरेकः।

४. **उपनय**–'जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है' इस प्रकार साहचर्य अथवा अविनाभाव से धूम पर्वत में विद्यमान है।

५. **निगमन**–अत एव पर्वत में अग्नि है।

इस पञ्चावयव[1] वाक्य को 'परमन्याय' भी कहते हैं।

समीक्षा–अनुमान वाक्य के सम्बन्ध में न्यायदर्शन एवं इतर दर्शनों के आचार्यों में मतभेद है। निदर्शनार्थ वात्स्यायन ने न्यायभाष्य (१-१-३२) के अन्तर्गत जिज्ञासा, संशय शक्यप्राप्ति प्रयोजन एवं संशय- व्युदास, इन पाँच वाक्यों का भी उल्लेख किया है। नैयायिक भद्रवाहु संशयव्युदास के स्थान पर आशङ्का प्रतिषेध को मानते हैं। किन्तु वात्स्यायन का मत है कि ये पाँच वाक्य अवधारणीयार्थ के उपकारक मात्र हैं[2]। साक्षात् रूप से अनुमानसिद्धि में नितान्त रूप से साधक नहीं है। वेदान्त एवं मीमांसा दर्शन के अनुसार उपर्युक्त पाँच वाक्यों में आदिम तीन अथवा अन्तिम तीन वाक्यों से ही अनुमेयार्थ सिद्धि सम्भव है। कतिपय विद्वान् मानते हैं कि दृष्टान्त एवं उपनय को छोड़कर प्रतिज्ञा, हेतु एवं निगमन से ही अनुमान-सिद्धि सम्भव है। इस प्रकार 'धूमवत्वाद् वह्निमानयं पर्वतः' इतने मात्र से ही तत्त्वार्थसिद्धि सम्भव है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है, कि अनुमानसिद्धि के लिये पञ्चावयव वाक्य का मानना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि यह एक सुव्यवस्थित पद्धति है तथा इसका अनुसरण करने पर किसी औचित्य-शङ्का के लिये अवसर नहीं रह जाता।

पाश्चात्य पद्धति

पाश्चात्य तर्कपद्धति के प्रमुख जन्मदाता ग्रीक दार्शनिक अरस्तु हैं। अरस्तु द्वारा प्रतिपादित अनुमान में तीन प्रकार के तर्क वाक्य आते हैं :

१. **निरपेक्ष** (Catagorical) **वाक्य**, २. **काल्पनिक** (Syllogism) **वाक्य तथा वैकल्पिक** (Disjunctive) **वाक्य**, इन्हीं तीन वाक्यों के द्वारा पाश्चात्य दर्शन में अनुमान प्रक्रिया की सिद्धि की गई है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में केवल तीन वाक्यों से अनुमान सिद्धि का विधान है। ये तीन वाक्य हैं, साध्यवाक्य (Major premise) पक्षवाक्य (Minor) तथा परिणाम या निष्कर्ष वाक्य (Conclusion premise)। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय न्यायशास्त्र में अनुमान की प्रक्रिया के अन्तर्गत पञ्चावयव वाक्य को स्वीकार किया गया है। यहाँ भारतीय एवं पाश्चात्य न्याय की अनुमान प्रक्रिया का यह अन्तर द्रष्टव्य है, कि जहाँ पाश्चात्य न्याय में अनुमान कभी भावात्मक, कभी अभावात्मक, कभी सर्वव्यापी (Universal) तथा कभी अंशव्यापी (Particular) होता है, वहाँ भारतीय न्यायशास्त्र के अन्तर्गत वह सर्वव्यापी (Universal) भावात्मक रूप से एक ही प्रकार का होता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र

---

१. यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधयितुं पञ्चावयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्वात्, यो यो धूमवान् सः सोऽग्निमान्, यथा महानसः तथा चायं तस्मात् तथा इति। तर्कभाषा, पृ० ८०, १९५३ (आ. विश्वेश्वर सं.)

२. अवधारणीयार्थोपकारात्। न्या. भा. १-१-३२।

एवं भारतीय न्याय की अनुमानप्रक्रिया का यह प्रमुख अन्तर भी विचारणीय है, कि जहाँ भारतीय न्याय में हेतु एवं दृष्टान्त इन दो वाक्यों का समन्वय 'उपनय' (परामर्श की स्थिति) के अन्तर्गत हो जाता है, वहाँ पाश्चात्य न्याय में समन्वय की ऐसी कोई प्रक्रिया उपलब्ध नहीं है। कहने की बात नहीं, कि भारतीय अनुमानपद्धति में 'लिंग परामर्श' का महत्त्वपूर्ण योगदान है, जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। भारतीय न्यायशास्त्र एवं पाश्चात्य तर्कशास्त्र की अनुमान पद्धति का यह भेद भी उल्लेखनीय है, कि भारतीय अनुमानपद्धति में समस्त दोष, हेतु के आभास (हेत्वाभास) पर आश्रित रहते हैं, जबकि पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अन्तर्गत पक्षाभास (Elicit minor) तथा साध्याभास (Elicit major) दोषों को भी स्वीकार किया गया है।

भारतीय न्यायशास्त्र एवं पाश्चात्य तर्कविद्या का यह पक्ष भी विचारणीय है कि पाश्चात्य तर्कदृष्टि के अनुसार, अनुमान में मात्र आकारगत (Formal) सत्यता ही उपलब्ध होती है, किन्तु भारतीय दृष्टि के अनुसार, अनुमान में तात्विक एवं आकारगत, दोनों प्रकार की सत्यता की उपलब्धि होती है।

पञ्चावयव वाक्य के सम्बन्ध में सतीशचन्द्र विद्याभूषण का मत–

जैसा कि प्रसिद्ध नैयायिक समालोचक विद्वान् सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने अपने ग्रन्थ (Indian Logic) की भूमिका में स्पष्ट किया है, भारतीय न्याय के पञ्चावयव वाक्य का मूलरूप, पाश्चात्यदर्शन, विशेषतः अरस्तु के तर्कदर्शन में मिलता है। ये लिखते हैं।

"But so far as the five limbed Syllogism of Hindu Logic is concerned, the Hindu logicians may have been indicated same way or the other to the Greeks. while the syllogism definitely formulated as a logical doctrine by Aristotle in its Rhetoric Prior Analytics and Posteriar Analytics in the 4th century B.C., the Hindu logician shows but a vague conception of it, as late as the first century. B.C. It is not inconcievable that the knowledge of Aristotle logic found its way through Alexender Syria and other countries into Taxila. This is rightly corroborated by the Hindu tradition that Nārada who visited Alexender (Śvetadvīpa) & because an expert in the handling of the five limbed syllogism :

I am inclined therefore, to think that the syllogism did not actually evolve in Indian logic, but inference and that the Hindu logician owed the idea of syllogism to the influence of Aristotle.[1]"

उपर्युक्त कथन के अन्तर्गत विद्याभूषण जी का यह विचार पंचावयववाक्य पद्धति का पूर्ण विकास ई. पू. चतुर्थ शताब्दी में अरस्तु के समय में ही हो चुका था तथा उसका विकास भारतवर्ष में

१. Introduction to the Indian logic. pp. X.V

प्रथम शताब्दी ई. पू. में भी नहीं हो पाया था, समुचित नहीं है। इस सम्बन्ध में, यह कहा जाएगा कि भारत में पञ्चावयववाक्य का परिमार्जन परिष्कार पाणिनि के काल, ई. पू. पंचम शताब्दी से पूर्व ही हो चुका था। उदाहरणार्थ, अष्टाध्यायी के चतुर्थपाद के द्वितीय अध्याय में 'क्रतूक्थादिसूत्रान्तात् टक्' (४-२-६) सूत्र में 'उक्थादि' के गुण के अन्तर्गत 'न्याय' शब्द भी सम्मिलित है। इस प्रकार न्याय शब्द से 'तदधीते तद्वेद' इस अर्थ में टक् प्रत्यय होने पर पाणिनि के मतानुसार 'नैयायिक' शब्द निष्पन्न होता है। इससे यह स्पष्टतया द्योतित होता है कि पाणिनि के काल (ई. पू. ५वीं शताब्दी) से पूर्व न्यायदर्शन के अध्ययन की परम्परा वर्तमान थी। इस तर्क का समर्थन पश्चिमी विद्वान गोल्डस्टकर के मत से भी हो जाता है, जिन्होंने कहा है कि पञ्चावयव अनुमान वाक्य का विकास भारत में अरस्तू से पूर्वकाल में ही हो चुका था। गोल्डस्टकर ने अपने मत के समर्थन में 'अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च' (अष्टाध्यायी, २-३-१२२) तथा 'परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः'[1] (अष्टा. ३-३-३७) सूत्रों को उद्धृत करते हुए कहा है :

> That Nyāya was known to Pāṇini in the sense of syllogim or logical reasoning or perhaps logical sciences, I conclude from the sūtra III, 3, 122 where its affix conveys the sense of instrumentality i.e., that by which analysis (lit. enlarging) is effected far in the same form. Nyāya is made the subject of another rule, III, 3, 37 wher Pāṇini gives as its meaning 'Propriety, Good conduct' which would lead to its later meaning 'Policy'. Unless we draw the distinction between the two sūtras named, the first sūtra becomes superfluous. Nor is it probable that a civilization like that which is traciable to Pāṇini rules could have done, without a word for syllogistic thought.[2]

आगमन (Inductive) तथा निगमन (Deductive) पद्धति

पाश्चात्य तर्कपद्धति के अन्तर्गत 'आगमन' (Inductive) पद्धति का अभिप्राय, अनेक उदाहरणों के द्वारा सामान्य नियम का अनुमान करना है तथा 'निगमन' (Deductive) पद्धति के द्वारा तर्क की सहायता से व्यापक से 'व्याप्य' का अनुमान सिद्ध करना है। जहाँ तक, न्यायदर्शन का प्रश्न है, इसमें उक्त दोनों पद्धतियों का समन्वय वर्त्तमान है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय-अनुमानपद्धति के अनुरूप 'व्याप्ति' अनुमान की प्रक्रिया का प्रमाण है। साथ ही, पञ्चावयव वाक्य के अन्तर्गत चतुर्थ वाक्य, 'उपनय' अथवा 'परामर्श' 'पर्वत' पर तृतीय लिंग, धूम का ज्ञान, अनुमान के लिये, अनिवार्यतः आवश्यक है। अपि च 'परामर्श ज्ञान' के साथ साथ पर्वत पर वह्निव्याप्य धूम का ज्ञान भी आवश्यक है[3]। इस प्रकार 'पञ्चावयव' वाक्य का अन्तिम वाक्य, निगमन वाक्य, जो 'प्रतिज्ञा' हेतु द्वारा

१. यथाप्राप्तकरणमभ्रेषः।

२. Pāṇini, p. 116.

३. वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः।

सिद्ध की गई थी, उसका उल्लेख करता है। इस प्रकार न्यायदर्शनानुगत अनुमान पद्धति में पाश्चात्य तर्कशास्त्र के 'आगमन' (Inductive) तथा निगमन (Deductive), इन दोनों सिद्धान्तों का समावेश एवं समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

ऊपर 'परार्थानुमान' में प्रयुक्त 'पञ्चावयव' वाक्य का न्यायदर्शन एवं पाश्चात्य तर्कशास्त्र की दृष्टि से विवेचन किया गया है।

न्यायदर्शन में 'स्वार्थानुमान' एवं 'परार्थानुमान' इन दो प्रकारों के अतिरिक्त अनुमान की प्रक्रिया को सुलझाने के लिये तीन और भेद किये हैं। ये भेद हैं 'पूर्ववत्' 'शेषवत्' एवं 'सामान्यतोदृष्ट'। इस स्थल पर इन तीनों का निरूपण अपेक्षित समझकर किया जा रहा है।

१. **पूर्ववत् अनुमान**–जब कारण से कार्य का अनुमान लगाया जाता है, तो 'पूर्ववत्' अनुमान होता है[१]। उदाहरणार्थ, बादलों के घिर जाने से, वर्षा होगी, ऐसा अनुमान 'पूर्ववत्' अनुमान है।

२. **शेषवत् अनुमान**–पूर्ववत् अनुमान के विपरीत जब कार्य से कारण का अनुमान लगाया जाता है, तो 'शेषवत्' अनुमान होता है। निदर्शनार्थ, नदी में पहले की अपेक्षा अधिक जल को देखकर अथवा नदी को वेगपूर्वक प्रवहमान देखकर, वर्षा हुई है, ऐसा अनुमान किया जाता है। इस उदाहरण में, नदी के जल की वृद्धि अथवा उसका वेगपूर्ण प्रवाह कार्य है, तथा वृष्टि कारण है[२]।

३. **सामान्यतोदृष्ट**–सामान्यतोदृष्ट अनुमान तब होता है जब किसी को पहले देखकर उसे अनन्तर भी देखा जाता है, तथा उसमें गति का अनुमान लगाया जाता है। उदाहरणार्थ, किसी ने सूर्य को प्रातःकाल पूर्वदिशा में तथा सायंकाल पश्चिम दिशा में देखा और यह अनुमान किया कि सूर्य गतिमान् है[३]।

एक अन्य प्रकार से भी उपर्युक्त त्रिविध अनुमान का व्याख्यान किया जाता है। **'पूर्ववत्' अनुमान** वह है, जहाँ 'लिंग' एवं 'लिङ्गी', इन दोनों का प्रत्यक्ष हो चुका है, किन्तु जब दोनों में से एक को देखकर दूसरे का अनुमान किया जाय। उदाहरण के लिए, धूम से अग्नि का अनुमान करना 'पूर्ववत्' कहलाएगा। **शेषवत् अनुमान** उसे कहते हैं, जब सम्भाव्यमानों में से कुछ का प्रतिषेध कर देने पर, शेष में कहीं सम्भाव्यमान न होने से अवशिष्ट का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, शब्द के 'सत्' एवं 'अनित्य' होने से, उसे क्या माना जाए, द्रव्य, गुण अथवा कर्म। ऐसी स्थिति में, यह कहना होगा कि शब्द द्रव्य नहीं है, क्योंकि यह एक द्रव्य में समवेत है। शब्द को 'कर्म' इसलिये नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह शब्दान्तर का हेतु है। इस प्रकार द्रव्य, गुण एवं कर्म में से केवल 'गुण' के शेष रहने से, 'शब्द गुण है', यह अनुमान होता है। **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान वह होता है, जब 'लिङ्ग' एवं 'लिङ्गी' दोनों

---

१. यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, यथा मेघोन्नत्या 'भविष्यति वृष्टिः' इति। न्यायभाष्य १.१.५।

२. शेषवत् तत्, यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते 'भूता वृष्टिः' इति। न्यायभाष्य १.१.५।

३. सामान्यतोदृष्टं व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति, तथा चादित्यस्य, तस्मादस्त्यप्रत्यक्षस्याप्यादित्यस्य व्रज्येति। न्या. भा. १.१.५।

के ही सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होते हैं, किन्तु अर्थविशेष से लिङ्ग के साधारणज्ञान द्वारा 'लिङ्गी' का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिये; इच्छादि से आत्मा का ज्ञान होता है। इसका कारण यह है कि इच्छादि 'गुण' हैं तथा 'गुण' द्रव्य में रहते हैं। इस प्रकार इच्छादि जिसमें रहते हैं, वही आत्मा है, यह अनुमान है।

स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान तथा पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमान के इन उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त एक अन्य भेद प्रक्रिया के अनुसार केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी एवं अन्वयव्यतिरेकी, ये तीन भेद हैं, जो व्याप्ति पर आश्रित होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अत एव यहाँ इनका निरूपण किया जा रहा है।

केवलान्वयी अनुमान–यह अनुमान केवलान्वयी इसलिये कहलाता है, क्योंकि इसमें केवल 'अन्वय' (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः) की ही सत्ता रहती है। केवलान्वयी अनुमान के अन्तर्गत हेतु (धूम) तथा साध्य (अग्नि) के मध्य व्याप्तिज्ञान 'अन्वय' से होता है, किसी प्रतिषेध दृष्टान्त से नहीं। इसीलिये 'केवलान्वयी' अनुमान में 'केवल' शब्द को जोड़ा गया है। निम्नलिखित उदाहरण से, यही तथ्य विशदीकृत होते हैं :

१. सकल ज्ञेय पदार्थ अभिधेय होते हैं (प्रतिज्ञा)।

२. घट एक ज्ञेय पदार्थ है (हेतु)।

३. अतः घट अभिधेय है (निगमन)।

उपर्युक्त उदाहरण के अन्तर्गत 'अभिधेय' का अर्थ 'अभिधा' (संज्ञा अथवा नाम) के योग्य होना है। अर्थात् ऐसा पदार्थ जिसे नाम दिया जा सकता है। ऊपर दिये गए उदाहरण में प्रथम वाक्य व्यापक सत्तात्मक सिद्धान्त है, जिसमें 'अभिधेय' नामक विधेय, समस्त ज्ञेय पदार्थों के विषय में कथित है। वस्तुतः उद्देश्य के विषय में 'विधेय' का निषेध नहीं किया जा सकता, तथा यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञेय पदार्थ अभिधेय नहीं है। इसका कारण यह है कि ज्ञेय पदार्थ को 'अनभिधेय' कहने पर, एक प्रकार से उसे नाम देना ही पड़ेगा। इस प्रकार यहाँ अन्वयव्याप्ति नहीं माननी होगी।

केवलव्यतिरेकी अनुमान–जहाँ हेतु का साध्य के साथ सम्बन्ध केवल निषेधात्मक रूप से होता है, वहाँ केवलव्यतिरेकी अनुमान होता है। केवलव्यतिरेकी अनुमान अन्वयव्यतिरेकी के ठीक विपरीत है। इस अन्वयव्याप्ति में साधन (धूम) की सत्ता से साध्य (अग्नि) की सत्ता निश्चित की जाती है। "यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः" किन्तु इसके विपरीत व्यतिरेकव्याप्ति में 'साध्य' (अग्नि) के अभाव से साधन (धूम) का अभाव बतलाया जाता है– यत्र अग्न्यभावः तत्र धूमाभावः।

उदाहरणार्थ–

१. अमुक जीवित शरीर सात्मक अर्थात् आत्मा से युक्त है। क्योंकि यह प्राणादिमान् अर्थात् प्राण एवं इन्द्रियादि से युक्त है।

२. जो आत्मा से युक्त नहीं होता, उसमें प्राणादि भी नहीं होते।

३. जैसे, घट-पटादि जड़ पदार्थ।

४. यह जीवित शरीर जड़ पदार्थों के समान नहीं है।

५. अत एव जड़ पदार्थों जैसा निर्जीव भी नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण के अन्तर्गत व्यतिरेकमुख से ही व्याप्ति की सिद्धि होती है, अन्वयमुख से नहीं। यदि अन्वयमुख से व्याप्तिसिद्धि का प्रयत्न किया जाएगा, तो कहना होगा, जो जो प्राणादिमान् है, वह वह सात्मक है। किन्तु जब इसका दृष्टान्त ढूँढा जाएगा, जैसा कि पञ्चावयववाक्य की प्रक्रिया है, तो कठिनाई होगी, क्योंकि प्रत्येक जीवित शरीर को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत करने पर उसकी सात्मकता 'साध्य' होने के कारण संदिग्ध ही समझी जाएगी। इस सम्बन्ध में यहाँ यह निर्देश करना आवश्यक है, कि दृष्टान्त सदा 'सिद्ध' ही हो सकता है, 'असिद्ध' नहीं, क्योंकि जो 'असिद्ध' है, उसकी सत्ता तो तब तक संदिग्ध ही है, जब तक वह सिद्ध न हो जाए। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि व्यतिरेक व्याप्ति का कार्य अन्वय-व्याप्ति से नहीं चल सकता। अतः केवलव्यतिरेकी अनुमान में व्यतिरेकमुखेन व्याप्ति की सिद्धि की जाती है।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान–अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में व्याप्ति की सिद्धि अन्वय एवं व्यतिरेक-मुखेन होती है। व्याप्ति, एक ओर हेतु तथा साध्य के बीच होती है और दूसरी ओर साध्य के अभाव एवं हेतु के अभाव के मध्य होती है। यहाँ यह निर्देश योग्य है कि जब 'अन्वय' के द्वारा 'व्याप्ति' की सिद्धि होती है, तो व्यापक वाक्य सत्तात्मक होता है। इसके विपरीत जब व्यतिरेक के द्वारा व्याप्ति की सिद्धि होती है, तो व्यापक वाक्य निषेधात्मक होता है। अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति का यह अन्तर द्रष्टव्य है, कि अन्वय व्याप्ति का उद्देश्य तथा विधेय व्यतिरेक व्याप्ति में परिवर्तित हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्वयवाक्य का उद्देश्य व्यतिरेकव्याप्ति में विधेय बन जाता है, तथा विधेय, उद्देश्य बन जाता है। उदाहरण के लिये, **अन्वयवाक्य** में (जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है) धूम अग्नि से व्याप्य है। ठीक, इसके विपरीत, **व्यतिरेक** वाक्य में अग्न्यभाव धूमाभाव से व्याप्य है। जहाँ तक, **अन्वय-व्यतिरेक** अनुमान की बात है, यह दोनों अनुमान प्रकारों से भिन्न है। इसमें एक विषय को दो प्रकार की व्याप्तियों से सिद्ध किया जाता है।

उदाहरणार्थ–

१. धूमवान् पदार्थ वह्निमान् होते हैं (प्रतिज्ञा)। यह पर्वत धूमवान् है (हेतु)। अत एव यह पर्वत वह्निमान् है (निगमन)।

२. वह्न्यभाववान् पदार्थ धूमवान् नहीं होता (प्रतिज्ञा)। यह पर्वत धूमवान् है (हेतु)। अतः यह पर्वत वह्निमान् है (निगमन)।

यहाँ प्रथम उदाहरण अन्वयव्याप्ति का है, तथा दूसरा उदाहरण व्यतिरेक व्याप्ति का।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में हेतु के पाँच रूप

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी के विपरीत, हेतु के पाँच रूपों की उपपन्नता है[1]। ये पाँच हेतु, पक्षधर्मता, सपक्ष में विद्यमानता, विपक्ष में अभाव, अबाधितविषयता तथा असत्प्रतिपक्षता हैं। उदाहरणार्थ, धूम एवं अग्नि के दृष्टान्त में, हेतु की पक्षरूपता इस प्रकार देखी जा सकती है।

१. धूम को पर्वत पर देखा जाता है। अतः पक्ष (पर्वत) का धर्म स्पष्ट है। यह पक्षधर्मता हुई।

२. महानस में धूम एवं अग्नि के साहचर्य नियम का प्रत्यक्ष किया है, अतः यह सपक्ष अर्थात् महानस में धूम-हेतु की विद्यमानता 'सपक्षसत्त्व' का उदाहरण है।

३. हेतु के तीसरे रूप, विपक्ष में अभाव के सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि विरुद्धपक्ष, सरोवर तथा कुल्या (नहर) में, धूम की 'अविच्छिन लेखा' कभी नहीं दिखाई पड़ती। अतः विपक्ष में उसकी अविद्यमानता (अभाव) स्पष्ट ही है।

४. पर्वत पर विद्यमान धूम अग्नि का ज्ञान कराता है तथा इस ज्ञान में किसी अन्य प्रमाण द्वारा बाधा नहीं उत्पन्न की जाती, अतः यह **अबाधितविषयत्व** का उदाहरण है।

५. धूमवत्व हेतु, अग्नि का ही बोध कराता है, किसी अन्य पदार्थ का नहीं, अतः यह 'असत्प्रतिपक्षत्व' का उदाहरण है। 'असत्प्रतिपक्षत्व' का अर्थ है, जिसका कोई प्रतिपक्ष (विरोधी) नहीं है[2]।

इस प्रकार उपर्युक्त पाँच हेतुओं की उपपन्नता, अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में नितान्त स्पष्ट है।

जैसा कि पहले भी संकेत किया गया है, केवलान्वयी एवं केवलव्यतिरेकी अनुमान में चार प्रकार के हेतुओं की ही उपपन्नता है, जैसा कि नीचे स्पष्ट किया जा रहा है।

पहले केवलान्वयी हेतु को लें। निदर्शनार्थ, घट अभिधेय है, क्योंकि वह प्रमेय है, जैसे घट। इस उदाहरण में 'अभिधेयत्व' रूप साध्य की सिद्धि के लिये 'प्रमेयत्व' रूप हेतु दिया गया है, जो केवलान्वयी है (यत्र यत्र प्रमेयत्वं तत्र तत्र अभिधेयत्वम्), इसकी व्यतिरेकव्याप्ति नहीं बनती। इसका कारण यह है कि ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें किसी का प्रमेयत्व एवं अभिधेयत्व न हो जैसा कि व्यतिरेकव्याप्ति के लिये अपेक्षित है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'केवलान्वयी' का 'विपक्ष में अविद्यमानता रूप' हेतु नहीं सिद्ध होता, क्योंकि उसका विपक्ष ही नहीं है।

---

१. यस्त्वन्योऽन्वयव्यतिरेकी हेतुः स सर्वः पञ्चरूपोपपन्न एव सद्धेतुः।
तर्कभाषा, अनुमाननिरूपणम्।

२. असत् प्रतिपक्षो यस्य इति असत्प्रतिपक्षं धूमवत्वं हेतुः। तर्कभाषा, अनुमानप्रकरणम्।

इस प्रकार केवलान्वयी अनुमान में 'विपक्ष में अभाव अथवा अविद्यमानता' रूप हेतु नहीं बनता। केवल इतर चार ही हेतु बनते हैं[1]।

केवलव्यतिरेकी अनुमान में भी 'सपक्षसत्त्व' हेतु नहीं बनता, क्योंकि उसमें सपक्ष नहीं होता। उदाहरण के लिये, 'यत्र यत्र प्राणादिमत्वं तत्र तत्र सात्मकत्वम्' (जहाँ जहाँ प्राणादिमत्व है, वहाँ वहाँ सात्मकता है) में जो 'प्राणादिमत्वम्' हेतु दिया गया है, वह व्यतिरेकव्याप्ति (यत्र यत्र प्राणादिमत्वाभावः तत्र तत्र सात्मकत्वाभावः, यथा घटे) के ही आधार पर नहीं बनता, क्योंकि ऐसा इसका कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। केवलव्यतिरेकी का सपक्ष ही नहीं है। इस प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान में 'सपक्षसत्व' अर्थात् 'सपक्ष में विद्यमानता रूप हेतु न होने के कारण उपर्युक्त पाँच हेतुओं में चार हेतु ही चरितार्थ होते हैं।[2]

अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असंभव दोष–हेतु एवं लक्षण में अव्याप्ति अतिव्याप्ति एवं असंभव दोष की सम्भावना रहती है, अतः ये विचारणीय हैं।

अव्याप्ति–दोष वहाँ होता है, जहाँ हेतु अथवा लक्षण अपने सूच्य को पूर्णतया व्याप्त नहीं करता (अ+व्याप्ति)। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति सम्मुखस्थ कपिला (लाल रंग की) गौ को देखकर कहता है, कि 'यह गाय है', क्योंकि यह कपिल वर्ण की है, तो यह, 'कपिलत्व' दोष पूर्ण ही कहा जाएगा, क्योंकि ऐसा मानने पर श्यामा एवं श्वेत वर्णवाली गायों को गाय नहीं कहा जा सकेगा। अतः इस दोष को 'अव्याप्ति' दोष कहते हैं।

अतिव्याप्ति–दोष वहाँ होता है, जहाँ लक्षण अथवा हेतु सूच्य अथवा अनुमेय अर्थ के अतिरिक्त अनभीष्ट अर्थ एवं वस्तु की सूचना देता है। इस प्रकार अतिव्याप्ति में व्याप्ति का अतिक्रमण होता है। उदाहरणार्थ, यदि गाय का लक्षण यह किया जाए, कि जिसमें 'सास्नादिमत्व' है, वह गाय है, अथवा जिसके सींग हैं, वह गाय है, तो यह लक्षण एवं हेतु दोष पूर्ण होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर तो भैंस को भी गौ कहा जा सकेगा, क्योंकि भैंस भी सास्नादिमती एवं सींग वाली है। अतः यह **अतिव्याप्ति** दोष कहलाएगा।

असंभव दोष–तब होता है जब व्याप्ति का अवसर ही नहीं बनता। उदाहरण के लिये, गाय का लक्षण यह करना कि 'गाय एक खुर (शफा) वाली है, तो यह असमीचीन एवं पूर्णतया दोषपूर्ण है–क्योंकि एक शफा वाली गाय नहीं होती सामान्यतः गाय के चार पैर होने के कारण उसके खुर भी चार होते हैं। इसी प्रकार यदि सम्मुखीन **वडवा** (घोड़ी) को देखकर कहा जाए, कि यह गाय है, क्योंकि इसके खुर हैं तो यह सर्वथा असंभव है। अतः उक्त उदाहरण व्याप्ति के 'असंभव दोष' का है। अत एव

---

१. केवलान्वयी चतूरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयति।
तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति विपक्षाभावात्। त.भा. अनुमाननिरूपणम्।

२. केवलव्यतिरेकी च चतूरूपोपपन्न एव। तस्य हि सपक्षे सत्त्वं नास्ति, सपक्षाभावात्। त.भा. अनुमाननिरूपणम्।

महाभाष्यकर ने "गौः" शब्द से सास्ना (गरदन के नीचे लटकी खाल) पूंछ, ककुद (थुहा), खुर एवं सींग वाले पदार्थों (जाति एवं व्यक्ति) के बोध के सिद्धान्त को स्पष्ट किया है[1]।

हेत्वाभास–न्यायदर्शन के अन्तर्गत अनुमान की सिद्धि के लिये हेतु की महत्ता ऊपर स्पष्ट हो चुकी है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, हेतु के सद्रूप होने के लिए उसमें, पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, असत्प्रतिपक्षत्व एवं अबाधितविषयत्व का होना आवश्यक है। इसके विपरीत यदि किसी हेतु में दोष लक्षित होता है, अर्थात् वह सद् हेतु नहीं होता तो उसे 'हेत्वाभास' कहते हैं। इस प्रकार 'हेत्वाभास' में हेतु का आभास तो होता है, किन्तु वास्तविक रूप में वह हेतु नहीं होता। इसीलिये वात्स्यायन ने कहा है कि हेतु का लक्षण न घटने के कारण वस्तुतः जो अहेतु हो किन्तु हेतु के सदृश होने के कारण, जिसका हेतु के समान आभास होता हो, उसे हेत्वाभास कहते हैं[2]।

हेत्वाभासों के नाम एवं क्रम के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। गोतम ने न्यायसूत्र के अन्तर्गत सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरण, साध्यसम तथा कालातीत, ये पाँच प्रकार के 'हेत्वाभास' बतलाए हैं[3], किन्तु तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम तथा कालात्ययापदिष्ट, इन पाँच हेतवाभासों का निर्देश किया है। एवञ्च तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट ने तर्कसंग्रह के अन्तर्गत सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध तथा बाधित इन पाँच हेत्वाभासों का निरूपण किया है[4]। इस प्रकार हेत्वाभासों के नाम एवं क्रम के सम्बन्ध में मतभेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, किन्तु केशवमिश्र के तीन, विरुद्ध, प्रकरणसम तथा कालात्ययापदिष्ट तथा तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट के सव्यभिचार तथा विरुद्ध, ये दो सर्वथा समान हैं। इसके अतिरिक्त न्यायसूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट अनैकान्तिक सव्यभिचार ही है[5]।

१. सव्यभिचार अथवा अनैकान्तिक हेत्वाभास

सव्यभिचार और अनैकान्तिक एक ही है। अनैकान्तिक दो प्रकार का है। **एक साधारण अनैकान्तिक** तथा **दूसरा असाधारण अनैकान्तिक** है। पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष इन तीनों में रहने वाला, अत एव 'विपक्षव्यावृत्तत्व धर्म से रहित, **साधारण अनैकान्तिक** है। उदाहरण के लिये, शब्द नित्य है, प्रमेय होने के कारण, आकाश के समान। इस उदाहरण में प्रमेयत्व हेतु है, जो पक्ष (शब्द) सपक्ष (आकाश) तथा विपक्ष (घटादि) में समान रूप से वर्त्तमान है। इसके विपरीत 'सपक्ष' तथा 'विपक्ष' दोनों से व्यावृत्त अर्थात् दोनों में न रहकर केवल पक्ष में ही वर्त्तमान है, वह **असाधारण अनैकान्तिक** है। निदर्शनार्थ, पृथ्वी नित्य है, गन्धवत्व हेतु के होने से। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पृथ्वी के नित्यत्व का हेतु 'गन्धत्व'

---

१. येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। महाभाष्य, पस्पशाह्निक, व्याकरण-प्रयोजनधिकरण, परिमल, दिल्ली, १९९१।

२. हेतुलक्षणाभावाद् हेतवो हेतुसामान्याद् हेतुवदाभासमानाः। न्यायभाष्य, १-२-४।

३. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः। न्यायसूत्र, १-२-४।

४. असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक प्रकरणसम कालात्ययाचापदिष्टभेदान् पञ्चैव। तर्कभाषा, पृ. ६०।

५. अनैकान्तिकः सव्यभिचारः न्या. सू. १-२-५।

केवल 'पक्ष' (पृथिवी) में ही है, न वह 'सपक्ष' नित्य (आकाशादि) में है और न 'विपक्ष' अनित्य (जलादि) में ही है। अतः यह असाधारण अनैकान्तिक का उदाहरण है।

सव्यभिचार-अनैकान्तिक हेत्वाभास में, सव्यभिचार एवं अनैकान्तिक शब्दों का अर्थ समझ लेना चाहिए। सव्यभिचार का अर्थ दोषयुक्त हेतु है, जो हेत्वाभास में होता है तथा अनैकान्तिक का अर्थ, हेतु का ऐकान्तिक अर्थात् एकनिष्ट न होना, है। जैसे कि, उपर्युक्त साधारण अनैकान्तिक के उदाहरण में, दूसरे विपरीत असाधारण अनैकान्तिक में शब्द नित्यत्व का प्रमेयत्व हेतु, पक्ष (शब्द) सपक्ष (आकाशादि) तथा विपक्ष (जलादि) निष्ठ है। इसीलिये यह (प्रमेयत्व) बहुनिष्ठ होने से अनैकान्तिक है। असाधारण अनैकान्तिक केवल पक्ष (पृथ्वी) निष्ठ होने पर भी अनैकान्तिक है, यही उसकी असाधारणता है। इसके अतिरिक्त, साधारण अनैकान्तिक में, जहाँ सपक्ष तथा विपक्ष में हेतु के विद्यमान होने के कारण विद्यमानता होती है, वहाँ असाधारण अनैकान्तिक के अन्तर्गत, सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में हेतु की अविद्यमानता है। इस प्रकार यह अविद्यमानत्व दोष है।

२. **विरुद्ध हेत्वाभास**–विरुद्ध हेत्वाभास वह होता है, जब साध्य के विपरीत हेतु व्याप्त होता है। जैसे, शब्द नित्य है, कृतक अर्थात् जन्य होने से, आत्मा के समान। यहाँ कृतकत्व (जन्यत्व) हेतु, नित्यत्व (साध्य) के विरुद्ध, अनित्यत्व के साथ व्याप्त है, क्योंकि जो जन्य (कृतक) है, वह अनित्य है। अत एव यहाँ 'विरुद्धहेत्वाभास' है। न्यायसूत्रकार गोतम के अनुसार जो हेतु अभ्युपगतार्थ का विरोधी हो, वह 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहलाता है "सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः" न्याय सू. १।२।६।

सव्यभिचार-अनैकान्तिक तथा विरुद्धहेत्वाभास का यह अवान्तर भेद द्रष्टव्य है कि सव्यभिचार हेतु जहाँ निश्चित को सिद्ध करने में असमर्थ रहता है, वहाँ विरुद्ध हेतु साध्य की विपरीत वस्तु को सिद्ध करता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

३. **असिद्धहेत्वाभास**–जहाँ हेतु की 'पक्ष' में विद्यमानता निश्चित नहीं होती, वहाँ 'असिद्धहेत्वाभास' होता है। 'असिद्धहेत्वाभास' के तीन रूप हैं–आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध एवं व्याप्यत्वासिद्ध। यहाँ, इन तीनों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया जा रहा है।

आश्रयासिद्ध–जहाँ हेतु का आश्रय पक्ष सर्वथा असिद्ध हो, वहाँ आश्रयासिद्ध हेत्वाभास होता है, जैसे, आकाशकमल सुगन्धित है, कारण कि वह कमल है, जैसे सरोवर का कमल। इस उदाहरण में आकाशकमल, पक्ष है, क्योंकि उसमें सुगन्धि सिद्ध करनी है। परन्तु आकाशकमल का सर्वथा अभाव होने से 'कमल का होना' (अरविन्दत्वात्) हेतु सर्वथा असिद्ध है। अतः सुगन्धि के आश्रय 'कमल' के सर्वथा असिद्ध होने पर, उसमें सुगन्धि की सत्ता सिद्ध करने का अवसर ही नहीं उपस्थित होता।

स्वरूपासिद्ध–जहाँ 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास में आश्रय (पक्ष) सर्वथा असम्भव (असिद्ध) होता है, इसके विपरीत, 'स्वरूपासिद्ध' में हेतु का आश्रय तो सम्भव होता है, किन्तु आश्रय (पक्ष) में 'हेतु' की विद्यमानता असंभव (असिद्ध) होती है। उदाहरण के लिये, यदि कहा जाए कि 'शब्द अनित्य है,' चाक्षुष होने के कारण, 'जैसे घट अनित्य है', तो यह 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास होगा। इस उदाहरण में, शब्द 'पक्ष' है तथा उसके अनित्यत्व की सिद्धि के लिये दिया गया हेतु, चाक्षुष होना (चाक्षुषत्वात्) सर्वथा असम्भव (असिद्ध) है, क्योंकि शब्द चाक्षुष कदापि नहीं होता। शब्द का तो 'श्रावण' प्रत्यक्ष होता है, न कि चाक्षुष प्रत्यक्ष।

विरुद्धहेत्वाभास एवं स्वरूपासिद्ध का यह भेद द्रष्टव्य है कि विरुद्ध हेत्वाभास में साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होती, जबकि 'स्वरूपासिद्ध' में साध्य के साथ व्याप्ति तो होती है, परन्तु वहाँ हेतु पक्ष में नहीं होता।

व्याप्यत्वासिद्ध–व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास के दो रूप हैं, एक वह जहाँ साध्य और साधन की व्याप्ति ग्रहण में प्रमाणाभाव है,[1] तथा दूसरा वह, जहाँ हेतु में 'उपाधि' विद्यमान है। प्रथम व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण है, 'सत् क्षणिक है, क्योंकि वह सत् है' जो सत् होता है, वह क्षणिक होता है, जैसे जलधर। इस उदारहण में सत् रूप द्रव्यों की क्षणिकता सिद्ध करने के लिये उनका 'सत्' रूप होना ही हेतु के रूप में दिखाया गया है। किन्तु यहाँ, यह वक्तव्य है कि 'जो सत् है, वह क्षणिक है' इस प्रकार के व्याप्ति ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है। जलधर का उदाहरण भी 'साध्य' ही है, 'सिद्ध नहीं' एवञ्च उदाहरण 'सिद्ध' ही होता है, साध्य नहीं जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है।

दूसरा व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास उपाधि सद्भाव (उपाधि की विद्यमानता) के कारण होता है। "उपाधिसद्भावात्।" उदाहरण के लिये, यज्ञ में की गई हिंसा अधर्मोत्पादिका है, हिंसा के कारण, जिस प्रकार कि यज्ञ से बाहर की गई हिंसा अधर्म का कारण है। इस उदाहरण में, अधर्मसाधनत्व में हिंसात्व प्रयोजन नहीं है, किन्तु हिंसा का निषिद्धत्व प्रयोजक है। यह प्रयोजक ही उपाधि है। उपाधि का लक्षण इस प्रकार है। "साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः उपाधिः, इत्युपाधिलक्षणम्"।[2] अर्थात् साध्य का व्यापक होने पर भी जो साधन का अव्यापक हो, वह उपाधि है। उपाधि का यह लक्षण निषिद्धत्व में पाया जाता है। "निषिद्धत्व-साध्यरूपं यत्र यत्र अधर्मसाधनत्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वम् अपि"[3] अर्थात् जहाँ जहाँ अधर्मसाधनत्व है, वहाँ वहाँ निषिद्धत्व भी है। यह साध्यव्यापकत्व हुआ। इसी प्रकार, साधनभूत हिंसात्व का व्यापक निषिद्धत्व नहीं होता, अर्थात् जहाँ जहाँ हिंसात्व है, वहाँ वहाँ निषिद्धत्व भी है, यह आवश्यक नहीं, क्योंकि यज्ञीय पशु हिंसा के विदित होने से उसका निषेध नहीं है। यह साधनाव्यापकत्व का उदाहरण है। इस प्रकार 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वात्' उपाधि का लक्षण निषिद्धत्व में चरितार्थ होता है, जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है। अतः निषिद्धत्व उपाधि है। इस प्रकार निषिद्धत्व उपाधि के वर्तमान होने से निषिद्धत्व प्रयुक्त व्याप्ति के आश्रित रहने वाला हिंसात्व (हेतु) 'व्याप्यत्वासिद्ध' ही है। वस्तुतः निषिद्धत्व ही अधर्मजनकत्व का प्रयोजक है, वह निषिद्धत्व का 'अधर्मजनकत्व' धर्म, यहाँ हिंसात्व में प्रतीत होता है। अतः उप अर्थात् समीपवर्ती हिंसात्व में अपने धर्म का आधान करने के कारण 'निषिद्धत्व' उपाधि कहलाता है। इसीलिये 'उपाधि' की निम्नलिखित व्युत्पत्ति की गयी है।

"उप स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्ममादधाति, उपाधिः"।

उपर्युक्त व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर ही केशवमिश्र ने "अन्यप्रयुक्तव्याप्त्युपजीविहिंसात्व" (अर्थात् निषिद्धत्व प्रयुक्त व्याप्ति के आश्रित रहने वाला हिंसात्व है) ऐसा लिखा है।

---

१. व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्। त.भा अनुमाननिरूपणम्।

२. तर्कभाषा, अनुमाननिरूपणम्।

३. त. भा. अनुमाननिरूपणम्।

तात्पर्य यह है, कि वैदिकधर्मानुयायी अधर्म का साधननिषेध मानते हैं। यही 'निषेध' 'उपाधि' है। यह भी निर्देशयोग्य है कि 'उपाधि' 'निषेध' अर्थात् शास्त्र द्वारा निषेध ही अधर्म साधन रूप साध्य के लिये सद् हेतु है। उसी के साथ अधर्म साधन की व्याप्ति बनती है। 'यत्र यत्र निषिद्धत्वं तत्र तत्र अधर्मसाधनत्वम्'। इस प्रकार सद् हेतु को न प्रस्तुत करके व्याप्ति नियम के प्रतिकूल, किसी अन्य हेतु को प्रस्तुत करना ही उपाधि है।

प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए न्यायसूत्र में कहा गया है, कि जिसको लेकर प्रकरण पर विचार किया जा रहा है, तथा वही प्रकरण के लिये प्रयुक्त हो, वह 'प्रकरणसम' हेत्वाभास कहलाता है'। उदाहरण के लिये, शब्द अनित्य है, नित्यधर्म की उपलब्धि न होने से यह अनुमान का विषय है। यहाँ अनुपलभ्यमान नित्यधर्मक अनित्य भी देखा गया है, जैसे स्थाली (बटलोई पात्र) आदि। 'शब्द नित्य' है, अनित्य धर्म की उपलब्धि न होने से, इस उदाहरण में भी अनुपलभ्यमान अनित्यधर्मक नित्य देखा गया है, जैसे आकाशादि।

उपर्युक्त विषय (प्रकरण अथवा सत् प्रतिपक्ष) को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

प्रतिज्ञा-शब्द नित्य है।

हेतु–क्योंकि इसमें नित्यधर्म नहीं है। इस अनुमान में 'नित्यधर्म का न रहना' हेतु है। एतदनुसार यहाँ दूसरा हेतु भी कहा जा सकता है, जैसे–

प्रतिज्ञा–शब्द नित्य है।

हेतु–क्योंकि इसमें अनित्य धर्म नहीं है।

अथवा

प्रतिज्ञा–शब्द नित्य है।

हेतु–क्योंकि वह श्रवण का विषय है। अर्थात् सुनाई देने वाला है, जैसे शब्दत्व'

अथवा

प्रतिज्ञा–शब्द अनित्य है।

हेतु–क्योंकि वह कार्य है, जैसे घट।

उपर्युक्त उदाहरणों से सभी हेतु समान बलशाली होकर, एक-दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। अतः यह अनुमान को सिद्ध करने में असमर्थ हैं। यही इनकी हेत्वाभासता है, अर्थात् ये समुचित हेतु नहीं हैं। अत एव इन्हें सत्प्रतिपक्ष (जिनका प्रतिपक्ष है, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है) एवं 'प्रकरणसम' कहा गया है, क्योंकि इनमे 'प्रकरण' की समता है।

५. **वाधितविषय या कालात्ययापदिष्ट**–जिस हेतु के 'पक्ष' मे किसी अन्य प्रबलतर प्रमाण से

साध्य का अभाव निश्चित हो गया है, वह 'बाधित' विषय या 'कालात्ययापदिष्ट' हेत्वाभास कहलाता है। वात्स्यायन में 'कालात्ययापदिष्ट' को परिभाषित करते हुए कहा है, कि जिस अनुमान में, प्रयुज्यमान हेतु का एकदेश कालात्यय से युक्त हो, वह 'कालात्ययापदिष्ट' अर्थात् 'कालातीत' कहलाता है[1]।

प्रतिज्ञा–अग्नि अनुष्ण है।

हेतु–उत्पन्न होने के कारण, जिस प्रकार कि जल।

उपर्युक्त उदाहरण में अग्नि का अनुष्णत्व साध्य है, तथा इस साध्य का 'पक्ष' अर्थात् अग्नि में प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होना पाया जाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष में अग्नि उष्ण पायी जाती है। अतः यह 'बाधित विषय' का उदाहरण है। इस प्रकार इस उदाहरण के अन्तर्गत 'अग्नि का उत्पन्न होना' हेतु यथार्थ न होकर 'हेत्वाभास' है। 'बाधितविषय' में विषय की 'कालात्ययापदिष्ट' के रूप में भी चरितार्थता देखी जाय[2]। जैसा कि पहले कालात्ययापदिष्ट की परिभाषा को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है, जिस अनुमान के अन्तर्गत प्रयुज्यमान हेतु का एक देश कालात्यय से युक्त हो, वह **कालात्ययापदिष्ट** 'कालातीत' कहलाता है। उदाहरणार्थ–

१. शब्द नित्य है। (प्रतिज्ञा)

२. संयोग व्यङ्ग्य (भेरी-दण्ड संयोग), होने से (हेतु)

३. रूप के समान (दृष्टान्त)

इस प्रकार जैसे कि पहले या पश्चात् घट व्यक्ति में वर्तमान 'रूप' प्रदीप-घट संयोग से व्यक्त होता है, उसी तरह निहित अव्यक्त शब्द भेरी-दण्डसंयोग अथवा कुठारकाष्ठसंयोग से व्यक्त होता है। किन्तु संयोगव्यंग्य होने से शब्द नित्य है, में 'संयोग व्यंग्य' यह हेतु नहीं बनेगा, क्योंकि इसमें कालात्ययापदेश काल का बीत जाना है। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि संयोगव्यंग्य के अन्तर्गत व्यंग्य (घट रूप) की अभिव्यक्ति व्यंजक संयोग के काल को अतिक्रान्त नहीं करती। इसी के स्पष्टीकरणार्थ कहा जाएगा, कि घटप्रदीपसंयोग (घड़े और दीपक का संयोग) होने पर घट के रूप की अभिव्यक्ति होती है, संयोग की निवृत्ति होने पर नहीं। परन्तु हेतुवाक्यावयव में 'भेरी-दण्डसंयोग' का जो हेतु है, वह यथार्थ नहीं है, अतः यह हेत्वाभास है। इसका कारण यह है, कि भेरी (नगाड़ा) और दण्ड (डन्डा या डंका) का जब संयोग होता है, अर्थात् जब व्यक्ति नगाड़े पर डंका मारता है, तो उसके (संयोग के) पश्चात् ही दूरस्थ शब्द गुंजार से बहुत देर तक सुनाई देता है। इस प्रकार शब्द की यह अभिव्यक्ति संयोग काल को अतिक्रान्त कर जाती है। अतः उपर्युक्त उदाहरण में 'घटरूप' के समान शब्द की ध्वनि संयोग से उत्पन्न नहीं कही जा सकती। अतः 'शब्दनित्यत्व' का उदारहण कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास का उदाहरण

---

१. कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थैकदेशोऽपदिश्यमानः स कालात्ययापदिष्टः 'कालातीतः' इत्युच्यते। न्या. भा.१.२.९।

२. केशवमिश्र (तर्कभाषाकार) ने इसे स्पष्ट नहीं किया है। कालात्ययापदिष्ट इति चोच्यते, यह कहकर छोड़ दिया है। आज के समालोचक विद्वानों ने इसे उलझनभरा कहा है।

है। इससे इस सिद्धान्त की भी पुष्टि होती है कि कारणाभाव से कार्याभाव होता है[1]। क्योंकि जब शब्द-नित्यत्व में 'भेरीदण्डसंयोग' रूप कारण का अभाव है, तो कार्य (साध्य) साध्यरूप शब्दनित्यत्व का भी अभाव है। इस प्रकार उदाहरणसादृश्य न होने के कारण, भेरीदण्डसंयोग अथवा कुठारकाष्ठसंयोगहेतु साध्य (शब्दनित्यत्व) का साधक नहीं बन सकता। इसलिए इसे हेत्वाभास कहा गया है।

उपमान प्रमाण–जैसी गौ है, वैसी ही नील गाय है, इस अतिदेशवाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ गवय (नील गाय) का ज्ञान उपमान कहलाता है[2]। उदाहरण के लिये, नील गाय को न जानने वाला नागारिक किसी वनवासी से जैसी गाय होती है, वैसा ही गवय होता है, यह वाक्य सुनकर वन में जाकर इस वाक्यार्थ का स्मरण करते हुए, जब गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड को देखता है, तब उक्त वाक्यार्थ के स्मरण के साथ उस गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड का ज्ञान उपमिति (सादृश्य) का कारण होने से 'उपमान' प्रमाण कहलाता है। उदयनाचार्य ने उपमान को संज्ञासंज्ञिसम्बन्धबोध के लिये आवश्यक माना है। उक्त उदाहरण में गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड संज्ञी है, तथा गवय यह संज्ञा है। इस संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान उपमान प्रमाण के द्वारा होता है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा असाध्य प्रमा का कारण होने से उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु वैशेषिक[3] सांख्य तथा योगदर्शन के अन्तर्गत उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं माना गया है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने उपमान के तीन पक्ष दिखाकर उसका अन्तर्भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्दप्रमाण में ही कर लिया है[4]। यहाँ यह कथन समीचीन होगा कि 'गवय गोसदृश है' इस अंश में शब्द की स्मृति एवं अनुमान की सत्ता का अनुभव किया जाता है, किन्तु गवय पद का वाच्य, यही पशु है, यह बोध उपमान प्रमाण के द्वारा ही संभव है। अतः उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही अभीष्ट एवं श्रेयस्कर है। किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गाया है, वैशेषिक, सांख्य तथा योग के अतिरिक्त चार्वाक भी उपमान को प्रमाण के रूप में नहीं स्वीकार करते। बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग[5] भी उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण न स्वीकार कर इसे प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत ही मानते हैं। नैयायिक भासर्वज्ञ ने उपमान को शब्दप्रमाण के अन्तर्गत माना है। इसी प्रकार जैनदर्शन के अन्तर्गत भी उपमान को प्रमाण के रूप में न स्वीकार कर इसे प्रत्यभिज्ञामात्र माना गया है[6]। परन्तु मीमांसा[7] तथा वेदान्त[8] उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण ही मानते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, उपमान को अलग प्रमाण मानना ही समुचित है।

---

१. कस्मात् कारणाभावाद् भवति कार्याभाव इति। न्यायभाष्य १-२-६।
२. अतिदेशवाक्यविस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्। त. भा. उपमाननिरूपणम्।
३. देखिये. वै. सू. ६-२-५।
४. सांख्यतत्त्वकौमुदी, ५वीं कारिका।
५. न्यायवार्तिक, १-१-६।
६. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ. ६७-१००।
७. शास्त्रदीपिका, पृ. ७४-७६।
८. वेदान्तपरिभाषा, ३ परिच्छेद।

शब्द प्रमाण–आप्तोपदेश को शब्द कहते हैं[1]। साक्षात्कृतधर्मा अर्थात् जिसने सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर अर्थ का निश्चय कर लिया हो, ऐसा अर्थात् अर्थ को उपदेश करने की इच्छा से प्रवृत्त पुरुष 'आप्त' कहलाता है[2]। शब्द का दूसरा लक्षण "आप्तवाक्यं शब्दः[3]" है। इसमें 'आप्त' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है। जहाँ तक वाक्य के अर्थ की बात है, अर्थप्रतिपादन द्वारा अन्य पदों अथवा अन्य अर्थों के विषयों में श्रोता की आकांक्षा को उत्पन्न करने वाले तथा प्रतीयमान अर्थात् स्पष्ट रूप से परस्पर अन्वययोग्य अर्थ के प्रतिपादक सन्निधियुक्त पदों का समूह वाक्य कहलाता है। इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि (आसत्ति) से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पद क्या है, तो वर्णसमूह को पद कहा गया है। न्यायदर्शन के अनुसार 'समूह' का अर्थ एकज्ञान का विषय होना है[4]। अतः क्रमिक तथा क्षणिक (आशुतर विनाशी) अनेक वर्णों का एक साथ अनुभव असम्भव होने से, पूर्व-पूर्व वर्णों का अनुभव करके अन्तिम वर्ण के श्रवणकाल में पूर्व-पूर्व वर्णों के यथार्थ अनुभव से जनित, संस्कार-सहकृत पदव्युत्पादन समयगृह से अनुगृहीत, अन्त्यवर्णसम्बद्ध श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यभिज्ञा के समान, सहकारी संस्कार के प्राबल्य से सत् (अन्तिमवर्ण) तथा असत् (पूर्ववर्णों) का अवगाहन करने वाले पद की प्रतीति होती है। प्रत्यभिज्ञा, प्रत्यक्षरूप से, सोऽयं देवदत्तः = यह वही देवदत्त है, में अतीत पूर्वावस्था, जो 'सः' = वह, पद से सूचित है, से स्फुरित अर्थात् प्रतीत होती है। इसी प्रकार सदसत् रूप अनेक वर्णों की प्रतीति भी एक साथ सम्भव है। उस पदप्रतीति के अनन्तर उसी क्रम से पूर्व-पूर्व-पदानुभवजनित संस्कार सहकृत एवं पदार्थबोध से अनुगृहीत अन्त्यपदविषयक श्रोत्रेन्द्रिय से सदसत् अनेक पदों को ग्रहण करने वाली पदसमूहात्मक वाक्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार 'पद' के लक्षण के साथ 'पदानां समूहो वाक्यम्' के अनुरूप वाक्य के अर्थ को सुस्पष्ट किया गया है। यही वाक्य आप्त पुरुष के द्वारा प्रयुक्त होने पर 'शब्द' प्रमाण कहलाता है, तथा इसी का फल वाक्यार्थज्ञान है। शब्दप्रमाण लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार का है। लौकिक सिद्धपुरुष का 'शब्द' ही प्रमाण होता है, जबकि समस्त वैदिक वाक्य अलौकिक प्रमाण है। यहाँ यह निर्देश करने योग्य है, कि जहाँ वैदिकों के लिये वेद वाक्य प्रमाण है, वहाँ बौद्धों के लिये पालित्रिपिटकवर्त्ती बुद्धवचन तथा जैन धर्मानुयायियों के लिये जैनागम (अर्धमागधी में लिखित अंग) आप्त वाक्य के रूप में 'श्रद्धेय' भाव से स्वीकार्य है।

उपर्युक्त प्रकार से न्यायदर्शन के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द, इन चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है।

अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव तथा ऐतिह्य

मीमांसा तथा वेदान्त में अर्थापत्ति को भी प्रमाण रूप से स्वीकार किया गया है, किन्तु नैयायिकों

१. आप्तोपदेशः शब्दः। न्या.सू.१-१-७।

२. साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः तथा प्रवर्तत इत्याप्तः। न्याय. भा. १-१-६।

३. आप्तवाक्यं शब्दः। त. भा. शब्दनिरूपणम्।

४. समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः। त.भा. शब्दनिरूपणम्।

ने, इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं समझी है। नैयायिक के अनुसार "अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर, उसके उपपादक अर्थ की कल्पना करना" अर्थापत्ति है[1]। निदर्शनार्थ, हृष्ट-पुष्ट देवदत्त दिन में नहीं खाता (पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते) इस वाक्य के अनुसार देवदत्त का हृष्टपुष्टत्व देखकर या सुनकर, यह अनुमान लगाना कि वह रात्रि में भोजन करता है, अर्थापत्ति है। क्योंकि भोजन किये बिना शरीर पुष्ट नहीं हो सकता, अत एव दिन में भोजन न करने वाले पुष्ट देवदत्त के सम्बन्ध में अर्थापत्ति द्वारा उसके रात्रिभोजन का अनुमान किया जाता है। अर्थापत्ति के दो भेद हैं, दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त उदाहरण में, देवदत्त को पुष्ट देखकर यह अनुमान लगाना कि वह रात्रि में भोजन करता है, **दृष्टार्थापत्ति** है। किन्तु देवदत्त के पुष्टत्व के सम्बन्ध में सुनकर देवदत्त के रात्रि-भोजन के सम्बन्ध में अनुमान करना **श्रुतार्थापत्ति** है।

इस प्रकार **अर्थापत्ति** को स्वतंत्र प्रमाण न स्वीकार कर उसका कार्य व्यतिरेकी अनुमान से ही चलाया जा सकता है।

अर्थापत्ति के अन्तर्गत व्यतिरेकी अनुमान की **पञ्चावयव** प्रक्रिया इस प्रकार है–

१. देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। **(प्रतिज्ञा)**

२. कारण कि दिन में भोजन न करने पर भी पुष्ट शरीर वाला है। **(व्यतिरेकमुखी हेतु)**

३. जिस प्रकार कि उपवास रखने वाला तपस्वी मोटा नहीं होता। **(दृष्टान्त)**

४. यह ऐसे तपस्वी से विपरीत है। **(उपनय)**

५. अतः यह (देवदत्त) उपवासी नहीं है। यह रात में अवश्य भोजन करता है। **(निगमन)**

अभाव–जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, वेदान्ती **अभाव** को प्रमाण नहीं स्वीकार करते। वेदान्तियों का कथन है कि घटाभाव एवं पटाभाव के साथ इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध न होने से प्रत्यक्ष रूप से अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। अतः अभाव या अनुपलब्धि को **प्रमाण** मानना अवश्यंभावी है। परन्तु नैयायिक अभाव को पृथक् प्रमाण न मानकर उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में ही करते हैं।

इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी का कथन है कि 'अभाव' को प्रमाण मानना आवश्यक है, क्योंकि 'अभाव' या '**अनुपलब्धि**' प्रमाण को स्वीकार किये बिना, सम्भव नहीं है। क्योंकि घटादि की अनुपलब्धि से घटादि के अभाव का ग्रहण होता है। किन्तु इस सम्बन्ध में नैयायिकों का समाधान है, कि यह कहना उचित नहीं है, कि यदि स्थानविशेष में घट होता, तो भूतल के समान उसका प्रत्यक्ष होता। इस प्रकार के तर्क से सहकृत अनुपलब्धियुक्त प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अभाव का ग्रहण होने से अभाव के ग्रहण के लिये, पृथक् अभाव अथवा अनुपलब्धि प्रमाण मानना अपेक्षित नहीं है[2]।

---

१. अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् 'अर्थापत्तिः'। त. भा. अर्थापत्तिनिरूपणम्।

२. नैतत्, यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत्, इत्यादितर्कसहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवाभावग्रहणात्। त.भा. अभावनिरूपणम्।

सांख्यमत–न्यायदर्शन के समान सांख्यदर्शन में भी अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत किया गया है। परन्तु सांख्य की अन्तर्भावपद्धति न्याय से भिन्न है। सांख्यदर्शन के अनुसार भूतल के स्वरूप में प्रतिक्षण परिवर्त्तन होता रहता है। सांख्यमतानुसार कभी भूतल घटयुक्त होता है, तथा कभी घट के न रहने पर भूतल मात्र शेष रहता है। इसी घटरहित भूतल को **'घटाभावभूतलम्'** कहा जाता है। इस प्रकार घटाभाव भी भूतल का स्वरूप विशेष ही है। भूतल का ग्रहण इन्द्रिय (चक्षु) से होता है। इसलिये उसका **कैवल्य** रूप भेद भी जिसे 'घटाभाववद् भूतलम्' कहा जाता है, प्रत्यक्ष ही है, यह प्रत्यक्ष का कैवल्यभेद इसलिए कहलाता है, क्योंकि इसमें केवल भूतल का ही प्रत्यक्ष होता है। अतः सांख्यदर्शन में भी अभाव प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत है। वैशेषिकदर्शन में भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान ही प्रमाण माने गए हैं, एवं अभाव का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत किया गया है[1]।

ऐतिह्य–ऐतिह्य को नैयायिकों ने शब्द प्रमाण के अन्तर्गत अन्तर्भूत माना है। ऐतिह्य एक प्रकार से आप्त वाक्य ही है। पौराणिकों ने ऐतिह्य को स्वतंत्र प्रमाण माना है।

सम्भव–अविनाभावी अर्थ की सत्ता के ग्रहण से अन्य की सत्ता का ग्रहण, सम्भव कहलाता है। इस सम्बन्ध में न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि द्रोण (परिमाण विशेष) के ग्रहण से आढक की सत्ता का ग्रहण होता है[2]। अतः संभव को पृथक् प्रमाण मानने की अपेक्षा नहीं है। परन्तु पौराणिकों ने सम्भव को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

प्रामाण्यवाद–प्रामाण्य (प्रमाण + ष्यञ्) का अर्थ 'प्रमाण होना' अथवा प्रमाण पर आश्रित होना है। प्रामाण्यवाद का अर्थ प्रामाण्यसम्बन्धी सिद्धान्त है। प्रामाण्य स्वतः है अथवा 'परतः', इस सम्बन्ध में भारतीय दर्शन के अन्तर्गत न्यूनाधिक रूप से अनेकशः विचार किया गया है। जहाँ मीमांसक स्वतःप्रामाण्यवाद के समर्थक हैं, वहाँ नैयायिक परतःप्रामाण्यवादी हैं। प्रामाण्यवाद के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिक मतों का निर्देश करने से पूर्व मीमांसक के स्वतःप्रामाण्यवाद एवं नैयायिक के परतःप्रामाण्यवाद का निरूपण आवश्यक है।

स्वतःप्रामाण्यवाद–स्वतःप्रामाण्यवादी मीमांसक का अभिमत है, यदि हम 'स्वतः प्रमाण' के अर्थ के सम्बन्ध में विचार करें तो कहना होगा कि ज्ञान की ग्राहक सामग्री के अतिरिक्त सामग्री प्रामाण्य के ग्रहण के लिये जहाँ अपेक्षित नहीं होती, तो वह 'स्वतः प्रमाण' कहलाता है[3]।

दूसरे शब्दों में, इस प्रकार कहा जाएगा, कि जहाँ ज्ञान और उसके प्रामाण्य का ग्रहण एक ही सामग्री से होता है, वहाँ स्वतः प्रमाण होता है। इस प्रकार मीमांसक के अनुसार ज्ञान और उसके प्रामाण्य दोनों की ग्राहक एक ही सामग्री ज्ञातताऽन्यथाऽनुपपत्तिप्रसूता है। यहाँ 'ज्ञातताऽन्यथानुपपत्ति-

---

१. अभावोऽप्यनुमानमेव। यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्। प्रशस्तपादभाष्य, पृ.१११।

२. सम्भवो नाम अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणम्, यथा द्रोणस्य सत्ताग्रहणादाढकस्य सत्ताग्रहणम्, आढकस्य सत्ताग्रहणात् प्रस्थस्येति। वात्स्यायन भाष्य, २-१-१२।

३. ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य। त. भा. प्रामाण्यवादः।

प्रसूता अर्थापत्ति' को समझ लेना चाहिए। मीमांसक का अभिप्राय है, कि 'अयं घटः' यह घट है, इस ज्ञान से घट में 'ज्ञातता' धर्म अयं घटः इस ज्ञान से पूर्व नहीं था, अपितु यह 'अयं घटः' इस ज्ञान से जन्य है। अत एव 'यह घट है' यह ज्ञान **ज्ञातता** का कारण है। इस प्रकार घटग्रहण की प्रवृत्ति के पूर्व ही ज्ञातता रूप कार्य की अन्यथा अर्थात् ज्ञानरूप कारण के बिना, अनुपपत्ति से ज्ञान का ग्रहण होने पर, उसमें रहने वाले प्रामाण्य का भी उसी से ग्रहण हो जाता है। इसके पश्चात् पुरुष घट ग्रहण के लिये प्रवृत्त होता है। इस प्रकार ऐसा नहीं है[1], कि पहले केवल ज्ञान गृहीत होता है और उसके बाद प्रवृत्ति के उत्तरकाल में फल को देखकर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है[2]। यही मीमांसक का स्वतः-प्रामाण्यवाद है।

मीमांसक, ज्ञान के अप्रामाण्य को परतः मानता है। जब व्यक्ति का पूर्वज्ञान किसी दूसरे ज्ञान के द्वारा भ्रान्त सिद्ध हो जाता है, तो वह व्यक्ति पूर्वज्ञान के दोषी एवं मिथ्या होने का अनुमान करता है। उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति जलग्रहण करने के लिये जलाशय की ओर प्रवृत्त होता है, किन्तु जलाशय के पास जाकर उसे जल नहीं मिलता, तो उसका पूर्वज्ञान अनुमान द्वारा मिथ्या सिद्ध हो जाता है। यही मीमांसक का **परतः अप्रामाण्य** है। क्योंकि व्यक्ति जब सरोवर के पास जाकर जलाभावयुक्त सरोवर का (घटाभाववद् भूतल के समान) ज्ञान प्राप्त करता है, तो इस ज्ञान से उसका पूर्वज्ञान (सरोवर जल का ज्ञान) मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

परतःप्रामाण्यवाद—परतः प्रामाण्यवाद का समर्थक नैयायिक है। जहाँ, मीमांसक ज्ञान के प्रामाण्यज्ञान की ग्राहक सामग्री को ही मानता है, किसी अन्य को नहीं, और यही उसके प्रामाण्य का स्वतस्त्व है, वहाँ नैयायिक ज्ञान का परतःप्रामाण्य सिद्ध करते हुए कहता है, कि परतःप्रामाण्यवाद में ज्ञान तथा प्रामाण्य दोनों की ग्राहक सामग्री[3] पृथक् पृथक् है। ज्ञानग्राहक सामग्री, अनुव्यवसाय है। किन्तु ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की ग्राहक सामग्री, प्रवृत्ति का साफल्य या वैफल्यमूलक अनुमान है। उदाहरण के लिये, पहले प्रमाण से घटादि पदार्थों का ज्ञान होता है, तत्पश्चात् उनके ग्रहण के लिये मनुष्य प्रवृत्त होता है। यदि मनुष्य की प्रवृत्ति सफल हो जाती है, अर्थात् वह सम्भावित स्थान पर घटादि की प्राप्ति कर लेता है, तो वह अपने प्रवृत्तिपूर्ववर्त्ती घटादिज्ञान को यथार्थ समझ लेता है। यह ज्ञान का परतःप्रामाण्य है। किन्तु यदि उक्त प्रवृत्ति विफल हो जाती है, अर्थात् उसे घटादि की सम्भावित स्थान पर उपलब्धि नहीं होती, तो यह ज्ञान के परतःप्रामाण्य की स्थिति है। घटादिज्ञान के पश्चात् घटादि के ग्रहण की प्रवृत्ति से लेकर ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के निश्चय तक की अवस्था 'अभ्यास दशा' कहलाती है। अभ्यासदशा का उपर्युक्त ज्ञान 'अभ्यासदशापन्न' ज्ञान कहलाता है, इसके अतिरिक्त अनभ्यासदशापन्न

---

१. इसे, इस प्रकार समझना चाहिए कि, 'अयं घटः' ज्ञान के बिना ज्ञातता अनुपन्न है। अतः अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण मानना होगा, तथा उसी अर्थापत्ति से ज्ञान का प्रामाण्य भी गृहीत होगा।

२. तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञातताऽयथार्थानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञानगृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमर्था-पत्त्यैव गृह्यते। ततः परं पुरुषः प्रवर्तते। न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते ततः प्रवृत्त्युत्तरकाले फलदर्शनेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते। त. भा. प्रामाण्यवादः।

३. ज्ञान के ज्ञान को 'अनुव्यवसाय' कहते हैं।

ज्ञान भी है। जहाँ, ज्ञान होने के पश्चात् प्रवृत्ति से पूर्व ही, उसके प्रामाण्य का ग्रहण होता है, वह अनभ्यास दशा का ज्ञानी है। यहाँ यह तथ्य विशेषरूप से विचारणीय है कि जहाँ 'अभ्यासदशापन्न ज्ञानप्रामाण्य' में 'समर्थप्रवृत्तिजनकता' हेतु है, वहाँ अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में 'समर्थप्रवृत्तिजनक ज्ञानजातीयता' हेतु है। क्योंकि इस दशा में ज्ञानप्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति से पूर्व ही, हो जाता है।

परतःप्रामाण्यवाद के प्रसंग मे यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है, कि ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का निर्णय तो प्रवृत्ति की सफलता एवं विफलता पर निर्भर करता है, किन्तु ज्ञान का ग्रहण **'अनुव्यवसाय'** से होता है। न्यायमत में 'ज्ञान' के ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं। उदाहरणार्थ, 'अयं घटः' यह घट है, यह ज्ञान घट से उत्पन्न होता है, अतः इसे घटविषयक ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार प्रथम ज्ञान ही व्यवसायात्मक ज्ञान है। इसे **व्यवसायात्मक ज्ञान** इसलिये कहा जाता है, क्योंकि यह निश्चयात्मक ज्ञान है। इस ज्ञान के पश्चात् जब व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है कि 'मुझे घट का ज्ञान है' या 'मैं घटज्ञानवान् हूँ' (घटज्ञानवानहम्)। यहाँ यह स्पष्ट है, कि इस द्वितीय ज्ञान का विषय घट न होकर घटज्ञान है। इस प्रकार इस ज्ञानविषयक ज्ञान को ही 'अनुव्यवसाय' कहते हैं।

स्वतःप्रामाण्यवाद एवं परतःप्रामाण्यवाद (तुलना)

स्वतःप्रामाण्यवादी मीमांसक के अनुसार 'ज्ञातता' की उत्पत्ति 'अयं घटः' (यह घट है), इस ज्ञान से होती है। उसी प्रकार न्याय मत में भी 'अनुव्यवसाय' की उत्पत्ति 'अयं घटः' इस ज्ञान से होती है। इन दोनों का यह अन्तर द्रष्टव्य है, कि मीमांसक की 'ज्ञातता' घट में रहने वाला धर्म है, जबकि नैयायिक का 'अनुव्यवसाय' घट में नहीं, अपितु आत्मा में रहने वाला धर्म है। मीमांसक एवं नैयायिक का यह मतान्तर भी उल्लेखनीय है कि मीमांसक 'अयं घटः' से घट में ज्ञातता धर्म की उत्पत्ति मानकर, उसी के आधार पर, विषय नियम का प्रतिपादन करते हैं, तथा उसी के आधार पर **'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति'** से ज्ञान एवं प्रामाण्य का ग्रहण स्वीकार करते हुए, **'स्वतःप्रामाण्यवाद'** की प्रतिष्ठापना करते हैं। इसके विपरीत नैयायिक विषयनियम को स्वाभाविक मानकर 'ज्ञातता' का निराकरण करते हुए, ज्ञान का ग्रहण, अनुव्यवसाय से तथा प्रामाण्य का ग्रहण 'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक' अनुमान से मानकर, परतःप्रामाण्यवाद का समर्थन करते हैं, जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

नैयायिक द्वारा स्वतःप्रामाण्यवाद का खंडन

स्वतःप्रामाण्यवाद सिद्धान्त के समर्थक मीमांसक के सिद्धान्त का प्राण, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, ज्ञातता है, जो परतःप्रामाण्यवादी नैयायिक को स्वीकार नहीं है। नैयायिक का कथन है, कि ज्ञातता की 'अन्यथाऽनुपपत्ति' से प्रसूत अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है, यह मत मान्य नहीं है। मीमांसक के मत का उल्लेख करते हुए, नैयायिक का कथन है, कि मीमांसक के सिद्धान्त का यह आशय है, कि घटादिविषयक ज्ञान के होने पर, 'मैंने यह घड़ा जान लिया' (मया ज्ञातोऽयं घटः) इस प्रकार घट की ज्ञातता (ज्ञान होने) की प्रतीति होती है। इसके पश्चात् ज्ञान के होने पर, घट में ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति का अनुमान होता है। यहाँ, यह वक्तव्य है, कि ज्ञातता धर्म के ज्ञान से पहले न होने के कारण, तथा ज्ञानपश्चात् उत्पन्न होने से यह सिद्ध होता है, कि वह धर्म अन्वयव्यतिरेक के ज्ञान से उत्पन्न

होता है। इस प्रकार मीमांसक के पक्ष का निष्कर्ष यह है, कि ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता नामक धर्मज्ञान के बिना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य असिद्ध ही है। अतः ज्ञातता द्वारा, अर्थापत्ति से अपने कारणज्ञान का आक्षेप किया जाता है[1]।

मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद के प्रतिपादक उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए, नैयायिक का कथन है, कि ज्ञानविषयता के अतिरिक्त ज्ञातता का सर्वथा अभाव ही कहा जाएगा।

नैयायिक द्वारा तर्कित ज्ञानविषयता के सम्बन्ध में मीमांसक का तर्क है कि ज्ञानजन्य ज्ञातता का आधार होना ही घट का ज्ञानविषयत्व कहा जाएगा। इस प्रकार, यह अनुमान किया जाता है, कि ज्ञान से घट में 'ज्ञातता' धर्म की उत्पत्ति होती है, अत एव घट ही उसका विषय होता है, अन्य कोई वस्तु नहीं। अतः मीमांसक के मतानुसार विषयत्व की ज्ञातता के बिना उपपत्ति न होने से अर्थापत्ति द्वारा ज्ञातता सिद्ध होती है।

नैयायिक ने मीमांसक के उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए कहा है कि विषयविषयिभाव के स्वाभाविक होने से ज्ञातता द्वारा घटादि की विषयता सिद्ध करना अनपेक्षित एवं असमीचीन है। अर्थ और ज्ञान (जैसे, घट तथा घटज्ञान) का स्वाभाविक सम्बन्ध होने से, इनका विषयविषयिभाव स्वाभाविक है। ज्ञातता के स्वीकार करने पर एक आपत्ति यह है, क्योंकि ज्ञातता भी अपने ज्ञान का विषय होती है, इसलिये उसमें दूसरी ज्ञातता स्वीकार करनी होगी, तथा इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाएगा। किन्तु यदि अपने पक्ष की रक्षा के लिये, मीमांसक दूसरी ज्ञातता को स्वीकार किए बिना, स्वभावतः ही ज्ञातता की विषयता को मान ले, तो फिर घटादि के विषयज्ञान के लिये भी ज्ञातता की क्या अपेक्षा है वह भी स्वभावतः हो सकता है। इस प्रकार नैयायिक का मत है, कि मीमांसक द्वारा ज्ञातता का प्रतिपादन सर्वथा अनावश्यक एवं तर्कापुष्ट है।

तर्कभाषाकार केशव मिश्र का तर्क है, कि ज्ञातता को स्वीकार करने पर भी स्वतःप्रामाण्यवाद की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि ज्ञातता को स्वीकार करने पर भी ज्ञानग्राहक तथा प्रामाण्यग्राहक सामग्री पृथक् पृथक् स्वीकार करनी होगी। कारण कि मीमांसक के अनुसार ज्ञान का ग्रहण तो ज्ञातता से ही होता है। यह ज्ञातता यथार्थ ज्ञान से भी उत्पन्न हो सकती है, तथा अयथार्थ ज्ञान से भी। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता अपने कारणज्ञान का अर्थापत्ति से बोध कराएगी। यहाँ, यह उल्लेखनीय है, कि उक्त दोनों प्रकार की ज्ञातता प्रामाण्य का ग्रहण नहीं करा सकती। प्रामाण्य का ग्रहण तो उक्त दोनों ज्ञातताओं में से, **यथार्थ ज्ञान** से उत्पन्न ज्ञातता ही करा सकती है। अतः, यह निष्कर्ष निकलता है, कि ज्ञानग्राहक एवं प्रामाण्यग्राहक सामग्री में भेद होने के कारण, यदि ज्ञातता को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो भी स्वतःप्रामाण्य की सिद्धि नहीं होती।

परतःप्रामाण्यवादी नैयायिक का तर्क है, कि यदि यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता विशेष से ज्ञान तथा प्रामाण्य का ग्रहण, दोनों को साथ-साथ मान भी लिया जाए तो अप्रमाण ज्ञान की अव्यभिचारिणी, अयथार्थ ज्ञान अथवा भ्रमज्ञान से उत्पन्न ज्ञातताविशेष से ज्ञान तथा अप्रामाण्य का ग्रहण भी साथ ही

---

१. ज्ञानविषयतातिरिक्ताया ज्ञातताया अभावात्। त. भा. प्रामाण्यवादः।

मानना होगा। अतः मीमांसक को अप्रामाण्य को भी स्वतः ही मानना चाहिए, न तु परतः। इस प्रकार नैयायिक का तर्क है कि मीमांसक को या तो प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानना चाहिए, अथवा दोनों को ही परतः। किन्तु यह मीमांसक को कदापि स्वीकार नहीं है। अतः नैयायिक प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों को ही परतः मानता है।

किन्तु अप्रमाण ज्ञान की अव्यभिचारिणी किसी ज्ञातताविशेष से ज्ञान तथा अप्रामाण्य के एक साथ ग्रहण होने पर भी, यदि मीमांसक को अप्रामाण्य का परतः मानना ही अभीष्ट है, तो प्रामाण्य को भी परतः ही स्वीकार करना चाहिए। जैसा, कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, 'परतः' का अर्थ, ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री है। परतःप्रामाण्यवाद का स्वरूपनिरूपण करते हुए, यह कहा जा चुका है, कि ज्ञान का ग्रहण 'अनुव्यवसाय' से होता है, तथा प्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान से सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, जैसा कि पहले भी कहा गया है, किसी जलाशय में, जलज्ञान के पश्चात् जलाभिलाषी की प्रवृत्ति दो प्रकार की सम्भव है, एक सफला तथा दूसरी विफला। सफल प्रवृत्ति समर्थ कही जाती है, क्योंकि उस प्रवृत्ति से उस ज्ञान का याथार्थ्य (प्रामाण्य) अनुमित होता है। इस अनुमान की प्रक्रिया एवं अनुमानवाक्य का प्रयोग इस प्रकार होगा–

१. संदिग्ध जलज्ञान सफल प्रवृत्ति का जनक होने से प्रमाण है।

२. जो ज्ञान सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न नहीं करता, वह प्रमाण नहीं होता, जैसे प्रमाणाभास। यह केवलव्यतिरेकी अनुमान है।

उपर्युक्त उदाहरण के अन्तर्गत व्यतिरेकी अनुमान में सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला जलज्ञान **'पक्ष'** है, तथा उसका प्रामाण्य साध्य है। किन्तु प्रमाकरणत्व स्मृति में व्यभिचारी होने से, साध्य नहीं है। यहाँ यह उल्लेखयोग्य है, कि सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाली स्मृति का भी याथार्थ्य रूप प्रामाण्य माना जाता है। किन्तु प्रमाकरणत्वरूप प्रामाण्य स्मृति का नहीं होता। अतः यहाँ प्रामाण्य का अर्थ याथार्थ्य करना चाहिए, प्रमाकरणत्व नहीं। यहाँ यह कहना अपेक्षित है, कि उस प्रामाण्य का हेतु, सफलप्रवृत्तिजनकत्व है। यहाँ, यह कथन समुचित होगा, कि केवलव्यतिरेकी अनुमान से 'अभ्यासदशापन्न' ज्ञान के प्रामाण्य के सिद्ध होने पर तथा उसको दृष्टान्त मानकर, जल प्रवृत्ति के पूर्व भी 'तज्जातीयत्व' रूप लिङ्ग से अन्वयव्यतिरेकी अनुमान द्वारा 'अनभ्यासदशापन्न' ज्ञान का प्रामाण्य भी अनुचित होता है। अतः नैयायिक के अनुसार परतःप्रामाण्यवाद को ही मानना समुचित होगा। इस प्रकार ज्ञानग्राहक सामग्री से प्रामाण्य का ग्रहण नैयायिक को स्वीकार नहीं है[1]।

अभ्यासदशापन्न एवं अनभ्यासदशापन्न कार्यकारणवाद

कार्यकारणवाद सिद्धान्त आरम्भ से ही भारतीय दर्शन का प्रमुख विषय रहा है। वैदिक दर्शन में कहीं **'सत्'** की मूल कारण के रूप में प्रतिष्ठा की गई है[2], तो कहीं असत्[3] की। इसके अतिरिक्त

१. तस्मात् परत एव प्रामाण्यं न ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यते। त. भा. प्रामाण्यवादः।

२. सदेव सोम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छा.उ. ६.२.१।

३. असतः सज्जायते, छा.उ. ६.२.१।

वैदिक दृष्टि के अनुसार मूल कारण को सत् एवं असद्विलक्षण भी कहा गया है[1]। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है, कि उपर्युक्त कारणविषयक दृष्टि में परस्पर वैषम्य न होकर **समन्वय** ही है। कारण कि, सत् एवं असत् में विरोध इसलिए नहीं है, कि सृष्टि के कारण सूक्ष्मतम होने के कारण वह व्यावहारिक (दृश्यात्मक) रूप से असत् ही है, अर्थात् वह कदापि दृष्टिगोचर नहीं होता। जहाँ तक सृष्टि के मूल कारण के सत् एवं असत् से विलक्षण होने का प्रश्न है, वहाँ यह कहा जाएगा, कि सूक्ष्म सत् न वर्त्तमानतया (व्यावहारिक दृष्टि से) सत् है और न सर्वथा असत् अर्थात् शशशृंग अथवा वन्ध्यापुत्र के समान अलीक असत्। अत एव सत् एवं असत् से विलक्षण सूक्ष्म सत् को सायण प्रभृति भाष्यकारों एवं उत्तरकालिक दार्शनिकों ने अनिर्वाच्य कहा है। यहाँ यह कहना संगत होगा, कि उत्तरकालिक दार्शनिक सम्प्रदायप्रवर्तित कार्यकारणसिद्धान्त, न्यायदर्शन के **असत्कार्यवाद,** सांख्यदर्शन के **सत्कार्यवाद** एवं वेदान्तदर्शन के **विवर्त्तवाद** के मूल बीज कार्यकारणविषयक वैदिकदर्शन की उपर्युक्त विचारदृष्टि में स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। यहाँ न्यायदर्शनसम्मत **कार्यकारणवाद** के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा।

न्यायदर्शन में कार्यकारणवाद

न्यायदर्शन के अन्तर्गत कार्यकारण के सिद्धान्त का निरूपण सर्वाधिक विस्तृत एवं सूक्ष्म रूप से किया गया है। न्यायदर्शन में कारण को साधकतम अथवा असाधारण कारण कहा गया है। यद्यपि घटादि कार्यों के निर्माण में रासभ (गधा आदि का सम्बन्ध भी देखा जाता है, किन्तु वे कारण की कोटि में नहीं आते। कारण का लक्षण "यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्"[2] है। अर्थात् जिसकी सत्ता कार्य से पूर्व निश्चित हो, तथा जो अन्यथासिद्ध (जिसके बिना कार्य की सिद्धि सम्भव न हो) हो, वह **कारण** कहलाता है। जैसा कि स्पष्ट है, कारण के उपर्युक्त लक्षण में, दो पद नियतपूर्वभाव एवं अनन्यथासिद्ध महत्त्वपूर्ण हैं। नियतपूर्वभाव का आशय यह है, कि जिसका कार्य के पहले स्थित होना निश्चित हो। उदाहरणार्थ, घट के निर्माण में कुम्भकार एवं दण्ड का होना पहले से निश्चित है। 'कारण' के लक्षण में 'अनन्यथासिद्ध' इसलिए जोड़ा गया है, कि घटादि के निर्माण कार्य में कुम्भकार एवं उसके दण्ड के अतिरिक्त गर्दभ आदि का भी सम्बन्ध रहता है, क्योंकि कुम्भकार तालाब से गर्दभ पर मिट्टी लादकर लाता है, किन्तु गर्दभ का नियतपूर्ववर्तित्व होने पर भी उसे 'अनन्यथासिद्ध' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गर्दभ के अतिरिक्त कुम्भकार घोड़े पर भी मिट्टी ला सकता है, या फिर अपने सिर पर भी मिट्टी लादकर ला सकता है। इस प्रकार गधा अथवा घोड़ा 'अनन्यथासिद्ध' न होकर अन्यथासिद्ध की कोटि में गिने जाते हैं। न्यायदर्शन में घटादिनिर्माण कार्य से सम्बन्धित पाँच अन्यथासिद्धों का निर्देश किया गया है। ये पाँच अन्यथासिद्ध दण्डत्व, दण्डरूप, आकाश, कुम्भकार का पिता तथा गर्दभ हैं। ये पाँचों नियतपूर्व तो हैं, किन्तु अन्यथासिद्ध न होकर घटनिर्माणकार्य में नितान्त उपयोगी नहीं हैं। अत एव अन्यथासिद्ध हैं।

---

१. नासदासीन् नो सदासीत् तदानीम्। ऋग्वेद १० ६०-१।

२. तर्कभाषा, प्रमाणनिरूपणम्।

पुनश्च, न्यायदर्शन के अन्तर्गत कारण **समवायिकारण, असमवायिकारण** एवं **निमित्तकारणरूप से तीन प्रकार का है।** जब समवायसम्बन्ध से कारण के रहते हुए कार्य की उत्पत्ति होती है तो वह **समवायिकारण** होता है[1]। उदाहरणार्थ, घट के निर्माणकार्य में मृत्तिका (द्रव्य) समवायिकारण है। कार्यैकार्थप्रत्यासन्न तथा कारणैकार्थप्रत्यासन्नरूप से समवायिकारण के भी दो भेद हैं। प्रत्यासत्ति का अर्थ एक अधिकरण में दो वस्तुओं की स्थिति है। जैसे, जिस अधिकरण में समवायसम्बन्ध से कार्य की विद्यमानता है, उसी कारण अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से स्थित असमवायिकारण कार्यैकार्थप्रत्यासन्न होता है। इस उदाहरण के अन्तर्गत यह व्याख्येय है, कि तन्तुओं द्वारा उत्पन्न कार्यरूप पट, तन्तुओं के अन्तर्गत समवायसम्बन्ध से विद्यमान है। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि उन्हीं तन्तुओं में गुण होने के कारण, **संयोग** भी समवायसम्बन्ध से विद्यमान है। इस प्रकार पट में रहने वाला तन्तुसंयोग प्रथम प्रकार का असमवायिकारण है। समवायिकारण का दूसरा भेद 'कारणैकार्थप्रत्यासन्न' है। कारणैकार्थप्रत्यासत्ति के अनुसार, एक अधिकरण में समवायिकारण के साथ रहने वाला कारण **'कारणैकार्थप्रत्यासन्न'** है। उदाहरण के लिए, पटरूप कार्य में, तन्तुरूप कारण कारणैकार्थप्रत्यासन्न कहा जाएगा। यहाँ यह अवलोकनीय है, कि पटगत रूप पट में सम्बन्ध से विद्यमान है, तथा वह कारण-पट-तन्तुओं में समवायसम्बन्ध से विद्यमान रहता है। इसी प्रकार तन्तुओं में तन्तुरूप समवायसम्बन्ध से विद्यमान रहता है। इस प्रकार पटरूप के प्रति तन्तुरूप द्वितीय प्रकार का असमवायिकारण है, यह सिद्ध होता है। **असमवायिकारण** उसे कहते हैं, जो समवायिकारण में प्रत्यासन्नरूप से रहता है, तथा कार्य की उत्पत्ति में जिसकी सामर्थ्य निश्चित है[2]। उदाहरणार्थ, तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है। यहाँ, तन्तुसंयोग (गुण) पट के समवायिकारण तन्तुओं (रूप) गुणियों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान होने के कारण पट के समवायिकारण में प्रत्यासन्न होने से, तथा पट के प्रति अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्व होने के कारण पट के प्रति कारण होने से, तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है। इसी प्रकार तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है। **निमित्तकारण** समवायिकारण तथा असमवायिकारण से सर्वथा भिन्न है। उदाहरणार्थ, कुलाल एवं चक्रचीवरादि पट के निर्माण में निमित्तकारण हैं। वेदान्तदर्शन में **त्रिगुणात्मिका माया** जगत् की उपादानकारण एवं मायोपहित ईश्वर अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है।

असत्कार्यवाद–न्यायवैशेषिक के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता न मानने के कारण ही, इस सिद्धान्त को असत्कार्यवाद कहते हैं। नैयायिक के अनुसार कार्य की सत्ता कारण से पृथक् है, अतः कारण में कार्य के रहने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। उदाहरणार्थ, जैसा कि ऊपर भी कहा गया है, मृत्तिका से जिस घट का निर्माण होता है, वह घट मृत्तिका में वर्त्तमान नहीं है। इस प्रकार न्यायवैशेषिक, कार्यकारण के सम्बन्ध में, सांख्यदर्शन के अनुसार परिणामवादी अथवा सत्कार्यवादी नहीं है, क्योंकि न्यायवैशेषिक सत्कार्यवादी सांख्य की तरह कार्य (सृष्टि) के कारण का परिणाम न स्वीकार कर, नवीन

---

१. यत् समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम् ।

२. असमवायिकारणं तदुच्यते यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम् । त. भा. प्रमाणनिरूपणम् ।

कार्य की सृष्टि मानता है। सांख्यदर्शन के आचार्यों ने सत्कार्यवाद के समर्थन में युक्तियाँ देते हुए कहा है, कि कार्यपदार्थ की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति न होने के कारण, प्रत्येक कार्य का स्वतन्त्र उपादान होने के कारण, किसी एक उपादानकारण से समस्त कार्यों की उत्पत्ति न होने से, जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति है, उससे उसी कार्य की उत्पत्ति देखी जाने से, तथा कारण के गुणों के कार्य में अनुप्रविष्ट होने से, कारण में कार्य का अस्तित्व स्वीकार करना अभीष्ट है[1]। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है, कि नैयायिक नितान्त अभाव अथवा अत्यन्ताभाव की भाव रूप से सृष्टि नहीं मानता, अपितु उसका इस तथ्य पर विशेष बल है, कि कारण में कार्य सत् रूप से वर्त्तमान नहीं है। अत एव नैयायिक का कार्यकारणवादी सिद्धान्त 'असत्कार्यवाद' के रूप में प्रख्यात हुआ है।

न्यायदर्शन में मोक्ष

मोक्ष को चरम लक्ष्य के रूप में प्रायः सभी दर्शन पद्धतियों में स्वीकार किया गया है। सामान्यतः दुःखनिवृत्ति एवं तत्फलस्वरूप सुखशान्ति की प्राप्ति ही मोक्ष है। किन्तु विशेष रूप से विचार करने पर सभी दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप एवं उसके उपायों में यत्किञ्चिद् भेद अवश्य मिलता है। जहाँ तक, न्यायदर्शन का प्रश्न है, गोतम ने न्यायसूत्र (१-१-१२) में मोक्ष का लक्षण 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' (उस जन्मरूप दुःख से अत्यन्त अर्थात् पुनरावृत्तिरहित विमुक्ति मोक्ष है), ऐसा किया है। मोक्ष की स्थिति का निरूपण करते हुए, भाष्यकार वात्स्यायन का कथन है, कि मोक्ष की स्थिति को प्राप्त कर लेने पर उपात्त-जन्म का त्याग हो जाता है, तथा दूसरा जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता। यह मोक्षावस्था अविनाशी अपवर्ग स्वरूप है। यह अवस्था सर्वथा भयरहित, जरारहित, शाश्वत, ब्रह्मस्वरूप एवं क्षेम (नित्यसुख) स्वरूप है[2]।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मोक्ष की यह स्थिति मुक्त के शरीरत्याग से पूर्व की स्थिति है, क्योंकि न्यायदर्शन भी प्रारब्धभोग के लिए, ज्ञानी की भी शरीरस्थिति मानता ही है। इसीलिए न्याय में अपरनिःश्रेयस को स्वीकार किया गया है,[3] जो जीवन्मुक्ति का ही स्वरूप है। एवञ्च परनिःश्रेयस **विदेह मुक्ति है**[4]। प्रारब्ध कर्म के भोग के सम्बन्ध में न्याय तथा वेदान्त की दृष्टि एक समान है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में स्पष्ट रूप से कहा है, कि जब तक पूर्वकृत कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता, तब तक मुक्त पुरुष को भी शरीर धारण करना ही पड़ता है[5]।

---

१. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।। सांख्यकारिका-६।

२. उपात्तस्य जन्मनो हानम्, अन्यस्य चानुपादानम्। एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्गं मन्यन्तेऽपवर्गविदः। तदभयम्, अजरम् , अमृत्युपदं ब्रह्म, क्षेमप्राप्तिः। न्यायभाष्य १-१-२२।

३. यत्तावदपरं निःश्रेयसं तत् तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति। न्यायवार्तिक, १-१-१।

४. परनिःश्रेयसं न तावद् भवति यावदुपभोगादुपात्तकर्माशयप्रचयो न क्षीयते। तात्पर्यटीका, पृ.८१।

५. ब्र.सू.शा.भा. १.१.१५।

न्यायमञ्जरी के अन्तर्गत मुक्त पुरुष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मुक्त जीव मोक्ष की स्थिति में, बुभुक्षा एवं पिपासा, लोभ एवं मोह तथा शिशिर एवं ग्रीष्म, इस छः प्रकार के ऊर्मिषट्क को पार कर लेता है, अर्थात् ये छः मुक्तात्मा को कदापि प्रभावित नहीं करते[1]।

न्यायदर्शन के अनुसार मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में, यह विशेषरूप से द्रष्टव्य है, कि वेदान्त के समान न्याय में मोक्ष की स्थिति सच्चिदानन्द की स्थिति नहीं है, अपितु वह दुःखाभाव की स्थिति है, जो स्वभावतः सुख की स्थिति ही कही जाएगी। किन्तु नैयायिक मोक्ष की स्थिति को सुख की स्थिति न कहकर दुःखाभाव की स्थिति कहता है, तथा वह इस स्थिति को वेदान्ती की तरह चित् अर्थात् चैतन्य की स्थिति भी नहीं स्वीकार करता। न्याय मत में तो चैतन्य आत्मा का आकस्मिक गुण है, जो शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के साथ आत्मा में वर्त्तमान रहता है। इस प्रकार उपनिषदों एवं वेदान्त द्वारा प्रतिपादित नित्यचिदानन्दस्वरूप ब्रह्म की अवधारणा नैयायिक को कथमपि स्वीकार नहीं है। इसीलिए न्याय-दर्शन के अन्तर्गत आत्मा में नित्य सुख की अभिव्यक्ति के सिद्धान्त का पूर्णतया खण्डन किया गया है[2]। यहाँ यह वक्तव्य है, कि जब नैयायिक मोक्ष को, जैसा कि पहले भी संकेत किया गया है, 'क्षेमप्राप्तिः' (न्या. भा. १-१-२२) स्वरूप मानता ही है, तो उसे सुखस्वरूप मानने में क्यों आपत्ति है ? इस विषय में नैयायिक का तर्क है, कि सुख तो एक प्रकार का रागातिशय है, जो बन्धन का ही रूप है। अतः मोक्ष को सुखस्वरूप नहीं कहा जा सकता। अत एव वेदान्त में मोक्ष को नित्य एवं सच्चिदानन्द स्वरूप कहा गया है। वस्तुतः वेदान्त सिद्धान्तानुगत मोक्ष विशुद्ध एवं शाश्वत आनन्दस्वरूप है, जिसका प्रमाण स्वानुभूति ही है। अतः सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त[3] का मुक्तावस्था को आनन्दावस्था न स्वीकार करना समुचित नहीं है।

इतर सभी दर्शनों के समान न्याय भी मिथ्याज्ञानादि को मोक्ष में बाधक मानते हुए तत्त्वज्ञान को ही मोक्षप्राप्ति में हेतु मानता है[4]। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का कथन है, कि मिथ्याज्ञान से अनुकूल विषय में राग तथा प्रतिकूल विषय में द्वेष होता है। न्यायदर्शन में धर्माधर्ममूला प्रवृत्ति को पुनर्जन्म का कारण बतलाया गया है। **प्रवृत्ति** दो प्रकार की है, **शुभा**[5] (पुण्यात्मिका) एवं **अशुभा** (पापात्मिका)। शरीर से चेष्टापूर्वक दान, निरीह प्राणियों की रक्षा, परिचर्या (तीर्थाटन अथवा गुरुसेवा), वाणी से चेष्टा करते

---

१. स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः॥
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम्॥ न्ययामञ्जरी, प.७७।

२. नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षे व्यज्यते, तेनाभिव्यक्तेनात्यन्तं विमुक्तः सुखीभवति, इति केचिन्मन्यन्ते तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः। न प्रत्यक्षं नानुमानं नागमो वा विद्यते नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यत इति। न्या.भा. १-१-२२।

३. दासगुप्त के मत के लिए देखें, History of Indian Philosophy. Vol. 1. P. 366.

४. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। न्यायसूत्र, १-१-२।

५. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। न्या.सू. १११।

हुए, सत्य हितकारक एवं प्रिय वचन बोलना तथा स्वाध्याय में रत रहना तथा मनसा प्राणिदया, अस्पृहा एवं शास्त्र तथा गुरूपदिष्ट वाक्यों में श्रद्धा रखना, **शुभा प्रवृत्ति** है। **अशुभा** (पापात्मिका) प्रवृत्ति वह है, जिसमें मनुष्य दोषों के वशीभूत होकर शरीर से चेष्टा करता हुआ, हिंसा, स्तेय एवं परदारागमन आदि का आचरण करता है तथा मन से चेष्टा करते हुए परद्रोह, परद्रव्य की इच्छा तथा नास्तिक्य का आचरण करता है[1]।

पुनर्जन्म एवं बन्धन से मुक्ति की साधनता के सम्बन्ध में, यद्यपि न्यायदर्शन तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष लाभ के सिद्धान्त को स्वीकार करता है (तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः), फिर भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार, इन चार प्रतिपत्तियों को भी न्याय में स्वीकार किया गया है।

न्यायदर्शन के अन्तर्गत मोक्ष लाभ के प्रयोजन से यम-नियम के द्वारा आत्मसंस्कार की बात कही गई है। **यम** सभी आश्रमों में समान रूप से धर्म का साधन है, तथा नियम विशिष्ट• रूप से धर्म का साधन है। यम के अन्तर्गत, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आते हैं, तथा नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान का परिगणन होता है। इस प्रकार यम, एवं नियमपालन के द्वारा अधर्म का ह्रास एवं धर्म का उपचय होने पर आत्मा का संस्कार एवं शुद्धि होती है। न्यायदर्शन में अध्यात्मविधि का योगशास्त्र से ग्रहण करने का विधान है। योगशास्त्र में तप, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान तथा धारणा से अध्यात्मविधि का ग्रहण बतलाया गया है। इसके साथ मुमुक्षु के लिए, इन्द्रियों द्वारा भोग्य विषयों से निवृत्ति का अभ्यास, रागद्वेष के क्षय के लिए कहा गया है। न्यायदर्शन में, मुमुक्षु के लिए, एकाकी जीवन का यापन करना, आहार में संयम तथा एक स्थान पर अधिक काल तक न रहने का विधान है[2]। इसके अतिरिक्त मुमुक्षु को विद्याध्ययन, विद्याभ्यास तथा विद्यामर्मज्ञों के साथ संवाद भी करना चाहिए[3]।

इस प्रकार न्यायदर्शन के अन्तर्गत आचार पक्ष, मोक्षोपायों एवं मोक्ष का निरूपण स्पष्ट रूप से उपलब्ध है। अतः न्यायदर्शन मात्र प्रमाणविद्या न होकर मोक्षविद्या भी है।

निष्कर्षसूत्र

न्यायविषयक अनुशीलन से इस दर्शन का व्यापक महत्त्व स्पष्ट झलकता है। भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा में न्यायदृष्टि एक ऐसी विचार शृंखला है, जिसका सम्बन्ध, प्रमाणविषयक चिन्तन होने के कारण, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा (वेदान्त) प्रभृति सभी भारतीय दार्शनिक

---

१. अथ शुभा शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति। सेयं धर्माय। न्या.भा. १-१-२।

२. दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृत-परुष-सूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति। सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय। न्या.भा. १-१-२।

३. विशेष देखिये, न्यायभाष्य, ४-२-४६।

४. ज्ञानग्रहणाभ्यासः तद्विद्यैश्च सह संवादः। न्यायसूत्र, ४-२-४७।

विचारधाराओं से अनिवार्यतः है, क्योंकि सभी दर्शनों में न्यूनाधिक रूप में प्रमाणचिन्तन देखने को मिलता है। प्रमाणविषयक चिन्तन में भी अनुमान का **हेत्वाभाससहित** सूक्ष्म निरूपण एवं परतःप्रामाण्य का चिन्तन न्यायदर्शन की अप्रतिम विशेषता है। इस प्रकार यह कहना होगा, कि न्यायदर्शन की प्रमाणचिन्तन-शृंखला का इतरदार्शनिकदृष्टिशृंखलाओं के दृढ़ीकरण में भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। अभी किए गए परिशीलन से, यह पक्ष भी उजागर हुआ है, कि न्यायदर्शन एक प्रमाणदर्शन अथवा तर्कपद्धति यद्वा तर्कविद्या ही नहीं है, अपितु, इसमें मोक्ष एवं मोक्षोपायपरक चिन्तन होने के कारण यह अध्यात्मविद्या भी है। अत एव न्यायदर्शन समुचित रूप से भारतीय दर्शन की कोटि में परिगणित होने का अधिकारी है। परन्तु यह भी अंगीकार्य होना चाहिए, कि परमार्थतत्त्व, आध्यात्मिक अनुभव के स्वरूप का निरूपण न्यायदर्शन में यत्किञ्चित् ही है, जिसकी कुछ पूर्ति सांख्य में, किन्तु पूर्ण परिणति वेदान्त में ही हुई है। भारतवर्ष के अध्यात्मप्रधान होने के कारण (अध्यात्मविद्या विद्यानाम्, गीता, १०/३२) आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव में, कोई भी चिन्तनदृष्टि मात्र तार्किक दृष्टि ही होगी, समूचे रूप से दर्शन कहलाने की अधिकारिणी कदापि नहीं। पश्चिम की बात दूसरी है, जहाँ के दार्शनिक सम्प्रदायों में तर्क (Logic) की शतप्रतिशत प्रधानता है। यह भी मानना होगा कि न्यायदर्शन की प्रमुख चिन्तनधारा भारतीय दर्शन की समन्वित चिन्तनधारा के लिए एक आवश्यक अपेक्षा थी, जैसा कि, औपनिषददर्शन में भी अनुभव किया जाता है। वस्तुतः भारतीय दार्शनिक चिन्तन की यह विशेषता है, कि उसकी विभिन्न दार्शनिक चिन्तायें एक-दूसरे की पूरक हैं, विच्छृंखलकारिणी कदापि नहीं, क्योंकि अपेक्षा के अनुसार ही भारतवर्ष में प्रत्येक दर्शनपद्धति का प्रादुर्भाव हुआ है। अत एव न्यायदर्शन ही नहीं, समस्त भारतीय दर्शन एक समन्वयवादी गहन चिन्तन है।

न्यायदर्शन के अन्तर्गत परमाणुकारणवाद का जो सूक्ष्म निरूपण किया गया है, वह वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक होने के कारण प्रशस्त है। न्याय, परमाणुओं में अदृष्ट संयोग मानता है, तथा ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण मानते हुए, स्रष्टा स्वीकार करता है। किन्तु निमित्तकारणरूप स्रष्टा ईश्वर का परमाणुरूप उपादानों की सहायता से सृष्टि का सिद्धान्त, जहाँ सृष्टि प्रक्रिया की वैज्ञानिक यथार्थता का प्रतिपादन करता है, वहाँ, ईश्वर के स्वातन्त्र्य एवं सर्वशक्तिमत्व पक्ष में दौर्बल्य भी लाता है। वेदान्त में ईश्वर को अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानने से, उसके सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्वरूप एवं सर्वशक्तिमत्ता की रक्षा हो गई है। किन्तु सच बात यह है, कि वेदान्त में भी त्रिगुणात्मिका माया को उपादान के रूप में स्वीकार किया गया है। इसीलिए तो, वेदान्त का मायावी **ईश्वर** जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है, जैसा कि पहले भी निर्देश किया जा चुका है।

न्यायदर्शन की परिकल्पना है, कि **जगत्** की एक सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता है, तथा आत्मा के साथ-साथ परमाणु, मन, आकाश, काल तथा दिक् भी नित्य हैं। न्यायदर्शन की यह नित्यत्वकल्पना सर्वथा असंगत एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से अनपेक्षित है, क्योंकि नित्य वस्तु एक ही उपलभ्यमान होनी चाहिए, जिससे कि जिज्ञासु साधक उसे प्राप्त कर शान्ति प्राप्त कर सके। अनेक नित्य मानने पर यह असंभव है। न्याय ने अपने सैद्धान्तिक कलेवर के आनुकूल्य की दृष्टि से परमाण्वादि के नित्यत्व की कल्पना की है। इसी प्रकार, न्याय की आत्मतत्त्व में सुखाभाव एवं आनन्दाभाव की कल्पना भी निरर्थक ही कही जाएगी। सभी भारतीय दर्शनों का लक्ष्य सुख-शान्ति होने के कारण, इसके अभाव में न्यायदर्शन की सोद्देश्यता ही क्या रह जाएगी। फिर, न्यायदर्शन में दुःखाभाव को तो स्वीकार किया ही गया है। दुःखाभाव क्या सुखपरिणामी नहीं है। अतः न्यायप्रक्रिया को सुख-पर्यवसायी स्वीकार करना क्यों

अनभीष्ट है। दार्शनिक महाकवि श्रीहर्ष ने तो गोतम की सुखहीन दर्शन की कल्पना से खिन्न होकर आचार्य गोतम को सही अर्थ में गोतम अर्थात् ऊँचे दर्जे का बैल तक कह दिया है, जो लक्षणा से गौर्वाहीकः (वाहीक बैल है) के समान आचार्य गोतम को महामूर्ख सिद्ध करता है[1]। इसी प्रकार जैसा कि सर्वसिद्धान्तसंग्रह के अन्तर्गत कहा गया है, सरस भक्ति के उपासकों वैष्णवभक्तों को वृन्दावन में शृगाल बनकर विचरण करना स्वीकार है, किन्तु न्यायवैशेषिक द्वारा प्रतिपादित सुखलेश से वर्जित मुक्ति को अंगीकार करना कदापि अभिलषित नहीं होगा[2]। कदाचित् ये अपमानजनक व्यंग्य किसी ने यदि गोतम के सामने किए होते तो वे अवश्य ही मानहानि का प्रश्न लेकर न्यायालय में जाते।

अन्ततः यह स्वीकार करना होगा कि न्यायदर्शन के गोतम प्रभृति आचार्यों ने वेदान्त आदि इतर दर्शन-पद्धतियों के समान तत्त्वज्ञान, मोक्ष एवं मुक्ति के उपायों पर विशेष बल न देकर, छल, वितण्डा, एवं जाति आदि के विवेचन को प्रधानता देकर, तर्कपद्धति पर ही विशेष ध्यान दिया है, जो दार्शनिकता की दृष्टि से समुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दर्शन तो तत्त्वज्ञान का साधन है–'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्'। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने नैयायिकों की उक्त तर्कपद्धति का वैयर्थ्य सिद्ध किया है[3]। कतिपय समालोचकों ने न्याय की उक्त तर्कप्रणाली की, लीपापोती करते हुए, समर्थन किया है, किन्तु यह स्वीकार करना चाहिए, कि न्यायदर्शन के गोतमप्रभृति आचार्यों की विवेचन दृष्टि में प्रधान (तत्त्वज्ञान) गौण एवं गौण (तर्कपद्धति) प्रधान हो गई है।' परञ्च यह निःसन्दिग्ध है, कि नैयायिक की सूक्ष्म विवेचनात्मक एवं वैज्ञानिक तर्कपद्धति की देन भारतवर्ष ही नहीं, अपितु समस्त विश्व के लिए उपादेय एवं महनीय सिद्ध हुई है।

●

१. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः।। नैषधीयचरित, १७/७५।

२. वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्।। सर्वसिद्धान्तसंग्रह, पृ० २।

३. व्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, १०।

षष्ठ अध्याय

वैशेषिकदर्शन

वैशेषिक एवं प्राचीन (जैमिनिपूर्व) पूर्वमीमांसा

ऐसा प्रतीत होता है, कि वैशेषिकदर्शन का बहुत कुछ अंश जैमिनिपूर्व, पूर्वमीमांसा का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि अकस्मात् इस तथ्य की प्रतीति नहीं होती, अपितु सूक्ष्म पर्यवेक्षण से इस तथ्य की प्रतीति सम्भव है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं :

१. वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत सांख्य एवं मीमांसा के अतिरिक्त किसी अन्य दर्शन का सन्दर्भ देखने में नहीं आता। यहाँ तक, कि आत्मा के विवेचन के प्रसंग में बौद्धों के विचार का भी संकेत नहीं है। इससे यह निष्कर्ष ग्राह्य है, कि वैशेषिक के आचार्य, बौद्धों के अनात्मवाद आदि सिद्धान्तों से अपरिचित थे। आत्मा की सिद्धि वैशेषिकों ने 'अहन्ता' के आधार पर सिद्ध की थी।

२. वैशेषिक दर्शन में मीमांसा के जिन सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है, वे जैमिनि के सूत्रों का किसी प्रकार का संकेत नहीं करते।

३. जिस पद्धति से न्याय में अनुमान का निरूपण किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है, कि वह पहले नहीं थी। उदाहरणार्थ, पूर्ववत् एवं शेषवत् अनुमान के भेद पूर्व से अज्ञात थे।

४. वैशेषिक के अन्तर्गत 'काल' का वर्णन मूल कारण के रूप में किया गया है। डॉ. दास-गुप्त का कथन है, कि वैशेषिक के अतिरिक्त दार्शनिक सम्प्रदाय में काल का कारण के रूप में समर्थन नहीं मिलता। हाँ, श्वेताश्वतर उपनिषद् में अवश्य इसका संकेत है[1]। डॉ. दासगुप्त लिखते हैं-

"but in none of the systems that we have can we trace any upholding of this ancient view.[2]

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है, कि गौडपाद ने गौडपादकारिका के अन्तर्गत काल का मूल कारण के रूप में निर्देश करते हुए लिखा है-"कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते

१. श्वे. उ. ८।८।२।

२. S.N. Dasgupta, A History of Indian Philosophy vol. 1, p. 282.

तत्त्वचिन्तकाः", अतः दासगुप्त का उपर्युक्त कथन निराधार है।

५. वैशेषिक एवं मीमांसा के सम्बन्ध में यह कथन अपेक्षित है, कि वैशेषिक एवं मीमांसा दोनों के ही अन्तर्गत धर्म की परिभाषा, "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" से ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। किन्तु वैशेषिक का प्रमुख प्रतिपाद्य धर्म न होकर पदार्थ का विवेचन है। वैशेषिक, वैदिक प्रमाण पर विशेष बल देता है। वैशेषिक का मानना है, कि दृष्ट (अनुभव) के द्वारा द्रव्य, गुण एवं कर्म से सम्पन्न भौतिक पदार्थों की व्याख्या सम्भव है। किन्तु जिन विषयों की व्याख्या दृष्ट (अनुभव) से सम्भव नहीं है, उनकी अदृष्ट के द्वारा सम्भव है। अदृष्ट ही व्यक्ति के कर्मफल की योजना करता है, एवं वही परमाणुसंयोजना का कर्त्ता है। इस प्रकार ईश्वर का कार्य वैशेषिक अदृष्ट की कल्पना से सम्पन्न करता है, जहाँ तक प्राचीन पूर्व-मीमांसा का प्रश्न है, वहाँ भी ईश्वर का संकेत नहीं है। किन्तु परवर्ती काल में मीमांसकों, जैसे आपदेव, लौगाक्षिभास्कर एवं प्रभाकर- विजयरचयिता आदि ने ईश्वर को स्वीकार करने की आवश्यकता समझी है।

६. प्राचीन पूर्वमीमांसा एवं वैशेषिक, दोनों ही अनीश्वरवादी थे, एवं दोनों लौकिक एवं अलौकिक सिद्धि का आधार वैदिक धर्म को स्वीकार करते थे, अतः दोनों में कोई विरोध नहीं था।

७. यद्यपि प्राचीन पूर्वमीमांसक एवं वैशेषिक दोनों ही अनीश्वरवादी नास्तिक थे, किन्तु वैशेषिक के अन्तर्गत आत्मवाद का विकास रोचक है। न्यायदर्शन में आत्मा सुख-दुःखाद्यनुभव का कर्त्ता है। यही, पारम्परिक वैशेषिक दृष्टिकोण भी है। वैशेषिक में आत्मा के अस्तित्व का अनुमान आत्मा की क्रिया एवं सुखाद्यनुभव के तर्क के आधार पर किया गया है। किन्तु इसके पश्चात् कणाद ने उक्त अनुमान का अनौचित्य सिद्ध करते हुए, आत्मा में कर्त्तृत्व न मानकर, शरीर में कर्त्तृत्व स्वीकार करने की बात कही है[१]। पुनश्च, वैशेषिक (वै. सू. ३।२।८) के अन्तर्गत आत्मा की सिद्धि आगमप्रामाण्य के आधार पर की गई है। किन्तु वैशेषिक आत्मा की सिद्धि अहमनुभव (I-sense) के आधार पर करता है[२]।

पृष्ठभूमि

हम प्रारम्भ से ही कहते आए हैं, कि प्रत्येक दार्शनिक पद्धति का प्रादुर्भाव अपेक्षा के अनुसार हुआ है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार कह सकते हैं, कि जब एक दार्शनिक सम्प्रदाय के समक्ष कुछ प्रश्न-चिह्न लग जाते हैं, तो स्वभावतः दूसरे सम्प्रदाय के द्वारा उन समस्याओं के समाधान प्रस्तुत होते हैं। यही बात वैशेषिक के सम्बन्ध में भी चरितार्थ है। न्यायदर्शन के अन्तर्गत परमत के दूषण की शास्त्रार्थ-पद्धति एवं तर्कप्रणाली तो समृद्ध थी, किन्तु पदार्थविश्लेषण की न्यूनता का उसमें अनुभव किया जा रहा

१. वै. सू. ३।२।४।
२. वै. सू. ३।२।६-७।

था। इस प्रकार भौतिक पदार्थविश्लेषण वैशेषिक दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य बन गया। वैसे भी, ये दोनों दर्शन–न्याय-वैशेषिक, एक दूसरे के पूरक हैं। यह उल्लेखनीय है, कि वैशेषिक दर्शन की मूल विचारदृष्टि भौतिकशास्त्र एवं अध्यात्मशास्त्रपरक, दोनों ही है। वैशेषिक के भौतिकशास्त्रीय पक्ष के अन्तर्गत यदि पदार्थविश्लेषण एवं सूक्ष्म परमाणुप्रक्रिया निरूपित हुई है, तो कणाद के वैशेषिकसूत्र के प्रथम सूत्र–"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि होती है, वह धर्म है।) से ही आध्यात्मिक दृष्टि का प्रारम्भ हो जाता है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, कदाचित् कणाद भी इस तथ्य से परिचित थे कि आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव में, किसी भी दर्शन की सैद्धान्तिक पूर्णता सम्भव नहीं है। यह भी ध्यान देने की बात है, कि वैशेषिकसूत्र के अन्तर्गत उपर्युक्त प्रथम सूत्र में तो आध्यात्मिक दृष्टि का स्पष्ट संकेत है ही, इसके अतिरिक्त वैशेषिक सूत्र में कर्म के सम्बन्ध में कहा गया है, कि वैदिक कर्म अज्ञात रूप में मनुष्य की सुख-समृद्धि में सहायक होते हैं। वैशेषिक की मूलदृष्टि के अनुसार वैदिक कर्मों के दृष्ट तथा अदृष्ट रूप से दो प्रकार के फल होते हैं। कुछ फलों का लाभ तत्काल होता है, ये दृष्ट फल हैं। किन्तु कुछ कर्मों का फल अदृष्ट रूप से मिलता है। वैशेषिक का तात्पर्य है कि द्रव्य, गुण आदि भौतिक क्रियाओं से धर्म के अनेक अंगों की व्याख्या की जा सकती है तथा, उससे समस्त घटनाओं के आदि कारण को समझा जा सकता है। किन्तु जो व्यापार साधारणतया बुद्धिगम्य नहीं हैं, वे धर्म के अदृष्ट फल हैं। कुछ व्यापार इन्द्रियातीत हैं, जैसे सुई का चुम्बक के प्रति आकृष्ट होना (वै.सू. ५-१-१५), वनस्पति में जल का संचार (वै.सू.५-२-७), अणुओं की वह गति जिससे अनेक संयोगों के कारण द्रव्य बनते हैं (वै. सू. २.१३, ४-२-७) तथा बुद्धि की प्रारम्भिक गति, ये सब अदृष्ट फल हैं। वैशेषिक दर्शन में दृष्ट एवं अदृष्ट की मूल पृष्ठभूमि देखने को मिलती है। वैशेषिक दृष्ट तथा अदृष्ट का स्वरूप स्पष्ट करते हुए, मानता है, कि जो कर्म सांसारिक अनुभव के आधार पर समझे जा सकते हैं तथा जिनकी व्याख्या ज्ञात तथ्यों एवं घटनाक्रम के सादृश्य से की जा सकती है, वे 'दृष्ट' हैं। इसके विपरीत जो कर्म इन्द्रियातीत हैं, तथा जहाँ व्यावहारिक बुद्धि की गति नहीं है, वे 'अदृष्ट' हैं। अदृष्ट के नाश होने से मोक्ष का लाभ होता है, क्योंकि 'अदृष्ट' नष्ट होने से ही समस्त संसर्गों एवं पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है। जहाँ तक, अदृष्ट के हेतु का प्रश्न है, वैशेषिक, वैदिक कृत्यों, जैसे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, भजन, दान एवं मन्त्रपाठ (वै.सू. ५.२.२) आदि को अदृष्ट का हेतु मानता है। वैशेषिक ईश्वर को न मानकर अदृष्ट से ही ईश्वर का काम चलाता है। **आत्मा** के अस्तित्व के सम्बन्ध में वैशेषिक की व्यावहारिक युक्ति यह है, कि व्यक्ति प्रत्येक क्षण अहन्ता का अनुभव करता है, और यह अहमनुभव प्रत्यक्ष में शरीर से भिन्न स्थिति का है। इस प्रकार अहमनुभव ही शरीरस्थ आत्मा का स्वरूप है। इसके अतिरिक्त अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि होती ही है। वैशेषिक के उपर्युक्त **कर्म, धर्म,** अध्यात्म, अदृष्ट, ईश्वर एवं आत्मतत्त्वविषयक दृष्टिकोण से यह निष्कर्ष ग्रहण करना उचित ही होगा, कि वैशेषिक के उक्त दृष्टिकोण के मूल में धर्मकर्मादि की वैदिक दृष्टि ही प्रधान थी। वैशेषिकदर्शन भौतिकशास्त्र एवं अध्यात्मशास्त्र दोनों से ही समृद्ध है। अध्यात्म की वैदिक पृष्ठभूमि की संभावना का संकेत ऊपर किया जा चुका है। यह निर्देश्य है कि वैशेषिक भौतिकशास्त्र के प्रधान सिद्धान्त अणुवाद के निरूपण के आधार पर, कुछ विद्वानों का यह मानना है कि वैशेषिकदर्शन जैनदर्शन की ही एक शाखा है। इस सम्बन्ध में

---

१. S.B.E. Vol. XXXXV. P. 38

विद्वानों का तर्क है कि जैनों का एक परवर्ती ग्रन्थ 'आवश्यक' रोहगुणा (१८ई.) को वैशेषिक दर्शन का रचयिता स्वीकार करता है।

यह उल्लेखनीय है, कि जैन सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित अल्प वैशेषिकशास्त्र कणाद की वैशेषिक योजना के अनुकूल ही था। किन्तु फिर भी, तथाकथित जैन सम्प्रदाय एवं वैशेषिक की परमाणुविषयक प्रकल्पना में पर्याप्त मतभेद होने के कारण, वैशेषिक को जैनधर्म की शाखा कहना समुचित नहीं है। जहाँ तक, जैनदर्शन एवं वैशेषिक के मतभेद के स्थलों की बात है, जैन मत में गुणों की दृष्टि से परमाणु एक समान हैं। प्रत्येक **परमाणु** के अन्तर्गत, रंग, रस, गन्ध तथा स्पर्श एवं शब्द की उत्पत्ति की सामर्थ्य वर्तमान है, यद्यपि परमाणु निःशब्द हैं। इसके विपरीत वैशेषिक के मतानुसार गुणों की दृष्टि से परमाणुओं में मतभेद द्रष्टव्य है। ये परमाणु वायु, जल, अग्नि तथा पृथ्वी जिसके भी परमाणु हों, उसी के अनुसार एक, दो, तीन या चार सामान्य गुण वाले होते हैं। किन्तु शब्द के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार परमाणुवाद की प्रकल्पना, द्रव्यवर्गीकरण तथा ज्ञान के दो साधनों का मानना, इस मान्यता को पुष्ट करता है कि वैशेषिकदर्शन की रचना बुद्ध तथा महावीर के काल में षष्ठ-पंचम शताब्दी ई. पू. में हुई थी[1]। वस्तुतः वैशेषिकदर्शन की मूल दृष्टि की व्यवस्थित व्याख्या कणाद के द्वारा ही सम्पन्न हुई थी।

वैशेषिक नाम क्यों पड़ा

अनेक सामान्यों में एक 'विशेष' का अनुसन्धान होने के कारण ही इस दर्शन का नाम वैशेषिक प्रख्यात हुआ है। एतदनुसार विश्व के पृथक् पृथक् जीवात्माओं एवं परमाणुओं में यथार्थतः विशिष्टत्व एवं पार्थक्य है। इस प्रकार वैशेषिकदर्शन 'विशिष्टत्व' एवं 'पार्थक्य' का दर्शन है। अत एव वैशेषिकदर्शन में पदार्थों का विश्लेषण है, संश्लेषण नहीं। इसीलिए वैशेषिक एक वैज्ञानिक दर्शन है, क्योंकि विज्ञान में विश्लेषण होता है, संश्लेषण नहीं। यद्यपि वैशेषिक में, इतर दर्शनों की तरह सामान्यतः समन्वयवादिता भी है। समन्वय तो प्रत्येक दर्शन का जैसे लक्षण ही है। चिस्तान (५४६-६२२ ई.) तथा क्वहेइची (६२३-६६२ ई.) द्वारा अनुसन्धान की गई एक परम्परा के अनुसार, अन्य दर्शनों विशेषकर सांख्यदर्शन से विशिष्ट होने के कारण, इस दर्शन का नाम **'वैशेषिक'** पड़ा। निम्नलिखित श्लोक के अनुसार, द्वित्वोत्पत्ति, पाकज एवं विभागज विभाग के सम्वन्ध में वैशेषिक का अपना विशेष मत है, अथवा यों कहिए कि वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने ही, इन विषयों का विशेष निरूपण किया है। अत एव इस दर्शन का नाम वैशेषिक प्रख्यात हुआ है–

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ।।

वैशेषिकदर्शन काणाद एवं **औलूक** दर्शन के नाम से भी प्रसिद्ध है। वैशेषिक सूत्रों के लेखक कणाद होने के कारण, इस दर्शन का काणाद नाम उचित ही है। किन्तु इसे औलूक दर्शन की संज्ञा देने के पीछे, कई तर्क हैं। एक तर्क यह है कि उलूक का, तम अर्थात् अन्धकार से विशेष सम्बन्ध है,

---

१. Ui. H. Vaisesika philosophy. p. 33.

क्योंकि उलूक को रात्रि के गाढान्धकार में भी दिखाई देता है। इसी प्रकार वैशेषिकदर्शन में भी, तम द्रव्य को प्रकाश का अभाव, बतलाकर उसका प्रतिपादन किया गया है[1]। इस आशय की पुष्टि नैषधीयचरित के रचयिता श्रीहर्ष के निम्नोद्धृत पद्य से भी होती है–

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तपस्तत्त्वनिरूपणाय ।।

सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने, इस सम्बन्ध में अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है, कि 'औलूक्य' (उलूक का बच्चा) शब्द का प्रयोग, कणाद के लिए होता था, इसीलिए कणाद द्वारा प्रतिपादित दर्शन भी औलूक्य अथवा औलूक नाम से प्रसिद्ध हुआ। मेरे विचार से वैशेषिक में तम (अन्धकार) द्रव्य का प्रतिपादन होने के कारण तथा उलूक का अन्धकार से विशेष सम्बन्ध होने के कारण ही, वैशेषिकदर्शन औलूक अथवा औलूक्यदर्शन के नाम से प्रख्यात हुआ होगा।

न्याय एवं वैशेषिक–प्रारम्भिक न्याय एवं वैशेषिक में अन्तर स्पष्ट न होने के कारण ही, न्याय एवं वैशेषिक का साथ-साथ व्यवहार होता है। न्यायदर्शन के आचार्य गौतम (१५० ई.पू.) एवं वैशेषिक-दर्शन के आचार्य कणाद (५०० ई.पू.) की पूर्ववर्तिता एवं परवर्त्तिता के कारण ही न्यायवैशेषिक में, न्याय शब्द का प्रयोग पहले और वैशेषिक शब्द का प्रयोग पश्चात् हुआ है। यह कहना होगा, कि न्याय एवं वैशेषिक के सिद्धान्तों का मतभेद, इनके भाष्यकारों एवं टीकाकारों के द्वारा उत्पन्न किया गया था। एक बात और है, यदि देखा जाय, तो न्यायदर्शन के अन्तर्गत प्रमाणशास्त्र का विशेष चित्रण एवं विश्लेषण होने के कारण, न्यायदर्शन साधनपरक है, किन्तु वैशेषिक के अन्तर्गत प्रमेयों का विशेष निरूपण होने के कारण, साध्यपरक दर्शन तो वैशेषिक ही है। इस प्रकार न्याय की अपेक्षा वैशेषिक का अधिक महत्त्व आँका जा सकता है।

यहाँ न्याय एवं वैशेषिक की समताओं एवं विषमताओं के सम्बन्ध में विचार करना उपयुक्त होगा। वैशेषिकदर्शन के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा, इन्द्रिय एवं विषयों के संयोग से होता है[2]। वैशेषिक का यह भी मानना है, कि रूपविशेष का 'संस्कार' में ही प्रत्यक्ष हो सकता है। किन्तु न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही मन के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। दोनों का ही यह मानना है, कि विभिन्न वस्तुओं का बोध एक काल में संभव नहीं है, और न वस्तुबोधार्थ तत्काल प्रयत्न ही संभव है। अतः आत्मा के अतिरिक्त मन का अस्तित्व स्वीकार करना स्वाभाविक है। न्यायसूत्र प्रत्यक्ष प्रमाण की शास्त्रीय व्याख्या तो करते हैं, किन्तु वैशेषिक के समान 'संस्कार' अथवा 'उद्भूतरूपत्व' का उल्लेख नहीं करते। इसके अतिरिक्त वैशेषिक में न्याय के समान, पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट रूप से अनुमान प्रमाण के भेद नहीं मिलते। यहाँ, यह उल्लेखनीय है, कि उत्तरन्याय में 'व्याप्ति' का विशेष महत्त्व है, किन्तु हेतु तथा साध्य की सहव्याप्ति का निरूपण न न्याय में है, और न वैशेषिकदर्शन में। यहाँ यह वक्तव्य है कि वैशेषिकदर्शन में, हेतु एवं साध्य की सहव्याप्ति के सिद्धान्त

१. आवश्यकतेजोऽभावेनोपपत्तौ (तमसो) द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। मुक्तावली, १/३।
२. देखिए, वै.सू. ३ १ १८ तथा ३ ११ १।

को कथञ्चित् स्वीकार तो कर लिया गया है, किन्तु वहाँ भी व्याप्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है[1]। इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र 'शब्द' को तो प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं करते, किन्तु वेदों की प्रामाणिकता को मानते हैं। परन्तु न्यायदर्शन में शब्दप्रमाण को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त न्याय में **'उपमान'** का जो महत्त्व है, उसका वैशेषिक में अभाव है। इसी प्रकार न्याय में, अर्थापत्ति, सम्भव तथा ऐतिह्य का जो निरूपण मिलता है, वह भी वैशेषिक में सर्वथा अनुपलब्ध ही है। 'अभाव' के प्रत्यक्ष (जैसे घटाभाववद्भूतल) के विषय में न्याय एवं वैशेषिक की समान दृष्टि है, किन्तु दोनों की प्रक्रिया में भेद है। वैशेषिक के अनुसार जिस वस्तु की स्थिति के अभाव की ओर संकेत है, उसकी अपेक्षा से ही अभाव का प्रत्यक्ष होता है[2]। किन्तु इसके विपरीत न्यायदर्शन के अनुरूप, अभाव का प्रत्यक्ष, किसी वस्तु के अस्तित्व के अभाव से जन्य है। इसके विपरीत वैशेषिकदर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष तथा समवाय की जो विशेष व्याख्या दी गई है, उसका न्याय में अभाव है। न्यायसूत्र इन्द्रियचेतना को द्रव्य का रूप देते हैं, परन्तु वैशेषिक में ऐसा नहीं है। जैसा कि न्यायदर्शन के निरूपण के अवसर पर कहा जा चुका है, इसमें ईश्वरसिद्धि का प्रयास किया गया है। वैसे, इस सम्बन्ध में न्यायकुसुमाञ्जलिकार उदयन का उदाहरण दिया जा सकता है। परन्तु इसके विपरीत वैशेषिक में ईश्वरसिद्धि का प्रयास नहीं देखने में आता। यहाँ तो **'अदृष्ट'** को ही परमाणुसंयोग का कारण स्वीकार किया गया है। वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत आत्मा प्रत्यक्ष रूप से जिस चैतन्य को ग्रहण करता है, वह आत्म चेतना ही **संज्ञान** है। किन्तु न्यायदर्शन में आत्मा के अस्तित्वविषयक कारणों में, इन्द्रियचेतनात्मक संज्ञान की एकरूपता एवं अभिज्ञान की प्रक्रिया का निर्देश दृष्टिगोचर होता है। यह भी उल्लेखनीय है, कि न्याय एवं वैशेषिक, दोनों ही अणुओं के अस्तित्व को मानते हैं, किन्तु उत्तरकालिक न्यायवैशेषिक में की गई अणु के स्वरूप की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है। जहाँ तक मोक्ष की बात है, वैशेषिक में देहबन्धन से मुक्ति (निःश्रेयस) यदि मोक्ष है, तो न्याय में इसके स्थान पर अपवर्ग को स्वीकार किया है, जिसका अर्थ दुःखों से मुक्ति है।

उत्तरकालिक न्याय तथा वैशेषिक में संख्या की कल्पना एवं अणुओं के रंग परिवर्तन आदि के सम्बन्ध में विशेष मतभेद पाया जाता है। इस सम्बन्ध में वैशेषिक का मत है, कि संख्या के प्रत्यक्ष-बोध में, पहले इन्द्रियों के वस्तुविशेष से सम्पर्क होते हैं। इसके पश्चात् वस्तु के एकत्व, एवं अपेक्षाबुद्धि से द्वैत एवं त्रैत का बोध होता है। इसी प्रकार **'पीलुपाक'** सिद्धान्त के अनुसार जिसका अर्थ अग्नि-संयोग के द्वारा पृथ्वी के रूप में परिवर्तन आना है, वैशेषिक का मत है, कि अग्निसंयोग के कारण, पृथ्वी के परमाणुओं के गुणों में अन्तर आ जाता है। किन्तु इस सम्बन्ध में न्याय का मत है, कि यह अन्तर अणुओं में आता है[3]।

वैशेषिक न्याय से पूर्ववर्ती है

वैशेषिकदर्शन न्यायदर्शन से पूर्ववर्ती है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख कारण प्रस्तुत किए जा सकते हैं–

(१) न्यायदर्शन के अन्तर्गत 'अवयवी' तथा भूतों के नित्यानित्यत्व के सम्बन्ध में बौद्ध मत

---

१. प्रसिद्धिपूर्वकसत्त्वाद् अपदेशस्य। वै.सू. ३-१-१४।

२. वै.सू. ९.१-१-१०।

३. Garbe, The Philosophy of Ancient India, P. 20.

का जो खंडन मिलता है, वह वैशेषिक में अप्राप्त है। इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वैशेषिक न्याय से पूर्ववर्त्ती है।

(२) न्यायदर्शन के अन्तर्गत अर्थापत्ति आदि का खंडन किया गया है, किन्तु वैशेषिक सूत्रों में, यह खंडन उपलब्ध नहीं होता।

(३) जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, न्याय में अनुमान की जो व्याख्या एवं पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट भेद मिलते हैं, वे वैशेषिक में अप्राप्त हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वैशेषिक सूत्र न्यायपूर्ववर्त्ती है। क्योंकि यदि वैशेषिक सूत्र न्यायपरवर्त्ती होते, तो उनमें अनुमान-विषयक विवरण अवश्य उपलब्ध होता।

(४) वैशेषिक में, 'अनपदेश' के आधार पर हेत्वाभास का निरूपण हुआ है। किन्तु न्याय में हेत्वाभास का जो विशदीकृत विवेचन मिलता है, उसका वैशेषिक में अभाव है, इससे भी वैशेषिक का न्यायपूर्ववर्त्ती होना ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह सिद्ध होता है, कि वैशेषिकसूत्र, न्यायसूत्र के पूर्ववर्त्ती हैं।

वैशेषिक सूत्रों का रचना काल

वैशेषिक सूत्रों के रचनाकाल के सम्बन्ध में जो विशेष मत मिलते हैं, वे इस प्रकार हैं–

(१) जैसा कि, अभी स्पष्ट किया गया है, वैशेषिक सूत्रों की रचना न्यायसूत्रों से पूर्व हुई थी। इस मत पर गार्वे ने विशेष बल दिया है[1]। इस मत की पुष्टि में, यह तर्क दिया जाता है, कि प्रथम, व्यक्ति विशेषज्ञान की ओर आकृष्ट होता है, इसके पश्चात् वह सामान्य ज्ञान की ओर आकृष्ट होता है[2]। इस मत के अनुयायी कणाद के वैशेषिक सूत्र एवं प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह पर न्यायसूत्र के किसी प्रभाव को नहीं स्वीकार करते। इसके विपरीत गोतम के न्यायसूत्र एवं वात्स्यायन के भाष्य पर वैशेषिक का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है।

उपर्युक्त मत के अन्तर्गत, यह तर्क कि मानवीय ज्ञान में विशेष, सामान्य से पहले आता है, उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि ऐसा देखने में आता है, कि व्यक्ति पहले किसी विशेष के सामान्य ज्ञान की ओर आकृष्ट होता है, इसके पश्चात् वह उस विषय के विशेष ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है। वैसे भी व्यक्ति की प्रवृत्ति पहले सरलता-सामान्य की ओर होती है, तत्पश्चात् क्लिष्टता-विशेष की ओर, जैसा कि अरुन्धती न्याय में देखने में आता है। किन्तु जो भी हो, यह कहना उचित ही है कि न्याय पर वैशेषिक का प्रभाव पूर्ण रूप से परिलक्षित होता है।

(२) यह मत भी प्रसिद्ध है कि वैशेषिक दर्शन की रचना बौद्ध एवं जैनदर्शन की पूर्वकालिक है। इस सम्बन्ध में एक तर्क यह दिया जाता है, कि बौद्धों के निर्वाण सिद्धान्त का उद्भव वैशेषिक के असत्कार्यवादविषयक विचार से हुआ है[3]। इसके अतिरिक्त, मिलिन्दप्रश्न, लंकावतार-सूत्र एवं ललितविस्तर –इन

---

१. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. II, P. 177.

२. वही।

३. ब्र.सू.शा.भा. २-२-१८।

बौद्ध ग्रन्थों में वैशेषिक का उल्लेख मिलता है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों को **अर्धवैनाशिक** (अर्धशून्यवादी) कहा है। इससे भी वैशेषिक का बौद्धदर्शन से पूर्ववर्त्ती होना सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में, एक तथ्य और उल्लेखनीय है, वह यह कि वैशेषिक सूत्रों में बौद्धदर्शन का किञ्चित् संकेत नहीं मिलता। जहाँ तक, जैनदर्शन की वैशेषिक की अपेक्षा परवर्त्तिता का प्रश्न है, वहाँ यह कहना अभीष्ट है, कि जैनदर्शन की परमाणुप्रक्रिया एवं तत्त्वमीमांसा, वैशेषिक के परमाणुविवेचन एवं पदार्थनिरूपण पर आश्रित है। इस प्रकार वैशेषिकदर्शन बौद्ध तथा जैन, दोनों दर्शनों से प्राचीनतम है। वैशेषिकदर्शन जैनदर्शन की अपेक्षा प्राचीन है, इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकरण के आरम्भ में पहले भी किया जा चुका है।

वैशेषिक सूत्र के रचनाकाल के सम्बन्ध में यह तथ्य भी विचारणीय है, कि चरकसंहिता (ई. सन् ८०) के अन्तर्गत **गुण आदि** का वर्णन बहुत कुछ वैशेषिक पर आधारित है। इससे वैशेषिक की रचना चरकसंहिता से पूर्ववर्त्ती सिद्ध होती है। यह भी कहा जा चुका है, कि चरकसंहिता के पूर्ववर्त्ती बौद्ध ग्रन्थ लंकावतार-सूत्र में वैशेषिक का उल्लेख मिलता है। इस प्रसंग में यह तथ्य और उल्लेखनीय है, कि लंकावतार-सूत्र में प्राप्त परमाणुविषयक वर्णन भी वैशेषिक पर आधारित है। अतः वैशेषिक सूत्र की रचना निश्चय ही बुद्ध काल से पूर्व की है। यह बात दूसरी है, कि कणाद ने वैशेषिक को आधुनिक रूप दिया होगा, किन्तु कणाद का वैशेषिकदर्शन भी न्याय से पूर्ववर्त्ती ही है। न्यायसूत्र का समय १५० ई.पू. है। इस प्रकार वैशेषिक का काल छठीं-पाँचवीं ई.पू. का रहा होगा।

वैशेषिकदर्शन के आचार्य एवं साहित्य

कणाद–वैशेषिक सूत्र के रचयिता **कणाद** के कई नाम मिलते हैं। वायुपुराण के अनुसार कणाद का जन्म द्वारिका के समीप प्रभास में हुआ था। ये सोमशर्मा के शिष्य थे। उदयनाचार्य ने किरणावली के अन्तर्गत कणाद को कश्यप भी बतलाया है। कुछ विद्वान् इनके कणभुक् होने के कारण, इनके कणाद नाम के पक्षपाती हैं। कतिपय अनुसन्धित्सु, इनके परमाणुविज्ञान के निरूपक होने के कारण, इनके कणाद नाम की सार्थकता सिद्ध करते हैं। आर्यदेव नामक बौद्ध आचार्य द्वारा प्रणीत शतशास्त्र के चीनदेशीय व्याख्याता चिस्तान के कथनानुसार कणाद दिन में ग्रन्थप्रणयन में व्यस्त रहते थे, तथा रात्रि में उलूक के समान जीविका का उपार्जन करते थे, अतः इनका एक नाम उलूक भी प्रसिद्ध था। राजशेखर के अनुसार आशुतोष ने उलूक का रूप धारण करके इन्हें वैशेषिकदर्शन का उपदेश दिया था, अत एव इनका नाम उलूक तथा वैशेषिकदर्शन का नाम 'औलूकदर्शन' प्रख्यात हुआ था।

वैशेषिक सूत्र में तीन सौ सत्तर (३७०) सूत्र तथा कुल दश अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में २ आह्निक हैं।

वैशेषिक सूत्र का संक्षिप्त वर्ण्यविषय

वैशेषिक सूत्र के प्रथम अध्याय में, द्रव्य, गुण, कर्म, विभाग तथा सामान्य का निरूपण है। द्वितीय तथा तृतीय अध्याय के अन्तर्गत **नौ द्रव्यों** का वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक में परमाणुवाद का निरूपण है, एवं द्वितीय आह्निक के अन्तर्गत अनित्य द्रव्यविभाग का वर्णन है। वैशेषिक

सूत्र के पाँचवें अध्याय में कर्म का, षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत वेदप्रामाण्य एवं धर्माधर्म का और सप्तम तथा अष्टम अध्याय में गुणों का निरूपण किया गया है। नवम अध्याय के अन्तर्गत अभाव तथा ज्ञान का वर्णन वर्तमान है। वैशेषिकसूत्र के दशम अध्याय में, सुख-दुःख के भेद एवं त्रिविध कारणों का निरूपण वर्तमान है।

वैशेषिकसूत्र, १-१-२ (यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः) के अन्तर्गत अभ्युदय एवं निःश्रेयस को धर्म का साध्य बतलाया गया है। निःश्रेयस अथवा अपवर्ग जो मानव का चरम साध्य है, वैशेषिक सूत्र का प्रमुख प्रतिपाद्य है[1]। न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही के अनुसार निःश्रेयस अथवा अपवर्ग दुःखाभाव स्वरूप है। अतः द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय इन षट्पदार्थों के स्वीकार करने पर भी वैशेषिक के अन्तर्गत सप्तम पदार्थ की कल्पना ऊह्य समझनी चाहिए। यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख वैशेषिक सूत्र में नहीं है। वैशेषिक सूत्र के अन्तर्गत धर्मविशेष से उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा समवाय, इन छः पदार्थों के समान एवं विशेष धर्मों के द्वारा सिद्ध तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है[2]।

अभाव के समान ही वैशेषिक में ईश्वरविषयक दृष्टि स्पष्ट नहीं है। ईश्वर का निर्देश वैशेषिक सूत्र में उपलब्ध नहीं है। किन्तु शंकरमिश्र ने निम्नलिखित सूत्रों में ईश्वर का संकेत ढूँढने का प्रयास किया है–

(१) तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। (वै.सू. १-१-३) इस सूत्र में 'तत्' पद से ईश्वर का संकेतनिर्देश माना गया है।

(२) संज्ञाकर्म तु अस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्। (वै.सू. २-१-१६) यहाँ 'विशिष्ट' से ईश्वर का अभिप्राय ग्रहण किया गया है।

(३) प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः। (वै.सू. २-१-१६)

(४) सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः। (वै.सू. २-१-१६)

युक्तिदीपिका (सांख्यकारिका की टीका) के अन्तर्गत काणाददर्शन में पाशुपतसम्मत ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है[3]।

प्रशस्तपाद (५००-६०० ई.)–प्रशस्तपाद वैशेषिक सूत्र के प्रथम भाष्यकार हैं। वस्तुतः, इन्हें सही अर्थ में वैशेषिक सूत्र का भाष्यकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि इन्होंने वैशेषिक सूत्रों का यथावत् भाष्य नहीं किया है। प्रशस्तपादभाष्य बहुत कुछ स्वतन्त्र भाष्य है। प्रशस्तपाद ने इसे

---

१. अभ्युदयो ब्रह्मादिलोकेषु इष्टशरीरप्राप्तिरर्थोपशमश्च। चन्द्रानन्दवृत्ति।

२. धर्मविशेषप्रसूतानां द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधार्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। वै. सूत्र. १-१-४।

३. काणादानामीश्वरोऽस्तीति पाशुपतोपज्ञमेतत्। युक्तिदीपिका।

'पदार्थधर्मसंग्रह' का नाम दिया है। तदनुसार प्रशस्तपाद ने पदार्थधर्मसंग्रह में द्रव्यादि छः पदार्थों के सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र मत प्रस्तुत किया है। उत्तरकालिक न्यायवैशेषिक के प्रमुख सिद्धान्तों, जैसे सृष्टिरचना तथा प्रलय का सिद्धान्त, अनेक परमाणुओं के अणुपरिमाण का विनिश्चय तथा पीलुपाक सिद्धान्त का प्रथम वार उल्लेख 'पदार्थधर्मसंग्रह' के अन्तर्गत पाया जाता है।

चन्द्र–(६४८ ई.) चन्द्र कृत दशपदार्थशास्त्र प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मशास्त्र पर आधारित है। इसका चीनी भाषा में अनुवाद आज भी सुरक्षित है।

रावणभाष्य–रावणभाष्य का उल्लेख पद्मनाभमिश्र कृत 'किरणावलीभास्कर' तथा ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की गोविन्दानन्द रचित टीका[१] में मिलता है। किन्तु यह अनुपलब्ध है। रावणभाष्य की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य अवलोकनीय हैं–

१. उदयनाचार्य ने किरणावली के अन्तर्गत प्रशस्तपाद-भाष्य को लघु कहा है, एवं भाष्य को विस्तृत वतलाया है। यहाँ, यह तथ्य निरूपणीय है, कि किरणावली-भास्कर के रचयिता पद्मनाभमिश्र के अनुसार भाष्य से रावणभाष्य का ही तात्पर्य है।

२. गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा के अन्तर्गत प्रकटार्थविवरणकार का यह मत प्रस्तुत किया है, कि शांकरभाष्य का द्व्यणुकसम्बन्धी मत (द्वे द्व्यणुके चतुरणुकमारभेते) रावणभाष्य का मत है। गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा में इस प्रकार लिखा है–

"रावणप्रणीते भाष्ये दृश्यत इति चिरन्तनवैशेषिकदृष्ट्येदं भाष्यमित्याहुः। (रत्नप्रभा)

३. अनर्घराघव के अन्तर्गत पंचम अंक (विष्कम्भक) में रावण को "वैशेषिक-कटन्दी-पंडितः" कहा गया है।

यहाँ विद्वानों ने कटन्दी को रावणभाष्य का नाम दिया है।

उपर्युक्त सन्दर्भों से यह स्पष्ट है, कि रावण-भाष्य अष्टम शतक में वर्त्तमान था। कुछ समालोचक विद्वानों का मानना है, कि वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों को 'अर्द्धवैनाशिक' (अर्द्धबौद्ध) कहना रावणभाष्य के वैशेषिक सिद्धान्तों के कारण है[१]।

आचार्य भारद्वाज ने पदार्थधर्मशास्त्र पर वृत्ति लिखी है। इसका सम्पादन गंगाधर ने किया था[२]। यह वृत्तिभाष्य सांख्यदर्शन से प्रभावित है[३]।

---

१. रत्नप्रभा, ब्र.सू. २-२।

२. कलकत्ता, १८६१।

३. देखिये, Foddegon, The Vaiśeṣika...PP. 35-40.

व्योमशिखाचार्य–इन्होंने पदार्थधर्मसंग्रह पर व्योमवती नामक टीका का प्रणयन किया था। यह टीका अन्य टीकाओं की अपेक्षा प्राचीन है।

श्रीधराचार्य–(१००० ई.) श्रीधराचार्य ने पदार्थधर्मसंग्रह पर 'न्यायकन्दली' नामक प्रसिद्ध टीका की रचना की थी। इनका जन्म बंगाल के भूरिसृष्टि नामक ग्राम में हुआ था। श्रीधराचार्य के पिता का नाम बलदेव तथा माता का नाम अच्छोका था।

उदयनाचार्य–(१२०० ई.) उदयनाचार्य ने किरणावली की रचना की थी। श्रीधर एवं उदयन ने ही 'अभाव' को सप्तम पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया था। इन दोनों आचार्यों ने ईश्वर के अस्तित्व का भी समर्थन किया था। अत एव वैशेषिक दर्शन 'सप्तदर्शी' के रूप में प्रसिद्ध है।

वल्लभाचार्य–(१२०० ई.) वल्लभाचार्य ने 'लीलावती' नामक टीका की रचना की थी। ये वल्लभाचार्य पुष्टिमार्गी वल्लभाचार्य से भिन्न हैं। इसी टीका के ऊपर गणेश के पुत्र बुद्धिमान् ने 'प्रकाश' नामक टीका का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त शंकर मिश्र की 'कण्ठाभरण' तथा रघुनाथशिरोमणि की 'दीधिति' टीका भी लीलावती की ही टीकाएँ हैं।

चन्द्रानन्द–चन्द्रानन्दकृत वृत्ति वैशेषिक सूत्र की व्याख्याओं में सर्वाधिक प्राचीन समझी जाती है। इसका सम्पादन ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा से १९६१ में हुआ था।

इस कृति के रचना-काल के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि इसमें उद्योतकर के नाम का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि इस कृति का रचना-काल उद्योतकर के पश्चात् मानना चाहिए।

मिथिलावृत्ति–(१२००-१३०० ई.) इस कृति का सम्पादन, मिथिला विद्यापीठ से १९४७ में हुआ था। इसका लेखक अज्ञात है। इसके सम्पादक अनन्तलाल देव शर्मा हैं। इस वृत्ति के अन्तर्गत उदयनाचार्य एवं वादिवागीश्वर का उल्लेख मिलता है। डा. वी. राघवन् ने वादिवागीश्वर का काल ७५०-११०० ई. के मध्य स्वीकार किया है[1]। अतः मिथिलावृत्ति का समय इसके पश्चात् ही मानना होगा।

शङ्करमिश्र (१५०० ई.) शङ्करमिश्र ने वैशेषिकसूत्रोपस्कारभाष्य की रचना की है। यह उपस्कारभाष्य वैशेषिक सूत्रों के अभिप्रायबोध का प्रमुख आधार समझा जाता है।

जगदीश भट्टाचार्य (१५९० ई.) ये बंगाल (नदिया) के निवासी थे। इन्होंने प्रशस्तपादभाष्य पर 'भाष्यसूक्ति' नामक टीका लिखी थी।

शिवादित्य मिश्र (१००० ई.) शिवादित्य मिश्र रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ सप्तपदार्थी है। सप्तपदार्थी

---

१. रत्नप्रभा, ब्र.सू.शा.भा. २।२।११।

२. विशेष देखें, Journal of oriental Research. Vol. III. pp. 1-5.

३. देखिए, अनन्तलाल देव शर्मा, भूमिका, मिथिलावृत्ति (बड़ौदा), पृ. ८।

में न्याय एवं वैशेषिक के सिद्धान्तों का समन्वय वर्त्तमान है। जैसा कि, नाम से ही स्पष्ट है, इस ग्रन्थ में 'अभाव' का सप्तम पदार्थ के रूप में निरूपण किया गया है। शिवादित्य ने लक्षणमाला नामक वैशेषिक ग्रन्थ की भी रचना की थी।

पद्मनाभमिश्र (१६०० ई.) पद्मनाभ तर्कभाषाकार केशव मिश्र के बड़े भाई थे। उन्होंने प्रशस्तपाद-भाष्य पर आधारित सेतुनाम्नी टीका का प्रणयन किया था।

कतिपय अन्य टीकाएँ एवं व्याख्याएँ

मुरारिमिश्र (८००-९०० ई.) द्वारा प्रणीत अनर्घराघव से यह संकेत मिलता है कि रावण ने वैशेषिक सूत्रों पर टीका लिखी थी। आचार्य **जिनेन्द्र बुद्धि ने विशालामलवती** टीका के अन्तर्गत **श्रायस्क** आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। विद्वानों का मानना है, कि इन आचार्यों की वैशेषिक सूत्र पर कोई वृत्ति रही होगी। इसके अतिरिक्त आत्रेय नामक आचार्य की भी वैशेषिक सूत्र पर कोई वृत्ति रही होगी, ऐसा उल्लेख मिलता है[1]। अनन्तलाल देव शर्मा के एक लेख से ज्ञात होता है, कि भट्टवादीन्द्र प्रणीत 'कणादसूत्र-निबन्ध' नाम्नी एक अप्रकाशित व्याख्या भी वैशेषिक सूत्र पर वर्तमान है[2]।

विश्वनाथ पंचानन (१७०० ई.) विश्वनाथ पंचानन की प्रसिद्धि बंगाल में नव्यन्याय के संस्थापक के रूप में थी। ये रत्नाकर विद्यावाचस्पति के पौत्र एवं काशीनाथ विद्यानिवास के पुत्र थे। इनका एक ग्रन्थ, भाषापरिच्छेद वैशेषिक पर है, और दूसरा, न्यायसूत्रवृत्ति न्यायसूत्रों की सरल व्याख्या है। भाषापरिच्छेद के अन्तर्गत १६८ कारिकाएँ हैं, जिनमें वैशेषिक के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। विश्वनाथ पंचानन ने ही भाषापरिच्छेद के विशदीकरणार्थ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली नाम्नी टीका का प्रणयन किया था, जो मूल भाषापरिच्छेद की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है। मुक्तावली की दो टीकाएँ–दिनकरी तथा रामरुद्री अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। महादेवभट्ट ने मुक्तावलीप्रकाश नाम से टीका लिखना आरम्भ किया था तथा इसे पूर्ण किया था, उनके पुत्र दिनकरभट्ट ने। इसीलिए इसका नाम 'दिनकरी' पड़ा था। दिनकरी पर ही रामरुद्र भट्टाचार्य ने 'दिनकरी-तरङ्गिणी' का प्रणयन किया था, जो प्रणेता के नाम पर 'रामरुद्री' के नाम से प्रख्यात हुई थी।

अन्नंभट्ट (१७०० ई.) अन्नंभट्ट ने दीपिकाटीकासहित तर्कसंग्रह नामक लघुकाय ग्रन्थ की रचना की थी, जो न्याय-वैशेषिक के क्षेत्र में अत्यन्त प्रख्यात है। इस ग्रन्थ के अनेक सम्पादन हुए हैं, जिनमें बोदास (Bodas) का सम्पादन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध है। अन्नंभट्ट के पिता का नाम अद्वैतविद्याचार्य था। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इन्होंने काशी में अनेक शास्त्रों का स्वाध्याय किया था। तर्क-संग्रह की प्रसिद्ध टीकाओं में, गोवर्धनमिश्र की न्यायबोधिनी, श्रीकृष्णधूर्जटी दीक्षित की सिद्धान्तचन्द्रोदय, चन्द्रसिंह की पदकृत्य, नीलकण्ठ भट्ट की नीलकण्ठी तथा उनके आत्मज लक्ष्मी-नृसिंह की भास्करोदया टीका न्याय-वैशेषिक दर्शन के क्षेत्र में प्रसिद्ध है।

---

१. देखें, मिथिलावृत्ति, पृ. ६५ तथा चन्द्रानन्दवृत्ति, अष्टम परिशिष्ट, पृ. २२४।
२. Bhaṭṭavādīndra, The Vaiśeṣika, J.O.R. Vol. X. No. 1, P.P. 22-31.

वैशेषिक की पदार्थमीमांसा

पदार्थमीमांसा वैशेषिक का प्रमुख प्रतिपाद्य है। प्रशस्तपादकृत वैशेषिकसूत्र का भाष्य ही पदार्थधर्मसंग्रह के नाम से प्रसिद्ध है। स्वयं भाष्यकार प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य को भाष्य न कहकर 'पदार्थधर्मसंग्रह' कहा है[1]।

पदार्थमीमांसा करते हुए प्रशस्तपाद ने पदार्थबोध को निःश्रेयस का हेतु मानते हुए कहा है, कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय, इन **षट् पदार्थों** का साधर्म्य एवं वैधर्म्य से होने वाला यथार्थ ज्ञान निःश्रेयस का हेतु होता है, और यह ईश्वर के उपदेश अर्थात् प्रेरणा से प्रतिपादित धर्म से ही सम्भव है[2]। न्याय-कन्दली के अनुसार ज्ञानकर्मसमुच्चय को निःश्रेयस का हेतु कहा गया है।

अब, यहाँ द्रव्यादि के सम्बन्ध में विचार करेंगे। अभाव के सम्बन्ध में तत्पश्चात् विचार किया जाएगा।

वैशेषिक सूत्र के अनुसार पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन, ये नौ द्रव्य माने गए हैं। पृथिवी आदि का द्रव्य होना, उनकी सामान्य संज्ञा है, तथा पृथिवीत्व आदि विशेष संज्ञा हैं।

पृथिवी–पृथिवी आदि पांचभौतिक तत्त्व हैं। **पृथिवी** आदि का इतरव्यावर्त्तक गुण गन्ध है–"गन्धवती पृथिवी"। कतिपय इतर गुण, जैसे रूप, रस, स्पर्श एवं संख्या भी पृथिवी में उपलब्ध हैं। नित्य एवं अनित्य रूप से पृथिवी के दो विभाग किए गए हैं। कारणरूप परमाणु में विद्यमान पृथिवी नित्य है, तथा अनेकानेक भौतिक पदार्थों में कार्यरूप से वर्तमान पृथिवी का स्वरूप अनित्य है। कार्यरूप अनित्य पृथिवी के तीन रूप उपलब्ध हैं। ये तीन रूप शरीर, इन्द्रिय तथा विषय हैं।

अप् (जल)–द्वितीय द्रव्य जल है। जल शीतस्पर्श से विशिष्ट है[3]।

तेज (अग्नि)–उष्णस्पर्श से विशिष्ट द्रव्य, तेज अथवा अग्नि कहलाता है।

जल एवं अग्नि, ये दोनों भी पृथिवी के समान नित्यानित्यभेद से दो प्रकार के हैं। कार्यरूप से विद्यमान अनित्य जल एवं अग्नि के शरीर, इन्द्रिय तथा विषयजन्य भेद हैं।

वायु–नीरूप, किन्तु जिसका स्पर्श किया जा सके, वह द्रव्य वायु है। रूपरहित होने से वायु की पृथिवी, अप् तथा तेज से भिन्नता है। वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मन से भी, इस अर्थ में भिन्न है, कि वायु स्पर्शवान् है, किन्तु आकाशादि स्पर्शरहित हैं। वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष तो नहीं होता,

---

१. प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः।
पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्ये महोदयः।। मंगलाचरण, प्र.पा.भा.।

२. द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः। तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव। प्र.पा.भा. १-१-१।

३. शीतस्पर्शवत्यापः।

किन्तु त्वक् प्रत्यक्ष तो स्पष्ट ही है, जैसा कि नव्यनैयायिकों ने स्वीकार किया है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष के लिए उद्भूतरूपता आवश्यक है, जो वायु में नहीं है। अतः प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार वायु का प्रत्यक्ष अनुमानित है[1]। इसके विपरीत नव्यनैयायिकों के अनुसार वायु में औष्ण्य एवं शैत्य से रहित, उद्भूतस्पर्श वर्तमान है, जो उसके प्रत्यक्ष का कारण है[2]।

आकाश–आकाश का शब्द गुण है, एवं आकाश शब्द का समवायिकारण है। आकाश कालादि के समान विभु है। इससे काल का नित्यत्व स्पष्ट है। तर्कभाषाकार केशवमिश्र के अनुसार शब्द की ग्राहक इन्द्रिय अर्थात् कान भी आकाश ही है[3]। इस प्रकार कान में जो आकाश रहता है, उसी से शब्द का ज्ञान होता है। आकाश की सिद्धि अनुमान से होती है, किन्तु भाट्ट मीमांसक के अनुसार आकाश का प्रत्यक्ष होता है[4]।

काल–काल भी आकाशवत्, एक नित्य विभु एवं व्यापक है। काल, आकाश के समान प्रत्यक्ष का विषय भी नहीं है। वस्तुतः काल प्रत्यक्ष ईश्वर ही है[5]। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से काल के पूर्व, पर, प्रातः, मध्याह्न, सायं एवं रात्रि आदि भेद हैं। तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने दिक् (दिशा) के विपरीत काल को परत्व एवं अपरत्व से अनुमेय कहा है[6]। उदाहरणार्थ, यदि राम, श्याम की अपेक्षा आयु में बड़ा है, अथवा यों कहें, कि राम का श्याम की अपेक्षा काल का अधिक सम्बन्ध है तो काल की दृष्टि से राम, श्याम की अपेक्षा पर होगा तथा श्याम, आयु में कम होने के कारण अर्थात् काल का कम सम्बन्ध होने से, अपर कहलाएगा।

दिक्–दिक्, आकाश के समान, विभु, एक, नित्य एवं अमूर्त है, किन्तु उपाधि के कारण दिक् के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण एवं ईशानादि कोणों के भेद हैं। दिक् भी कालविपरीत, परत्व एवं अपरत्व से अनुमेय है[7]। उदाहरणार्थ, जिसके साथ अधिक देश का सम्बन्ध है, या, यों कहा जाय, कि जो अधिक दूर स्थित है, वह दैशिक दृष्टि से पर कहा जाएगा, तथा जिसके साथ देश का अल्प सम्बन्ध है, या जो समीपस्थ है, वह वैशेषिक दृष्टि से अपर कहलाएगा। दिक् का कालविपरीतत्व इस प्रकार समझना चाहिए–वृद्ध पुरुष युवक की अपेक्षा कालिक दृष्टि से पर है, किन्तु यदि वह युवक की अपेक्षा समीप बैठा हो तो उसमें अपर व्यवहार होगा। यही दिक् का कालविपरीतत्व है। दिक्, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग इन पाँच गुणों से युक्त है। दिक् एवं आकाश का यह भेद समझना चाहिए, कि आकाश

१. सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः। वै.सू.४-१-७।
२. तस्यां प्रभां पश्यामीतिवद् वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य संभवाद् वायोरपि प्रत्यक्षं सम्भवत्येव। मुक्तावली, का.४।
३. कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशमेव। तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण।
४. मानमेयोदय, पृ.१८८ (अड्यार, मद्रास संस्करण)।
५. कालः कलयति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालः प्रत्यक्ष ईश्वरः।।
६. कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः। तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण।
७. कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक्। तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण।

केवल शब्द का निमित्त कारण है, जबकि दिक्, किसी भी वस्तु का समवायिकारण न होकर सब कार्यों का निमित्तकारण है। इसके विपरीत आकाश का श्रावण प्रत्यक्ष होता है, किन्तु दिक् मात्र अनुमेय ही है।

आत्मा–वैशेषिक का आत्मा आत्मत्वसम्बन्धवान् है। आत्मा का आत्मत्व सम्बन्ध इसलिए है कि व्यक्ति प्रिय एवं अप्रिय वस्तु से सुखित्व एवं दुःखित्व का अनुभव करता है। कणाद ने वैशेषिक सूत्र[1] के अन्तर्गत आत्मा के लिंगों का वर्णन किया है[2]। ये लिङ्ग, व्यापार, प्राणापान, निमेषोन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार, सुखदुःखेच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न हैं।

(१) **व्यापार**–प्रिय वस्तु के ग्रहण एवं अप्रिय वस्तु के त्याग की प्रवृत्ति प्रायः प्रत्येक व्यक्ति में देखने में आती है। इस प्रवृत्तिव्यापार का आधार चेतन पदार्थ ही हो सकता है। निदर्शनार्थ, रथ के चलनादि व्यापार से उसके अन्दर स्थित चेतन सारथि का अनुमान होता है। कठोपनिषद् में भी आत्मा को रथी एवं शरीर को रथ कहा है[3]। इस प्रकार व्यक्ति के अन्तर्गत वर्तमान चेतन पदार्थ आत्मा ही है।

(२) **प्राणापान**–प्राणापान की प्रक्रिया से भी आत्मा के स्वरूप का बोध होता है। उदाहरण के लिए, व्यक्ति के शरीर में प्राणापान के फलस्वरूप श्वास-प्रश्वास से शरीर का फूलना तथा संकुचित होना, चेतन पदार्थ की सत्ता का द्योतन करता है। यह चेतन पदार्थ आत्मा ही है।

निमेषोन्मेष–निमेष (आँख की पलक का गिरना) तथा उन्मेष (पलक का उठना) चेतन व्यक्ति में ही सम्भव है। इस प्रकार यह चेतन तत्त्व ही आत्मा है।

(३) **जीवन**–शरीर में व्रण का होना तथा उसका भरना, **जीवन** का परिचायक है, तथा यह जीवन आत्मा की स्थिति में ही सम्भव है।

(४) **मनोगति**–अनुभव तथा स्मृति का आधार **मनोगति** है। यह मनोगति चेतन आत्मा में ही हो सकती है। उदाहरण के लिए, किसी स्वादिष्ट वस्तु को देखकर उसके प्रति लालायित होना अनुभव तथा स्मृति का मेल है, जो एक मनोगति है, तथा जिसका अधिष्ठान चेतन आत्मा है।

सुख-दुःख-इच्छादि

व्यक्ति में बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न गुण हैं। इन गुणों का कोई आश्रय होना चाहिए। यह आश्रय चेतन आत्मा ही है।

आकाश के समान आत्मा नित्य एवं विभु है, तथा प्रत्येक शरीर में सुखदुःखादि की विचित्र

---

१. आत्मत्वाभिसम्बन्धवानात्मा। त. भा. प्रमेयनिरूपण।

२. प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। वै.सू. ३-२-४।

३. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। कठ. ३/३।

स्थिति होने के कारण आत्मा की भिन्नता है[1]। सुखदुःखादि के अन्तर्गत, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, बुद्धि तथा संस्कार, ये नौ शेष गुण आते हैं। इसके अतिरिक्त, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग, ये पाँच आत्मा के सामान्य गुण हैं। प्रत्येक शरीर में बाल्यावस्था, तारुण्य एवं वृद्धावस्था का भेद होने के कारण भी आत्मा की भिन्नता एवं अनेकता सिद्ध होती है। यहाँ, यह निर्देश्य है कि वेदान्त आत्मा की अनेकता न मानकर एकता ही स्वीकार करता है[2]। इसके अतिरिक्त आत्मा के अनुभव-कर्त्ता एवं साधक होने के कारण, तथा इन्द्रिय के साधन एवं माध्यम होने के कारण, आत्मा को इन्द्रिय नहीं कहा जा सकता।

नैयायिकों ने आत्मा का मानस प्रत्यक्ष स्वीकार करते हुए, आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध मानकर 'अहमस्मि' के अनुभव को आत्मा का मानस प्रत्यक्ष कहा है। 'अहमस्मि' स्वरूप अनुभव, अहं प्रत्यक्ष रूप से शुद्ध चैतन्य में आत्मा का अनुभव है। कणाद ने भी कहा है, कि 'अहम्' (मैं) इसमें आगम (शब्द) प्रमाण न होने से यह प्रतीति का विषय है[3]। नैयायिकों का एक वर्ग चैतन्य को मानस प्रत्यक्ष का विषय न स्वीकार कर, हर्ष एवं विषाद की अनुभूति में अनुभवकर्त्ता आत्मा का प्रत्यक्ष सिद्ध होना स्वीकार करते हैं। इन दोनों दृष्टियों में समन्वय प्रस्तुत करते हुए जयन्तभट्ट ने आत्मा का मानस प्रत्यक्ष मानते हुए भी, उसका अनुमेय होना ही विशेषरूप से स्वीकार किया है। आत्मा को किसी प्रकार इन्द्रिय नहीं स्वीकार किया जा सकता। आत्मा इन्द्रिय, शरीर एवं मन से भिन्न एक नित्य द्रव्य है, जिसमें बुद्धि, सुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म एवं संस्कार आदि गुण रहते हैं। आत्मा के इन्द्रियत्व का खण्डन करते हुए, वात्स्यायन ने कहा है–आत्मा श्रोता है, इन्द्रिय नहीं (आत्मा तावत् श्रोता न करणम्–न्या. भा. ३।१।६३), इस सम्बन्ध में एक तर्क और है, वह यह है कि वस्तु का प्रत्यभिज्ञान चेतन आत्मा के द्वारा ही सम्भव है। अतः यदि आत्मा को अचेतन इन्द्रिय माना जाएगा तो किसी भी वस्तु का प्रत्यभिज्ञान सम्भव न होगा। न्यायदर्शन में, इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है, कि जब हम किसी वस्तु को आँख से देखते हैं, तथा करस्पर्श करते हैं, तो उसकी एकता का प्रत्यभिज्ञान, चेतन आत्मा से ही होता है। इसके विपरीत यदि आत्मा अचेतन इन्द्रिय हुआ होता, तो उस वस्तु की एकता का बोध कदापि सम्भव न होता। इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण दिया जाता है, कि जब कोई व्यक्ति किसी पके रसभरे रसाल को देखता है, तो वह उसके लिए लालायित हो जाता है, और उसके मुँह में पानी आ जाता है। इसका कारण यह है, कि उसे पूर्व आस्वादित आम का स्मरण होता है, जो अचेतन इन्द्रिय के द्वारा सम्भव नहीं है। इस प्रकार पूर्व आस्वादित आम का प्रत्यभिज्ञान चेतन आत्मा के द्वारा ही सम्भव है। अतः आत्मा को इन्द्रिय कहना तर्काधारित नहीं है[4]।

आत्मा को मन भी नहीं कहा जा सकता–इस विषय में एक तर्क यह है, कि ज्ञाता (आत्मा) से ही ज्ञान साधनों (इन्द्रिय एवं मन आदि) का प्रामाण्य सिद्धान्त होता है। जैसे व्यक्ति आँख से देखता

---

१. सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः। तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपणम्।

२. अनुमेयत्वमेवास्तु लिङ्गेनेच्छादिनात्मनः। न्यायमञ्जरी, पृ. ४३४।

३. अहमिति शब्दरूपव्यतिरेकान्नागमिकम्। वै.सू. ३-२-६।

४. विशेष देखें, न्या.सू. ३।१।१७।

है, नाक से सूँघता है, उसी प्रकार मन से मनन करता है। इस प्रकार मननकर्ता आत्मा का मन साधन है। यदि आत्मा को ही मन कहा जाएगा तो इन्द्रिय एवं मन आदि के साधनत्व का प्रमाणक कौन होगा। कौन कहेगा कि मैंने आँख से देखा तथा मन से मनन किया'। सुख एवं दुःख की उपलब्धि का साधन भी, मन इन्द्रिय ही है, आत्मा तो सुख एवं दुःख का अनुभवकर्त्ता है।

जिस प्रकार आत्मा इन्द्रिय एवं मन नहीं है, उसी प्रकार वह शरीर भी नहीं है। इस सम्बन्ध में, निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं:—

१. शास्त्रानुसार प्राणमय शरीर का दाह करने में प्राणिहिंसा का पाप लगता है, किन्तु जब आत्मा को शरीर माना जाएगा, तो शरीर दाह का पातक कैसा ? इसके अतिरिक्त आत्मा को शरीर मानने पर, आत्मारूप कर्त्ता के नाश से अकृत फल का सम्बन्ध होगा, तथा अकर्ता को शरीरान्तर में अकृत फल की प्राप्ति का अवसर उपस्थित होगा,[1] जो नितान्त अनुचित है।

२. यदि आत्मा को शरीर माना जाएगा तो, पुनर्जन्म का प्रसङ्ग ही नहीं उपस्थित होगा, तथा ऐसा मानने पर जन्मजन्मान्तर के कर्मों के आधार पर मोक्ष का अवसर कैसे सम्भव होगा–"अनेक-जन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्"–गीता। अतः आत्मा को शरीर कहना, जैसा कि चार्वाक कहता है, अनुचित है।

३. जब शिशु शैशव में मुस्कराता है, तो इसका कारण उसका, पूर्वजन्म की घटनाओं का स्मरण बतलाया जाता है, क्योंकि इस जन्म की घटनाओं का तो उसे बोध ही नहीं होता। किन्तु जब आत्मा को शरीर माना जाएगा, तब शिशु का पूर्वजन्म की घटनाओं का स्मरण कैसे सङ्गत होगा। इस युक्ति के आधार पर भी आत्मा को शरीर नहीं कहा जा सकता।

मन–नवम द्रव्य है। सूत्रकार ने मन को परिभाषित करते हुए कहा है कि आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष होने पर भी, ज्ञान का होना तथा न होना मन का बोधक है[2]। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु का ज्ञान मन के द्वारा ही होता है। वस्तु के समीप स्थित होने पर भी, नेत्रेन्द्रिय द्वारा तब तक उसका ज्ञान नहीं होता, जब तक कि मन एकाग्र नहीं होता। सांख्यदर्शन के अन्तर्गत भी "मनोऽनवस्थानात्" कहकर वस्तु के ज्ञान में मन का अनवस्थित होना बाधक माना है[3]। प्रशस्तपाद ने मन की सिद्धि में निम्नलिखित तीन हेतु प्रस्तुत किए हैं–

१. आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय के होने पर भी ज्ञान, सुख आदि कार्य अनिवार्य रूप से नहीं

---

१. ज्ञातुः खलु ज्ञानसाधनान्युपपद्यन्ते–चक्षुषा पश्यति, घ्राणेन जिघ्रति, स्पर्शनेन स्पृशति, एवं मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनं मनःकरणभूतं सर्वविषयं विद्यते येनायं मन्यत इति। एवं सति ज्ञातरि आत्मसंज्ञा न मृष्यते, मनःसंज्ञाऽभ्यनुज्ञायते, मनसि च मनःसंज्ञा न मृष्यते मतिसाधनत्वमभ्यनुज्ञायते तदिदं संज्ञामात्रम्, प्रत्याख्याने वा सर्वेन्द्रियविलोपप्रसङ्गः। अथ मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनं सर्वविषयव्याख्यातेनास्तीति। एवं रूपादिविषयग्रहणसाधनान्यपि–न सन्ति, इति सर्वेन्द्रियविलोपः प्रसज्यते। न्या. भा. ३।१।१६।

२. आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्। वै.सू. ३ २-१।

३. सांख्यकारिका, ७।

देखे जाते। अतः आत्मा आदि के अतिरिक्त किसी अन्य हेतु की अपेक्षा आवश्यक है, तो यह हेतु मन ही है।

२. ज्ञानप्रक्रिया के अन्तर्गत श्रोत्रादि के अतिरिक्त स्मृति के द्वारा भी ज्ञात विषयों का ज्ञान होता है तथा यह स्मृति ज्ञान मन के बिना सम्भव नहीं है। अतः मन की सत्ता स्वीकार करना अनिवार्य है।

३. श्रोत्र आदि द्वारा ग्राह्य शब्दादि की अपेक्षा सुखदुःखादि के साधन की अपेक्षा अनिवार्य है, तथा यह साधन मन है[1]।

कणाद ने मन के आठ गुणों का निर्देश किया है। ये आठ गुण, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व एवं संस्कार हैं। प्रयत्न तथा ज्ञान का अयौगपद्य है, अतः मन की एकत्व-संख्या सिद्ध होती है। इसीलिये मन का पृथक्त्व भी सिद्ध है। मन आत्मा के समान विभु न होकर अणुपरिमाण वाला है। मन का सर्पण (अग्रिम शरीर से संयोग) एवं उपसर्पण (पूर्व शरीर से विभाग) होने के कारण, संयोग एवं विभाग सिद्ध है। इसी प्रकार मन के मूर्त अर्थात् परिच्छिन्न परिमाण वाला होने से उसके परत्व-अपरत्व एवं संस्कार (वेग) सिद्ध होते हैं। मन के स्पर्शवान् न होने से, वह किसी अन्य द्रव्य का उत्पादक नहीं है, तथा क्रियावान् होने से मूर्त है। मन अचेतन एवं अज्ञ है, अन्यथा आत्मा के समान वह भी विग्रहवान् होता। मन कारणरूप होने से पदार्थ अर्थात् आत्मा के लिये है। गुणवान् होने के कारण आशुसंचारी अर्थात् शीघ्रगति वाला है[2]। इस प्रकार वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत नव द्रव्यों का निरूपण किया गया है।

तम

तम (अन्धकार) को द्रव्य क्यों न माना जाय, इस सम्बन्ध में भी वैशेषिक में विचार किया गया है। तम को द्रव्य मानने के पक्ष में तर्क दिया जाता है, कि तम भी प्रत्यक्ष का विषय है। प्रत्येक व्यक्ति अन्धकार को देखकर कहता है कि वहाँ अन्धकार है, अतः वहाँ नहीं जाना चाहिए इत्यादि। इस प्रकार अन्धकार का रूप भी सिद्ध होता है, एवं वह क्रियावान् भी सिद्ध होता है। अन्धकार का अन्तर्भाव न पृथ्वी (द्रव्य) के अन्तर्गत किया जा सकता है, और न जलादि द्रव्य के अन्तर्गत, वह इसलिये कि पृथ्वी गन्धवती है, किन्तु अन्धकार में गन्ध नहीं है, अतः अन्धकार पृथ्वी द्रव्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता। अन्धकार नीलरूप वाला है, अतः वह जल भी नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त तम के प्रत्यक्ष में आलोक-निरपेक्ष चक्षु कारण है[3]।

वैशेषिक के सिद्धान्तमत के अनुसार उपर्युक्त पक्ष समुचित नहीं कहा जा सकता, प्रथम तर्क तो यह है, कि जब प्रकाश का अभाव मानने से ही अन्धकार की उपपत्ति होने से, अन्धकार को अतिरिक्त दशम द्रव्य के रूप में स्वीकार करना अन्याय्य है। जहाँ तक यह कहना है, कि अन्धकार की रूपवत्ता

---

१. देखें, प्र. पा.भा. ३-२-१।

२. तच्च गन्धशून्यत्वान्न पृथ्वी, नीलरूपत्वाच्च न जलादिकं तत्प्रत्यक्षे चालोकनिरपेक्षं चक्षुः कारणमिति चेत्। न्या. सि. मु. द्रव्यनिरूपण।

की प्रतीति होती है, तो यह भ्रम है। इसी प्रकार अन्धकार की कर्मवत्ता की प्रतीति भी दीपादि के संचाररूप उपाधि के कारण भ्रमात्मक ही है। इस प्रकार उक्त अनुमान स्वरूपासिद्धिरूप दोषग्रस्त होने के कारण, अन्धकार के द्रव्यत्व का साधक नहीं हो सकता[1]। साथ ही यह भी चिन्त्य है, कि अन्धकार को स्वतन्त्र द्रव्य मानने पर, उसके अनन्त अवयव, अनन्त प्रागभाव एवं अनन्त ध्वंस की कल्पना से गौरव होगा। अतः अन्धकार को पृथक् द्रव्य नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार सुवर्ण का तेज में अन्तर्भाव हो जाता है, उसी प्रकार प्रकाश के अभाव से ही अन्धकार की उपपत्ति सम्भव है।

गुण–कणाद ने गुण का लक्षण करते हुए कहा है, कि द्रव्य के आश्रित होना, गुणरहित होना, संयोग-विभाग का किसी की अपेक्षा के बिना कारण न होना, गुण का लक्षण है[2]। कर्म, संयोग एवं विभाग के कारण होता है, किन्तु गुण में संयोग-वियोग नहीं है, अतः उसमें क्रिया भी नहीं है[3]। वैशेषिकसूत्र के अन्तर्गत १७ गुण बतलाए गए हैं। ये सत्रह गुण, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न हैं[4]। प्रशस्तपाद ने इनमें गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द और जोड़े हैं, इस प्रकार वैशेषिक में, कुल मिलाकर गुणों की संख्या चौबीस है। समस्त गुणों में वर्त्तमान गुणत्व नामक एक जाति है, किन्तु यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं है, क्योंकि गुरुत्वादि गुणों के प्रत्यक्ष न होने से उनमें गुणत्व का प्रत्यक्ष असम्भव है। अतः समस्त गुणों में जाति अनुमान से सिद्ध है।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग तथा स्थितिस्थापक ये, मूर्त, पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन के गुण हैं[5]। धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष एवं यत्न ये दश **अमूर्त के गुण** हैं[6]। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग, ये पाँच गुण, मूर्त पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं मन तथा अमूर्त, आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा, केवल इन द्रव्यों में रहते हैं[7]। संयोग, विभाग, संख्या द्वित्वादि, संख्या द्विपृथक्त्वादि, ये चार अनेक में रहने वाले गुण हैं[8]। किन्तु उक्त चार गुणों से भिन्न गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एकत्व, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट एवं शब्द, ये एक-एक वस्तु में रहने वाले गुण हैं[9]।

---

१. कर्मवत्ताप्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव। न्या.सि.मु. द्रव्यनिरूपण, मधुवनी, दरभंगा १६३६।
२. द्रव्याश्रयी अगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। वै.सू. १-१-१६।
३. अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः। मुक्तावली, का.८६।
४. वै.सू. १-१-६।
५. रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम्। द्रवत्वं स्नेहवेगाश्च मता मूर्तगुणा अमी।। न्या.सि.मु.का. ८६-८७।
६. न्या.सि.मु.का.८७-८८।
७. न्या.सि.मु.का.८८।
८. न्या.सि.मु.का.८६।
६. अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः। न्या.सि.मु.का.६०।

कर्म–कर्म पदार्थ भी गुण के समान द्रव्य में आश्रित धर्म है। कणाद ने कर्म का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है, कि एक द्रव्य में होना, गुणरहित होना, तथा संयोग-विभाग का अनपेक्ष कारण होना, कर्म का लक्षण है[1]। कर्म के स्वरूप का अन्तिम निर्णय सम्भव नहीं है। कर्म ही वस्तुओं के संयोग-विभाग का स्वतन्त्र कारण है। कर्म के पाँच भेद माने गये हैं, जो उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन हैं।

इस स्थल पर गुणों के स्वरूप का संक्षिप्त निरूपण आवश्यक है।

१. **रूप**–चक्षु द्वारा ग्राह्य विशेष गुण **रूप** है[2]। यह पृथ्वी, जल एवं तेज में रहता है।

२. **रस**–रसना इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विशेष गुण **रस** है, यह पृथ्वी एवं जलवर्त्ती है[3]

३. **गन्ध**–घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विशेष गुण **गन्ध** है। यह केवल पृथ्वी में रहता है।

४. **स्पर्श**–त्वक् इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विशेष गुण **स्पर्श** है। यह पृथ्वी, अप्, तेज एवं वायुवर्त्ती है।

५. **संख्या**–एकत्वादि व्यवहार का हेतु **संख्या** सामान्य गुण है।

६. **परिमाण**–मानव्यवहार का असाधारण कारण **परिमाण** है। यह अणु, महत्, ह्रस्व तथा दीर्घ भेद से चार प्रकार का है।

७. **पृथक्त्व**–पृथक् व्यवहार का असाधारण कारण **पृथक्त्व** है।

८. **संयोग**–संयुक्त व्यवहार का हेतु **संयोग** गुण है।

९. **विभाग**–विमलप्रतीति का हेतु (भूतगुण) **विभाग** है।

१०.११. **परत्व एवं अपरत्व**–पर एवं अपर व्यवहार के असाधारण कारण **परत्व एवं अपरत्व** हैं। ये दो प्रकार के हैं–दिक्कृत एवं कालकृत।

१२. **गुरुत्व**–आद्य पतन का असमवायि कारण **गुरुत्व** गुण है। आद्य पतन का अर्थ यह है, कि द्वितीयादि क्षण में जो पतन होता है, उसका कारण वेगसंस्कार होता है। गुरुत्व, पृथ्वी एवं जलवर्ती है।

१३. **द्रवत्व**–गुरुत्व के समान ही आद्य स्यन्दन (प्रवाह) का असमवायिकरण **द्रवत्व** गुण है। यह पृथ्वी, तेज एवं जलवर्त्ती है।

१४. **स्नेह**–चिक्कणता (चिकनापन) **स्नेह** गुण है, जो जलभाग में रहने वाला है।

---

१. एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्। वै.सू.१-१-१७।

२. तत्र रूपं चक्षुमात्रग्राह्यो विशेषगुणः। त.भा.प्रमेयनिरूपण।

३. रसो रसनेन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः पृथ्वीजलवृत्तिः। त.भा.प्र. निरूपण।

१५. **शब्द**–केवल श्रोत्र द्वारा ग्राह्य है। यह आकाश का विशेष गुण है[१]।

१६. **बुद्धि**–अर्थ (विषय) का प्रकाश अर्थात् ज्ञान बुद्धि गुण है।

१७. **सुख**–आनन्द को सुख कहते हैं।

१८. **दुःख**–पीड़ा, दुःख गुण कहलाती है।

१९. **इच्छा**–राग अर्थात् विषयाभिलाषा इच्छा नामक गुण है।

२०. **द्वेष**–क्रोध, द्वेष नामक गुण है।

२१. **प्रयत्न**–उत्साह प्रयत्न नामक गुण है।

२२.२३. **धर्म** एवं **अधर्म**–सुख तथा दुःख के असाधारण कारण हैं।

२४. **संस्कार**–व्यवहार का असाधारण कारण गुण है। संस्कार वेग, भावना तथा स्थिति–स्थापक भेद से, तीन प्रकार का है। वेग, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु एवं मन में रहने वाला है, तथा क्रिया का हेतु है। दूसरा भावना नामक संस्कार, केवल आत्मा में रहने वाला, अनुभव-जन्य तथा स्मृति का स्वरूप है। स्थितिपरक संस्कार स्पर्शयुक्त द्रव्यविशेषों में रहने वाला तथा अन्यथाभूत अपने आश्रय (भूत) धनुष आदि को पुनः पूर्वावस्था में लाने वाला होता है[२]।

सामान्य–सामान्य को जाति भी कहते हैं। सामान्य, नित्य एवं अनेकानुगत होता है[३]। उदाहरणार्थ, अनेक मनुष्यों में रहने वाली मनुष्यत्व जाति एक एवं नित्य है। सामान्य का आधार भिन्न-भिन्न वस्तुओं की अनुवृत्ति अर्थात् एकाकार-प्रतीति है। सामान्य, द्रव्य, गुण एवं कर्म में रहने वाला, नित्य, एक एवं अनेकवृत्ति होता है। यह, पर एवं अपर भेद से दो प्रकार का है। इनमें अधिक विषयवाला (अर्थात् व्यापक) होने से सत्ता (द्रव्य, गुण, तथा कर्म, इन तीनों में रहने वाली सत्ता, जाति) परसामान्य है। यह अनुगतप्रतीति का हेतु होने से सामान्य ही है, विशेष कदापि नहीं। इस प्रकार इससे अधिक देश में रहने वाला और कोई सामान्य नहीं है। इसके विपरीत द्रव्यत्वादि की अल्प देश में वृत्ति होने के कारण, ये अपर सामान्य हैं। ये द्रव्यत्वादिव्यावृत्ति अर्थात् भेदबुद्धि का हेतु होने से सामान्य होते हुए भी विशेष होते हैं[४]।

बौद्धों का मत (अपोहवाद)–बौद्ध सामान्य को न स्वीकार कर, अपोह को स्वीकार करते हैं। क्षणभंगवादी होने के कारण बौद्ध जाति के नित्यत्व को नहीं स्वीकार करते। किन्तु जाति अर्थात् सामान्य को न मानने पर एकाकार प्रतीति किस प्रकार होगी। इस प्रश्न का उत्तर, अपोह के द्वारा देते हुए, बौद्ध

---

१. विशेष देखें, तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण।

२. गुणों के स्वरूपनिरूपण के लिये, विशेष देखें, तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण।

३. नित्यमनेकानुगतं सामान्यम्।

४. तत्र व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद्विशेषः, तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण।

कहते हैं, कि अपोह का अर्थ अतद्व्यावृत्ति अथवा 'तद्भिन्नत्व' है। अतद्व्यावृत्ति अथवा तद्भिन्नभिन्नत्व को इस प्रकार समझना चाहिए–दश घट व्यक्तियों में जो घट है, घट है, इस प्रकार की अनुगत (बार-बार) प्रतीति होती है, उसका कारण घटत्वसामान्य नहीं है, वरन् उसका अघटव्यावृत्ति अथवा घटभिन्न सारे जगत् में भिन्न होना ही है। 'अतत्' का अर्थ 'अघट' है, अर्थात् घट से भिन्न सारा जगत् है, एवं जगत् से भिन्न घट है। इस प्रकार तद्भिन्नभिन्नत्व या अतद्व्यावृत्ति ही घटों में अनुगत-प्रतीति का कारण है। यही बौद्धों का अपोह सिद्धान्त है।

विशेष–'विशेष' पदार्थ वैशेषिक दर्शन का सर्वाधिक प्रमुख पदार्थ है। यह भी कहना होगा, कि 'विशेष' के आधार पर ही इस दर्शन का नाम वैशेषिक प्रसिद्ध हुआ है। तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने विशेष को परिभाषित करते हुए कहा है, कि नित्य द्रव्य परमाणु आदि में रहने वाला तथा नित्य अन्तिम भेदक धर्म विशेष कहलाता है। **'विशेष'** केवल भेदबुद्धि का प्रकाशक होता है[1]। नित्य द्रव्य आकाशादि पाँच हैं। किन्तु पृथिव्यादि चार (पृथ्वी, जल, तेज, एवं वायु) परमाणु रूप ही नित्य हैं। कार्य रूप, पृथ्वी आदि नित्य हैं। इनमें रहने वाला अन्तिम भेदक धर्मविशेष है। 'विशेष' को स्पष्ट करने के लिये यह कहा जाएगा, कि घटादि पदार्थों का सजातीय पदार्थान्तर से भेद होता है, उसका उपपादन साधारणतया अवयवभेद पर आधारित है। उदाहरणार्थ, एक घट की दूसरे घट से भिन्नता का कारण यह है, कि दोनों घट भिन्न अवयवों (कपालों) से निर्मित हैं। ये कपाल भी इसीलिए भिन्न हैं, कि उनके अवयव (कपालिकाएँ) भिन्न हैं। इसी प्रकार कपालिकाओं के भेद का कारण भी अवयव भेद ही है। इसी प्रकार आगे चलकर यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि एक परमाणु दूसरे परमाणु से किस प्रकार भिन्न है। इसका उत्तर पूर्ववत् अवयव भेद नहीं है, क्योंकि परमाणु निरवयव है। इसीलिये परमाणुओं में भेद की स्थापना के लिये, 'विशेष' की कल्पना करनी पड़ी है, कि परिणामतः विशेष के कारण एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न है। क्योंकि विशेष स्वतः व्यावृत्त है, अतः विशेष के भिन्नत्व का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। विशेष का भेदक अन्य कोई धर्म नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, विशेष ही नित्य द्रव्यों में रहने वाला अन्तिम धर्म है।

यहाँ, यह उल्लेखनीय है, कि पृथिव्यादि के अतिरिक्त शेष चार द्रव्यों में, काल तथा दिक्, अभिन्न एवं एक हैं, अतः उनमें भेद के स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक आत्मा एवं मन की बात है, उनके भेदक धर्म उनके अपने गुण अदृष्ट धर्म, अधर्म, संस्कार आदि ही हो जाते हैं। अतः उनमें भी भेद के स्वीकारने की अनपेक्षा ही है।

समवाय–अयुतसिद्धों का सम्बन्ध, समवाय कहलाता है। अयुतसिद्धत्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठे ।।

---

१. विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः। व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः। तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण।

अर्थात्, वे वही अयुतसिद्ध हैं, जिनमें से एक अविनश्यत् अवस्था में दूसरे के आश्रित रहता है। उदाहरणार्थ, अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति तथा नित्य द्रव्य एवं विशेष, अयुतसिद्ध हैं, क्योंकि अवयवी आदि अविनश्यत् अवस्था में क्रमशः अवयवादि के आश्रित रहते हैं। इसके विपरीत, विनश्यत् अवस्था में तो अवयवी आदि निराश्रित हो जाते हैं, जिस प्रकार वस्तु के नष्ट होने पर, पट रूप अवयवी नष्ट हो जाता है, या जैसे, घटादि आश्रय के नष्ट होने पर उसमें रहने वाले रूपादि गुण विनश्यत्ता काल में निराश्रित हो जाते हैं। यह गुण-गुणी का उदाहरण है। विनश्यत्ता को स्पष्ट करते हुए, तर्कभाषाकार ने कहा है, कि विनश्यत्ता, विनाश के कारण की समस्त सामग्री का एकत्र होना है[1]।

अभाव–अभाव अन्तिम अर्थात् सप्तम पदार्थ है। वैशेषिक सूत्र के अन्तर्गत अभाव का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत किया गया है[2]। वैशेषिक सूत्र के तर्कानुसार, जिस प्रकार उत्पन्न होने वाला घटादि कार्य कारण की सत्ता का बोधक होता है, उसी प्रकार उत्पन्न होने वाला कार्य अपने कारण के अभाव का बोधक है। किन्तु, यहाँ यह तथ्य अविस्मरणीय है, कि योग्यानुपलब्धि से ही अभाव का अनुमान होता है। एतदनुसार, यदि वस्तु उपलब्धि के योग्य होती है, तभी उसकी अनुपलब्धि से उसके अभाव का अनुमान लगाया जा सकता है, अन्यथा नहीं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, प्रशस्तपाद-भाष्य के अन्तर्गत भी केवल द्रव्यादि छः पदार्थ ही माने गए हैं[3]। वात्स्यायन-भाष्य (२-२-२) एवं न्यायवार्तिक के अन्तर्गत भी अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव किया है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में किया है। परं च, उदयनाचार्य ने प्रशस्तपाद-भाष्य की व्याख्या में अभाव का अन्तर्भाव कहीं प्रत्यक्ष में तो कहीं अनुमान में किया है।

यहाँ, यह वक्तव्य है, कि जैसा कि ऊपर कहा गया है, यद्यपि प्रशस्तपादभाष्य में, अभाव को स्वतन्त्र रूप में नहीं स्वीकार किया गया है, किन्तु नास्ति (नहीं है) इस प्रतीति के विषय को अनुमानग्राह्य कहना, यह सिद्ध करता है, कि प्रशस्तपाद को अभाव की सत्ता अभीष्ट है। भाट्टमीमांसक एवं उत्तरकालिक वेदान्ती (नववेदान्ती) अभाव को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार करते हैं[4]।

प्रथमतः, भाट्ट अभाव के दो भेद हैं–तादात्म्याभाव और संसर्गाभाव। तादात्म्याभाव को ही अन्योऽन्याभाव एवं इतरेतराभाव भी कहते हैं। यह सामान्य के समान अविनाशी एवं नित्य है[5]। घट में पटाभाव एवं पट में घटाभाव अन्योऽन्याभाव अथवा इतरेतराभाव का निदर्शन है। संसर्गाभाव के तीन भेद हैं–प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव। उदाहरणार्थ, कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य का अभाव प्रागभाव है, जो अनादि एवं सान्त है। कार्य का नाश हो जाने पर उसका प्रध्वंसाभाव होता

---

१. विनश्यत्ता तु विनाशकारणसामग्रीसान्निध्यम्।

२. अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात्। तर्कभाषा, प्रमाणनिरूपणम्।

३. प्र.पा.भा. १-१-१।

४. द्रष्टव्य, शास्त्रदीपिका १-१-५, मानमेयोदय तथा वेदान्त-परिभाषा।

५. इतरेतराभावोऽपि सामान्यवद् अविनाशित्वाद् नित्यः। किरणावली।

है, जो किसी पदार्थ का त्रैकालिक अभाव उसका अत्यन्ताभाव है, जैसे वायु में रूप का अभाव। यह अनादि तथा अनन्त है। भूतल में घटाभाव है, इस उदाहरण में भी अत्यन्ताभाव है। यद्यपि यहाँ घट तथा घट के संसर्ग का अत्यन्त अभाव नहीं है, तथापि जो किसी घट का संसर्ग विशेष होता है, उसका तो अत्यन्ताभाव ही है। इस प्रकार के अभाव में, घट आदि के संसर्ग (सम्बन्ध संयोग आदि) का अभाव रहता है। अतः यह संसर्गाभाव कहलाता है। न्यायवैशेषिक के अन्तर्गत पदार्थमीमांसा की यही प्रक्रिया है।

सृष्टिसंहार-प्रक्रिया एवं परमाणुकारणवाद–सृष्टि एवं उसके संहार (प्रलय) का पुराणों के अन्तर्गत विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। सूर्य के उत्तरायण का समय देवों का दिन है, दक्षिणायन रात्रि, तथा ऐसे ३६० दिन का देवों का एक वर्ष होता है। इस प्रकार के द्वादश सहस्र वर्षों का चतुर्युग होता है, तथा एक सहस्र चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इतने ही समय ब्रह्मा की रात्रि होती है। इस प्रकार ब्रह्मा के सौ वर्षों के अन्त में प्रलय होता है। प्रलय का अर्थ है–अदृष्ट के व्यापार का रुक जाना। अदृष्ट का व्यापार रुक जाने पर परमेश्वर की इच्छा से आत्मा और परमात्मा के संयोग से परमाणुओं में कर्म होता है। उस कार्य से विभाग होता है, एवं परमाणुओं के परस्पर संयोग का नाश हो जाता है। परमाणुओं के संयोग की निवृत्ति होने पर शरीर तथा इन्द्रियों का परमाणुपर्यन्त विभाग (विनाश) हो जाता है। विभक्त हुए परमाणु एवं अधर्म के संस्कार से युक्त आत्मा उतने ही समय तक स्थित रहते हैं, जितने समय तक सृष्टि रहे[1]।

उपर्युक्त प्रक्रम के अनुसार ही, यहाँ यह वक्तव्य है, कि परमाणुओं का संयोगनाश होने पर पृथ्वी आदि का नाश हो जाता है, किन्तु पूर्व-पूर्व तत्त्व के नाश के समय अग्रिम अग्रिम तत्त्व विद्यमान रहता है, जैसे पृथ्वी का नाश होने पर, जलादि तत्त्व शेष रहते हैं। अन्त में, अव्यक्त आकाश मात्र शेष रहता है। यही प्रलयावस्था है।

जहाँ तक, सृष्टि की प्रक्रिया की बात है, जीवों के कल्याणार्थ परमेश्वर में सृष्टि की उत्पत्ति की इच्छा उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप सत् आत्माओं में स्थित व्यापारयुक्त (वृत्तिलब्ध) धर्म, अधर्म (अदृष्ट) के निमित्त से होने वाले उन (तत्तद् आत्माओं) के संयोग से वायु के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होने पर, उन परमाणुओं के परस्पर संयोग से द्व्यणुकादि की सृष्टि होती है। इस प्रक्रिया के अनुरूप परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होने पर, उन परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक उत्पन्न होता है, तथा तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक बनता है, जो महत्परिमाण वाला होता है। त्र्यणुकों से महान् परिमाण वाला वायु उत्पन्न होता है। वायु से कार्यरूप जल (समुद्र), जल से कार्यरूप पृथ्वी तथा **तेज** की सृष्टि होती है[2]। महाभूतों के इस उत्पत्तिक्रम के सम्बन्ध में व्याख्याकारों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

भूतसृष्टि का समवायिकारण परमाणु है, असमवायिकारण परमाणुसंयोग है, तथा निमित्तकारण महेश्वर की सिसृक्षा के पश्चात् आत्माओं में स्थित अदृष्टतत्त्वों का व्यापारयुक्त होकर आत्माओं तथा

---

१. ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते धर्माधर्मसंस्कारानुविद्धाश्चात्मानस्तावन्तमेव कालम्। प्रशस्तपाद-भाष्य, पृ.४५ (Indo-Vision, Gaziabad, 1984)।

२. देखें, प्रभाकरविजय, ४३-४६।

परमाणुओं का संयोग होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जीव अपने पूर्वजन्म के धर्मकर्मानुसार सांसारिक पदार्थों के भोग के लिये तत्तद् योनियों, कुलों एवं देश आदि में जन्म ग्रहण करते हैं। न्याय-वैशेषिक के अन्तर्गत सृष्टि की यही संक्षिप्त प्रक्रिया है।

परमाणुवाद के सन्दर्भ में दर्शनशास्त्र में भिन्न-भिन्न विचार मिलते हैं। **सौत्रान्तिक बौद्धों** ने परमाणुवाद के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया है। सौत्रान्तिक बौद्धों का विचार है, कि परमाणुओं में पारस्परिक स्पर्श का सर्वथा अभाव रहता है। परमाणु के निरवयव होने के कारण स्पर्श सम्पूर्ण वस्तु का ही सम्भव है। ऐसी स्थिति में परमाणुओं का तादात्म्य स्वीकार करना होगा। इस प्रकार परमाणुसंघात परमाणु से परिमाण में अधिक न होगा।

जैन दार्शनिक--अणु तथा संघात को पुद्गल के दो रूप मानते हुए कहते हैं, कि पुद्गल के सूक्ष्मतम निरवयव अंश ही अणु हैं। इस प्रकार निरवयवत्व, बौद्ध एवं जैन दोनों को स्वीकृत है। दो या दो से अधिक अणुओं के एकत्र होने से संघात बनता है। इन अणुसंघातों से ही स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर की सृष्टि होती है।

सांख्य का मत है कि परमाणु कदाचित् भौतिक जगत् की सृष्टि करने में सक्षम हो जाते हैं, किन्तु मन-बुद्धि जैसे सूक्ष्म शरीर की सृष्टि परमाणु द्वारा कैसे सम्भव हो सकती है। इस प्रकार सांख्य, जगत् की सृष्टि प्रकृति से ही स्वीकार करता है।

मीमांसा परमाणु को प्रत्यक्ष ग्राह्य मानते हुए, न्याय-वैशेषिक के समान उसे अनुमेय एवं योगज प्रत्यक्ष का विषय नहीं स्वीकार करती। मीमांसक का कथन है, कि कर्मों के फल के प्रति उन्मुख होने पर व्यक्तियों की उत्पत्ति एवं कर्मफल का नाश होने पर विनाश होता है, किन्तु मीमांसा के अन्तर्गत जगत् की सृष्टि एवं विनाश की बात नहीं कही गई है। न्यायदर्शन के अन्तर्गत "जालान्तर्गते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्टितमो भागः परमाणुः स उच्यते"।। कहकर परमाणु की जो परिभाषा की गई है, वह भी मीमांसक को स्वीकार नहीं है। मीमांसक अणु-परमाणुवादी होते हुए भी, न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद का विरोधी है। यह भी सङ्केत अपेक्षित है, कि कुमारिल परमाणुवाद की अस्वीकृति का निर्देश करते हैं– मीमांसकैश्च नावश्यमिष्यन्ते परमाणवः। यद् बलेनोपलब्धस्य मिथ्यात्वं कल्पयेद् भवान् ।। (श्लोकवार्तिक, पृ० ४०४) किन्तु कुमारिल के शिष्य परमाणुवाद का समर्थन करते हैं[1]।

जहाँ तक, **वेदान्त** का सम्बन्ध है, आचार्य शङ्कर एवं रामानुज दोनों ही परमाणुवाद के विरोधी हैं। दोनों ने ही अचेतन परमाणुओं से सृष्टि का निराकरण किया है। अत एव वेदान्त में ईश्वर को निमित्तकारण एवं त्रिगुणात्मिका प्रकृति को उपादानकारण माना है। परमाणुवाद का खंडन करते हुए,

---

१. जालरन्ध्रविसरद्रवितेजो जालभासुरपदार्थविशेषान् अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति हि कुमारिलशिष्याः ।।

वेदान्त के आचार्यों का तर्क है, कि यदि चेतन तत्त्व को जगत् का कर्त्ता न मानकर, सतत गतिशील परमाणुओं से ही सृष्टि की कल्पना संगत होगी, तो यह असमीचीन होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर तो कभी प्रलय का अवसर ही नहीं आएगा, और जब प्रलय नहीं तो सृष्टि कैसी।

संहार की प्रक्रिया–वैशेषिक की संहार-प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रथम, कारण का विनाश होता है, तत्पश्चात् कार्य का। अत एव ये सृष्टि-प्रक्रिया के समान संहारार्थ परमाणु में ही क्रिया मानते हैं, किन्तु परमाणु तो नित्य है, इसलिए वैशेषिक में परमाणुओं के संयोग का नाश होता है। इसके पश्चात् द्व्यणुक रूप कार्य का तथा फिर त्र्यणुक एवं चतुरणुक रूप कार्य एवं अन्य कार्यों का नाश होता है। न्यायमत इसके विरुद्ध है। इसके अनुसार कार्यरूप द्रव्य (घटादि) का नाश एक बार में ही आघात मात्र से हो जाता है। कार्यरूप द्रव्य के नष्ट होने पर उसके गुण नष्ट हो जाते हैं। आघात पहुँचने पर, घट के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, तत्पश्चात्, जैसा कि ऊपर कहा गया है, परमाणुसंयोग आदि का नाश होता है।

विद्या एवं अविद्या–विद्या (ज्ञान) एवं अविद्या (अज्ञान) का निरूपण सभी दर्शनों में किसी न किसी रूप में वर्तमान है। विद्या के चार भेद हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति एवं आर्ष। आर्षज्ञान से प्रातिभज्ञान का आशय है। उदाहरणार्थ, वैदिक ज्ञान के साक्षात्कर्ता ऋषियों को इन्द्रिय एवं अर्थ सन्निकर्ष के बिना ही भूत एवं भविष्यत् का ज्ञान होता था।[1]

संशय एवं विपर्यय वैशेषिक के अनुसार न्याय के समान ही अविद्यास्वरूप हैं। इसके अतिरिक्त वैशेषिक में अनिश्चयात्मक ज्ञान को अनध्यवसाय कहा गया है।

स्वप्नज्ञान–वैशेषिक द्वारा स्वीकृत स्वप्नज्ञान की प्रक्रिया अधिक तर्कसंगत है। वैशेषिक के अनुसार स्वप्न में, विश्रान्त इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं। मन मनोवद् नाड़ी के द्वारा पुरीतत् नाड़ी में विश्राम के लिये चला जाता है। पुरीतत् नाड़ी में पहुँचने से पूर्व मन को पूर्व संस्कारों के आधार पर, एवं वात, पित्त तथा कफ की विषमता के कारण अदृष्ट के आश्रय से बहुविध विषयों का ज्ञान होता है। यही स्वाप्निक ज्ञान कहलाता है।

कर्म का स्वरूप–वैशेषिक दर्शन में कायिक चेष्टा ही कर्म है। यह कायिक चेष्टा कभी प्रयत्नपूर्वक होती है, कभी बिना प्रयत्न के। प्रयत्नपूर्वक किये गये कर्म सत्प्रत्ययकर्म कहलाते हैं, तथा विना प्रयत्न के किए गए कर्म असत्प्रत्ययकर्म, कहलाते हैं। पृथिव्यादि भूतों में विना प्रयत्न के किये गये कर्म अप्रत्यय-कर्म कहे गये हैं।

वैशेषिक सूत्र के अन्तर्गत उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन, इन पंचविध कर्मों का उल्लेख किया गया है।

---

१. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ४६।

ईश्वर–वैशेषिक दर्शन के अनुसार ईश्वर समस्त विश्व का निमित्त कारण है। अत एव प्रशस्तपाद-भाष्य के मङ्गलाचरण में समस्त विश्व के हेतुस्वरूप ईश्वर को प्रणाम किया गया है[1]। ईश्वर ही निःश्रेयस के हेतु तत्त्वज्ञान के कारणस्वरूप धर्म का प्रेरक है[2]। यहाँ यह निर्देशयोग्य है कि वैशेषिक के अनुसार बुद्धि का गुण होने के कारण ईश्वर आत्मा ही है। (ईश्वरोऽपि बुद्धिगुणत्वाद् आत्मैव, न्यायकन्दली)। ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि से ही द्व्यणुकों की बहुत्वसंख्या उत्पन्न होती है। मानव को द्व्यणुकों का प्रत्यक्ष ही नहीं होता, अतः उसमें उक्त सामर्थ्य का प्रश्न ही नहीं आता।

यह उल्लेखनीय है, कि धर्म, अधर्म, दिशा एवं काल आदि साधारण कारणों के होने पर ही, पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है। उदयनाचार्य ने किरणावली में इन साधारण कारणों में ईश्वर का उल्लेख किया है। किन्तु, वैशेषिक में वेदों को अपौरुषेय न मानकर, पौरुषेय एवं अनित्य ही माना गया है।

मोक्ष का स्वरूप–वैशेषिक दर्शन के अनुसार निःश्रेयस (निश्चित कल्याण) ही अपवर्ग अथवा मोक्ष है[3]। निःश्रेयस का हेतु द्रव्यादि पदार्थों का तत्त्वज्ञान है। यह तत्त्वज्ञान ईश्वर की प्रेरणा से प्रतिपादित धर्म से ही होता है[4]। किरणावली में भी तत्त्वज्ञान को ही निःश्रेयस का हेतु कहा गया है। परन्तु, न्याय-कन्दली के अनुसार तत्त्वज्ञान को तो धर्म का कारण होने से निःश्रेयस का हेतु कहा गया है। "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" इस सूत्र में भी धर्म को ही निःश्रेयस का कारण कहा गया है। न्यायकन्दली के अनुसार ज्ञानकर्मसमुच्चय को निःश्रेयस का हेतु बतलाया गया है। यहाँ यह तथ्य विचारणीय है, कि धर्म भी ईश्वर की प्रेरणा (इच्छाविशेष) के बिना निःश्रेयस का कारण नहीं बनता। अतः ईश-प्रेरणा से प्रतिपादित धर्म को ही मोक्ष का मूल कारण मानना अभीष्ट है। तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का साक्षात् हेतु है। इस प्रकार किरणावली के अनुसार तत्त्वज्ञान को ही मोक्ष का हेतु मानना अभीष्ट है।

वैशेषिक की मोक्ष-प्रक्रिया के अनुसार ज्ञानपूर्वक किये गए, फल का कामनारहित कर्म के सम्पादन से विशुद्ध कुल में जन्म होता है, जिससे दुःखनाश के उपायों में जिज्ञासा होती है। तदनुसार जिज्ञासु साधक आचार्य के समीप जाकर छः पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है। तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर साधक विरक्त हो जाता है, तथा उसमें राग-द्वेष का अभाव हो जाता है। राग-द्वेष का अभाव होने पर तज्जन्य धर्माधर्म की उत्पत्ति नहीं होती, तथा पूर्वसंचित धर्म तथा अधर्म का भोग से नाश हो जाता है। ऐसी स्थिति में, केवल निवृत्तिरूप धर्म शेष रह जाता है, जो ज्ञानपूर्वक किए गए निष्काम कर्म से उत्पन्न होता है। निवृत्तिरूप धर्म भी सन्तोष, सुख तथा शरीर का सम्यक् ज्ञान कराकर एवं तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होने वाले आनन्द का अनुभव कराकर समाप्त हो जाता है[5]।

---

१. प्रणम्य हेतुमीश्वरम्। मंगलाचरण, प्र.पा.भा.।
२. तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव। प्र.पा.भा.पृ.२।
३. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वै.सू.१-१-२।
४. प्र.पा.भा.पृ.२।
५. सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदं चोत्पाद्य, रागादिनिवृत्तो, निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा निवर्त्तते। प्र.पा.भा.पृ.२११।

इस प्रकार वैशेषिक में धर्म के दो स्वरूप माने गये हैं-एक प्रवृत्तिरूप तथा दूसरा निवृत्तिरूप। प्रवृत्तिरूप धर्म संसारभावना का निमित्त बनता है। इसके विपरीत निवृत्तिरूप धर्म से जन्म-मरणरूप संसार-चक्र की निवृत्ति हो जाती है। जैसा कि, ऊपर भी कहा गया है, निवृत्तिरूप धर्म के द्वारा परमार्थदर्शन से उत्पन्न सुख की प्राप्ति होती है। परमार्थदर्शन से प्राप्त सुख की यही स्थिति **जीवन्मुक्ति** की स्थिति है। कर्मभोग समाप्त होने पर जब जीव का पुनर्जन्म नहीं होता, तो यह शरीर का अनुत्पाद ही वैशेषिक के अनुसार विदेहमुक्ति की स्थिति है[1]।

जिस प्रकार, ईंधन को पूर्णतया जलाकर अग्नि शान्त हो जाता है, उसी प्रकार धर्माधर्मरूप बीज से आत्मा के रहित होने पर शरीरादि की निवृत्ति हो जाती है। यही उपशम अर्थात् मोक्ष की स्थिति है। इस प्रकार भारतीय षड्दर्शन में मोक्ष के सम्बन्ध में यत्किंचित् भेद अवश्य मिलता है। न्यायदर्शन में दुःख की अत्यन्त निवृत्ति को मोक्ष कहा है–

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः (न्या. सू. १.१.२२)।

सांख्ययोग के अन्तर्गत प्रकृति एवं पुरुष के असंपृक्त भाव का ज्ञान ही कैवल्य है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि आरम्भ में भाट्टमीमांसक मुक्ति में आनन्द की स्थिति को नहीं स्वीकार करते थे, किन्तु बाद में मानमेयोदय आदि ग्रन्थों के अन्तर्गत मुक्ति की स्थिति में आनन्दानुभव को स्वीकार किया गया है। वेदान्त में भी आत्मानुभव ही मोक्ष है। यही पूर्ण आनन्द की स्थिति है। जो भी हो, इस विषय में प्रायः मतैक्य है कि मनुष्य के पूर्वकृत धर्माधर्म ही बन्ध एवं मोक्ष के कारण बनते हैं। यही मापदण्ड भारतीय जीवन-दर्शन का प्रमुख आधार है।

समीक्षा एवं निष्कर्षसूत्र

न्याय-वैशेषिक का युग्म होने के कारण दोनों दर्शनपद्धतियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं, तथा दोनों के सिद्धान्तों, जैसे कार्यकारणवाद, परमाणुवाद, सृष्टिसिद्धान्त, पदार्थस्वरूपनिरूपण, कर्मवाद, प्रमाणप्रमेयविचार एवं मोक्षविचार आदि, बहुत कुछ साम्य दृष्टिगोचर होता है[2]। किन्तु फिर भी, दोनों दर्शनपद्धतियों में बहुत कुछ वैषम्य दृष्टिगोचर होता है।

१. न्याय एवं वैशेषिक-दर्शन के सम्बन्ध में, तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जाएगा, कि जहाँ न्यायदर्शन का प्रमाण एवं सांसारिक विषयों के निरूपण पर विशेष बल है, वहाँ, वैशेषिक के अन्तर्गत प्रमेयनिरूपण एवं पदार्थमीमांसा का विशेष विवेचन प्रस्तुत

---

१. तदा निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः। पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवद् उपशमो मोक्षः। प्र.पा.भा.पृ.२११।

२. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनप्रसारणगमनमिति कर्माणि। वै.सू.१.१.७।

किया गया है। यदि न्याय मत में षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति का विधान है, तो वैशेषिक के अन्तर्गत सप्तपदार्थबोध से मुक्ति की प्राप्ति होती है। वैशेषिक में पृथिवी आदि नौ द्रव्य माने गये हैं।

२. जहाँ न्यायदर्शन के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द, इन चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है, वहाँ वैशेषिक में केवल प्रत्यक्ष तथा अनुमान को ही स्वीकार किया गया है। वैशेषिक के अनुसार शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। जिस प्रकार स्वाभाविक सम्बन्ध को जानने वाले व्यक्ति को लिंगदर्शन (धूमदर्शन) तथा व्याप्ति के स्मरण से अप्रत्यक्ष पदार्थ का अनुमान होता है, उसी प्रकार, शब्द आदि का भी अनुमान होता है[1]। किन्तु वैशेषिकदर्शन के कुछ विद्वान् शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण भी स्वीकार करते हैं।

३. न्यायदर्शन के अनुसार इन्द्रियों के अनुरूप ही चाक्षुष, श्रावण, रासन, घ्राणज तथा स्पार्शन प्रत्यक्ष माने गये हैं। किन्तु वैशेषिक के अन्तर्गत केवल चाक्षुष **प्रत्यक्ष** को ही स्वीकार किया गया है।

४. न्यायदर्शन के अनुसार समवाय का प्रत्यक्ष माना गया है, जबकि वैशेषिकदर्शन समवाय का ज्ञान अनुमान से मानता है।

५. **पिठरपाक एवं पीलुपाक**–न्यायदर्शन में पिठरपाक को स्वीकार किया गया है, जबकि वैशेषिकदर्शन पीलुपाक का पक्षपाती है। कार्यरूप पृथ्वी के कारण परमाणु ही पार्थिव परमाणु कहे जाते हैं। रूपादि से, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श का ग्रहण होता है। इन चारों की पृथ्वी में पाकजोत्पत्ति अग्नि-संयोग से होती है। इसकी प्रक्रिया में मतान्तर है। नैयायिक पिठरपाकवाद का अनुसर्त्ता है। पिठरपाक-वाद के अनुसार जो घट आदि अवयवी कार्यद्रव्य है, उस पिठर पात्र में ही, पाक (कच्चे घड़े का पककर लाल हो जाना) हो जाता है, तथा घटादि पात्र का पूर्वरूप नष्ट होकर नवीन रूपादि उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु वैशेषिक द्वारा स्वीकृत पीलुपाकवाद के अन्तर्गत परमाणुओं में ही पूर्वरूप आदि का विनाश होकर नवीन रूपादि की उत्पत्ति होती है। यही पीलुपाकवाद है। पीलु का अर्थ परमाणु है।

नैयायिक के पिठरपाकवाद का निराकरण

नैयायिक के मतानुसार कार्य द्रव्य घट आदि में ही पूर्व श्यामरूप का नाश एवं रक्त रूप की उत्पत्ति हो जाती है। इस मत (पिठरपाकवाद) के अनुसार परमाणुपर्यन्त घटनाश तथा परमाणुओं मे ही क्रमशः घट की उत्पत्ति मानने की अपेक्षा नहीं है। वस्तुतः यहाँ, यह द्रष्टव्य है, कि घट आदि के

---

१. शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्। प्र.पा.भा.पृ. १५।
शब्दोऽनुमानं व्याप्तिवलेनार्थगमकत्वात्। न्यायकन्दली।

आरम्भ के परमाणु नितान्त संयुक्त, मिले हुए नहीं होते, अपितु छिद्रयुक्त होते हैं। इन परमाणुओं के मध्य, अग्नि के सूक्ष्म परमाणु प्रविष्ट हो जाते हैं। उदाहरण के लिये, मिट्टी के घट में घृत, तैल या जल भरा जाता है, तो बाहर भी प्रस्रवित होता देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है, कि घट के आरम्भक परमाणुओं के मध्य में, अवकाश वर्तमान है। इस प्रकार पीलुपाकवादी या परमाणुपाकवादी वैशेषिक का यही मत समुचित मानना चाहिए, कि पाकक्रिया कार्यद्रव्यरूप अवयवी घट में न होकर (जैसा कि पिठरपाकवादी नैयायिक मानता है) परमाणुओं में होती है।

६. **नैयायिक** के न्याय एवं वैशेषिक की हेत्वाभासपरम्परासम्बन्धी विचारणा में भी मतभेद है। जैसा कि, न्यायदर्शन की विवेचना के अवसर पर कहा जा चुका है। न्यायदर्शन में असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम तथा कालात्ययापदिष्ट, ये पाँच हेत्वाभास माने गये हैं, जबकि वैशेषिक में विरुद्ध, असिद्ध एवं सन्दिग्ध, ये तीन हेत्वाभास स्वीकार किये गये हैं।

निष्कर्ष रूप से, यह कहा जा सकता है, कि वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत पदार्थमीमांसा, गुणस्वरूपनिरूपण, प्रमाण-प्रमेयविवेचन, परिमाण के भेद तथा उत्पत्तिनिरूपण, पाकजोत्पत्तिप्रतिपादन एवं पीलुपाकस्थापना, सृष्टि प्रलय के सिद्धान्त का विश्लेषण तथा धर्माधर्म एवं मोक्ष आदि सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत करते हुए, प्रधानरूप से भारतीय दर्शन के भौतिक एवं यथार्थवादी तथ्यों का उद्घाटन किया गया है। निश्चय ही, वैशेषिक के अन्तर्गत विवेचित परमाणुसम्बन्धी एवं पाकजोत्पत्ति-आदि-विषयक सिद्धान्त तत्कालीन भौतिकी (Physics) के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। सम्प्रति इस शास्त्र के पुनरनुसन्धान की परमापेक्षा है।

●

सप्तम अध्याय

सांख्यदर्शन

अवतरणिका

प्रस्तुत दार्शनिक अध्ययन के अन्तर्गत आरम्भ से ही यह देखा गया है, कि प्रत्येक दर्शनपद्धति के अन्तर्गत, उसकी मूल पृष्ठभूमि में एक ओर यदि तत्पूर्ववर्त्ती दार्शनिक विचारों अथवा सम्प्रदाय के विचार सूत्र, किसी न किसी रूप में वर्त्तमान रहते हैं, तो दूसरी ओर ऋषि-मुनियों एवं मनीषी आचार्यों के प्रतिभा-आलोक की किरणें नूतन उद्भावनाओं की सृष्टि में तत्पर देखी जाती हैं। पूर्व एवं अपूर्व का यह स्वाभाविक संयोग एवं समन्वय प्रत्येक दर्शनपद्धति के अन्तर्गत दृष्टिगोचर होता है। यही कारण था, कि चार्वाकदर्शन की नास्तिकता, यदि जैन एवं बौद्ध दर्शन में अग्रसरित हुई थी, तो न्यायदर्शन के मूल में बौद्धन्याय की पीठिका वर्त्तमान थी। इसी प्रकार सांख्य दर्शन के अन्तर्गत भी, न्यायवैशेषिक के यथार्थवाद एवं कार्यकारणवाद के विश्लेषण का पृष्ठाधार स्पष्ट ही देखा जा सकता है। यही क्रम पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त में भी चरितार्थ होता देखा जाता है। यदि एक ओर सांख्य का अनीश्वरवाद मीमांसा में भी समर्थित है, तो दूसरी ओर मीमांसा के कर्मवाद से, ज्ञानवादी वेदान्त ने पूर्णतया मुक्ति नहीं पायी है। किन्तु यहाँ, यह भी विस्मरणीय नहीं होना चाहिए, कि चार्वाक की भौतिक दृष्टि, जैन एवं बौद्ध दर्शन का आचारिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन, न्याय एवं वैशेषिक का कार्यकारणवाद, मीमांसा का कर्मकाण्डदर्शन एवं वेदान्त की ज्ञानकाण्डदृष्टि आदि, इन दर्शन पद्धतियों की एक विशेष सूझ थी।

यहाँ, सांख्यदर्शन के सन्दर्भ में, यह वक्तव्य है, कि यह एक यथार्थवादी दर्शन है। एवं इसके अन्तर्गत प्रकृति एवं पुरुष, सृष्टि के विकासक्रम तथा कार्यकारणवाद की जो व्याख्या की गई है, वह इस दर्शन की एक अप्रतिम विशेषता है। सांसारिक दुःखों की निवृत्ति की जिज्ञासा से इस दर्शन का प्रारम्भ होना, इसकी व्यावहारिकता का ही द्योतक है। यह बात दूसरी है, कि इस दर्शन के अन्तर्गत आध्यात्मिक चिन्तन अत्यन्त गौण पड़ गया है। वस्तुतः सांख्यदर्शन अत्यन्त बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक दर्शन है। सांख्य दर्शन के प्रमुख पाश्चात्य विचारक गार्वे का तो यहाँ तक कहना है, कि मानवमस्तिष्क का पूर्ण स्वातन्त्र्य और उसका अपनी शक्तियों के प्रति पूर्ण विश्वास विश्व के इतिहास में सर्वप्रथम सांख्यदर्शन के अन्तर्गत ही प्रदर्शित हुआ है[१]। इसी विद्वान् ने एक और स्थल पर[२] सांख्यदर्शन को भारतीय दर्शनों में सर्वाधिक

---

१. Philosophy of ancient India, p. 30.

२. Sāṁkhyapravacanabhāṣya, XIV.

महत्त्वपूर्ण कहा है। यद्यपि गार्वे का उक्त कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है, परन्तु फिर भी यह तो स्वीकार्य ही है, कि सांख्य दर्शन यथार्थवादी एवं तत्त्वदार्शनिक दृष्टि से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयास है। अत एव सांख्य दर्शन के सम्बन्ध में 'नहि सांख्यसमं ज्ञानम्' आदि उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। यद्यपि इस प्रकार की उक्तियाँ अतिरंजनापूर्ण हैं। इस प्रकार की अर्थवादप्रधान सूक्तियाँ तो सभी दर्शनों के सम्बन्ध में मिलती हैं। अतः एतादृश उक्ति-सूक्तियों से किसी भी दर्शन के वास्तविक महत्त्व पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

सांख्य शब्द का अर्थ

(१) व्याकरणिक व्युत्पत्ति के अनुसार सम् उपसर्गपूर्वक चक्षिञ्-ख्याञ् दर्शनार्थक धातु से अङ्+टाप् प्रत्यय के योग से संख्या शब्द की निष्पत्ति हुई है। संख्या शब्द से अण् प्रत्यय होने पर सांख्य शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार सांख्य का अर्थ सम्यक् ज्ञान है। सांख्य दर्शन की प्रकृति-पुरुष-विवेक ख्याति एवं सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति के मूल में भी उपर्युक्त सांख्य शब्द का आशय ही निहित है। इस प्रकार यह कहना होगा, कि संख्या अथवा विवेकज्ञान के, सांख्य के मूलभूत सिद्धान्त होने के कारण ही, इस दर्शन का नाम सांख्य पड़ा है।

(२) कतिपय विद्वान् गणना अर्थवाची संख्या शब्द के आधार पर सांख्य शब्द की निष्पत्ति निर्धारित करते हैं। इस निष्पत्ति के निर्धारकों का विचार है, कि सांख्यदर्शन के अन्तर्गत पच्चीस तत्त्वों की गणना प्रधान रूप से की गई है। इसीलिए, इसका नाम सांख्य पड़ा है। इस मत का समर्थन महाभारत के निम्नलिखित श्लोकों से भी होता है–

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधीयताम् ।।
संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशस्तेन सांख्याः प्रकीर्त्तिताः।। महाभारत, १२-३२-४२ ।।

(३) शङ्कराचार्य ने शुद्ध आत्मतत्त्व के विज्ञान को सांख्य कहा है[1]। गीता भाष्य में भी शङ्कराचार्य ने सांख्य शब्द का अर्थ–'परमार्थवस्तुविषय' कहा है, जो ज्ञानपरक ही है[2]।

(४) डा. राधाकृष्णन् का मत है, कि सांख्य शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में दार्शनिक विचार के लिए ही प्रयुक्त होता था, न कि तत्त्वगणना के लिए, जैसे कि ऊपर कहा गया है।

मेरे विचार से सांख्य शब्द का दार्शनिक ज्ञानपरक अर्थ ही समुचित प्रतीत होता है। यद्यपि शङ्कराचार्यकृत आत्मतत्त्वविज्ञानपरक अर्थ सांख्य के सन्दर्भ में घटित नहीं होता, क्योंकि सांख्य में आत्मतत्त्व अस्वीकृत है, किन्तु शङ्कराचार्य द्वारा किया गृहीत विज्ञाम अर्थ (शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानम्) सांख्य के सन्दर्भ में पूर्णतया चरितार्थ होता है। इस प्रकार सांख्य शब्द का अर्थ दार्शनिक ज्ञान ही समीचीन

---

१. शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते। (विष्णुसहस्रनाम शाङ्करभाष्य)
२. सांख्ये परमार्थवस्तुविवेकविषये बुद्धिः। शा. भा. गी. २।३८।

है। इस मत के समर्थन में यह तथ्य भी विचारणीय है, कि अमरकोश में ज्ञानी एवं मनीषी के अर्थ में सङ्ख्यावान् शब्द का प्रयोग किया गया है–

धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः।
धीमान् सूरिः कृती कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः।। (अमर. २।७।५)

विज्ञानभिक्षु ने सांख्य शब्द का अर्थ आगम एवं श्रुति का मनन किया है,[1] जो उपर्युक्त ज्ञान अर्थ का ही समर्थक है, क्योंकि मनन ज्ञान का ही रूप है। अतः यह कहना होगा, कि सांख्य शब्द का अर्थ ज्ञानपरक ही है, एवं तत्त्वों की गणना से सम्बन्धित अर्थ प्रशस्त नहीं कहा जा सकता।

सांख्य दर्शन की प्राचीनता और उसके अनेक रूप

कुछ समालोचक विद्वानों में दर्शन ही नहीं, किसी भी शास्त्र की प्राचीनता को, साक्ष्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर, सिद्ध करने का प्रयास प्रायः देखने में आता है। ऐसे मनीषी विद्वान् निर्गलित एवं विशद तथ्यों की अवहेलना कर, प्राचीनता के मोह में तत्तत् सम्प्रदायों में वर्तमान तथ्यों एवं तर्कों की पूर्वाग्रहपर्वूक विवेचना करते हैं। यही बात सांख्य के आलोचक विद्वानों की पक्षपातपूर्ण धारणा के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। सांख्य की प्राचीनता के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं–

१. सांख्य वैदिक एवं औपनिषद दर्शन है

कुछ विद्वानों की धारणा है, कि सांख्य के मूल स्रोत संहिताओं एवं उपनिषदों में होने के कारण, वह एक वैदिक दर्शन है। इस मत के समर्थन में, ये विद्वान् सांख्य के सत्कार्यवाद के स्रोत के स्वरूप में 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ.) एवं ऋग्वैदिक पुरुषसिद्धान्त (सहस्रशीर्षा पुरुषः) को, सांख्यवर्त्ती पुरुष सिद्धान्त के मूल स्रोत के रूप में उद्धृत करते हैं। इसी प्रकार सांख्य को औपनिषद दर्शन के रूप में स्वीकार करने वाले विद्वानों का तर्क है, कि बृहदारण्यक उपनिषद् में 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ. उ. ४।३।१५) एवं कठोपनिषद् के 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ. उ. ३।११) आदि वचनों में सांख्यदर्शन के पुरुषसिद्धान्त के मूल स्रोत वर्त्तमान हैं। इसी प्रकार, इन विद्वानों का बलपूर्वक कहना है, कि 'सदेव सोम्य, इदमग्रे आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा. उ. ६।२।१), आदि सत्तत्त्व-निरूपक औपनिषद सिद्धान्त निःसन्देह सांख्य-सत्यकार्यवाद के मूल हैं। उपनिषदों में सांख्यदर्शन का मूल खोजने वाले आलोचक "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" (श्वे. ३.५-४) इस औपनिषद वचन में सांख्यस्वीकृत सत्त्व-रजस् एवं तमोगुणात्मिका प्रकृति का दर्शन करते हैं। सांख्य के औपनिषद होने का समर्थन करने वाले विद्वानों का यह भी तर्क है, कि उपनिषदों में परिणामवाद उपलब्ध

---

१. सांख्यप्रवचनभाष्य, अवतरणिका।

होता है और वही सांख्य परिणामवाद का मूल बीज है[1]।

२. पौराणिक एवं महाभारतवर्त्ती सांख्य

पुराणों में सांख्य दर्शन का अनुशीलन करने वाले विद्वानों का कथन है, कि ब्रह्म पुराण के अन्तर्गत चौबीस भेदों वाली प्रकृति को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति कहा है। इसी प्रकार विष्णुपुराण में पुरुष को परब्रह्म का रूप कहा है। एवञ्च व्यक्त, अव्यक्त एवं काल भी परब्रह्म के ही रूप हैं[2]। सांख्य के अध्येताओं का कहना है कि शान्तिपर्व के 'मोक्षधर्म' प्रकरण के अन्तर्गत प्राप्त निम्नलिखित श्लोक सांख्यसिद्धान्त के बोधक हैं–

यत्तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते।
आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम् ।। महा. २१८।१४।

पुण्यपापक्षयार्थं सांख्यज्ञानं विधीयते।
तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम् ।। महा. २६५।३८।

अत्र ने संशयो मा भूत् ज्ञा' सांख्यं परं मतम्।
अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।। महा. ३०१।१०१।

अप्रबुद्धमथाव्यक्तमगुणं प्राहुरीश्वरम्।
निर्गुणञ्चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च।। महा. ३०५।२२।

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत भी सांख्यसम्बन्धी अनेक विचार उपलब्ध होते हैं। यहाँ, यह उल्लेखनीय है, कि गीता में निरूपित-व्याख्यात सांख्य सेश्वर-सांख्य है[3]। सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त–प्रकृतिपरिणामवाद (परिणामतः सलिलवत् सां. का. १६) एवं, पुरुष का अकर्तृत्व (द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च, सा. का. १९), गीता में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं –

प्रकृतेः क्रियमाणानि, गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।। गी. ३।२६।
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानकमर्तारं च पश्यति।। गीता, १३।२८।

---

१. छा. उ. ६।१।४।
२. परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विजः।
व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम् ।। विष्णु पुराण, १।२।१५।
३. मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः क्रियते सचराचरम्। हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्त्तते।। गी. ९।१०।

सांख्य बुद्धपूर्ववर्त्ती है

वैदिकी हिंसा की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बौद्धों ने अहिंसावाद की विचारधारा का, तथा कर्मकाण्ड का निराकरण करते हुए, अनीश्वरवाद का प्रचार किया था। इस प्रकार बौद्ध अवैदिक सिद्ध हुए। किन्तु बौद्धों को अनीश्वरवाद की एवं अन्य सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना में सांख्यदर्शन से भी प्रेरणा मिली। उदाहरणार्थ ऐसा उल्लेख मिलता है, कि बुद्ध ने अराडकलाम नामक सांख्य विद्वान् से बुद्ध सांख्य ज्ञान प्राप्त किया था। इसी प्रकार प्राचीन सांख्याचार्य वार्षगण्य से बौद्धों को अनीश्वरवाद का पर्याप्त ज्ञान मिला था। आदान-प्रदान के इस क्रम का यह फल भी हुआ कि आगे चलकर सांख्य के कपिलप्रभृति आचार्यों पर भी बौद्ध दर्शन के नास्तिकवाद एवं अनीश्वरवाद का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि नास्तिकवाद एवं अनीश्वरवाद की दृष्टि से बौद्ध एवं सांख्य विचारधारा में साम्य है, किन्तु दोनों का यह अन्तर द्रष्टव्य है कि बौद्धों ने ज्ञान को उसके अनेक घटकों के रूप में माना था। बौद्धों का कहना था कि ज्ञान के विभिन्न घटकों के समन्वय से चेतनस्थिति का जन्म होता है। बौद्धों के मतानुसार यह समन्वय आत्मा की भ्रमात्मक धारणा का आधार था, कारण कि यह समन्वय स्थायी न होकर मात्र एक क्षणिक स्थिति है। इसके विपरीत सांख्य दर्शन के अनुसार शुद्ध चित् (पुरुष) न भ्रमात्मक है, और न ही कोई अमूर्त्त धारणा, अपितु यह एक ठोस एवं अनुभवातीत तत्त्व है। यही तत्त्व सांख्य का पुरुष तत्त्व है, जो प्रत्येक व्यक्ति में पृथक्-पृथक् स्वीकार किया गया है। 'पुरुष' तत्त्व का विवेचन इसी अध्याय में आगे यथावसर किया जाएगा।

चरकसांख्य

चरक का सांख्य महाभारत तथा पौराणिक सांख्य से बहुत-कुछ मिलता है। पुरुष का अव्यक्तावस्था के अन्तर्गत स्वीकार करना, तन्मात्राओं की अस्वीकृति, मुक्तावस्था में पुरुष की चेतनारहित स्थिति की स्वीकृति आदि चरकसांख्य की अनेक विशेषतायें महाभारत के समान ही हैं[1]। चरक पंचशिख के अनुयायी थे।

सांख्यसूत्र तथा सांख्यकारिका का सांख्य

सांख्यसूत्र तथा सांख्यकारिका का सांख्य निरीश्वरवादी है। यद्यपि सांख्यसूत्र के अन्तर्गत

---

१. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।।
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं च पश्यति।। गीता १३। २६, २८।
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणाँश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। गीता, १३। १८।
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।। गीता, १३। २१।

व्यवस्थापक ईश्वर का संकेत अवश्य मिलता है,[१] किन्तु जैसा कि मैक्समूलर ने भी उल्लेख किया है,[२] सांख्यसूत्र में ईश्वरसिद्धि के लिए कोई तर्क नहीं प्रस्तुत किया गया है। किन्तु, यहाँ यह भी स्वीकार्य है कि सांख्यसूत्र में कपिल ने ईश्वर के खण्डन के लिए भी कोई तर्क नहीं दिया है।

विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रतिपादित सांख्य

विज्ञानभिक्षु सांख्यदर्शन के सामञ्जस्यवादी आचार्य थे। इन्होंने ईश्वरवाद की पुनः प्रतिष्ठा की थी, तथा सांख्य एवं वेदान्त का समुचित सामञ्जस्य भी प्रतिपादित किया था।

उपर्युक्त के अतिरिक्त गुणरत्न ने तत्त्वरहस्यदीपिका[३] के अन्तर्गत मौलिक्य एवं उत्तरनामक दो अन्य सांख्यसम्प्रदायों की चर्चा की है। मौलिक्य सांख्यसम्प्रदाय के अनुसार प्रत्येक आत्मा के लिए एक पृथक् 'प्रधान' की सत्ता स्वीकार की गई है। यह प्राचीन सांख्य सिद्धान्त है। महाभारत तथा चरक-सांख्य, इसी का प्रतिरूप प्रतीत होता है। जहाँ तक, उत्तरसांख्य का प्रश्न है, यह सांख्यकारिका में वर्णित निरीश्वर सांख्य का ही स्वरूप कहा जा सकता है।

इस प्रकार ऊपर किए गए अनुशीलन से सांख्य दर्शन के अनेक रूप मिलते हैं। यहाँ उपर्युक्त मतों एवं विचारों की समीक्षा अपेक्षित है।

समीक्षा, प्रथम मत

प्रथम मत के अनुसार सांख्य दर्शन को वैदिक एवं औपनिषद कहा जाता है। तदनुसार इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में संहिताओं एवं उपनिषदों में देखने के प्रयास किए जाते हैं। इस सम्बन्ध में, यह तथ्य विचारणीय है, कि सत्कार्यवाद के मूल में, जिस ऋग्वैदिक सत् (एकं सत्) एवं सांख्य दर्शन के पुरुषवाद के मूल में जिस ऋग्वैदिक पुरुषसिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है, वही वेदान्त दर्शन के अध्येताओं द्वारा अद्वैतवादसम्मत सद्वाद एवं ब्रह्मवाद के बीज के रूप में अंगीकृत है। अतः ऋग्वैदिक सद्वाद एवं पुरुष सिद्धान्त को सांख्यसत्कार्यवाद एवं पुरुषवाद का रंग देना अनुचित ही कहा जाएगा। वास्तविक तथ्य तो यह है कि संहितावर्त्ती ऋषियों के अनुभवों पर किसी सिद्धान्त विशेष की मोहर नहीं लगी है, वे तो स्वतन्त्र ज्ञानानुभूतियाँ हैं।

इसी प्रकार उपनिषदों में सांख्य तत्त्वों को खोजने वाले आलोचक विद्वानों के मत के सम्बन्ध में यह कहना होगा, कि इन विद्वानों के अनुसार, जैसा कि ऊपर प्रथम मत को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है, सांख्य के पुरुष एवं उसकी असङ्गता का दर्शन बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में देखना औचित्यपूर्ण नहीं है। और, क्या वेदान्त में 'पुरुष' आत्मा का बोधक नहीं है। इसी प्रकार, क्या, "सदेव सोम्य." के अन्तर्गत 'सत्' से वेदान्त के मूल परमार्थ सत् का निर्देश नहीं मिलता। क्या, "अजामेकाम्" श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह वचन, जो सांख्यानुयायियों के मतानुसार सांख्य की प्रकृति का मूल है, वेदान्त

---

१. महाभारत, १२। २१६।

२. Maxmuller, Indian philosophy, vol. III P. 218.

३. तत्त्वरहस्यदीपिका, पृ० ८८।

की त्रिगुणात्मिका माया का बोधक नहीं है। जहाँ तक, उपनिषदों में सांख्य परिणामवाद की प्राप्ति का प्रश्न है, वहाँ यह कहना होगा, कि छान्दोग्य श्रुति–"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" 'मिट्टी के बने, अनेक पदार्थ विकार' वाचारम्भण, कहने मात्र के हैं, तथा केवल नाम मात्र के हैं, सत्य कारण तो मिट्टी ही है, विवर्त्तवाद की ही समर्थक है, परिणामवाद की कदापि नहीं। उक्त श्रुति के अन्तर्गत विकार शब्द का प्रयोग अवश्य है, जो परिणामार्थवाची भी है, किन्तु विकार शब्द यहाँ मृत्तिकानिर्मित घटादि कार्यों के मिथ्यात्व का सूचक है। इस श्रुति के अन्तर्गत विवर्त्तवाद सिद्धान्त के द्वारा द्वैतता का निराकरण करते हुए अद्वैतवाद की पुष्टि की गई है, परिणामवाद या द्वैतवाद की नहीं। इसीलिए, आगे चलकर, 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा. ६.२.२) कहकर अद्वैतवाद का ही समर्थन किया गया है। अतः मात्र छिट-पुट शब्दों के आधार पर उपनिषदों में किसी सिद्धान्त विशेष की सत्ता स्वीकार करना समीचीन नहीं है। यहाँ यह कहना अपेक्षित है, कि क्या, उपनिषदों में सांख्यसिद्धान्तों के समर्थक विद्वान् उपनिषद्वर्त्ती ब्रह्मवाद, आत्मवाद, माया, अविद्यावाद आदि सिद्धान्तों को सांख्य दर्शन में कोई स्थान दे सकेंगे। अतः यदि समग्रता की दृष्टि से उपनिषदों का अनुशीलन किया जाएगा, तो वेदान्त ही औपनिषद सिद्धान्त सिद्ध होगा,[1] सांख्यादि नहीं। यह बात दूसरी है, कि सांख्यादि दर्शनसम्प्रदायों के कुछ महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द, जैसे, पुरुष, प्रकृति, व्यक्त एवं अव्यक्त, तथा कतिपय विचारबिन्दु उपनिषदों में भी मिल जाएँ।

उपर्युक्त पर्यालोचन के आधार पर, सांख्यदर्शन के प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् गार्वे का यही मत समीचीन प्रतीत होता है, कि सांख्यदर्शन उपनिषदों के प्रज्ञानाद्वैतवाद (Idealistic view) की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था[2]। गार्वे के मत की समीचीनता में यह प्रमुख हेतु है, कि औपनिषद दर्शन अद्वैतवादसम्मत है, जबकि सांख्यदर्शन द्वैतवाद का समर्थक एवं प्रमुखतया भौतिकवाद का ही अनुयायी है। अतएव पाश्चात्य समालोचक विद्वान् जैकोबी भी सांख्य दर्शन का विकास प्राचीन उपनिषदों से न मानकर, उसे भौतिकवाद पर आधारित स्वीकार करते हैं[3]। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् कीथ ने भी औपनिषद दर्शन एवं सांख्य दर्शन के मध्य भेद-रेखा को स्पष्ट करते हुए यह तथ्य उजागर किया है, कि कठ. उपनिषद् का विशुद्ध निर्गुणब्रह्मवाद एवं श्वेताश्वतरोपनिषद्वर्त्ती सेश्वरवाद सांख्यविचारधारा से मूलतया भिन्न है। इस प्रकार सांख्यदर्शन को औपनिषद दर्शन कहना, समुचित नहीं माना जा सकता। ऊपर दिए गए **द्वितीय मत** के अनुसार पुराणों एवं महाभारत में सांख्यदर्शन का विकास देखा जाता है।

---

१. वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्। वेदान्तसार, १।

२. देखें, गार्वे का Sāṅkhya नामक निबन्ध (Encyclopaedia of Religion and Ethies, vol. XI Page, 189).

३. The Upaniṣads, however differ essentially basically from the Sāṅkhya in the fact that they definitely accept either the doctrine of the absolute in its pure form, as does the Kaṭha, or the doctrine in a theistic form as does the Śvetāśvatara. Sāṅkhya system, Page 59-60.

इस सम्वन्ध में हमारा यही वक्तव्य है, कि पुराणों की प्रकृति के अनुसार, उनमें प्रायः सभी प्रमुख दर्शनों के सम्वन्ध में संक्षिप्त अथवा विस्तृत विवेचन मिलते हैं। पुराणों में, अद्वैतवेदान्त भी वर्त्तमान है, और वेष्णव वेदान्त भी, न्याय भी और वैशेषिक भी, इसी प्रकार सांख्य भी और योग भी, तथा च शैवदर्शन पुराणों में सर्वथा उपलभ्यमान है। किन्तु, यह ध्यातव्य है, कि पौराणिक दर्शन प्रायः मिश्रित रूप में ही मिलते हैं। जहाँ तक पौराणिक सांख्य की बात है, जैसा कि ऊपर **द्वितीय मत** को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है, विष्णुपुराण के अनुसार २४ तत्त्वों वाली प्रकृति को ब्रह्म की प्रकृति (परस्य ब्रह्मणो रूपम्.) बतलाया गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि इस स्थल पर, ब्रह्म वेदान्त का सिद्धान्त है, एवं प्रकृति सांख्य की। इसी प्रकार, महाभारतवर्त्ती सांख्य के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा शान्तिपर्व (मोक्षधर्म) के जो उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं, वे भी पौराणिक सांख्य के मिश्रित होने के ही द्योतक हैं। उदाहरणार्थ, "यत्तदेकाक्षरं ब्रह्म" "ब्रह्मभावे परां गतिम्" "पूर्णं ब्रह्म सनातनम्" "निर्गुणं चेश्वरं नित्यम्" आदि ऊपर द्वितीय मत की प्रस्तुति के अवसर पर दिए गए उदाहरण अद्वैत वेदान्त के प्रभाव को ही स्पष्टतया परिलक्षित करते हैं। अतः पुराणवर्त्ती सांख्य वेदान्तदर्शन से पूर्णतया प्रभावित ही कहा जाएगा। जहाँ तक, श्रीमद्भगवद्गीतावर्त्ती सांख्य का प्रश्न है, वह भी अद्वैतवेदान्त के विचारों से प्रभावित है। बालगङ्गाधर तिलक ने भी महाभारत एवं गीता के सांख्य को अद्वैतवेदान्तविषयक विचारों का फल कहा है।[1] निदर्शनार्थ, गीता में 'पुरुष' को परमात्मा भी कहा गया है[2]। **तृतीय मत**–तृतीय मत के अनुसार, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, सांख्य को बुद्ध-पूर्ववर्त्ती स्वीकार किया जाता है, तथा यह कहा जाता है, कि बौद्धों को अनीश्वरवाद की प्रेरणा सांख्य से ही मिली थी। वस्तुतः बौद्धों एवं सांख्यों के इस आदान-प्रदान के युग में नास्तिकवाद एवं अनीश्वरवाद जैसे समान सिद्धान्तों के सन्दर्भों में, बौद्ध एवं सांख्य दार्शनिकों का एक-दूसरे से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। फिर भी, दोनों की मूल वैचारिक पृष्ठभूमि स्वतन्त्र होने के कारण दोनों में भेद की रेखायें भी स्पष्ट हैं। **चतुर्थ मत** के अन्तर्गत उल्लिखित चरक सांख्य, जैसा कि कहा गया है, बहुत कुछ महाभारतवर्त्ती सांख्य के ही समान है। चरक के बहुत से मूल सिद्धान्त ऐसे भी हैं, जो महाभारतवर्त्ती पंचशिख के सांख्यसिद्धान्त से मेल नहीं खाते। इस प्रकार चरक का सांख्य मिश्रितसांख्य ही कहा जाएगा। **पञ्चम मत** के अन्तर्गत, ऊपर यह कहा जा चुका है, कि कपिल के सांख्यसूत्र एवं सांख्यकारिका का सांख्य निरीश्वरसांख्य है। किन्तु सांख्यसूत्र की प्रामाणिकता सुनिश्चित नहीं है। इसका कारण यह है, कि सांख्यसूत्र के रचयिता कपिल का काल निश्चित नहीं है। श्रीमद्भागवत में, इन्हें भगवान् विष्णु का पञ्चम अवतार कहा गया है। एक मत ऐसा भी मिलता है, कि मानवरूप में कपिल रहे ही नहीं। उदयवीर शास्त्री ने सांख्यसूत्र के रचयिता कपिल का काल महाराज सगर का काल माना है। यह काल सत्ययुग का अन्तिम काल था। किन्तु यह काल उपनिषदों से पूर्ववर्त्ती है, या परवर्त्ती, यह कहना कठिन है। फिर, उपनिषदों का काल भी तो सुनिर्धारित नहीं है। एक अन्य मत यह भी मिलता है, कि विज्ञानभिक्षु ही सांख्यसूत्र एवं भाष्य, दोनों के रचयिता हैं। इस प्रकार कपिल एवं सांख्य

---

१. आद्याप्रसाद मिश्र, सांख्यदर्शनपर्यालोचन, पृ. ५२।
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान दिल्ली, १९८९ ई.।

२. देखें, उमेश मिश्र, 'भारतीयदर्शन' पृ. २६६।

सूत्र की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता संदिग्ध है। अतः यही निष्कर्ष निकलता है, कि एकमात्र ईश्वरकृष्ण (२०० ई. पू.) रचित सांख्यकारिका ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो रचनाकाल एवं विषयसामग्री की दृष्टि से प्रामाणिक माना जा सकता है। यह ग्रन्थ निरीश्वरसांख्य का प्रतिपादन करता है। जैसा कि, पौराणिक एवं महाभारतवर्ती सांख्य में देखने में आता है, सांख्यकारिका में वर्त्तमान सांख्यसिद्धान्तों में परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं है और न ही उन पर वेदान्त के ब्रह्मवाद पर किसी अन्य सिद्धान्त का प्रभाव ही स्पष्ट परिलक्षित होता है। सांख्यकारिका की प्रामाणिकता इससे भी आँकी जा सकती है, कि शंकराचार्य जैसे, मनीषी विद्वान् ने सांख्य सिद्धान्त का पर्यालोचन करते समय सांख्यकारिका को ही उद्धृत किया है, सांख्यदर्शन के किसी अन्य ग्रन्थ को नहीं। वस्तुतः सांख्यदर्शन के क्षेत्र में, ईश्वरकृष्ण का वही महत्त्व है, जो अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में शङ्कराचार्य का महत्त्व है। यदि विचार कर देखा जाय, तो सांख्यदर्शन की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता का आधार सांख्यकारिका को ही मानना चाहिए।

जहाँ तक, विज्ञानभिक्षु (१६०० ई.) का सम्बन्ध है, इन पर वेदान्त दर्शन का पर्याप्त प्रभाव है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भी विज्ञानामृतभाष्य लिखा है। सांख्यसूत्र पर तो इनका सांख्यप्रवचनभाष्य प्रसिद्ध है। सांख्यप्रवचनभाष्य में भी विज्ञानभिक्षु द्वारा सांख्य एवं वेदान्त के सिद्धान्तों का समन्वय ही प्रस्तुत किया गया है। अतः यह मानना होगा कि विज्ञानभिक्षु एक समन्वयवादी दार्शनिक थे। इनकी कृतियों एवं सिद्धान्तों के सम्बन्ध में आगे विवेचन किया जाएगा।

सांख्यदर्शन के प्रमुख आचार्य एवं उनकी कृतियाँ

अभी पीछे, सांख्यदर्शन के प्राचीन एवं मूलसूत्रों (विकसित एवं अविकसित) का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। इस स्थल पर सांख्यदर्शन के प्रमुख आचार्यों एवं टीकाकारों के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

कपिल–कपिल के नाम से आज **सांख्यसूत्र** नामक सांख्यदर्शन का प्रमुख ग्रन्थ मिलता है। सांख्यसूत्र के अन्तर्गत ६ अध्याय तथा ५३६ सूत्र हैं। इनमें सांख्य दर्शन के मूल सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। सांख्यसूत्र के प्रथम अध्याय में सांख्यविषय का निरूपण, जिसमें त्रिविधदुःखत्रयनिवृत्ति एवं मोक्षादि आते हैं, किया गया है। द्वितीय अध्याय में, प्रधानादि, तृतीय अध्याय में वैराग्य, चतुर्थ अध्याय में सांख्यतत्त्व बोधक रोचक आख्यायिकाओं, पञ्चम अध्याय में परपक्ष का निराकरण एवं षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत सांख्य सिद्धान्तों, जैसे पुरुष, पुरुषार्थादि का निरूपण वर्त्तमान है। सांख्यसूत्र पर 'अनिरुद्धवृत्ति' नाम्नी टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विज्ञानभिक्षु (१६०० ई.) का सांख्यप्रवचनभाष्य तो प्रसिद्ध ही है। सांख्यसूत्र के रचनाकाल के सम्बन्ध में मतभेद है। सर्वदर्शनसंग्रह में इसका उल्लेख न होने के कारण, इसे १४०० ई. के पश्चाद्वर्ती कहा जाता है, किन्तु माधवमन्त्री (१४०० ई.) की टीका में "सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था मूलप्रकृतिः" (सां. सू. १६१) उद्धृत है, अतः इसके १४०० ई. से पूर्वकाल का मानना ही संगत है। कपिल की दूसरी कृति **तत्त्वसमास** है। **तत्त्वसमास** की अनेक टीकाएँ

मिलती हैं, जिनमें शिवानन्दकृत सांख्यतत्त्वविवेचन भावगणेश (१६वीं शता.) कृत सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन, सर्वोपकारिणी एवं सांख्यसूत्रविवरण प्रमुख हैं। विद्वानों का विचार है कि सांख्यसूत्र एवं तत्त्वसमास के रचयिता दो स्वतन्त्र कपिल थे। इस मत के अनुसार सांख्यसूत्र के रचयिता, कपिल अग्निदेव के अवतार थे, तथा तत्त्वसमास के रचयिता कपिल भगवान् विष्णु के अवतार तथा कर्दम एवं देवहूति के पुत्र थे[१]। किन्तु विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र एवं तत्त्वसमास के रचयिता भगवान् विष्णु के अवतार, एक ही महर्षि कपिल को माना है।

तत्त्वसमास के रचना काल के सम्बन्ध में मतभेद मिलता है। कतिपय विद्वान् तत्त्वसमास को प्राचीन मानते हैं, तो एक दूसरे विद्वान्, कीथ इसे १४०० ई. के पश्चात् का मानते हैं। इसका तर्क वे, यह प्रस्तुत करते हैं कि माधवाचार्य (१४०० ई.) ने सर्वदर्शनसंग्रह में तत्त्वसमास का उल्लेख नहीं किया है। दासगुप्त एवं गार्वे भी इसी मत के समर्थक हैं। किन्तु यह मत बहुत तर्कपुष्ट नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है, कि सर्वदर्शनसंग्रह में तत्त्वसमास का उल्लेख अनिवार्य नहीं कहा जा सकता। अत एव मैक्समूलर इसे प्राचीन मानते हैं। इसे प्राचीन मानने में यह तर्क दिया जा सकता है कि भगवदज्जुक (७०० ई.) नाटक में, जो महेन्द्रविक्रम के समय लिखा गया था, तत्त्वसमास के आठ सूत्र उद्धृत हैं[२]। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि तत्त्वसमास सप्तम शताब्दी से पूर्वकालिक है।

यहाँ, सांख्यसूत्र एवं तत्त्वसंग्रह के रचयिता कपिल के सम्बन्ध में विचार अपेक्षित है। एक मत के अनुसार, यदि कपिल एक काल्पनिक व्यक्ति थे, तो एक अन्य मत के अनुसार, वे ऐतिहासिक महापुरुष थे। प्रथम मत के अनुसार श्वेताश्वतरोपनिषद्वर्त्ती "ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे"–के अन्तर्गत कपिल से भास्कराचार्य आदि ने हिरण्यगर्भ का अर्थ ग्रहण किया है। वाचस्पतिमिश्र ने योगसूत्र (१-२५) की टीका में, कपिल को हिरण्यगर्भ कहा है[३]। पाश्चात्य विद्वान् कीथ भी, इसी मत के समर्थक हैं[४]। किन्तु, इस मत के विपरीत शङ्कराचार्य ने कपिल को सांख्य का उपदेष्टा स्वीकार किया है। यहाँ, यह अवश्य उल्लेखनीय है, कि शङ्कराचार्य ने सांख्याचार्य कपिल को वासुदेव नामक वैदिक कपिल (सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करने वाले) से भिन्न माना है। कपिल के काल्पनिक न होकर ऐतिहासिक व्यक्ति होने में, यह तथ्य सर्वाधिक प्रमाणक है, कि योगसूत्र (१.२५) के भाष्यकार व्यास ने कपिल महर्षि को, जिज्ञासु आसुरि को सांख्य की शिक्षा देने वाला कहा है[५]। विज्ञानभिक्षु ने भी स्पष्ट कहा है, कि सृष्टि

---

१. देखें, तत्त्वसमास की सर्वोपकारिणी टीका–
"अथात्र .... सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारभगवत्कपिलप्रणीता, इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धाः।।

२. भगवदज्जुक , पृ. १-१५।

३. कपिलो स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्ययोगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते। तत्त्ववैशारदी, यो. सू. १.२५।

४. Sāṅkhya system, p. 9.

५. अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्ना स्मरणात्। (ब्र. सू. शा. भा. २।१।१.)

के आदि में, आदि विद्वान् स्वयम्भू के रूप में उत्पन्न विष्णु ने ही योगबल से चित्त में अंशतः प्रविष्ट होकर कपिल नाम से, जिज्ञासु आसुरि को तत्त्व का उपदेश दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में भी स्वयं को कपिल मुनि कहा है--इस प्रकार इतना तो अवश्य सिद्ध होता है, कि कपिल काल्पनिक न होकर एक ऐतिहासिक महापुरुष थे, किन्तु यह कहना कठिन है, कि सांख्य के रचयिता वैदिक थे, अथवा अवैदिक थे।

आसुरि

आसुरि कपिल के शिष्य थे। आसुरि की ऐतिहासिकता में भी किञ्चित् सन्देह है। कीथ आसुरि को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने के विरुद्ध हैं।[1] परन्तु प. गोपीनाथ कविराज इन्हें ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार करते हैं[2]। आसुरि के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में, यह प्रबल प्रमाण है, कि हरिभद्र सूरि (७२५ ई.) ने एक श्लोक[3] को षड्दर्शनसमुच्चय के अन्तर्गत आसुरि के नाम से उद्धृत किया है। महाभारत में भी असुरि को पञ्चशिख का गुरु कहा गया है। अतः आसुरि का काल ७०० ई. से पूर्व माना जा सकता है। आसुरि रचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

पञ्चशिख

पञ्चशिख के गुरु आसुरि थे। पञ्चशिख पञ्चरात्र अथवा भागवत सम्प्रदाय के भी विज्ञाता थे। पञ्चशिख लिखित कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। किन्तु, चीनी परम्परा के अनुसार प्रसिद्ध षष्टितन्त्र के रचयिता पञ्चशिख ही थे। जयमङ्गला में प्राप्त षष्टितन्त्रसम्बन्धी उल्लेखों के आधार पर हिरियन्ना का भी यही मत है, कि षष्टितन्त्र पञ्चशिखप्रणीत है। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भास्कराचार्य का भी यही मत है, कि षष्टितन्त्र पञ्चशिखरचित है[5]। इस मत के विपरीत पं० रामावतार शर्मा का मानना है, कि षष्टितन्त्र के प्रणेता वार्षगण्य थे। पञ्चशिख के कतिपय सिद्धान्त योगभाष्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी, एवं भामती आदि ग्रन्थों में अन्वेषणीय हैं। पञ्चशिख के मतानुसार मीमांसा के विपरीत 'वैदिकी हिंसा' भी पापरूपिणी होती है, जिसका फल व्यक्ति को स्वर्ग में भी भोगना पड़ता है।

वार्षगण्य

जैसा कि ऊपर कहा गया है, विद्वानों का एक वर्ग वार्षगण्य को षष्टितन्त्र का प्रणेता मानता

---

१. Sanskhya System, P. 47, 48.

२. जयंमगला, भूमिका, पृ. ३।

३. विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ।। (षड्दर्शनसमुच्चय)

४. शान्तिपर्व, प्र. १२८।

५. कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितन्त्राख्यस्मृतेः।, (भास्करभाष्य, ब्र. सू. २।१।१)

है। वार्षगण्य के काल के सम्बन्ध में, यह कहना होगा, कि ये अश्वघोष के बुद्धचरित (१२।३३) में उद्धृत वार्षगण्य, अश्वघोष (ई. प्रथम शता. का अन्त) से पूर्व ही रहे होंगे[1]। बौद्ध विद्वान् परमार्थ द्वारा रचित सांख्यकारिका की टीका सुवर्णसप्ततिशास्त्र के चीनी अनुवाद के संस्कृतरूपान्तर में अय्यास्वामी शास्त्री ने सांख्य की जो परम्परा प्रस्तुत की है, उसमें सांख्याचार्य वार्षगण्य का उल्लेख मिलता है। इस परम्परा के अनुसार वार्षगण्य सांख्यकारिका के लेखक ईश्वरकृष्ण के गुरु थे[2]।

विन्ध्यवास

विन्ध्यवास वार्षगण्य की परम्परा के अनुयायी थे। किन्तु, सांख्यकारिका के लेखक, ईश्वरकृष्ण, कपिल की परम्परा के, तथा आसुरि, पञ्चशिख द्वारा प्रवर्त्तित परम्परा के अनुसर्त्ता थे। विन्ध्यवास के समय के सम्बन्ध में भी मतभेद है। विन्ध्यवास के स्थिति-काल के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत मिलते हैं–

१. तनसुखराम ने माठरवृत्ति की भूमिका के अन्तर्गत विन्ध्यवास को व्याडि से अभिन्न एवं नन्दकालीन कहा है[3]। इस दृष्टि से विन्ध्यवास का समय चतुर्थ शता. (ई. पू.) हो सकता है।

२. एक मत के अनुसार विन्ध्यवास एवं ईश्वरकृष्ण एक ही व्यक्ति माने जाते हैं, किन्तु यह समुचित नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है, कि दोनों के विचारों में मतभेद मिलता है[4]।

३. तकाकुसु ने विन्ध्यवास का समय ई. पञ्चमशताब्दी का मध्य माना है।

इस प्रकार विन्ध्यवास के स्थितिकाल के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी, इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि इनका समय पाँचवीं शताब्दी का मध्यकाल माना जा सकता है। इस प्रकार ये, निश्चय ही, सांख्यकारिका के प्रणेता ईश्वरकृष्ण के परवर्त्ती थे।

कुमारिल के अनुसार, विन्ध्यवास यह नहीं स्वीकार करते थे, कि मृत्यु के पश्चात् जीव

---

१. Jonson Early Sāṅkhya, P. 91.

२. इदं ज्ञानं कपिलादासुरेरायातम्। आसुरिणा पञ्चशिखस्य उपदिष्टम्। पञ्चशिखेन गार्ग्यस्योपदिष्टम्। गार्ग्येण उलूकस्योपदिष्टम्। उलूकेन वार्षगण्यस्य। वार्षगण्येन ईश्वरकृष्णस्य। एवं क्रमेण ईश्वरकृष्ण इदं ज्ञानमलभत। (सुवर्णसप्तशती, चीनी अनुवाद का संस्कृतरूपान्तर, पृ. १८)

३. माठरवृत्ति भूमिका, पृ० ३, (चौखम्बा, वाराणसी) षड्दर्शनसमुच्चय।

४. देखें, श्लोकवार्त्तिक, पृ० २८३ तथा २८४, योगसूत्र, ४।२२ पर भोजवृत्ति, स्याद्वादमञ्जरी (चौखम्वा सं.) तथा सर्वदर्शनसंग्रह की गुणरत्नटीका, पृ० १०२, १०४।

'आतिवाहिक शरीर' के द्वारा किसी अन्य स्थान पर जाता है[1]।

ईश्वरकृष्ण

इनका समय ई. पू. द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है। इनके द्वारा रचित **सांख्यकारिका** सांख्यदर्शन के समस्त ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका के अन्तर्गत कपिल, आसुरि एवं पञ्चशिख द्वारा प्रचारित सांख्य विचारधारा का अनुसरण किया है[2]। इन्होंने षष्टितन्त्र के आधार पर ही सांख्यकारिका का प्रणयन किया था। सांख्यकारिका ही कनक-सप्तति, सांख्यसप्तति, सुवर्णसप्तति तथा हिरण्यसप्तति के नाम से प्रचलित है। किन्तु चीनी परम्परा के अनुसार हिरण्यसप्तति को सांख्यकारिका की टीका भी माना जाता है।

सांख्यकारिका की कारिका संख्या के विषय में मतभेद विचारणीय है। जैसा कि 'सप्तति' इस शब्द से स्पष्ट है, इसमें सत्तर कारिकाएँ होनी चाहिए।

वैसे तो प्रायः आज सांख्यकारिका में ७२ कारिकाएँ ही मिलती हैं। किन्तु यदि माठरवृत्ति में दी गई निम्नलिखित कारिका को ग्रहण किया जाय तो कारिका संख्या ७३ हो जाती है–

तस्मात् समासदृष्टं शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम्।
तन्त्रस्य च बृहन्मूर्तेर्दर्पणसङ्क्रान्तमिव बिम्बम्॥

सांख्यकारिका की कारिका संख्या के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं –

१. जो ७२ कारिकाएँ आज उपलब्ध हैं, उनमें सांख्य सिद्धान्त की प्रतिपादक ६८ कारिकाएँ ही हैं।

२. गौड़पाद (६०० ई.) भाष्य में, सांख्यकारिका की ६८ कारिकाओं पर टीका मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि गौड़पादाचार्य के समय (६०० ई.) में ही एक कारिका लुप्त हो गई थी। क्योंकि ईश्वरकृष्ण ने "सप्तत्याः किल येऽर्थाः" (सा. का. ७२) कहकर विषयप्रतिपादक ७० कारिकाओं का स्पष्ट निर्देश किया है।

३. आज प्राप्त ७२वीं कारिका में ईश्वरकृष्ण कहते हैं कि जिन विषयों का प्रतिपादन ७० कारिकाओं में हुआ है, वे सब निश्चित ही (किल) षष्टितन्त्र के ही हैं। किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, क्योंकि आज प्राप्त ६०वीं कारिका में तो सांख्यदर्शन के तीन आचार्यों–कपिल, आसुरि एवं पञ्चशिख का क्रम वर्णित है[2]। इसमें विषय का प्रतिपादन निरूपण कहाँ है।

४. अतः "सप्तत्याः किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य" (सा. का. ७२) इस कथन के अनुसार ७०वीं कारिका में भी विषय का प्रतिपादन होना चाहिए।

५. अतः, आज जो ७०वीं कारिका (एतत् पवित्रमग्र्यम्.)प्राप्त है, वह समुचित नहीं है।

---

१. अन्तराभवदेहात्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना। श्लोकवार्त्तिक आत्मवाद, ६२।

२. एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्॥ (सा. का. ७०)

इस प्रकार, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विषय की प्रतिपादक ७०वीं कारिका कौन सी है। जिससे कि "सप्तत्यां किल येऽर्था" के अनुसार कारिकाओं की संख्या सत्तर पूरी हो सके। पण्डित बालगंगाधर तिलक ने गौडपादभाष्य के आधार पर ७०वीं लुप्तकारिका का निम्न स्वरूप निश्चित किया है–कारणमीश्वरमेके उक्तं कालं परे स्वभावं वा। प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यत्ययः कालः स्वभावश्च ।।

हमारे विचार से इस कारिका को ७०वीं कारिका नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि इसका न तो पूर्वापर सम्बन्ध ही ठीक बैठता है, और न ही शैली प्रवाह की समता है। इसके अतिरिक्त यदि विषय-प्रतिपादन न होने के कारण ७०वीं कारिका (एतत् पवित्रमग्रम्.) के बारे में सन्देह हो सकता है तो उसी प्रकार का सन्देह "पुरुषार्थज्ञानमिदम्" इस ६९वीं कारिका के बारे में भी होना चाहिए। क्योंकि इसमें भी विषयप्रतिपादन-निरूपण कहाँ मिलता है।

अतः जो ७२ कारिकाएँ आज उपलब्ध हैं, उन्हें ही यथार्थ मानना श्रेयस्कर है। जहाँ तक यह टिप्पणी करने की बात है कि उनमें "सप्तत्यां किल येऽर्थाः" के अनुसार विषय-प्रतिपादन नहीं है, तो इस सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि "सप्तत्याम्" से, सांख्यसप्तति इस समस्त ग्रन्थ का आशय ग्रहण करना चाहिए सत्तर कारिकाओं का नहीं। अन्त की दो-चार कारिकाओं को छोड़कर समस्त सांख्यकारिका में सांख्य सिद्धान्तों का निरूपण-व्याख्या वर्त्तमान है ही। अतः इस प्रकरण में समग्र दृष्टि ही अपनानी चाहिए। दूसरे, अनेक ग्रन्थों में देखने को मिलता है कि अन्त में जो सूत्रादि मिलते हैं, वे शास्त्रीय विषय का प्रतिपादन करें, यह आवश्यक नहीं है[1]।

सांख्यकारिका का प्रतिपाद्य विषय

सांख्यकारिका का प्रारम्भ दुःखत्रय–आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक, के निवारण की जिज्ञासा से किया गया है। इसके अनन्तर त्रिविध ज्ञान (व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ का ज्ञान), त्रिविध प्रमाण (दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान एवं आप्तवचन) कार्यकारणवाद, सृष्टि एवं प्रलय, गुणत्रय, सृष्टि की प्रक्रिया, प्रधान, पुरुष, लिङ्ग तथा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर तथा बन्धन एवं मोक्ष (भोग एवं अपवर्ग), इन प्रमुख सिद्धान्तों की व्याख्या सांख्यकारिका के अन्तर्गत वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति से की गई है।

सांख्यकारिका की टीकाएँ

१. गौडपादभाष्य

यह सांख्यकारिका की प्राचीनतम टीका है। किन्तु इसके प्रणेता गौडपादाचार्य वेदान्ती गौडपादाचार्य हैं या कोई अन्य, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वेदान्ती गौडपादाचार्य का समय ७०० ई. है। किन्तु अप्पास्वामी शास्त्री एवं म० म० डॉ. उमेशमिश्र ने गौडपादभाष्य एवं माठर-वृत्ति, दोनों का समय, १००० ई. स्वीकार किया है।

---

१. अप्पास्वामी शास्त्री, सुवर्णसप्तति की भूमिका, पृ० ६ तथा डा. उमेशमिश्र, गौडपादभाष्य एवं माठरवृत्तिलेख VIth All India oriental conference proceedings.

२. माठरवृत्ति

'माठरवृत्ति' को 'माढ़रवृत्ति' भी कहते हैं। माठरवृत्ति का उल्लेख जैन ग्रन्थ, 'अनुयोगद्वार' (२०० ई.) में मिलता है। माठरवृत्ति का प्रकाशन काशी (चौखम्बा) से हुआ है। परन्तु माठरवृत्ति की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों को सन्देह है। एक मत के अनुसार यह गौडपादभाष्य का ही विस्तृत रूप है।

३. जयमङ्गला

जयमङ्गला भी सांख्यकारिका की प्रसिद्ध टीका है, तथा इसके प्रणेता शंकराचार्य बतलाए जाते हैं। किन्तु महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज वेदान्त दर्शन के आचार्य शंकराचार्य को जयमङ्गला का रचयिता न मानकर शंकराचार्य नामक किसी बौद्ध भिक्षु को जयमङ्गला का रचयिता निर्धारित करते हैं। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि जयमङ्गला के मङ्गलाचरण में बुद्ध को प्रणाम किया गया है। अतः जयमङ्गला के लेखक शङ्कराचार्य कदापि नहीं हो सकते। यह भी कहा जाता है कि जयमङ्गला के रचयिता शंकरार्य नामक बौद्ध विद्वान् थे। अन्त में, शंकरार्य ही शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। एक मत यह भी है कि ये वाचस्पतिमिश्र के पूर्ववर्त्ती थे। इस मत की पुष्टि इस तर्क से होती है कि वाचस्पतिमिश्र ने अनेक स्थलों पर जयमङ्गला का अनुसरण किया है।

४. चन्द्रिका

सांख्यकारिका की टीका चन्द्रिका के लेखक नारायण तीर्थ हैं। इनका स्थितिकाल १६०० ई. है। चन्द्रिका लघुकाय होने पर भी एक महत्त्वपूर्ण टीका है।

५. सांख्यतरुवसन्त

सांख्यकारिका की टीका सांख्यतरुवसन्त के लेखक मुडुम्ब नरसिंह स्वामी हैं। इस टीका का प्रकाशन अभी तक देखने में नहीं आया है। नरसिंह स्वामी ने सांख्यतरुवसन्त में सांख्य एवं वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों में भेद नहीं स्वीकार किया है।

६. सांख्यतत्त्वकौमुदी

सांख्यकारिका की इस टीका के रचयिता वाचस्पति मिश्र (६०० ई.) हैं। क्योंकि वाचस्पति मिश्र न्यायदर्शन के विशिष्ट विद्वान् थे, अतः तत्त्वकौमुदी की प्रतिपादन पृष्ठभूमि नैयायिक ही है। इससे इस टीका में कुछ क्लिष्टता भी आ गई है।

सांख्यतत्त्वकौमुदी एक सर्वांगीण टीका है। इसका महत्त्व इसी से जाना जा सकता है कि इस टीका पर भी अनेक टीकाओं का प्रणयन हुआ है, जिनमें स्वामी बालराम उदासीन की विद्वत्तोषिणी, वंशीधर मिश्र की सांख्यतत्त्वदिवाकर, कृष्णवल्लभाचार्य की किरणावली, शिवनारायण शास्त्री की सुषमा अधिक प्रसिद्ध हैं। वाचस्पति मिश्र ने अनेक दर्शनों पर गम्भीर एवं विद्वत्तापूर्ण जैसे ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य पर भामती, न्यायदर्शन पर न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका एवं योगदर्शन पर तत्त्ववैशारदी लिखी है। इसीलिए इन्हें 'द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन' भी कहा जाता है।

७. युक्तिदीपिका

युक्तिदीपिका[1] सांख्यकारिका की ऐतिह्यरूपिणी टीका है। अत एव सांख्य दर्शन के इतिहास की दृष्टि से इस टीका का अधिक महत्त्व है। इसके अन्तर्गत वसुबन्धु प्रभृति बौद्ध आचार्यों एवं मीमांसक शबरस्वामी का उल्लेख भी मिलता है। युक्तिदीपिका के लेखक का पता नहीं चलता। यद्यपि इसके अन्त में "कृतिरियं वाचस्पतिमिश्राणाम्" ऐसा उल्लेख मिलता है, किन्तु यह भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि वाचस्पति ने तत्त्वकौमुदी की रचना की है। कुछ विद्वान् इसे वाचस्पति मिश्र के समसामयिक किसी दार्शनिक की रचना मानते हैं।

८. सुवर्णसप्तति

बौद्ध विद्वान् परमार्थ ने सांख्यकारिका पर सुवर्णसप्ततिशास्त्र-नाम्नी टीका की रचना की है। ऐसा उल्लेख मिलता है, कि परमार्थ ने सांख्यसप्तति का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, और इस चीनी अनुवाद का संस्कृत अनुवाद अप्पास्वामी शास्त्री ने किया था।

विज्ञानभिक्षु (१६०० ई.)

विज्ञानभिक्षु सांख्य, योग एवं वेदान्त तीनों शास्त्रों में निष्णात थे। इन्होंने सांख्यसूत्र पर सांख्यप्रवचनभाष्य, योगदर्शन पर योगवार्तिक एवं वेदान्त दर्शन पर विज्ञानामृतभाष्य की रचना की है। ये एक समन्वयवादी दार्शनिक थे। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य एवं वेदान्त के सिद्धान्तों का विशेष सामञ्जस्य प्रस्तुत किया है। यह समुचित है। इस सम्बन्ध में, इस अध्याय के अन्त में विचार करेंगे। विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसार एवं योगसार ग्रन्थों में क्रमशः सांख्य एवं योगदर्शन के सिद्धान्तों का विवरण भी प्रस्तुत किया है। तत्त्वसंग्रह के टीकाकार भावगणेश इनके प्रधान शिष्य थे।

विज्ञानभिक्षु सांख्यकारिका के लेखक ईश्वरकृष्ण के विपरीत सेश्वरसांख्य के विशेष समर्थक थे। यदि देखा जाय तो विज्ञानभिक्षु पौराणिक सांख्य के विशेष समर्थक थे, जिसके अनुसार पुरुष ईश्वर रूप ही है और जिसकी इच्छा से ही सृष्टि एवं प्रलय सम्भव है। विज्ञानभिक्षु का एक विशेष योगदान यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम गुणों को अतिसूक्ष्म मानकर उनका विवेचन किया है। यह विशेषता न सांख्यकारिका में मिलती है और न गौडपाद भाष्य में ही। सांख्यकारिका में गुणों का सत्त्व, रजस् एवं तमस् के रूप में सामान्य निरूपण वर्त्तमान है[2]। चरक एवं महाभारत सांख्य भी गुणों के सूक्ष्मनिरूपण के विषय में मौन ही हैं। विज्ञानभिक्षु ने गुणों को अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ माना है। वाचस्पति मिश्र के विवेचन में भी गुणों की यह सूक्ष्म विवेचना अनुपलब्ध है। वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु के सांख्यशास्त्रीय विश्लेषण में निम्नलिखित अन्य भेद-बिन्दु मिलते हैं–

---

१. कलकत्ता संस्कृत सिरीज़ (२३) में प्रकाशित।

२. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवर्णकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ।। सा.का.१३
(तथा देखें, सा. का. १२, १३।)

१. वाचस्पति मिश्र के अनुसार पुरुष से बुद्धि का संयोग नहीं होता, अपितु पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ने पर बुद्धि में चेतनता आ जाती है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बिना बुद्धिसंयोग के पुरुष भोक्ता कैसे सिद्ध हो सकता है। अत एव विज्ञानभिक्षु की धारणा है, कि किसी संज्ञानात्मक दशा में पुरुष का बुद्धि से वास्तविक संयोग होता है। इस प्रकार पुरुष तथा बुद्धि का संयोग होने पर ही पुरुष भोक्ता कहा जाता है।

२. वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु का दूसरा मतभेद प्रत्यक्ष की प्रक्रिया विषयक है। वाचस्पति मिश्र यह स्वीकार करते हैं, कि मन इन्द्रियविषयों को एक निर्धारित क्रम से व्यवस्थित करता है, एवं अनिर्धारित इन्द्रियविषयों का निर्धारण करता है। निर्धारण की यही स्थिति प्रत्यक्ष की स्थिति है। इसके विपरीत विज्ञानभिक्षु का मत है कि मानसिक क्रिया के बिना भी इन्द्रियाँ पदार्थों के गुणों का प्रत्यक्ष करने में सक्षम हैं। इस प्रकार भिक्षु के अनुसार प्रत्यक्षप्रक्रिया में मन का स्थान गौण है। एतदनुसार मन, इच्छा, कल्पना एवं शङ्का शक्तिमात्र हैं।

३. वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु के मतभेद का तृतीय स्थल वह है, जहाँ महत् तत्त्व से तन्मात्राओं के उद्भव की बात आती है। इस सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र का मत है कि 'महत्' से अहंकार उत्पन्न होता है, तथा अहंकार से तन्मात्राएँ। परन्तु विज्ञानभिक्षु, यह मानते हैं कि अहंकार का पार्थक्य तथा तन्मात्राओं का उद्भव, ये दोनों 'महत्' तत्त्व में ही होते हैं।

उपर्युक्त दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि विज्ञानभिक्षु एक सामञ्जस्यवादी एवं सांख्यदर्शन के एक मर्मज्ञ आचार्य थे।

अनिरुद्धकृत वृत्ति

अनिरुद्ध ने सांख्यसूत्र पर वृत्ति की रचना की है। विज्ञानभिक्षु ने यद्यपि अपने भाष्य में कहीं भी अनिरुद्ध का सङ्केत नहीं किया है, किन्तु गार्वे ने सांख्यप्रवचनभाष्य से ऐसे आठ स्थलों का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर भाष्य की अपेक्षा अनिरुद्धवृत्ति की प्राचीनता सिद्ध की जाती है। किन्तु इस प्रकार के तर्क बहुत कुछ आनुमानिक ही हैं।

महादेव वेदान्तीकृत वृत्तिसार

महादेव वेदान्ती भी सांख्यसूत्र के टीकाकार हैं। इनकी टीका का आधार उपर्युक्त अनिरुद्ध-वृत्ति है। अत एव इनकी टीका का नाम वृत्तिसार है। यह तथ्य वृत्तिसार के निम्नलिखित प्रथम पद्य से भी स्पष्ट है–

> दृष्ट्वाऽनिरुद्धवृत्तिं बुद्ध्वा सांख्यीयसिद्धान्तम्।
> विरचयति वृत्तिसारं वेदान्त्यादिमहादेवः।।

उक्त तथ्य से यह भी सुस्पष्ट है, कि ये अनिरुद्ध के परवर्ती आचार्य थे। अनिरुद्ध के समान महादेव वेदान्ती ने भी सांख्यों को अनियतपदार्थवादी कहा है[1]।

---

१. अनियतपदार्थवादिनः सांख्याः, सांख्यसूत्र, १।६१ की व्याख्या।

तत्त्वसमाससूत्र की छः व्याख्याएँ

तत्त्वसमाससूत्र की छः व्याख्याएँ मिलती हैं–सांख्यतत्त्व विवेचन, तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, सर्वोपकारिणी टीका, सांख्यसूत्रविवरण, तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति या क्रमदीपिका[1] तथा कपिलसूत्रविवरण[2]। प्रथम टीका सांख्यतत्त्व विवेचन के रचयिता विमानन्द हैं, दूसरी तत्त्व याथार्थ्यदीपन की रचना भावगणेश ने की है, तथा तृतीय टीका सर्वोपकारिणी के प्रणेता महादेव वेदान्ती माने जाते हैं। चतुर्थ टीका सांख्यसूत्र विवरण का प्रणयन किसने किया है, यह ज्ञात नहीं हो सका है। पञ्चमी तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति या क्रम दीपिका प्रश्नोत्तर शैली में लिखी गई एक संक्षिप्त टीका है। इसके रचयिता भी अज्ञात हैं। छठीं टीका, कपिल-सूत्रविवरण के रचयिता माधव हैं।

लघुसांख्यवृत्ति

लघुसांख्यवृत्ति के प्रणेता प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट हैं। यह टीका सांख्यसूत्र की टीका है, जो विज्ञानभिक्षु-प्रणीत भाष्य का साररूप है।

सांख्यतरङ्ग

सांख्यतरङ्ग भी सांख्यसूत्र की टीका है। इसके प्रणेता विश्वेश्वरदत्तभिक्षु समझे जाते हैं। ये ही बाद में देवतीर्थ स्वामी के योग-पट से प्रचलित हुए थे। कहते हैं, ये काष्ठाजिद्देव के नाम से भी जाने गए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सांख्यदर्शन के मूल ग्रन्थों पर प्रामाणिक, अप्रामाणिक अनेक टीकाओं का उल्लेख मिलता है।

इस स्थल पर सांख्यदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का निरूपण एवं विवेचन अपेक्षित है।

सांख्य में तत्त्वविज्ञान

द्वैतवादी सांख्यदर्शन के दो ही प्रमुख तत्त्व हैं–एक प्रकृति एवं दूसरा पुरुष तत्त्व 'पुरुष'। इन दोनों, प्रकृति (व्यक्त एवं अव्यक्त) तथा पुरुष के विज्ञान से ही सांख्यदर्शन के अन्तर्गत त्रिविध दुःख-निवृत्ति एवं सुख-प्राप्ति के प्रशस्त मार्ग की व्याख्या की गई है। अत एव यहाँ प्रकृति एवं पुरुष के सम्बन्ध में विवेचन करना समीचीन होगा।

प्रकृति

दर्शन और साहित्य के विवेच्य विषयों में प्रकृति का प्रमुख स्थान है। अद्वैत वेदान्त में प्रकृति माया-रूप में वर्णित हुई है। सांख्य में, अव्यक्त और प्रधान प्रकृति की अपर संज्ञाएँ हैं। व्यासभाष्य में

---

१. ये पाँच टीकाएँ, चौ. सं० सिरीज़, बनारस से सांख्यसंग्रह के अन्तर्गत प्रकाशित हैं, १८१८।

२. कलकत्ता, १७८०।

प्रकृति की निम्नलिखित परिभाषा दी गई है :

"निःसत्तासत्तं निःसदसद् निरसद् अव्यक्तं लिङ्गं प्रधानम् ।" (व्यासभाष्य, २/१६)

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार न प्रकृति की सत्ता है और न असत्ता ही। न वह सद्‌रूप है और न असद्‌रूप। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वह शशविषाण की तरह नितान्त असद्‌रूपा है। इसके अतिरिक्त प्रकृति अव्यक्त एवं अलिंग है। सांख्यसूत्र के अन्तर्गत आचार्य कपिल ने 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (सांख्यसूत्र १/६४) अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है, कहकर प्रकृति की परिभाषा की है। सांख्यकारिका में प्रकृति को अहेतुक, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, निराश्रित, लिंगरहित, निरवयव, स्वतन्त्र, त्रिगुणात्मक, विवेकरहित, विषयरथा, सामान्य, अचेतन तथा प्रसवधर्मिणी कहा गया है।[1]

प्रकृति-तत्त्व के बिना सांख्यदर्शन का शरीर उसी प्रकार निर्जीव है, जिस प्रकार मायातत्त्व के बिना अद्वैतदर्शन का। ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की महती उपयोगिता स्वीकार करते हुए उसकी अस्तित्व-सिद्धि के सम्बन्ध में निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं :

१. जगत् की सत्ता सीमित है। सीमित वस्तु के लिए असीमित पदार्थ का ही आधार अपेक्षित होता है। सीमित आधार सीमित कदापि नहीं हो सकता।

२. सांख्यदर्शन के अन्तर्गत त्रिविध गुणों की साम्यावस्था स्वीकार की गई है। जागतिक पदार्थों में त्रिविध गुणों की सत्ता सर्वत्र वर्तमान रहती है। प्रत्येक पदार्थ सुख, दुःख तथा मोह का जनक है। अतः जगत् के पदार्थों की उत्पत्ति का एक ऐसा मूल कारण होना चाहिए, जिसमें उक्त विशेषताएँ उपलब्ध हों।

३. कारण शक्ति के कार्य की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है। यह शक्ति कार्य की अव्यक्तावस्था ही है। इसीलिए समस्त कार्यों के जनक किसी अव्यक्त तत्त्व की कल्पना संगत ही है।

४. कारण और कार्य की सत्ता पृथक्-पृथक् है। स्वयं कारण कार्य नहीं हो सकता। अतः जगत्-रूप कार्य के लिए प्रकृति-रूप कारण का मानना नितान्त युक्तियुक्त है।

५. विश्व की एकरूपता के कारण समस्त विश्व का कोई एक ही कारण सम्भव है। अतः सांख्यदर्शन के अनुसार जगत् का, प्रकृति का परिणाम होना युक्तियुक्त ही है।[2]

गुण

हमने ऊपर प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने की चर्चा की है। परन्तु सांख्य की गुण-सम्बन्धी मान्यता वैशेषिक से भिन्न है। वाचस्पति मिश्र के अनुसर सत्त्व, रज और तम को गुण कहने का यही

---

१. सांख्यकारिका, का० १०-११।

२. सांख्यकारिका, का० १५-१६।

तात्पर्य है कि वे प्रकृति के स्वरूपाधायक अंग रूप हैं, और पुरुष के अर्थ को सिद्ध करने वाले हैं। विज्ञानभिक्षु ने गुण की परिभाषा देते हुए कहा है, कि पुरुष को बन्धन में डालने वाले त्रिगुणात्मक महत्तत्त्वादि के निर्माता होने के कारण ही इन्हें गुण कहते हैं। विज्ञानभिक्षु का कथन है कि जिस प्रकार गुण (रस्सी) के द्वारा पशु को बन्धन में बाँधा जाता है, उसी प्रकार सांख्य के गुण भी पुरुष को बाँधते हैं।[१] महतत्त्व या व्यष्टिरूप से बुद्धि प्रकृति का प्रथम विकार है। यही जगत् की उत्पत्ति में बीजरूप है। प्रकृति का प्रथम विकार बुद्धि, सुख-दुःख एवं मोहस्वरूपा है। अतः प्रकृति में भी इन गुणों का होना स्वाभाविक है। यद्यपि इन गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता, तथापि प्रकृति के विकारों के द्वारा इनकी सत्ता सिद्ध होती है।

प्रथम सत्त्वगुण प्रतिरूप, लघु तथा प्रकाशक है।[२] द्वितीय रजोगुण दुःखोत्पादक, चल और उपष्टम्भक (कार्य का प्रवर्त्तक) होता है। यही संसार की अखिल सक्रियता का मूल है। रजोगुण के चलत्व के सम्बन्ध में आचार्य गौडपाद और माठर ने कई दृष्टान्त दिए हैं। गौडपाद और माठर का कथन है कि बैल का नशे में होना, लड़ना अथवा किसी पुरुष का ग्राम की ओर जाने की आकांक्षा करना या किसी स्त्री से प्रेम करना रजोगुण की चलत्व सम्बन्धी विशेषता के ही फल हैं।[३] तृतीय गुण तमोगुण है। तमोगुण मोहरूप, गुरुत्वमय तथा वरणक होता है। सत्त्व, रजस् और तमस् के कार्य क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन हैं।[४] इन्ही से सुख, दुःख तथा मोह की उत्पत्ति होती है। सांख्य के उपर्युक्त तीनों गुणों का अस्तित्व पृथक् न होकर उनमें अविनाभाव सम्बन्ध है।[५] अतः जगत् का प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणयुक्त है। यह बात दूसरी है कि किसी एक गुण प्राधान्य के कारण कोई पदार्थ गुण के नाम से जाना जाता है। जिस वस्तु में जिस गुण की प्रधानता रहती है, उसी गुण का उस वस्तु में प्रकाशन होता है, अन्य गुण उस वस्तु में गुप्त रूप से वर्तमान रहते हैं। जिस प्रकार कि विश्राम करते समय मनुष्य में तमोगुण की प्रधानता रहती है और रजोगुण तथा सत्त्वगुण गुप्त रीति से वर्तमान रहते है; चलते समय मनुष्य-शरीर में रजोगुण का प्राधान्य रहता है और तमोगुण की गुप्त स्थिति होती है।[६] ये तीनों गुण आपस में उसी प्रकार सम्बन्धित हैं, जिस प्रकार दीपक में प्रकाश, तेल एवं वर्तिका परस्पर सम्बन्धित हैं।[७] पृथक् रूप से कोई भी गुण अपना कार्य करने का सामर्थ्य नहीं रखता। डॉ. बी. एन. सील का विचार है कि सत्त्वगुण में भौतिक पिण्डत्व एवं गुरुत्वाकर्षण का अभाव है। इसमें न अवरोधक शक्ति है और न क्रियाशक्ति। इसके विपरीत तमोगुण में भौतिक पिण्डत्व भी है और अवरोधक शक्ति भी। परन्तु सत्त्वगुण-प्रकाशित बुद्धित्व और तमोगुणवर्ती भौतिक तत्त्व में क्रियात्मकता का अभाव है। अत एव मात्र सत्त्व और तमस् में उत्पादन की क्रिया का अभाव है। इस क्रियात्मकता की पूर्ति रजोगुण करता

१. सांख्यप्रवचनभाष्य, १/६१।

२. तत्त्वकौमुदी, १३।

३. Sovani : A Critical Study of the Sāṅkhya System, P. 206.

४. योगसूत्र, २/१८।

५. सांख्यकारिका, १२।

६. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 246.

७. सांख्यकारिका, का० १३।

है। रजोगुण ही शक्ति का मूल प्रवर्तक है। इसमें तमोगुण की अवरोधक शक्ति को जीतने की ही शक्ति नहीं है, अपितु बुद्धि को भी तदपेक्षित शक्ति देने की सामर्थ्य है।[१]

जैसे कि पहिले भी कहा जा चुका है, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ईश्वरकृष्ण, वाचस्पति मिश्र एवं गौडपाद की पंक्ति से हटकर विज्ञानभिक्षु ने गुणों को अति सूक्ष्म पदार्थ माना है। चरक एवं महाभारत भी इस सम्बन्ध में मौन हैं। सांख्य के गुणों का यह वैशिष्ट्य है कि वे इन्द्रियातीत होने के कारण दृष्टि-पथ में नहीं आते। उनका जो रूप दृष्टिगोचर होता है, वह मायिक एवं तुच्छ है।[२]

पुरुष

सांख्यदर्शन के अन्तर्गत प्रकृति के अतिरिक्त दूसरा प्रमुख तत्त्व पुरुष है। यद्यपि प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही संसार की सृष्टि होती है, परन्तु फिर भी सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष की विशेषताएँ प्रकृति से एकदम विरुद्ध हैं। सांख्य की प्रकृति यदि त्रिगुणात्मिका है, तो पुरुष त्रिगुणातीत, प्रकृति यदि विवेक-रहिता है, तो पुरुष विवेकी, प्रकृति यदि विषय है तो पुरुष विषयी, प्रकृति यदि जड़ है तो पुरुष चेतन और यदि प्रकृति प्रसवधर्मवाली है तो पुरुष अप्रसवधर्मी है।[३] पुरुष के त्रिगुणातीत होने के कारण उसमें रजोगुण से उत्पन्न होने वाली सक्रियता का अभाव है। अत एव वह अकर्ता है। परन्तु अकर्ता होते हुए भी पुरुष नित्यमुक्त होने के कारण मध्यस्थ अथवा साक्षी अवश्य है।[४] सांख्याचार्यों ने पुरुष-सिद्धि के लिए निम्नलिखित कई युक्तियाँ दी हैं :

१. समस्त जागतिक पदार्थ संघातमय हैं। अतः जगत् के इस समस्त वस्तु संघात का किसी अन्य के प्रयोजन के लिए होना स्वाभाविक है। अन्यथा इस वस्तु-संघात की उपयोगिता ही क्या होगी ? यह अन्य तत्त्व पुरुष है।

२. संसार के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। अतः एक ऐसे तत्त्व की भी आवश्यकता है जो त्रिगुण-विरहित हो।

३. प्रकृतिजन्य जड़ जगत् का चेतन अधिष्ठाता पर अपेक्षित है। राजा की तरह सांख्य का पुरुष भी अधिष्ठाता के रूप में जगत् का नियन्ता है।

४. संसार के समस्त विषय भोग-योग्य हैं। अतः इनका भोक्ता होना भी आवश्यक है।

५. मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होना किसी ऐसे पदार्थ का सूचक है, जिसकी विशेषताएँ त्रिगुणात्मक

---

१. B.N. Seal : The Positive Sciences of the Hindus, P. 4.

२. गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमपगच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ।। षष्टितन्त्र।

३. सांख्यकारिका, का० ११।

४. सांख्यकारिका, का० १६।

प्रकृति से विपरीत हों। यह पदार्थ पुरुष है।[1]

पुरुषबहुत्व

वेदान्त के विपरीत सांख्यदर्शन पुरुषबहुत्व का समर्थक है। सांख्य का तर्क है कि जन्म-मरण की भिन्नता तथा त्रैगुण्य का विपर्यय पुरुषबहुत्व का साधक प्रमाण है। यदि एक पुरुष हुआ होता, तब तो समस्त पुरुषों का जन्म तथा मृत्यु एक काल में ही हुए होते। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसके साथ ही साथ त्रैगुण्य-विपर्यय होने के कारण पुरुषों में गुण-सम्बन्धी भिन्नता पाई जाती है। कोई पुरुष सत्त्वबहुल है, कोई रजोबहुल और कोई तमोबहुल। इसीलिए कपिल, आसुरि, पंचशिख एवं पतञ्जलि आदि सांख्याचार्यों ने पुरुष-बहुत्व को स्वीकार किया है।[2]

प्रकृति, पुरुष एवं सृष्टि

प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध सांख्य की रहस्यभरी समस्या है। इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। परन्तु दोनों के संयोग में एक आपत्ति यह है कि दोनों ही विपरीत लक्षण वाले हैं। इस आपत्ति का समाधान सांख्य ने बड़े सरल ढंग से प्रस्तुत किया है। सांख्य ने प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अन्धे और लँगड़े का रोचक दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति, जिसमें चलने की शक्ति तो है, परन्तु जिसे मार्ग का ज्ञान नहीं है, लँगड़े व्यक्ति, जिसमें चलने की शक्ति नहीं है, परन्तु जिसे मार्ग का ज्ञान है, लँगड़े की सहायता से अपने स्थान पर पहुँच जाता है और उस लँगड़े व्यक्ति को भी यथास्थान पहुँचा देता है; उसी प्रकार जड़ात्मिका प्रकृति भी सक्रिय होने के कारण निष्क्रिय परन्तु चेतन पुरुष के संयोग से कार्य में प्रवृत्त होती है।[3] इस दृष्टान्त के सम्बन्ध में एक शंका होती है, और वह यह, कि जड़ प्रकृति में सक्रियता कैसे सिद्ध हो सकती है ? इस शंका का समाधान करते हुए ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में लिखा है कि जिस प्रकार वत्स (बछड़े) की वृद्धि के लिए जड़ रूप पदार्थ दूध में भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार जड़ प्रकृति में भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।[4] जब जड़ वृक्षों में ही फल उत्पन्न करने की शक्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है, तो प्रकृति की ही सक्रियता में क्या आश्चर्य है।

उपर्युक्त अन्धे और लँगड़े पुरुष के दृष्टान्त के अनुसार चेतन पुरुष की अध्यक्षता में जड़ प्रकृति सृष्टि का कार्य करती है। प्राचीन सांख्य में प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त काल नामक एक तृतीय तत्त्व को भी स्वीकार किया गया है।[5] प्राचीन सांख्य के अनुसार काल ही प्रकृति के क्षोभ का कारण है। परन्तु परवर्ती सांख्य के अनुसार प्रकृति की प्रवृत्ति का कारण स्वभाव है। पुरुष के सामीप्य

---

१. सांख्यकारिका, का० १७।

२. Max Muller : Indian Philosophy, Vol. III, p. 42.

३. सांख्यकारिका, का० २१।

४. सांख्यकारिका, का० ५७।

५. श्रीमद्भागवत, ३।६।२ तथा विष्णुपुराण, प्रथमांश, २।२६।

से प्रकृति में जो प्रथम विकार उत्पन्न होता है उसका नाम महत्तत्त्व है। इसी को व्यष्टि में बुद्धि कहते हैं। जैसा कि पहिले भी कह चुके हैं, पुरुष एवं बुद्धि के संयोग के सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र पुरुष का किसी प्रकार का बुद्धि संयोग नहीं स्वीकार करते तथा यह मानते हैं कि पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है एवं परिणामानुसार बुद्धि में चैतन्यभाव आता है। इस शङ्का के समाधानार्थ, कि विनाशबुद्धि संयोग के पुरुष में भोक्तृत्व किस प्रकार सिद्ध होगा, वाचस्पति मिश्र का तर्क है कि देश एवं काल की दृष्टि से दोनों का संयोग नहीं होता, किन्तु दोनों के सान्निध्यविशेष से पुरुष बुद्धि संयुक्त एवं तदभिन्न अनुभव करता है एवं कर्ता-भोक्ता सिद्ध होता है। इसके विपरीत विज्ञानभिक्षु पुरुष एवं बुद्धि का संयोग स्वीकार करके पुरुष का भोक्तृत्व स्वीकार करते हैं।

धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य सात्त्विक बुद्धि के गुण हैं तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य तामसी बुद्धि के। महत् तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार के वैकृत (सात्त्विक), तैजस (राजस) तथा भूतादि (तामस) रूप से तीन भेद हैं। तैजस की सहायता से सात्त्विक अहंकार से ग्यारह प्रकार की इन्द्रियों (पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन) की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सांख्य के प्राचीन आचार्यों में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र मानते हैं कि महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति हुई, तथा अहंकार से तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। किन्तु विज्ञानभिक्षु का मत है कि अहंकार का पार्थक्य एवं तन्मात्राओं का उद्भव दोनों 'महत्' में ही होते हैं। इस तथ्य का उल्लेख पीछे भी किया जा चुका है। सांख्यदर्शन के अनुसार सृष्टि के विकास का निम्न प्रकार है –

प्रकृति, पुरुष
↓
महत्तत्त्व
↓
अहंकार
↓ सात्त्विक | ↓ राजस | ↓ तामस

सात्त्विक
↓
मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ
(चक्षु, क्षोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक्)
↓
तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ)

तामस
पंचतन्मात्रा
(शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध तन्मात्रा)
↓
पंचमहाभूत
(आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी)

इस प्रकार सांख्यदर्शन में प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा, पंचमहाभूत तथा एकादश इन्द्रिय, ये २५ तत्त्व स्वीकार किए गए हैं।

सांख्यदर्शन और कार्यकारणवाद

कार्यकारण सिद्धान्त सांख्यदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। सांख्य के कार्यकारण सिद्धान्त के

अनुसार कार्य और कारण में वस्तुतः अभिन्नता है। कार्य अपने मूलरूप में उत्पत्ति से पूर्व भी अव्यक्त रूप से कारण में वर्त्तमान रहता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कार्य की अव्यक्तावस्था कारण तथा व्यक्तावस्था कार्य है। अतः तत्त्वतः कार्य और कारण में भेद नहीं है। कार्य की सत्ता के अव्यक्त रूप से कारण में रहने के कारण ही, इस सिद्धान्त का नाम सत्कार्यवाद है। इसे परिणामवाद भी कहते हैं। क्योंकि सांख्य के अनुसार कार्य, कारण के परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका की निम्नलिखित कारिका के अन्तर्गत कार्य-कारणवाद के उक्त सिद्धान्त की पूर्णरूपेण पुष्टि की है। उन्होंने लिखा है :

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।। (सांख्यकारिका, ६)

ईश्वरकृष्ण की उपर्युक्त कारिका के अन्तर्गत सांख्यसत्कार्यवाद की समर्थक पाँच युक्तियाँ मिलती हैं :

१. असदकरणात् – जो वस्तु कारण में पहले से विद्यमान नहीं है, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र का यह कथन नितान्त संगत प्रतीत होता है कि नील वस्तु को सहस्रों शिल्पियों द्वारा भी पीत नहीं बनाया जा सकता।[1] यदि ऐसा हुआ होता तब तो आकाशकुसुम जैसे असम्भव पदार्थों की भी उत्पत्ति होने लगती।

२. उपादानग्रहणात् – कार्य की सत्ता कारण के तत्त्वों पर पूर्णरूप से आधारित होती है। जैसे, दूध से ही दही और तन्तुओं से ही वस्त्र की उत्पत्ति संभव है। अतः कार्य-कारण का सम्बन्ध नियत है। यदि ऐसा न हुआ होता तो किसी कारण से भी किसी कार्य की उत्पत्ति हो जाया करती।

३. सर्वसम्भवाभावात् – सर्व कारणों से सर्व कार्यों की उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है।

४. शक्तस्य शक्यकरणात् – शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है। इससे यह सिद्ध है कि कार्य की सत्ता कारण में अव्यक्त रूप से वर्तमान रहती है।

५. कारणभावात् – वस्तुतः कार्य और कारण में ऐक्य है। अव्यक्तावस्था में जो कारण है वही व्यक्तावस्था में कार्य है। इस प्रकार सृष्टि उद्भाव का परिणाम है और प्रलय अनुद्भाव का। अनुद्भावावस्था में कार्य कारण में ही लीन हो जाता है।[2]

विवर्त्तवाद, सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद

विवर्त्तवाद (वेदान्त-सिद्धान्त), सत्कार्यवाद (सांख्य-सिद्धान्त) एवं असत्कार्यवाद (न्यायवैशेषिक-

---

१. नहि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते। (तत्त्वकौमुदी, पृ. ६)

२. नाशः कारणलयः । (सांख्यसूत्र, १।२१)

सिद्धान्त) में भेद द्रष्टव्य है। विवर्त्तवाद के अनुसार कारण स्वरूप ब्रह्म एवं जगत् में अनन्यत्व है, जैसे मृत्तिका एवं घट (तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः (ब्र. सू. २।१।१४)। इसके विपरीत सत्कार्यवाद के अनुरूप कार्यरूप जगत् की सत्ता कारणरूपिणी प्रकृति में सत् अर्थात् वर्त्तमान है। इस प्रकार सांख्य में कारण एवं कार्य दोनों सत् हैं, अत एव यह द्वैतवादी दर्शन है। न्यायवैशेषिक के असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य की सत्ता कारण में न होकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार है। इसीलिए न्यायवैशेषिक यथार्थवादी एवं द्वैतवादी दर्शन है। असत्कार्यवाद का निरूपण न्यायदर्शन के अन्तर्गत किया जा चुका है।

वेदान्त का विवर्त्तवाद सत्कारणवाद है; जिसके अनुसार कारण ब्रह्म सत्य एवं कार्य जगत् मिथ्या है। यह आश्चर्य है कि दासगुप्त ने वेदान्त के कार्यकारणवाद को सत्कार्यवाद का नाम दिया है।[१] परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वेदान्त में कार्य की सत्ता मिथ्या स्वीकार की गई है। स्वयं दासगुप्त ने अद्वैतसिद्धान्त के कार्यकारणवाद को सत्कार्यवाद कहने से पूर्व निम्नलिखित मत प्रस्तुत किया है–

The one truth is clay. So in all phenomena, the one truth is being, the Brahman and all the phenomena that are being imposed on it, are but illusory forms and names.

दासगुप्त के उपर्युक्त कथन के अनुसार मृत्तिका ही सत्य है, अतः जगत् की व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत अधिष्ठान रूप ब्रह्म ही सत्य है, तथा ब्रह्म में अध्यास जगत् की सत्ता मिथ्या नाम रूप मात्र है। उपर्युक्त विचार के अन्तर्गत नामरूपात्मक जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होने पर भी डा. दासगुप्त ने उक्त विचार को सत्कार्यवाद के अन्तर्गत माना है। कदाचित् अपनी मान्यता में अनौचित्य का भास होने के कारण ही, दासगुप्त ने सत्कार्यवाद की अपेक्षा सत्कारणवाद को समुचित मानते हुए, यह वाक्य लिखा है–

This is called Sat-Kāryavāda or more properly the Satkāraṇavāda of the Vedānta.[1]

मुक्ति

जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त में जीव के बन्ध और मोक्ष का कारण अविद्या है, उसी प्रकार सांख्यदर्शन में भी पुरुष के बन्ध और मोक्ष का कारण अविवेक है। जैसे कि अद्वैतमत में 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' के अनुसार जीव ब्रह्मरूप है, वैसे ही सांख्य का पुरुष भी स्वभावतः मुक्त है। परमार्थतः पुरुष का प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। अविवेक के कारण ही पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध होता है। पुरुष और प्रकृति के इस अविवेकजन्य सम्बन्ध का यह फल होता है, कि प्रकृतिजन्य दुःख का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है और इस दशा में पुरुष सांसारिक दुःखों का भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार यदि अविवेकजन्य पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध बन्धन है, तो विवेकजन्य पुरुष और प्रकृति का वियोग मोक्ष

१. Das Gupta, Indian Philosophy. Vol I, P. 468.

है।[1] विवेक-सिद्धि का उपाय व्यक्त, अव्यक्त तथा 'ज्ञ' (पुरुष) का ज्ञान है। इसका ज्ञान होने पर प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति हो जाती है। यह स्मरणीय है कि प्रकृति का समस्त व्यापार पुरुष की मुक्ति के लिए ही है।[2] प्रकृति के व्यापार को स्पष्ट करते हुए ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की उपमा एक नर्तकी से दी है जो रंगस्थल में अपना नृत्य दिखाकर स्वतः निवृत्त हो जाती है।[3] प्रकृति की सुकुमारता के विषय में कहा गया है कि वह ऐसी लज्जाशील है कि एक बार पुरुष के सामने अनुभूत होने पर फिर उसके सामने कभी उपस्थित नहीं होती। प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर पुरुष की मुक्ति स्वतःसिद्ध है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में त्रिविध बन्ध की व्याख्या की है। यह त्रिविध बन्ध प्राकृतिक, वैकृतिक एवं क्षणिक है। प्राकृतिक बन्ध वह है, जिसमें व्यक्ति प्रकृति को आत्मा समझ उसकी उपासना करते हैं तथा उसके बन्धन में बँध जाते हैं। इस प्रकार के बद्ध व्यक्ति कभी मुक्त नहीं होते। दूसरा, वैकारिक बन्ध वह है, जिसके अन्तर्गत बद्ध पुरुष भूत, इन्द्रिय एवं अहंकार आदि विकारों को ही आत्मा अथवा 'पुरुष' के रूप में जानकर उनकी उपासना करता है तथा उनके बन्धन में बँधकर बद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है। ऐसे बद्ध पुरुषों का जन्ममरण के बन्धन से कभी मोक्ष नहीं होता। तृतीय क्षणिक बन्धन वह है जिसके अनुसार बद्ध पुरुष यज्ञादि का सम्पादन एवं वापी-कूप-तडागादि का निर्माण करता है। यह बन्धन सत् कर्म-परिणामी होने के कारण, स्वार्थसीमित की अपेक्षा श्रेष्ठ है। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि सभी प्रकार के बन्धनों का मूल कारण अविवेक है। अत एव किसी भी दर्शन के अनुसार जब तक विवेक नहीं होता, तब तक मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। सांख्य में–इस प्रकार यदि देखा जाए तो वेदान्त के आत्मा के समान सांख्य का पुरुष भी स्वभावतः शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त है। इस दृष्टि से न उसका बन्धन है, न संसारभाव और न मोक्ष। सांख्य का पुरुष तो वेदान्त के आत्मा के सदृश नित्य एवं अपरिणामी है। अतः वास्तविकता तो यह है कि सूक्ष्म शरीर के रूप में प्रकृति ही असंख्य पुरुषों के आश्रय से बन्धन तथा संसार दशा को प्राप्त होती है। अतः मोक्ष भी प्रकृति का ही सम्भव है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार सूक्ष्मशरीर रूपिणी जो प्रकृति के भोगादि क्रियाकलापों का पुरुष पर अध्यारोप होता है, अत एव पुरुष कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का भागी बनता है। वाचस्पति मिश्र ने इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है, कि जिस प्रकार युद्ध तो दो सेनाएँ करती हैं, किन्तु जय-पराजय का दायित्व शासक का ही होता है, उसी प्रकार सांख्य में भोगादि का भागी पुरुष ही बनता है। यह दृष्टान्त योगभाष्य में भी दिया गया है।[५]

जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति

अद्वैतवेदान्त की ही तरह सांख्य में भी जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति, मुक्ति के दो भेद मिलते

---

१. यः पुरुषस्यापवर्ग उक्तः स प्रतिबिम्बरूपस्य मिथ्यादुःखस्य वियोग एव।

— सांख्यप्रवचनभाष्य, १।७२।

२. सांख्यकारिका, का० ५६।

३. सांख्यकारिका, का० ५६।

४. बद्ध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः। सां. का. ६१।

५. यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। (व्यासभाष्य, यो.सू. १।२४)

हैं। सांख्य के अनुसार मुक्ति की अवस्था में पुरुष को यह दृढ़ जो जाता है कि मै स्वभावतः निष्क्रिय हूँ, अकर्ता हूँ तथा संग-रहित हूँ।[1] यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है। जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में कुम्भकार के चक्र का दृष्टान्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। जिस प्रकार कुलाल-व्यापार की निवृत्ति के पश्चात् भी चक्र पूर्वाभ्यास के अनुसार कुछ काल तक चलता रहता है, उसी तरह प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर भी पुरुष प्रारब्ध कर्मों का सम्पादन करता ही रहता है।[2] यही दृष्टान्त शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के अन्तर्गत दिया है।[3] विदेहमुक्ति के सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु का कथन है कि शरीर के नाश हो जाने पर पुरुष दुःखत्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है। यही विदेहमुक्ति की अवस्था है। विज्ञानभिक्षु तो विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं।[4]

ईश्वर

साधारणतया सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है, कि वह एक निरीश्वरवादी दर्शन है। साधारण ही नहीं, डॉ. दासगुप्त प्रभृति कतिपय सम्मानित विद्वानों का तो यहाँ तक कथन है, कि सांख्यदर्शन में ईश्वरवाद का खण्डन किया गया है।[5] डॉ. दासगुप्त ने अपने कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस सम्बन्ध में प्रो. मैक्समूलर का यह कथन प्रामाणिक प्रतीत होता है कि कपिल एकेश्वरवाद के विरोध में कोई तर्क नहीं देते। मैक्समूलर की दृष्टि में कपिल का यही विचार है कि वे (कपिल) ईश्वर-सिद्धि के लिए तार्किक प्रमाणों का अभाव मानते हैं। इस दिशा में वे पश्चिमी दार्शनिक काण्ट के अत्यन्त समीप हैं। प्रो. मैक्समूलर का कथन है कि कपिल ने ईश्वर का खण्डन करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है।[6]

अतः यह विचार तर्क-प्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता कि सांख्य में ईश्वर का खण्डन किया गया है। डॉ. राधाकृष्णन् "ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा" (सांख्यसूत्र ३/५७) के आधार पर सांख्य में एक व्यवस्थापक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं, जो सृष्टि-काल में प्रकृति के क्रमबद्ध विकास की व्यवस्था करता है।[7] सांख्यदर्शन में यद्यपि कर्तव्यशक्ति से युक्त ईश्वर की सत्ता नहीं मिलती, परन्तु जगत् के साक्षी रूप में ईश्वर का वर्णन अवश्य मिलता है। साक्षी ईश्वर के सान्निध्य मात्र से ही प्रकृति जगत् के व्यापार में उसी प्रकार लग जाती है, जिस प्रकार कि चुम्बक अपने सान्निध्य मात्र से ही लोहे में गति उत्पन्न कर देता है।[8] विज्ञानभिक्षु ने तो सांख्य को निरीश्वर न मानकर सेश्वर ही माना है।[9] इस प्रकार

---

१. सांख्यकारिका, का० ६४।
२. सांख्यकारिका, का० ६७।
३. ब्र. सू. शा. भा., ४।१।१५।
४. सांख्यप्रवचनभाष्य, ५।११६।
५. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 218.
६. MaxMuller : Indian Philosophy, Vol. III, p. 88.
७. S. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 317-318.
८. तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्। –सांख्यसूत्र, १।९६।
९. प्रकृतिलीनस्य जन्येश्वरस्य सिद्धिः। –सांख्यप्रवचनभाष्य, ३।५७।

परवर्ती सांख्य में ईश्वरवाद का समर्थन ही मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूल सांख्यदर्शन में न तो ईश्वरवाद का खण्डन ही किया गया है और न अनीश्वरवाद का मण्डन। सांख्यसूत्र में तो ईश्वरवाद की यत्किञ्चित् झलक भी मिलती है, जो विज्ञानभिक्षु के भाष्य में और भी विकसित हो गई है।

निष्कर्षसूत्र

इसमें सन्देह नहीं कि सांख्य दर्शन के बीज संहिताओं एवं उपनिषदों में किसी न किसी रूप में वर्त्तमान थे, किन्तु सांख्य की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए उसे वेदों का सांख्य अथवा उपनिषदों का सांख्य कहना समुचित नहीं है। कारण कि, संहिताएँ तो ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत विभिन्न लौकिक एवं आध्यात्मिक रहस्यों की संग्रह हैं। (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः) अतः उनमें सम्प्रदायविशेष की स्थापना मानना असङ्गत है। रही उपनिषदों की बात, तो वहाँ भी सांख्यदर्शन के प्रकृति जैसे सिद्धान्तों के कुछ अस्पष्ट बीज ही देखे जा सकते हैं, सांख्य सिद्धान्त कदापि नहीं। समग्रता की दृष्टि से तो उपनिषदों का सिद्धान्त वेदान्त ही है। जहाँ तक पौराणिक एवं महाभारतवर्त्ती सांख्य का प्रश्न है, जैसा कि पौराणिक वर्णन शैली है, वह एक मिश्रित सांख्य है, जिसके अन्तर्गत पुरुष ब्रह्म एवं आत्मा के रूप में स्थान-स्थान पर वर्णित है। इसीलिए महाभारत का सांख्य 'सेश्वरसांख्य' कहलाता है। महाभारत का सांख्य, सांख्य एवं वेदान्त का मिश्रित रूप ही कहा जाएगा। ऐतिह्य की दृष्टि से विचार करने पर चरक एवं पञ्चशिख का सांख्य महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। इसका कारण यह है, कि इन आचार्यों की विचारधारा उपनिषदों के दार्शनिक दृष्टिकोण एवं ईश्वरकृष्ण की पारम्परिक सांख्यदृष्टि के मध्य के संक्रमण काल का प्रतिनिधित्व करती है। इन प्राचीन सांख्य के आचार्यों के दार्शनिक दृष्टिकोण की यह विशेषता उल्लेखनीय है, कि वह एक ओर इस तथ्य का प्रतिपादन करती है, कि इन्द्रिय भौतिक हैं तथा पुरुष अचेतन है। यह तथ्य चरक एवं पञ्चशिख को न्यायदर्शन की विचारधारा के समीप ला देता है। यह भी उल्लेखनीय है कि सांख्य का उक्त दृष्टिकोण अनात्मवादी बौद्ध दर्शन के भी समीप है। यहाँ यह तथ्य निर्देशयोग्य है, कि जहाँ चरक एवं सांख्य इन्द्रियों के भौतिक स्वरूप को स्वीकार करते हैं, वहाँ पारम्परिक सांख्य के प्रधानाचार्य ईश्वरकृष्ण इन्द्रियों को आहङ्कारिक कहकर उनकी उत्पत्ति अहङ्कार से मानते हैं। सात्त्विक एकादशकः प्रावर्त्तत वैकृतादहङ्कारात्' (सा. का. २५)। सांख्यदर्शन की प्राचीनता की दृष्टि से षष्टितन्त्र भी विचार योग्य है। ईश्वरकृष्ण ने स्वयं कारिका का आधार षष्टितन्त्र को ही बतलाया है (सप्तत्यां किल येऽर्थाः तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य, सा. का. ७२)। यह तथ्य षष्टितन्त्र के वस्तु विषय से भी स्पष्ट होता है। इसमें (१) प्रकृति के अस्तित्व, (२) उसके एकत्व, (३) प्रकृति की पुरुष से भिन्नता (४) प्रधान एवं व्यक्त का कार्यकारणभाव (५) प्रकृति का पुरुषोपकारकत्व (६) पुरुष की अनेकता (७) वियोग अर्थात् प्रकृति एवं पुरुष का अपवर्ग प्राप्ति काल में वियोग (८) अपवर्ग से पूर्व प्रकृति एवं पुरुष का अभेद. (९) तत्त्वज्ञान के पश्चात् शरीर एवं उसकी क्रियाओं का होना, एवं पञ्चविपर्यय, नवधा तुष्टि, इन्द्रियों के २८ प्रकार के दोष तथा आठ सिद्धियाँ वर्णित हैं।[1] स्पष्ट है, कि ये विषय सांख्यकारिका के अन्तर्गत

---

१. देखें सांख्यतत्त्वकौमुदी (७२) के अन्तर्गत राजवार्तिक ग्रन्थ का उदाहरण।

भी वर्णित हैं।

इस प्रकार यह मानना चाहिए कि सांख्य दर्शन के प्राचीन इतिहास की दृष्टि से महाभारतवर्त्ती सांख्य, चरक एवं पञ्चशिख द्वारा प्रवर्त्तित सांख्य का महत्त्व निःसन्देह स्वीकार्य है, किन्तु सांख्यदर्शन को एक समग्र दर्शन के सांख्यसूत्रकार एवं सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण में प्रस्तुत करने का श्रेय ईश्वरकृष्ण, कपिल एवं विज्ञानभिक्षु को ही है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जहाँ, महाभारत एवं विज्ञानभिक्षु सेश्वरसांख्य का निरूपण एवं व्याख्यान करते हैं, वहाँ, सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण एवं सांख्यसूत्रकार निरीश्वरवादी ही हैं। भारतीय दर्शन ही नहीं, समस्त भारतीय वाङ्मय की यह विशेषता उल्लेखनीय है, कि व्याकरण हो अथवा दर्शन, साहित्य हो अथवा ज्योतिष, सभी सम्प्रदायों के आचार्यों की स्थापनाएँ 'इतिश्री' नहीं रह जातीं, अपितु उन पर परवर्त्ती आचार्यों एवं व्याख्याताओं की टीका-टिप्पणी प्रवर्त्तमान रहती है। यह तथ्य ज्ञान की गतिशीलता एवं अगाधता का यही कारण है कि आचार्य विज्ञानभिक्षु एवं टीकाकार वाचस्पतिमिश्र तथा गौडपाद के दृष्टिकोण में अनेक स्थलों पर मतान्तर देखने को मिलता है। निदर्शनार्थ जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है विज्ञानभिक्षु ने जहाँ गुणों को अतिसूक्ष्म पदार्थ माना है, वहाँ वाचस्पति मिश्र एवं भाष्यकार गौडपाद, इस सम्बन्ध में मौन ही हैं। गुणों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की यह विशेषता ईश्वरकृष्ण में भी नहीं है। इन्होंने भी गुणों का सामान्य, किन्तु वैज्ञानिक व्याख्यान ही किया था। इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र जहाँ, सांख्यतत्त्वकौमुदी के अन्तर्गत पुरुष के साथ बुद्धि का संयोग नहीं स्वीकार करते, वहाँ विज्ञानभिक्षु इस संयोग के पक्षपाती हैं। यह संयोग ही पुरुष के भोक्तृत्व आदि का साधक है। इसी प्रकार विज्ञानभिक्षु जहाँ मन के सहयोग के बिना भी इन्द्रियों द्वारा पदार्थों के निर्धारित गुणों का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं, वहाँ वाचस्पति मिश्र यह मानते हैं, कि मन ही विषयों को एक निर्धारित क्रम में व्यवस्थित करता है। यहाँ यह तथ्य भी प्रकाश्य है, कि भारतीय आचार्य नितान्त सम्प्रदायवादी एवं कट्टर न होकर इतर साम्प्रदायिक विचार-दृष्टियों को भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर, ग्रहण करते हैं। यही कारण है, कि विज्ञानभिक्षु के विज्ञानामृतभाष्य में वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इस स्थल पर वेदान्त एवं सांख्यदर्शन के विचारों के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना समीचीन होगा।

अद्वैत वेदान्त और सांख्यदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

अद्वैत वेदान्त और सांख्यदर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रो. डायसन का यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि सांख्यदर्शन का पूर्ण विकास औपनिषद वेदान्त से हुआ है।[१] सांख्यदर्शन की उपनिषद्वर्त्ती पृष्ठभूमि की ओर अभी पीछे संकेत किया जा चुका है। उपनिषद्गत सिद्धान्तों से जिस अद्वैत वेदान्त का विकास हुआ है उससे सांख्यदर्शन के सिद्धान्त बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त होगा कि सांख्य और वेदान्त दोनों एक ही दृष्टिकोण को लेकर आरम्भ होते हैं और दोनों का उद्देश्य भी एक ही है। यहाँ हमारा उद्देश्य सांख्य और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों मे साम्य एवं वैषम्य देखना है।

---

१. It wil be shown that the Sāṅkhya in all its componant parts has grown out of the Vedānta of the Upaniṣads. (Deussen : The Philosophy of the Upaniṣads. p. 239).

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जो स्थान माया का है, वह स्थान सांख्यदर्शन में प्रकृति का है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को माया का पर्यायवाची कहा गया है।[1] परन्तु सांख्य की प्रकृति और वेदान्तिक माया में पर्याप्त अन्तर है। वेदान्तिक माया की तरह प्रकृति अनिर्वचनीय नहीं है। वेदान्त में माया मिथ्या है परन्तु सांख्य की प्रकृति सत्यरूपिणी है। यद्यपि परवर्ती वेदान्त में माया को त्रिगुणात्मिका कहा गया है, परन्तु वहाँ भी माया की त्रिगुणात्मकता से सत्त्व, रज और तम की प्रवृत्तियों का ही अभिप्राय है, न कि सांख्य की भौतिक प्रकृति का।[2] माया की ऐन्द्रजालिकता का भी सांख्य की प्रकृति में अभाव है। वेदान्त में जो स्थान ब्रह्म का है, सांख्य में वह स्थान पुरुष का है; परन्तु यह विचारणीय है कि वेदान्त के 'ब्रह्म' की तरह सांख्य का 'पुरुष' जगत् का उपादान कारण नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि ब्रह्म की उपादानकारणता में उसकी शक्ति माया कारण है। जहाँ वेदान्तदर्शन में एकात्मवाद का समर्थन किया गया है, वहाँ सांख्यदर्शन पुरुषबहुत्व का समर्थक है। वैसे तो उपाधिभेद से अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी अनेकजीववाद का ही समर्थन किया गया है।[3] वेदान्त और सांख्य दोनों ही दर्शन अध्यासवाद के समर्थक हैं; परन्तु फिर भी दोनों का अध्यास-सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न है। सांख्य के अध्यास का कारण प्रकृति और पुरुष का पृथक्-पृथक् न समझना रूप अविवेक है। परन्तु अद्वैत वेदान्त में अध्यास का कारण ब्रह्म और माया के स्वरूप ज्ञान का अभाव तो है ही, साथ ही अनिर्वाच्य एवं मिथ्या जगत् की सृष्टि भी प्रधान कारण है।[4] कार्य-कारण-सिद्धान्त के सम्बन्ध में सांख्याचार्य जहाँ जगत् रूप कार्य को सत् कहकर सत्कार्यवाद का समर्थन करता है, वहाँ वेदान्ती सदानन्द 'अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः' की उक्ति के द्वारा जगत् को विवर्त सिद्ध करता है।[5] वेदान्तदर्शन के अनुसार सृष्टि अविद्या का परिणाम है, परन्तु सांख्यदर्शन में सृष्टि का कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग रूप अविवेक है। जैसे कि, वेदान्त में अविद्या-निवृत्ति होने के पश्चात् जीव बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार सांख्य में प्रकृति और पुरुष के पार्थक्य का विवेक होने पर पुरुष प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाता है।[6] इस प्रकार वेदान्त और सांख्य दोनों ही दर्शन-पद्धतियों में जगत् की व्यावहारिक सत्ता का मूल कारण अविद्या ही है।[7] क्योंकि अविवेक भी अविद्या का ही रूप है।

सांख्य एवं वेदान्त के सिद्धान्तों पर तुलानात्मक दृष्टिपात करते समय दोनों दर्शन पद्धतियों में स्वीकृत कैवल्य सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी विचार अपेक्षित है। वेदान्त का कैवल्य केवलाद्वैतवाद से पुष्ट है। इसका आशय है कि वेदान्त में, मोक्षावस्था में केवल ब्रह्म भाव ही स्थित रहता है, जगद्भाव

---

१. मायां तु प्रकृतिं विद्यात्। (श्वे. उ., ४।१०)

२. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 493.

३. अनन्ताश्च जीवा अज्ञानसंख्यात्वात्। रामाद्वयाचार्यकृत वेदान्तकौमुदी, पृ. २७८ मद्रपुरा तथा देखिए ब्र. सू., शा. भा., १/४/३।

४. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 493.

५. वेदान्तसार, पृ. ५६।

६ MaxMuller : Indian Philosophy, Vol. III, p. 70.

नहीं, द्वैत नहीं। इसीलिए वेदान्त में मोक्ष को कैवल्य संज्ञा दी गई है। सांख्य में भी मोक्षावस्था के ज्ञान को 'केवल' कहा गया है–"केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्" (सा. का. ६४)। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है, कि द्वैतवादी सांख्यदर्शन के अन्तर्गत परमार्थावस्था में प्रकृति एवं पुरुष दोनों की सत्ता रहने पर परमार्थावस्था के ज्ञान को "केवल ज्ञान" किस प्रकार कहा गया है। मेरे विचार से यहाँ यही समाधान सम्भव है कि सांख्य के अनुसार परमार्थज्ञानावस्था में यथार्थ प्रकृति ज्ञानी के समक्ष वर्तमान तो रहती है, किन्तु ज्ञानी उससे असंपृक्त होने के कारण कोई सम्बन्ध नहीं अनुभव करता। यह सांख्य स्वीकृत सिद्धान्त है।[1] वेदान्त में भी तो यही तथ्य गृहीत है, क्योंकि वहाँ भी परमार्थ ज्ञान की अवस्था में भी जगत् तो वर्त्तमान रहता ही है, किन्तु ज्ञानी जगत् के साथ किसी सम्बन्ध का अनुभव नहीं करता। सम्बन्ध सम्भव भी नहीं है–"न हि सदसतोः सम्बन्धः"। वेदान्त के ज्ञानदर्शी की भी यही विशेषता है कि वह द्वैतरहित स्थिति है–"ज्ञाते द्वैतं न विद्यते"। इस प्रकार देखा जाय तो सांख्य एवं वेदान्त की परमार्थ ज्ञान की स्थिति बहुत कुछ समान है। भेद है, तो केवल यह, कि वेदान्त में जिस केवल अद्वैतस्वरूप एवं भावात्मक ब्रह्म की सत्ता स्वीकार की गई है, वह सांख्यदर्शन में अप्राप्त है। दूसरे, प्रकृति-पुरुष जैसा सम्बन्ध भी वेदान्त में अस्वीकार्य है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह सिद्ध होता है, कि वेदान्त और सांख्य का मूल आधार वैदिक विचारधारा होने के कारण, आरम्भ में इन दोनों का रूप समान ही था। परन्तु कालान्तर में इन दोनों की विचारदृष्टियों में भेद हो गया। वेदान्ती तो पूर्णतया वैदिकमतावलम्बी होने के कारण अद्वैत मत का मण्डन करता गया, परन्तु सांख्यवादी ने वैदिकपथ को छोड़कर साधारणजनहिताय वैदिक सिद्धान्तों में परिवर्तन करना आरम्भ कर दिया। वेदान्त के एकात्मवाद के स्थान पर पुरुष-बहुत्ववाद और जगत् की मायिक सत्यता की जगह अनित्य सत्यता स्वीकार करना सांख्य के प्रमुख परिवर्तन थे।

अध्ययन की उक्त दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि, सांख्य और वेदान्त के सिद्धान्तों में अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। औपनिषद अद्वैत वेदान्त का प्रभाव भी सांख्य-सिद्धान्तों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। परन्तु यह भी निःसंकोच स्वीकार करना चाहिए, कि अद्वैत वेदान्त और सांख्यदर्शन के सूक्ष्म अध्येता के लिए इन दोनों दर्शन-पद्धतियों के सिद्धान्तों में पारस्परिक भिन्नता भी अत्यन्त मिलती है।

●

---

१. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ (सां. का. ६४)

अष्टम अध्याय

योगदर्शन

अनुक्रमणिका

जैसा कि हमने आरम्भ से ही देखा है, भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा की यह विशेषता रही है, कि एक ओर वह गतिशील एवं प्रवाहमयी, एवं परिणामतः क्रिया-प्रतिक्रियावादिनी है, तो दूसरी ओर परवर्त्ती सम्प्रदायबद्ध विचारधाराएँ, तत्तत् पूर्ववर्त्ती साम्प्रदायिक विचारधाराओं में वर्त्तमान जिज्ञासाओं की पूरक सिद्ध हुई हैं। जैसा कि अभी कह आए हैं, उक्त तथ्य भारतीय दर्शन की अगाधता एवं भारतीय मनीषा के गम्भीर चिन्तन का परिचायक है। इससे भारतीय दर्शन की विचारधारा का सातत्य भी स्वभावतः द्योतित होता है। किन्तु इससे किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय की अपूर्णता की शङ्का करना उचित नहीं होगा–"अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्"। उक्त धारणा योगदर्शन के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। निदर्शनस्वरूप योगदर्शन के प्रवर्तक परमाचार्य पतञ्जलि के पूर्ववर्त्ती सांख्याचार्यों ने यह विवेचन तो किया कि तत्त्वों की अनन्त संख्या में स्थितियों के पारस्परिक परिवर्तन से समस्त जगत् और उसके परिणाम उत्पन्न हुए। परन्तु जगत् के नियत विनाश कार्य-कारण नियम के सम्बन्ध में किसी योजक एवं निर्णायक सत्ता की कल्पना सांख्य ने नहीं की। सांख्य ने इस सत्ता का समाधान तत्त्वों के स्पन्दन एवं गति में ही ढूँढने की चेष्टा की, किन्तु यह पर्याप्त न था। परिणामतः यह प्रश्न बराबर बना रहा कि अचेतन प्रकृति जगत् की व्यवस्था का नियमन किस प्रकार करती है। तथा प्रकृति में विचलन-विघटन स्वयं किस प्रकार होता है। इसके अतिरिक्त पुरुष के सत्कर्म, अथ च असत् कर्म के फल की व्यवस्था किस प्रकार होती है, तथा कौन करता है। इस प्रकार की जिज्ञासाओं ने ही सेश्वर सांख्य एवं योगदर्शन के अन्तर्गत पुरुष-विशेष ईश्वर की स्थापना का अवसर प्रदान किया। फलतः, योगदर्शन के अन्तर्गत चेतनपुरुष की स्वीकृति होने पर, यह स्थापना की गई कि चेतन-पुरुष स्वरूप ईश्वर, जो सर्वज्ञ एवं शक्तिमान् है उसकी इच्छा के फलस्वरूप गुणों के वे प्रतिबन्ध निवृत्त हो जाते हैं, जो गुणों के परिणाम में बाधक होते हैं। इसके परिणामस्वरूप गुणों से पुरुष की भोग एवं मोक्ष की सिद्धि सम्भव होती है। यहाँ, यह उल्लेखनीय है कि ईश्वर प्रकृति का जन्मदाता नहीं है, प्रत्युत वह प्रकृति के साम्य को निष्क्रियता की स्थिति से विचलित कर, उसकी (प्रकृति का) चेतन व्यवस्था के अनुगमन में सहायक सिद्ध होता है। इसके परिणामस्वरूप कर्मफल का विभाजन समुचित रूप से सम्भव होता है, तथा सृष्टि की व्यवस्था सम्भव होती है। उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार, यह स्पष्ट हो जाता है कि योगदर्शन की उत्पत्ति के मूल में सांख्य प्रतिफलित जिज्ञासाएँ एवं शङ्काएँ किसी न किसी रूप में वर्तमान थीं।

अब यहाँ योगदर्शन के आचार्यों एवं व्याख्याकारों टीकाकारों उनकी कृत्तियों एवं सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

योगदर्शन के प्रमुख आचार्य एवं टीकाकार

पतञ्जलि

योगदर्शन के प्रथम प्रतिष्ठित आचार्य महर्षि पतञ्जलि हैं। इनका स्थिति-काल ई.पू. दूसरी शती है। किन्तु वुड्स ने पतञ्जलि का स्थितिकाल चौथी शताब्दी माना है। जैकोबी के मतानुसार योगसूत्र के प्रणेता पतञ्जलि का स्थितिकाल ई.पू. तीसरी शती स्वीकृत अङ्गीकार किया गया है। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र (२-५२) में योगसूत्र (३.२२) का उल्लेख है। यहाँ यह तथ्य विचारणीय है कि उमास्वाति के टीकाकार, सिद्धसेन का समय ३०० ई.पू. माना जाता है। अतः पतञ्जलि का समय ३०० ई. के पश्चात् नहीं माना जा सकता। व्याकरण-महाभाष्य एवं योगसूत्र, दोनों के प्रणेता एक ही पतञ्जलि हैं। निम्नलिखित श्लोक के आधार पर पतञ्जलि ही चरकसंहिता के रचयिता भी समझे जाते हैं–

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।

पतञ्जलि शेषनाग के अवतार कहे जाते हैं। वेबर ने पतञ्जलि को शतपथब्राह्मण में उल्लिखित "काव्य-पतञ्जलि" से अभिन्न माना है।[1]

तीन पतञ्जलियों का मत

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, योगदर्शनकार पतञ्जलि, व्याकरणमहाभाष्यकार पतञ्जलि एवं तृतीय पातञ्जलतन्त्र के लेखक आयुर्वेदकार पतञ्जलि का उल्लेख मिलता है। इनमें तृतीय आयुर्वेदकार पतञ्जलि का उल्लेख चक्रदत्त के टीकाकार शिवदास ने धातुओं के तापन के प्रसङ्ग में किया है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं–

योगदर्शनकार एवं व्याकरणमहाभाष्यकार पतञ्जलि, दोनों एक ही हैं, यह मत प्रायः पाश्चात्य विद्वानों का है। इस मत का आधार भारतीय टीकाकारों के मत हैं। इनमें एक मत पतञ्जलि-चरित के रचयिता रामभद्र दीक्षित (१८०० ई.) का है। दूसरा आधार है वासवदत्ता पर शिवराम (१८०० ई०) की टीका। दो अन्य आधार हैं–धारा नगरी के राजा भोज एवं चक्रपाणिदत्त के कथन। भोज का कथन है "उस महामनीषी रणारंग मल्ल के वचनों की जय हो, जिसने पातञ्जल की टीका लिखकर तथा राजमृगांक नामक आयुर्वेद ग्रन्थ की रचना कर सर्प को धारण करने वाले शिव के समान मन, वचन तथा कार्य के दोष नष्ट कर दिए हैं।" इस प्रकार विद्वानों की एक परम्परा तीन पतञ्जलि स्वीकार करती है। किन्तु वुड्स का विचार है, कि व्याकरणमहाभाष्यकार एवं योगदर्शनकार पतञ्जलि एक नहीं हो

---

१. Weber : History of Indian literature, p. 223, (F.N.)

सकते। इस सम्बन्ध में यह तथ्य विचारणीय है कि महान् वैयाकरणों, जैसे, भर्तृहरि, कैयट, वामन, जयादित्य एवं नागेश में से किसी ने भी दोनों के एक होने की बात नहीं की है। अतः व्याकरण-महाभाष्यकार पतञ्जलि एवं योगदर्शनकार पतञ्जलि, एक नहीं कहे जा सकते। योगदर्शन के (१) समाधि, (२) साधन, (३) विभूति तथा (४) कैवल्य, ये चार पाद हैं। प्रथम पाद के अन्तर्गत योग के स्वरूप, चित्तवृत्ति एवं समाधि तथा उसके भेदों का निरूपण किया गया है। द्वितीय पाद में क्रियायोग, अविद्यादिक्लेश एवं उनके निवारण के उपाय एवं अष्टांगयोग आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का निरूपण वर्तमान है। तृतीय, विभूतिपाद के अन्तर्गत धारणा, ध्यान, समाधि एवं योगसाध्य विभूतियाँ निरूपित की गई हैं। चतुर्थ पाद (कैवल्य) का प्रमुख विषय कैवल्य ही है। इसके अतिरिक्त इस पाद के अन्तर्गत समाधिसिद्धि, चित्तनिर्माण, आत्मभावभावनानिवृत्ति, विज्ञानवाद का खंडन एवं चितिशक्ति आदि विषयों का निरूपण वर्त्तमान है।

इस प्रकार योगसूत्र अथवा योगदर्शन व्यवस्थित निरूपण की दृष्टि से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

यहाँ यह तथ्य भी उद्घाटनीय है, कि निःसन्देह योगदर्शन के प्रमुख प्रवर्त्तक पतञ्जलि ही हैं, किन्तु इससे पतञ्जलि के साथ ही योगदर्शन का आरम्भ नहीं मान लेना चाहिए। प्राचीन वैदिककालीन ऋषियों का योग-बल प्रसिद्ध ही है,[1] जिसके कारण वे त्रिकालद्रष्टा एवं मन्त्रद्रष्टा थे। उपनिषदों के अन्तर्गत तो योगसम्बन्धी विशेष प्रक्रियाएँ एवं वर्णन उपलब्ध ही हैं। निदर्शनार्थ श्वेताश्वतर उपनिषद् (२।७–१५) में क्रियात्मक योग का विशेष निरूपण उपलब्ध है। इसी प्रकार छान्दोग्य, बृहदारण्यक एवं कठादि उपनिषदों में योगविषयक अनेक वर्णन मिलते हैं। उदाहरणार्थ छान्दोग्य उपनिषद् (८।६) बृहदारण्यक उपनिषद् (४-३-२०) एवं कौषितकि उपनिषद् (४।१६) के अन्तर्गत हृदय से पुरीतत तक जाने वाली हिता नामक नाडियों का वर्णन मिलता है। यही 'पुरीतत' योग कहलाता है। इसके अतिरिक्त योगदर्शन से सम्बन्धित अनेक स्वतन्त्र उपनिषदें भी मिलती हैं। इनमें अद्वयतारक उपनिषद्, अमृतनाद, अमृतबिन्दु, क्षुरिका, तेजोबिन्दु, त्रिशिख ब्राह्मण, ध्यानबिन्दु, नादबिन्दु पाशुपतब्रह्म, ब्रह्मविद्या, मण्डलब्राह्मण, महावाक्य, योगकुण्डली, योगचूडामणि, योगतन्त्र, योगशिखा, वराह, शाण्डिल्य, हंस एवं योगराजोपनिषद् प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त बौद्धधर्म के पालि त्रिपिटकों एवं संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थों में भी योगसम्बन्धी विशिष्ट वर्णन उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार जैन-ग्रन्थों में भी योगसम्बन्धी वर्णन स्पष्ट रूप से उपलब्ध होते हैं। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र एवं हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में स्वतन्त्ररूप से योगसम्बन्धी वर्णन किया है। प्राचीन तन्त्र-ग्रन्थों में भी अनेक योगसम्बन्धी निरूपण प्राप्त हैं। कुण्डलिनी योग भी एक महायोग ही है। गोरक्षसंहिता के अन्तर्गत भी सिद्धों के योग की अनेक प्रक्रियाएँ वर्तमान हैं। प्राचीन नाथ सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी अनेकानेक योगसम्बन्धी प्रकरण प्राप्त हैं। इस प्रकार योगदर्शन एक प्राचीन दर्शन है।

योगभाष्य

योगभाष्य अथवा व्यासभाष्य की रचना व्यास जी ने योगसूत्र के सिद्धान्तों के विशदीकरणार्थ की थी। किन्तु ये व्यास वेदव्यास से भिन्न थे। योगभाष्य के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर बौद्ध प्रभाव

---

१. देखें, ऋ.सं. १।५।३; १।१८।७; एवं १।३०।७।

देखने को मिलता है।[1] अतः योगभाष्य का रचना-काल विक्रम की तृतीय शती माना जाता है।

वाचस्पति मिश्र

योगसूत्र पर आधारित व्यासभाष्य के तात्पर्य को समझना सरल नहीं है। एतदर्थ ही सर्वदर्शन-पण्डित वाचस्पति मिश्र ने भाष्याशय के बोध की दृष्टि से तत्त्ववैशारदी की रचना की थी। वाचस्पति मिश्र मैथिल थे। न्यायदर्शन के क्षेत्र में जो महत्त्व इनकी बहुमूल्य कृति न्यायतात्पर्यटीका का है, सांख्यदर्शन के क्षेत्र में, जो महत्त्व इनकी सांख्यतत्त्वकौमुदी का है, मीमांसा के क्षेत्र में जो महत्त्व न्यायकणिका (विधिविवेक की टीका) का है, तथा वेदान्त के क्षेत्र में जो प्रतिष्ठा इनकी टीका 'भामती' ने प्राप्त की है, वही प्रतिष्ठा योगदर्शन के क्षेत्र में वाचस्पति मिश्र की टीका तत्त्ववैशारदी की है। तत्त्ववैशारदी की शैली विलक्षण है। यह शैली यदि पारिभाषिक है तो व्याख्यानात्मक एवं निदर्शनात्मक भी। फलतः वैशारदी के अन्तर्गत भाष्य के गूढातिगूढ विषयों को व्याख्या शैली एवं अनेक दृष्टान्तों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। जहाँ तक योग-वैशारदी की पारिभाषिक शैली का प्रश्न है, वाचस्पति मिश्र ने चित्त की विशुद्ध सात्विक स्थिति को 'ज्ञान प्रसाद' कहकर एवं 'आभोग' की 'स्वरूपसाक्षात्कारवर्ती प्रज्ञा आभोगः' परिभाषा कर अपनी पारिभाषिक शैली का परिचय दिया है। तत्त्ववैशारदी के विशदीकरणार्थ राघवानन्द सरस्वती ने पातञ्जलरहस्य नाम्नी टीका का प्रणयन किया था। जैसा कि सांख्यदर्शन की विवेचना के अवसर पर देख आए हैं, विज्ञानभिक्षु सांख्य एवं वेदान्त, दोनों के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका योगवार्त्तिक, योगभाष्य के विशदीकरण में सर्वथा सशक्त है। योगवार्त्तिक विज्ञानभिक्षु का मौलिक ग्रन्थ है। अत एव इस ग्रन्थ में इनका वाचस्पति मिश्र से अनेक स्थलों पर मतभेद मिलता है। सांख्यविषयक इनके परस्पर मतभेद का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। योगसम्बन्धी, विज्ञानभिक्षु का दूसरा ग्रन्थ, योगसारसंग्रह है, जिसके अन्तर्गत, योगसिद्धान्तों का सारांश प्रस्तुत किया गया है।

हरिहरानन्द आरण्यक

हरिहरानन्द आरण्यक आधुनिक विद्वान् हैं। इन्होंने योगभाष्यवर्त्ती तात्पर्य के प्रकाशनार्थ 'भास्वती' नामक टीका का प्रणयन किया था। 'भास्वती' योगदर्शन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका है।

पातञ्जल योगसूत्र की टीकाएँ

पातञ्जल योगसूत्र की अनेक टीकाएँ हैं। इनमें भोजप्रणीत भोजवृत्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसका वास्तविक नाम 'राजमार्त्तण्ड' है। योगसूत्र पर ही भावगणेश की 'वृत्ति' प्रसिद्ध है। भावगणेश सांख्य के भी विद्वान् थे। इसके अतिरिक्त रामानन्दयति की मणिप्रभा, अनन्तपण्डितप्रणीत 'योगचन्द्रिका' सदाशिवेन्द्रसरस्वतीरचित 'योगसुधारक एवं नागोजीभट्टकृत लघ्वी' एवं 'बृहती' वृत्तियाँ योगदर्शन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन के रूप में प्रख्यात हैं। इनमें बृहती योगवार्त्तिक के तात्पर्यबोध के लिए परम उपादेय है।

---

१. देखें, योगभाष्य, ३।१३।

अब यहाँ योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

योगशब्द का अर्थ

सूत्रकार पतंजलि ने योग की परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[1] अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है, कहकर दी है। इस शब्द की निष्पत्ति 'युज्' धातु (जिसका प्रयोग समाधि अर्थ में होता है) से होती है। वास्तव में योग का चरम उद्देश्य समाधि ही है। योग के अर्थ के सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर ने बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में इस शंका का समाधान किया है, कि योग शब्द का अर्थ दो वस्तुओं का योग (Union) है अथवा वियोग (Disunion)। प्रो० मैक्समूलर ने योग शब्द का अर्थ वियोग ही स्वीकार किया है।[2] प्रो० मैक्समूलर यदि योग शब्द की निष्पत्ति 'युज्' (समाधौ) से मान लेते तो उनके सामने योग शब्द के अर्थ के विषय में उक्त समस्या उपस्थित न हुई होती। संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वेबर ने भी जो योग का अर्थ संयोग दिया है, वह अयुक्त है।[3] क्योंकि योग का प्रतिपाद्य जीव का किसी अन्य से संयोग न होकर आत्म-स्वरूपावबोध ही है। मैक्समूलर का 'वियोग' अर्थ संयोग की अपेक्षा कुछ अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि पातंजल योग-मार्ग में भी प्रकृति और पुरुष का वियोग तो मिलता ही है। वृत्तिकार भोज ने भी योगदर्शन के आरम्भ में मंगलाचरण करते समय पतंजलि के उक्त मत की ओर संकेत किया है।[4] मेरे विचार से तो बाह्य वृत्तियों के विरोध और निरोध के फलस्वरूप समस्त वृत्तियों और संस्कारों का प्रविलय होने पर ही योग की उत्पत्ति होती है। अतः यदि देखा जाय तो योग वियोग का फल है न कि स्वतः वियोग ही। योग तो समाधि का ही स्वरूप है।[5]

वैसे तो हठयोग, मंत्रयोग और लययोग आदि योग के कई भेद मिलते हैं, परन्तु दार्शनिक दृष्टि से पतंजलि के राजयोग का ही अधिक महत्त्व है। अतः यहाँ पातञ्जल-दर्शन के अनुसार ही योगदर्शन के सम्बन्ध में विचार अपेक्षित है।

चित्त एवं चित्तवृत्ति

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत चित्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं, प्रत्युत मनोवैज्ञानिक, व्यावहारिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी मनस्तत्त्व का योगदान विलक्षण है। योगदर्शन के अन्तर्गत चिन्तन एवं मन में भेद नहीं किया गया है। यह कहना समीचीन होगा कि मानव के समस्त क्रियाकलापों का केन्द्रबिन्दु चित्त होने के कारण, एक अच्छा मानव बनने के लिए चित्त का

---

१. योगसूत्र, १।२।
२. *Max Muller* : Indian Philosophy. Vol. III, p. 94
३. History of Indian Literature, p. 238-39
४. पतंजलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया।। (योगदर्शन, मंगलाचरण का तृतीय श्लोक)
५. योगः समाधिः। –योगभाष्य, १।१।

परिष्कृत होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है, क्योंकि चित्त ही कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों को तत्तत् कार्यों में प्रवृत्त करता है। इस प्रकार सत्कर्म का प्रेरक एवं प्रवर्त्तक होने के कारण मन ही मोक्ष का कारण भी है। इसका कारण यह है कि ज्ञान साध्य मोक्षार्थ अपेक्षित चित्तशुद्धि सत्कर्म के द्वारा ही सम्भव है। यहीं, यह भी उल्लेखनीय है, कि चित्त की परिष्कृति एवं शुद्धि के लिए सात्त्विक आहार भी अपेक्षित है। जैसा आहार होगा, वैसा ही चित्त का निर्माण होगा। गीता में यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है, कि योगी पुरुष का आहार एवं विहार नियतपरिमाण वाला होना चाहिए–

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुखहा ।। गीता ६।१७।

सात्विक आहार से सात्त्विक, राजस आहार से राजस एवं तामस आहार से तामस चित्त, का निर्माण होता है। चित्त में चित्तवृत्ति एवं संस्कार का चक्र सतत रूप से चलता रहता है। जैसा कि वेदान्तपरिभाषा के अन्तर्गत विशदीकृत है, वृत्ति अन्तःकरण का परिणाम विशेष है।[1] चित्त के स्वभावतः तैजस एवं द्रवणशील स्वभाववाला होने के कारण वह इन्द्रियों के माध्यम से जिन विषयों के सम्पर्क में आता है, वे विषय चित्त में परिणमित एवं आकृत अथवा रूपित हो जाते हैं। इसीलिए व्यक्ति पूर्वदृष्ट विषयों का मानस साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। मानस संस्कार ही दृढ़ होकर वृत्ति का रूप ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति किसी आध्यात्मिक सत्संग में जाता है तो उसके धार्मिक एवं आध्यात्मिक संस्कारों (चित्त पर पड़े धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रभावों) में दृढ़ता आती है, यही वृत्ति है। इस प्रकार संस्कार वृत्ति के जनक हैं। इसी प्रकार वृत्ति भी संस्कारों की जननी है, क्योंकि सद्वृत्ति सत्संस्कारों की जननी है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में संस्कार एवं वृत्ति का चक्र चलता रहता है। इससे यह निष्कर्ष भी प्राप्त है कि सात्त्विक आहार एवं विहार से सात्त्विक संस्कारवान् एवं सात्त्विकवृत्तिसम्पन्न चित्त का निर्माण होता है, तथा राजस एवं तामस आहार-विहार से रजोगुणी एवं तमोगुणी चित्त का निर्माण होता है।[2]

यह विचारणीय है, कि मनुष्य के सात्त्विक, राजसिक, तामसिक एवं विविध अन्य संस्कारों से वासित चित्त जन्म-जन्मान्तर तक जाता है, या यों समझिये कि मनुष्य के चित्त पर प्रतिविम्बित संस्कार वासना रूप में स्थित होकर जन्म-जन्मान्तर तक जाते हैं। यह वासना ही पुनर्जन्म का हेतु बनती है। जब तक सदसद्रूपिणी वासना का रूप नहीं होता, तब तक मोक्ष सम्भव नहीं होगा–"मोक्षः स्याद् वासनाक्षयः" (मुक्ति, २।६८) इससे यह भी ऊह्य है, कि मनुष्य जो आज है, वह इस जन्म का नहीं है, अपितु जन्म-जन्मान्तर का है–

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। गीता, ६।४५।

---

१. अन्तःकरणस्य परिणामविशेषो वृत्तिः। वेदान्तपरिभाषा, परिच्छेद १।

२. त्रिविध आहार के लिए देखें–

आयुःसत्त्वबलाराग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।। कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकाऽऽमयप्रदाः।।
यातयामं गतरसं, पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।। गीता, १७।८-१०।

इस सम्बन्ध में शङ्कराचार्य ने भी कहा है कि ज्ञानप्राप्ति के लिए जिनमें संस्कारों का संग्रह किया जाए, ऐसे बहुत से जन्मों का अन्त होने पर ज्ञानी परिपक्व ज्ञान को प्राप्त करता है, तथा परमात्म-साक्षात्कार करता है।[1]

यहाँ चित्तवृत्तिनिरोध के सम्बन्ध में विचार करना अपेक्षित है। पतञ्जलि ने चित्तवृत्ति के निरोध (रोक) को योग कहा है।[2] जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा, भाष्यकार ने निरोध का अर्थ एकाग्रावस्था एवं निरुद्ध अवस्था के निरोध से लिया है। किन्तु सामान्य रूप से निरोध का अर्थ संयम है। मन का संयमित होना परम आवश्यक है। अत एव अष्टांग योग के अन्तर्गत प्रथमतः 'यम' को ग्रहण किया है।[3] यम से संयम का ही अभिप्राय है। चित्त को दुष्कृत्यों से रोकना (निरोध) संयम ही है। किन्तु चित्त को दुष्कृत्यों एवं दुर्व्यवहार से रोके कौन ? क्योंकि चित्त तो पूर्वसंस्कारों के अनुसार दुष्कृत्यों एवं सत्कृत्यों में प्रवृत्त होगा ही। यहाँ, यह वक्तव्य है, कि चित्त ही चित्त के निग्रह में समर्थ है–

'मन एव समर्थं हि मनसो दृढ़निग्रहे'।

यदि कहा जाय कि दोषी मन स्वयं को किस प्रकार रोकेगा, तो यह कहा जाएगा कि दोषी मन को रोकने वाला विवेकपूर्ण मन है। उदाहरणार्थ एक ही मन स्वाध्याय से विरत होना चाहता है, और वही पुनः स्वाध्याय में प्रवृत्त होता है। दूसरी स्थिति मन की विवेकपूर्ण स्थिति है। योगदर्शन में मन, बुद्धि एवं चित्त में भेद नहीं किया गया है, अतः मन ही अविवेकपूर्ण एवं विवेकपूर्ण दोनों है। किन्तु उत्तरकाल में अन्तःकरणचतुष्टय के अन्तर्गत विवेकधारिणी बुद्धि है। अतः बुद्धि ही दुष्कृत्य में प्रवृत्त मन को विवेक होने पर सत्कृत्य की ओर प्रवृत्त करती है। वस्तुतः कर्म के प्रति चेष्टावान् होना, चित्त का स्वभाव है, किन्तु समस्या चित्त के सत्कर्म में प्रवृत्त होने की है–"युक्तचेष्टस्य कर्मसु" (गीता, ६।१७) जिन मनुष्यों का चित्त सत्कर्म में चेष्टावान् है–प्रवृत्त है, वे ही सन्मानव हैं, तदितर पशुसदृश हैं–"धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः"।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि योग मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक स्वास्थ्य का निदान है। आत्मिक स्वास्थ्य का अर्थ स्वरूपस्थता है। चित्त के संयमित होने पर शरीर एवं मन का स्वस्थ रहना स्वाभाविक है, क्योंकि मन के संयमित होने पर संयमित आहार-व्यवहार होने के कारण शरीर एवं मन दोनों स्वस्थ रहते हैं। फलतः सत्कर्म चित्तशुद्धि के हेतु बनते हैं, तथा चित्तशुद्धि आत्मनिष्ठता एवं मोक्ष में साक्षात् हेतु सिद्ध होती है।

हमने ऊपर चित्त का स्वरूप निरूपण प्रायः सामान्य दृष्टि से किया है। यहाँ योगदर्शन के अनुरूप चित्तसम्बन्धी विवेचन अपेक्षित है।

---

१. बहूनां जन्मनां ज्ञानार्जनसंस्कारार्जनाश्रयाणां अन्ते समाप्तौ ज्ञानवान् प्राप्तपरिपक्वज्ञानो.....शा०भा०गीता, ७।१८।

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। यो.सू. १।१।

३. यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान–समाधयोऽष्टावङ्गानि। यो.सू. २।२८।

योगदर्शन में चित्त का स्वरूप

योगदर्शन में चित्त से मन, बुद्धि और अहंकार का तात्पर्य है। चित्त त्रिगुणात्मक होने के कारण परिणामी है। सत्त्व, रज और तम–इन तीनों गुणों के उद्रेक के अनुसार चित्त की निम्नलिखित तीन अवस्थाएँ होती हैं : १. प्रख्याशील २. प्रकृतिशील ३. स्थितिशील

प्रथम अवस्था का चित्त सत्त्वप्रधान होता हुआ, रज और तम से संयुक्त होकर अणिमा आदि ऐश्वर्य का प्रेमी होता है। द्वितीय अवस्था में, तमोगुण से युक्त चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य से संयुक्त हो जाता है। तृतीय अवस्था में तम के क्षीण होने पर केवल रजस् के अंश से युक्त होने पर चित्त सर्वत्र प्रकाशमान् होता है, तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से व्याप्त होता है। प्रथम (प्रख्याशील) अवस्था में चित्त में केवल ऐश्वर्य-प्राप्ति की तीव्र इच्छा ही रहती है, परन्तु तीसरी स्थितिशील अवस्था में चित्त को ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन में चित्त की पाँच भूमियाँ अथवा अवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं। ये भूमियाँ–क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध हैं।[1] इन पंचभूमियों का स्वरूप-निर्धारण नीचे किया जा रहा है :

(१) **क्षिप्त**–क्षिप्त का साधारण अर्थ, चंचल है। क्षिप्तावस्था में चित्त चंचल होकर संसार के सुख-दुःखादि के लिए व्यथित रहता है। इस अवस्था में रजोगुण का प्राधान्य रहता है।

(२) **मूढ़**–चित्त की मूढ़ावस्था में तमोगुण का उद्रेक होता है। इस दशा में चित्त में विवेक-शून्यता रहती है। अतः मूढ़ावस्था में विवेक न होने के कारण पुरुष क्रोध इत्यादि के द्वारा विरुद्धकृत्यों में प्रवृत्त हो जाता है।

(३) **विक्षिप्त**–तत्त्ववैशारदी के अन्तर्गत वाचस्पति मिश्र ने विक्षिप्त की परिभाषा 'क्षिप्ताद् विशिष्टं विक्षिप्तम्'[2] कहकर दी है। इस परिभाषा के अनुसार विक्षिप्त की स्थिति क्षिप्त से विशिष्ट है। क्षिप्त की अपेक्षा विक्षिप्त की यह विशेषता है कि क्षिप्त में तो रजोगुण का प्राधान्य रहता है, परन्तु विक्षिप्तावस्था में रजोगुण की अपेक्षा सतोगुण का उद्रेक रहता है। सतोगुण के आधिक्य के कारण विक्षिप्तावस्था का चित्त कभी-कभी स्थिरता धारण कर लेता है। इस अवस्था में दुःख-साधनों की ओर प्रवृत्ति न होकर सुख के साधनों की ओर ही प्रवृत्ति रहती है।

---

१. ताश्च क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तम् एकाग्रं निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयः चित्तस्यावस्थाविशेषाः।
–भोजवृत्ति, योगसूत्र, १।१।

२. तत्त्ववैशारदी, १।१।

उक्त तीनों अवस्थाएँ समाधि के लिए अनुपयोगी होने के कारण हेय हैं।

(४) **एकाग्र**–एकाग्रावस्था वह अवस्था है, जिसमें चित्त की बाह्य वृत्तियों का निरोध हो जाता है।[1]

(५) **निरुद्ध**–पाँचवीं निरुद्धावस्था है। निरुद्धावस्था में चित्त के समस्त संस्कारों तथा समस्त वृत्तियों का प्रविलय हो जाता है।[2]

उक्त अन्तिम दो ही चित्त की ऐसी भूमियाँ हैं जिनकी समाधि के लिए अपेक्षा है।

योगसूत्र के लेखक पतंजलि ने चित्त की पाँच वृत्तियाँ भी मानी हैं। ये पाँच वृत्तियाँ–प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति हैं।[3]

वृत्तियों का स्वरूप-विवेचन : वृत्तियाँ संस्कारों की और संस्कार वृत्तियों के निर्माता हैं। योगदर्शन में निम्नलिखित पांच प्रकार की वृत्तियाँ बतलाई गई हैं।

१. **प्रमाण** : जहाँ तक प्रमाण वृत्ति का प्रश्न है, सांख्यदर्शन की तरह ही योग में भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, ये तीन प्रमाण माने गए हैं। परन्तु योग के प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में कुछ वैशिष्ट्य है। योगदर्शन के अनुसार चित्त इन्द्रिय-द्वार से बाहर जाकर वस्तुओं के साथ उपराग प्राप्त करता है और विषयाकार हो जाता है। इस प्रकार वस्तु के आकार को प्राप्त जो चित्तवृत्ति होती है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। उदाहरण के लिए, वस्तु के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति में 'अहं घटं जानामि' अर्थात् मैं घट को जानता हूँ, इस प्रकार घट का साक्षात्कार होता है। अनुमान तथा शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में सांख्य और योग दोनों में ऐकमत्य है।

२. **विपर्यय** : सूत्रकार पतंजलि ने 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्' (योगसूत्र, १।८) की उक्ति के द्वारा विपर्यय को मिथ्या ज्ञान का रूप दिया है। इस विपर्यय के अन्तर्गत संशय भी आता है।

३. **विकल्प** : विकल्प की उत्पत्ति शब्द-ज्ञान से होती है, परन्तु विकल्प में सत्य-ज्ञान की शून्यता रहती है। उदाहरणार्थ, शशशृग को सुनकर शब्दार्थ का ज्ञान तो होता है, परन्तु उसमें वस्तु के सत्य-ज्ञान की शून्यता ही रहती है, क्योंकि शश (खरगोश) के सींग नहीं देखे जाते। भाष्यकार व्यास ने विकल्पवृत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए चैतन्ययुक्त पुरुष का दृष्टान्त दिया है। उनका कथन है कि 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' अर्थात् पुरुष का स्वरूप चैतन्य है, इस वाक्य में पुरुष और चैतन्य इन दोनों की भिन्नता प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो चैतन्य से चैतन्यात्मक पुरुष कदापि भिन्न नहीं है।[4] अतः इस वाक्य से उत्पन्न वृत्ति विकल्प रूप है।

---

१. एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः।–भोजवृत्ति, १।१।

२. निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलयः।–भोजवृत्ति, १।१।

३. योगसूत्र, १।६।

४. योगसूत्रभाष्य, १।६ (Sacred Books of the Hindus. Vol. IV के अन्तर्गत प्रकाशित।)

४. **निद्रा** : तम के आधिक्य पर अवलम्बित होने वाली वृत्ति निद्रा है। निद्रावृत्ति में जाग्रत् एवं स्वप्न वृत्तियों का अभाव रहता है। निद्रा को ज्ञान का अभाव कदापि न समझना चाहिए, क्योंकि निद्रा भंग होने के पश्चात् सोने वाला व्यक्ति भी इस प्रकार का अनुभव करता है कि, मैं सुखपूर्वक सोया। अतः निद्रा के वृत्तित्व के सम्बन्ध में शंका नहीं करनी चाहिए।

५. **स्मृति** : अनुभूत विषयों का ठीक उसी रूप में असम्प्रमीप (संस्कार के द्वारा बुद्धिगत होना) स्मृति है।

उपर्युक्त पाँच चित्तवृत्तियों के निरोध से ही तत्त्वज्ञान होता है और दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। इन्हीं वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। योगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध के उपाय अभ्यास तथा वैराग्य हैं। वैराग्य के द्वारा चित्तरूप नदी का पापस्रोत रोका जाता है और विवेक-दर्शन के अभ्यास से विवेक-स्रोत का उद्‌घाटन होता है। अत एव वैराग्य और अभ्यास चित्तवृत्ति के निरोध के मूल कारण हैं।

संस्कार : जैसा कि कह चुके हैं, वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियों का निर्माण होता है। जब चित्त में वृत्तियां उत्पन्न होकर क्षीण हो जाती हैं तो वे अपने सूक्ष्म रूप में, संस्कार रूप में, शेष रह जाती हैं। इस प्रकार वृत्तियाँ संस्कार की निर्मात्री हैं। इन संस्कारों से ही उद्‌बोधन-हेतु की उपस्थिति में वृत्तियों का निर्माण होता है। इस प्रकार संस्कार और वृत्तियों का यह चक्र सतत चलता रहता है।

योगदर्शन का क्लेश-सम्बन्धी दृष्टिकोण

योगदर्शन के अनुसार मिथ्या ज्ञान के कारण ही चित्त में क्लेश की उत्पत्ति होती है। योगदर्शन के भाष्य में कहा गया है कि क्लेश ही गुणों के अधिकार को दृढ़ बनाते हैं तथा महत् तत्त्व एवं अहंकारादि की परम्परा से स्थापित करते हैं। क्लेश ही आपस में अनुग्राहक बनकर कर्मों के फलों–जाति, आयु तथा भोग–को निष्पन्न करते हैं।[1] क्लेश और कर्म आपस में एक-दूसरे के सहयोगी हैं। कर्म क्लेशों के उत्पादक हैं तथा क्लेशों से कर्मों का उदय होता है। ये क्लेश निम्नलिखित पाँच हैं :

१. अविद्या
२. अस्मिता
३. राग
४. द्वेष और
५. अभिनिवेश।

१. **अविद्या** : अविद्या अज्ञान का स्वरूप है। अविद्या के सम्बन्ध में योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने कहा है कि अनित्य, अशुचि, दुःखरूप तथा अनात्म वस्तुओं में नित्यता, शुचिता, सुखता तथा

---

१. योगभाष्य, २।३।

आत्मता की बुद्धि रखना अविद्या है।[1] यही अविद्या क्लेश-सन्तान का बीज है तथा विपाक के साथ कर्माशय की उत्पादिका है। अविद्या का विस्तृत विवेचन आगे अद्वैतवेदान्त की अविद्या से तुलना करते समय किया जाएगा।

२. **अस्मिता** : अस्मिता का साधारण अर्थ अहंबुद्धि है। दृक् और दर्शनशक्ति की एकात्मकता अस्मिता है। दृक्शक्ति पुरुष है तथा दर्शनशक्ति बुद्धि है। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु इन दोनों की एकात्मकता स्वीकार करना ही अस्मिता है। इनमें पुरुष भोक्ता है तथा बुद्धि भोग्य। भोक्ता और भोग्य की एकत्व कल्पना होती है। उन दोनों के स्वरूप का ज्ञान (भिन्नता का ज्ञान) हो जाने पर तो कैवल्य ही हो जाता है।[2]

३. **राग** : सुखोत्पादक वस्तुओं में जो लोभ या तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे राग कहते हैं।

४. **द्वेष** : दुःखाभिज्ञ पुरुष को दुःख की स्मृति के आधार पर दुःख के साधनों के सम्बन्ध में जो क्रोध की भावना उत्पन्न होती है, उसे द्वेष कहते हैं।

५. **अभिनिवेश** : अभिनिवेश का तात्पर्य मृत्यु-भय से है। यह मृत्यु-भय प्रत्येक जीव में स्वाभाविक रूप से होता है। अभिनिवेश (मृत्युभय) के सम्बन्ध में भाष्यकार का यह मत कुछ संदिग्ध प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अत्यंत मूढ़ प्राणियों को मृत्युभय लगा रहता है, उसी प्रकार पूर्व और पर के अन्त को जानने वाले विद्वानों को भी मृत्युभय बना रहता है। अपने मत के समर्थन में भाष्यकार का कथन है कि कुशल और अकुशल दोनों में ही मृत्यु दुःख के अनुभव के कारण उत्पन्न होने वाली यह (मृत्युभय की) वासना समान ही है।[3] भाष्यकार के उक्त मत में यह अंश समुचित नहीं प्रतीत होता कि विद्वान् को भी मृत्यु-भय बना रहता है। भाष्यकार के मत के सम्बन्ध में उक्त शंका वाचस्पति मिश्र को भी हुई थी। उन्होंने कहा था कि यह तो ठीक है कि अज्ञानी को मृत्यु का भय रहता है, परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता कि ज्ञानी में भी मृत्युभय बना रहता है। ज्ञानी में तो ज्ञान के द्वारा मृत्यु-भय की वासना का विध्वंस हो जाना चाहिए।[4] मेरे विचार में, विद्वान् से भाष्यकार का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से प्रतीत होता है जिसे आनुमानिक या वाचिक ज्ञान तो है, परन्तु अनुभव नहीं। अतः कैवल्योपनिषद् में परमतत्त्व के वेत्ता जिस विद्वान् की चर्चा की गई है,[5] उससे भाष्यकार का तात्पर्य नहीं प्रतीत होता। विना समाधि आदि अनुभव के मृत्यु-भय का निवारण नहीं हो सकता। उपनिषद् में तो स्पष्ट ही कहा गया है–

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुधा श्रुतेन।' (कठोपनिषद्, १।२।२३)

---

१. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। –योगभाष्य, २।५।
२. योगभाष्य, २।६।
३. समाना हि कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासना। –योगसूत्रभाष्य, २।६।
४. तत्त्ववैशारदी, २।६।
५. कैवल्योपनिषद्, १।१।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि 'विद्वान्' शब्द का भाष्यकार-सम्मत अर्थ परमतत्त्ववेत्ता से नहीं है, अपितु शास्त्रों के ज्ञाता मात्र से है।

योग के साधन

पातञ्जल योग में योग के आठ साधनों की चर्चा की गई है।[1] ये साधन–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि हैं। ये आठ साधन योग के अंग भी कहलाते हैं। इस स्थल पर इन योगांगों का संक्षिप्त विवेचन किया जाएगा।

१. **यम** : यम का अर्थ संयम है। यम के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अप्रतिग्रह, ये पाँच भेद हैं।

२. **नियम** : नियम के भी शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान रूप से पाँच भेद हैं।

३. **आसन** : योगदर्शन में स्थिर तथा सुख प्रदान करने वाले बैठने के प्रकार को आसन कहते हैं।[2] उपासना में आसन-सिद्धि की अत्यन्त उपादेयता है। आसनसिद्धि चित्त की एकाग्रता में अत्यन्त सहायक होती है। हठयोगप्रदीपिका के अन्तर्गत पद्मासन, सिद्धासन, शीर्षासन आदि आसनों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

४. **प्राणायाम** : श्वास और प्रश्वास के गति-विच्छेद का नाम प्राणायाम है। बाह्य वायु का आगमन श्वास तथा भीतरी वायु का निःसारण प्रश्वास कहलाता है। पतंजलि ने योगसूत्र के अन्तर्गत बाह्य, आभ्यन्तर, स्तम्भवृत्ति तथा चतुर्थ प्राणायाम या केवल कुम्भक, प्राणायाम के ये चार भेद बतलाये हैं।

५. **प्रत्याहार** : चित्त-निरोध के समान ही जब बाह्य विषयों से इन्द्रियों का निरोध हो जाता है तो उसे प्रत्याहार कहते हैं। इस स्थिति में इन्द्रियों की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है।

६. **धारणा** : किसी देश में चित्त का लगा देना धारणा कहलाता है।[3] देश से तात्पर्य नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धावर्तिनी ज्योति, नासिकाग्रभाग तथा जिह्वाग्रभाग आदि से है।

७. **ध्यान** : उपर्युक्त देश-विशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार होकर प्रवाहित होता है तो उसे 'ध्यान' कहते हैं। ध्यानावस्था में एकाकार रूप ज्ञान से बलवान् और कोई ज्ञान नहीं होता।

---

१. योगसूत्र, २।२९।

२. स्थिरसुखमासनम्। –योगसूत्र, २।४६।

३. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। –योगसूत्र, ३।१।

८. **समाधि** : जब ध्यान वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है और अपने स्वरूप से शून्यता को प्राप्त हो जाता है तो उसे समाधि कहते हैं। समाधि में ध्यान और ध्याता का भेद मिट जाता है। इसके विपरीत ध्यान में ध्यान, ध्याता और ध्येय का भेद बना रहता है।

पतंजलि ने धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों को मिलाकर संयम कहा है।[1] भाष्यकार ने संयम को उक्त तीनों की तांत्रिकी परिभाषा कहा है।[2] संयम में सफल होने से आलोक का उदय होता है।

समाधि के भेद : योगदर्शन में समाधि के, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात, ये दो भेद मिलते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि को निर्बीज समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि इसलिए कहते हैं कि उसमें चित्त के समाहित होने के लिए कुछ न-कुछ बीज बना रहता है। सम्प्रज्ञात समाधि के भी चार भेद बतलाये गए हैं। ये भेद–वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत हैं। असम्प्रज्ञात समाधि भी भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय रूप से दो प्रकार की है। उपायप्रत्यय समाधि योगियों की समाधि है। इसमें अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। भवप्रत्यय समाधि में कुछ काल तक तो चित्तनिरोध पाया जाता है, परन्तु फिर भी 'व्युत्थान' अर्थात् चित्त-विक्षेप की सम्भावना बनी रहती है। पतंजलि के अनुसार 'भवप्रत्यय' समाधि है जिसमें विदेह देवताओं की तरह प्रकृतिलीन व्यक्ति भी लीन रहते हैं।[3] विदेह षाट्कौशिक (रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र) शरीर से रहित होते है।[4] इस अवस्था में वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, परन्तु फिर भी केवल संस्कार के ही आधार पर ये भोग करती हैं। इसीलिए यह विदेहावस्था कैवल्यावस्था के किंचित् समान ही है। विदेहावस्था वाले अवधि की समाप्ति होने पर पुनः संसार-दशा में आ जाते हैं। अव्यक्त, महत् अहंकार तथा पंचतन्मात्राओं में से किसी एक की आत्मा मानकर उसकी उपासना से वासित अन्तःकरण वाले जीव-शरीर का पतन हो जाने पर उपर्युक्त अव्यक्तादि में से किसी एक में लीन हो जाते हैं। यह जीवों की प्रकृतिलयावस्था है। प्रकृतिलयावस्था में विवेकख्याति को न प्राप्त करके भी वे जीव अपने-आपको कैवल्य का प्राप्त करने वाला समझते हैं। अवधि की पूर्ति होने पर ये जीव भी फिर संसार-दशा में आ जाते हैं। तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पति मिश्र ने इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार वर्षा के समाप्त हो जाने पर मिट्टी में मिला हुआ मेढक वर्षा के होने पर फिर अपने शरीर को धारण कर लेता है, उसी प्रकार अवधि की समाप्ति होने पर प्रकृतिलीन जीव भी पुनः शरीर धारण कर लेता है।[5]

---

१. त्रयमेकत्र संयमः। –योगसूत्र, ३।४।

२. योगसूत्रभाष्य, ३।४।

३. योगसूत्र, १।१६।

४. And they are stripped off a outer six sheathed body. (Tattva-Vaiśārdī 1/19; *Woods* : Yoga System of Patañjali. Harvard Oriental Series, No. 17)

५. तत्त्ववैशार्दा, १।१६।

असम्प्रज्ञात समाधि का दूसरा भेद उपायप्रत्यय है। 'उपायप्रत्यय' ही समाधि का वास्तविक स्वरूप है। उपाय का अर्थ प्रज्ञा का शुद्ध ज्ञान है। ज्ञान का पूर्ण उदय तथा वृत्तिनिरोध के होने पर जो असम्प्रज्ञात समाधि होती है उसी का नाम 'उपायप्रत्यय' है। समाधि की इस अवस्था में ज्ञान का उदय होने के कारण समस्त संस्कारों का दाह हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप संस्कारजन्य अविद्या एवं तज्जन्य क्लेशों का विनाश हो जाता है। भव-प्रत्यय में भी अविद्या की निवृत्ति होती है, परन्तु क्षणिक। इसके विपरीत उपायप्रत्यय में अविद्या की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है। बौद्धदर्शन में प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध की विचारदृष्टि योगदर्शन-सम्मत समाधि की उक्त अवस्थाओं के समान ही है। महर्षि पतंजलि ने उपायप्रत्यय समाधि के–श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा–ये पाँच साधन बतलाये हैं।[1] भाष्यकार ने श्रद्धा को तो माता के समान योगी की कल्याणकारिणी कहा है।[2]

उक्त दृष्टिकोण के अनुसार विचार करने पर यह पता चलता है कि असम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत आनेवाली 'उपायप्रत्यय' समाधि ही योगदर्शन के साधक का सर्वोच्च लक्ष्य है। इसी में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू०, १।२) के साथ-साथ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो० सू०, १।३) की चरितार्थता होती है।

ईश्वरसम्बन्धी मान्यता

योगदर्शन की ईश्वरसम्बन्धी मान्यता सांख्य से विशिष्ट है। योगदर्शन के अन्तर्गत पाँच सूत्रों में ईश्वरसम्बन्धी वर्णन मिलता है।[3] इन सूत्रों में एक सूत्र–'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (गो० सू०, १।१४) के अन्तर्गत ईश्वर की परिभाषा भी निवद्ध है। इस सूत्र के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश–इन पंचक्लेशों पुण्य एवं पापकर्मों, कर्मों से उत्पन्न–जाति, आयु तथा भोगरूप फलों तथा तदुत्पन्न वासनाओं से असंस्पृष्ट एक विशेष प्रकार के 'पुरुष' को ईश्वर कहते हैं। पतंजलि का ईश्वर को भी 'पुरुष-विशेष' की संज्ञा देना यह सिद्ध करता है कि वे सांख्य के साथ योग का सामंजस्य बनाये रखना चाहते थे। ईश्वर-सम्बन्धी विचार की दृष्टि से 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (यो० सू० १।२३) सूत्र अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य है कि समाधिलाभ ईश्वरप्रणिधान से होता है। प्रणिधान का तात्पर्य भक्ति-विशेष, विशिष्ट उपासना तथा विषय-सुखादिक फल की इच्छा न करते हुए समस्त क्रियाओं के ईश्वर में समर्पण से है।[4] इससे ईश्वर का सगुण एवं उपास्य रूप स्पष्ट प्रतिपादित होता

---

१. गो. सूत्र, १।२०।

२. सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। –योगसूत्रभाष्य, १।२०।

३. ईश्वरप्रणिधानाद्वा। –यो० सू०, १।२३।
क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। –यो० सू०, १।२४।
तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः, (यो० सू०, २।१); समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (यो० सू०, २।४५), शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। –यो० सू०, २।३२।

४. भोजवृत्ति, यो० सू०, १।२३।

है। योगदर्शन में सर्वोच्च सत्ता ईश्वर की ही मानी गई है। इस ईश्वर में शाश्वतिक उत्कर्ष, सर्वज्ञत्व तथा सर्वाधिष्ठातृत्त्व है। ईश्वर से अधिक ऐश्वर्यशाली और दूसरा कोई नहीं है। वह सदा ऐश्वर्यसम्पन्न तथा सर्वदा मुक्त है।[1]

योगदर्शन-सम्मत ईश्वर में अन्य पुरुषों की अपेक्षा वैशिष्ट्य होने के कारण ही उसे पुरुष-विशेष कहा गया है। ईश्वर के इस वैशिष्ट्य का निम्नलिखित स्वरूप मिलता है–

पुरुष की अपेक्षा 'पुरुषविशेष' ईश्वर की विशेषताएँ

(क) जीव प्राकृतिक[2], वैकारिक[3] तथा दाक्षिणिक[4] बन्धनों से मुक्त होकर 'केवलीपुरुष' बनता है, किन्तु ईश्वर सर्वथा बन्धनरहित है। अतः ईश्वर 'केवली' पुरुष से भिन्न है।[5]

(ख) 'पुरुष-विशेष'–ईश्वरमुक्त पुरुष से भी भिन्न है। इसका कारण यह है कि मुक्त पुरुष पहले बंधन में रहते हैं और तत्पश्चात् मुक्त होते हैं, परन्तु ईश्वर सर्वदा मुक्त है। अतः ईश्वर मुक्त पुरुष से भिन्न है।

(ग) ईश्वर प्रकृतिलीन पुरुष से भी भिन्न है क्योंकि प्रकृतिलीन पुरुष या तो शरीर के नाश होने पर प्रकृति में लीन हो जाता है अथवा मुक्तवत् होकर पुनः हिरण्यगर्भ के स्वरूप को ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रकृतिलीन पुरुष का उत्तरकाल में बन्धन सम्भव है, परन्तु ईश्वर सर्वदा ही बन्धन से मुक्त है। इसीलिए ईश्वर प्रकृतिलीन पुरुष से भी भिन्न है। योगदर्शन में ईश्वर का 'प्रणव' नाम दिया है।

ईश्वर की उपर्युक्त विशेषताओं से यह विदित होता है कि ईश्वर 'पुरुषविशेष' होते हुए भी पुरुष के लक्षणों से सर्वथा भिन्न लक्षणों वाला है।

जैसा कि डा० राधाकृष्णन् का विचार है, पातंजलयोग-सम्मत ईश्वर का विवेचन सरल नहीं है।[6] प्रो० गार्वे ने भी पतंजलि के सगुण ईश्वर की आलोचना की है।[7] इस सम्बन्ध में प्रो० गार्वे का कथन है–कि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में (योगसूत्र १।२३, २७ तथा २।१, ४५) जो शारीरिक ईश्वर की स्थापना की है, उसका सामंजस्य योग के अन्य सिद्धान्तों के साथ घटित नहीं होता। वास्तव में

---

१. योगसूत्रभाष्य, १।२४।
२. जड़ प्रकृति को ही आत्मा जानकर उसमें लीन हो जाना प्राकृतिक बन्धन है।
३. महत्तत्व आदि विकारों को ही आत्मा समझना और उनमें तन्मय हो जाना वैकारिक बन्धन है।
४. आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानकर यज्ञादि कर्म करने में सदा निरत रहना दाक्षिणिक बन्धन है।
५. योगभाष्य, १।२४।
६. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 370
७. The Philosophy of Ancient India, p. 15

पातंजल योग के अन्तर्गत ईश्वर की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। पातंजल योगदर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वोच्च एवं सर्वज्ञ तो है, परन्तु वह मुमुक्षु को साक्षात् मोक्ष प्रदान नहीं करता। वह तो भक्त के मोक्ष-पथ में सौविध्य मात्र प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त योग का ईश्वर जगत् का स्रष्टा एवं संरक्षक भी नहीं है।[१] यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि योग-प्रतिपादित ईश्वर वेदान्त के ब्रह्म से नितान्त भिन्न है। इसी दृष्टिकोण से मैक्समूलर ने राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा किए गए–'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (योगसूत्र, १।२३) सूत्र के अनुवाद (Devotion to God) को असंगत कहा है।[२] इस स्थल पर इससे मैक्समूलर का यह कथन प्रतीत होता है कि ब्रह्म-वाचक 'गॉड' शब्द का प्रयोग योग के ईश्वर के लिए अनुपयुक्त है। विद्वान् रूनिस के मतानुसार भी मैक्समूलर का मत ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि रूनिस ने गॉड शब्द का अर्थ सर्वोच्च शक्ति ही ग्रहण किया है।[३]

कदाचित् उपर्युक्त आपत्ति से वचने के लिए ही हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के प्रो० वुड्स ने उक्त सूत्र का अनुवाद करते हुए मूल सूत्र में प्रयुक्त ईश्वर शब्द के स्थान पर रोमन में ईश्वर शब्द का ही प्रयोग किया है। प्रो० वुड्स का अनुवाद इस प्रकार है :

Or (concentration) is attained by devotion to the Isvara (Woods, Yoga System of Patanjali, p. 48).

योग का मुक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त

पतंजलि ने अपने योगसूत्र में 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' (३।५६) सूत्र के अन्तर्गत कैवल्य अर्थात् मुक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है कि बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष की जो शुद्धि एवं सादृश्य है वही कैवल्य है। समस्त कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति के द्वारा अपने कारण में लय हो जाना बुद्धिसत्त्व की शुद्धि है।[४] शुद्ध होने पर बुद्धिसत्त्व रज एवं तम से अनावृत हो जाता है तथा पुरुष की अन्यथाप्रतीति के फलस्वरूप क्लेशबीज दग्ध हो जाते हैं। पुरुष की शुद्धि उपचरित भोगों का अभाव है।[५] पुरुष इस अवस्था में केवल 'चिति' शक्ति के रूप में वर्तमान रहता है तथा आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखों से सर्वथा मुक्त होता है। यही पुरुष की कैवल्य की स्थिति है। ईश्वर अथवा अनीश्वर, ज्ञानी अथवा अज्ञानी सभी की कैवल्य-स्थिति सम्भव है।

सांख्य एवं योग–प्रायः भारतीय दर्शन के समीक्षक विद्वान् "सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः" (गीता, ५।४) एवं "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" (गीता, ५।५) को उद्धृत करते हुए सांख्य एवं योगदर्शन की समानता की दुहाई देते गए हैं। उदाहरण के लिए भारतीय दर्शन

---

१. *Max Muller* : Indian Philosophy, Vol. III, p. 109.

२. *Max Muller* : Indian Philosophy, Vol. III, p. 127.

३. *Runes* : The Dictionary of Philosophy, p. 118.

४. राजमार्त्तण्डवृत्ति, योगसूत्र, ३।५६।

५. योगसूत्रभाष्य, ३।५४ पाणिनि आफिस, इलाहाबाद १९२४।

के वस्तुतः मनीषी विद्वान् डा० उमेश मिश्र अपने ग्रन्थ भारतीय दर्शन में "योगदर्शन" प्रकरण के अन्तर्गत लिखते हैं–

"सांख्य और योग दोनों के समन्वय से चैत्तिक पदार्थों का ज्ञान होता है। वास्तव में ये दोनों मिलकर एक शास्त्र हैं। इसीलिए गीता में भी कहा गया है– "सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः"।

किन्तु इस प्रकरण में यह विनम्रतया वक्तव्य है कि "सांख्य योगौ" में 'योग' का अभिप्राय पातंजल योग से न होकर गीता के कर्मयोग से है। इस सम्बन्ध में भाष्यकार शङ्कराचार्य ने स्पष्ट लिखा है– "तौ एव सन्यासकर्मयोगौ ज्ञानतदुपायसमबुद्धित्वादि, संयुक्तौ सांख्ययोगशब्दवाच्यौ, इति भगवतो मतम्" (शा. भा. गीता, ५।४)। इसी प्रकार दूसरे उद्धरण, 'एवं सांख्यं च योगं च' के अन्तर्गत भी योग का अर्थ कर्मयोग ही है। अस्तु।

किन्तु उपर्युक्त से हमारा यह आशय कदापि नहीं है कि सांख्य एवं योगदर्शन में समानता नहीं है। वस्तुतः जैसा कि पहले भी कह आए हैं, योग, सांख्य का पूरक है। योगदर्शन के चित्त, चित्तवृत्ति एवं समाधि आदि सिद्धान्तों के बोध के बिना, सांख्य के 'महत् बुद्धि' चित्त एवं प्रकृति तथा सत्त्व, रजस् एवं तमोगुण का ज्ञान सम्भव नहीं है। यह भी कहा जा चुका है कि योग का ईश्वर ही प्रकृति का नियामक एवं व्यक्ति के कर्मफल का विधान करता है। इन दोनों की सहयोगिता इससे भी सिद्ध है कि कृष्णयजुर्वेद की मैत्रेयी, कठ एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों में सांख्य एवं योग का मिला-जुला वर्णन मिलता है, यद्यपि यह वर्णन परस्पर असंबद्ध है। किन्तु मैत्रायणी उपनिषद् के अन्तर्गत एक वर्णन अवश्य मिलता है, जिसमें शाक्यायन एवं बृहद्रथ का वह संवाद है, जिसके अन्तर्गत योगसाधना की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए सांख्य सिद्धान्तों का आश्रय लिया गया है[२]। यहाँ यह कहना संगत होगा कि सांख्य एवं योग की उक्त दृष्टि ही सांख्य-योग की समन्वित विचारधारा का आधार बनी, जिसका पूर्ण प्रतिफलन पतंजलि के सांख्य-योग-समन्वयपूर्ण दर्शन में सम्पन्न हुआ। वस्तुतः ये पतञ्जलि ही थे, जिन्होंने योगविषयक समस्त विचारों का मात्र सम्पादन ही नहीं किया, अपितु योगविषयक समस्त विचारों का सांख्य के साथ समन्वय करके योग की उस समन्वित एवं पुष्ट विचारधारा को प्रस्तुत किया, जो आज हमारे समक्ष उपलब्ध है। यह तथ्य भी उल्लेखयोग्य है कि पतञ्जलि योगदर्शन के मूल प्रवर्त्तक न होकर, एक संकलनकर्त्ता हैं, किन्तु उनके संकलन में योगदर्शन की मौलिक उद्भावनाएँ वर्त्तमान हैं।

जैसा कि, हमने आरम्भ में ही कहा था, सांख्य एवं योग दोनों दर्शन-पद्धतियाँ, एक-दूसरे की पूरक हैं, अत एव दोनों में बहुत कुछ समानताएँ दृष्टिगोचर हैं। दोनों ही दर्शनों में आत्मा अथवा पुरुष के सिद्धान्त को समान रूप से स्वीकार किया गया है। दोनों ही पुरुषबहुत्व के समर्थक हैं, किन्तु पतंजलि ने ईश्वर के रूप में 'पुरुष-विशेष' की कल्पना अवश्य की है–"क्लेशकर्मविपाकाशयैश्च रामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"। सांख्य एवं योग का कैवल्य सिद्धान्त भी एक ही है। जैसा कि कह आए हैं, सांख्यदर्शन के अन्तर्गत कैवल्यावस्था में पुरुष प्रकृति से असम्बद्ध एवं सर्वथा असंपृक्तावस्था में ही रहता है, तद्वत् योग का पुरुष भी 'केवली' कहलाता है। इस प्रकार अनेकविध समानताएँ होते हुए भी आचार्यों एवं विद्वानों ने दोनों दर्शनों की असमानताओं की ओर भी संकेत किया है, अतः उस सम्बन्ध में भी विचार अपेक्षित है। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य (१ १ २८) के अन्तर्गत सांख्य एवं योग का भेद बतलाते हुए कहा है कि सांख्यमतानुसार कोई भी वस्तु उत्पन्न या नष्ट नहीं होती, एवं शुद्ध चेतना में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(निरतिशयाः चेतनाः)। इस प्रकार सांख्यदर्शन के अनुसार, समस्त परिवर्तन शरीर, इन्द्रियों, मन तथा बाह्य पदार्थों में होते हैं। योगदर्शन का मत एतद्भिन्न है, क्योंकि योगदर्शन के अनुसार समस्त सृष्टि पुरुष के कर्म पर आश्रित है। पुरुष के समस्त दोषों एवं प्रवृत्तियों का कारण, उसका कर्मजाल है। योगमतानुसार चेतना सगुण है, तथा जो असत् है, वह सत्ता में आ सकता है, एवं जो उत्पन्न है, वह विनष्ट हो सकता है। यह अन्तिम मत व्यास-भाष्य से भिन्न है। यहाँ यह कथन भी अपेक्षित है कि सांख्य में ईश्वरवाद एवं सृष्टि के मूल में किसी उद्देश्य की कल्पना, योगदर्शन से ही आयी है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सांख्य योगदर्शन का उपकार्य है, एवं योग उपकारक।

योगदर्शन का विवेचन करते समय वेदान्त का उल्लेख किए बिना यह विवेचन अधूरा ही कहा जाएगा। इसका कारण यह है कि योग एवं वेदान्त, दोनों समन्वित दर्शन हैं। योग से ही आत्मतत्त्व की प्राप्ति सम्भव है–"श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। अत एव यहाँ अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा की जाएगी।

योगदर्शन और अद्वैतवेदान्त

योगदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा : सांख्य एवं योगदर्शन के सिद्धान्तों में इतना अधिक साम्य है कि वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु प्रभृति विद्वानों ने योग को सेश्वर सांख्य और सांख्य को निरीश्वर सांख्य कहा है।[२] सर्वदर्शनसार गीता में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि बालबुद्धि वाले ही सांख्य और योग, इन दोनों को अलग-अलग विरुद्ध फलदायक बतलाते हैं, विद्वान् लोग नहीं।[३] वैसे तो सांख्य और योग, इन दोनों दर्शन-पद्धतियों के आधार कपिल और पतंजलि के सूत्र होने के कारण दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है, परन्तु दोनों दर्शन-पद्धतियों में कोई मौलिक भेद नहीं प्रतीत होता। इन दोनों दर्शन-पद्धतियों में भेद-निरूपण करते समय विद्वानों की दृष्टि, जैसा कि आरम्भ में कहा गया है, ईश्वरवाद की ओर गई है। सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा करते समय यह कहा जा चुका है कि सांख्य में भी व्यवस्थापक ईश्वर की ओर संकेत मिलता है।[४] पश्चाद्वर्ती विज्ञानभिक्षु आदि ने तो सांख्य में ईश्वर की सत्ता स्पष्ट रूप से स्वीकार की ही है। इस सम्बन्ध में मैक्समूलर का कथन है कि सांख्य में ईश्वर के दिदृक्षु जन सांख्य के 'पुरुष' को देख सकते हैं।[५] इसके अतिरिक्त गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने सांख्य तथा योग की एकता की "एकं सांख्यं च योगं च" कहकर पुष्टि की है। पुनश्च 'योगः प्रोक्तः सनातनः (गीता, ४।३) से सिद्ध है। श्रीकृष्ण कहते हैं, कि सर्वप्रथम योग का उपदेश, मैंने सूर्य को दियश

---

१. यथा नाऽसत आत्मलाभः, न सत आत्मदानम्, निरतिशयाश्चेतनाः, देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेषः इति सांख्यानाम्। पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः कर्मदैवतो दोषः, प्रवृत्तिचराः स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः, असदुत्पद्यते, उत्पन्नो निरूद्ध्यते–इति योगानाम्। वात्स्यायनभाष्य, १।१।२९।

२. तत्त्ववैशारदी, ४।३; योगवार्तिक, १।२४ (मेडिकल हाल, काशी १८८४ ई०); सांख्य प्रवचनभाष्य, ५।१।१२।

३. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। –गीता, ५।४।

४. सांख्यसूत्र, ३।५७।

५. *Max Muller* : Indian Philosophy. Vol. III. p. 93.

था। इसके पश्चात् सूर्य ने मनु को, मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को, योगोपदेश दिया था। (गीता, ४।१।२) इसके अनन्तर बहुत काल तक यह योग लुप्त हो गया (योगो नष्टः परन्तप, गीता, ४।२)

वेदान्त और योगदर्शन

अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन के सिद्धान्तों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि दोनों के सिद्धान्तों में अत्यन्त साम्य है। यह तो स्पष्ट है कि अद्वैतवेदान्त के प्रस्थापक आचार्य शंकर एक महान् योगी थे। अपने योगबल से ही आचार्य ने मंडन मिश्र की अर्धांगिनी (भारती) को पराजित करने के लिए उनके कोकशास्त्र के प्रश्नों के उत्तर देने के निमित्त अपने शरीर को नर्मदा-तटवर्ती वन में अपने पद्मपादादि शिष्यों को समर्पित कर दिया था और अपना जीव उसी समय मृत्यु को प्राप्त राजा अमरुक के शरीर में डाल दिया था। इतना ही नहीं, यह प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य ने अपने जीवन के अन्तिम काल में केदारनाथ में जाकर समाधि ली थी। आज भी उस स्थान पर शंकराचार्य की समाधि बनी हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि शंकराचार्य अद्वैतवेदान्त के प्रस्थापक होने के साथ-साथ योग के भी पूर्णतया समर्थक थे। इस स्थल पर अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन के सामंजस्यमूलक अध्ययन के द्वारा साम्य में एवं विरोध के आधार पर दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध एवं प्रभाव देखना है।

अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन में चित्तवृत्ति-निरोध का साम्य

पातंजल योग की विवेचना करते समय, अभी यह कहा जा चुका है कि चित्तवृत्ति-निरोध का नाम ही योग है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः–यो० सू० १।२)। यह चित्तवृत्ति-निरोध अद्वैती के लिए भी अनिवार्यरूप से अपेक्षित है। चित्तवृत्ति का निरोध किये बिना मोक्षोपलब्धि असम्भव है। चित्तवृत्ति का निरोध होने पर ही चित्त-प्रशान्ति होती है और मुमुक्षु की पात्रता का श्रीगणेश होता है। अत एव शंकराचार्य ने उपदेशसाहस्री में स्पष्ट ही कहा है कि "जिसका चित्त प्रशान्त हो, जिसने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हो, जिसका अन्तःकरण पूर्णतया शुद्ध हो, जो पूर्वोक्त बातों (काम्य-निषिद्धवर्जनपूर्वक नित्यादि कर्मों) का अनुष्ठान करता हो; जिसमें विवेक-वैराग्यादि गुण वर्तमान हों, जो गुरु का अनुगामी हो और जो गुरु-वाक्यों में श्रद्धा रखता हो, ऐसे मुमुक्षु के लिए ही आत्मज्ञान का उपदेश देना चाहिए।"[1] सदानन्द ने भी वेदान्तसार में वेदान्तविद्या के अधिकारी के लिए विराग, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा तथा मुमुक्षत्व की आवश्यकता बतलाई है। इनमें शमादि चार समाधानों, श्रद्धा तथा मुमुक्षत्व को साधन-चतुष्टय भी कहते हैं। साधन-चतुष्टय के अन्तर्गत गृहीत–शम के अनुसार श्रवण एवं मननादि से भिन्न विषयों से मन का निग्रह किया जाता है–'शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो

---

१. प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे।।

(उपदेशसाहस्री, पार्थिवप्रकरण, ७२)

२. वेदान्तसार–४।

निग्रहः'।[२] इसके अतिरिक्त साधनचतुष्टय के अन्तर्गत परिगणित अन्य स्थितियाँ भी मनोनिग्रह या चित्तवृत्ति-निरोध के ही फलस्वरूप हैं। इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि अद्वैती मोक्षोपासक के लिए भी चित्तवृत्ति-निरोध का उतना ही महत्त्व है, जितना एक योगी के लिए है।

अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन में अविद्या का स्वरूप : अविद्या-सम्बन्धी सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त का मूल सिद्धान्त है। अविद्या एवं मायावाद के सिद्धान्त के आधार पर ही शांकर अद्वैतवाद का ढाँचा खड़ा किया गया है। अविद्या अज्ञान का पर्यायवाची शब्द है। अद्वैतवेदान्त में अविद्या अथवा अज्ञान की आवरण और विक्षेप रूप दो शक्तियाँ स्वीकार की गयी हैं।[१] आवरणशक्ति के द्वारा वस्तु अन्यथारूप से भासती है। इस प्रकार आवृत्ति रूपा अविद्या अध्यारोपवाद की जननी है। अध्यास का लक्षण अद्वैतवेदान्त में 'अध्यासो नाम अतस्मिस्तद्बुद्धिः' कहकर किया गया है।[२] योगदर्शन के अन्तर्गत भोजवृत्ति में अविद्या का लक्षण 'अतस्मिस्तत्प्रतिभासो अविद्या'[३] कहकर किया गया है। इस प्रकार योगदर्शन की अविद्या भी आरोपवाद की ही समर्थक है। रज्जु में सर्प के भासित होने का कारण अविद्याजन्य आरोप ही है। शंकराचार्य ने विक्षेपरूपा अविद्या को रागादि एवं दुःखादि मानसिक विकारों की जननी कहा है।[४] पातंजल योग में भी अविद्या को अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश की प्रसवभूमि कहा गया है।[५] जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अनुसार मिथ्या ज्ञानरूपा अविद्या ही समस्त क्लेशों की जननी है और पूर्ण ज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशादि की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार योगदर्शन के अन्तर्गत भी अविद्या को ही समस्त क्लेशों का मूल कहा गया है और उसी अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशों का पूर्णतया नाश हो जाता है।[६] पंचदशीकार ने माया की मोहक शक्ति की ओर संकेत करते हुए कहा है कि जैसे माया में जगत् के सृजन की सामर्थ्य है, वैसे ही जीव को मोहने की शक्ति भी है।[७] इसी प्रकार योगदर्शन में भी 'अविद्या मोहः' (भोजवृत्ति, यो० सू० २।४) आदि उक्तियों के द्वारा अविद्या की मोहशक्ति की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार विचार करने पर अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन के अविद्या-सम्बन्धी दृष्टिकोण में पर्याप्त साम्य मिलता है। परन्तु यह भी विचारणीय है कि अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत अविद्या एवं माया के शक्ति रूप का जिस प्रकार विवेचन किया गया है, उसका योगदर्शन में अभाव है।

अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन का ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्त : जैसा कि ऊपर विवेचन कर चुके

---

१. विवेकचूडामणि–११३, ११४, ११५। दृग्दृश्यविवेक, १३।१५। वेदान्तसार, १०।
२. ब्र० सू० शा० भा०, उपोद्घात।
३. भोजवृत्ति, यो० सू०, २।५।
४. रागादयोऽस्या प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः। (विवेकचूडामणि, पृ० ११३)
५. अविद्याक्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनाम्। –यो० भा०, २।४।
६. भोजवृत्ति, २।४।
७. पंचदशी, ४।१२।

हैं, योगदर्शन-सम्मत ईश्वर एक विलक्षण 'पुरुषविशेष' है। इसके विपरीत अद्वैतवेदान्तियों का ईश्वर मायाशक्ति-सम्पन्न है। मायाशक्ति-सम्पन्न ईश्वर ही सृष्टि का रचयिता है। बिना मायाशक्ति के शांकर-वेदान्त में ईश्वर का स्रष्टापन नहीं सिद्ध होता।[1] योगदर्शन के पुरुषविशेष ईश्वर के लिए इस प्रकार की किसी शक्ति की अपेक्षा नहीं है। योगदर्शन में जिस सगुण ईश्वर की अपेक्षा है उसकी परमार्थ सत्ता की वेदान्तियों ने अपेक्षा नहीं समझी है।[2] योगदर्शन के अनुसार ईश्वर इच्छा मात्र से ही सारे जगत् का उद्धरण करने में समर्थ है।[3] यहाँ, यह और विचार्य है कि ईश्वर की यह इच्छा किसी निजी प्रयोजन के वश नहीं उत्पन्न होती, वरन् यों कहिये कि भूतानुग्रह ही ईश्वर का प्रयोजन होता है।[4] अद्वैतवेदान्त में भी सृष्टिरचना के मूल में निर्विकार ईश्वर का कोई अन्य प्रयोजन न होकर लीलारूप प्रवृत्तिमात्र ही प्रयोजन है।[5] इस सम्बन्ध में ब्रैडले का कथन है कि समस्त लीला ईश्वर की क्रियात्मकता का ही फल है, परन्तु यह, परमेश्वर की क्रियाशीलता स्वभावज होने के कारण किसी प्रकार की कामना अथवा विवशता से वर्जित है।[6] इस प्रकार अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन में ईश्वर की लोकोद्धरण की प्रवृत्ति समान ही है। अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन के ईश्वर-सम्बन्धी दृष्टिकोण में इस स्थल पर भी साम्य है कि ईश्वर अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश और अविद्या इन पंचक्लेशों; शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण और अशुक्लकृष्ण इन चार प्रकार के कर्मों; जाति, वायु तथा भोग—इन कर्म-विपाकों और इनसे उत्पन्न होने वाले संस्कारों से अस्पृष्ट है।[7] इस प्रकार अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन की ईश्वर-सम्बन्धी विचारधारा में पर्याप्त साम्य होते हुए भी यह मौलिक भेद स्मरण रखना चाहिए कि योगदर्शन के अन्तर्गत अद्वैतवेदान्त की तरह ब्रह्म के दो भेद, सगुण और निर्गुण, नहीं मिलते। वेदान्त में तो सगुण ब्रह्म को ही ईश्वर कहते हैं। अद्वैतवेदान्त में मायाविशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन की ईश्वर-सम्बन्धी विचारधाराओं में साम्य होते हुए भी मौलिक भेद स्पष्ट प्रतीत होता है।

अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन की मुक्ति : अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन, दोनों ही दर्शनपद्धतियों के अन्तर्गत मुक्ति को अंगीकार किया गया है। अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के रूप में मुक्ति की जो विवेचना मिलती है, उसका योगदर्शन-पद्धति में अभाव है। जैसा कि योगदर्शन-सम्मत मुक्ति का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, योगदर्शन के अन्तर्गत भी एक प्रकार की विदेहावस्था का वर्णन मिलता है। असम्प्रज्ञात समाधि की ही भेदरूप—भावप्रत्यय समाधि—की अवस्था

---

१. नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति। —ब्र० सू० शा० भा०, १।४।३

२. In the Vedānta Philosophy the question of the real existence of a personal Iswara never arise. (Max Muller. Indian Philosophy. Vol. III. p. 110.)

३. इच्छामात्रेण जगदुद्धरणक्षमः। —भोजवृत्ति १।२४।

४. भोजवृत्ति, १।२४।

५. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।३३।

६. *Bradley* : Essays on Truth & Reality. p. 50 51.

७. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।६ तथा योगसूत्र, १।२४।

में जीव के षाट्कौशिक शरीर का पतन होने पर इन्द्रियों या भूतों में लीन होकर संस्कारमात्र से युक्त मन को रखने वाले जीव विदेह कहलाते हैं।[1] इस अवस्था में यद्यपि वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, परन्तु फिर भी संस्कार के ही आधार पर ये भोग करती हैं। इसके अतिरिक्त अद्वैतवेदान्त-सम्मत विदेह मुक्त्यवस्था में समस्त वृत्तियों, संस्कारों एवं शरीर का नाश हो जाने पर भोगादि का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। इस प्रकार दोनों दर्शनों की विदेहावस्था में अन्तर है। जहाँ तक जीवन्मुक्ति का सम्बन्ध है, जिस प्रकार कि अद्वैतवेदान्त में जीवन्मुक्त प्राणी का शरीर-त्याग नहीं होता, उसी प्रकार योगदर्शन में मिथ्या संसार-प्रकृति से पृथक् रहते हुए अपना जीवन धारण करता है। ऐसा जीवन्मुक्त प्राणी अविद्या-बन्धन से बँधे हुए प्राणियों के बीच भी मुक्ति का अनुभव करता है। उसे न दूसरे जीवन का भय होता है और न कोई आशा ही होती है। इस परिवर्तनशील संसार में भी वह जीवन्मुक्त प्राणी अपरिवर्तित ही रहता है।[2] वैसे तो, अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन, इन दोनों ही दर्शनपद्धतियों के अनुसार अविद्यानिवृत्ति होने पर मोक्ष मिलता है, परन्तु दोनों की अविद्यासम्बन्धी दृष्टि में भेद है। अद्वैत-दृष्टि से विचार करने पर जगत् से ब्रह्म की संज्ञा को पृथक् मानना अविद्या है। इस अविद्या की निवृत्ति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना से होती है। इसके विपरीत योगदर्शन के अनुसार बुद्धिसत्त्व के लेश-बीजों के दग्ध होने के लिए 'पुरुष' की अन्यथाप्रतीति आवश्यक है। यह अन्यथाप्रतीति ही मोक्ष का प्रमुख कारण है।[3] इस प्रकार अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन के मुक्तिसम्बन्धी विवेचन में प्रक्रियागत भेद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

आलोचना

अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन के उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से पता चलता है, कि दोनों दर्शन-पद्धतियों के सिद्धान्तों में पारस्परिक साम्य एवं यत्किंचित् विरोध होते हुए भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।[4] इस सम्बन्ध में यह कथन किसी पूर्वाग्रह पर आधारित न होगा, कि प्राचीन औपनिषद अद्वैतवेदान्त के अविद्या, चित्तवृत्तिनिरोध, ईश्वर, मुक्ति एवं कर्मसम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रभाव योगदर्शन के उक्त सिद्धान्तों पर भी पड़ा है। ऊपर अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन के चित्तवृत्ति-निरोध और अविद्या आदि सिद्धान्तों का

---

१. तत्त्ववैशारदी ४।१६ (हार्वर्ड ओरियण्टल सिरीज, १७)।

२. Secondly, the Puruṣa, though freed from illusion, is not thereby annihilated. He is himself, apart from nature, and it is possible, though it is not distinctly stated that the Puruṣa in his aloneness may continue his life, like the Jīvanmukta of the Vedānta, maintaining his freedom among a crowd of slaves, without any fear or hope of another life unchanged himself in this everchanging Saṁsāra. (Max Muller, Indian Philosophy, Vol. III, p. 143).

३. The principal cause is the knowledge of distinction. (Tattvavaiśārdī, Allahabad, 1924) तथा देखिये यो० भा० ३।५४।

४. *S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 492.

तुलनात्मक विवेचन करते समय इन सिद्धान्तों का साम्य देखा जा चुका है। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि उपर्युक्त विवेचन में वेदान्त के सम्बन्ध में जिन स्थलों को उद्धृत किया गया है, वे योग-परवर्ती वेदान्त के हैं, अतः योगदर्शन पर वेदान्त का प्रभाव कैसे संगत हो सकता है। इस प्रसंग में लेखक का विचार है कि परवर्ती अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत जिन सिद्धान्तों का विकास हुआ है उनके बीज औपनिषद दर्शन में पूर्णतया निहित हैं। अतः योगदर्शन पर प्राचीन अद्वैतवाद का प्रभाव मानने में कोई आपत्ति न होगी। इन दोनों दर्शनपद्धतियों के सम्बन्ध में दूसरी बात यह विशेष रूप से उल्लेख्य है कि अद्वैतवेदान्त-दर्शन में जिन विषयों का प्रतिपादन सैद्धान्तिक रूप ही से किया गया है, योगदर्शन में उनका विवेचन व्यावहारिक रूप से मिलता है।[1] चित्तवृत्ति-निरोध आदि के उपाय योग के व्यावहारिक विवेचन ही हैं। अतः वेदान्ती को योग की महती उपादेयता माननी चाहिए। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन का सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है।

निष्कर्ष-सूत्र

इस प्रकार योगदर्शन के अनुशीलन से यह सर्वथा विदित होता है कि यह एक नितान्त व्यावहारिक दर्शन है। योग हमारे नित्यप्रति के जीवन में परमलाभदायक है। उदाहरण के लिए, योग के चित्तवृत्ति-निरोध के सामान्य सिद्धान्त को यदि व्यक्ति जीवन में पालन करे तो उसके क्रोध, ईर्ष्या, द्वेषादि दुर्भाव स्वयं शान्त हो जाय। इसी प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा भी व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए परमोपयोगी हैं। यह सुप्रसिद्ध तथ्य है कि शरीर के स्वस्थ रहने पर मन भी स्वस्थ रहता है। वैसे, यह पारस्परिक है, क्योंकि मन की शुद्धता, जो मानसिक स्वास्थ्य का ही रूप है, का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर अवश्यम्भावी है। आयुर्वेद भी योग के इस महत्त्व को स्वीकार करता है। इसी दृष्टि से हठयोग की भी महत्ता स्वीकार की गई है। इसके अतिरिक्त हमारे समस्त जीवन-व्यवहार का केन्द्रबिन्दु चित्त ही तो है, यदि चित्त ठीक होगा, तो सब कुछ ठीक होगा। इस प्रकार योगदर्शन की यह विशेषता है कि वह मानव के पूर्ण विकास का पथ-प्रदर्शन करता है। वह शरीर-स्वास्थ्य की दिशा होता है तो मानसिक स्वास्थ्य की भी, तथा मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन भी योग करता है। यद्यपि वेदान्तादि अन्य दर्शनपद्धतियों ने भी मोक्ष का भरपूर वर्णन एवं गम्भीर चिन्तन किया है, किन्तु ध्यान एवं समाधि के बिना आत्मबोध कैसा ? इसीलिए तो औपनिषद विचारधारा के अन्तर्गत आत्मा को 'निदिध्यासितव्य' (समाधिसाध्य) कहा गया है। अतः यह स्वीकार्य होना चाहिए कि योग, मानव मात्र के लिए उपयोगी है, चाहे वह किसी धर्म अथवा दार्शनिक सम्प्रदाय का अनुयायी क्यों न हो। यही कारण है कि प्राचीन काल से ही, वेदों एवं उपनिषदों में योगविषयक निरूपण एवं विवेचन उपलब्ध होता है। इस प्रकार जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा एवं वेदान्त, सभी तो योग की शरण लेते हैं। शैव एवं शाक्त भी तो योगी ही थे। कुण्डलिनी योग को कौन नहीं जानता। जैसा कि पहले भी संकेत किए जा चुके हैं, सांख्य एवं योग का विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों ही प्रकृति एवं पुरुष के प्रमुख

१. उमेश मिश्र–भारतीय दर्शन, पृ० ३१७-१८।

अङ्गीकर्ता हैं। किन्तु सांख्य एवं योग में यत्किञ्चित् भेद भी द्रष्टव्य है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। 'पुरुष-विशेष' ईश्वर योग की ही देन है। योग की यह विशिष्टता भी निर्देश्य है कि वह मानव की अन्तःप्रकृति के अनुशीलन पर अधिक बल देता है। एवं इस प्रसंग में यह भी कहना संगत होगा, कि योग ने ही, ईश्वर सिद्धान्त सांख्यदर्शन को पूर्णता विचारों के द्वारा प्रदान की है। यह प्रसन्नता का विषय है कि आज विश्वभर में योग-प्रयोग, योगानुशीलन एवं योगानुसन्धान पर विशेष बल दिया जा रहा है।

योग के वैदिक एवं औपनिषद दर्शन होने पर भी योगसूत्रकार पतंजलि ने योगदर्शन को समन्वित एवं समाहित रूप में प्रस्तुत किया है। योगदर्शन का अनुशीलन करते समय यह तथ्य विशेष रूप से विचारणीय है कि योग एक मनोवैज्ञानिक, परामनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दर्शन-पद्धति है, इसीलिए इसका सभी दर्शन-पद्धतियों से न्यूनाधिक सम्बन्ध द्रष्टव्य है। उक्त विशेषता ही योगदर्शन की सामाजिकता एवं व्यावहारिकता का कारण है। इस दृष्टि से योगदर्शन की अद्वितीयता स्वतःसिद्ध है।

●

नवम अध्याय

पूर्वमीमांसा दर्शन

पृष्ठभूमिका

यह सुविदित है कि वैदिक आस्तिकवाद एवं उसके पोषक धार्मिक, कर्मविषयक एवं ज्ञानपरक सिद्धान्तों के खण्डन के लिए चार्वाक, जैन एवं बौद्ध, सम्प्रदाय पूर्णतया कटिबद्ध एवं क्रियाशील रहे थे। ऐसी स्थिति में वैदिक धर्म एवं दर्शन की सप्रमाण रक्षा के लिए एक ऐसे सबल शास्त्र की अपेक्षा थी, जो वैदिक सिद्धान्तों का दृढ़ समर्थन कर सके। मीमांसादर्शन के आचार्यों ने अपने स्वतन्त्र प्रमाणशास्त्र की रचना कर यही कार्य सम्पन्न किया था। वस्तुतः, मीमांसक ही प्रथम नैयायिक थे। ज्ञान-प्रामाण्य के लिए स्वतःप्रामाण्यवाद मीमांसकों की विशेष सूझ थी। धर्म-कर्म का फलदातृत्व ईश्वर पर न छोड़कर मीमांसक कर्मजन्य पुण्यापुण्यरूप अपूर्व को ही स्वर्गादि फल का दाता मानते थे। इस प्रकार मीमांसकों ने ज्ञान से मोक्षसिद्धि के स्थान पर कर्म को ही निःश्रेयस का आधार माना था। मीमांसक के मतानुसार कर्म ज्ञानमार्गियों के समान, अज्ञान न होकर स्वर्गादि का अनिवार्य साधन था, जब कि वेदान्तसिद्धान्तानु-सर्त्ता ज्ञानमार्गी धर्म-कर्म एवं उपासना को चित्तशुद्धि का हेतु मानकर, कर्म को परम्परया ही मोक्ष का कारण स्वीकार करते थे, किन्तु वह भी अनिवार्यतः नहीं, क्योंकि ज्ञानमार्गी वेदान्ती ज्ञान से ही मोक्षप्राप्ति के समर्थक थे –'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, कर्म तो वेदान्तियों के मतानुसार अविद्या मात्र है। वस्तुतः, बादरायण एवं जैमिनि के दर्शन की यही पृष्ठभूमि थी। दोनों के सूत्रजाल का यही आधार था। परिणामतः, एक (बादरायण) का ब्रह्मसूत्र यदि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" से आरम्भ होता है, तो दूसरे (जैमिनि) के मीमांसासूत्र का प्रथम सूत्र "अथातो धर्मजिज्ञासा" है।

मीमांसादर्शन की पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में एक तथ्य और विचारणीय है, और वह यह कि मीमांसादर्शन की आवश्यकता एवं उद्‌भावना के क्या कारण थे। वैसे तो, मीमांसा का मूल, यज्ञ-कर्म-परक संहिताएँ एवं ब्राह्मणग्रन्थ ही हैं, किन्तु इस दर्शन की प्रस्थापना, विश्लेषण एवं विस्तार जैमिनि एवं अनेक आचार्यों तथा व्याख्याकारों द्वारा सम्पन्न हुआ है। जहाँ तक, मीमांसा की आवश्यकता एवं उपादेयता का प्रश्न है, वहाँ यह कहना होगा कि प्रधानतया, न्याय ने एक समृद्ध तर्कशास्त्र, वैशेषिक ने पुष्ट पदार्थविज्ञान, सांख्य ने तर्कसंगत सृष्टिविज्ञान एवं योग ने मानव मनोविज्ञान एवं अध्यात्मज्ञान का महत्त्वपूर्ण योगदान तो किया था, किन्तु दैनिक आचार की पवित्रता एवं विविध प्रकार के कर्म-धर्म एवं विविध संस्कारों की निष्पत्ति एवं निर्वाह की व्यवस्था मीमांसादर्शन में ही की गई थी। मीमांसा ने ही

स्वर्गादि के उद्देश्य से शुभ-कर्मों के सम्पादन एवं अशुभ कर्मों के परित्याग से जीवन निर्वाह का पाठ सिखाया था। "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत", "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादि। इस प्रकार यदि देखा जाय तो मीमांसा एक आचारमयी तथा स्वर्ग एवं मोक्षपरक पवित्र जीवन पद्धति है। वैसे, जैन एवं बौद्धदर्शन की भी, अपनी-अपनी आचारसंहिताएँ थीं, किन्तु उनमें मनुष्य के दैनिक जीवन के पवित्रीकरण की कर्मपद्धति का सर्वथा अभाव ही था।

मीमांसादर्शन के अनुशीलन की पृष्ठभूमि के प्रसंग में एक तथ्य का उल्लेख करना और अभीष्ट है, और वह यह कि भारतीय दर्शन की किसी भी पद्धति के अन्तर्गत उस ज्ञान-प्रवाह (चेतना प्रवाह) का विवेचन-अनुशीलन नहीं किया गया, जो हमारी सामान्य चेतना पर आधारभूत है। इस दृष्टि से सांख्य ने चित् तत्त्व के परिशीलन के द्वारा कुछ प्रयास किया भी, किन्तु सांख्य विचारधारा के अन्तर्गत भी ज्ञान एवं चेतना का पार्थक्य निरूपित कर उक्त समस्या को और जटिल बना दिया। यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जहाँ सांख्य का उपर्युक्त दृष्टिकोण कल्पना पर आधारित था, वहाँ न्याय ने अनुमानजन्य तर्कों के आधार पर कुछ तथ्यों की स्थापना करने का प्रयत्न किया था। निदर्शनार्थ, न्याय का यह मानना है कि द्रव्य एवं गुण पृथक् पृथक् हैं, तथा गुण का आधार द्रव्य है। इसी आधार पर ज्ञान एवं आत्मा के व्याप्तिसम्बन्ध की स्थापना की गई है। वस्तुतः, आवश्यकता इस बात की थी, कि ज्ञान के आधारस्वरूप बुद्धि एवं चेतना का विवेचन एवं विश्लेषण निष्पन्न होता, तथा इसकी दैनिक अनुभूति के आधार पर कुछ परिणाम निकाले जाते। इस प्रकार यह कहना होगा कि उक्त आवश्यकता की पूर्ति मीमांसादर्शन के द्वारा ही सम्पन्न हुई थी।

वैदिक यज्ञ सम्पादन की सफलता का आधार कर्मकाण्ड की विधि थी। विधिपूर्वक किया गया यज्ञ ही सफल समझा जाता था। आरम्भ में यज्ञविधि की शिक्षा शिष्यजन अपने आचार्यों से प्राप्त करते थे। यज्ञविधि की यह शिक्षा परम्परया आगे भी चलती रही तथा इसी आधार पर धर्म एवं कर्मकाण्ड परक स्मृति साहित्य का प्रणयन किया गया। यहाँ यह संकेत करना अपेक्षित है कि यज्ञविधियों एवं कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में आचार्यों में भिन्न-भिन्न मतवाद आरम्भ हो गए। ऐसी स्थिति में किसी मत का औचित्य स्थापित करना कठिन हो गया। इस प्रकार यज्ञविधियों एवं कर्मकाण्ड की युक्तियुक्तता का विश्लेषण एवं विवेचन मीमांसादर्शन के अन्तर्गत किया गया। मीमांसादर्शन के आरम्भ की यही भूमि है। मीमांसा शब्द का अर्थ ही युक्तिपरक विश्लेषण है।

मीमांसादर्शन के आचार्य एवं व्याख्याता

मीमांसादर्शन के प्रमुख प्रस्थापनाचार्य जैमिनि (ई.पू.२००) हैं। इनकी प्रशस्त कृति–मीमांसासूत्र मीमांसादर्शन की सर्वाधिक प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह मीमांसा को किसी शाखा विशेष के ही मन्तव्य को संकलित रूप में प्रस्तुत करती है। मीमांसासूत्र में अनेक मतमतान्तरों का मिलना इस तथ्य का प्रमाण है कि वैदिक शाखाओं के आधार पर मीमांसा की अनेक शाखाएँ रही होंगी, जो लुप्त हो गईं। मीमांसासूत्र के अन्तर्गत आत्रेय, आलेखन, आश्मरथ्य, ऐतिशायन, कामुकायन, कार्ष्णाजिनि, बादरायण, बाहरि एवं लालुकायन का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनकी कृतियों का संकेत नहीं प्राप्त होता। मीमांसासूत्र के अन्तर्गत षोडश अध्याय हैं। आरम्भ के १२ अध्याय द्वादशलक्षणी कहलाते हैं। शेष चार अध्याय संकर्षणकाण्ड अथवा देवतकाण्ड के नाम से प्रख्यात हैं।

मीमांसासूत्र के प्रथम अध्याय में धर्मपुराणों का निरूपण, द्वितीय अध्याय में शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण तथा प्रकरणान्तर (कर्मभेद) का विवेचन, तृतीय अध्याय में, श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या (विनियोजक प्रमाणों), चतुर्थ अध्याय में, श्रुति, अर्थ, पाठस्थान, मुख्य तथा प्रवृत्ति (बोधक प्रमाणों), पंचम अध्याय में क्रम (कर्मक्रम), षष्ठ अध्याय में अधिकरण, सप्तम तथा अष्टम अध्याय में अतिदेश, नवम अध्याय में ऊह, दशम में वाद्य, एकादश अध्याय में तन्त्र तथा द्वादश अध्याय के अन्तर्गत प्रसंग का वर्णन उपलब्ध है।

मीमांसासूत्र के भाष्यकार

भर्तृमित्र (३००-६०० ई०)–न्यायरत्नाकर में श्लोकवार्त्तिक के दशम श्लोक में भर्तृमित्र के भाष्य का वर्णन आता है। किन्तु यह भाष्य उपलब्ध नहीं है। भर्तृमित्र ने तत्त्वशुद्धि नाम्नी वृत्ति की रचना की थी, जिसमें चार्वाकसिद्धान्तों का समर्थन किया गया है। (मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायतीव लोकायतीकृता, न्यायरत्नाकर) किन्तु भर्तृमित्र ने चार्वाक का खण्डन किया था[1]।

भवदास–ऐसा उल्लेख मिलता है कि भवदास ने मीमांसासूत्र पर भाष्य लिखा था। इसका निर्देश प्रतिज्ञासूत्र (भवदास) एवं शास्त्रदीपिका (हरि एवं उपवर्ष) में मिलता है। भवदास ने मीमांसासूत्र के अध्यायों पर वृत्ति लिखी थी, जो अनुपलब्ध है[2]।

उपवर्ष–शबरपूर्व भाष्यकारों में उपवर्ष सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उपवर्ष ने पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा दोनों पर वृत्ति लिखी थी[3]। किन्तु इनकी कोई भी वृत्ति उपलब्ध नहीं है।

शबर स्वामी–मीमांसादर्शन के प्रमुख प्रस्थापक शबर स्वामी ही हैं। इन्होंने मीमांसासूत्र पर भाष्य लिखा था, जो शाबरभाष्य या शबरभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् इनका स्थितिकाल २०० ई० मानते हैं। परन्तु डा० गंगानाथ झा ने इनका स्थितिकाल ५७ ई० पू० माना है। डा० झा के मत का आधार वह श्लोक है, जिसके अनुसार विक्रमादित्य क्षत्रियपत्नी से उत्पन्न शबर स्वामी के पुत्र थे। शाबरभाष्य पर लिखी गई एक टीका का उल्लेख मिलता है। मीमांसक प्रभाकर ने इस टीकाकार को वार्त्तिककार कहा है, एवं कुमारिल भट्ट ने इसे "यथाहुः" (जैसा इन्होंने कहा) कहकर आदरपूर्वक उद्धृत किया है। डा० गंगानाथ झा के मतानुसार यही टीका प्रभाकर की प्रसिद्ध बृहती टीका का आधार रही होगी। मीमांसादर्शन के क्षेत्र में कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र दो उद्भट विद्वान् हुए हैं, जिनके सम्प्रदाय भट्ट-सम्प्रदाय या भाट्टमत एवं प्रभाकरसम्प्रदाय (गुरुमत) के रूप में प्रख्यात हुए हैं। इस स्थल पर दोनों सम्प्रदायों का पृथक्-पृथक् निरूपण अभीष्ट है।

भाट्टमत (कुमारिल भट्ट का सम्प्रदाय)–इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक कुमारिल भट्ट (७०० ई०) हैं। कुमारिल आगे चलकर, भट्ट, भट्टपाद एवं वार्त्तिककार के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। कुमारिलभट्ट एवं

---

१. प्रायेणैव हि मीमांसा, लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया।। श्लोकवार्तिक।

२. देखें–प्रपञ्चहृदय।

३. देखें–शाबरभाष्य, मीमांसासूत्र, १-१-५, तथा शाङ्करभाष्य, ब्र० सू० ३।३।५३।

शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ की बात प्रसिद्ध है। ऐसा कहा जाता है, कि मीमांसा के यज्ञादि कर्मसिद्धान्त के समर्थक कुमारिल जब ज्ञानसिद्धान्त के प्रतिपादक शङ्कराचार्य से परास्त हो गए थे, तो वेदान्त- सिद्धान्त के ही अनुगामी बन गए थे। किन्तु महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का मत है, कि कुमारिल भट्ट का स्थितिकाल शङ्कराचार्य से दो पीढ़ी पूर्व था।[1] कुमारिल की महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थकृत्तियाँ इनकी शबरभाष्य पर तीन टीकाएँ हैं। इनका प्रथम महत्त्वपूर्ण टीकाग्रन्थ श्लोकवार्त्तिक है, जो शबरभाष्य के तर्कपाद (१-१) पर आधारित है। कुमारिल का दूसरा टीकाग्रन्थ, तन्त्रवार्त्तिक है, जो शबरभाष्य के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से प्रारम्भ होकर तृतीय अध्याय तक की टीका है। कुमारिल की तृतीय टीका टुप्टीका है, जो शबरभाष्य के अन्तिम नौ अध्यायों पर है। टुप्टीका के ऊपर वेंकट दीक्षित की वार्त्तिकाभरण नाम्नी टीका है।

मण्डन मिश्र (७०० ई०)–मण्डन मिश्र कुमारिल के प्रधान शिष्य थे। यह सुप्रसिद्ध है, कि मण्डन मिश्र का कर्म एवं ज्ञान के सिद्धान्त को लेकर, शंकराचार्य से महान् शास्त्रार्थ हुआ था जब मण्डन मिश्र शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित हो गए थे, तो पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार वे शङ्कराचार्य के शिष्य हो गए थे, एवं उनका अभिधान संन्यास की परम्परा के अनुरूप सुरेश्वराचार्य हो गया था। मण्डन मिश्र रचित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें विधिविवेक, भावनाविवेक, विभ्रमविवेक (पाँच प्रकार की भ्रान्तियों एवं ख्यातियों की व्याख्या), मीमांसासूत्रानुक्रमणी, स्फोटसिद्धि एवं ब्रह्मसिद्धि प्रमुख हैं। मण्डन मिश्र ही जब शङ्कराचार्य के शिष्य होकर सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए थे, तो इन्होंने नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें कर्म के स्थान पर नैष्कर्म्य एवं ज्ञान की गम्भीर विवेचना की गई थी।

मण्डन मिश्र की जन्मभूमि माहिष्मती पुरी (महिषी ग्राम) विहार में थी। ये विहार के मैथिल ब्राह्मण थे।

भट्ट उम्बेक–भट्ट उम्बेक मण्डन मिश्र के दूसरे शिष्य थे। कहते हैं, ये भवभूति ही थे।[2] इनके द्वारा रचित दो ग्रन्थ हैं–एक तात्पर्यटीका, यह श्लोकवार्त्तिक की स्फोटवाद तक की टीका है। शेष ग्रन्थ का प्रणयन कुमारिल के पुत्र जयमिश्र ने किया था। इनका दूसरा ग्रन्थ भावनाविवेक की महत्त्वूपर्ण टीका है।

पार्थसारथिमिश्र (६०० ई०)–कुमारिल के अनुयायियों में पार्थसारथि मिश्र प्रमुख हैं। इन्होंने शास्त्रदीपिका, तर्करत्न एवं न्यायरत्नमाला का प्रणयन किया था।

वाचस्पति मिश्र–वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र के विधिविवेक पर न्यायकणिका नामक टीका की रचना की थी तथा तत्त्वबिन्दु नामक शाब्दबोधपरक ग्रन्थ का प्रणयन किया था।

सुचरित मिश्र–कुमारिल भट्ट के अनुयायी सुचरित मिश्र ने काशिका नामक ग्रन्थ की रचना की है। काशिका श्लोकवार्त्तिक की टीका है।

---

१. विशेष देखें, डा० राममूर्ति शर्मा, शंकराचार्य, प्रथम अध्याय।

२. देखें, चित्सुख, अद्वैततत्त्वप्रदीपिका, पृ० २६५।

सोमेश्वर भट्ट–सोमेश्वर भट्ट ने कुमारिल के तन्त्रवार्त्तिक पर न्यायसुधा टीका का प्रणयन किया है। न्यायसुधा नाम की टीका का दूसरा नाम राणक है।

रामकृष्ण भट्ट–रामकृष्ण भट्ट ने पार्थसारथि मिश्र रचित शास्त्रदीपिका के तर्कपाद पर युक्तिस्नेहपूरिणी सिद्धान्तचन्द्रिका नाम्नी बृहत् टीका का प्रणयन किया है।

सोमनाथ–सोमनाथ ने शास्त्रदीपिका के कुछ भाग पर मयूखमालिका नामक टीका का प्रणयन किया था।

माधवाचार्य (१४०० ई०)–सायण के अग्रज माधव ने न्यायमालाविस्तर नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था।

वेदान्तदेशिक–माधव के समकालीन वेदान्तदेशिक ने तर्कपाद की मीमांसापादुकानाम्नी पद्यात्मक टीका की रचना की थी। यही सेश्वरमीमांसा के भी प्रणेता थे। वेदान्तदेशिक विशिष्टाद्वैतदर्शन के प्रमुख वैष्णव विद्वान् थे।

कृष्णयज्वन्–कृष्णयज्वन्रचित मीमांसापरिभाषा, मीमांसा के मूल सिद्धान्तों के बोध के लिए एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

शङ्करभट्ट–शङ्करभट्ट ने सुबोधिनी एवं मीमांसाबलप्रकाश नामक ग्रन्थों की रचना की है। इनका एक अन्य ग्रन्थ विधिरसायनदूषण भी उपलब्ध है।

अनन्तदेव–अनन्तदेवप्रणीत मीमांसा का ग्रन्थ मीमांसान्यायप्रकाश उपलब्ध होता है।

गागाभट्ट–गागाभट्ट ने भाट्टचिन्तामणि की रचना की है। भाट्टचिन्तामणि के अन्तर्गत जैमिनीय सूत्रों की टीका की गई है। गागाभट्ट का वास्तविक मूल नाम विश्वेश्वर भट्ट है।

खण्डदेव मिश्र (१६००-१६६५ ई०)–खण्डदेव मिश्र भाट्ट मत में नव्यमत के उद्भावक थे। इनका संन्यासावस्था का नाम खण्डदेव मिश्र था। यह उल्लेखनीय है कि ये पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरूदेव के गुरु थे। शम्भुभट्ट खण्डदेव के साक्षात् शिष्य थे। खण्डदेव के तीन प्रमुख ग्रन्थ हैं–भाट्टकौस्तुभ, भाट्टदीपिका एवं भाट्टरहस्य। इनकी भाट्टदीपिका पर तीन टीका ग्रन्थ उपलब्ध हैं–१-शम्भुभट्टरचित प्रभावशाली २. भास्कररायरचित भाट्टचन्द्रिका तथा ३. वाञ्छेश्वर यज्वाकृत भाट्टचिन्तामणि।

अप्पयदीक्षित–अप्पयदीक्षित भी खण्डदेव मिश्र के समकालीन थे। इन्होंने चार ग्रन्थों की रचना की है–१. विधिरसायन, २. उपक्रमपराक्रम, ३. वादनक्षत्रावलि एवं ४. चित्रकूट।

उपर्युक्त के अतिरिक्त लौगाक्षिभास्कर प्रणीत अर्थसंग्रह मीमांसा का लघु, किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त अन्नंभट्टप्रणीत सुबोधिनी, जो तन्त्रवार्त्तिक की टीका है, तथा राणकोज्जीवनी (न्यायसुधा की व्याख्या) तथा रामेश्वर सूरि की सुबोधिनी (द्वादशलक्षणी की टीका) भी मीमांसा के उपादेय टीकाग्रन्थ हैं।

प्रभाकरसम्प्रदाय या गुरुमत

प्रभाकर मिश्र द्वारा प्रवर्त्तित मीमांसासम्प्रदाय प्रभाकरसम्प्रदाय अथवा गुरुमत के नाम से प्रख्यात है। ये कुमारिल के शिष्य थे। यह तो निश्चित ही है कि कुमारिल, शंकर (७८८-८२० ई०) पूर्व थे। जैसा, कि पहले भी कहा जा चुका है, कुमारिल एवं शंकर का शास्त्रार्थ भी हुआ था। कुछ विद्वान् प्रभाकर को कुमारिल से पूर्ववर्त्ती मानते हैं। प्रभाकर ने शाबरभाष्य पर 'बृहती' नामक टीका का प्रणयन किया है, जो पूर्णतया शबरानुसारिणी है। कुमारिल एवं प्रभाकर के सम्बन्ध में यह तथ्य विचारणीय है, कि जहाँ प्रभाकर शबर के अनुसर्ता हैं, वहाँ कुमारिल यत्र तत्र शबर के विचारों का प्रत्याख्यान भी करते हैं। दूसरे, प्रभाकर एवं कुमारिल के कालक्रम की दृष्टि से यह तथ्य विचारणीय है कि प्रभाकर की 'बृहती' टीका में जाने अनजाने कहीं भी कुमारिल के विचारों की छाया भी नहीं प्रतीत होती। इसके विपरीत कुमारिल के अनेक विचार प्रभाकर की 'बृहती' में वर्तमान विचारों के समान हैं।[1] इन तथ्यों के आधार पर प्रभाकर का कुमारिल से पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है। इसके साथ-साथ बृहती की शैली भी प्रभाकर का कुमारिल पूर्ववर्ती होना सिद्ध करती है।[2] प्रभाकर की बृहती ही 'निबन्धन' नाम से भी जानी जाती है। अत एव प्रभाकर निबन्धकार के नाम से भी प्रख्यात हैं। शबरभाष्य पर प्रभाकर की 'लघ्वी' नामक टीका का भी उल्लेख मिलता है। लघ्वी का दूसरा नाम विवरण है, किन्तु लघ्वी अप्रकाशित ही है। गुरुमत के प्रतिष्ठापक मीमांसक आचार्य शालिकनाथ मिश्र (६८०-७५० ई०) हैं, जिन्होंने ऋजुविमला पञ्जिका, (बृहती की व्याख्या), दीपशिखापंजिका (प्रभाकर की लघ्वी पर टीका) तथा मौलिक प्रकरणग्रन्थ, प्रकरणपंजिका का प्रणयन किया था। शालिकनाथ मिश्र प्रभाकर के शिष्यों में से थे।

भवनाथ (१००० ई०)–भवनाथ नयविवेक के प्रणेता हैं, जिसमें मीमांसा के अधिकरणों की व्याख्या वर्तमान है। भवनाथ का एक नाम भवदेव भी है। भवनाथ के नयविवेक का महत्त्व इसी से जाना जा सकता है, कि इस ग्रन्थ पर निम्नलिखित विद्वानों ने चार टीकाओं की रचना की है–

रन्तिदेव–रन्तिदेव ने भवनाथ के नयविवेक पर विवेकतत्त्व नाम्नी टीका की रचना की है।

वरदराज–वरदराज भी नयविवेक के ही टीकाकार हैं। इनकी टीका का नाम नयविवेकदीपिका है।

शंकरमिश्र–शंकरमिश्र ने नयविवेक पर पंजिका नामक टीका लिखी है।

दामोदर–दामोदर नयविवेक पर अलङ्कारनाम्नी टीका के प्रणेता हैं।

गुरुमत के आचार्यों में प्रभाकरविजय के रचयिता नन्दीश्वर एवं तन्त्ररहस्य के प्रणेता रामानुजाचार्य के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

---

१. देखें, बृहती, १.२.३१, १.३.२; १.४.१।

२. देखिए, Kuppuswāmī Shastri's paper. The Prābhākara school of Pūrva mīmāṁsā (Proceedings of the second oriental conference. Calcutta).

पूर्वमीमांसा का अर्थ

पूर्वमीमांसा के अर्थ के स्वस्थ विचार के अभाव में विद्वानों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ बन गयी हैं। इसका फल यहाँ तक हुआ है कि किसी-किसी ने तो इसे 'दर्शन' स्वीकार करने में ही आपत्ति प्रदर्शित की है। कुछ-एक विचारक तो पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के पूर्व और उत्तर शब्दों के आधार पर, इन दोनों दर्शन-पद्धतियों को पूर्वकालिक एवं उत्तरकालिक भी कहते हैं–जैसे पाश्चात्य विद्वान् कोलब्रुक।[१] इस स्थल पर पूर्वमीमांसा के अर्थ के निश्चय का प्रयत्न है। जिसके फलस्वरूप इस सम्बन्ध में उक्त-अनुक्त सभी भ्रान्तियों का निराकरण सम्भव है।

मीमांसा शब्द की उत्पत्ति विचारार्थक 'मान्' धातु से स्वार्थ में सन् प्रत्यय होने पर होती है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर मीमांसा शब्द का अर्थ गंभीर चिन्तन है, और इस प्रकार पूर्वमीमांसा का अर्थ होगा : किसी विषय पर किया गया प्रथम गम्भीर चिन्तन। वेद के दो स्वरूप प्रचलित हैं–एक कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञानकाण्ड। पूर्वमीमांसा का विषय कर्मकाण्ड है, और उत्तरमीमांसा का विषय ज्ञानकाण्ड। जैमिनि और बादरायण दोनों ने अपने-अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए अपने उद्देश्यों की स्थापना, 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जैमिनिसूत्र, १।१।१) और 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र, १।१।१) सूत्रों द्वारा आरम्भ में ही कर दी है। परन्तु इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि 'पूर्वमीमांसा' का धर्म और उत्तरमीमांसा का 'ब्रह्म' दो पृथक्-पृथक् उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर चलते हैं। वेद का सिद्धान्त तो वेदान्त ही है, इसीलिये उसे उत्तरमीमांसा कहते हैं, क्योंकि उसमें उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धान्तपक्ष की स्थापना है। धर्म और कर्म का सम्बन्ध सापेक्ष है। पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत दोनों का ही प्रतिपादन मिलता है। यहाँ पूर्वमीमांसा से यह समझना चाहिए कि धर्म और कर्म के प्रतिपादन की मीमांसा, वेदान्त-प्रतिपाद्य मोक्ष के इच्छुक के लिए पहला प्रयास है। इसीलिए तो शंकराचार्य ने भी ज्ञान-पक्ष का मण्डन करते हुए भी आचार-पोषक कर्म की महत्ता को निःसंकोच स्वीकार किया है।[२] अन्यथा इस लोक के लिए शांकर दर्शन का महत्त्व ही क्या रह जाता? परन्तु यहाँ यह भी उल्लेखनीय है, कि शंकराचार्य कर्म को परंपरया ही मोक्ष का साधक मानते हैं, साक्षात् नहीं। इसीलिए आचार्य शंकर को मीमांसकों के अनुसार सीधे कर्म से अथवा ज्ञान-कर्मसमुच्चय से मुक्ति-लाभ स्वीकार करने में आपत्ति है।[३]

ऊपर किये गये विवेचन से हमारा अभिप्राय यह है कि पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत वेद के पूर्वपक्ष (कर्मकांड) का ही विवेचन किया गया है, इसीलिए इसका नाम पूर्वमीमांसा पड़ा है। अतः जैसा कि पूर्वपक्ष की स्थापना करते समय कहा जा चुका है, प्रो० कोलब्रुक का यह मत युक्त नहीं प्रतीत होता कि काल की दृष्टि से पूर्व और उत्तरमीमांसा में पूर्व और उत्तर का भेद है। इस तथ्य के आधार पर कि ब्रह्मसूत्रकार

---

१. *Colebrooke* : Misc. Essays. Vol. I, p. 239

२. कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मनः शक्नुवन्त्यात्मानिमुपनषत्प्रकाशितमप्रतिबन्धे वेदितुम्। (वृ० उ० शा० भा०, ४।४।२२)

३. ऐतरेयोपनिषद् शाङ्करभाष्य का उपोद्घात।

बादरायण ने अपने सूत्रों में मीमांसासूत्रकार जैमिनि का उल्लेख किया है, यह कहना उचित न होगा कि पूर्वमीमांसा उत्तर-मीमांसा से प्राचीन है। जैसे कि पूर्वमीमांसाकार जैमिनि का उल्लेख ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत किया गया है, वैसे ही जैमिनि के मीमांसासूत्र के अन्तर्गत भी बादरायण का उल्लेख मिलता है।[1] अतः पूर्वमीमांसा का उत्तरमीमांसा की अपेक्षा पूर्वकालिक होना उचित नहीं कहा जा सकता।

ऊपर हमने मीमांसा के जिस अर्थ की विवेचना की है उस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं क्रियापद के रूप में और कहीं संज्ञा के रूप में जैमिनि से पूर्व ब्राह्मण एवं उपनिषद् आदि ग्रन्थों में बहुत प्राचीन काल से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ स्थल उद्धृत कर रहे हैं :

(१) उत्सृज्यां नोऽसुज्यामिति **मीमांसन्ते** ब्रह्मवादिनः तदाहुः। उत्सृज्यामेवेति।

(तै० सं०, ७।५।७।१)

(२) ब्राह्मणं पात्रे न **मीमांसते**। (तांड्यब्राह्मण[2], ६।५।६)

(३) उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति **मीमांसन्ते** (कौषितकी ब्राह्मण, २।६)[3]

(४) प्राचीनशाला औपमन्यवः .... यदा श्रोत्रियाः समेत्य **मीमांसां चक्रुः** को नु आत्मा किं ब्रह्मेति। (छा० उ०, ५।११।१)

(५) सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति। (तै० उ०, २।८।१)

मीमांसा शब्द के उपर्युक्त प्रयोगों से मीमांसा की प्राचीनता स्पष्ट प्रतीत होती है।

मीमांसा की ज्ञानप्रक्रिया

प्रमाण-निरूपण : तार्किक दृष्टिकोण के अनुसार प्रमा-कारण को प्रमाण कहते हैं। जहाँ तक प्रमा की बात है, अज्ञात एवं सत्यरूप पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं।[4] उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार स्मृति, भ्रम तथा संशयरूप ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि भ्रमजन्य एवं संशयोत्पन्न ज्ञान में वास्तविकता नहीं होती। इस प्रकार जहाँ जिस वस्तु की जैसी स्थिति है, उसका वैसा ही ज्ञान प्रमा है। इस प्रमा के कारण ही प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार शास्त्रदीपिका के अनुसार जिस ज्ञान में अज्ञात पूर्व वस्तु का अनुभव हो, तथा जो अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न होकर दोषरहित हो, वही प्रमाण है।[5]

---

१. *Max Muller*: Indian Philosophy, Vol. II, p. 94.
२. चौखम्बा संस्करण, १६६१।
३. Edited by B. Linelner.
४. प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानम्। –मानमेयोदय, १।३ (अनन्तशयन संस्कृतग्रन्थावली, १६१२)
५. कारणदोषबाधकज्ञानरहितगृहीतग्राहि प्रमाणम्। (शास्त्रदीपिका, १।१।५)

इन प्रमाणों की संख्या के सम्बन्ध में, जैसा कि कहा जा चुका है, भिन्न-भिन्न दर्शनपद्धतियों में तो मतभेद है ही, स्वयं मीमांसा के ही अन्तर्गत भाट्ट एवं प्रभाकरमत में भी अन्तर है। भाट्ट मत के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि, ये छः प्रमाण माने गये हैं। प्रभाकर मत में उक्त छः प्रमाणों में से अनुपलब्धि को छोड़कर शेष पाँच को ही स्वीकार किया गया है। यहाँ, दोनों परम्पराओं के अनुसार प्रमाणों के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा।

प्रत्यक्ष प्रमाण

रामानुजाचार्य ने प्रत्यक्ष की परिभाषा 'साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्'[1] कहकर दी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का साक्षात् सम्बन्ध इन्द्रियों से है। वैसे तो अनुमानज्ञान मन-इन्द्रिय द्वारा जन्य है, परन्तु उसमें इन्द्रिय के साथ विषय का साक्षात्कार नहीं होता। यही अनुमान और प्रत्यक्ष का भेद है।

प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद

निर्विकल्पक ज्ञान : इन्द्रियसन्निकर्ष के पश्चात्, विशेषण-विशेष्य भाग से रहित, विषयस्वरूप-मात्र का ग्राहक, शब्दानुगम से शून्य ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। निर्विकल्पक ज्ञान में किसी सत्ता मात्र की ही उपलब्धि होती है, उसकी प्रकारता या विशेषता आदि की नहीं। परन्तु सविकल्पक ज्ञान में वस्तु के अनुभव होने पर जिन विशेषताओं का ज्ञान होता है, वे निर्विकल्पक दशा में भी वर्तमान रहती हैं। अतः निर्विकल्पक अवस्था ज्ञान की प्रथम अवस्था है। जिस प्रकार शिशुपालवध काव्य में अवतरित हुए नारद पहले एक तेजःपुंज के रूप में दिखाई देते हैं–उस समय उनकी कोई विशिष्टता नहीं दिखाई पड़ती, यही निर्विकल्पक ज्ञान की अवस्था है।

सविकल्पक ज्ञान–जब ज्ञान की उपर्युक्त प्राथमिक अवस्था अन्य उपकरणों से पुष्ट होती जाती है, तथा उसका विशेषण, नाम, गुण-क्रियाओं से सम्बन्ध होता चला जाता है, तो उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। सविकल्पक ज्ञान जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, नाम–इन पाँच प्रकार के विकल्पों से प्रतिभासित होता है। उपर्युक्त माघकाव्य के नारद के उदाहरण में नारद का पुरुषत्व–जाति, वीणापाणित्व–द्रव्य, तेजस्विता–गुण, तपस्विता–क्रिया तथा नारद–नाम विकल्प है। इसी विकल्प-योजना पर सविकल्पक ज्ञान स्थित है।[2]

आलोचना

ऊपर किये गये स्पष्टीकरण से यह स्पष्ट है कि निर्विकल्पक ज्ञान ही सविकल्पक ज्ञान का आधार है। परन्तु इस विषय में बौद्धों तथा वैयाकरणों में ऐकमत्य नहीं है। बौद्ध संप्रदाय केवल निर्विकल्पक की ही प्रत्यक्षता स्वीकार करता है, सविकल्पक की नहीं। इसके विपरीत वैयाकरण

---

१. रामानुजाचार्य, तन्त्ररहस्य, पृ० २-८।

२. मण्डन मिश्र, मीमांसा-दर्शन, पृ० ३७६।

निर्विकल्पक ज्ञान को नहीं मानता।

जैसा कि कहा गया है, प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में प्रभाकर एवं भाट्ट मतों में भी भेद है। न्यायदर्शन के अन्तर्गत संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय तथा विशेषण-विशेष्य-भाव, ये षट् सन्निकर्ष माने गए हैं। परन्तु भाट्ट मत में, संयोग और संयुक्ततादात्म्य ये दो ही सन्निकर्ष माने गए हैं। परन्तु प्रभाकर संयोग, संयुक्तसमवाय तथा समवाय–ये तीन सन्निकर्ष मानते हैं।

अनुमान प्रमाण

स्वाभाविक रूप से, निश्चित सम्बन्ध वाले दो पदार्थों में व्याप्य के देखने पर इन्द्रियों से असंबद्ध विषय में जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है। व्याप्य से अधिक देश-काल में न रहने तथा व्यापक से अधिक देश-काल में रहने का अभिप्राय है। उदाहरणार्थ, धूम और अग्नि का स्वाभाविक सम्बन्ध निश्चित है। उन दोनों में पर्वत पर धूम दर्शन होते हैं। धूम दर्शन होने पर इन्द्रियों से न देखे गए (असन्निकृष्ट) व्यापक अग्नि में जो ज्ञान होता है, वही अनुमान कहलाता है। इस उदाहरण में धूम व्याप्य तथा अग्नि व्यापक है। धूम के व्याप्य होने का यह कारण है कि वह अग्नि से रहित जल आदि पदार्थों में नहीं रहता। अग्नि की व्यापकता इससे सिद्ध है, कि वह धूम के अभाव में भी जलते हुए लोहे में देखा जाता है।

अनुमान के भी दो भेद हैं–स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। जहाँ स्वयं ही हेतु को देखकर व्याप्ति आदि के स्मरण से साध्य का अनुमान कर लिया जाता है, वहाँ स्वार्थानुमान होता है। जो अनुमान दूसरों को समझाने के लिए किया जाता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं।

आलोचना

भाट्टमत की अनुमान-प्रक्रिया और न्यायदर्शन की अनुमान-प्रक्रिया में किंचित् भेद है। न्याय के प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन–इन पंचावयव वाक्यों के स्थान पर भाट्टमीमांसा एवं वेदान्त में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त, या दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये तीन ही वाक्य माने गये हैं।[1]

शब्दप्रमाण

ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थ का स्मरण होने पर असन्निकृष्ट वाक्य के अर्थ का ज्ञान होना शब्द प्रमाण कहलाता है। यह शब्द प्रमाण भी दो प्रकार का है : एक पौरुषेय और दूसरा अपौरुषेय। आप्त वचन पौरुषेय शब्दप्रमाण के अन्तर्गत आएगा। इसके विपरीत वेदवाक्य अपौरुषेय शब्द-प्रमाण का उदाहरण है। सिद्धार्थ और विधायक–ये दो भेद शब्द के और भी हैं। किसी पदार्थ के निश्चित अर्थ को कहने वाला वाक्य सिद्धार्थ वाक्य है। विधायक वाक्य वह वाक्य है जो किसी प्रकार के कार्य के लिए

---

१. मानमेयोदय, पृ० ६४ तथा वेदान्तपरिभाषा, पृ० ६२।

प्रेरक होता है। विधायक वाक्य उपदेशक तथा अतिदेशक के भेद से दो प्रकार का होता है। उपदेश वाक्य से विधिवाक्य का तात्पर्य है जैसे–उसको ऐसा करना चाहिए। अतिदेश वाक्य का उदाहरण है–दर्शपूर्णमास याग के द्वारा स्वर्ग का साधन करे।

शब्द प्रमाण का आधार शाब्दिक ज्ञान है। शाब्दिक ज्ञान ऐसी वस्तु का बोध है, जो परोक्ष है। अतः शाब्दिक ज्ञान शब्दों द्वारा अर्जित ज्ञान है। ये शब्द दो प्रकार के हो सकते हैं–(१) मनुष्यों द्वारा उच्चरित, (२) वैदिक शब्द।[1] मनुष्यों द्वारा उच्चरित शब्द तभी प्रामाणिक हो सकते हैं, जबकि वे आप्त पुरुषों (सिद्ध पुरुषों) के वचन हों।[2] वैदिक वाक्यों की स्वतः प्रमाणता स्वीकृत है। इसका कारण यह है, कि वेद की नित्यता एवं अपौरुषेयता सिद्ध है। वैदिक ज्ञान की अखण्डता एवं अकाट्यता ही उसकी नित्यता है।[3] यहाँ, वेदों की नित्यता एवं अपौरुषेयता के सम्बन्ध में विचार अपेक्षित है।

वेदों की नित्यता

वेद नित्य हैं। यह इसलिए कि वेद के स्वरूप–शब्द नित्य हैं। शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नैसर्गिक है। यदि कोई व्यक्ति प्रथम बार शब्द की ध्वनि को सुनकर शब्दार्थ का ज्ञान नहीं कर पाता, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि शब्दार्थ सम्बन्ध का अभाव है। शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध होने पर भी प्रथम बार शब्दश्रवणकर्ता को शब्दार्थ का बोध इसलिए नहीं होता कि उसमें सहायक ज्ञान का अभाव है। सहायक ज्ञान यह है कि इस प्रकार का शब्द इस प्रकार के पदार्थ का ज्ञापक है। यह ज्ञान अनुभवसाध्य है। सहायक ज्ञान की अपेक्षा उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि चक्षु एवं दृश्य पदार्थ की उपस्थिति (रात्रि में) होते हुए भी पदार्थ ज्ञान के लिए द्योतक प्रकाश की आवश्कता है। यहाँ निर्देश्य है कि शब्द में अभिव्यक्ति का गुण उसके स्वभाव में है। निदर्शनार्थ, घट का गुण उसके स्वभाव में है। उदाहरणार्थ, घट पद एवं घट पदार्थ का सम्बन्ध नित्य एवं स्वभावसिद्ध है। प्रभाकर का मत है कि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के विषय में, जहाँ वस्तुओं एवं मनुष्यों के नाम उनके उत्पन्न होने के पश्चात् निश्चित किए जाते हैं, शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य न होकर पारम्परिक है। निष्कर्षतः, शब्द एवं पदार्थ दोनों नित्य हैं। यही कारण है कि लोक अनादि काल से तत्तत् पदार्थों के लिए तत्तत् शब्दों का व्यवहार करता आया है।

मीमांसक पदार्थज्ञान के सम्बन्ध में स्फोट का समर्थक नहीं है।[4] जैसा कि श्लोकवार्त्तिक में सुस्पष्ट है, प्रभाकर केवल ध्वनि अथवा अनभिव्यक्त शब्द को नहीं स्वीकार करता, जैसा कि स्फोटवादी मानता है। प्रभाकर का मत है कि शब्द उन अक्षरों से भिन्न नहीं है, जिनसे यह निष्पन्न है। अक्षरों का श्रावण प्रत्यक्ष होता है, और वह अक्षरप्रत्यक्ष का क्रम ही शाब्दबोध का निर्णायक है। वस्तुतः एक

१. अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। अर्थसंग्रह, पृ० ३।
२. प्राप्तवाक्यं शब्दः।
३. देखें, शवरभाष्य, १.१.२।
४. देखिए, अर्थसंग्रह, पृ० १०, मीमांसापरिभाषा, पृ० ३।

शब्द में जितने अक्षर हैं, उतने ही प्रत्यक्ष ज्ञान भी हैं। इन प्रत्यक्ष ज्ञानों के अत्याधिक सामीप्य के कारण ही शब्द के प्रत्यक्ष ज्ञान को हम एक मानते हैं। मीमांसा की प्रक्रिया के अनुरूप प्रत्येक अक्षर का प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होने पर द्वितीय क्षण में विलुप्त हो जाता है एवं अपना एक संस्कार छोड़ जाता है। इस प्रकार शब्द के भिन्न-भिन्न अक्षरों के संस्कार अन्तिम उच्चरित अक्षर के संस्कार से संयुक्त होकर, पूर्ण शब्द के विचार को उत्पन्न करते हैं, जिसमें अर्थ को प्रकट करने की क्षमता होती है।[1] इस प्रकार अक्षरों की क्षमता शाब्दबोध का साक्षात् कारण है। मीमांसक का मानना है कि शब्दार्थबोध श्रवणेन्द्रिय के प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नहीं है। क्योंकि इन्द्रियां अक्षरों को प्रस्तुत करती हैं, अतः उनमें अक्षरों से निष्पन्न शब्द द्वारा प्रकटीकृत वस्तुविषय का बोध कराने की क्षमता विद्यमान रहती है।

इस प्रकार सारांशतः यह कहा जा सकता है कि प्रभाकर के मतानुसार अक्षर शाब्दबोध के साधन हैं, तथा शब्दों में स्वभावतः अर्थ के द्योतन की शक्ति वर्त्तमान रहती हैं। शब्द इस शक्ति के द्वारा पदार्थ को प्रकट करते हैं। हाँ, यह फिर कहना होगा कि पदार्थज्ञान के लिए, व्यक्ति को अनुभव की अपेक्षा होती है, जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है। वस्तुतः मीमांसक प्रभाकर अन्विताभिधानवादी है।

अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की कल्पना है कि शब्दार्थ उसी स्थिति में बोध्य है, जब शब्द ऐसे वाक्य में व्यवहृत होते हैं, जिसमें कर्त्तव्य का आदेश वर्त्तमान होता है। अतः वाक्य में शब्द पदार्थो को केवल अन्य अवयवों से सम्बद्ध रूप में ही द्योतित करते हैं। उदाहरण के लिए, 'ग्राम्' (गाय को), कर्म कारक है। इससे इतना समझा जा सकता है कि गाय के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है। गाय को इसके अन्तर्गत आकांक्षा की पूर्ति तभी होती है, जब पूरा वाक्य, गामानय (गाय को लाओ) उच्चरित होता है। किन्तु यदि वे (शब्द) किसी आदेश से सम्बद्ध न होकर, अर्थ का ही स्मरण कराते हैं, तो यह मात्र स्मृति का विषय होने से प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। कुमारिल के अनुयायियों द्वारा स्वीकृत अभिहितान्वयवादियों के अनुसार अर्थज्ञान जो शब्दों का कारण होता है, स्मरण अथवा बौद्ध ग्रहण के कारण नहीं होता, अपितु द्योतन के कारण है। इस मत के अनुसार शब्द अर्थों को प्रकट करते हैं, जो संयुक्त रूप से वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। इस प्रकार अभिहितान्वयवादी के अनुसार 'गामानय' गाम्र का अर्थ, गो का कर्म कारक स्पष्ट है। इसी प्रकार 'आनय' का अर्थ लाओ भी स्पष्ट है। दोनों पदों के मिलने पर 'गाय को लाओ' यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

वेदों की नित्यता पर आक्षेप एवं समाधान

१. यह देखा जाता है कि शब्द का उच्चारण व्यक्ति के द्वारा प्रयत्न पूर्वक किया जाता है, अतः इसका आरम्भ है, एवं यह अनित्य है। इस प्रकार वेद अनित्य है।

---

१. तुलना कीजिए, शास्त्रदीपिका, पृ० २६६ से आगे।

उक्त आक्षेप के सम्बन्ध में जैमिनि का समाधान है कि किसी शब्द का उच्चारण पहले से विद्यमान को श्रावण प्रत्यक्ष के योग्य बनाता है, किन्तु यह इसे प्रथम बार उत्पन्न नहीं करता।

२. शब्द की अनित्यता के सम्बन्ध में एक आक्षेप यह है कि शब्द क्षणिक है, क्योंकि वह उच्चरित होने के पश्चात् नष्ट हो जाता है।

इस आक्षेप का समाधान यह है कि शब्द उच्चरित होने के पश्चात् नष्ट नहीं होता, अपितु अपनी अव्यक्तावस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार शब्द अभिव्यक्त होता है।

३. एक ही शब्द का उच्चारण, एक काल में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न देशों (स्थानों) में किया जाता है। इससे शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है।

उक्त तर्क के परिहारार्थ जैमिनि का मत है कि जिस प्रकार अनेक पुरुष एक काल में अनेक स्थानों पर एक ही सूर्य का दर्शन करते हैं, उसी प्रकार शब्द का उच्चारण विभिन्न देशों में, एक काल में, अनेक व्यक्तियों द्वारा सम्भव है।

४. शब्दों में होने वाले परिवर्तन उनकी नित्यता में बाधक हैं। परिवर्तन का नित्यता से दूर का भी सम्बन्ध असिद्ध है।

उक्त आक्षेप का प्रत्युत्तर यह है कि शब्दों में परिवर्तन नहीं होता,[1] अपितु अन्य शब्द उनका स्थान ले लेते हैं।

५. पाँचवाँ आक्षेप शब्द की नित्यता के सम्बन्ध में यह है कि अनेक व्यक्तियों के द्वारा उच्चरित होने पर शब्द का परिमाण घटता-बढ़ता रहता है, जो शब्द की नित्यता में बाधक है।

उक्त आक्षेप के विषय में जैमिनि का समाधान है कि शब्द के परिमाण में ह्रास अथवा वृद्धि नहीं होती। यह तो शब्द की उच्चरित ध्वनि है, जो घटती-बढ़ती है।

शब्द की नित्यता के सम्बन्ध में जैमिनि का मत है कि शब्द का उच्चारण दूसरे व्यक्तियों के लिए किया जाता है। शब्द की नित्यता के सम्बन्ध में यह तथ्य उद्घाटनीय है कि जब गौ शब्द का उच्चारण किया जाता है तो सदा ही यह पहचान लिया जाता है कि यह वही शब्द है। इससे शब्द की नित्यता प्रमाणित होती है। दूसरे, अनित्य वस्तुओं के नाश के कारण पाए जाते हैं। परन्तु शब्दों के विनाश के कारण अप्राप्त हैं। पुनश्च, प्रमाण एवं शब्द के नित्यत्व की पुष्टि के अर्थ, ऐसे अनेक वेद-मन्त्र मिलते हैं, जो शब्द के नित्यत्व पर बल देते हैं[2]।

---

१. मीमांसादर्शन, १.१.६-१७।

२. देखें, मीमांसादर्शन, १.१८-२३।

शब्द की नित्यता के सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि शब्द जाति को व्यक्त करते हैं, व्यक्ति को नहीं। उदाहरणार्थ, जब यह कहा जाता है कि 'गौ को लाओ' (गामानय), तो इससे किसी विशिष्ट गाय का आशय नहीं होता, अपितु ऐसे किसी भी पशु से अभिप्राय होता है, जिसमें सास्नादिमत्व आदि गाय के लक्षण विद्यमान हैं। क्योंकि शब्द का उद्देश्य क्रिया है, अतः यह जाति एवं रूप को व्यक्त करता है। यह भी विचार्य है कि यदि शब्द द्वारा व्यक्ति का बोध होता तो गोत्व जाति का भाव असम्भव हो जाता। शब्द यदि व्यक्ति का द्योतन नहीं कर सकता, तो वह व्यक्तियों के समूह का भी द्योतक नहीं हो सकता, क्योंकि यदि शब्द व्यक्ति समूह का द्योतन करने लगेगा, तब तो यह परिवर्तित होने लगेगा, क्योंकि समूह के व्यक्तियों की मृत्यु, एवं दूसरे व्यक्तियों के प्रवेश से समूह का परिवर्तन स्वाभाविक है। इसके विपरीत यदि शब्द का सम्बन्ध एक व्यक्ति से स्वीकार किया जाए, तो शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, और फिर क्रिया भी असम्भव होगी, क्योंकि शब्द को व्यक्ति का द्योतक मानने पर यह कहना दुष्कर होगा कि व्यक्तियों के अनन्त होने पर, शब्द किस व्यक्ति का बोधक है। इसके विपरीत यदि शब्द को व्यक्ति विशेष का बोधक माना जाएगा, तो, क्योंकि व्यक्ति विशेष सर्वत्र नहीं पाया जा सकता, अतः शब्द एवं अर्थ में सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, फिर भी उनके सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाएँ सम्भव हैं। इसके अतिरिक्त मानवीय उच्चारण त्रुटिपूर्ण हो सकते हैं। किन्तु वैदिक शब्दों के विषय में भ्रान्त धारणाओं की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार वेद सर्वथा नित्य हैं।

वेदों की अपौरुषेयता

वेद अपौरुषेय हैं। नित्य वेद की रचना अनित्य पुरुष द्वारा कैसे सङ्गत होती है। वेद की अपौरुषेयता का अर्थ उसकी स्वयं नित्यता है, जैसा कि वेदों की नित्यता के सम्बन्ध में ऊपर स्पष्ट किया गया है। वेद की अपौरुषेयता इससे भी स्पष्ट है कि वेद में उसके रचयिता का नाम नहीं प्राप्त होता। हाँ, वेद के कतिपय मन्त्रों के आरम्भ में ऋषियों के नाम अवश्य मिलते हैं, किन्तु ये ऋषि उन मन्त्रों के कर्त्ता नहीं हैं। वेद की अपौरुषयेता का प्रमाण शब्द की नित्यता है, जिस पर मीमांसकों ने विशेष बल दिया है।

नैयायिक वेद को ईश्वर की रचना स्वीकार करते हैं। किन्तु मीमांसा में जब ईश्वर के लिए कोई स्थान ही नहीं है, तो वेद के ईश्वररचित होने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। निम्नलिखित तर्कों के आधार पर वेदों को ईश्वरकृत नहीं स्वीकार किया जा सकता–

१. अशरीरी ईश्वर वागिन्द्रिय के अभाव में वैदिक शब्दों का उच्चारण किस प्रकार कर सकता है। यदि कहा जाय कि ईश्वर वेदों की दिव्यवाणी को प्रकट करने के लिए मानव शरीर धारण कर लेता है, तो यह मानना होगा कि उसका मानव शरीर भौतिक जीवन के प्रतिबन्धों के बन्धन में बँध जाएगा, एवं उसके वचन का कोई प्रामाण्य नहीं रह जाएगा।

---

१. आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्। मीमांसादर्शन, १.३.३३।

२. वेदों के देवीय अथवा मानवीय रचयिता होने की कोई परम्परा नहीं है।

३. जगत् की सृष्टि सम्बन्धी परम्परा के आधार पर भी वेद को इस अर्थ में नित्य माना जाता है कि जगत् का स्रष्टा प्रत्येक मन्वन्तर के आरम्भ में स्मृति के आधार पर विगत सृष्टि में वर्त्तमान वेद का पुनरुद्धार करता है, एवं उसकी शिक्षा प्रदान करता है।[1]

जहाँ तक वैदिक ऋषियों का प्रश्न है वे तो मीमांसादर्शन के अनुसार, सत्य का बोध प्राप्त करते हैं तथा उसका प्रसार करते हैं।[2] कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि वेदों में ऐतिहासिक नामों का उल्लेख उनकी नित्यतासिद्धि एवं प्रामाणिकता में बाधक है। इस सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि वैदिक नामों का सन्दर्भ ऐतिहासिक न होकर सार्वभौम है। उदाहरण के लिए, वैदिक ऋषि विश्वामित्र का तात्पर्य विश्वमात्र के मित्र से है, किसी ऐतिहासिक ऋषि से नहीं।

पूर्वमीमांसा के समान ही उत्तरमीमांसक (वेदान्ती) भी वेद की अपौरुषेयता के ही पक्षपाती हैं।[3]

वेदों का विषय

मीमांसक के अनुसार वेद क्रियापरक हैं–"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्"। वैदिक कर्मकाण्ड का मूल भी धर्म ही है। अत एव जैमिनि ने मीमांसादर्शन के प्रथम सूत्र में धर्म को अभ्युदय एवं निःश्रेयस का साधक कहा है।[4] रोचक तो यह है कि एक (मीमांसक) का वेदप्रतिपाद्य (कर्म) दूसरे (वेदान्ती) के लिए अज्ञान है, जबकि दूसरे (वेदान्ती) का प्रतिपाद्य (ज्ञान) उसी वेद का सिद्धान्त पक्ष–वेदान्त है। अस्तु, मीमांसक ने वेदों का विषयविभाजन, विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध तथा अर्थवाद, इन पाँच रूपों में किया है। विधि वाक्य, वे वाक्य हैं, जिनमें कर्म की प्रवृत्ति का विधान रहता है, जैसे, "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत" (स्वर्ग की कामना करने वाले को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए)। मन्त्र वे हैं, जो अनुष्टान (क्रिया) के अर्थस्मारक हैं। निषेध, वह है जो व्यक्ति को असत् कर्म से विरत करता है, जैसे "ब्राह्मणो न हन्तव्यः"।

अर्थवाद किसी पदार्थ के गुणों का प्रशंसन है। अर्थवाद वाक्य भी प्रवृत्तिमूलक ही होते हैं। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, वेद का प्रधान उद्देश्य क्रियाविधि ही है। शेष, मन्त्रादि चार विषय 'विधि' के ही सहयोगी प्रेरक हैं। जैसा कि लौगाक्षिभास्कर ने भी स्पष्ट किया है, विधि के चार भेद हैं–उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकारविधि तथा प्रयोगविधि। **उत्पत्तिविधि** कर्म के स्वरूप की व्याख्यात्री

---

१. एवं स्रष्टुर्वेदपूर्वत्वं साधयतां न किञ्चिदुत्तरं भवति, तेन सत्यपि सर्गे, सुप्तप्रबुद्धन्यायेन अनादिरेव, वेदव्यवहारः। (न्यायरत्नाकर)

२. देखें, मीमांसासूत्र, १-१.२४-३१।

३. पुरुषाः स्वातन्त्र्यमात्रमपौरुषेयत्वं रोचयन्ते जैमिनीया अपि तच्चास्माकमपि समानम्। भामती, ब्र० सू० १.१.३।

४. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। मीमांसादर्शन, १.१.१।

है। **विनियोगविधि** अंगीभूत एवं प्रधान अनुष्ठानों के सम्बन्ध की बोधक है। अधिकारविधि कर्म से उत्पन्न फल के स्वामित्व विधि की बोधिका है, तथा प्रयोगविधि प्रयोग शीघ्रता की विधि की बोधिका है। विध्यर्थ के निर्माण में अपेक्षा की दृष्टि से, मीमांसादर्शन में, श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या ये छः प्रमाण स्वीकार किए गए हैं।

उपमान प्रमाण

पूर्वदृष्ट अर्थ के स्मरण करने पर दृश्यमान पदार्थ में जो सादृश्य-ज्ञान होता है, उसी को उपमिति कहते हैं। उपमिति का कारण ही उपमान कहलाता है। जैसे कि किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसने पूर्व से गाय देख रक्खी है, जंगल में गवय (नीलगाय) भी गाय के समान दिखाई पड़ती है। इसके अनन्तर वह द्रष्टा गाय में रहने वाली गवय (नीलगाय) की समानता का स्मरण करता है और कहता है कि मेरी गाय इस गवय के समान है, यही प्रक्रिया उपमिति कहलाती है। इस प्रकार उपमान सादृश्यजन्य ज्ञान है।

अर्थापत्ति

दूसरे अर्थ के बिना निश्चित अर्थ की अनुपपत्ति को देखकर, उसकी (निश्चित अर्थ की) संगति के लिए जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे, किसी अन्य प्रमाण के आधार पर देवदत्त का जीवन निश्चित सिद्ध होने पर, जब देवदत्त घर में नहीं पाया जाता, तो उसके बाहर रहने की अर्थान्तर की कल्पना के द्वारा ही देवदत्त के जीवन की निश्चित सिद्धि होती है। इस प्रकार देवदत्त के घर से बाहर रहने की कल्पना अर्थापत्ति है। अर्थापत्ति के दो भेद हैं–एक श्रुतार्थापत्ति और दूसरी दृष्टार्थापत्ति। केवल 'द्वार' ऐसा कहने पर 'खोलो' या 'बन्द करो' ऐसे अर्थ की कल्पना श्रुतार्थापत्तिगत कल्पना है। ऊपर दिया गया देवदत्त का उदाहरण दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण है। नैयायिक तो अर्थापत्ति का अनुमान के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव करते हैं।

अनुपलब्धि

अनुपलब्धि अभाव का ही पयार्यवाची है। जहाँ उपर्युक्त पाँचों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती, वहीं अनुपलब्धि है। उपर्युक्त पाँचों प्रमाण भावपदार्थों की उपलब्धि के साधन हैं, परन्तु कभी-कभी अभाव की उपलब्धि भी देखी जाती है। अनुपलब्धि प्रमाण अभाव की उपलब्धि का ही बोधक है। अनुपलब्धि की सत्ता स्वतन्त्र है। इसका कारण यह है कि हमारी इन्द्रियाँ भावात्मक वस्तुओं के ज्ञान को ही बतला सकती हैं, अभाव को नहीं। अभाव अनुपलब्धि के द्वारा ही सिद्ध होता है। जैसे, यदि पुस्तक होती तो अवश्य मिलती, परन्तु इस समय यह अनुपलब्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुपलब्धि ही

---

१. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थो अन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना। (शा० भा०, १।१।५) आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १६४६।

पुस्तक के अभाव को बतला रही है। भाट्ट एवं अद्वैत मत में अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है; परन्तु इसके विपरीत प्रभाकर मत में, अनुपलब्धि की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की गई है। प्रभाकर ने तो अभाव को अधिकरण रूप माना है। (देखिये तन्त्ररहस्य, पृष्ठ १६-१६)।

प्रामाण्यवाद।

ज्ञान होते समय जो पदार्थ जिस रूप में अवभासित होता है वह पदार्थ वस्तुतः उसी रूप में अवस्थित हो तो उसे प्रामाण्य कहते हैं।[1] इसके विपरीत जब कोई वस्तु जिस रूप में वर्णित हुई है, उस रूप में न हो, तो वह अप्रामाण्य की स्थिति कहलाती है। मीमांसक प्रामाण्य को 'स्वतः' तथा अप्रामाण्य को 'परतः' मानते हैं। इस विषय में उनका नैयायिकों से विरोध है। नैयायिक प्रामाण्य को 'स्वतः' न मानकर 'परतः' मानते हैं। इसीलिए मीमांसक स्वतःप्रामाण्यवादी और नैयायिक परतःप्रामाण्यवादी कहलाते हैं। इस स्थल पर मीमांसक के स्वतःप्रामाण्यवाद की स्थापना के पश्चात् नैयायिक के परतःप्रामाण्यवाद का खण्डन किया जाएगा। प्रभाकरमत, भाट्टमत तथा मुरारिमत के अनुसार मीमांसा के स्वतःप्रामाण्यवाद के भी भिन्न-भिन्न रूप हैं। यहाँ इन तीनों मतों का उल्लेख परमावश्यक है।

प्रभाकर मत

प्रभाकर के मतानुसार ज्ञान स्वतःप्रकाशरूप है। अतः इस मत में ज्ञान के स्वतःप्रकाशरूप होने से ही ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य स्पष्ट सिद्ध है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार प्रकाश पहले दृश्यमान पुस्तकादि पदार्थों को तदनन्तर अपने आपको और फिर दीप-वर्तिका को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी पहले इन्द्रिय-सन्निहित पदार्थ को, फिर अपने आपको और फिर ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा को प्रकट करता है। इस प्रकार प्रभाकर के मतानुसार प्रत्येक पक्ष में पदार्थ, ज्ञान तथा आत्मा की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। इसी को त्रिपुटी प्रत्यक्ष भी कहते हैं। इस मत में ज्ञान के साथ-साथ उसका प्रामाण्य भी स्थित रहता है। अथवा यों कहिये कि ज्ञान की जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है।[2]

भट्ट मत

इस मत के प्रवर्त्तक कुमारिलभट्ट हैं। वे भी ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका स्वमत–प्रतिपादन प्रकार प्रभाकर से भिन्न है। कुमारिल प्रभाकर की तरह ज्ञान को स्वतःप्रकाशरूप नहीं मानते। इनके मतानुसार चक्षु और पुस्तक के सन्निकर्ष से 'इदं पुस्तकम्' यह ज्ञान होता है; परन्तु इनके मत में ज्ञान के स्वतःप्रकाश न होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीलिए कुमारिल ज्ञान को अतीन्द्रिय स्वीकार करते हैं। इसलिए ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञाता को ज्ञान होता है कि–'मया इदं पुस्तकम् ज्ञातम्' (मेरे द्वारा यह पुस्तक जानी गई)। जब यह पुस्तक ज्ञात होती है तो उसमें ज्ञातता धर्म

---

१. अर्थस्य च तथाभावः प्रामाण्यमभिधीयते। –न्यायरत्नमाला, पृ० ४।

२. देखिए–न्यायकन्दली, पृ० ६१; शास्त्रदीपिका, २१३-१४; तन्त्ररहस्य, पृ० ५-८; पकरणपंचिका, पृ० ३८ ५३।

उत्पन्न होता है। इस ज्ञातता का ही प्रत्यक्ष ज्ञान भाट्ट मत में होता है। यह ज्ञातता ही ज्ञान तथा प्रामाण्य की उदयकर्त्री है।[1]

मुरारि का मत

मुरारि के मत के बारे में प्रसिद्ध है–मुरारेस्तृतीयः पन्थाः।[2] मुरारि मिश्र के अनुसार इन्द्रिय एवं अर्थ के संयोग से ज्ञान होने पर 'अयं घटः' (यह घड़ा है) इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस 'अयं घटः' ज्ञान की सत्यता का निश्चय करने के लिए फिर 'अहं घटज्ञानवान्' इस प्रकार का अनुव्यवसाय होता है। इस अनुव्यवसाय के द्वारा ही 'अयं घटः' (यह घट है) इस ज्ञान का भान तथा उसका प्रामाण्य, दोनों ही निश्चित होते हैं, यही मुरारि मत की विशेषता है।[3] इस प्रकार प्रभाकर मत में ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य होने का निश्चय ज्ञान के स्वप्रकाशत्व से, भाट्ट मत में 'ज्ञातता' से तथा मुरारि मिश्र के मत में अनुव्यवसाय से होता है। उक्त तीनों मतों में विद्वानों ने प्रभाकर मत की ही विशेष महत्ता स्वीकार की है। इस सम्बन्ध में मथुरानाथतर्कवागीश का कथन है कि प्रभाकर का ही मत निश्चित 'स्वतःप्रामाण्यवाद' है, अन्य मत तो न्याय के समान परतःप्रामाण्यवादी ही हैं।[4]

परतःप्रामाण्यवाद का निराकरण

नैयायिक का प्रामाण्यवाद को परतः मानना उचित नहीं है। नैयायिक के मतानुसार, यदि प्रामाण्य का परतस्त्व स्वीकार किया जाएगा तो अनवस्था दोष आ जाएगा। इसका कारण यह है कि परतः प्रामाण्यवाद के अनुरूप ज्ञान का प्रामाण्य जब दूसरे ज्ञान पर निर्भर होगा तो वह दूसरा प्रामाण्यप्रतिपादक ज्ञान भी, अपने प्रामाण्य की सिद्धि के लिए इतर ज्ञान की शरण लेगा। इसी प्रकार वह इतर ज्ञान, प्रामाण्य-सिद्धि के लिए इतर ज्ञान की शरण लेगा और फिर इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। इस प्रकार के अनवस्था दोष से मूल का उच्छेद हो जायेगा। अतः इस मूलोच्छेदक ज्ञान के स्वीकार करने में कोई लाभ नहीं हैं।[5] प्रामाण्य के परतस्त्व के स्वीकार करने से प्रामाण्य का मूलोच्छेद इस प्रकार होता है कि यदि सभी ज्ञान अपने विषय के तथात्व के निश्चय के लिए, स्वयं असामर्थ्य का अनुभव करते हुए इतर ज्ञान के अपेक्षी हो जायें, तो कारण-गुण-ज्ञान, संवाद-ज्ञान व अर्थ-क्रिया-ज्ञान भी अपने विषयनिष्ठ गुण आदि के निश्चय के लिए इतर ज्ञान के अपेक्षी हो जायेंगे। इस प्रकार अनेक जन्मों में भी किसी अर्थ का निश्चय न होने पर प्रामाण्य का मूलोच्छेद स्वतः हो जायेगा।

---

१. न्यायरत्नमाला, पृ० ३१-३५; शास्त्रदीपिका, पृ० ६७-१०६; मानमेयोदय, पृ० ४-६।
२. उमेश मिश्र : 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' (Fifth Oriental Conference Proceedings, Lahore.)
३. 'मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् तत्प्रामाण्यग्रहः' इति मुरारिमिश्राः।
वर्धमानकुसुमांजलिप्रकाश, पृ० २१६ (महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालंकार-संपादित, कलकत्ता, १६६१)
४. चिन्तामणिरहस्य, पृ० ११७।
५. परापेक्षत्वं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित्।
मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति।। शास्त्रदीपिका, पृ० ७७।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि अनवस्था की परावृत्ति के लिए अर्थ-क्रिया-ज्ञान की स्वतःप्रमाणता मान ली जायेगी तो इससे कोई वैशिष्ट्य नहीं आ पायेगा। क्योंकि यद्यपि अर्थ-क्रिया की फलरूपता के कारण उसमें अप्रामाण्य की शंका नहीं की जा सकती, परन्तु स्वप्नावस्था में जल लाना आदि क्रियाएँ उसमें भी व्यभिचार कर देती हैं। यदि पूर्वपक्षी कहे कि केवल सुख-ज्ञान को अव्यभिचरित समझकर उस तक ही अर्थ-क्रिया को सीमित कर दिया जाएगा तो उससे भी पूर्वज्ञान का प्रामाण्य अध्यवसित नहीं किया जा सकेगा। जैसे कि स्वप्न में प्रिया-संग के विश्राम से सुख होता है, तथा उसका ज्ञान भी होता है, परन्तु उस सुख-ज्ञान के मिथ्यात्व ने उस ज्ञान में अप्रामाण्य निहित कर रखा है। अतः यह स्वीकार करना ही उपयुक्त होगा कि प्रामाण्य स्वतः ही प्राप्त होता है।

मीमांसक का अख्यातिवाद

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भ्रम का विवेचन ख्यातिवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया गया है। अख्यातिवादी मीमांसक शुक्ति आदि के ज्ञान को मिथ्या नहीं मानता। इसीलिए अख्यातिवादी के मत में भ्रम को स्थान नहीं है। अख्यातिवादी मीमांसक ज्ञान के दो पक्ष मानता है–एक यथार्थ और दूसरा स्मृति। अख्यातिवादी का कहना है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस ज्ञान में ज्ञान के दो रूप हैं। उक्त वाक्य में इदम् का यथार्थज्ञान होता है और रजत की स्मृति। संस्कारसादृश्य के आधारपर 'ज्ञातं रजतं' स्मृति मात्र है। पुरोवर्ती इदं रूप यथार्थज्ञान और रजत रूप स्मृति ज्ञान–इन दानों भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न रूप से न ग्रहण होने के कारण ही शुक्ति का रजतरूप में ज्ञान होता है। इसी को 'भेदग्रह' भी कहते हैं, क्योंकि यथार्थज्ञान और स्मृति के भेद के अग्रह के कारण ही शुक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। इस प्रकार अख्यातिवादी उक्त उदाहरण में रक्तज्ञान का कारण 'प्रमोष' को मानता है। स्मरणाभिमान के प्रमुषित होने पर ही शुक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। मीमांसक की दृष्टि में 'इदम्' यह प्रत्यक्ष शुक्ति का ज्ञान और 'रजतम्' यह रजत-ज्ञान दोनों ही सत्य हैं। अख्यातिवादी का विचार है कि शुक्ति में रजतज्ञान का आधार जो रजत है वह तो सत्य ही है। इस प्रकार अख्यातिवादी मीमांसक प्रभाकर के ख्यातिसम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार भ्रम को नहीं स्वीकार किया गया है।[1]

परन्तु प्रभाकर के विपरीत भाट्ट-मीमांसक नैयायिक भी अन्यथाख्याति को स्वीकार करता है। अन्यथाख्यातिवादी अख्यातिवादी की तरह स्मृति को स्वीकार नहीं करता। किसी वस्तु के धर्मों का अन्य वस्तु में आरोप ही अन्यथाख्याति है। शुक्ति एवं रजत के उदाहरण में रजत के धर्मों का शुक्ति में आरोप होता है। इस आरोप के कारण ही शुक्ति का रजतरूप से अन्यथा ज्ञान होता है। भाट्ट-मीमांसक इस अन्यथाख्याति को ही विपरीतख्याति भी कहते हैं।

पदार्थ-निरूपण

पदार्थों के सम्बन्ध में मीमांसकों में ऐकमत्य नहीं है। भाट्ट-मीमांसक के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति और अभाव, ये छः पदार्थ और प्रभाकर मीमांसक के मतानुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, संख्या और सादृश्य, ये आठ पदार्थ स्वीकार किये गए हैं। इन पदार्थों में द्रव्य,

---

१. डॉ० हरदत्त शर्मा : ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री, पृ० १३।

गुण तथा कर्म का विवेचन प्रायः वैशेषिक के समान ही है, परन्तु यत्र-तत्र भेद भी मिलता है। यहाँ इन पदार्थों का संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित प्रतीत होता है।

द्रव्य–द्रव्य परिमाण का आश्रय होता है और यह परिमाण दो प्रकार का होता है–एक अणुत्व तथा दूसरा महत्त्व। द्रव्य पदार्थ–पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, शब्द तथा अंधकार भेद से ग्यारह प्रकार का है। यहाँ पृथ्वी आदि के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विचार किया जायेगा।

पृथ्वी–प्रथम द्रव्य पृथ्वी गन्धयुक्त द्रव्य है। इस पृथ्वी द्रव्य के दर्शन पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, शरीर और घ्राणेन्द्रिय के रूप में होते हैं। शरीर के जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से चार रूप हैं। इनमें उद्भिज्ज को प्रभाकर मीमांसक नहीं स्वीकार करते।[1]

जल–जल स्वाभाविक द्रवत्व का अधिकरण है।

तेज–तेज उष्ण स्पर्शवाला होता है। तेज के दर्शन, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि और चक्षु इन्द्रिय के रूप में होते हैं। परन्तु कहीं-कहीं तैजस पदार्थ में उष्णस्पर्श की उपलब्धि नहीं भी होती, जैसे सुवर्ण भी तैजस पदार्थ है परन्तु उसमें पृथ्वी अंश की अधिकता के कारण उष्ण स्पर्श की उपलब्धि नहीं होती।[2]

वायु–यद्यपि वायु का रूप नहीं है, परन्तु फिर भी वह स्पर्शवाला है। प्राचीन नैयायिक की तरह[3] मीमांसक वायु को आनुमानिक नहीं मानता। नव्यनैयायिक तो वायु का प्रत्यक्ष स्पष्ट ही स्वीकार करता है।[4]

आकाश–आकाश अन्तिम भूत द्रव्य है। शब्द के अधिकरण होने से आकाश की सिद्धि स्पष्ट है। आकाश नित्य है। भाट्ट-मीमांसकों के मत में आकाश का प्रत्यक्ष होता है।[5]

काल–काल सभी का आधार है। काल विभु और एक है।

दिशा–दिशा भी एक तथा नित्य है।

आत्मा–आत्मा चैतन्य का आश्रय है। मीमांसक आत्मा की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी सब शरीरों के साथ उसकी एकता नहीं मानते।[6]

---

१. शरीरं जरायुजाण्डजस्वेदजभिन्नं त्रिविधम्, उद्भिज्जं शरीरं न भवति। –प्रकरण-पंचिका, पृ० १५०; मुकुन्द शास्त्री खिस्ते द्वारा संपादित (सं० बु० डिपो, १६०३)।

२. अभिभूतरूपस्पर्शतेजः सुवर्णम्। अभिभवस्तु बलवद्भिः पार्थिवरूपादिभिरिति द्रष्टव्यम्। (मानमेयोदय, पृ० १५५)

३. सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायुं स्पृशामीति वायोरनुपलब्धिः। –वै० सू० ४।१।७ तथा प्र० पा० भा०, पृ० १६।

४. तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य संभवाद् वायोरपि प्रत्यक्षं संभवत्येव। –मुक्तावली, का० ४६।

५. मानमेयोदय, पृ० १८८।

६. मानमेयोदय, पृ० १८८।

मन–मन भी सूक्ष्म इन्द्रिय है। परन्तु यह भी इन्द्रिय ही है। शास्त्रदीपिकाकार ने इसे भौतिक से विलक्षण भी माना है।[1]

शब्द–शब्द श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा ही ग्राह्य है। शब्द के वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक, ये दो भेद हैं। वर्णात्मक शब्द द्रव्य तथा विभु है और आत्मा की ही तरह नित्य भी है, परन्तु वह गुण नहीं है। इसके विपरीत ध्वन्यात्मक शब्द गुण और अनित्य है। यह ध्वन्यात्मक शब्द ही वर्णात्मक शब्द को प्रकट करने वाला है और यह वायु का गुण है, क्योंकि वायु के अभिधान के द्वारा ही शब्द की उत्पत्ति होती है।[2]

अन्धकार–नैयायिक की तरह मीमांसक अन्धकार को अभाव रूप नहीं मानता। मीमांसक के मत में अन्धकार चक्षु से ग्रहण करने योग्य है। यह अन्धकार प्रकाश के अभाव में काले रूप में दिखाई पड़ता है। तेज की तरह अन्धकार भी ब्रह्मा का शरीर है, ओर इसकी सृष्टि भी पृथक् रूप से की गई है। इसलिए इसको पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।

इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार द्रव्य पदार्थ के उक्त ग्यारह भेद हैं।

गुण–मीमांसकों ने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्राकट्य, ध्वनि और संस्कार भेद से इक्कीस प्रकार के गुण माने हैं।

नैयायिक एक पृथक्त्व गुण की और कल्पना करते हैं जो मीमांसक को अभिमत नहीं है।

कर्म–'चलति' अर्थात् 'चलता है' 'आदि' प्रत्यय का विषय कर्म है। यह कर्म चलनात्मक, प्रत्यक्ष तथा एक प्रकार का ही है। उक्त कथन भाट्ट सम्प्रदाय के अनुसार है। इसके विपरीत प्रभाकर के अनुयायी कर्म को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानते हैं। भाट्ट सम्प्रदाय के अनुयायियों ने प्रभाकर-मतानुयायियों की उक्त अनुमेयता का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि कर्म का अनुमान किया जाने लगेगा तब तो पर्वत और बादल के संयोग से पर्वत में भी कर्म का अनुमान होने लगेगा। इस प्रकार मीमांसक कर्म की अनुमेयता को नहीं स्वीकार करते[3]।

सामान्य–'यह मनुष्य है', 'यह सत्य है' इस प्रकार सभी मनुष्यों और अश्वों आदि व्यक्तियों में रहने वाले और विजातीय व्यक्तियों से व्यावृत्त कराने वाले व्यावृत्त और अनुवृत्त आकार में देशान्तर और कालान्तर में जो अबाधित ज्ञान उत्पन्न होता है, वही सामान्य है। यह सामान्य प्रत्यक्ष है[4]। इस सामान्य के भी सामान्य और विशेष दो प्रकार हैं, जैसे मनुष्यत्व, अश्वत्व आदि। जाति का सामान्य आकार है और एक मनुष्य और एक अश्व आदि उसका विशेष आकार है।

---

१. मण्डनमिश्र, मीमांसादर्शन (जयपुर), पृ० ३४६।

२. शास्त्रदीपिका, पृ० ३६।

३. अभिघातेन प्रेरिता वायवः स्तिमितानि, वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतो दिक्काल-संयोग विभागानुत्पादयन्ति। शावरभाष्यम्।

शक्ति–शक्ति नामक पदार्थ की कल्पना मीमांसकों की स्वतन्त्र कल्पना है। मीमांसकों ने लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की शक्तियाँ मानी हैं। अग्नि की दाहक शक्ति लौकिक शक्ति है और यज्ञादि में स्वर्गादि प्रदान की शक्ति वैदिक शक्ति है।

अभाव–जिसके द्वारा किसी वस्तु की सत्ता का निषेध होता है, उसे अभाव कहते हैं। अभाव के–प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव–ये चार भेद हैं। प्रभाकर के मत में अभाव-नामक पदार्थ को नहीं स्वीकार किया गया है।

उक्त छः पदार्थ ही भाट्ट सम्प्रदाय में स्वीकार किये गए हैं।

जगत्–अद्वैतियों ने अद्वैत-सिद्धि के लिए जगत् को प्रपंच कहकर जो जगन्मिथ्यात्व सिद्ध किया है, वह मीमांसक का अभीष्ट नहीं है। मीमांसक जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य मानता है। अतः मीमांसा के अनुसार जगत् के जिस रूप में दर्शन होते हैं, उसी रूप में जगत् की सत्यता स्वीकार की गई है। इस प्रकार मीमांसक जगत् का आत्यन्तिक नाश नहीं स्वीकार करता। कुछ मीमांसक अणु को स्वीकर करते हुए परमाणु से जगत् की सृष्टि स्वीकार करते हैं।[1] परमाणुवादी मीमांसकों के अनुसार, कर्मों के फलोन्मुख होने पर अणुसंयोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। तथा फल की समाप्ति होने पर विच्छेद के कारण अवान्तर परिवर्तन हो जाया करते हैं। यद्यपि न्याय-वैशेषिक में भी जगत् की उत्पत्ति परमाणुवाद के आधार पर ही सिद्ध की गई है, परन्तु परमाणुवादों में अन्तर है। न्यायदर्शन के अनुसार परमाणुओं की स्थिति प्रत्यक्ष सिद्ध न होकर अनुमानगम्य है। त्रसरेणु के षष्ठ भाग को परमाणु कहने की बात को मीमांसक नहीं स्वीकार करता। मीमांसक तो प्रत्यक्ष वर्तमान कणों को ही परमाणु मानता है। न्यायदर्शन में परमाणु योगज प्रत्यक्ष का विषय है, परन्तु मीमांसा में परमाणु का इन्द्रियप्रत्यक्ष स्वीकार किया गया है। अतः मीमांसकों द्वारा स्वीकार की गई जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण सत्य है।

अपूर्व

मीमांसक द्वारा की गई "अपूर्व" की कल्पना एक अभूतपूर्व कल्पना है। "अपूर्व" का सम्बन्ध कर्म एवं उसके फल से है। कर्म एवं उसके फल का सम्बन्ध सभी दर्शनों में किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है, जो स्वाभाविक है। जब कोई व्यक्ति कोई कर्म करेगा, तो उसका फल अवश्यम्भावी है। किन्तु यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि कर्म के फल का दाता कौन है ? कुछ लोग भाग्य को कर्मफल का दाता मानते हैं। किन्तु वेदान्त में ईश्वर को कर्मफल का दाता कहा गया है। इस सम्बन्ध में मीमांसक का मत है कि कोई भी कर्म तब तक फल नहीं दे सकता, जब तक कि वह किसी अदृष्ट परिणाम को जन्म नहीं दे देता। यह अदृष्ट परिणाम कर्म से पूर्व नहीं था, इसीलिए इसे "अपूर्व" की संज्ञा दी गई है। जैमिनि, इस प्रकार अपूर्व को एक अदृष्ट शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। अपूर्व को या तो फल का पूर्ववर्त्ती अदृष्ट कहा जा सकता है, या फिर कर्म का पश्चाद्वर्त्ती परिणाम। मीमांसक द्वारा सम्पाद्य यज्ञादि कर्म के दूरगामी फल की दृष्टि से, अपूर्व की यह महत्ता स्वीकार्य है कि इसके (अपूर्व के)

---

१. तस्माद् यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।
तत्तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथवेतरत् ।। (श्लोकवार्तिक, पृ० ४०४)

माध्यम के अभाव में फलप्राप्ति की सम्भावना नहीं की जा सकती।[1] इस दृष्टि से यज्ञादि कर्म तथा परिणाम के मध्य अपूर्व एक शक्ति है। इस प्रकार मीमांसक ईश्वर को फलदाता न मानकर 'अपूर्व' को ही कर्मफल का व्यवस्थापक स्वीकार करता है। मीमांसक इस तर्क के आधार पर ईश्वरवाद का निराकरण करता है कि एक ईश्वर अनेकानेक कार्यों का कारण नहीं हो सकता।[2]

अपूर्व के सम्बन्ध में कुमारिल एवं प्रभाकर में किंचित् मतभेद है। कुमारिल के अनुसार अपूर्व यज्ञादि कर्म में अथवा यागादि के कर्ता में एक योग्यता अथवा शक्ति है, जो कर्म सम्पादन के पूर्व नहीं थी। अतः कर्म से उत्पन्न निश्चित शक्ति जो परिणाम तक पहुँचाती है, वह अपूर्व है। यज्ञादि कर्म, उसके कर्ता में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न करता है, जो उसमें जीवनपर्यन्त रहती है, तथा यागादि कर्ता को उसका अभीष्ट फल प्रदान करती है। प्रभाकर कर्ता में योग्यता न मानकर कर्ता के प्रयत्न में योग्यता स्वीकार करता है, क्योंकि यागादिकर्ता के प्रयत्न से ही कर्म उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से यज्ञादि कर्म तथा परिणाम के मध्य अपूर्व एक आध्यात्मिक कड़ी है।[3] प्रभाकर का तर्क है कि सर्वव्यापक आत्मा से शक्ति (योग्यता) नहीं स्वीकार की जा सकती, कि वह सर्वव्यापक होने के कारण निष्क्रिय है। इस प्रकार प्रभाकर के मतानुसार योग्यता अथवा शक्ति की कल्पना कर्म में ही करनी उचित है, न कि कर्ता में।

यहाँ यह तथ्य गम्भीर दृष्टि से विचारणीय है कि मीमांसादर्शन के अनुसार यागादि में नियोज्य पुरुष के अभिलषित फल का कारण कार्य है, न कि कर्म। इस सम्बन्ध में यह विचार्य है कि कार्य कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म अन्तिम परिणाम का साक्षात् कारण नहीं है। यह बात अटपटी अवश्य लगती है, किन्तु वास्तविकता यह है कि कार्य की उत्पत्ति कर्ता के प्रयत्न (कृति) द्वारा होती है, जिसका कारण नियोग (प्रेरणा) है।[4] प्रयत्न, यागादि कर्ता में कार्य का उत्पादक है, जो (प्रयत्न) कर्ता के लिए प्रेरणा का ही कार्य करता है, जिससे वह कर्म के प्रति प्रयत्नशील होता है। किन्तु इस विषय में प्रभाकर के शिष्य शालिकनाथ मिश्र का कथन है कि नियोग भी बिना भाग्य के परिणामोत्पादक नहीं हो सकता।

वार्त्तिककार उद्योतकर को 'अपूर्व' सिद्धान्त कथमपि स्वीकार नहीं है।[5] इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क विचारणीय हैं–

१. अपूर्व नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि इसे नित्य मानने से कर्म (पुण्य-पाप) भी नित्य

---

१. पूर्वमीमांसासूत्र, २-१-५.
२. यागादिजन्यः स्वर्गादिजनकः कश्चन गुणविशेषः। भीमाचार्य, न्यायकोश।
३. देखिए, ब्र० सू० शा० भा० ३।२।४०
४. मीमांसादर्शन, ३.१.३.
५. न्यायवार्त्तिक, १.१.७

स्वीकार करने होंगे, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को नित्य-अमर मानना पड़ेगा। व्यक्ति के जीवन का आधार पाप-पुण्य ही तो हैं।

२. यह नहीं कहा जा सकता कि अपूर्व एक है, अथवा अनेक। यदि अपूर्व एक माना जाएगा, तो यह भी स्वीकार्य होगा कि सभी के सुख-दुःख समान हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अपूर्व एक है, किन्तु इसकी अभिव्यक्ति के साधन अनेक हैं, क्योंकि यह ज्ञात नहीं है कि अभिव्यक्ति का साधन क्या है, क्या यह परिणामोत्पादक शक्ति है। यद्वा अपूर्व से सम्बद्ध धर्म (Property) है।

३. यदि कहा जाए कि अपूर्व गुप्त है, तो यह गुप्त किस प्रकार रहता है, तथा इसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है, यह अस्पष्ट है।

४. शंकराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र-भाष्य में अपूर्व सिद्धान्त का निराकरण करते हुए कहा है, कि अपूर्व अनाध्यात्मिक नहीं है, अतः इसे कार्यशील करने के लिए आध्यात्मिक तत्त्व की अपेक्षा है। शङ्कराचार्य का मत है कि कर्म-फल-सिद्धान्त की व्याख्या मात्र 'अपूर्व' से सम्भव नहीं है। शङ्कराचार्य का तर्क है कि यदि यह स्वीकार किया जाए कि ईश्वर 'अपूर्व' के अनुसार कार्य (कर्म-फल विधान) करता है, तो यह तो वेदान्त सिद्धान्त ही है, क्योंकि वेदान्त में ईश्वर सदसत् कर्म के अनुरूप ही फल की व्यवस्था करता है।[1]

ईश्वर–जैसा कि कहा जा चुका है ईश्वर के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दर्शन-पद्धतियों में भिन्न-भिन्न मतवाद मिलते हैं। नैयायिक यदि ईश्वर को संसार का निमित्त कारण मात्र मानता है, तो वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत ईश्वर के सम्बन्ध में कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त ही नहीं मिलता। सांख्य यदि एक प्रकार से निरीश्वरवादी है तो योग में एक विशेष पुरुषरूप में ईश्वर की कल्पना की गई है। वेदान्त का ईश्वर मायावी है। इस विषय में मीमांसा की स्थिति विचित्र है–वह न ईश्वर का खण्डन ही करता है और न मण्डन ही। मीमांसा में भी ईश्वर के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणाएँ मिलती हैं। प्राचीन मीमांसा के अन्तर्गत ईश्वर को नहीं स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत परवर्ती मीमांसकों ने किसी-न-किसी रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है। लौगाक्षिभास्कर एवं आपदेव ने ईश्वरार्पण बुद्धि से किए गए कार्य को मोक्ष का हेतु माना है।[2] प्रभाकरविजय के अन्तर्गत ईश्वर-सम्बन्धी आनुमानिकता का खण्डन करते हुए ईश्वर की स्पष्ट सत्ता स्वीकार की है।[3]

---

१. कर्मापेक्षाद् अपूर्वापेक्षाद् वा यथास्तु तथास्तु ईश्वरात् फलम्। ब्र० सू० शा० भा० ३.२.४१।

२. ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठाने प्रमाणाभावः। 'यत्करोषि यदश्नासीति' भगवद्गीतास्मृतेरेव प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात्। अर्थसंग्रह, पृ० १६६ तथा मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० १६०।

३. एवं चानुमानिकत्वमेवेश्वरस्य निराकृतम्। नेश्वरोऽपि निराकृतः। अत एव न प्रभाकरगुरुभिरीश्वर-निरासः कृतः। तत्समर्थनं च वेदान्तमीमांसायां क्रियत इत्यभिप्रेतम्। प्रभाकरविजय, पृ. ८२।

धर्म–धर्म मीमांसादर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य है। इसीलिए जैमिनि ने मीमांसासूत्र के दूसरे सूत्र–'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' में ही धर्म का लक्षण किया है। इस सूत्र के अनुसार चोदना के द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है। चोदना–भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों के बोध कराने में जैसी समर्थ है वैसी शक्ति न तो इन्द्रियों में है और न अन्य किसी पदार्थ में।

मीमांसा के धर्म का उपर्युक्त स्वरूप सप्रमाण है। परन्तु मीमांसा के प्रमाण, प्रत्यक्षादि से भिन्न हैं। मीमांसा के अन्तर्गत धर्म में विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, आचार, नामधेय, वाक्यशेष तथा सामर्थ्य–ये आठ प्रमाण स्वीकार किये गए हैं। यहाँ इनका संक्षिप्त निरूपण आवश्यक है।

(१) **विधि**–वेद-वाक्यों का प्रमुख उद्देश्य विधि का प्रतिपादन है। विधि धर्म में प्रमाण है, क्योंकि इसके द्वारा अन्य प्रमाणों से अज्ञात और अलौकिक कल्याण के साधन यज्ञादि का विधान किया जाता है।

(२) **अर्थवाद**–वेद का दूसरा भाग अर्थवाद है। ज्ञानप्रतिपादक वाक्य क्रिया की स्तुति या निषेध के प्रतिपादक होने के कारण परम्परया क्रियापरक हैं। इन्हीं वाक्यों को 'अर्थवाक्य' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'वायव्यश्वेतमालभेत भूतिकामः' अर्थात् जो ऐश्वर्य चाहता है, वह वायव्य याग करे, यह तो विधिवाक्य है; परन्तु इसके अनन्तर उक्त वाक्य के समीप में–'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' अर्थात् वायु तीव्र गति से चलने वाला देवता है, वही इसको ऐश्वर्य की प्राप्ति कराता है, यह अर्थवाद वाक्य है। विधि के साथ अर्थवाद वाक्यों की एकवाक्यता हो जाने पर विधि को प्रशंसा मिल जाती है और अर्थवाद वाक्यों का विशेष अर्थ की स्तुति के द्वारा क्रिया के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। 'वायव्यश्वेतमालभेत भूतिकामः' इस विधिवाक्य ने वायव्य याग में प्रवृत्त करने की प्रेरणा तो दी, परन्तु उक्त विधिवाक्य के पालन में जो प्रमाद और आलस्य सम्भव है उसे बाधित मानव को पुनः प्ररेणा देने के लिए ही, वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता···' इस उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य के द्वारा वायु की प्रशंसा की गई है। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य कहीं विधेय क्रिया की साक्षात्, कहीं उससे सम्बन्धित द्रव्य और देवता आदि की प्रशंसा करते हुए, प्रमाण बनते हैं।

(३) **मन्त्र**–तत्तत् कर्मों का अनुष्ठान करते समय उनसे सम्बन्धित क्रियाओं, अंगों, द्रव्यों एवं देवताओं का प्रकाशन करना मन्त्रों का कार्य है। मन्त्रों का उक्त कार्य ही कर्मकाण्ड का विशेष प्रयोजन है। मन्त्र-स्मरण के बिना न कर्म के अंगों की स्मृति हो पाती है और न उनके क्रम की व्यवस्था ही समुचित हो पाती है। विधि के अनुसार भी मन्त्रों द्वारा स्मरण प्रशस्त बतलाया गया है।

वैज्ञानिक आलोचना की दृष्टि से वैदिक मन्त्रों के तीन भाग किए जा सकते हैं–करणमन्त्र, क्रियमाणानुवादि मन्त्र और अनुमन्त्रण मन्त्र। करणमन्त्र वे मन्त्र हैं जो कर्म करने के पूर्व उच्चरित किये जाते हैं, जैसे 'इषे वा' एवं 'याज्या पुरोनुवाक्या' आदि। क्रियमाणानुवादि मन्त्र वे मन्त्र हैं जहाँ मन्त्र बोलने के साथ-साथ कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, जैसे 'युवा सुवासा' आदि। 'युवा सुवासा' के उच्चारण के साथ-साथ ही यूप के ऊपर कपड़ा आदि लपेटते जाते हैं। तीसरे प्रकार के मन्त्र अनुमन्त्रण मन्त्र हैं। ये मन्त्र कर्म करने के पश्चात् उच्चरित किये जाते हैं जैसे–अग्नेरहं "देव यज्ययाऽन्नादो भूयासम् ।"

इस प्रकार मीमांसक पदार्थ द्वारा मन्त्रों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं क्योंकि मन्त्र पदार्थ हैं।

(४) **स्मृति**–स्मृतियाँ भी धर्म के प्रति प्रमाण हैं, जैसे मनु, याज्ञवल्क्य और पराशर आदि की स्मृतियाँ धर्म के सम्बन्ध में प्रमाण-रूप मानी गई हैं। सम्पूर्ण वेदों एवं शास्त्रों के रहस्य-ज्ञाता मन्वादि ने यत्र-तत्र विकीर्ण एवं शाखान्तर में गये वाक्यों को स्मृति के आधार पर उद्धृत कर एक जगह ग्रथित कर दिया है। यही स्मृतिग्रन्थ हैं। इस प्रकार वेद-मूलकता के ही कारण उनका प्रामाण्य है, परन्तु स्मृतियों का स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं है।

(५) **आचार**–धर्म के प्रति आचार की प्रामाणिकता भी विशेष रूप से स्वीकार्य है, परन्तु लोक-धर्म की रक्षा के लिये भिन्न-भिन्न देशों के अनुसार भिन्न-भिन्न आचार ग्राह्य हैं। आचार की महत्ता के सम्बन्ध में 'आचारहीनान्न पुनन्ति वेदाः' उक्ति तो प्रसिद्ध ही है।

(६) **नामधेय**–नामधेय द्वारा विधेय अर्थ का अन्य अर्थों से व्यावर्तन हो जाता है, अत एव यह भी धर्म में प्रमाण है। उदाहरण के लिए, ज्योतिष्टोम आदि जो यज्ञों के नामधेय हैं वे उन्हें अन्यों से व्यावृत्त कराते हैं।

(७) **वाक्यशेष**–वाक्यशेष भी सन्दिग्ध अर्थ का निर्णय कराते हुए धर्म में प्रमाण बनता है।

(८) **सामर्थ्य**–सामर्थ्य के द्वारा भी सन्दिग्ध अर्थ का निर्णय होता है। जो वाक्य-शेष ही की तरह धर्म में प्रमाण के रूप में स्वीकार्य है।

इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार उपर्युक्त आठ प्रमाणों के द्वारा धर्म की प्रामाणिकता स्वीकार की गई है।

भावना–'भावना' मीमांसकों का सर्वस्वभूत सिद्धान्त है। आर्यदेव ने भावना का लक्षण–'भवितुर्भवनानुकूलो भावकत्वव्यापारविशेषः'[२] किया है, जिसका अर्थ उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल प्रयोजकनिष्ठ व्यापार या प्रेरणा है। वैदिक वाक्यों के श्रवण के पश्चात् तत्तत् क्रियाओं के अनुष्ठान के लिए जो प्रेरणा होती है उसे ही भावना कहते हैं। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट का 'कैटेगॉरिकल इम्पैरेटिव' मीमांसक की भावना के अधिक समीप है। मीमांसक की भावना के भी दो भेद हैं : एक शाब्दी भावना और दूसरी आर्थी भावना। उदाहरणार्थ, 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में 'यजेत' इस क्रियारूप में दो अंश हैं : एक यज्धातु तथा दूसरा लिङ्लकार। लिङ्लकारजन्य भावना शाब्दी भावना है, तथा आख्यातजन्य भावना आर्थी भावना है।

आचारतत्त्व

कोई भी दर्शन पद्धति आचारपक्ष के बिना अपूर्ण है। अत एव बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक, सांख्ययोग, पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त के अतिरिक्त वैष्णव, शैव एवं शाक्त सभी दर्शनों में आचार को न्यूनाधिक रूप में स्वीकार किया गया है। धर्म का प्रमुख धर्मध्वज होने के कारण मीमांसा आचार-सम्राट् है। वैदिक कर्मकाण्ड धर्म का साक्षात् स्वरूप है। मीमांसादर्शन का उद्देश्य ही अधर्म अर्थात् अनाचार से विरत करना तथा धर्म अथवा सदाचार में प्रवृत्त करना है। वेदविहित 'विधि' का यही उद्देश्य है।

किन्तु वैदिक आचार पक्ष की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि वह लोक एवं परलोक दोनों का साधक है। इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड ही मीमांसा की आचारसंहिता है। मीमांसादर्शन के अन्तर्गत काम्य, निषिद्ध, नित्य एवं नैमित्तिक, इन चार प्रकार के कर्मों की व्याख्या की गई है। **काम्य कर्म** किसी न किसी कामना से किए गए कर्म हैं, जैसे पुत्र की कामना से किया गया 'पुत्रेष्टि' नामक यज्ञ। **निषिद्ध** कर्म नरकादि अनिष्ट के साधनभूत ब्राह्मणहत्या आदि कर्म हैं।[1] **नित्य** कर्म सन्ध्यावन्दन आदि हैं जिनके न करने पर पाप लगता है। **नैमित्तिक** कर्म वे कर्म हैं, जो पुत्रप्राप्ति की कामना आदि से किए जाते हैं, जैसे–पुत्रेष्टि या जातेष्टि यज्ञ। स्वर्गादि के साधक कर्म हैं–ज्योतिष्टोम यज्ञ। इन नित्यादि कर्मों का बुद्धि-शुद्धि परम प्रयोजन है।[2] यदि देखा जाए तो सदाचरण का मूल चित्तशुद्धि या बुद्धिशुद्धि ही हैं।

श्रुति ही नहीं, स्मृति भी सदाचार का पथ-प्रदर्शन करती है। किन्तु स्मृति द्वारा उपदिष्ट वे विधान एवं नियम ही अनुकरणीय हैं, जिनका श्रुति से विरोध नहीं है। अतः जिन स्मार्त्त नियमों के पीछे स्वार्थ की प्रेरणा है, वे सर्वथा त्याज्य हैं। वैदिक एवं स्मार्त्त कर्त्तव्य कर्मों के अतिरिक्त कुछ ऐसे नियम भी आचरणीय हैं जिनका आधार उपयोगिता है। इसके विपरीत वैदिक आचार एवं धर्म की यह विशेषता अवलोकनीय है, कि वह प्रायः जन साधारण द्वारा स्वीकृत है, एवं उसका समाज कल्याण से सीधा सम्बन्ध है। इस प्रकार वैदिक धर्म एवं आचार की सामाजिक चेतना वेदोपदिष्ट नियमों के पालन की पुनरपि पुष्टि करती है। अत एव कुमारिल वेदोक्त पथ का अनुसरण करने का आदेश देते हुए भी समाजकल्याण एवं परहित की दृष्टि से आचरणीय नियमों को विश्वासयोग्य कहता है।[3] वस्तुतः कुमारिल नीरक्षीर-विवेकी है, क्योंकि वह आचारशील बौद्ध के अहिंसासिद्धान्त की तो प्रशंसा करता है, किन्तु उसकी वेदविरुद्धता की निन्दा करता है। बौद्धों के सत्य एवं असत्य अंश के मिश्रण की तुलना करते हुए कुमारिल का कथन है कि यह कुत्ते की खाल में रखे हुए क्षीर (दूध) के समान है।[4]

वेदविहित कर्मफल एवं कुमारिल तथा प्रभाकर

वेदोक्त कर्म के फल की अभिलाषा के सम्बन्ध में मीमांसकों में मतभेद है। कुमारिल का मत है कि यज्ञादि कर्म के अनुष्ठान में मनुष्य तभी प्रवृत्त होता है, जब उसे यह ज्ञान हो कि अमुक कर्म के सम्पादन से उसे अमुक फल की प्राप्ति होगी। यही 'इष्टसाधनता ज्ञान' (इष्ट-अभिलषित वस्तु के साधन का ज्ञान) कहलाता है। परन्तु इस विषय में प्रभाकर का मत भिन्न है। प्रभाकर मानता है कि वेदविहित कर्म के सम्पादन में 'कार्यता ज्ञान' कारण है। 'कार्यता ज्ञान' का अभिप्राय है कि मनुष्य को वेदविहित कर्म को कर्तव्य बुद्धि से करना चाहिए। उदाहरण के लिए, काम्यकर्म का सम्पादन कुमारिल की दृष्टि से किसी फल विशेष की कामना से किया जाता है। किन्तु प्रभाकर ऐसा नहीं स्वीकार करते। प्रभाकर का कथन है कि काम्य कर्म का निर्देश वास्तविक अधिकारी की योग्यता-परीक्षा की दृष्टि से किया

---

१. निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मण-हननादीनि। वेदान्तसार, १

२. एतेषां नित्यादीनां बुद्धि-शुद्धिः परमं प्रयोजनम्।

३. श्लोकवार्त्तिक, २.४२-४७।

४. श्वचर्मनिक्षिप्तक्षीरवत्। तन्त्रवार्त्तिक, १.३.६।

गया है। अर्थात् तत्तत् कर्मों का सम्पादक व्यक्ति उस कर्म के सम्पादन का अधिकारी सिद्ध होता है, या नहीं। इस प्रकार वैदिक कर्मों कृत्यों (ज्योतिष्टोम आदि) में व्यक्ति के कल्याण की भावना आधारभूत है। नित्यधर्म के विषय में, कुमारिल एवं प्रभाकर का मत नितान्त स्पष्ट है। कुमारिल जहाँ यह मानता है कि सन्ध्या-वन्दनादि नित्य कर्मों के अनुष्ठान से पाप का क्षय होता है, वहाँ उसके न करने से व्यक्ति पाप का भागी होता है, वहाँ प्रभाकर का कहना है कि सन्ध्या-वन्दनादि वेदोक्त होने के करण, सम्पाद्य हैं, फल की कामना से करणीय नहीं हैं। यहाँ यह टिप्पणी सङ्गत होगी कि फल की कामना न होने पर भी नित्यादि प्रत्येक कर्म का फल तो स्वाभाविक ही है। इस प्रकार यह कहना होगा कि मीमांसा का कर्मवाद जो वैदिक कर्मकाण्ड पर आधारित है, व्यक्ति के दैनिक जीवन व्यवहार का स्वरूप है। किन्तु यहाँ यह भी निःसङ्कोच स्वीकार होना चाहिए कि वास्तविक श्रद्धा एवं विश्वास के अभाव में कर्मकाण्ड का जीवन एक यान्त्रिक व्यवहारमात्र है।

मोक्ष–मोक्ष का लक्षण शास्त्रदीपिका में–'प्रपंचसम्बन्धविलयो मोक्षः' कहकर किया गया है। इस लक्षण के अनुसार आत्मा के प्रपंच-सम्बन्ध के विलय का नाम ही मोक्ष है। उक्त मत भाट्ट-मीमांसक का है। प्रभाकर के मत में, 'नियोगसिद्धि ही मोक्ष' है। प्रभाकर के मतानुसार किसी बाह्य फल की कामना किये बिना कर्तव्य-बुद्धि से नित्य-कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। इस प्रकार प्रभाकर भाट्टमत की तरह प्रपंच-सम्बन्ध-विलय को मुक्ति नहीं मानते। मुक्तावस्था के सम्बन्ध में भी मीमांसकों में पर्याप्त मतभेद हैं। मुक्तावस्था के सम्बन्ध में स्वयं भाट्टों में ही दो मत हैं। एक मत के अनुसार, मुक्तावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है।[1] यह मत कुमारिलभट्ट का है। उक्त मत के विपरीत, पार्थसारथि के मतानुसार, मुक्तावस्था में सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है।[2] गुरु-मत में मुक्ति का स्वरूप भाट्टों के उक्त दोनों मतों से भिन्न है। गुरु-मत के अनुसार तो आत्मज्ञानपूर्वक दृष्टि से किये गए वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से धर्माधर्म का विनाश हो जाने पर देह तथा इन्द्रियादि सम्बन्ध का जो आत्यन्तिक विच्छेद होता है, वही मोक्ष है।[3]

अद्वैत वेदान्त और मीमांसादर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

यदि भारतीय षड्दर्शन-पद्धतियों के सम्बन्ध मे युगल कल्पना की जाए तो दार्शनिक समानताओं एवं पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर तीन युगल बनते हैं : एक न्याय और वैशेषिक का, दूसरा सांख्य और योग का और तीसरा पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा (अर्थात् वेदान्त) का। वास्तव में, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा कि आरम्भ में ही मीमांसादर्शन की चर्चा करते समय कहा जा चुका है, पूर्वमीमांसा वैदिक दर्शन का पूर्व पक्ष है और उत्तरमीमांसा, अर्थात् वेदान्त

---

१. दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा मुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः।। मानमेयोदय, पृ० २१२।

२. दोनों मतों के लिए देखिए, वेदान्तकल्पलतिका, पृ० ४।

३. वेदान्तकल्पलतिका, पृ० ४।

उत्तर पक्ष का सिद्धान्त पक्ष।[1] पूर्वमीमांसा का उद्देश्य यदि धर्म और कर्म के महत्त्व की स्थापना है तो उत्तरमीमांसा का उद्देश्य कर्म और ज्ञान का सामंजस्य है। मीमांसक के धर्म में कर्म और ज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना है; परन्तु वेदान्त में ज्ञान और कर्म के भेद को ही मिटाने का प्रयत्न है। इस प्रकार वेदान्तिक दृष्टि से ज्ञान स्वतः कर्म का ही रूप है।[2] पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के पारस्परिक सम्बन्ध के अध्ययन के दृष्टिकोण से आत्मा, ईश्वर तथा मोक्ष के सम्बन्ध में दोनों दर्शन-पद्धतियों के अनुसार विचार करना उपयुक्त होगा।

आत्मा–स्वयं मीमांसा में ही आत्मा के सम्बन्ध में प्रभाकर और कुमारिल की दो भिन्न दृष्टियाँ हैं। भाट्ट-मीमांसक के मतानुसार, आत्मा की सक्रियता को स्वीकार किया गया है। भाट्ट-मीमांसक के अनुसार कर्म के दो भेद हैं : स्पन्द तथा परिणाम। आत्मा में स्पन्द न होकर परिणाम होता है।[3] कुमारिल के मत में परिणामी के नित्य होने के कारण आत्मा परिणामी होते हुए भी नित्य है। भाट्ट-मीमांसक का आत्मा चिदचिद्विशिष्ट है। सुख, दुःख, इच्छा तथा प्रयत्नादि आत्मा के अचिदंश के परिणाम हैं।[4] भाट्ट-मीमांसक के अनुसार, आत्मा में जडत्व तथा चैतन्य दोनों हैं। शरीर तथा विषय का संयोग होने पर आत्मा में चैतन्य-उदय देखा जाता है तथा स्वप्नावस्था में विषय-सम्पर्क से रहित होने पर आत्मा में चैतन्य नहीं रहता। यही आत्मा की जडावस्था है। यहाँ मीमांसक कुमारिल और वेदान्त मत का अन्तर द्रष्टव्य है। वेदान्त का आत्मा चैतन्यस्वरूप है, परन्तु मीमांसक कुमारिल के अनुसार, आत्मा चैतन्यविशिष्ट है।

प्रभाकर का आत्मा-सम्बन्धी मत कुमारिल के मत से भिन्न है। कुमारिल की तरह प्रभाकर आत्मा में क्रियावत्ता को नहीं स्वीकार करते। कुमारिल के अनुसार आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है, तथा उनके मत में आत्मा ज्ञान का कर्ता एवं विषय दोनों है; परन्तु प्रभाकर के मतानुसार, आत्मा को 'अहंप्रत्यय-वेद्य' कहा गया है। इस प्रकार प्रभाकर मीमांसक के अनुसार आत्मा की सत्ता प्रत्येक ज्ञान के कर्ता रूप में मानी गई है।[5] इस प्रकार मीमांसक के अनुसार, आत्मा के कर्तव्य के आधार पर उसमें अहंकार की कल्पना भी की गई है। इसके विपरीत वेदान्तिक दृष्टि से आत्मा में कर्तव्य और ज्ञातृत्व

---

१. For the line of thought commenced by the Mīmāṁsā is completed by Vedānta, which constitutes the last word on the problem of the soul with reference to both knowledge and action. (N.V. Thadani, Mīmāṁsā, Introduction, p. CXI.)

२. N.V. Thadani, Mīmāṁsā, XLIX.

३. यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत्॥ श्लो० वा०, पृ० ७०७।

४. चिदंशेन द्रष्टव्यं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामित्वम्। स आत्मा अहंप्रत्ययेनैव वेद्यः। (कश्मीरक सदानन्द : 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि')

५. मानमेयोदय, पृ० १६२-१६४।

दोनों का समन्वय है।[१] इस विवेचन से सुस्पष्ट है कि मीमांसा और वेदान्तिक सिद्धान्तों में पारस्परिक सम्बन्ध होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है।

ईश्वर–जैसा कि कहा जा चुका है, आपदेव तथा लौगाक्षिभास्करादि मीमांसकों ने ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है। लौगाक्षिभास्कर का कथन है कि ईश्वरार्पण-बुद्धि से किया गया कर्म निःश्रेयस का हेतु होता है।[२] कर्मों के सम्बन्ध में ईश्वरार्पण-बुद्धि की यह बात वेदान्त के समान ही है।[३] जहाँ तक प्राचीन मीमांसा का प्रश्न है, जैमिनि के अनुसार धर्म से ही विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है, ईश्वर के द्वारा नहीं।[४] इसके विपरीत ब्रह्मसूत्रकार बादरायण के अनुसार ईश्वर कर्म-फल का दाता है।[५] यद्यपि उपर्युक्त दृष्टिकोण के आधार पर मीमांसा और अद्वैत वेदान्त के ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त भेद है, परन्तु यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि मीमांसा में जिस बहुदेववाद की स्थापना की गई है, उसी से वेदान्तियों के ब्रह्म अथवा ईश्वर का विकास हुआ है।[६] यों तो पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का सम्बन्ध स्पष्ट ही है।

मोक्ष–भाट्ट एवं प्रभाकर मीमांसक के मोक्ष-सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। भाट्ट-मीमांसक के अनुसार प्रपंच-संबंध के विषय का नाम मोक्ष है।[७] वेदान्तिक दृष्टि से भी जब जीव का मोक्ष होता है तो उसका प्रपंच के साथ सम्बन्ध नष्ट हो जाता है, क्योंकि प्रपंच तो मिथ्या है। अद्वैत वेदान्त विचारधारा के अनुसार समस्त प्रपंच की जननी अविद्या है। ब्रह्म-ज्ञान होने पर अविद्या-निवृत्ति हो जाती है, तो प्रपंच-बुद्धि भी नहीं रहती। अद्वैत वेदान्त की उक्त विचारधारा हमें पूर्वमीमांसा के भाट्ट सम्प्रदाय में भी मिलती है। शास्त्रदीपिका में कहा गया है, और जिस प्रकार जागने पर स्वप्न-प्रपंच नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या-निवृत्ति होने पर प्रपंच का भी स्वयं विलय हो जाता है।[८] इस प्रकार भाट्ट मत और अद्वैत वेदान्त मत के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों में पर्याप्त पारस्परिक सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। निश्चय ही, प्रभाकर मीमांसक के अनुसार, 'नियोगसिद्धिरेव मोक्षः' के आधार पर जिस मोक्ष की कल्पना की गई है, यह अद्वैतवेदान्ती की मुक्ति से पर्याप्त भिन्न है। प्रभाकर के उक्त

---

१. N.V. Thadani : Mīmāṁsā Introduction, p. LXI, LXII.

२. ईश्वरार्पणबुद्ध्यां क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः।–अर्थसंग्रह, पृ० १६६।

३. शांकरभाष्य, गीता, ६।२८।

४. धर्मं जैमिनिरत एव। –ब्रह्मसूत्र, ३।२।४०।

५. ब्रह्मसूत्र, ३।२।३८।

६. It is only when we come to Vedānta that the Mīmāṁsā idea of the gods. and the Sāṅkhya idea of Prakṛti as a good and intellegent power, are expended into that of. Brahma or God. (N.V. Thadani, Mīmāṁsā. Introduction, p. LIX.)

७. शास्त्रदीपिका, पृ० ३५७।

८. अविद्यानिर्मितो हि प्रपंचः स्वप्नप्रपंचवत् प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्यया अविद्याविलीनायां स्वयमेव विलीयते।–शास्त्रदीपिका, पृ० ३५६।

कथन के अनुसार कर्त्तव्य-बुद्धि से किये गए नित्य-कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। इसके विपरीत 'नहि ज्ञानादृते मुक्तिः' के अनुसार अद्वैत वेदान्त में बिना ज्ञान के मुक्ति की कल्पना नहीं की गई है। अद्वैत वेदान्त में तो नित्य-कर्म आदि कर्म परम्परया कारण हैं, न कि साक्षात्। अतः प्रभाकर मीमांसक और अद्वैत वेदान्त सम्मत मोक्ष-सम्बन्धी धारणाएँ भिन्न-भिन्न हैं।

मुक्ति के स्वरूप-निर्णय के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त में मुक्ति की अवस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है।[1] वैसे तो मन द्वारा भोग्य सुख तथा ब्रह्मानन्द में पर्याप्त अन्तर है, परन्तु दुःखाभाव दोनों में ही है।

उपर्युक्त रीति से विचार करने पर यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि पूर्वमीमांसा एवं अद्वैतवेदान्त में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों में पहला यदि पूर्वपक्ष है तो दूसरा उत्तरपक्ष।

यों तो षड्दर्शन के अन्तर्गत प्रत्येक दर्शन-पद्धति का एक-दूसरी से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु उनमें भी कुछ-एक का विशेष सम्बन्ध है–जैसे न्याय और वैशेषिक का, सांख्य और योग का और पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा का। उत्तरमीमांसा या वेदान्त का तो उपर्युक्त पाँचों दर्शनों से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहाँ यह कथन अनुचित न होगा कि न्याय आदि समस्त दर्शनों का पर्यवसान वेदान्त में ही जाकर होता है। इसका कारण यही है कि भारतीय दर्शन-पद्धतियों के विकास का मूल उपनिषद् ग्रन्थ हैं।[2] और इन उपनिषद्-ग्रन्थों का समन्वयभूत सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त हैं।[3]

निष्कर्ष सूत्र

नास्तिकवाद को रोकने एवं वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की दृष्टि से मीमांसा का योगदान भारतवर्ष के सामाजिक एवं दार्शनिक परिवेष में विशेष रूप से विचार्य एवं प्रशंसनीय है। इसके अतिरिक्त मीमांसा दर्शन की यह विशेषता भी उल्लेखनीय है कि उसमें स्वर्ग के सुख की कामना के निमित्त सत् की प्रेरणा एवं नरक की हेयता को दृष्टि में रखकर असत् कर्म के निराकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। चाहे, स्वर्ग-नरक की अस्तिता हो अथवा न हो, किन्तु इस कल्पना ने समाज को सत्पथ का प्रदर्शन निश्चित रूप से किया है। साथ ही साथ भारतीय संस्कृति, धर्म, धार्मिकों, आचार्यों, विद्वानों, वृद्धों एवं

---

१. मानमेयोदय, पृष्ठ २१२।

२. *Ranade* : Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy, p. 178-179. (Oriental Book Agency, Poona)

३. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्। –वेदान्तसार, पृ० २ (चौखम्बा संस्करण)।

वरिष्ठ पारिवारिकों के प्रति श्रद्धा के पवित्र भाव की प्रतिष्ठा भी मीमांसा के द्वारा ही सम्भव हुई थी। इस प्रकार समस्त समाज में श्रद्धा एवं पवित्रता तथा सद्भाव का वातावरण उत्पन्न करना मीमांसा की महत्त्वपूर्ण सामाजिक देन कही जाएगी। दार्शनिक दृष्टि से 'अपूर्व' सिद्धान्त मीमांसादर्शन का अपूर्व एवं विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण देन के रूप में स्वीकारा जाता है। 'अपूर्व' यज्ञादि कर्मकर्ता की वह शक्ति है, जो उसे कर्मसम्पादन के पश्चात् उपलब्ध हुई है, तथा स्वभावतः जिसकी सत्ता फलपूर्ववर्त्तिनी है। निश्चित ही, वह कर्म सम्पादन के पूर्व नहीं थी, अत एव वह अपूर्व कही गई है। उसका फल कर्म के सम्पादनकर्त्ता को जीवन में कभी भी मिल सकता है। यही 'अपूर्व' है। 'अपूर्व' का यह सिद्धान्त गीतावर्ती "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" सिद्धान्त ही तो है। कर्म का फल अवश्यम्भावी है, इस सिद्धान्त का निराकरण न गीता करती है, और न वेदान्त। यहाँ यह कथन समुचित होगा कि जैसा कि मीमांसा ने स्वीकार किया है, यदि अपूर्व अदृष्ट शक्ति के रूप में व्यक्ति के कर्मफल का व्यवस्थापक है, तब तो यह शब्दान्तर से ईश्वर की ही कल्पना कही जा सकती है। वास्तविकता तो यह है कि ईश्वरीय सत्ता भारतीय दर्शन की एक अनिवार्य अपेक्षा थी, जिसे स्पष्ट रूप से उपनिषदों सहित सभी आस्तिक दर्शनों को देर-सबेर स्वीकार करना ही पड़ा। जैसा कि सांख्यदर्शन के प्रकरण में कहा जा चुका है, निरीश्वर सांख्य में ईश्वराभाव की न्यूनता के कारण विज्ञानभिक्षु का "सेश्वर सांख्य" विकसित हुआ था। योग में तो 'पुरुष विशेष' ईश्वर का ही रूप था। इसी प्रकार न्याय ने भी अनुमान के आधार पर ईश्वर को स्वीकार किया था। क्या, इसी विचार परम्परा में 'सेश्वर मीमांसा' नहीं आती। यद्यपि जैमिनि प्रभृति प्राचीन मीमांसकों ने ईश्वर की सत्ता को न स्वीकार कर यज्ञ को ही सब कुछ माना था, किन्तु आपदेव एवं लौगाक्षिभास्कर प्रभृति परवर्त्ती मीमांसकों ने स्पष्ट रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया था।[1] मीमांसक प्रभाकर एवं उनके अनुयायी भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रभाकर ईश्वर की अनुमानगम्यता का तो खंडन करते हैं, किन्तु ईश्वर का नहीं।[2] वैष्णवाचार्य वेदान्तदेशिक ने भी ईश्वर की अपेक्षा का अनुभव करते हुए 'सेश्वर मीमांसा' ग्रन्थ के अन्तर्गत मीमांसा एवं वेदान्त का समन्वय प्रस्तुत करते हुए ईश्वर तत्त्व की प्रतिष्ठा का बलपूर्वक समर्थन किया था। वास्तविकता तो यह थी, कि किसी दैविक शक्ति को स्वीकार किए बिना 'अपूर्व' द्वारा कर्मफल की व्यवस्था

---

१. ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः, न च तदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठाने प्रमाणाभावः। "यत् करोषि यदश्नासीति" भगवद्गीतास्मृतेरेव प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे–तत् प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात्। अर्थसंग्रह, पृ० १६६, तथा देखें, मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० १६७।

२. एवं चानुमानिकत्वमेवेश्वरस्य निराकृतम् नेश्वरोऽपि निराकृतः। अत एव न प्रभाकरगुरुभिः ईश्वरनिरासः कृतः। तत्समर्थनं च वेदान्तमीमांसायां क्रियते। प्रभाकरविजय, पृ० ८२।

का दर्शन तर्क समीचीन नहीं था। इसीलिए उत्तरवर्त्ती मीमांसकों एवं अन्य दार्शनिकों ने मीमांसा में ईश्वरतत्त्व की प्रतिष्ठापना की थी। यह स्वीकार्य है कि 'अपूर्व' कर्मोत्पन्न है, एवं जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, कर्म एवं फल की मध्यवर्तिनी शृंखला है,[1] किन्तु समस्या यह है कि भौतिक कर्म से उत्पन्न अनाध्यात्मिक 'अपूर्व' के फल की व्यवस्था के लिए किसी आध्यात्मिक दैविक प्रेरणा शक्ति एवं कर्तृत्व की अनिवार्य अपेक्षा है, अत एव उत्तरवर्त्ती मीमांसकों को भी ईश्वर को स्वीकार करने में हिचकिचाहट नहीं थी। वेदान्त में आकर तो ईश्वरसिद्धान्त पूर्णतया प्रतिष्ठापित हो गया था, जहाँ धर्माधर्म के प्रेरक एवं कर्मफल के दाता के रूप में ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण किया गया था। ईश्वर सिद्धान्त का निरूपण अग्रिम अध्याय में वेदान्त सिद्धान्तों के विवेचन के अवसर पर किया जाएगा।

जिस प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में प्राचीन एवं उत्तरवर्त्ती मीमांसकों में मतान्तर है, उसी प्रकार देवता (देवत्व) के सम्बन्ध में भी मीमांसकों में मतभेद मिलता है। मीमांसा यज्ञ के अभिप्राय से इन्द्र, वरुण आदि अनेक देवों को स्वीकार करती है, अन्यथा यज्ञ की आहुतियों का उद्देश्य क्या होगा। देवता ही यज्ञ में आहुति देकर प्रसन्न किए जाते हैं। मीमांसक देवताओं के शारीरिक रूप को नहीं स्वीकार करते। इस सम्बन्ध में शबर का मत है कि वेदवर्णित देवों का स्वरूप स्तुतिपरक है। शाबरभाष्य में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा गया है, कि यह कथन, कि हमने आपका हाथ पकड़ लिया है, यही बोध कराता है कि हम आपकी शरण में आ गए हैं।[2] प्रभाकर एवं कुमारिल दोनों ही देवताओं के शरीरधारी स्वरूप को नहीं स्वीकार करते। प्राचीन एवं उत्तरकालिक मीमांसकों का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि जहाँ प्राचीन मीमांसक देवताओं की वास्तविकता को स्वीकार करते थे, वहाँ उत्तरकालिक मीमांसक देवताओं पर बल न देकर मन्त्रों पर ही विशेष रूप से दत्तचित्त रहते थे, क्योंकि उनका मानना था कि मन्त्रों से ही फल की प्राप्ति होती है। ये देवताओं को काल्पनिक मानते हुए भी, उन्हें यज्ञाहुति फलेप्सा से देते थे।[3] किन्तु एक ओर देवताओं को कल्पना मात्र मानना, और दूसरी ओर उन्हें प्रसन्न करके फलप्राप्ति की कामना करना परस्पर विरोध नहीं तो क्या है। मैं समझता हूँ, जब देवता के आन्तरिक स्वरूप को ये मीमांसक स्वीकार ही करते हैं, तो उनके बाह्य स्वरूप को स्वीकारने में क्या आपत्ति है। जो भीतर, सो बाहर। यह धारणा उत्तरवर्त्ती मीमांसकों का पाखंड मात्र है। इस सम्बन्ध में वेदान्त की दृष्टि समुचित एवं प्रशंसनीय है, कि वह ईश्वर के सगुण रूप को स्वीकार करता है, एवं देवादि की प्रतीकोपासना को भी अङ्गीकार करता है। वैसे, मीमांसा में देवताओं का विग्रह भी स्वीकार किया गया है–

---

१. अतः कर्मणो वा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वनामास्ति, इति तर्क्यते। ब्र० सू० शा० भा० ३.२.४०।

२. शाबरभाष्य, ६.१.६।

३. धर्माधर्मयोरपि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्यपदिश्यते फलस्य च दातृत्वेन 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' एष एव असाधु कर्म कारयति तं यम् अधोनिनीषते इति। ब्र. सू.शा.भा. ३.२.४१।

विग्रहो दृविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
फलदातृत्वमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम् ।।

आत्मा एवं आत्मज्ञान

आत्मा, आत्मज्ञान एवं ज्ञान के सम्बन्ध में मीमांसकों ने सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हुए, आत्मा को वेदान्त के समान स्वयं प्रकाश न मानकर मानस प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार किया है। इस प्रकार आत्मज्ञान एक मानस प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के अनुसार अहं चेतना के मन्थन एवं मनन के द्वारा शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व का बोध होता है। यह मत कुमारिल का है। आत्मा शरीर से भिन्न मनुष्य की अहंचेतना का आधार है। वस्तुतः आत्मा ही मन की चेतन तथा अवचेतन अवस्था में अहं के रूप में वर्त्तमान रहता है। जहाँ कुमारिल ने आत्मा को मानस प्रत्यक्ष का विषय कहा है, वहाँ प्रभाकर आत्मा को ही ज्ञाता स्वीकार करता है। प्रभाकर का कथन है कि वस्तु से ज्ञान के साथ ही आत्मा का ज्ञान सम्भव है। इस दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा एवं वस्तु, दोनों ज्ञान द्वारा प्रकाश्य हैं। उदाहरणार्थ, जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो उस वस्तु के ज्ञान के प्रकाश में ज्ञात के रूप में आत्मा का भी ज्ञान होता है।

किन्तु आत्मा की स्वयंप्रकाशता को न कुमारिल स्वीकारते हैं, और न प्रभाकर। इस सम्बन्ध में दोनों ही एकमत हैं, एवं ये वेदान्त विरोधी हैं। आत्मा की स्वयं प्रकाशता का निराकरण करते हुए मीमांसक का तर्क है कि यदि आत्मा स्वयंप्रकाश हुआ होता तो गहरी नींद में भी इसका अनुभव सम्भव होता, जब इन्द्रियों का समस्त व्यापार स्पन्दरहित होता है। मीमांसक पुनः अपने मत के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करते हुए कहता है कि 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' (मैं सुखपूर्वक सोया, किन्तु मुझे कुछ ज्ञान नहीं है), इस सुषुप्तावस्था में न आनन्द की स्थिति होती है, और न स्वयंप्रकाश आत्मा की ही सत्ता होती है। "मैं सुखपूर्वक सोया" यह तो दुःखाभाव की ही स्थिति है। किन्तु मीमांसक से यदि पूछा जाय कि दुःखाभाव एवं सुख अथवा आनन्द (सामान्यतया) की स्थिति में क्या अन्तर है, तो उसे भेद करना कठिन होगा। वस्तुतः आनन्द भी तो दुःखाभाव ही है। इस सम्बन्ध में वेदान्त का ही मत समीचीन है, कि सुषुप्ति में सुख-दुःख का भोक्ता अन्तःकरण आत्मा में लीन हो जाता है, किन्तु सुषुप्ति में सूक्ष्म जीव दुःखाभावरूप सुख का अनुभव सूक्ष्म वृत्ति द्वारा संस्कार के द्वारा करता है। सुषुप्ति से उठने के पश्चात् जीव उसी सुखानुभव का स्मरण करते हुए कहता है, 'मैं सुखपूर्वक सोया'। अतः मीमांसक का यह कथन समीचीन नहीं है कि सुषुप्ति में न आनन्दानुभव होता है, और न स्वयं प्रकाश आत्मा की ही सत्ता होती है। मीमांसक की ज्ञान, ज्ञाता एवं ज्ञेय विषयक मीमांसा भी उसकी सूक्ष्म एवं सतर्क चिन्तन दृष्टि का परिणाम है। ज्ञान के द्वारा ही ज्ञाता एवं ज्ञेय का बोध होता है। इस प्रकार मीमांसादर्शन के

---

१. This is indeed different from prabhakara's analysis, who regarded the cagnition of self as inseparable from the object. S.N. Dasgupta, History of Indian Philosophy, Vol. I. p. 401.

२. तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ, प्रातिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः। वेदान्तसार।

अनुसार ज्ञान स्वप्रकाशी है, अत एव वह ज्ञान के स्वतः-प्रामाण्य का समर्थन करता है। मीमांसक द्वारा स्वीकृत ज्ञान के स्वप्रकाशी गुण के सम्बन्ध में यह आक्षेप उचित नहीं है, कि जब हमारा ज्ञान ज्ञेय वस्तु के अनुरूप होता है, तब तो ज्ञान एवं ज्ञेय में कोई भेद ही नहीं होगा, दोनों एक ही सिद्ध होंगे। यह शङ्का इसलिए उचित नहीं है कि हमे संज्ञान (Cognition) एवं ज्ञेय (Cognizable) का स्पष्ट बोध होता है। अतः दोनों एक किस प्रकार सिद्ध होंगे। मीमांसक के अनुसार वस्तुज्ञान की प्रक्रिया यह है कि संवेदन के द्वारा हमारे 'स्व' के ऊपर वस्तु विशेष के धर्म का संस्कार अंकित होता है; एवं 'स्व' उस वस्तु विशेष के सन्दर्भ में सक्रिय हो जाता है। इस प्रकार जिस वस्तु की ओर 'स्व' प्रेरित-सक्रिय होता है, वही ज्ञेय है। संज्ञान का रूप होता है। वस्तुओं को प्रकाश में लाकर उनका बोध कराना ही संज्ञान का गुण है, और यही वस्तुरूप है। जिसके द्वारा वस्तुबोध होता है। वस्तुतः रूप गुण वस्तुओं में ही होते हैं। इनका रूप, गुण वही है, जिसे ज्ञान प्रकट करता है। इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि स्वाप्निक ज्ञान भी उन्हीं वस्तुओं का सम्भव है, जिन्हें हम पहले से जानते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति ने पहले से दिल्ली अथवा वाराणसी नगरी को देखा है, तभी वह स्वप्न में इन्हें देख सकता है, अन्यथा नहीं। स्वाप्निक ज्ञान की प्रक्रिया यह है कि अदृष्ट, अचेतन मन में वर्त्तमान वस्तुओं को पुनः जीवित-प्रकाशित कर देता है। इस प्रकार 'अदृष्ट' के द्वारा स्वप्नबोध में भी जो संज्ञानात्मक प्रक्रिया का संचालन होता है, उसका आधार पूर्वबोध के अनुसार वस्तुरूप ही है।

प्रभाकर ने वस्तुज्ञान के सन्दर्भ में, संवेद्य एवं प्रमेय का विचार सूक्ष्मता से करते हुए, वस्तु के प्रत्यक्ष को संवेद्य कहा है, तथा वस्तु के ज्ञान को प्रत्यक्ष की संज्ञा दी है। निदर्शन के लिए, किसी वस्तु के सम्बन्ध में अनुमान से यह जाना जा सकता है कि ऐसी वस्तु होनी चाहिए, किन्तु उसके वास्तविक रूप का अनुभव प्रत्यक्षबोध (संवेद्यत्व) द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार अनुमान संज्ञान की स्थिति का संकेत मात्र कर सकता है। वस्तुतः अनुमान संज्ञान के प्रत्यक्ष स्वरूप को ग्रहण करने में असमर्थ ही है।[२] जहाँ तक, कुमारिल का प्रश्न है, वह प्रभाकर के समान यह तो स्वीकार करता है, कि प्रत्यक्ष ज्ञान किसी अन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, परन्तु प्रभाकर के विपरीत वह यह मानता है कि प्रत्यक्षकर्ता एवं प्रत्यक्ष की विषयवस्तु में एक सम्बन्ध होता है, जिसमें प्रत्यक्षकर्ता को सक्रियता से वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, यही संज्ञान कहलाता है। इस प्रकार कुमारिल के अनुसार ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान एक साथ प्रकट होकर प्रकाशित होते हैं। यही त्रिपुटी प्रत्यक्ष सिद्धान्त है।[३]

जैसा कि पहले सङ्केत किया जा चुका है, धर्म-कर्म एवं ऐहिक तथा पारलौकिक दृष्टि से स्वर्ग की कल्पना प्राचीन मीमांसकों, जैमिनि एवं शबर आदि की एक महत्त्वपूर्ण कल्पना है। किन्तु इनकी दृष्टि इस तथ्य की ओर नहीं गई, कि यज्ञादिकर्मजन्य अनित्य पुण्य से साध्य स्वर्ग की सीमा कितनी हो सकती है। अनित्य पुण्य का क्षय होने पर स्वर्ग से मृत्युलोक की वापसी स्वाभाविक है-"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" सम्भवतः इसी दृष्टि से उत्तरवर्त्ती मीमांसकों-प्रभाकर एवं कुमारिल आदि ने मोक्ष के सम्बन्ध

---

१. देखें, डा. गंगानाथ झा, प्रभाकरमीमांसा।

२. देखें, डा० गंगानाथ झा, प्रभाकरमीमांसा, पृ० २६-२८।

३. स्वात्मस्फुरणरूपः, प्रकरणपञ्चिका, पृ० १५७.

में विचार किया था, जैसा कि इसी अध्याय में कहा जा चुका है। न्यायादि दार्शनिक सम्प्रदायों में मोक्ष का विचार भी उत्तरकर्त्ती मीमांसकों के मोक्षचिन्तन का प्रेरक माना जा सकता है। मीमांसा एवं वेदान्त, दोनों ही मोक्ष को आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप मानते हैं।[1] दोनों ही मोक्ष को आत्मसाक्षात्कार भी स्वीकार करते हैं। किन्तु मीमांसकों के मोक्षसम्बन्धी विचार के सम्बन्ध में यह तथ्य आश्चर्यास्पद है, कि वे मोक्ष को वेदान्त के समान आत्मानन्द स्वरूप तो मानते हैं, किन्तु आनन्दस्वरूप नहीं स्वीकार करते। ज्ञान के प्रकाशस्वरूप एवं प्रकाशक होने के कारण उसका आनन्दमय होना स्वाभाविक ही है। इसीलिए तो उपनिषदों में "तमसो मा ज्योतिर्गमय" (मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ) की प्रार्थना की गई है। आश्चर्य यह है, कि जब कुमारिल मोक्ष को दुःखाभावरूप मानता है, तो उसे मोक्ष को सुख या आनन्दस्वरूप मानने में क्यों आपत्ति है। दुःखाभाव तो स्वयं सुख अथवा आनन्दस्थिति का सूचक है। पार्थसारथि मिश्र भी मोक्ष को दुःखाभाव रूप तो मानता है, किन्तु मोक्ष की सुखस्थिति उसे भी स्वीकार नहीं है। यह स्वीकार्य है कि जिस प्रकार पदज्ञान के लिए व्याकरण की, एवं प्रमाण के लिए न्यायदर्शन की अपेक्षा है, उसी प्रकार वाक्यार्थ एवं शाब्दबोध की दृष्टि से मीमांसा की उपयोगिता भी है। जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, मीमांसक का अभिहितान्वयवाद अथ च, अन्विताभिधानवाद शाब्दबोध एवं वाक्यबोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण भाषावैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार मीमांसक की उक्त शाब्दबोध की प्रक्रिया केवल मीमांसादर्शन के लिए ही नहीं, अपितु इतर दर्शनशास्त्रों एवं काव्यशास्त्र आदि के लिए भी उपादेय है। यह सुविदित है कि काव्यशास्त्र एवं धर्मशास्त्र में भी उक्त शाब्दबोध एवं वाक्यार्थबोध-प्रक्रियाव्यवहार मम्मटप्रभृति काव्यशास्त्रियों के द्वारा यथावसर किया गया है।

जैसा कि पुनः पुनः पुष्ट किया गया है, निश्चय ही, धर्म-कर्म, स्वर्ग एवं दैनिक पवित्राचरण की दृष्टि से मीमांसा का योगदान स्तुत्य है, किन्तु वर्त्तमान युग में कर्मकाण्ड, श्रद्धा एवं आस्था के अभाव में एक यान्त्रिक व्यवहार मात्र रह गया है। अतः श्रद्धा एवं आस्था के अभाव में कोई भी याज्ञिक कृत्य एवं कर्मकाण्ड मात्र औपचारिक ही कहा जा सकता है। इसीलिए कदाचित् वेदान्त (उत्तरमीमांसा) में, कर्म को मोक्ष का साक्षात् कारण न मानकर 'तत्त्वमसि' एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' से साध्य तत्त्वज्ञान को मोक्ष का कारण स्वीकार किया गया है।

आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से कुछ न कुछ न्यूनताएँ एवं अपेक्षाएँ, सभी दर्शनों में अन्वेष्टव्य हैं। मीमांसा के अन्तर्गत भी ये न्यूनताएँ द्रष्टव्य हैं।

प्रथमतया, मीमांसादर्शन एक सार्वभौम दर्शन के रूप में विकसित नहीं हो सका। मीमांसा का प्रमुख आधार कर्मकाण्ड एवं यज्ञ-कर्म तथा धर्म है, जो दार्शनिकता की दृष्टि से अपूर्ण है। इसमें धार्मिकता तो है, किन्तु दार्शनिकता एवं आध्यात्मिकता नाम मात्र को ही देखी जा सकती है। यह तथ्य जैनादि नास्तिक दर्शनों एवं न्यायादि आस्तिक दर्शनों के सम्बन्ध में चरितार्थ नहीं होता। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च सत्य एवं उसके आत्मा तथा जगत् के सम्बन्ध में भी मीमांसा का मौन, सर्वथा अवाञ्छनीय एवं उसकी दार्शनिक अपूर्णता का द्योतक है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, मीमांसा का आचार एवं कर्मकाण्ड

---

१. स्वात्मानुरूपगुणरूपः, प्रकरणपञ्चिका, पृ० १५७।

मात्र यान्त्रिक होकर रह गया है। देवता के स्वरूप के सम्बन्ध में भी मीमांसा की दृष्टि अधूरी है। परवर्त्ती मीमांसकों के अनुसार जिसके लिए चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है, वही देवता है, जैसे, 'इन्द्राय स्वाहा' में इन्द्र देवता है एवं 'अग्नये स्वाहा' में अग्नि देवता है। इस प्रकार मीमांसकों की दृष्टि में देवता का स्वरूप मात्र शब्दमय है। देवता की बाह्य आकृति एवं उसके विग्रह को तो ये स्वीकार ही नहीं करते। फिर, प्राचीन मीमांसकों में ईश्वरसम्बन्धी धारणा का अभाव भी मीमांसा की दार्शनिक न्यूनता का ही द्योतक है। किन्तु मीमांसक कुमारिल अपने अन्तस्तल में ईश्वरवादी एवं ईश्वर के सगुण रूप के प्रति आस्थावान् प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ, श्लोकवार्त्तिक के आरम्भ में, कुमारिल ने जो शिव की प्रार्थना की है, वह उनकी ईश्वरवादिता को ही प्रमाणित करती है। यह श्लोक इस प्रकार है-

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे।।

(मैं उस (शिव) को प्रणाम करता हूँ, जिसका शरीर विशुद्ध ज्ञान से बना है, तीनों वेद (ऋग्, यजुः एवं साम) जिसके दिव्य चक्षु हैं, जो परमानन्द रूप श्रेय का निमित्त है, तथा जो अर्धचन्द्र को धारण करता है।) किन्तु पार्थसारथि मिश्र ने उक्त श्लोक के आधार पर कुमारिल की ईश्वरवादिता के सिद्ध होने के भय से ऊपर उद्धृत श्लोक का अर्थ रूपकमयी भाषा में करते हुए कहा है, कि मीमांसा द्वारा पवित्र ज्ञान ही जिसका शरीर है (विशुद्धज्ञानदेहाय), जो तीनों वेदों से व्यक्त हुआ है (त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे), जो सोम के पात्र आदि से युक्त है (सोमार्द्धधारिणे), ऐसा यज्ञ प्रणम्य है। वास्तविकता तो यह है कि परवर्त्ती मीमांसकों को भी मीमांसा की अनीश्वरवादिता सह्य नहीं हुई थी, इसीलिए उन्होंने (आपदेव एवं लौगाक्षिभास्कर आदि ने) ईश्वर के प्रति स्पष्ट रूप से अपनी श्रद्धा एवं आस्था व्यक्त की थी। यहाँ, यह भी सङ्केत अपेक्षित है कि मीमांसादर्शन के अनीश्वरवाद की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप ही ब्रह्मवाद, एकेश्वरवाद तथा वैष्णव, शैव एवं शाक्त चिन्तनधारा का विकास हुआ था।

दशम अध्याय

वेदान्तदर्शन

वेदान्तदर्शन के प्रवर्त्तक प्रमुख महर्षि एवं आचार्य

वेदान्तदर्शन के कुछ ऐसे प्राचीन महर्षियों का उल्लेख मिलता है, जिनके मतों का यत्किंचित् सम्बन्ध वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों के साथ प्रतीत होता है। इन महर्षियों में बादरि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, औडुलोमि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न, जैमिनि और काश्यप के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन महर्षियों की दार्शनिक कृतियां अनुपलब्ध हैं, परन्तु फिर भी, यत्र-तत्र उपलब्ध संकेतों के आधार पर इनके मतों का गवेषण सम्भव है। यहाँ उपर्युक्त महर्षियों और उनके दार्शनिक मतों के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा।

बादरि–आचार्य बादरि का उल्लेख चार बार बादरायण के ब्रह्मसूत्र[1] तथा चार बार जैमिनि के मीमांसासूत्र[2] के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। आचार्य बादरि के दार्शनिक सिद्धान्तों की जो रूपरेखा उपलब्ध होती है वह इस प्रकार है–

(१) आचार्य बादरि वैदिक कर्म में प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति का अधिकार स्वीकार करते हैं। यह सिद्धान्त आचार्य की अद्वैतपरक बुद्धि का ही परिचायक है।

(२) उपनिषदों में कहीं-कहीं सर्वव्यापी ईश्वर का प्रादेश मात्र रूप से वर्णन मिलता है। इस सम्बन्ध में उपपत्ति देते हुए बादरि का विचार है कि मन प्रादेश मात्र हृदय में रहने के कारण शास्त्रों में प्रादेश मात्र कहा जाता है। उस प्रादेश मात्र मन से ही ईश्वर का स्मरण होता है, इसीलिए वह (ईश्वर) प्रादेश मात्र रूप से वर्णित होता है।

(३) छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।७) के 'तद्य इह रमणीयचरणाः' वाक्य में प्रयुक्त चरण शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। आचार्य बादरि के अनुसार सुकृत और दुष्कृत ही चरण शब्द के वाच्य हैं। इस प्रकार अनुष्ठानवाचक चरण शब्द का प्रयोग बादरि ने कर्म के अर्थ में स्वीकार

---

१. ब्रह्मसूत्र १।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०।

२. मीमांसासूत्र ३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ९।२।२३। (सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज के अन्तर्गत प्रकाशित)।

किया है।

(४) छान्दोग्योपनिषद् (४।१५।५) के 'स एनान् ब्रह्म गमयति' वाक्य में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द का अर्थ बादरि ने कार्य-ब्रह्म ग्रहण किया है। अपने मत की पुष्टि में इस आचार्य का कथन है कि ब्रह्म से यहाँ परब्रह्म का अर्थ नहीं लिया जा सकता। परब्रह्म स्वर्ग है और गन्ता का प्रत्यगात्म स्वरूप ब्रह्म है, इसलिए उसमें गन्ता, गन्तव्य और गति आदि की भेद व्यवस्था सम्भव नहीं है। इसके विपरीत कार्य-ब्रह्म प्रदेशवान् है। इसीलिए उसका गन्तव्य रूप से वर्णन किया जाता है। इसीलिए छान्दोग्योपनिषद् के उक्त वाक्य में बादरि ब्रह्म शब्द से कार्य-ब्रह्म का अर्थ ग्रहण करना समुचित मानते हैं।

(५) छान्दोग्योपनिषद् (८।२।१) में ही मुक्त पुरुष के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि-'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' अर्थात् मुक्त पुरुष के संकल्प से ही पितृगण उठ जाते हैं। यहाँ यह शंका होती है कि ईश्वरभावापन्न पुरुष के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता रहती है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में आचार्य बादरि का विचार है कि ईश्वरभावापन्न विद्वान् के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता नहीं रहती है, इसीलिए तो छान्दोग्योपनिषद् (८।१२।१५) में कहा गया है-'मनसा एतान् कामान् पश्यन्' ।

आचार्य बादरि के उपर्युक्त मतों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि यह आचार्य किसी न किसी रूप से वेदान्त के ही समर्थक थे।

जैमिनि-आचार्य जैमिनि मीमांसासूत्र के लेखक के नाम से विख्यात हैं। ब्रह्मसूत्र में इनकी चर्चा ग्यारह बार हुई है।[१] प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य का विचार है कि इन्होंने ब्रह्म-सूत्रों की भी रचना की थी।[२] इस सम्बन्ध में उन्होंने नैष्कर्म्यसिद्धि का प्रमाण रूप में उल्लेख किया है।[३]

जैमिनि को बादरायण का शिष्य बतलाया जाता है। पुराणों में इन्हें वेदव्यास का शिष्य बतलाया जाता है। इन्होंने वेदव्यास से सामवेद और महाभारत की शिक्षा प्राप्त की थी। मीमांसादर्शन के अतिरिक्त जैमिनि ने भारतसंहिता जिसे जैमिनि भारत भी कहते हैं, की रचना भी की थी। कहते हैं, जैमिनि ने द्रोणपुत्रों से मार्कण्डेय पुराण सुना था। इनके पुत्र सुमन्तु और पौत्र सत्वान थे। इन तीनों ने मिलकर वेद की एक-एक संहिता बनाई है। इन संहिताओं का अध्ययन हिरण्यनाभ, पैष्यञ्जि और अनन्त्य नामक शिष्यों ने किया था।

काशकृत्सन-ब्रह्मसूत्र में आचार्य काशकृत्स्न की चर्चा केवल एक बार हुई है[४]। इसके अतिरिक्त पतंजलि के महाभाष्य में काशकृत्स्न की मीमांसा की चर्चा तीन बार की गई है[५]। यह मीमांसा

---

१. ब्र० सू० १।२।२८, १।२।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११।

२. *B. Bhattacharya*, Āgama Śāstra of Gauḍapāda, Introduction.

३. सुरेश्वर, नैष्कर्म्यसिद्धि १०५२ (द्वितीय संस्करण प्रो० हिरियन्ना द्वारा सम्पादित)।

४. ब्र० सू० १।४।२२।

५. Yogasūtra, *Keilhorn*, Vol. Ii, pp. 206, 249, 325 (Covernment Central Book Depot, Bombay, 1933).

कर्मपरक भी है और ज्ञानपरक भी। आचार्य काशकृत्स्न का विचार है कि छान्दाग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक से प्रतीत होता है कि परमात्मा ही जीवलोक में अवस्थित है। काशकृत्स्न जीव को परमात्मा का विकार नहीं स्वीकार करते। काशकृत्स्न के उक्त मत का उल्लेख शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इस प्रकार किया है–**काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्** (ब्र० सू० शा० भा० १।४।२२)। इस प्रकार काशकृत्स्न जीव को अविद्याकल्पित मानते हैं। सूत्रकार ने काशकृत्स्न के मत का उल्लेख करते हुए कहा है : काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं कि अविद्याकल्पित भेद से ब्रह्म ही जीव रूप से स्थित है–**अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः** (ब्र० सू० १।४।२२)। शंकराचार्य ने आचार्य काशकृत्स्न के मत को श्रुति के अनुकूल कहा है[१]।

औडुलोमि–औडुलोमि का उल्लेख ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत तीन स्थानों पर किया गया है[२]। आचार्य औडुलोमि के मतानुसार भेद तथा अभेद अवस्थान्तर के अनुसार है। औडुलोमि के मत के अनुसार संसार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है, परन्तु मुक्ति दशा में अभेद है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में औडुलोमि के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है :–

> "जीवो हि परमात्मनोऽत्यन्तं भिन्न एव सन् देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपधानसम्पर्कात् सर्वदा कलुषः, तस्य च ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् संप्रसन्नस्य देहेन्द्रियादिसंघाताद् उत्क्रमिष्यतः परमात्मना ऐक्योपपत्तेः इदमभेदेनोत्क्रमण। एतदुक्तं भवति–भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽपि अभेद उक्तः।" (भामती)

उपर्युक्त कथन के अनुसार जीव एवं ब्रह्म में मूलतः ऐक्य ही है। जब जीव ज्ञानादि साधनों के अनुष्ठान से देहादि के संघात से ऊपर उठ जाता है तो इस स्थिति में जीव और ब्रह्म का ऐक्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आगामी अभेद के आधार पर भेदकाल में भी अभेद ही मानना चाहिए। औडुलोमि के भेदाभेद सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए शंकराचार्य ने कहा है–

औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरपेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते ।

(ब्र० सू० शा० भा० १।४।२२)

उपर्युक्त भेदाभेद सिद्धान्त के अतिरिक्त आचार्य औडुलोमि का मत है कि जीवों के चैतन्य रूप होने से चैतन्यरूप से अवस्थित मुक्त ब्रह्म में सर्वज्ञत्व आदि शब्द व्यर्थ ही प्रयुक्त होते हैं[३]।

कार्ष्णाजिनि–आचार्य कार्ष्णाजिनि के नाम का उल्लेख ब्रह्मसूत्र (३।१।९) तथा मीमांसासूत्र (४।३।१७), दोनों में उपलब्ध होता है। कार्ष्णाजिनि के मत का उल्लेख व्यास देव ने अपने मत के समर्थन में तथा जैमिनि ने उनके मत का खण्डन करने के लिए किया है।[४] इस प्रकार कार्ष्णाजिनि वेदान्त के ही आचार्य प्रतीत होते हैं।

---

१. तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते। ब्र० सू० शा० भा० १।४।२२।

२. ब्र० सू० १।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६।

३. वही, ४।४।६।

४. वेदान्तांक (कल्याण) पृ० ६३१।

आत्रेय–आचार्य आत्रेय का नामोल्लेख ब्रह्मसूत्र (३।४।४४), मीमांसासूत्र (४।३।१८,६।१।२६) तथा महाभारत (१३।१३७।३) में उपलब्ध होता है। आचार्य आत्रेय का मत है कि यजमान को यज्ञ की अंगभूत उपासना का फल प्राप्त होता है, ऋत्विक् को नहीं। ब्रह्मसूत्रकार ने निम्नोद्धृत सूत्र में आत्रेय के उक्त मत को ही उद्धृत किया है–स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः' (ब्र० सू० ३।४।४४)। अतः आत्रेय के मतानुसार सारी उपासानाएँ यजमान को करनी चाहिए, न कि पुरोहित को'[1]। महाभारत (१३।१३७।३) में आत्रेय का नाम निर्गुण ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा के रूप में मिलता है। किन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि ब्रह्मसूत्रोक्त आत्रेय उनसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न।

आश्मरथ्य–आश्मरथ्य के नाम का उल्लेख ब्रह्मसूत्र के दो सूत्रों (ब्र० सू० १।२।२९, १।४।२०) तथा मीमांसासूत्र (६।५।१६) में मिलता है। आश्मरथ्य के मत के अनुसार परमेश्वर वस्तुतः अनन्त होने पर भी उपासक के ऊपर अनुग्रह करने के लिये प्रादेश मात्र में आविर्भूत होता है, क्योंकि सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। आश्मरथ्य का वैकल्पिक मत यह है कि हृदयादि उपलब्धि स्थानों अर्थात् प्रदेशों में परमेश्वर की उपलब्धि विशेष रूप से होने के कारण भी परमेश्वर को प्रादेश मात्र कहा जा सकता है। आश्मरथ्य के मतानुसार विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है। शंकराचार्य ने आश्मरथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है–

> आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति
> सापेक्षत्वाभिधानात् कार्य-कारणभावः कियानपि अभिप्रेत इति मन्यते।
> (ब्र० सू०, शा० भा० १।४।२२)

उपर्युक्त कथन के अनुसार आश्मरथ्य के मत में यद्यपि जीव परमात्मा से अभिन्न है, तो भी प्रतिज्ञासिद्धि से सापेक्षत्व का अभिधान है। इससे यत्किंचित् कार्यकारणभाव इष्ट ही है। आश्मरथ्य के भेदाभेदवाद की पुष्टि परवर्तीकाल में यादवप्रकाश ने भी की थी[2]।

काश्यप–ब्रह्मसूत्र में तो काश्यप का उल्लेख नहीं है परन्तु शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र (तामैश्वर्यपरां काश्यपपरत्वात्, २९) में शाण्डिल्य की चर्चा मिलती है। शाण्डिल्य के मतानुसार काश्यप भेदवादी थे, तथा बादरायण अभेदवादी।

शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र के अतिरिक्त महाभारत (१३।३१६।५६) में भी काश्यप का उल्लेख मिलता है। अभिनवगुप्त आचार्य ने भी नाट्यशास्त्र की टीका में एक काश्यप का उल्लेख किया है। हृदयंगमा नामक ग्रन्थ में काश्यप तथा वररुचि प्रभृति के लक्षणशास्त्र का उल्लेख मिलता है। राजा नामदेव ने स्वनिर्मित सरस्वतीहृदयालंकार नामक नाट्यशास्त्र की टीका में स्थान-स्थान पर काश्यप का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त नामदेव की उक्त रचना में ही एक बृहत्काश्यप का उल्लेख भी प्राप्त होता

---

१. तस्मात् स्वामिन एवं फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेयः। (ब्र० सू०, शां० भा० ३।४।४४)।
२. अच्युत, पृष्ठ ५, संवत् १९९३ में प्रकाशित।

है। चित्रविद्या में कुशल काश्यप की चर्चा भी कहीं-कहीं मिलती है। मेरे विचार से शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र में चर्चित काश्यप उपर्युक्त काश्यपों से भिन्न प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त ऋषियों के अतिरिक्त जिन्होंने विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का प्रचार किया था उनमें असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, पराशर और भृगु के नाम विशेष रूप से उल्लिखित किये जा सकते हैं। इस दिग्दर्शन से केवल इतना कहा जा सकता है कि भर्तृहरि के पूर्ववर्त्ती प्राचीन महर्षियों एवं आचार्यों में भी वेदान्तदर्शन की यत्किंचित् धारणा वर्तमान थी। इस धारणा का आधार कोई सिद्धान्त विशेष न होकर व्यक्तिगत स्वतन्त्र अनुभूति मात्र है। अतः इन उपर्युक्त प्राचीन महर्षियों एवं आचार्यों के दार्शनिक विचारों में अद्वैत वेदान्त के स्पष्ट बीज ही देखे जा सकते हैं[1]।

शंकराचार्यपूर्ववर्त्ती वेदान्ती आचार्य और उनकी रचनाओं में अद्वैतवाद के बीज

हम अद्वैत वेदान्त-दर्शन का अव्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत करते समय पिछले अध्याय में कुछ बादरि प्रभृति प्राचीन ऋषियों एवं आचार्यों का उल्लेख कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ केवल यही कथ्य है कि उक्त आचार्यों के यत्र-तत्र प्राप्त विचारों में किसी दार्शनिक सिद्धान्त का पूर्ण विवेचन न मिलकर विभिन्न दर्शन पद्धतियों के बीजमात्र ही मिलते हैं। इन प्राचीन आचार्यों के अतिरिक्त अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य के पूर्ववर्त्ती कुछ अन्य आचार्य भी मिलते हैं, जिनकी रचनाओं में अद्वैत वेदान्त की सूक्ष्म विचारदृष्टि का संकेत मिलता है। इस स्थल पर शंकराचार्यपूर्ववर्त्ती आचार्यों की व्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का विवेचन किया जायेगा।

शंकराचार्य के पूर्ववर्त्ती अद्वैतवेदान्त के जो आचार्य मिलते हैं उनमें बोधायन, उपवर्ष, गुहदेव, कपर्दी या कपर्दिक, भारुचि, भर्तृहरि, भर्तृमित्र, ब्रह्मनन्दी या ब्रह्मानन्दी, टंक, द्रविड़ाचार्य, ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपंच, सुन्दर पाण्ड्य और गौडपादाचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ इन आचार्यों की रचनाओं एवं दार्शनिक विचारधारा के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

बोधायन–बोधायन उपर्युक्त आचार्यों में सर्वाधिक प्राचीन थे। इनका काल लगभग प्रथम-द्वितीय शताब्दी माना जाता है। इन्होंने बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर एक विस्तीर्ण वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति का उल्लेख डॉ० थीबो ने ब्रह्मसूत्रभाष्य की भूमिका के अन्तर्गत किया है[2]। इसी वृत्ति का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त और जैमिनि का मीमांसादर्शन इसी वृत्ति पर आधारित बतलाया जाता है[3]। परन्तु प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जैकोबी का कहना है कि बोधायन ने मीमांसासूत्र पर भी वृत्ति लिखी थी[4]। यही वृत्ति जैमिनि के मीमांसा सूत्र का आधार रही होगी।

---

१. S.B.E. Vol. XXXIV, p. 21, तथा देखिए–*Sukhtankar* : The Teaching Vedānta According to Rāmāyaṇa, p. 9.
२. देखिए त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित 'प्रपंचहृदय,' पृ० ३६।
३. *B. Bhattacharya* : Āgama Śāstra of Gauḍapāda (Introduction).
४. Journal of the American Oriental Society-1911.

उपवर्ष–यह कहा जाता है कि उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्र तथा मीमांसासूत्र दोनों पर ही वृत्ति लिखी थी। उपवर्ष की चर्चा शाबरभाष्य (मी० सू० १।१।५) तथा शांकरभाष्य (३।३।५३) में उपलब्ध है।

गुहदेव और कपर्दी–रामानुज के वेदार्थसंग्रह[1] और श्रीनिवासदास की यतीन्द्रमतदीपिका[2] में गुरुदेव, कपर्दी और भारुचि का नाम वेदान्त के विद्वानों के रूप में मिलता है। प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि रामानुज ने गुहदेव और कपर्दी की गणना शिष्ट जनों में की है, इसलिए ये दोनों विद्वान् विशिष्टाद्वैतवाद के समर्थक रहे होंगे[3]।

भारुचि–विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा (१।१८, २।१२४) और माधवाचार्य ने पाराशरसंहिता[4] की टीका में भारुचि को धर्मशास्त्र का लेखक बतलाया है। सरस्वतीविलास (पैराग्राफ १३३) में भी धर्मशास्त्रकार भारुचि का उल्लेख मिलता है। इन्होंने विष्णुकृत धर्मसूत्र पर भी एक टीका लिखी थी। परन्तु यह कहना कठिन है कि वेदान्ती भारुचि तथा धर्मशास्त्रकार भारुचि एक ही थे। यदि दोनों को एक ही मान लिया जाए तो इनका समय नवम शती के प्रथमार्द्ध में माना जा सकता है।[5]

भर्तृहरि–बौद्धदर्शन के अनुयायी चीनी-यात्री इत्सिंग, जिसने भारत की यात्रा सातवीं शताब्दी में की थी, का कथन है कि लगभग चालीस वर्ष पहले भारतवर्ष में भर्तृहरि नाम के एक महान् वैयाकरण की मृत्यु हुई थी।[6] मैक्समूलर ने भी भर्तृहरि का देहावसान सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का अन्त ही माना है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि भर्तृहरि बौद्ध थे। परन्तु अब अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य के आधार पर इस मत का निराकरण हो चुका है और यह सिद्ध हो चुका है कि भर्तृहरि वेदान्ती ही थे।[7] काश्मीरी शैवदर्शन के लेखक सोमानन्द एवं उत्पल ने स्फोटवाद सिद्धान्त की आलोचना करते हुए भर्तृहरि को उद्धृत किया है, तथा उन्हें अद्वैतवादी कहा है।[8] आचार्य चित्सुख की तत्त्वप्रदीपिका के टीकाकार प्रत्यग् रूप ने भर्तृहरि को ब्रह्मवित् प्रकाण्ड कहा है। यामुनाचार्य के सिद्धित्रय (पृ० ५) में भर्तृहरि का उल्लेख वेदान्त के लेखकों के अन्तर्गत किया गया है।

---

१. वेदार्थसंग्रह, पृ० १५४।
२. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० २ (पूना संस्करण)।
३. Āgama Śāstra of Gauḍapāda (Introduction), p. CIX.
४. पाराशरसंहिता, पृ० ५१० (बाम्बे, संस्कृत सिरीज संस्करण)।
५. *P.V Kane* : History of Dharma Śāstra, Vol. I, p. 265; *B. Bhattacharya* : Āgama Śāstra of Gauḍapāda, p. CIX.
६. *Dr. C. Kunhan Raja's* Article—I-tsing & Bhartrhari's Vakyapadiya, Dr. Krishna Swami Aiyangar Commemoration Volume, pp. 203-208.
७. *T.M.P. Mahadevan* : Gauḍapāda, p. 228.
८. *K. Madhava Krishnan Sarma's* article—Bhartṛhari not a Buddhist, Poona Orientalist Vol. No. 1 (1940), p. 1.

भर्तृहरि की प्रसिद्ध रचना शब्दब्रह्मवाद का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' है। वाक्यपदीय का प्रमुख सिद्धान्त शब्दब्रह्मवाद तथा शब्दाद्वैतवाद है। किसी-किसी आचार्य का मत यह भी है कि भर्तृहरि के शब्दब्रह्मवाद का प्रधानतया अवलम्बन करके मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था।[१] उत्पलाचार्य के गुरु काश्मीरीय शिवाद्वैत के प्रधानतम आचार्य सोमानन्दपाद ने अपने शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ में भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद की विशेष समालोचना की है। इसके अतिरिक्त शान्तरक्षितकृत 'तत्त्व संग्रह', अविमुक्तात्माकृत 'इष्टसिद्धि' तथा जयन्तकृत 'न्यायमंजरी' में भी शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। उत्पल तथा सोमानन्द के वचनों से ज्ञात होता है कि भर्तृहरि 'पश्यन्ती' वाक् को ही शब्दब्रह्मरूप मानते थे। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि इस मत में पश्यन्ती वाक् ही परा वाक् के रूप में व्यवहृत होती थी। सूर्य नारायण शुक्ल ने भावप्रदीप नामक अपनी वाक्यपदीय की टीका में परावाक् को ही ब्रह्म कहा है। शुक्ल जी का उक्त विचार निम्न कथन में स्पष्ट है–

'शब्दब्रह्मवादिनस्तु (परावाक्) एवं ब्रह्म तदेव अविद्यया नानारूपं भासत इति प्राहुः'।

(भावप्रदीप, वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १३२)

उपर्युक्त वाक्य से ही यह भी प्रतीत होता है कि ब्रह्म ही अविद्या के कारण नाना रूपों में भासित होता है। यही दार्शनिक दृष्टि अद्वैत वेदान्त की भी है। तत्त्वदीपिकाकार ने भी भर्तृहरि को स्पष्ट रूप से अद्वैतवादी स्वीकार किया है। उमामहेश्वरकृत 'तत्त्वदीपिका' में लिखा है–

महाभाष्यं व्याचक्षाणो भगवान् भर्तृहरिरपि अद्वैतमेवाभ्युपगच्छति ।

इस प्रकार भर्तृहरि निश्चित ही शब्दब्रह्माद्वैतवाद के समर्थक सिद्ध होते हैं।

भर्तृमित्र–जयन्तकृत 'न्यायमंजरी' (पृ० २१३-२२६) तथा यामुनाचार्य के 'सिद्धित्रय' (पृ० ४,५) में भर्तृमित्र का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त कुमारिल ने अपने 'श्लोकवार्तिक' (१।१।१।१०, १।१।६।१३०-१३१) में भी भर्तृमित्र की चर्चा की है। श्लोकवार्तिक के टीकाकार पार्थसारथि मिश्र की अपनी न्यायरत्नाकर नाम की टीका में भी भर्तृमित्रकृत 'मीमांसासूत्र' की टीका का उल्लेख मिलता है।[२] वैष्णव ग्रन्थों में वर्णित भर्तृहरि मित्र तथा मीमांसाशास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित भर्तृमित्र एक ही हैं, यह कहना कठिन है। मुकुलभट्ट ने अपने 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ में भी भर्तृमित्र का उल्लेख किया है।

ब्रह्मनन्दी–मधुसूदन सरस्वती ने अपनी संक्षेपशारीरक की टीका (३।२१७) में ब्रह्मनन्दी को वाक्यकार कहा है। ब्रह्मनन्दी ने छान्दोग्योपनिषद् पर वाक्य लिखे थे और इन वाक्यों पर भाष्य लिखा था द्रविड़ाचार्य ने[४]। ब्रह्मनन्दी के ग्रन्थ का उल्लेख संक्षेपशारीरक की अन्वयार्थप्रकाशिका टीका में भी मिलता है[५]। आचार्य भास्कर के मतानुसार ब्रह्मनन्दी परिणामवाद सिद्धान्त के समर्थक थे[६]। इसके

---

१. अच्युत, पृ० ११।

२. Āgama Śāstra of Gauḍapāda, p. CX.

३. अभिधावृत्तिमातृका, पृ० १७ (निर्णयसागर, बम्बई)।

४. *K.B. Pathak* Commemoration Volume, pp. 157-158.

५. अन्वयार्थप्रकाशिका, संक्षेपशारीरक ३।२२१।

६. भास्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र १।४।२५।

विपरीत मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार ब्रह्मनन्दी अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त के अनुयायी प्रतीत होते हैं।[१] ब्रह्मनन्दी विवर्तवाद सिद्धान्त के समर्थक थे।

टंक–रामानुजाचार्य के 'वेदार्थसंग्रह' (पृ० १५४) में टंक का उल्लेख मिलता है। टंक विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त के समर्थक प्रतीत होते हैं।

द्रविडाचार्य–द्रविडाचार्य का उल्लेख भारतीय दर्शन के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। शंकराचार्य ने द्रविडाचार्य को माण्डूक्योपनिषद् कारिका भाष्य में आगमवित् कहा है तथा द्रविडाचार्य के 'सिद्धांतु निवर्तकत्वात्' सूत्र को उद्धृत किया है[२]। उक्त स्थल पर शंकराचार्य के भाष्य पर टीका करते हुए आनन्दगिरि ने द्रविडाचार्य के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया है उसके अनुसार वे अद्वैतवादी प्रतीत होते हैं[३]। इस मत के अनुसार द्रविडाचार्य स्वाभाविक द्वैत के अभाव-बोधन के द्वारा अध्यस्त जगत् की निवृत्ति मानते हैं[४]। इसके अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् पर जो वाक्य लिखे थे उन पर द्रविडाचार्य ने भाष्य रचना की थी। बृहदारण्यक उपनिषद् पर भी द्रविडाचार्य का भाष्य बतलाया जाता है।

उपर्युक्त वेदान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी द्रविडाचार्य का उल्लेख उपलब्ध होता है। रामानुजाचार्य ने अपने वेदार्थसंग्रह में भी द्रविडाचार्य का उल्लेख किया है[५]। सिद्धित्रय में यामुनाचार्य ने भी–'**भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमितगम्भीरभाष्यकृता**' कहकर 'भाष्यकृता' शब्द से द्रविडाचार्य का ही संकेत किया है। किसी-किसी विद्वान् का यह भी मत है कि द्रविड संहिताकार अलवर, शठकोप अथवा वकुलाभरण ही वैष्णव ग्रन्थों में द्रविड़ाचार्य के नाम से विख्यात हैं[६]। सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक (३।२२१) के अन्तर्गत जिस भाष्यकार का उल्लेख किया है उससे द्रविडाचार्य का ही तात्पर्य है।

ब्रह्मदत्त–ब्रह्मदत्त की रचनाओं एवं उनके स्थिति-काल का निर्णय अत्यन्त दुष्कर[७] है। शंकराचार्य-पूर्ववर्त्ती वेदान्तियों में ब्रह्मदत्त का प्रमुख स्थान है। उनके नाम एवं मत का उल्लेख वेदान्त के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वेदान्तदेशिकाचार्य ने तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका सर्वार्थसिद्धि में ब्रह्मदत्त का जो मत है उसके अनुसार वे जीव को अनित्य तथा एकमात्र ब्रह्म को नित्य पदार्थ मानते हैं[८]। सुरेश्वराचार्य के नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रन्थ के अनुसार ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं[९]। परन्तु ब्रह्मदत्त

---

१. संक्षेपशारीरक, ३।२१७।
२. सिद्धांतु निवर्तकत्वात्–इत्यागमविदां सूत्रम् (मा० का०, शा० भा० २।३२)।
३. देखिये मा० का० २।३२ पर आनन्दगिरि की टीका।
४. बृहदारण्यक उपनिषद्, पृ० २६७ (पूना संस्करण)।
५. वेदार्थसंग्रह, पृ० १५४ (काशी संस्करण)।
६. अच्युत, पृ० १७।
७. *Hiriyanna's* article—Brahmadutta : an Old Vedāntin, J.O.R.M. 1928, pp. 1-9.
८. सर्वार्थसिद्धि, २।१६।
९. नैष्कर्म्यसिद्धि, १।६८।

आत्मज्ञान में उपासनाविधि का श्रेय मानते हैं।[1]

ब्रह्मदत्त कर्म और ज्ञान के समुच्चयक के पक्षपाती प्रतीत होते हैं। ब्रह्मदत्त के मतानुसार साधक को पहले उपनिषद् के द्वारा ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान लाभ करना चाहिए। तदनन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावना का अभ्यास करना चाहिए। इस अवस्था में ब्रह्मदत्त कर्म की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। यही ब्रह्मदत्त का ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद है। ज्ञानोत्तम ने ब्रह्मदत्त को नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका में ज्ञानसमुच्चयवादी सिद्ध करते हुए कहा है–

वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकालीनभावनोत्कर्षाद्भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्तरेणैव अज्ञानस्य निवृत्तेः ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तिः। (ज्ञानोत्तमचन्द्रिका, नैष्कर्म्यसिद्धि, १।६७)

भर्तृप्रपंच–भर्तृप्रपंच भी वेदान्त के एक प्राचीन आचार्य थे। संक्षेपशारीरक के टीकाकार मधुसूदन सरस्वती के निम्नलिखित वाक्य के अनुसार भर्तृप्रपंच ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भी प्रतीत होते हैं।

कैश्चित् तत् सूत्रं व्याचक्षाणैर्भर्तृप्रपंचादिभिः।[2]

यामुनाचार्य ने अपने सिद्धित्रय में भी भर्तृप्रपंच को वेदान्तदर्शन का लेखक स्वीकार किया है। आनन्दगिरि ने बृहदारण्यक उपनिषद् पर लिखे गए सुरेश्वर के वार्तिकों की व्याख्या करते हुए अनेक स्थलों पर भर्तृप्रपंच का उल्लेख किया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भर्तृप्रपंच ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रणेता तो प्रतीत होते ही हैं, साथ ही कठोपनिषद् तथा बृहदारण्यक उपनिषद् पर भी उनका भाष्य बतलाया जाता है[3]। कुछ विद्वानों ने भर्तृप्रपंच के कतिपय लेखांशों को संकलित करने का भी प्रयत्न किया है[4]।

भर्तृप्रपंच का दार्शनिक सिद्धान्त–भर्तृप्रपंच का दार्शनिक सिद्धान्त भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवाद अथवा अनेकान्तवाद कहा जाता है। भर्तृप्रपंच के भेदाभेदवाद के अनुसार परमार्थ में एकत्व भी है और अनेकत्व भी। परमार्थ, ब्रह्म रूप में एक है और जगत् रूप में नाना। भर्तृप्रपंच के मत में जीवन नाना तथा परमात्मा एकदेश मात्र हैं। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र तरंग के समान द्वैतमय है। ब्रह्म में अनेक जीवों की सत्ता होने के कारण ही वह अनेक रूप है और मूलतः ब्रह्मरूप में वह एकरूप ही है। ब्रह्मरूप में वह अभेद, अद्वैत एवं एक है परन्तु अनेक जीवों के रूप में वह भेदपूर्ण, द्वैतमय एवं अनेक रूप है।

---

१. देखिये, नैष्कर्म्य सिद्धि १।६७।

२. देखिये, मधुसूदन सरस्वती की टीका 'संक्षेप शारीरक', १।७ पर।

३. अच्युत, पृ० ८।

४. देखिए, हिरियन्ना का लेख–Indian Antiquary 1924, pp. 76-86 के अन्तर्गत तथा Proceedings and Transactions of the Third All India Oriental Conference, Madras 1925, p. 130.

इसीलिए भर्तृप्रपंच का उक्त सिद्धान्त भेदाभेदवाद, द्वैताद्वैतवाद तथा अनेकान्तवाद के नाम से प्रख्यात है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार परमात्मा में एकत्व के साथ अनेकत्व की कल्पना करके भर्तृप्रपंच ने ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय की स्थापना की है। परमात्मा के एकत्व की स्थापना के द्वारा उन्होंने मोक्ष की साधिका ज्ञानमीमांसा पर बल दिया है और दूसरी ओर परमात्मा में अनेकत्व की कल्पना के द्वारा कर्मकाण्ड और आश्रित लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों की महत्ता को पुष्ट किया है। भर्तृप्रपंच के उक्त दार्शनिक विचार की अभिव्यक्ति शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य (ब्र० सू०, शां० भा० २।१।१४) के अन्तर्गत स्पष्ट की है।

भर्तृप्रपंच का मोक्षसम्बन्धी सिद्धान्त–भर्तृप्रपंच की दृष्टि में जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति की तरह ही मुक्ति के दो रूप मिलते हैं–एक अपरमोक्ष अथवा अपवर्ग एवं दूसरा परामुक्ति अर्थात् ब्रह्मभावापत्ति। अपरमोक्ष मनुष्य को इसी शरीर में आत्मसाक्षात्कार होने पर होता है। यह जीवन्मुक्ति के ही समान है। इसके विपरीत परामुक्ति अथवा ब्रह्मभावापत्ति देहपात होने पर होती है।[1] यही विदेह मुक्ति की अवस्था है।

अन्तर्यामी तथा जीव रूप में; अव्याकृत, सूत्र, विराट् तथा देवता रूप में; जाति तथा पिण्डरूप में। इस प्रकार ब्रह्म की उपर्युक्त अन्तर्यामी आदि आठ अवस्थायें सिद्ध होती हैं।

भर्तृप्रपंच का प्रमाणसमुच्चयवाद–भर्तृप्रपंच की दृष्टि में लौकिक एवं वैदिक दोनों ही प्रकार के प्रमाणों की सत्यता है। इसीलिए वे प्रमाणसमुच्चयवादी कहलाते हैं।

संस्कृत के निष्णात विद्वान् डा० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय ने भर्तृप्रपंच के दार्शनिक सिद्धान्त को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया है–(१) राशित्रयवाद (२) अनेकान्तवाद (३) परिणामवाद और (४) मोक्षनिरूपण।

प्रथम राशित्रयवाद को छोड़कर अन्य तीन सिद्धान्तों का संकेत ऊपर किया जा चुका है। राशित्रयवाद के अनुसार उपाध्याय जी ने परमात्मा को उत्तम राशि, जीव को मध्यम राशि और शेष मूर्तामूर्त जगत् को अधम राशि कहा है।

सुन्दरपाण्ड्य–सुन्दरपाण्ड्य दक्षिण भारत के मीमांसा एवं वेदान्तदर्शन के विद्वान् थे। यह अनुमान किया जाता है कि इन्होंने ब्रह्मसूत्र के किसी प्राचीन भाष्य से सम्बन्धित कारिकाबद्ध वार्तिक ग्रन्थ की रचना की थी। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत तो नहीं मिलता, परन्तु विद्वानों का कहना है कि शंकराचार्य ने समन्वयाधिकरण के भाष्य के अन्त में (ब्र० सू०, शा० भा० १।१।४) जो निम्नलिखित तीन श्लोक उद्धृत किये हैं वे सुन्दरपाण्ड्य के वार्तिक ग्रन्थ से ही उद्धृत हैं :

---

१. अच्युत, पृ० १०।

२. देखिए, वेदान्तांक (कल्याण) में भर्तृप्रपंच का अद्वैतसिद्धान्त नामक लेख, पृ० ३३२।

अपि चाहु :

गौणमिथ्यात्मनो-सत्त्वे, पुत्रदेहादिबाधनात् ।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत् ।।
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः ।
अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पापदोषादिवर्जितः ।।
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ।।

(ब्र० सू०, शा० भा० १।१।४ में उद्धृत)

उपर्युक्त कथन के अनुसार जब तक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ब्रह्मज्ञान का उदय नहीं होता, उस समय तक समस्त प्राणियों एवं विधियों की सार्थकता है। जहाँ तक आत्मवस्तु का सम्बन्ध है वह न हेय है और न उपादेय। अद्वैत दृष्टि के अनुसार आत्मा के बोध में प्रमाण की आवश्यकता नहीं क्योंकि आत्मबोध की स्थिति में प्रमाता एवं विषय की सत्ता नहीं रहती। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त श्लोकों का 'ब्रह्मविदां गाथा' कहकर वर्णन किया है। परन्तु नरसिंहस्वरूप के शिष्य आत्मस्वरूप द्वारा रचित पद्मपाद की पंचपादिका की टीका प्रबोधपरिशोधिनी के अनुसार उपर्युक्त श्लोक सुन्दरपाण्ड्य- कृत ही बतलाए जाते हैं। माधवमन्त्रिकृत सूतसंहिता की तात्पर्यदीपिका नाम की टीका में भी यह उल्लेख मिलता है कि उपर्युक्त शंकराचार्य द्वारा उद्धृत श्लोकों में तृतीय श्लोक–'देहात्मप्रत्ययो···निश्चयात्' सुन्दरपाण्ड्य-कृत वार्तिक से उद्धृत है। अमलानन्द ने कल्पतरु (३।३।२५) के अन्तर्गत सुन्दरपाण्ड्य के 'निःश्रेण्यारोहणप्राप्यम्' आदि और तीन वचन तथा तन्त्रवार्तिक (बनारस संस्करण, पृष्ठ ८५२-८५३) में उक्त तीन तथा 'तेन यद्यपि सामर्थ्यम्' प्रभृति दो, यों पांच वचन उद्धृत किये हैं। 'न्यायसुधा' (पृष्ठ १२२८) के अन्तर्गत उक्त पाँच श्लोक 'बद्धानाम्' के नाम से उद्धृत किये गये हैं। इस प्रकार अनेक ग्रन्थों में सुन्दरपाण्ड्य के वार्तिक के प्रमाण संकेत उपलब्ध होते हैं।

कुछ विद्वानों के मत में तो सुन्दरपाण्ड्य राजा नेडूमारण नायनर का नामान्तर है।[1] इसके विपरीत कुछ विद्वानों के अनुसार यह पाण्ड्यराज कुब्जवर्धन या कुलपाण्ड्य के नाम से भी प्रसिद्ध थे। कतिपय विद्वानों का विचार है कि प्रसिद्ध शैव आचार्य तिरुज्ञान इनके समसामयिक थे। इन्हीं के प्रभाव से प्रभावित होकर सुन्दरपाण्ड्य ने जैनधर्म को छोड़कर शैवधर्म को स्वीकार किया था। यह भी उल्लेख मिलता है कि सुन्दरपाण्ड्य ने चोल-राजकुमारी से विवाह किया था।[2]

इस प्रकार सुन्दरपाण्ड्य एवं उनके दार्शनिक मत के सम्बन्ध में अनेक मतवाद मिलते हैं।

ऊपर हमने जिन शंकराचार्यपूर्ववर्ती आचार्यों की चर्चा की है उनमें कतिपय ही ऐसे हैं जिनकी रचनाओं की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे हैं जिनकी रचानाओं के कुछ संकेत

---

१. देखिए–महामहोपाध्याय कुप्पू स्वामी शास्त्री द्वारा लिखित लेख– Some problems of Identity in the Cultural History of Ancient India *Journal of Oriental Research, Madras, Vol. I).

२. देखिए–अच्युत, पृष्ठ १८ पर पादटिप्पणी।

मात्र ही यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। अतः भर्तृहरि आदि कतिपय को छोड़कर अन्य आचार्यों के दार्शनिक मतों का उल्लेख विभिन्न टीकाओं, भाष्यों एवं अन्य विविध ग्रन्थों में प्राप्त संकेतों के आधार पर ही किया गया है। अतः यहाँ यह निर्देश करना उपयुक्त होगा कि उक्त आचार्यों के मतों में अद्वैतवाद के सूक्ष्म बीजमात्र ही उपलब्ध होते हैं। अब यहाँ शंकराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों में गौडपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

गौडपादाचार्य का दर्शन

प्राचीन अद्वैतवाद का पूर्णतया विकसित स्वरूप गौडपादाचार्य के दर्शन में ही उपलब्ध होता है। गौडपादाचार्य का प्रमुख दर्शन ग्रन्थ गौडपादकारिका है। 'गौडपादाचार्य' के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रभाव उनके प्रशिष्य शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त, अद्वैतवाद पर भी पूर्ण रूप से पड़ा है। डाक्टर बलेसर,[1] जैकोबी,[2] एवं डाक्टर दासगुप्त आदि कुछ विद्वानों ने गौडपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त पर बौद्धदर्शन का प्रभाव ढूँढ़ने की चेष्टा की है। इस स्थल पर आचार्य गौडपाद के दार्शनिक सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

गौडपादाचार्य द्वारा अद्वैततत्त्व का प्रतिपादन

औपनिषद दर्शन के अनुसार गौड़पादाचार्य विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ को आत्मा के विभिन्न रूपों में न स्वीकार करके एक ही स्वीकार करते हैं। आचार्य गौडपाद के अनुसार उपर्युक्त तीन स्वरूप एक ही आत्मा की अभिव्यक्तियां हैं–(एक एव त्रिधा स्मृतः, गौ० का०, १।१)। यही आत्मा अद्वैत ज्ञान-स्वरूप एवं सर्वव्यापक है। (अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः, गौ० का० १।१०)। अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए गौडपादाचार्य ने कहा है कि अनादि माया के कारण अज्ञान की निद्रा में सुप्त जीव अज्ञान निवृत्ति होने पर जब प्रबुद्ध होता है तभी अज, अनिद्र, अस्वप्न एवं अद्वैत तत्त्व का बोध होता है।[3] इस प्रकार शांकर वेदान्त की तरह आचार्य गौडपाद की दृष्टि से द्वैत जगत् की सत्ता मायिक ही है। माया अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति होने से तत्त्वज्ञान होने पर प्रपंचमय द्वैत जगत् की भी निवृत्ति हो जाती है–'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' (गौ० का० १।१८)।

परवर्त्ती अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म को अद्वैततत्त्व के रूप में स्वीकार करके ब्रह्मतत्त्व का विस्तार से विवेचन किया गया है। गौडपादाचार्य ने प्रणव अर्थात् ओंकार को ब्रह्मरूप ही माना है। (प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्, गौ० का० १।२५)। प्रणवरूप ब्रह्म में समाहित चित्त वाले व्यक्ति के लिए किसी प्रकार का भय नहीं रहता। प्रणव ही अपर, पर, अपूर्व, अनन्तर, अबाह्य, अनपर तथा अव्यय रूप है। प्रणव

---

१. डा० बलेसर के मत के लिये देखिए–J.R.A. (1910) p. 1363.

२. जैकोबी के मत के लिये देखिए–J.O.S. (1913) pp. 52, 54.

३. अनादिमायया सुप्तो, यदा जीवः प्रबुद्ध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा। गौ० का० १।१६।

ही सर्व प्रपंच का आदि, मध्य तथा अन्त है।[1]

ब्रह्म का स्वभाव–जो ब्रह्म जिज्ञासु का ज्ञेय है उसे गौडपादाचार्य ने अज तथा नित्य कहा है–'ब्रह्म ज्ञेयमजं नित्यं' (गौ० का० ३।३३) यही शान्त अद्वयरूप[2] तत्त्व है तथा प्रत्येक स्थिति में समान[3] है। ब्रह्म स्वभाव से स्वस्थ, शान्त[4] तथा विशुद्ध रूप[5] है। आचार्य गौडपाद ने ब्रह्म को अनिद्र, अस्वप्न, नाम रूप से रहित, सकृद्विभात तथा सर्वज्ञ कहा है[6]। ब्रह्म दर्शन के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह तो स्वयं प्रकाश स्वरूप[7] है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म अनुत्तम सुख एवं निर्वाण रूप है[8]। एक कारिका के अन्तर्गत परमार्थ तत्त्व का वर्णन करते हुए कहा है कि परमार्थ दृष्टि से न किसी का प्रलय है न किसी की उत्पत्ति, न कोई बद्ध है तथा न कोई साधक। इस प्रकार तो मुमुक्षु एवं मुक्त का भेद भी मिथ्या ही है[9]।

उपर्युक्त दृष्टि के अनुसार गौडपादाचार्य ने जिस अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया है, उसका पूर्ण समर्थन तब तक एकांगी ही कहा जाएगा जब तक कि जगत् के सम्बन्ध में गौडपादाचार्य के दृष्टिकोण का अध्ययन न किया जाय। गौडपादाचार्य के प्रशिष्य शंकराचार्य ने तो जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हुए उसका मिथ्यात्व सिद्ध किया था। गौडपादाचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन करते हुए स्वप्न सादृश्य के आधार पर जगन्मिथ्यात्व का समर्थन किया है। इस स्थल पर आचार्य गौडपाद द्वारा प्रतिपादित जगत् के स्वाप्निक मिथ्यात्व के समबन्ध में विचार करना उचित होगा।

गौडपादाचार्य द्वारा स्वप्न सादृश्य के आधार पर किया गया जगन्मिथ्यात्व का प्रतिपादन

आचार्य गौडपाद ने माण्डूक्य कारिका के वैतथ्य एवं अलातशान्ति प्रकरण के अन्तर्गत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन स्वप्नसिद्धान्त के आधार पर किया है। स्वाप्निक विषयों का मिथ्यात्व निष्पन्न करते हुए आचार्य ने वैतथ्य प्रकरण में कहा है कि स्वप्न काल के समस्त बाह्य एवं आध्यात्मिक भाव मिथ्या होते हैं[10]। क्योंकि स्वप्नावस्था के पश्चात् जाग्रत् अवस्था में स्वाप्निक भावों की सत्यता नहीं देखी जाती। उदाहरण के लिए स्वप्न में गज या पर्वत देखने वाले व्यक्ति के लिए जाग्रत् अवस्था में गज या पर्वत की सत्ता नहीं देखी जाती। अतः स्वप्न काल के गज या पर्वत के भाव भी मिथ्या ही हैं। इस

---

१. गौ. का. १।२५, २६।
२. शान्तमद्वयम्, वही, ४।४५।
३. समतां गतम्, वही, ३।२।३८।
४. स्वस्थं शान्तम् , वही, ३।४७।
५. वही, ४।६३।
६. वही, ३।३५।
७. प्रभातं भवति स्वयम्, वही, ४।८१।
८. वही, ३।४७।
९. वही, २।३२।
१०. वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्नमाहुर्मनीषिणः, वही, २।१।

सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य गौडपाद ने कहा है कि स्वप्न में जो व्यक्ति अपने मित्रों से आलाप करता है वह जाग्रत् दशा में नहीं करता[1]। इसी प्रकार स्वाप्निक रथादि की सत्ता भी मिथ्या ही है[2]।

गौडपादाचार्य ने उपर्युक्त स्वप्न सिद्धान्त के आधार पर ही स्वाप्निक पदार्थों की सत्ता की तरह जाग्रत् जगत् की सत्ता को मिथ्या कहा है[3]। स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के मिथ्यात्व का विवेचन करते हुए आचार्य गौडपाद ने उक्त दोनों अवस्थाओं को एक ही कह दिया है–'स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः' (गौ० का० २।५)।

शंकराचार्य ने गौडपादाचार्य के उपर्युक्त स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के साम्य के प्रतिपादक कथन (गौ० का० २।४) पर नैयायिक शैली में भाष्य करते हुए कहा है–

१– जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यम्–इति प्रतिज्ञा।
अर्थात् जाग्रत् अवस्था में देखी हुई वस्तुएँ मिथ्या हैं, यह प्रतिज्ञा है।

२– दृश्यत्वात् –इति हेतुः।
क्योंकि वे दृश्य हैं, यह हेतु है।

३– स्वप्नदृश्यभाववत् –इति दृष्टान्तः।
स्वप्न में देखी हुई वस्तुओं के समान मिथ्या हैं, यह दृष्टान्त है।

४– यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टम् इति हेतूपनयः।
अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न में देखी हुई वस्तुएँ मिथ्या हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में देखी गई वस्तुएँ भी मिथ्या ही हैं। यह हेतूपनय है।

५– तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतम्–इति निगमनम्।
अर्थात् इसलिए जाग्रत् जगत् में देखी गई वस्तुएँ मिथ्या हैं–यह निगमन है[4]।

उपर्युक्त भाष्य के अनुसार स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं का साधर्म्य स्पष्ट है। परन्तु प्रकारान्तर से देखने पर स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में भेद भी दृष्टिगोचर होता है। शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य (२।२।२९) के अन्तर्गत स्वप्न एवं जाग्रत् के भेद का प्रतिपादन भी किया है।

---

१. मित्राद्यैः सह सम्मन्त्र्य सम्बुद्धो न प्रपद्यते। गौ० का० ४।३५।

२. गौ० का० २।३।

३. वही, २।४।

४. डा० राधाकृष्णन् ने नैयायिक शैली में किए गए उपर्युक्त प्रतिपादन का महत्त्व जैकोबी महोदय को दिया है। (देखिए, डाक्टर राधाकृष्णन्, इन्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ४३६ पर पादटिप्पणी) परन्तु शंकराचार्य ने तो उपर्युक्त विषय का नैयायिक शैली में प्रतिपादन जैकोबी से शदियों पूर्व कर दिया था। अतः नैयायिक शैली के प्रतिपादन का महत्त्व जैकोबी को देना उचित नहीं प्रतीत होता।

शंकराचार्य द्वारा किया गया स्वप्न एवं जाग्रत् के भेद का प्रतिपादन

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य (२।२।२८) के अन्तर्गत विज्ञानवादी बौद्ध के मत को प्रस्तुत करते हुए और उसका खण्डन करते हुए कहा है कि–

यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति वक्तव्यम् । अर्थात् स्वप्नादि अवस्था के ज्ञान के समान जाग्रत् अवस्था में हुए स्तम्भ आदि ज्ञान भी बाह्य अर्थ के बिना ही हों, यह युक्त है, क्योंकि दोनों में प्रत्ययत्व समान है, ऐसा बाह्य अर्थ के निषेध करने वाले ने जो कहा है उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए।

शंकराचार्य विज्ञानवादी के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं–**अत्रोच्यते न स्वप्नादि-प्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति** । अर्थात् स्वप्नकालिक प्रत्ययों के समान जाग्रत् अवस्था के प्रत्यय नहीं हो सकते। अपने मत के समर्थन में हेतु प्रदर्शित करते हुए शंकराचार्य ने कहा है–कस्मात् ? वैधर्म्यं **हि भवति स्वप्नजागरितयोः**–अर्थात् वैधर्म्य हेतु है। स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में वैधर्म्य है। इस वैधर्म्य को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य ने कहा है–**किं पुनर्वैधर्म्यम् । बाधाबाधाविति ब्रूमः । बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्यामायोपलब्धेः महाजनसमागम इति, न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव, तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति** । अर्थात् वैधर्म्य क्या है ? बाध और अबाध। क्योंकि स्वप्न में उपलब्ध हुई वस्तु का जाग्रत् अवस्था में बाध होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी को स्वप्न में महाजन का समागम होता है तो जाग्रत् में स्वप्नद्रष्टा को उस स्वप्नदृष्ट महाजन की उपलब्धि नहीं होती। इसीलिए जाग्रत् अवस्था में वह स्वप्नद्रष्टा यही कहता है कि स्वप्न में महाजन समागम की मुझे जो उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है। वास्तव में मुझे महाजन समागम नहीं हुआ। मेरे मन के निद्रा से ग्लानियुक्त होने के कारण मुझे यह भ्रान्ति हो गई थी।

स्वप्नावस्था का जाग्रत् अवस्था से भेद दिखलाते हुए शंकराचार्य ने कहा है–नैव जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्येत।[1] अर्थात् जाग्रत् अवस्था में जिन स्तम्भादि अवस्थाओं की उपलब्धि होती है उनका किसी अवस्था में भी बाध नहीं होता।

उपर्युक्त रीति से स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में भेद की स्थापना करते हुए शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के मौलिक भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वप्न दर्शन का कारण स्मृति है और जाग्रत् अवस्था के दर्शन का कारण 'उपलब्धि'। स्मृति और उपलब्धि का प्रत्यक्ष भेद स्वतः अनुभव में आता है। वह भेद यह है कि प्रथम में अर्थ का विप्रयोग है और दूसरे में सम्प्रयोग है।[2] इस प्रकार शंकराचार्य ने स्पष्ट ही स्वप्न एवं जाग्रत् के वैधर्म्य का प्रतिपादन किया है।

समालोचना

अद्वैतवाद ग्रन्थ के लेखक गंगा प्रसाद ने शंकराचार्य के उपर्युक्त मत की आलोचना की है।

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८।

२. विशेष देखिए–ब्र० सू०, शा० भा० २।२।२८।

गंगा प्रसाद प्रभृति कुछ विद्वानों का कथन है कि जिन शंकराचार्य ने माण्डूक्यकारिका (२।४) पर भाष्य करते हुए स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्था के साधर्म्य का प्रतिपादन किया है, उन्होंने योगाचार बौद्ध के मत का खण्डन (ब्र० सू०, शा० भा० २।१।२६) करते हुए स्वप्न एवं जाग्रत् के वैधर्म्य की स्थापना करके माण्डूक्यकारिकाभाष्यवर्ती मत के विरोधी मत की स्थापना की है। इस सम्बन्ध में अद्वैतवाद के समालोचक गंगा प्रसाद ने लिखा है–

"उन्होंने यह न सोचा कि हम अपने ही शब्दों में अपने मत का खण्डन कर रहे हैं"[1]।

मेरे विचार से गंगा प्रसाद आदि का उपर्युक्त दृष्टि से शंकराचार्य के मत में विरोध ढूँढ़ना उचित नहीं प्रतीत होता। शंकराचार्य का माण्डूक्यकारिकाभाष्य एवं ब्रह्मसूत्रभाष्य में भिन्न-भिन्न तात्पर्य है। माण्डूक्यकारिका (२।४) पर भाष्य करते हुए जहां शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् के साधर्म्य का प्रतिपादन किया है, वहाँ उनका उद्देश्य गौडपादाचार्य के इस मत का समर्थन करना है कि जाग्रत् जगत् के पदार्थ सत्य न होकर मिथ्या हैं। जिस प्रकार स्वप्नावस्था के पदार्थों का जाग्रत् में बाध हो जाता है उसी प्रकार परमार्थावस्था में जाग्रत् अवस्था के पदार्थों का बाध हो जाता है। परमार्थावस्था में आत्मतत्त्व का बोध होने पर केवल आत्मतत्त्व की ही सत्ता सिद्ध होती है। अतः जहाँ आचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् के साधर्म्य को स्वीकार किया है, वहाँ उनका तात्पर्य गौडपाद के अनुसार जाग्रत् के पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध करना है।

जहाँ तक शंकराचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्रभाष्य (२।२।२६) के अन्तर्गत स्वप्न एवं जाग्रत् के वैधर्म्य निरूपण का प्रश्न है वह भी शंकराचार्य के माण्डूक्यकारिकाभाष्य (२।४) का विरोधी नहीं है। विज्ञानवादी बौद्ध के मत का खण्डन करते हुए शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में भेद अवश्य स्थापित किया है परन्तु वहाँ भी उन्होंने जाग्रत् जगत् के पदार्थों की परमार्थ सत्यता को स्वीकार नहीं किया है। स्वप्न एवं जाग्रत् का अवस्थागत भेद निश्चित है। स्वप्नद्रष्टा के लिए अपनी चार हाथ की कुटियाँ में जिन गजराजों के दर्शन होते हैं उनकी वहाँ (कुटिया में) स्थिति भी असम्भव है। इससे यह स्पष्ट है कि स्वप्नकालिक पदार्थों की सत्ता केवल मन का भ्रममात्र ही होती है। परन्तु इसके विपरीत इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जगत् के पदार्थ केवल मानसिक कल्पनामात्र न होकर भौतिक दृष्टि से सत्य हैं। गौडपादाचार्य[2], शंकराचार्य[3] एवं आनन्दगिरि[4] ने भी स्वप्न एवं जाग्रत् के इस वैधर्म्य को स्वीकार किया है। परमार्थ दृष्टि से दोनों के मिथ्या होने के कारण दोनों में मिथ्यात्वरूप साधर्म्य है।[5]

---

१. गंगा प्रसाद, अद्वैतवाद, पृ० ७०। (कला प्रेस, इलाहाबाद–१९५७ सं०)

२. गौ० का० २।४।

३. अन्तःस्थानात् संवृतत्वेन च स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद्दृश्येभ्यो भेदः (शा० भा० गौ० का० २।४)।

४. आनन्दगिरि ने स्वप्न-काल के विषयों को 'कल्पनाकालभाविनो भावाः' और जाग्रत् काल के विषयों को 'प्रत्यभिज्ञायमानत्वेन पूर्वापरकालभाविनः' कहा है। (देखिए, आनन्दगिरि की टीका, गौ० का० २।१४)।

और स्वप्न एवं जाग्रत् के पृथक् दृष्टिकोण से दोनों में वैधर्म्य है। अतः शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् के सम्बन्ध में जिस साधर्म्य एवं वैधर्म्य का प्रतिपादन किया है, उसे विरोधी समझना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

गौडपादाचार्य का अजातवाद का सिद्धान्त

अद्वैतवाद के समर्थन में अजातवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए गौडपादाचार्य का कथन है कि परमार्थतः न किसी जीव की उत्पत्ति होती है और न कोई जीव की उत्पत्ति का कारण है। वस्तुतः एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जिसमें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता।[२] अतः परमार्थ दृष्टि से जीव अजात ही है। एक अन्य स्थल पर वास्तविक अद्वैत एवं परमार्थ तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने कहा है कि वास्तविक परमार्थ वह है जिसका न प्रलय है और न उत्पत्ति। जो न बद्ध है और न साधक। इसके अतिरिक्त जो न कभी मुक्ति की इच्छा करता है और न कभी मुक्त होता है। यही अखण्ड आत्म तत्त्व परमार्थ सत्य है। निम्नलिखित श्लोक के अन्तर्गत गौडपादाचार्य का उक्त भाव ही अभिव्यंजित हुआ है–

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ (गौ० का० २।३२)

आत्मा की अजातता को सिद्ध करते हुए गौडपादाचार्य ने कहा है कि द्वैतवादी लोग जन्महीन आत्मा के भी जन्म के अभिलाषी प्रतीत होते हैं। जो पदार्थ (आत्मा) निश्चित ही अजन्मा और मरणहीन है, वह मरणशील किस प्रकार हो सकता है। इसलिए जो अमृत पदार्थ (आत्मा) है वह मर्त्य नहीं हो सकता और इसी प्रकार जो मर्त्य पदार्थ है वह अमृतत्व नहीं प्राप्त कर सकता। इसका कारण यह है कि स्वभाव का परिवर्तन नहीं किया जा सकता।[३] इस प्रकार अज एवं अमर आत्मा ही एकमात्र परमार्थ सत्य है। परमार्थतः जीव की उत्पत्ति न मानने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम अजातवाद पड़ा है।

गौड़पादाचार्य और मायासम्बन्धी सिद्धान्त

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन मायावाद उपसिद्धान्त को स्वीकार किए बिना असम्भव है। यही कारण है कि ऋग्वेद से लेकर मायावाद के प्रस्थापक शंकराचार्य के काल तक के अद्वैततत्त्व के प्रतिपादक दार्शनिक साहित्य में किसी न किसी रूप से माया की चर्चा मिलती है। अजातवाद सिद्धान्त के समर्थक गौडपादाचार्य ने भी अपनी माण्डूक्यकारिका में माया सम्बन्धी

---

१. देखिए *F.H. Bradley*: Essays on Truth and Reality, Ch. XVI.

२. न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते॥ (गौ० का० ३।४८)

३. अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतोभावो मर्त्यतां कथमेष्यति। (गौ० का० ३।२०)
न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति॥ (गौ० का० ३।२१)

सिद्धान्त का विवेचन किया है।

गौडपादाचार्य के दर्शन के अनुसार परमार्थ तत्त्व अद्वैत तत्त्व है अतः अद्वैत तत्त्व से द्वैत सृष्टि की उत्पत्ति की शंका स्वाभाविक ही है। इसी शंका का समाधान करते हुए आचार्य गौडपाद का कथन है कि माया के कारण परमार्थ सत्य अद्वैत तत्त्व भी द्वैत रूप में प्रतीत होता है।[1] भाष्यकार शंकराचार्य ने एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार तिमिर रोगी के लिए एक चन्द्र के अनेक चन्द्र दिखाई पड़ते हैं, एवं अज्ञान के कारण रज्जु में सर्प-धारा आदि का भेद दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार अद्वैत सत् तत्त्व भी माया के द्वारा अपने स्वभाव के विपरीत भेदमय दिखायी पड़ता है। परन्तु यह भेद सात्त्विक कदापि नहीं होता। अतः परमार्थ सत् को द्वैत रूप समझना ही भूल है।[2]

उपनिषदों के कुछ वावदूक एवं ब्रह्मवादी व्याख्याताओं के मत की ओर संकेत करते हुए गौडपादाचार्य का कथन है कि जो वादी अजात आत्मतत्त्व की स्वाभावतः उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, उनका मत पूर्णतया असंगत है क्योंकि जो भाव अजात एवं अमृत रूप है वह मर्त्यता को कैसे प्राप्त हो सकता है[3] और जो मर्त्य नहीं है उसका जन्म असम्भव है। इस प्रकार अद्वैत तत्त्व अनुत्पन्न एवं अमृत है।

अजात तत्त्व की जातता की प्रतीति का कारण बतलाते हुए गौड़पादाचार्य ने कहा है कि अजायमान आत्मा ही माया के द्वारा जायमान प्रतीत होता है: 'अजायमानो बहुधा मायया जायते तुः सः', (गौ० का० ६।२४)। यहाँ माया शब्द का प्रयोग गौडपादाचार्य ने अविद्या के अर्थ में किया है। गौडपादाचार्य ने माया को स्वप्नोपम भी कहा है।[4]

अधिष्ठान और माया–अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का अत्यन्त प्रमुख सिद्धान्त है। मायिक जगत् का आरोप अधिष्ठान के स्वीकार किये बिना असंगत है।[5] इसीलिये अद्वैत दर्शन के मण्डनकर्ता आचार्य गौडपाद ने निम्नलिखत कारिका के अन्तर्गत परमार्थ सत् स्वरूप आत्मा से माया के द्वारा मिथ्या जगत् की उत्पत्ति बतलाई है, जो अपारमार्थिक है–

सतां हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः। (गौ० का० ३।२७)

उपर्युक्त कारिका के अन्तर्गत प्रयुक्त 'सत्' की व्याख्या शंकराचार्य ने पंचम्यन्त एवं षष्ठ्यन्त दोनों मानकर की है। 'सतः' को पंचम्यन्त मानने पर अर्थ होगा–सत् (विद्यमान) कारण से ही माया निर्मित जगत् का जन्म युक्त है, परन्तु जगत् की यह उत्पत्तितात्त्विक नहीं है।[6] इसके विपरीत 'सत्' को

---

१. मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाऽजं कथंचन। गौ० का० ३।१६।

२. तस्मान्न परमार्थं सद् द्वैतम्। शा० भा०, गौ० का० ३।१६।

३. ये तु पुनः केचिदुपनिषद्व्याख्यातारो ब्रह्मवादिनो वावदूका अजातस्यैव वात्मतत्त्वस्यामृतस्य स्वभावतो जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति–स च जातो ह्यमृतो भावः स्वभावतः सन्नात्मा कथं मर्त्यतामेष्यति। (शा० भा०, ३।२०)

४. गौ० का० २।३१।

५. अधिष्ठानसत्तातिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनंगीकारात्त। वेदान्तपरिभाषा, प्रथम परिच्छेद।

६. सतो हि विद्यमानात् कारणाद् मायानिर्मितस्य हस्त्यादिकार्यस्यैव जगज्जन्म युज्यते। शा० भा०, गौ० का० ३।२७।

षष्ठ्यन्त मानकर किया गया उपर्युक्त कारिकांश का अर्थ होगा–सत् अर्थात् विद्यमान वस्तु का माया के द्वारा जन्म कहना युक्त है। परन्तु आत्मा का यह जन्म पारमार्थिक नहीं है।[१] प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'सतः' को षष्ठ्यन्त मानकर ही अर्थ किया है।[२] दोनों मत आचार्य गौडपाद के अजातवाद सिद्धान्त के समर्थक हैं।

गौडपादाचार्य के दर्शन के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने शंकराचार्य के पूर्ववर्त्ती दार्शनिक साहित्य में प्रथम अद्वैतवाद सिद्धान्त का सैद्धान्तिक अध्ययन प्रस्तुत किया था। उनके इस अद्वैतसिद्धान्त का आधारसिद्धान्त अजातवाद था, जिसका विवेचन अभी हम कर चुके हैं। अतः आचार्य शंकर को गौडपादाचार्य के दर्शन से अद्वैतवाद सिद्धान्त की आलोचना एवं स्थापना में एक महती प्रेरणा एवं आधारभूमि प्राप्त करना स्वाभाविक ही था। परन्तु इसके साथ-साथ यह कहना भी असंगत न होगा कि गौड़पादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों में शांकर दर्शन की सबल पृष्ठभूमि होते हुए भी दोनों आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में अनेक समानताएँ होते हुए भी कुछ विषमताएँ मिलती हैं। इन समानताओं एवं विषमताओं का उल्लेख सप्तम अध्याय में किया जायेगा। अब इस स्थल पर शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद एवं उनकी देन के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा।

गोविन्दपाद एवं उनकी दार्शनिक देन–गौडपादाचार्य के शिष्य एवं शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद नर्मदा तट पर निवास करते थे तथा एक महान् योगी थे। कहते हैं, इस महायोगी का स्थूल शरीर एक सहस्र वर्ष तक इस संसार में रहते हुए भी दिव्य था। गोविन्दपाद के सम्बन्ध में विद्यारण्य का मत है कि गोविन्दपाद भाष्यकार पतंजलि के रूपान्तर हैं।[३] राजवाडे कथा के अनुसार जिनसेन गुणभद्र तथा शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद समसामयिक थे। राजवाडे कथा के अनुसार जिनसेन गोविन्दपाद के परम गुरु थे, क्योंकि जैसा कि इस ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है, गुणभद्र जिनसेन का शिष्य था और गोविन्द गुणभद्र की शिष्य परम्परा में अन्यतम था। यह मत असंदिग्ध है कि जिनसेन ने ७०५ शकाब्द में अर्थात् ७८३ सन् में हरिवंश की रचना की थी। इस ग्रन्थ में यह उल्लेख मिलता है, कि जिनसेन, गुणभद्र एवं गोविन्द–ये तीनों, आचार्य धाराधिप भोज के सभापण्डित थे। परन्तु उक्त ग्रन्थ का यह कथन कथमपि प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि धाराधिप राजा भोज का काल ११वीं शताब्दी है। ११वीं शताब्दी में होने वाले राजा भोज की चर्चा ७८३ सन् के ग्रन्थ में सर्वथा अप्रामाणिक ही कही जायेगी। अतः हरिवंश का मत तर्कप्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता। किसी-किसी विद्वान् का यह मत है कि हरिवंश में उल्लिखित भोज धारापति भोज न होकर कोई कान्यकुब्ज के गुप्तवंशीय राजा हैं।[४]

प्रभावक चरित के अनुसार वाष्पभट्टि एवं गोविन्द समकालीन थे। ८३६ ई० में वाष्पभट्टि के

---

१. सतो हि विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिव मायया जन्मयुज्यते।–शा० भा०, गौ० का० ३।२७।

२. The birth of that which exists can be reasonable only through illusion, but not in reality, Āgama śāstra, p. 66.

३. शंकरदिग्विजय–५।६४।

४. विशेष देखिए, Proceedings of Third All India Oriental Conference, p. 224. ५.

मरण के पश्चात् गोविन्द को राजा भोज ने अपनी सभा में बुलाया था। वाष्प भट्टि का जन्म काल ७४४ ई० सन् है।'[1]

गोविन्दपाद रचित कोई भी वेदान्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। सहृदय नामक एक ग्रन्थ गोविन्दभगवत्पाद रचित अवश्य मिलता है परन्तु इस ग्रन्थ का विषय रसायन शास्त्र है। माधवाचार्य-कृत सर्वदर्शनसंग्रह के रसेश्वरदर्शन प्रकरण में उक्त ग्रन्थ का प्रामाण्य भी स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार गोविन्दभगवत्पाद का ऐतिहासिक विवरण प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि गोविन्दभगवत्पाद शंकराचार्य के गुरु थे।

इस अध्याय के अन्तर्गत अभी तक किये गये विवेचन से यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद संहिता से लेकर शंकराचार्य के पूर्ववर्त्ती आचार्यों के काल तक के समय में अद्वैतवाद के अस्पष्ट एवं स्पष्ट बीज वर्तमान थे। परन्तु इसके साथ-साथ यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि शंकराचार्य के पूर्ववर्ती काम में अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन निष्पन्न नहीं हुआ था, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायेगा। उक्त कार्य शंकराचार्य के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। अब यहाँ शंकराचार्य के दर्शन के अनुसार अद्वैतवाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा। शांकर अद्वैतवाद की स्थापना से प्राचीन अद्वैतवाद की न्यूनतायें स्वतः स्पष्ट हो जायेंगी।

शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) द्वारा अद्वैतवाद का प्रतिपादन

शंकराचार्य के आविर्भाव काल की धार्मिक एवं दार्शनिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। एक ओर बौद्ध धर्म का ह्रास होते हुए भी उसका पूर्ण उच्छेद नहीं हुआ था और दूसरी ओर मीमांसक विद्वान् वैदिक कर्मकाण्ड के आध्यात्मिक महत्त्व को समझाने में असफल सिद्ध हो रहे थे। ऐसी स्थिति में एक ऐसे धर्म एवं दर्शन के प्रचारक की आवश्यकता थी जो समाज की धार्मिक एवं दार्शनिक एकता के स्तम्भ की स्थापना कर सकता। यही कार्य आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना के द्वारा किया था।

शंकराचार्य-पूर्ववर्ती काल में अद्वैतवाद सिद्धान्त अनाविष्कृत था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। स्वयं शंकराचार्य ने ही अपने भाष्यग्रन्थों में अपने पूर्ववर्त्ती वेदान्त के आचार्यों का उल्लेख किया है।[2] अतः जैसा कि ऊपर अद्वैतवेदान्त के ऐतिह्य से भी सिद्ध हो चुका है, यह निश्चित है कि शंकराचार्य को अपने पूर्ववर्ती धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य से अद्वैत सम्बन्धिनी विचारधारा की एक सबल पृष्ठभूमि

---

१. देखिए, अच्युत, पृष्ठ २० पर टिप्पणी।

२. 'इति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्'–ब्र० सू०, शा० भा० १।३।१६।
तथा च सम्प्रदायविदो वदन्ति–ब्र० सू०, शा० भा० १।४।१४।
अत्रोक्तं वेदान्तसम्प्रदायविद्भिराचार्यैः–ब्र० सू०, शा० भा० २।१।६।
यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम्।। तै० उ०, शा० भा०, मंगलाचरण।

उपलब्ध हुई थी। परन्तु शांकर अद्वैतवाद का प्रमुख आधार बादरायण का ब्रह्मसूत्रदर्शन एवं उपनिषद् दर्शन था। यह स्वाभाविक है कि अध्यात्म विद्या के अनेकों अनुशीलनकर्ताओं–उपनिषद्वर्ती तत्त्ववेत्ताओं एवं उपनिषद्वर्त्ती सिद्धान्तों के सूत्ररूप में प्रस्तुतकर्ता बादरायण के विचारों में, अनेकता एवं सूत्ररूपता के कारण कुछ असामंजस्य एवं सन्दिग्धता बनी रहे। उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र दर्शन की उक्त न्यूनताओं की पूर्ति शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में प्रस्तुत समन्वयात्मक सिद्धान्त के आधार पर की है। अत एव शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत उपनिषदों की व्याख्या को थीबो,[१] गफ[२] एवं जैकोबी[३] प्रभृति विद्वानों ने सर्वाधिक सन्तोषजनक कहा है। जहां तक ब्रह्मसूत्रभाष्य का प्रश्न है, शंकराचार्य ने सूत्रकार द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। डा० थीबो अद्वैतवादसम्मत शांकरभाष्य की अपेक्षा विशिष्टाद्वैतसम्मत रामानुजभाष्य को ब्रह्मसूत्र का अधिक संगत भाष्य मानते हैं। अपने मत के समर्थन में डा० थीबो ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे निराधार हैं।[४] मेरे विचार से शंकराचार्य का भाष्य ब्रह्मसूत्र की सर्वाधिक संगत व्याख्या है।

शंकराचार्य द्वारा अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्मसम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन

हम यह कह चुके हैं कि शंकराचार्य के दर्शन का मूल आधार उपनिषत् साहित्य था। विशेषतः, उपनिषदों के आधार पर ही शंकराचार्य ने ब्रह्मविद्या का निरूपण किया था। शंकराचार्य ने ब्रह्म को अद्वैत तत्त्व मानकर ही अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार अद्वैततत्त्व ब्रह्म को निर्गुण स्वीकार किया है। जगत् की सत्ता शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत मायिक बतलाई गई है। शांकर वेदान्त के माया सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन आगे किया जायेगा। माया के कारण ही जीव और ब्रह्म का भिन्नत्व है, वस्तुतः जीव और ब्रह्म में मूलतया ऐक्य ही है। यही शांकर अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त है। शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में अद्वैतवाद ब्रह्म की निम्नलिखित परिभाषा दी है–

---

१. The task of reducing the teaching of the whole of the Upanishads to a system consistent and free from contradiction is an intrinsically impossible one, But the task once given we are quite ready to admit that Sankara's system is most probably the best,that can be devised *Thibaut* : Introduction, S. B. E. Vol. XXXIV.

२. *Gough* : Philosophy of Upaniṣads, p. VIII.

३. It may be admitted that if the impossible task of reconciling the contradiction of the Upanishads and reducing them to a all harmonious and consistent whole is to be attempted at all, Śaṅkara's system is about the only one that could do it. *Col. Jacob* : Introduction to Vedāntasāra.

४. डा० थीबो के तर्कों और उनके निराकरण के लिए देखिये :
Dr. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 469-470, (ffo note).

"अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकाल-निमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्ग यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति, तद् ब्रह्म" । (शा० भा०, ब्र० सू० १।१।२)

अर्थात् नाम-रूप के द्वारा अव्यक्त, अनेक कर्ताओं एवं भोक्ताओं से संयुक्त, ऐसे क्रिया और फल के आश्रय जिसके देश, काल और निमित्त व्यवस्थित हैं, मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है। शंकराचार्यकृत उपर्युक्त लक्षण के अनुसार ब्रह्म की विशेषतायें–सर्वव्यापकता, अधिष्ठानता, सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता हैं। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार ब्रह्म शांकर वेदान्त का सर्वोच्च तत्त्व है।

ब्रह्म के अस्तित्व का निरूपण

जर्मन विद्वान् डायसन का यह कथन सत्य नहीं प्रतीत होता कि भारत के विद्वान् सत्त्व विद्या सम्बन्धी (ontological) प्रमाण के बन्धन में नहीं फँसे।[1] डायसन का यह कथन कम से कम शंकराचार्य के सम्बन्ध में उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। शंकराचार्य ने ब्रह्म के सम्बन्ध में जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे निश्चय ही सत्त्व विद्या सम्बन्धी प्रमाणों से युक्त हैं। आचार्य ने जिस अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है वह तर्क प्रतिपाद्य न होने के कारण अनुभवगम्य है।

शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म नामक जो सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की है, उसकी सत्ता व्यावहारिक, देशिक, कालिक एवं वैचारिक सत्ताओं से विलक्षण है।[2] जैसा कि वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है, यद्यपि यह ब्रह्मतत्त्व कोई द्रव्यरूप सत्य नहीं है।[3] परन्तु फिर भी यह समस्त जगत् का अधिष्ठान है। समस्त चेतन एवं अचेतन, सामान्य एवं विशेष, समस्त वस्तुओं का एक महासामान्य (ब्रह्म) में ही अन्तर्भाव होता है।[4] ब्रह्म का अस्तित्व बड़ा विलक्षण है। यदि देखा जाय तो ब्रह्म का अस्तित्व सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु देश-कालातीत होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व किसी भी स्थान पर नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वह एक ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है, जिसका निर्देश वाणी एवं मन के द्वारा असम्भव है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिए कि वह अभाव रूप है।[5] ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हुए शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है–

ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभावावसानः । (ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२)

---

१. D. S. V., page 123.

२. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४ तथा देखिए डा० राधाकृष्णन् 'इण्डियन फिलासफी', भाग २, पृ० ५३४।

३. वेदान्तपरिभाषा १।

४. शां० भा०, बृ० उ० २।४।६।

५. वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते।–ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।

ब्रह्म के अस्तित्व का निरूपण किसी अन्य वस्तु के दृष्टान्त के आधार पर असम्भव है। इसका कारण यह है कि ब्रह्म के न कुछ समान है और न कुछ असमान। ब्रह्म वस्तुतः किसी भी प्रकार के स्वगत भेद से रहित है। शंकराचार्य का कथन है कि एक वृक्ष, जो पत्तियों, पुष्पों एवं फलों के स्वगत भेदों से युक्त है, का सादृश्य अन्य वृक्षों के साथ देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पाषाण आदि वृक्ष से असदृश वस्तुएँ भी उपलब्ध होती हैं।[१] परन्तु जैसा कि ऊपर कह चुके हैं ब्रह्म की स्थिति इसके विपरीत है। अतः किसी दृष्टान्त के आधार पर ब्रह्म के अस्तित्व का प्रतिपादन असम्भव ही है।

ब्रह्म सत्् चित् एवं आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म की यह आनन्दरूपता नैयायिक की दृष्टि से अनुपयुक्त है। इसीलिए वह मुक्ति को शुष्क स्वीकार करता है।[२] जर्मन दार्शनिक कान्ट भी परम तत्त्व के बोध से उत्पन्न होने वाले आनन्द का बोध न होने के कारण परम तत्त्व की उपलब्धि के सम्बन्ध में संदिग्ध था। यही कारण है कि दार्शनिक कान्ट शुद्धवस्तु (Thing in itself) का बोध असम्भव मानता था।[३] इसके विपरीत शांकर दर्शन का प्रमुख साध्य ही ब्रह्मज्ञान है। इस साध्य की प्रस्तावना के रूप में ही ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत सर्वप्रथम–अथातो ब्रह्मजिज्ञासा–(ब्र० सू० १।१।१) सूत्र का निर्माण प्रतीत होता है।

शांकरदर्शन के अनुसार ब्रह्म का अस्तित्व स्वतःसिद्ध है। इसलिए वह स्पिनोजा के स्वतन्त्र सत्त्व (Substantia) के अधिक समीप प्रतीत होता है।[४] वेदान्तिक ब्रह्म का पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

ब्रह्म को असत् पदार्थ कहने की आशंका शंकराचार्य को पहले से विदित थी। आचार्य ने अपने छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में उन मन्दबुद्धियों की चर्चा का स्पष्ट उल्लेख किया है जिनके लिए दिग्, देश, गुण, गति, फल और भेद से शून्य परमार्थ सत् एवं अद्वय तत्त्व असत् पदार्थ के समान दिखाई पड़ता है।[५] इसीलिए शंकराचार्य ने शून्यवाद सिद्धान्त को सर्वथा अनुपपन्न कहा है।[६]

नेति नेति द्वारा वर्णित ब्रह्म के सम्बन्ध में उसके असत् होने की शंका करना तार्किक दृष्टि से किये गये अध्ययन का फल है। पश्चिमी विद्वान् आगस्ताइन भी ईश्वर की अज्ञेयता में विश्वास रखता

---

१. गीता, शा० भा० १३। १२।
२. देखिए न्यायसूत्र १।२।२२ पर वात्स्यायन का भाष्य एवं उद्योतकर का वार्तिक।
३. देखिए *H.F. Paten* : Kant's Metaphysics of Experience, Vol. I. p. 64. London, Allen & Unwln.
४. *Maxmuller* : Three Lectures on the Vedanta Philosophy, Page 123, Longman's Green, London, 1894.
५. दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसद् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनामसद् इव प्रतिभाति। शा० भा०, छा० उ० ८।१।१।
६. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३२।

था।[१] न्यायशास्त्र का भारतीय विद्वान् विश्वनाथ भी निर्दिष्ट वस्तु के ज्ञान को प्रामाणिक नहीं मानता था।[२] पश्चिमी विद्वान् हेगल भी शुद्ध सत् तत्त्व को असत् कहने लगा था।[३] परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, यदि मिथ्या जगत् के मूल में किसी सत् तत्त्व की स्थिति न हुई होती तो जगत् की स्थिति असम्भव ही होती। जगत् की तो बात ही क्या, मृगतृष्णिका आदि जो नितान्त असत् हैं, बिना आधार के सिवा नहीं हो सकते।[४] अतः ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान मानने में संकोच नहीं किया जा सकता। अधिष्ठान के इस सिद्धान्त का विस्तृत निरूपण आगामी अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा।

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म की जगत्कारणता के सम्बन्ध में विचार

परमार्थ दृष्टि से तो शांकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म एवं जगत् में अनन्यत्व होने के कारण कार्यकारणता का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। इसीलिए शांकर दर्शन के अनुसार जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है, परिणाम नहीं।[५] परन्तु माया शक्ति से शबलित होने के कारण ब्रह्म जगत् को कार्य तथा परब्रह्म को कारण कहा है।[६] परन्तु ब्रह्म के जगत् के कारण होने का तात्पर्य यह कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिए कि ब्रह्म अथवा उसके धर्म अथवा धर्मों में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है क्योंकि उत्पत्ति, रक्षा तथा प्रलय काल में ब्रह्म अविकृत ही रहता है।[७] अतः जगत् की उत्पत्ति आदि की इच्छा भी मायाविशिष्ट ब्रह्म में ही है। इसी मायाविशिष्ट ब्रह्म को ईश्वर संज्ञा दी गई है। ईश्वर सम्बन्धी विवेचन आगे किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि माया शक्ति से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का कारण है। संक्षेपशारीरककार ने मायाविशिष्टता के कारण ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण कहा है। केवल माया व्यापार[८] मात्र होने के कारण जगत् का उपादानकारण नहीं कही जा सकती। अतः ब्रह्म को ही जगत् का उपादानकारण कहा जा सकता है। शांकर दर्शन के अनुसार माया शक्ति से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का

---

१. We can know what, God is not, but not what He is. (Trinity, VIII. 2)

२. निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्–न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० ४६।

३. Hegal has declared that pure being devoid of all predicates, is not different from nonbeing. *Dr. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, Page 538.

४. नहि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरासपदा भवन्ति (शा० भा०, गीता १३।१४)।

५. परिणाम और विवर्त के सम्बन्ध में देखिए–वेदान्तपरिभाषा, प्रथम परिच्छेद।

६. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपंचं जगत् , कारणं परं ब्रह्म।–ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१२।

७. *P.M. Modi's* article—Relation of Brahma and Jagat. Indian Culture, Vol. VIII, p. 149.

८. तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः।

उपादानकारण ही नहीं, नित्य कारण भी है।[1]

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ईश्वर का स्वरूप

शांकर अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर का विवेचन करने से पूर्व यह कहना आवश्यक होगा कि शांकर दर्शन में ब्रह्म और ईश्वर नाम की दो पृथक् सत्तायें नहीं स्वीकार की गई हैं। ब्रह्म की ही एक स्थिति है। शंकराचार्य ने ब्रह्म के पर एवं अपर, यह दो भेद भी किये हैं। आचार्य का कथन है कि जहाँ अविद्याप्रयुक्त नाम और रूप आदि विशेष के प्रतिरोध से अस्थूलादि शब्दों से ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, पर परब्रह्म है। इसके अतिरिक्त जब वह नाम और रूपादि किसी विशेष से विशिष्ट होता हुआ उपासना के लिए वर्णित होता है तब वही अपर ब्रह्म कहलाता है।[2] यह अपर ब्रह्म ही शांकर दर्शन का ईश्वर है। शंकराचार्य-परवर्ती दार्शनिकों ने ईश्वर की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। इस स्थल पर शंकराचार्य के परवर्ती कतिपय आचार्यों के मतों का निरूपण किया जायेगा।

नृसिंहाश्रम का मत–नृसिंहाश्रम और उनके अनुयायियों का कथन है कि जब शुद्ध चित् का प्रतिबिम्ब माया में पड़ता है तो वह ईश्वर कहलाता है और जब उस चित् का प्रतिबिम्ब अविद्या में पड़ता है तो वह जीव कहलाता है।[3]

सर्वज्ञात्मा का मत–सर्वज्ञात्मा माया एवं अविद्या के मध्य किसी प्रकार का भेद नहीं देखते। सर्वज्ञात्मा के विचार से जब चित् का प्रतिबिम्ब पूर्ण कारण के रूप में अविद्या में पड़ता है तो हम उसे ईश्वर कहते हैं और इसके विपरीत जब चित् का प्रतिबिम्ब अविद्योत्पन्न अन्तःकारण में पड़ता है तो उसे जीव या जीवात्मा कहते हैं।[4]

विद्यारण्य का मत–पंचदशी के लेखक विद्यारण्य ने जीव और ईश्वर को माया नामक कामधेनु का वत्स रूप कहा है।[5]

अद्वैतचन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत–अद्वैतचन्द्रिका के लेखक सुदर्शनाचार्य का विचार है कि एक ही परमेश्वर मायानिष्ठ सत्त्व, रज और तमोगुण के भेद से ब्रह्मा, विष्णु और महेश संज्ञाओं

---

१. In Śaṅkara's system, Brahman being the efficient ('निमित्तकारणम्') as well as the material cause (उपादान कारणम्) of the world & there being no manipulator of an extraneous material co-eternal with Him. S.B. Fellowship betures, 1929, p.28.

२. किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति, उच्यते यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत् परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते, 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४।

३. *Dr. S.N.Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 476.

४. *Dr. S.N.Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 476.

५. मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ। –पंचदशी, चित्रदीप प्रकरण, श्लोक २३६।

को प्राप्त होता है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त मतों के विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईश्वर की सत्ता माया पर आधारित है। शांकर दर्शन के अनुसार माया के बिना परमेश्वर का स्रष्टृत्व भी सिद्ध नहीं होता।[2]

ईश्वर का अन्तर्यामित्व एवं शासकत्व–विषय एवं विषयी दोनों के अन्तर्गत ईश्वर की सत्ता होने के कारण ईश्वर अन्तर्यामी है। इसके अतिरिक्त ईश्वर ही जगत् का स्रष्टा, शासक एवं संहारकर्ता है।[3] श्रीमद्भगवद्गीता की उस उक्ति में ईश्वर के अन्तर्यामित्व की बड़ी स्पष्ट झलक मिलती है, जिसमें यह कहा गया है कि ईश्वर ही यन्त्रारूढ़ के समान समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमित करता हुआ समस्त प्राणियों के हृदय में वर्तमान रहता है।[4] परन्तु यहाँ यह विचार्य है कि जिस प्रकार मायावी (ऐन्द्रिजालिक) स्वयं प्रसारित माया से त्रिकाल में भी स्पृष्ट नहीं होता उसी प्रकार परमात्मा भी संसार माया से अस्पृष्ट है।[5]

ईश्वर की लीला और सृष्टि–जैसा कि ऊपर भी कहा गया है शांकर दर्शन में ईश्वर को जगत् का स्रष्टा कहा गया है। श्रुति में भी 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' आदि वाक्यों में परमेश्वर के अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा का उल्लेख हुआ है। यहाँ यह विचारणीय है कि जो परमेश्वर आप्तकाम है, उसमें सृष्टि-उत्पत्ति की इच्छा किस प्रकार उत्पन्न होती है। उक्त शंका का समाधान शंकराचार्य के सिद्धान्त के अन्तर्गत समुचित रूप से उपलब्ध होता है। शंकराचार्य ने सृष्टि को ईश्वर लीला का फल कहा है। शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार लोक में किसी राजा या राजा के मन्त्री की, जिसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो गई हैं, क्रीड़ाक्षेत्र में प्रवृत्तियाँ किसी दूसरे प्रयोजन की अभिलाषा न करके केवल लीला-रूप ही होती हैं और जिस प्रकार कि उच्छ्वास, प्रवास आदि किसी बाह्य प्रयोजन की अभिसन्धि के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार किसी अन्य प्रयोजन की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही ईश्वर की भी केवल लीलारूप प्रवृत्ति कही जायेगी।[6] यदि कहा जाय कि लोक में लीलाओं में भी किसी प्रकार का सूक्ष्म प्रयोजन देखा जा सकता है तो भी ईश्वर लीला के सम्बन्ध में किसी सूक्ष्म प्रयोजन की उत्प्रेक्षा करना सम्भव न होगा। क्योंकि जो ईश्वर पूर्णकाम है उसकी लीला में किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं देखा जा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि सृष्टि लीलाविधायी ईश्वर के स्वभाव का फल है।

शांकर दर्शन में सृष्टिवैषम्य और ईश्वर–यदि आप्तकाल एवं निस्पृह ईश्वर जगत् का स्रष्टा है तो उसकी सृष्टि में वैषम्य किस प्रकार मिलता है, यह विचारणीय है। वस्तुतः सृष्टि-वैषम्य स्पष्ट है,

---

१. अद्वैतचन्द्रिका, पृष्ठ ४० (बनारस संस्करण १६०१)।
२. नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति (ब्र० सू०, शा० भा० १।४।३)।
३. ब्र० सू० शा० भा० १।१।१८-२०, २२, १।३।३६, ४१, ३।२।६।१०।
४. शा० भा०, गीता, १८।६१।
५. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।६।
६. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।३३।

क्योंकि संसार में कोई अत्यन्त ऊँचा है, कोई मध्यम है और कोई नीच। सृष्टि की उक्त विषमता का कारण शंकराचार्य ने विस्तार से समझाया है। शंकराचार्य का कथन है कि ईश्वर निरपेक्ष होकर सृष्टि का निर्माण नहीं करता, वरन् वह धर्म और अधर्म की अपेक्षा करके सृष्टि निर्माण करता है।[१] सृज्यमान प्राणियों के धर्म और अधर्म की अपेक्षा से सृष्टि विषम होती है। अतः ईश्वर का कोई अपराध नहीं है। ईश्वर को तो पर्जन्य के समान समझना चाहिए। जिस प्रकार व्रीहि, यव आदि की सृष्टि में पर्जन्य साधारण कारण है और व्रीहि, यव आदि की विषमता में उस बीज में रहने वाली सामर्थ्य असाधारण कारण है, उसी प्रकार देव मनुष्य आदि की सृष्टि का ईश्वर साधारण कारण है। देव, मनुष्यादि की विषमता में तो तत्तत् जीवों में रहने वाले कर्म असाधारण कारण होते हैं। इस प्रकार ईश्वर कर्म की अपेक्षा रखने से वैषम्य और नैर्घृण्य रूप दोषों का भाजन नहीं है।

यह विचारणीय है कि सापेक्ष ईश्वर नीच, मध्यम और उत्तम संसार का निर्माण किस प्रकार करता है। इस सम्बन्ध में कौषीतकि ब्राह्मण के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से कहा है कि ईश्वर जिसको इस लोक से ऊँचा ले जाना चाहता है, उससे साधु कर्म कराता है और जिसको नीचे ले जाना चाहता है, उससे असाधु कार्य करता है।[२] परन्तु श्रुति के उक्त विचार के अनुसार तो ईश्वर की वैषम्य सृष्टि अधिक पक्षपातपूर्ण प्रतीत होती है क्योंकि किसी से साधु एवं किसी से असाधु कर्म कराने में ईश्वर का उद्देश्य पक्षपातपूर्ण ही कहा जायेगा। ईश्वर के सम्बन्ध में उक्त शंका करनी उचित नहीं है। अनादिकाल से पूर्व संचित साधु या असाधु वासनाओं के कारण पुरुष स्वभाव से ही तत्तत् कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतः ईश्वर इसमें साधारण हेतु है। इसलिए ईश्वर को पक्षपातपूर्ण स्रष्टा नहीं कहा जा सकता।[३]

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जीव का स्वरूप

एक अद्वैत तत्त्व ब्रह्म के ही माया शक्ति के कारण ईश्वर एवं अविद्योपाधि के कारण जीव, ये दो भेद हैं। शंकराचार्य ने जीव की जीवता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब तक बुद्धिरूप उपाधि के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है तभी तक जीव का जीवत्व एवं संसारित्व है।[४] जीव के स्वरूप विवेचन के सम्बन्ध में शांकरवेदान्त के अनुयायी विद्वानों के विभिन्न मत मिलते हैं। इस स्थल पर इन विद्वानों के प्रमुख मतों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

वाचस्पतिमिश्र का मत—वाचस्पति मिश्र का मत है कि अविद्या जीव का अधिकरण है परन्तु जीव में रहने वाली अविद्या निमित्तता और विषयता के करण ईश्वराश्रित होने से ईश्वराश्रया कही जाती

---

१. धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः।—ब्र० सू०, शा० भा० २।१।३४।

२. एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते। (कौ० ब्रा० ३।८)

३. अनादिपूर्वार्जितसाध्वसाधुवासनया स्वभावेन जनस्य तत्तत् कर्मसु प्रवृत्तौ ईश्वरस्य साधारणहेतुत्वात्, अतोऽनवद्य ईश्वरः—रत्नप्रभा, ब्र० सू० २।१।३४।

४. यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च—ब्र० सू०, शा० भा० २।३।३०।

है।[1]

प्रकटार्थविवरणकार का मत–प्रकटार्थविवरणकार का मत है कि सर्वभूतप्रकृति, चिन्मात्र-सम्बन्धिनी, अनादि एवं अनिर्वचनीय माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है और उसी माया के अविद्या नाम वाले, आवरण और विक्षेप शक्तियुक्त परिच्छिन्न अनन्त प्रदेशों में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है। (सिद्धान्तलेशसंग्रह, २६)

विद्यारण्य का मत–विद्यारण्य का मत है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के माया और अविद्या यह दो रूप हैं। रज और तम से तिरस्कृत न होकर जो मुख्य रूप से शुद्ध तत्त्व प्रधान है, वह माया है। इसके अतिरिक्त जो रज और तम से अभिभूत होकर मलिन तत्त्व प्रधान है वह अविद्या है। संक्षेप में, माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है।[2]

सर्वज्ञात्ममुनि का मत–संक्षेपशारीरक के रचयिता सर्वज्ञात्म मुनि ने अविद्या में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ईश्वर तथा अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्य के प्रतिबिम्ब को जीव संज्ञा दी है।[3]

दृग्दृश्यविवेक के अनुसार जीव के तीन भेद–दृग्दृश्य विवेक के अन्तर्गत विद्यारण्य मुनि ने जीव के तीन भेद किये हैं–(१) अन्तःकरणावच्छिन्न कूटस्थ चैतन्य पारमार्थिक जीव। (२) मायावृत कूटस्थ में चित् का आभासरूप व्यावहारिक जीव। (३) निद्रा से आवृत व्यावहारिक जीव में कल्पित प्रातिभासिक जीव।[4] इस प्रकार विद्यारण्य ने जीव के उक्त भेदों का उल्लेख करके वैज्ञानिक अध्ययन का परिचय दिया है।

अप्पयदीक्षित द्वारा उद्धृत कुछ अन्य मत

विवरणमत के अनुयायियों के अनुसार अविद्या में चैतन्य का आभास जीव और बिम्ब-स्थानापन्न चैतन्य ईश्वर है। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार जीव, अन्तःकरण से अवच्छिन्न है। एक अन्य मत का उल्लेख करते हुए अप्पय दीक्षित ने कहा है कि कुछ विद्वानों के मतानुसार जीव न प्रतिबिम्ब है और न अविच्छिन्न। जिस प्रकार कुन्तीपुत्र कर्ण में राधेयत्व (राधापुत्र) का व्यवहार होता है उसी प्रकार अविद्या से अधिकृत ब्रह्म में ही जीवत्व का व्यवहार होता है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों के मतानुसार जीव की स्थिति योगी के समान है। जिस प्रकार कि एक ही योगी विभिन्न शरीरों के समूहों में अपना आधिपत्य रखता है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ से अन्य एक जीव है। यही जीव सब शरीरों में अधिकार रखता है।[5]

---

१. भामती, ब्र० सू०, १।४।३।
२. पंचदशी, तत्त्वविवेक प्रकरण–१६, १७।
३. सिद्धान्तलेशसंग्रह, ३२ (प्रथम परिच्छेद)।
४. देखिए, सिद्धान्तलेशसंग्रह, ३८, ३६ (प्रथम परिच्छेद)।
५. देखिए, सिद्धान्तलेशसंग्रह ४०,४२,४४ (प्रथम परिच्छेद)।

इस लेखक का दृष्टिकोण

जैसा कि जीव सम्बन्धी विवेचन के आरम्भ में ही कहा जा चुका है, मूल तत्त्व एकमात्र ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीवत्व को प्राप्त होता है। वस्तुतः जीवों का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है–जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म (भामती, ब्र० सू०, १।४।३)। यहाँ यह और उल्लेखनीय है कि अविद्या की निवृत्ति होने पर जीव ईश्वरत्व को प्राप्त होता है। इस ईश्वर से ब्रह्म की सत्ता पृथक् नहीं समझनी चाहिए। जगत् के समस्त सुख-दुःखदि का भोक्ता एवं विभिन्न कार्यों का कर्ता यही जीव है।[1] इस प्रकार शुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म के ही अविद्योत्पन्न जीवादि भेद हो जाते हैं।

कर्ता एवं भोक्ता जीव की ही विश्व, तैजस और प्राज्ञ संज्ञाएँ हैं। जीव की उक्त अवस्थायें जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं, स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण, इन तीन शरीरों तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोशों पर आधारित हैं। जाग्रत् अवस्था में स्थित अन्नमय कोशरूप स्थूल शरीर के अभिमानी जीव को विश्व कहते हैं। स्वप्नावस्था में स्थित मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय कोशरूप सूक्ष्म शरीर के अभिमानी जीव को तैजस कहते हैं। उक्त तीन कोश ही जीव की ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति के कारण हैं। विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण कर्तृत्वंयमय है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति से युक्त होने के कारण विवेक का साधक है, एवं प्राणमय कोश गमनादि क्रिया से युक्त होने के कारण कार्यरूप है। सुषुप्त्यवस्थावर्ती आनन्दमय कोशरूप कारणशरीर के अभिमानी जीव को प्राज्ञ कहते हैं। उपर्युक्त जाग्रदादि अवस्थाओं, स्थूलादि शरीरों एवं अन्नमयादि कोशों के अनुरूप ही समष्टिरूप ईश्वर को वैश्वानर या विराट्, सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर कहते हैं।

जीव और ईश्वर

ईश्वर माया शक्ति सम्पन्न है और जीव अविद्योपाधि से उपहित। जहाँ ईश्वर में सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व एवं सर्वव्यापकत्व है वहाँ जीव अल्पज्ञ, तुच्छ एवं अत्यंत लघु है।[2] शंकराचार्य का कथन है कि निरतिशय उपाधि से सम्पन्न ईश्वर अत्यन्त हीन उपाधि से सम्पन्न जीवों पर शासन करता है।[3] जैसा कि कहा जा चुका है, ईश्वर और जीव मूलतः एक ही हैं। चैतन्यतत्त्व जीव एवं ईश्वर का एक ही है। जीव ईश्वर के अंश के समान ही है, परन्तु वह मुख्य अंश नहीं है। इसका कारण यही है, कि निरवयव ईश्वर का अंश नहीं हो सकता।[4]

---

१. ब्र० सू०, शा० भा०, २।३।२६, २।३।३३।

२. वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते।। –श्वे० उ० ५।६।
तथा देखिए, ब्र० सू०, शा० भा० २।३।२६।

३. निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो विहीनोपाधिसम्पन्नाञ्जीवान् प्रशास्तीति न किंचिद् विप्रतिषिध्यते। ब्र० सू०, शा० भा०, २।३।४५।

४. अंश इवांशो न हि निरवयवस्य मुख्योऽशः सम्भवति। –ब्र० सू०, शा० भा० २।३।४३।

जीव और ईश्वर में एक विशेष अन्तर यह है, कि जीव सांसारिक दुःख-सुखादि का अनुभव-कर्ता है, परन्तु ईश्वर दुःखादि का अनुभवकर्ता नहीं है। इसका कारण यह है कि जीव अविद्या के आवेश के वश देहादि के आत्मभाव को प्राप्त कर तत्कृत दुःख से 'अहं दुःखी' मैं दुःखी हूँ, इत्यादि अविद्याकृत दुःख के उपभोग का अभिमानी होता है। इसके विरुद्ध परमेश्वर का देहादि में आत्मभाव या दुःखादि अभिमान नहीं है। वैसे तो यदि विचार कर देखा जाय तो जीव का दुःखादि का अभिमान भी परमार्थिक नहीं है। क्योंकि जीव का अविद्या से कल्पित नामरूप से निर्वृत्त देह, इन्द्रिय एवं उपाधियों के अविवेक भ्रम से उत्पन्न हुआ ही दुःखादि का अभिमान है, पारमार्थिक दुःखाभिमान कदापि नहीं है। एक उदाहरण से यह कथन और स्पष्ट हो जाएगा। जिस प्रकार कि पुरुष अपने देह को प्राप्त हुए दाह, छेदन आदि से उत्पन्न दुःख का उस देह के अभिमान की भ्रान्ति से अनुभव करता है, उसी प्रकार स्नेहवश पुत्र मित्र आदि में अभिनिवेश करता हुआ 'मैं ही पुत्र हूँ' इत्यादि रूप से अनुभव करता है। अतः इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मिथ्याभिमान का भ्रम ही दुःखानुभव का निमित्त है।[1] अद्वैत वेदान्तदर्शन के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से तो जीव ब्रह्मरूप ही है।[2] अतः उसके (जीव के) दुःखसुखादि भी पारमार्थिक नहीं हैं।

जीव और साक्षी का अन्तर–ब्रह्म, ईश्वर, जीव और साक्षी शब्दों में पारमार्थिक दृष्टि से एक तत्व की ही स्थिति होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर उपलब्ध होता है। उपाधिशून्य चेतन तत्त्व का नाम है ब्रह्म एवं मायाविशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। जैसा कि ऊपर कहा गया है जगत् के भोक्तापन का अभिमानी जीव है। साक्षी इन तीनों से भिन्न है। वह न कर्ता है, न भोक्ता और न स्रष्टा। जीव और साक्षी के भेद का स्पष्टीकरण मुण्डकोपनिषद् के अन्तर्गत एक उपमान के आधार पर बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि एक वृक्ष पर सदा साथ रहने वाले दो पक्षी रहते हैं। उनमें से एक पिप्पल (मधुर फल) का स्वादपूर्वक भक्षण करता है और दूसरा पिप्पल को न खाकर उस दूसरे पक्षी को देखता मात्र रहता है।[3] यह द्रष्टा ही साक्षी है। उक्त स्थल पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने शरीर को क्षेत्र एवं अविद्याकामकर्मवासना के आश्रय लिंगोपाधि से उपहित आत्मा और ईश्वर को पक्षी कहा है।[4] आचार्य शंकर का कथन है कि उनमें से एक क्षेत्रज्ञ लिंगोपाधिरूप वृक्ष के आश्रित हुआ कर्मानुसार निष्पन्न सुखदुःख रूप फल का अविवेक से उपभोग करता है। दूसरा अर्थात् ईश्वर जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला, सर्वज्ञ तथा सर्वसत्त्वोपाधियों से युक्त है, वह कर्म फलों का भोक्ता नहीं है। यदि ईश्वर साक्षी रूप से भोक्ता जीव एवं भोग्य का प्रेरक है। राजा के समान ईश्वर का दर्शन ही प्रेरणा है।[5] इस प्रकार भोक्ता जीवात्मा एवं साक्षी ईश्वर के बीच अन्तर द्रष्टव्य है।

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।३।४६।

२. तथा चाविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः तत्त्वमसि इत्येवमादयः।–ब्र० सू०, शा० भा०, २।३।४६।

३. मुण्डकोपनिषद्, ३।१।१।

४. शा० भा०, मु० उप०, ३।१।१।

५. तयोः परिष्वक्त्योरन्य एकः क्षेत्रज्ञो दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं राजवत्–शा० भा०, मुण्ड० उप० ३।१।१।

जीव और आत्मा–प्रत्येक जीव का मूल स्वरूप आत्मा है और यह आत्मा प्रत्येक जीव में ब्रह्मरूप है। आत्मा की अजरता, अमरता एवं कूटस्थता शांकर वेदान्त में स्थान स्थान पर व्याख्यात है।[1] जीव भी आत्मा से भिन्न नहीं है। इसके विपरीत जीव स्वभावतः आत्मा ही है। यहाँ यह शंका होनी स्वाभाविक है कि जो आत्मा कूटस्थ है वह जीव में सक्रियता एवं प्रवृत्ति किस प्रकार ला देता है। शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देते हुए समझाया है कि जैसे लौह-चुम्बक स्वयं प्रवृत्तिरहित होने पर भी लौह का प्रवर्त्तक होता है अथवा जैसे रूप आदि विषय स्वयं प्रवृत्तिरहित होने पर भी नेत्रादि के प्रवर्त्तक होते हैं, इसी प्रकार प्रवृत्तिरहित होता हुआ भी ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान होने से सबको प्रवृत्त करे, यह उचित ही है।[2]

जीव और आत्मा के एक होते हुए भी जीव की आत्मरूपता के बोध के न होने का कारण यह है कि वह अविद्याजन्य विभिन्न उपाधियों से युक्त है। अविद्या-निवृत्ति होने पर जीव आत्मरूपता को ही प्राप्त होता है। आत्मरूपता की यही स्थिति ब्रह्मात्मता की स्थिति है।

जीव की एकता एवं अनन्तता का विचार

जीव एकरूप है अथवा अनन्तरूप है, इस विषय में अनेक मत उपलब्ध होते हैं। कुछ विद्वान् एकजीववाद का समर्थन करते हैं एवं कतिपय अन्य विद्वान् अनेकजीववाद के अनुयायी हैं। एक-जीववाद एवं अनेकजीववाद के भी अनेक रूप मिलते हैं। इस स्थल पर एकजीववाद एवं अनेकजीववाद के अनेक रूपों की आलोचनात्मक विवेचना की जायेगी।

एकजीववाद के अनेक रूप–एकजीववाद के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में जो एकाधिक मत मिलते हैं, उनका पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायेगा।

प्रथम मत–एकजीववाद के कुछ अनुसर्ताओं का कथन है कि वस्तुतः जीव एक ही है। एक ही जीव अविद्या से समस्त जगत् की स्थापना करने वाला है। इन एकजीववादियों का कथन है कि जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये पदार्थों की निद्रा-निवृत्ति होने पर, निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार अविद्या-निवृत्ति के पश्चात् अनन्त जीवयुक्त जगत् की कल्पना भी नष्ट हो जाती है। इस मत के अनुसार मुक्ति की सत्ता भी काल्पनिक ही कही गयी है।

आलोचना–उक्त मत का एक बड़ा दोष यह है कि इस मत के अनुसार जीव ही समस्त काल्पनिक जगत् का स्रष्टा है। वस्तुतः जीव को जगत् का स्रष्टा नहीं कहा जा सकता। जगत् का स्रष्टा तो ईश्वर ही है जो बिना किसी प्रयोजन के जगत् की सृष्टि करता है।[3] अतः एकजीववादियों का उक्त मत संगत नहीं कहा जा सकता।

द्वितीय मत–एकजीववादियों के दूसरे मत के अनुसार ब्रह्म के प्रतिबिम्बभूत हिरण्यगर्भ को ही

---

१. देखिए, शांकरभाष्य, गीता, २।२०, २।२४।

२. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य २।२।२।

३. ब्र० सू०, शा० भा० ३।१।१३।

मुख्य जीव माना गया है। इस मत के अनुयायी विद्वान् जीव के स्रष्टृत्व का विरोध करते हैं।

उक्त मत का दोष–प्रत्येक कल्प में हिरण्यगर्भ का भेद होने के कारण किसी एक हिरण्यगर्भ में मुख्य रूप से जीवत्व की स्थापना नहीं की जा सकती। अतः एकजीववादियों का उक्त मत भी दूषित है।

तृतीय मत–तृतीय मत के अनुसार एकजीववादियों का कथन है कि एक ही जीव मुख्यामुख्य विभाग के बिना ही सब शरीरों में स्वभोग के लिए अधिष्ठित है।[1] अतः इस मत के अनुसार अविद्या के एक होने के कारण तत्प्रतिबिम्बित चैतन्य–जीव एक ही है। यही जीव सकल शरीरों में स्वभोग के लिए अधिष्ठित है। एकजीववादियों का उक्त सिद्धान्त 'अविशेषानेकशरीरैक जीववाद' के नाम से प्रचलित है।

अनेकजीववाद का सिद्धान्त

अनेकजीववाद के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म ही अविद्याजन्य अन्तःकरणोपाधि के द्वारा
अनेकजीवभावत्व को प्राप्त करके संसारी बन जाता है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का कथन है कि अनन्त
संसारी जीव अपने स्वरूपबोध से वंचित होकर अज्ञान की निद्रा में शयन किया करते हैं।[2] अविद्या-निवृत्ति
होने पर ही जीव मुक्तिलाभ करते हैं। जिन जीवों की अविद्या-निवृत्ति नहीं होती, वे मुक्तिलाभ नहीं
करते। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव एक न होकर अनन्त हैं। अनेकजीववाद के सम्बन्ध
में आलोचना करते हुए कुछ विद्वानों का कथन है कि सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा जीवों की संख्या ज्ञात होने पर
जीवों को अनन्त नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि यह कहा जायेगा कि ईश्वर के लिए भी
जीवों की संख्या अनन्त है, तो ईश्वर के सर्वज्ञत्व में बाधा उत्पन्न होगी। उक्त पक्ष के विपरीत हमारा
निवेदन है कि अविद्या के अनादि होने के कारण अविद्याजन्य जीवों की निश्चित संख्या के अभाव में जीवों
की एक काल में गणना न होने के कारण ही जीवों को अनन्त कहा गया है। रामाद्वयाचार्य ने भी जीवों
की संख्या ज्ञात न होने के कारण ही जीवों को अनन्त कहा है।[3]

अनेकजीववाद के अनेक स्वरूप

एकजीववाद की ही तरह अनेकजीववाद के भी अनेक स्वरूप होते हैं। यहाँ अनेकजीववाद के
सम्बन्ध में उपलब्ध विभिन्न मतों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

प्रथम मत–कतिपय अनेकजीववादी आलोचक विद्वान् अन्तःकरण आदि को जीव की उपाधि
मानकर बद्ध तथा मुक्त की पृथक् व्यवस्था करके अनेकजीववाद का प्रतिपादन करते हैं।

---

१. देखिए–अप्पयदीक्षित, सिद्धान्तलेशसंग्रह, १।१२३।

२. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। ब्र० सू०, शा० भा० १।४।३।

३. अनन्ताश्च जीवा अज्ञातसंख्यात्वात्। वेदान्तकौमुदी, पृष्ठ २७८।

द्वितीय मत–अनेकजीववादियों के द्वितीय मत के अनुसार यद्यपि शुद्ध ब्रह्म का आश्रय एवं विषय अज्ञान एक ही है एवं इस अज्ञान की निवृत्ति होने पर ही मोक्ष होता है तथापि यह अज्ञान सांश है। इसका कारण यह है कि जीवन्मुक्ति में अज्ञान के विक्षेपांश की अनुवृत्ति होती है। अतः जिस उपाधि में ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति होगी, उसी स्थल में अज्ञान की आंशिक निवृत्ति होगी। इसके विपरीत अन्य उपाधियों में पूर्ववत् अपने अंशों में अज्ञान की अनुवृत्ति होगी।[1]

तृतीय मत–अनेकजीववाद के इस तृतीय मत का स्थापक नैयायिक है। अनेकजीववादी नैयायिक का कथन है, कि जिस प्रकार भूतल में घटात्यन्ताभाव की वृत्ति में घटसंयोगाभाव के नियामक होने के करण, घटसंयोगाभाव वाले प्रदेशों में घटात्यन्ताभावसम्बन्ध करके स्थित रहता है, इसके अतिरिक्त प्रदेशान्तर में जहाँ घटसंयोग की उत्पत्ति से घटसंयोगाभाव की निवृत्ति हो गई है, सम्बद्ध नहीं होता, इसी प्रकार चैतन्य में अज्ञान की वृत्तिता का नियामक मन होने के कारण, अज्ञान मनरूप उपाधि से युक्त प्रदेश में व्याप्त करके रहने वाली जाति के समान, अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब रूप समस्त जीवों में रहता है। जिस प्रकार कि जातिरूप धर्म नष्ट व्यक्ति का त्याग कर देता है उसी प्रकार अज्ञान भी उस जीव का त्याग कर देता है, जिसमें विद्या उत्पन्न हो जाती है। यही त्याग मुक्ति का कारण है। परन्तु जिस पुरुष में ज्ञानोत्पत्ति नहीं हुई है, अज्ञान उसमें आश्रित रहता है। अतः जिस जीव में अज्ञान का आश्रय है, वही बद्ध है। इस प्रकार नैयायिक अनेकजीववादी की बन्धन और मोक्ष की कल्पना भी शांकरवेदान्त से भिन्न है।

चतुर्थ मत–अनेकजीववादियों के चतुर्थ मत के अनुसार प्रत्येक जीव में अविद्या भिन्न रूप से वर्तमान रहती है। यही कारण है कि प्रत्येक जीव की मुक्ति उसकी अविद्या-निवृत्ति पर आधारित है।

आलोचना–ऊपर हमने एकजीववाद एवं अनेकजीववाद के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। यहाँ हमें इतना ही कहना है कि एकजीववाद की अपेक्षा अनेकजीववाद ही युक्ति-संगत है। जैसा कि कहा जा चुका है, शंकराचार्य भी अनेकजीववाद के ही समर्थक हैं। एकजीववाद के विरोध में हमारा तर्क है कि यदि एक जीव को ही सकल शरीरों का अधिष्ठान माना जायेगा तो उस जीव को भिन्न-भिन्न शरीरों की सुख-दुःखादि की अनुभूति भी होगी, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अतः एक-जीववाद की अपेक्षा अनेकजीववाद का सिद्धान्त ही युक्तिसंगत कहा जायेगा।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद और उनका मायावाद का सिद्धान्त

अद्वैतवाद के क्षेत्र में मायावाद का महत्त्व अत्यन्त प्रमुख है। मायावाद के सिद्धान्त के स्वीकार किये बिना अद्वैतवाद का प्रतिपादन ही असम्भव है, यही मायावाद की उपयोगिता है। अनेकों आलोचकों की बुद्धि में भ्रम होने के कारण, यहाँ यह कह देना और संगत होगा कि मायावाद सिद्धान्तवाद नहीं है। सिद्धान्तवाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पश्चिमी एवं भारतीय विद्वानों के अनेक मत प्रचलित हैं। यहाँ इन मतों का संकेत एवं आलोचन उपयुक्त होगा।

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृष्ठ १२६ (अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी) सं० २०११, मद्रपुरी।

थीबो का मत–वेदान्तदर्शन के पश्चिमी अध्येताओं में जार्ज थीबो का स्थान प्रमुख है। ब्रह्म-सूत्र-शांकरभाष्य के अनुवाद ग्रन्थ की भूमिका के अन्तर्गत थीबो महोदय ने अतिविस्तृत तो नहीं, परन्तु इस विषय पर कुछ विचार किया है कि उपनिषदों में मायावाद का सिद्धान्त उपलब्ध है अथवा नहीं। इस विषय पर विवेचन करते हुए थीबो महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उपनिषदों में माया की जिस असारता एवं तुच्छता की चर्चा है, उनमें से कोई भी माया के उस अर्थ में मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं करती, जिस अर्थ में कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित माया मिथ्या है।[१] इस प्रकार जार्ज थीबो औपनिषद माया सम्बन्धी दृष्टिकोण को शंकराचार्य के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण से पृथक् मानते हैं। थीबो महोदय का विचार है कि शंकराचार्य ने जिस प्रकार जगत् को रज्जु में सर्प के समान मिथ्या कहा है, उस प्रकार उपनिषदों में जगत् को मिथ्या नहीं कहा गया है। थीबो का विचार है कि उपनिषद् हमें वह दृष्टिकोण नहीं देते जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् मिथ्या दिखाई देता है और जिस मिथ्यात्व की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा होती है।[२]

कोलब्रुक का मत–कोलब्रुक महोदय का विचार है, कि जगत् के मायात्व, मिथ्यात्व, स्वप्नत्व एवं अकिंचनत्व का विचार उपनिषदों एवं मूल वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता।[३]

मैक्समूलर का मत–मैक्समूलर महोदय भी मायासम्बन्धी सिद्धान्त को उपनिषदों की देन न मानकर उपनिषदों के उत्तर काल की देन स्वीकार करते हैं।[४] इस सम्बन्ध में मैक्समूलर महोदय का कथन है कि, उपनिषदों में जगत् को माया या मिथ्या सिद्ध करने वाला विचार नहीं मिलता।

रेगनाड का मत–जर्मन विद्वान् रेगनाड कहते हैं कि यह पूर्णतया विदित है कि प्रमुख उपनिषदों में श्वेताश्वतर और मैत्रायणीय को छोड़कर कहीं भी माया शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता। निःसन्देह वृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत केवल एक बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु जिस अंश में वहाँ माया शब्द का प्रयोग हुआ है वह अंश ऋग्वेद-संहिता से उद्धृत है, जहाँ माया शब्द का अर्थ सृष्टिकर्त्री शक्ति है।[५] रेगनाड महोदय का विचार था कि उपनिषदों की शिक्षा में मायावाद सिद्धान्त उपलक्षित तो होता है, परन्तु यह सिद्धान्त वहाँ अस्पष्ट ही है।[६]

गफ का मत–गफ महोदय ने अपने 'फिलासफी आफ उपनिषद्स' ग्रन्थ के नवम अध्याय के अन्तर्गत बलपूर्वक कहा है, कि मायावाद का सिद्धान्त उपनिषदों का मूल सिद्धान्त है।

---

१. *G. Thibaught* : S.B.E. XXXIV, p. CXIX.

२. वही।

३. *Max Muller* : Three Lectures on The Vedānta Philosophy, p. 130.

४. वही, पृ० १२८।

५. It is well known......in which Māyā means creative power. (*Regnaud* : La Māyā, in the revue de 1' Histoire des Religious, tome XII. No. 3 (1885).—S.B.E. Vol. XXXIV. से उद्धृत।

६. S.B.E—Introduction, CXVII.

डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री का मत–वेदान्तदर्शन के अध्येता एवं मायावाद के आलोचक डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री ने अपनी 'दि डाक्ट्रिन आफ माया' नामक लघु पुस्तक के अन्तर्गत मायावाद का उदय और विकास दिखाने की चेष्टा की है। इस ग्रन्थ में शास्त्री जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मायावाद का विचार ऋग्वेद-संहिता एवं उपनिषदों में प्राप्त है।[1]

ऊपर जिन पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के मतों की चर्चा की गई है, उनके मत निम्नलिखत चार मतों में अन्तर्भूत हैं:

(१) मायावाद का उदय एवं विकास ऋग्वेद-संहिता एवं उपनिषदों में उपलब्ध होता है। इस मत के अनुयायी डाक्टर प्रभुदत शास्त्री हैं।

(२) मायावाद का सिद्धान्त उपनिषदों का मूल सिद्धान्त है। इस मत के समर्थक हैं–प्रो० गफ़।

(३) मायावाद सिद्धान्त का स्वरूप उपनिषदों में उस अर्थ में नहीं उपलब्ध होता जिस अर्थ में कि उसका विकास शांकरवेदान्त के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। इस मत के समर्थकों में कोलब्रुक, मैक्समूलर तथा थीबो प्रमुख हैं।

(४) उपनिषदों में मायावाद सिद्धान्त का अस्पष्ट रूप उपलब्ध होता है। इस मत के अनुसर्त्ता रेगनाड प्रभृति विद्वान् हैं।

समालोचना

प्रथम मत के अनुसार डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री आदि विद्वान् मायावाद का उदय और विकास ऋग्वेद एवं उपनिषदों में मानते हैं। डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री ने माया शब्द के प्रयोग के आधार पर ऋग्वेद में मायावाद सिद्धान्त का उदय देखने की चेष्टा की है। परन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो वहाँ माया शब्द का प्रयोग शंकराचार्य द्वारा प्रयुक्त अविद्या एवं मिथ्यात्व के अर्थ का सूचक नहीं है। ऋग्वेद के प्रामाणिक भाष्यकार सायण ने अधिकतर माया शब्द का अर्थ प्रज्ञा ही किया है।[2] ऋग्वेद के जिस मन्त्रांश 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० सं० ६।४७।१८) के आधार पर प्रायः आलोचकों ने मायावाद सिद्धान्त की पृष्ठभूमि खोजने की चेष्टा की है, वहाँ भी मायाशब्द का प्रयोग इन्द्र की अनेक रूप धारण करने वाली शक्ति के अर्थ में किया गया है,[3] अविद्या अथवा मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं। अतः केवल माया शब्द के प्रयोग के आधार पर ऋग्वेद-संहिता में मायावाद सिद्धान्त का उदय देखना उचित नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक उपनिषदों में मायावाद के स्वरूप निरूपण का प्रश्न है, वैसे तो 'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं' के अनुसार शंकराचार्य का समस्त वेदान्तदर्शन उपनिषद् दर्शन से ही विकसित हुआ है।

---

१. The Doctrine of Māyā, p. 36 (Luzac & Co., London 1911).

२. देखिए, सायणभाष्य, ऋग्वेदसंहिता, ५।८५।५, ५।८५।६, ६।८३।३।

३. *Dr. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 565 (Footnote).

इसीलिए ब्लूमफील्ड,[1] मैक्समूलर,[2] डायसन,[3] एवं मेकेन्जी[4] आदि पश्चिमी एवं डॉ० दासगुप्त[5] आदि भारतीय आलोचक विद्वानों ने भी निःसंकोच वेदान्तदर्शन को उपनिषदों का फल स्वीकार किया है, परन्तु यहाँ यह निवेदन करना उपयुक्त होगा कि उपनिषदों में मायावाद ही नहीं, अपितु अद्वैतदर्शन का भी सैद्धान्तिक रूप उपलब्ध नहीं होता। यदि विचार कर देखें, तो उपनिषदों में हमें अनेक स्थलों पर सैद्धान्तिक विरोध मिलता है।[6] जहाँ तक उपनिषदों में मायावाद सिद्धान्त के उदय का प्रश्न है, वहाँ यह स्वीकार करने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है कि प्राचीन उपनिषदों में आत्मा की परमार्थता और अद्वैतता एवं जगत् की असत्यता का विचार अनेक स्थलों पर मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थल पर याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि हे मैत्रेयि–आत्मा के दर्शन, श्रवण एवं चिन्तन से समग्र जगत् का ज्ञान हो जाता है।[7] इस प्रकार आत्मा एवं जगत् की अद्वैतता का चित्रण उपनिषदों में अनेक स्थलों पर मिलता है।[8] इसके अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा रूप सत्य को जगत् रूप व्यावहारिक सत्य से आवृत कहा गया है।[9] इसके अतिरिक्त बृहदारण्यक में ही एक स्थान पर द्वैत जगत् का निराकरण करते हुए अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन भी किया गया है। इस प्रकार प्राचीन उपनिषदों में जगत् की असारता एवं आत्मतत्त्व की वास्तविकता का वर्णन अनेक स्थलों पर उपलब्ध है। परन्तु जगत् की असारता का यह वर्णन यहाँ सैद्धान्तिक रूप में उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक उपनिषदों में माया सम्बन्धी विचार का प्रश्न है, प्राचीन उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग केवल दो बार ही हुआ है। एक बार बृहदारण्यक में और एक बार प्रश्नोपनिषद् में आचार की कुटिलता के अर्थ में किया गया है। निश्चय ही उक्त दोनों स्थलों पर माया शब्द का प्रयोग मायावादी शंकराचार्य द्वारा प्रयुक्त जगन्मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं हुआ है। अतः यह कथन पक्षपातपूर्ण नहीं कहा जा सकता कि उपनिषदों में मायावाद का वह सैद्धान्तिक रूप अनुपलब्ध है, जिसका प्रतिपादन शंकराचार्य के भाष्य ग्रन्थों में हुआ है। अतः गफ़ एवं डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री आदि आलोचक विद्वानों का उपनिषदों में मायावाद का रूप देखना उचित नहीं प्रतीत होता। जैसा कि पश्चिमी विद्वान् रेगनाड ने कहा है, उपनिषदों में मायावाद का सैद्धान्तिक रूप न होकर अस्पष्ट रूप ही कहा जा सकता है। अतः थीबो, कोलब्रुक एवं मैक्समूलर के उपर्युक्त मतों के अन्तर्गत अभिव्यक्त यह विचार सत्य ही प्रतीत होता है कि मायावाद का विकास वेदान्त के मूल साहित्य में न होकर उत्तर काल की देन है। वस्तुतः जिस अविद्या शक्ति एवं जगन्मिथ्यात्व के आधार

---

१. The religion of the Veda, page 5.
२. Vedānta Philosophy, page 135.
३. The Philosophy of the Upaniṣads, page 27.
४. E. R. E. Vol. VIII p. 597.
५. Indian Philosophy Vol. I, P. 42.
६. मिलाइए–छा० उ० ६।१६।३, कठ उ० ३।१५, मुण्डक० उ० १।१।६, बृ० उ० ४।४।१६, श्वे० उ० ६।८, तैत्तिरीय भृगुवल्लीय कठ० उ० ६।१२, केन० उ० १।५, बृ० उ० ४।४।१६, तै० उ० २।१।१, कठ० उ० ३।१, श्वे० उ० ४।५।
७. मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं निहितम्।–बृ० उ० २।४।५।
८. बृ० उ० २।४।७, ६, ३।८।११, ४।४।१७ मुण्डक उ० १।१।३, छा० उ० ६।१।१।
९. अमृतं सत्येन छन्नम्।–बृहदारण्यक उपनिषद्–१।६।३।

पर शंकराचार्य नेमायावाद का प्रतिपादन किया है, उसका सैद्धान्तिक रूप उपनिषदों में अनुपलब्ध ही कहा जायेगा। इस तथ्य का और अधिक स्पष्टीकरण अभी नीचे शंकराचार्य के मायावाद सिद्धान्त के विवेचन से स्वतः हो जायेगा।

शांकर मायावाद का स्वरूप

शंकराचार्य के समस्त ग्रन्थों में माया सम्बन्धी विवेचन अनेक स्थलों पर हुआ है, परन्तु मायावाद सम्बन्धी विवेचन की दृष्टि से शंकराचार्य के भाष्य ग्रन्थ ही अधिक प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन उपनिषदों में, ईशोपनिषद् भाष्य के अन्तर्गत माया शब्द की चर्चा एक बार भी नहीं हुई है। केनोपनिषद् भाष्य में लगभग तीन बार, कठोपनिषद् भाष्य में चार बार मुण्डकोपनिषद् भाष्य में चार बार, प्रश्नोपनिषद् भाष्य में दो बार, छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में दो बार तथा बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य के अन्तर्गत तीन बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार कुल मिलाकर उपनिषद् भाष्य में लगभग पच्चीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। गौडपादाचार्य की माण्डूक्यकारिका में भी लगभग पच्चीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत चालीस बार माया सम्बन्धी विवेचन मिलता है। ब्रह्मसूत्रभाष्य के अन्तर्गत लगभग चालीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत केवल एक बार ही (ब्र० सू० ३।२।३) माया की चर्चा की गई है। इन स्थलों पर माया की चर्चा परमेश्वर की शक्ति, अविद्या, इन्द्रजाल और मिथ्यात्व के अर्थ में की गई है।

शंकराचार्य ने जगत् और ब्रह्म की द्वैत बुद्धि का हेतु अविद्या को बतलाया है। शंकराचार्य का मायावाद के प्रतिपादन के सम्बन्ध में कथन है कि लोगों की अनेक प्रकार की तृष्णाओं एवं जन्म-मरण आदि दुःखों का कारण अविद्या ही है।[2] इस अविद्या का विषय जीव है। अविद्या के कारण ही जीव को परमार्थ सत्य आत्मस्वरूप का बोध न होने पर नामरूपात्मक जगत् ही परमार्थ रूप से सत्य भासता है। अविद्यानिवृत्ति होने पर जीव को आत्मस्वरूप का बोध होता है। जीव की यही स्वरूपस्थिति उसकी ब्रह्मरूपता है। इस अविद्या को जगत् की उत्पन्नकर्त्री बीजशक्ति का रूप दिया है।[3] यह बीज शक्ति परमात्मा की शक्ति है। इस अविद्यारूप बीज शक्ति का विनाश आत्मविद्या के द्वारा ही सम्भव है—विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात् (ब्र० सू०, शा० भा०, १।४।३)।

अविद्या का ही अपर नामधेय माया है। ऊपर हमने जिस अविद्या की चर्चा की है उसका सम्बन्ध जीव से है। माया का प्रयोग शंकराचार्य ने प्रायः मिथ्यात्व के प्रतिपादक इन्द्रजाल के अर्थ में किया है। शंकराचार्य ने परमेश्वर को मायावी तथा जगत् को माया कहा है।[4] इन्द्रजाल के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग करके शंकराचार्य ने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार इन्द्रजाल की सत्यता केवल द्रष्टाओं

---

१. माया शब्द के प्रयोग के लिए देखिये, डा० रामानन्द तिवारी—शंकराचार्य का आचारदर्शन, पृष्ठ—५८।

२. कठ० उपनिषद् भाष्य—२।५।

३. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः—ब्र० सू०, शां० भा० १।४।३।

४. ब्र० सू०, शां० भा० २।१।६।

के लिए ही है, उसी प्रकार नामरूपात्मक जगत् की सत्यता भी परमात्मा के लिए न होकर केवल अज्ञानी के लिए ही है, आत्मस्थिति के लिए नहीं। इस माया को अतिगम्भीर, दुरवगाह्य एवं विचित्र सिद्ध करते हुए शंकराचार्य का कथन है कि यह समस्त संसार, यह बतलाने पर भी कि प्रत्येक जीव परमात्मा रूप है, 'मैं परमात्मा रूप हूँ' ऐसा नहीं समझता। इसके विपरीत देहेन्द्रियादि रूप अनात्म तत्व को ही ग्रहण करता है।[1] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया ही जगत् के परमार्थ रूप से सत्य मानने का कारण है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक परमार्थ सत्य तो अद्वैत ब्रह्म ही है और जगत् माया है। परन्तु जगत् मायिक होने पर भी शशशृंग के समान पूर्णतया असत् नहीं है। इसीलिए शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की गई है।

माया की विषयिता एवं विषयता

माया का जीव से सम्बन्ध निश्चित करना माया की विषयिता एवं जगत् को माया एवं अविद्या का कार्य कहना माया की विषयता कहलाती है। जब हम कहते हैं कि अविद्या या माया के कारण जीव को नामरूपात्मक जगत् सत्य प्रतीत होता है तो माया से हमारा तात्पर्य उसकी विषयिरूपता से होता है। इसके विपरीत जब हम जगत् को माया मात्र कहते हैं तो इससे हमारा अभिप्राय माया की विषयता से होता है। अब यहाँ यह देखना है कि शांकर वेदान्त के अन्तर्गत माया के विषयित्व एवं विषयत्व की चर्चा किस रूप में मिलती है।

शांकरवेदान्त में माया का विषयित्व

शांकरवेदान्त के अन्तर्गत माया का विषयी एवं विषय दोना रूपों में ही वर्णन मिलता है। माया के विषयित्व के अनुसार शंकराचार्य का कथन है कि अविद्या के द्वारा ही नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म में आधारित होता है एवं इस अविद्याजन्य अध्यास के कारण ही जीव नामरूपात्मक जगत् को ब्रह्म के अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता के रूप में देखता है।[2] इसीलिए आचार्य ने अविद्या को प्रपंचजन्य समस्त अनर्थ का बीज कहा है।[3] शंकराचार्य ने एक दृष्टान्त के द्वारा माया एवं अविद्या के विषयित्व का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस प्रकार भस्मच्छन्न अग्नि के दहन एवं प्रकाशन तिरोहित रहते हैं, उसी प्रकार अविद्या से प्रत्युपस्थापित नाम और रूप से सम्पादित देह आदि उपाधियों के योग से अविवेकरूप भ्रम के कारण जीव के ज्ञान और ऐश्वर्य का तिरोभाव हो जाता है।[4] यहाँ यह और उल्लेखनीय है कि माया एवं अविद्या के विषयी रूप की स्थिति में उसका सम्बन्ध जीव से ही होता है, क्योंकि अज्ञान (अविद्या)

---

१. अहो अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा चेयं माया यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णाति, अनात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्त्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति।–कठोपनिषद्, शा० भा०, १।३।१२।

२. नामरूपोपाधिदृष्टिरेव भवति स्वाभाविकी।–बृ० उ०, शा० भा० ३।५।१।

३. सा चाविद्या एव सर्वस्यानर्थस्य प्रसवबीजम्। वही, ३।५।१।

४. ब्र० सू०, शा० भा०, ३।२।६।

के कारण ही जीव को नाम एवं रूप की सत्यता की भ्रान्ति होती है।

विषयत्व की दृष्टि से अविद्या एवं माया का निरूपण

शांकरवेदान्त के समालोचक विद्वानों ने प्रायः शंकराचार्य प्रतिपादित माया के विषयित्व एवं विषयत्व की आलोचना करते हुए माया को विषयरूप एवं अविद्या को विषयिरूप स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में नलिनी मोहन शास्त्री का कथन है–

What is māyā from the objective side is Avidyā from the subjective side.[1]

अर्थात् विषयत्व की दृष्टि से जो माया है वही विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है। इस प्रकार उक्त लेखक ने अविद्या एवं माया को एक मानते हुए भी उपर्युक्त दृष्टि से भेद स्वीकार किया है। यहाँ इस लेखक का निवेदन है कि विषयित्व एवं विषयत्व के आधार पर शांकर दर्शन में अविद्या एवं माया का भेद निरूपण शांकर दर्शन के सिद्धान्त के विपरीत है। इस सम्बन्ध में ये तर्क दिए जा सकते हैं–

(१) शंकराचार्य ने अविद्या एवं माया को पर्यायवाची माना है।[2]

(२) नलिनी मोहन शास्त्री के उपर्युक्त कथन के विपरीत शांकरवेदान्त में केवल विषयी रूप से ही अविद्या का वर्णन नहीं मिलता, अपितु विषयरूप से भी अविद्या का वर्णन मिलता है।[3] उदाहरण के लिए शंकराचार्य ने जहाँ नामरूपात्मक जगत् की उत्पन्नकर्त्री अविद्यात्मिका बीज शक्ति की चर्चा की है। शांकर भाष्य के अभी उद्धृत दोनों स्थलों (बृ० उ०, शा० भा०, २।१।१४, ब्र० सू०, शा० भा० १।४।३) में अविद्या से जीव सम्बन्धित विषयिरूप अविद्या का अर्थ कदापि नहीं ग्रहण किया जा सकता। क्योंकि जीवगत अनादि अविद्या देहेन्द्रियादि संघातमय नामरूपात्मक भौतिक जगत् की उत्पादिका कदापि नहीं स्वीकार की जा सकती। अतः उक्त स्थल में जहाँ अविद्या का उल्लेख नामरूपात्मक जगत् की बीजशक्ति के रूप में किया गया है, वहाँ अविद्या एवं माया से उस विषयरूप अविद्या एवं माया का तात्पर्य ग्रहण करना ही उचित होगा जो भौतिक जगत् का बीज है। अतः नलिनी मोहन शास्त्री का ऊपर निर्दिष्ट किया गया यह मत संगत नहीं प्रतीत होता कि विषयत्व की दृष्टि से जो माया है वही विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है। जैसा कि अभी कहा गया है शांकर भाष्य ग्रन्थों में अविद्या–माया का विषय रूप में वर्णन भी मिलता है।

भाष्यकार आनन्दगिरि ने भी माया एवं अविद्या के भेद का निराकरण करते हुए अविद्या एवं

---

१. *N. Shastri* : A Study of Śaṅkara, p. 142 (Calcutta 1942).

२. ब्र० सू०, शा० भा० १।४।३।

३. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

माया को एक ही कहा है।[1] अतः यह कथन उपयुक्त नहीं है कि जो विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है, वही विषयत्व की दृष्टि से माया है। ऊपर हमने इस प्रकार के उद्धरण भी उद्धृत किए हैं जहाँ शंकराचार्य ने अविद्या का प्रयोग विषयत्व की दृष्टि से किया है। अतः यह स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए कि शांकरवेदान्त में अविद्या का वर्णन विषयत्व एवं विषयित्व दोनों से मिलता है।

शांकरवेदान्त में उपलब्ध अविद्या के उपर्युक्त द्विविध दृष्टिकोण से हमें एक अन्य तथ्य भी उपलब्ध होता है और वह यह है कि विषयमूलक अविद्या द्वारा उत्पन्न जगत् की सत्ता केवल विषयित्व की दृष्टि से ही नहीं है, अपितु विषयत्व की दृष्टि से भी है। इस तथ्य का समर्थन इस तर्क से भी हो जाता है कि विद्या के द्वारा ब्रह्म में अध्यस्त नामरूपात्मक प्रपंच का तो लय हो ही जाता है, परन्तु भौतिक जगत् का विनाश नहीं होता। इस सम्बन्ध में अद्वैतवेदान्त के समालोचक कोकिलेश्वर शास्त्री का यह कथन उपयुक्त ही है कि जिस क्षण जीव मुक्त होता है उस क्षण जगत् का अभावरूपात्मक विनाश नहीं होता है।[2]

रामतीर्थ का मत

अज्ञान की विषयमूलकता का प्रतिपादन करते हुए शांकरवेदान्त के समालोचक रामतीर्थ ने अज्ञान को मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार एवं असत् सिद्ध करने वाले मतों का निराकरण किया है।[3] रामतीर्थ ने अज्ञान को ज्ञान का अभाव सिद्ध करने वाले मत का निराकरण तो किया ही है।[4] उन्होंने अज्ञान की भावरूप सत्ता स्वीकार की है। अतः माया एवं अविद्या के भावरूप होने के कारण उसे केवल विषयिमूलक कहना उचित नहीं है।

प्राणरूप से अविद्या के विषयत्व का निरूपण

अपनी अव्यक्त स्थिति में प्राण, शंकराचार्य द्वारा अव्यक्त नाम से व्याख्यात[5] माया का ही

---

१. आनन्दगिरि के मत के लिए देखिए–
S. B. E. Vol. XXXIV, page 243. पर पादटिप्पणी।

२. The world does not vanish into nothingness, the moment the individual soul attains *Mukti*.
देखिए, कोकिलेश्वर शास्त्री का लेख–Objectivity of Māyā (Jha Commemoration Vol. 1937, page 336).

३. मिथ्याज्ञानजन्यसंस्कारः अज्ञानम्, असत्प्रकाशनशक्तित्वेन असद्वा–इति मतद्वयं निरस्यति। देखिए, रामतीर्थ-वेदान्तसार।

४. सत्त्वरजस्तमोलक्षणास्त्रयो गुणाः कारणमव्याकृतात्मकम्। अज्ञानं त्रिरूपेण त्रिगुणात्मकम्। तथा च गुणस्य गुणवत्तानुपपत्तेर्न मिथ्याज्ञानम् 'अज्ञानम्'।–Jha Commemoration, Vol. 1937, Page 338 से उद्धृत रामतीर्थ का मत।

५. ब्र० सू०, शा० भा०, १।४।३।

पर्यायवाची है।[1] इसी प्राण को आचार्य शंकर ने जगत् के समस्त विषयों का बीजात्मा कहा है।[2] यह प्राण अथवा माया बीज अव्यक्त स्थिति में ब्रह्म रूप में अधिष्ठित होता हुआ स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण रूप से व्यक्त हुआ है। व्यक्तावस्था के प्राण अथवा माया के शंकराचार्य ने निम्नलिखित तीन रूप बतलाये हैं–

(१) प्रथम रूप के अनुसार प्राण एवं माया का प्रथम रूप विकाररहित आत्मा का रूप है।

(२) द्वितीय रूप के अनुसार एक आत्मा का ही माया के कारण अनेक रूप में दर्शन होता है।

(३) तृतीय रूप के अनुसार सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान आत्मा का अनेक रूप में दर्शन होता है।[3]

प्राण रूप से जिस माया बीज की चर्चा हमें शांकर दर्शन में मिलती है वह भी माया एवं अविद्या की विषयमूलकता की पोषक है। उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि शांकर वेदान्त की अविद्या एवं माया को केवल विषयिमूलक ही न मानकर विषयमूलक भी मानना चाहिए।

शंकराचार्योत्तर काल में अविद्या एवं माया का भेद-निरूपण

जैसा कि अभी कहा जा चुका है शंकराचार्य ने अविद्या एवं माया का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया था। शंकराचार्य के उत्तर काल के अद्वैतवादियों ने ही अविद्या एवं माया के भेद का निरूपण किया था।[4] शंकराचार्यपरवर्ती वेदान्त में प्रायः अविद्या को विषयिमूलक एवं माया को विषयमूलक कहा गया है। शंकराचार्य के उत्तरवर्त्ती अद्वैतवेदान्त के आचार्यों ने माया एवं अविद्या का भेदनिरूपण भिन्न-भिन्न मतों के आधार पर किया है। यहाँ कतिपय मतों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

विवरणकार का मत

प्रकाशात्मयति ने अपने पंचपादिकाविवरण के अन्तर्गत व्यवहार-भेद से माया एवं अविद्या के अन्तर्गत भेद स्थापित करते हुए कहा है कि विक्षेप-प्राधान्य से जो माया है वही आवरण की प्रधानता से अविद्या है।[5] इस प्रकार विवरणकार ने आवरणशक्तिसम्पन्न को अविद्या एवं विक्षेपशक्तिसम्पन्न को

---

१. अव्याकृत एव प्राण..........(शा० भा०, मा० का० १।२)

२. इतरान् सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति। (शा० भा०, मा० का० १।६)

३. उपदेश साहस्री १७।२७।

४. While Śaṅkara uses Avidyā & Māyā indiscriminately, later Advaitins draw a distinction between the two.

—*Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 589.

५. एकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेपप्राधान्येन माया आच्छादनप्राधान्येन विद्येतिव्यवहारभेदः (पंचपादिका विवरण, पृष्ठ ३२) (विजयनगरम् सिरीज)।

माया कहा है।

विद्यारण्य का मत

विवरणप्रमेयसंग्रह के रचयिता विद्यारण्य ने जगत् के अनेक कार्यों की उत्पन्नकर्त्री शक्ति को माया एवं जीव की बुद्धि पर आवरण डालने वाली शक्ति को अविद्या कहा है।[1]

पंचदशी के अन्तर्गत विद्यारण्य ने माया एवं अविद्या का जो भेद दिखाया है उसके अनुसार सत्त्व की शुद्धि से माया और सत्त्व की अशुद्धि से अविद्या की उत्पत्ति होती है।[2] इस प्रकार पंचदशी के अनुसार विशुद्धसत्त्वप्रधान प्रकृति को माया तथा मलिनसत्त्वप्रधान प्रकृति को अविद्या कहते हैं।

अद्वैतचन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत

अद्वैतचन्द्रिका के लेखक सुदर्शनाचार्य ने परमेश्वर की शक्ति····माया के भेद किए हैं। एक विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया और दूसरी अविशुद्धसत्त्वप्रधाना माया। विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया सत्त्वगुण है और अविशुद्धसत्त्वप्रधाना माया तमोगुणप्रधान है। विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया परमेश्वर की दासी है एवं अविशुद्धसत्त्वप्रधाना माया जीव की स्वामिनी[3] है। यही अविशुद्धसत्त्वप्रधाना माया अविद्या का रूप है।

जैसा कि उपर्युक्त मतों से स्पष्ट हुआ है, शंकराचार्य के परवर्ती दार्शनिकों ने माया एवं अविद्या के अन्तर्गत भेद का निरूपण किया है। माया के वैज्ञानिक अध्ययन के दृष्टिकोण से यह भेद-निरूपण उपयुक्त ही है। माया एवं अविद्या की इस भेद व्यवस्था की अव्यक्त सूचना हमें वेदान्तसार के अन्तर्गत सदानन्द द्वारा व्याख्यात आवरण एवं विक्षेप शक्तियों से भी मिलती है। यहाँ सदानन्द द्वारा व्याख्यात माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के सम्बन्ध में विचार करना उपयुक्त होगा।

माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियाँ

सदानन्द ने वेदान्तसार के अन्तर्गत माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों की चर्चा की है।[4] माया की आवरण शक्ति जीव पर अज्ञान का आवरण डाल देती है, जिसका फल यह होता है कि जीव अपने स्वरूप–परमार्थ सत्य रूप ब्रह्म–का ज्ञान नहीं कर पाता। माया की दूसरी शक्ति विक्षेप शक्ति है। यह विक्षेप शक्ति ही समस्त ब्रह्माण्ड की सृष्टिकर्त्री है।[5] शंकराचार्य के उत्तरकाल में माया का व्यवहारदृष्टि से विषयिमूलक अविद्या एवं विषयमूलक माया के रूप में जो भेद मिलता है, वह माया की उपर्युक्त आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के समान ही है। जिस प्रकार कि विषयिमूलक अविद्या जीव को

---

१. विवरणप्रमेयसंग्रह १।१, Indian Thought, Vol. I, p. 280.
२. सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते (पंचदशी १।१६)।
३. अद्वैतचन्द्रिका, पृष्ठ ४१ (बनारस १६०१)।
४. वेदान्तसार–४।
५. विक्षेपशक्तिलिंगादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्।–वेदान्तसार १० सं उद्धृत।

वस्तुज्ञान से वंचित करती है उसी प्रकार आवरण शक्ति भी जीव के स्वरूप ज्ञान में बाधक है। ऐसे ही, जिस तरह कि विषयमूलक माया जगत् की बीज शक्ति है उसी प्रकार विक्षेप शक्ति भी जगत् की रचयित्री है।[1]

ऊपर हमने शांकरवेदान्तसम्मत जिस माया की चर्चा की है वह अनादि, भावरूप, अनिर्वचनीय एवं सान्त है।

इस प्रकार शांकरवेदान्त में ब्रह्म, ईश्वर, जीव एवं माया आदि के सम्बन्ध में उपर्युक्त सिद्धान्तों की स्थापना करके अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन किया गया है। ऊपर हमने शांकर अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का विवेचन करते समय शंकराचार्य परवर्ती अद्वैतवेदान्त के आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है। शांकर सिद्धान्त के प्रतिपादन के सम्बन्ध में शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख करना इसलिए अनुचित नहीं है कि शंकराचार्य के परवर्ती वाचस्पति मिश्र आदि आचार्य बहुत कुछ शांकर सिद्धान्त के ही अनुयायी थे। इन आचार्यों की मौलिकता के कारण मतभेद अवश्य हो गया है। इसलिये स्थान-स्थान पर इन आचार्यों के मतभेद का निर्देश कर दिया गया है।

शंकराचार्यपश्चाद्वर्त्ती अद्वैतवादी आचार्य

शंकराचार्य ने संहिताओं, उपनिषदों, आरण्यकों, ब्राह्मणों, ब्रह्म सूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता आदि के आधार पर जिस अद्वैतवाद सिद्धान्त की व्यवस्थित एवं सैद्धान्तिक स्थापना की थी, उसकी विस्तृत एवं आलोचनात्मक व्याख्या शंकराचार्य के पद्मपादाचार्य आदि शिष्यों एवं वाचस्पति मिश्र तथा मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने की थी। शांकरवेदान्त की व्याख्या होते हुए भी शंकराचार्य के शिष्यों एवं उनके पश्चाद्वर्त्ती अद्वैतवादी आचार्यों के द्वारा की गयी व्याख्या को उसी प्रकार पिष्टपेषण कहना समीचीन न होगा जिस प्रकार कि स्वयं शंकराचार्य का अद्वैतवाद सिद्धान्त उपनिषद् दर्शन पर आधारित होते हुए भी उपनिषद् दर्शन का पिष्टपेषण मात्र नहीं है। जिस प्रकार कि शंकराचार्य ने नवीन एवं मौलिक उद्भावना शक्ति के द्वारा उपनिषद् दर्शन का मंथन करके अद्भुत अद्वैत रत्न की खोज की थी, उसी प्रकार शंकराचार्य के शिष्यों एवं अन्य परवर्ती आचार्यों ने अपनी प्रतिभासम्पन्न एवं सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि के द्वारा शंकराचार्य के अद्वैत रत्न का समीक्षात्मक निरूपण किया था। इस स्थल पर पहले शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैतवेदान्त के अत्यन्त प्रमुख आचार्यों एवं विद्वानों तथा उनके प्रमुख मत-मतान्तरों का विवेचन किया जायेगा और फिर अद्वैतवेदान्त के ही कतिपय अन्य आचार्यों का उल्लेख किया जाएगा।

सुरेश्वराचार्य (८०० ई०)

सुरेश्वराचार्य मण्डन मिश्र का ही संन्यास आश्रम का नाम है। संन्यास ग्रहण करने के पूर्व मण्डन मिश्र ने आपस्तम्बीय मण्डनकारिका, भावनाविवेक और काशीमोक्षनिर्णय नामक ग्रन्थों की रचना की थी। संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् वार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक, ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मसूत्रभाष्य वार्तिक, विधिविवेक, मानसोल्लास, लघुवार्तिक, वार्तिकसार और वार्तिकसारसंग्रह आदि ग्रन्थ लिखे थे।

---

१. विशेष देखिए, संक्षेपशारीरक, १।२०।

सुरेश्वराचार्य का प्रमुख दार्शनिक मत–मूलतः तो सुरेश्वराचार्य अपने गुरु शंकराचार्य के समर्थक थे। परन्तु कहीं-कहीं उन्होंने अपनी प्रतिभा शक्ति के द्वारा नवीन उद्भावनायें की थीं। आभासवाद का सिद्धान्त सुरेश्वराचार्य का प्रमुख सिद्धान्त है। इस स्थल पर आभासवाद का संक्षिप्त निरूपण किया जायेगा।

सुरेश्वराचार्य का आभासवाद का सिद्धान्त–शंकराचार्य ने जिस अद्वैतवाद सिद्धान्त की सैद्धान्तिक स्थापना एवं समालोचना की थी, उसकी व्याख्या सुरेश्वराचार्य ने सम्पन्न की थी। सुरेश्वराचार्य की प्रमुख दार्शनिक देन आभासवाद का सिद्धान्त है। सुरेश्वराचार्य जगत् को न प्रतिबिम्ब स्वीकार करने के पक्ष में हैं और न अवच्छेद स्वीकार करने के पक्ष में। प्रतिबिम्बवाद एवं अवच्छेदवाद के विपरीत वे जगत् को आभासमात्र मानते हैं।[1] सुरेश्वराचार्य के मतानुसार व्यावहारिक सत्यों से पूर्ण जगत् की सत्ता उसी प्रकार आभासमात्र होने के कारण मिथ्या है जिस प्रकार कि मायिक (ऐन्द्रजालिक) विषय आभासमात्र होने के कारण मिथ्या होते हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है कि व्यावहारिक जगत् के सत्य, जगत् में अविद्या के कारण सत्य दिखाई पड़ते हैं और मायिक (ऐन्द्रजालिक) विषयों का मिथ्यात्व व्यावहारिक जगत् में ही होता है। परन्तु व्यावहारिक जगत् की सत्यता भी तभी तक कही जा सकती है जब तक कि सिद्ध अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार कि मूर्च्छित अवस्था में किसी व्यक्ति को ऐसी वस्तुओं की सत्यता प्रतीत होती है जो उस व्यक्ति के सम्मुख नहीं उपस्थित होती और मूर्च्छा हटने पर उस व्यक्ति के मूर्च्छाकाल की वस्तुएँ मिथ्या प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार अज्ञान के कारण जिस व्यक्ति को जगत् के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं उसी को परमार्थ बोध होने पर अविद्या-निवृत्ति के कारण अविद्याकालिक जगत् के समस्त व्यवहार मिथ्या प्रतीत होते हैं। इस प्रकार आचार्य सुरेश्वर के मतानुसार जगत् की सत्यता आभासमात्र है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार परमार्थ सत्य ब्रह्म के अनेक जागतिक रूपों में आभासन का कारण अविद्या है।

आचार्य सुरेश्वर का आभासवाद का सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद एवं अवच्छेदवाद से अनेक रूपों में भिन्न है। जहाँ तक प्रतिबिम्बवाद का प्रश्न है, बिम्ब (मूलतत्त्व) एवं प्रतिबिम्ब में अभिन्नतत्त्व है, परन्तु इसके विपरीत आभासवाद सिद्धान्त के अनुसार मूलतत्त्व (ब्रह्म) एवं आभासमात्र द्वैतरूप जगत् में अभिन्नत्व नहीं है।[2] प्रतिबिम्बवाद के अनुसार अविद्या में परमार्थ सत्य रूप ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, वह ब्रह्म से पृथक् न होने के कारण सत्य है, परन्तु सुरेश्वराचार्य के आभासवाद के अनुरूप अविद्या के कारण मूलसत्य ब्रह्म में जिस व्यावहारिक जगत् की प्रतीति होती है वह आभासमात्र होने के कारण सत्य नहीं है। प्रतिबिम्बवाद की दृष्टि से प्रतिबिम्ब सर्वदा सत्य होता है। अज्ञान के कारण प्रतिबिम्ब असत्य दिखाई पड़ता है। प्रतिबिम्बवाद की दृष्टि में यह अज्ञान बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब की भेद-दृष्टि है। बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के भेद-दर्शन के कारण ही द्रष्टा को प्रतिबिम्ब मिथ्या प्रतीत होता है, अभेद-दर्शन के द्वारा नहीं।[3] इसके विपरीत व्यावहारिक जगत् की जो सत्यता आभासित होती है वह किसी

१. बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक, पृ० १२४५।
२. बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक, पृ० ६६६, विधिविवेक, २१, २२।
३. *Dr. Virmani Prasad, Upadhyaya* : Lights on Vedānta, p. 43

काल में भी पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं होती। यह हम अभी कह चुके हैं कि व्यावहारिक जगत् के सत्य दिखाई पड़ने का कारण अविद्या है। आचार्य सुरेश्वर के आभासवाद एवं अवच्छेदवाद में भी भेद द्रष्टव्य है। अवच्छेदवादी की दृष्टि से सर्वव्यापी एवं असीम ब्रह्म ही जीव की अविद्या की अनन्त उपाधियों के कारण अवच्छिन्न एवं असीम रूप को प्राप्त होता है। इस प्रकार अवच्छेदवाद के अनुसार अवच्छेद (ब्रह्म का अवच्छिन्न रूप में दर्शन) तो मानसिक धारणा मात्र होने के कारण मिथ्या है परन्तु जो (ब्रह्म) अवच्छिन्न दिखाई पड़ता है वह तो सर्वथा अनवच्छिन्न एवं सत्य ही है। इसके विपरीत आभासवाद के अनुसार जगत् की सत्यता का आभास किसी प्रकार भी सत्य नहीं है।

सुरेश्वराचार्य ने उपर्युक्त आभासवाद सिद्धान्त के आधार पर ही अपने संन्यासगुरु शंकराचार्य के अद्वैतवाद का मण्डन किया था। आभासवाद के आधार पर सुरेश्वराचार्य ने व्यावहारिक जगत् को आभासमात्र कहकर जगत् की व्यावहारिक सत्यता का निराकरण करके अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। परन्तु सुरेश्वराचार्य के अनुयायियों ने उनके आभासवाद में व्यावहारिक सत्यता का मिश्रण करके सुरेश्वराचार्य को प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ताओं का समर्थक सिद्ध किया था।

पद्मपादाचार्य (८२० ई०)

आचार्य पद्मपाद शंकराचार्य के प्रधान एवं सर्वप्रथम शिष्य थे। इनका जन्म दक्षिण में चोल प्रदेश के अन्तर्गत हुआ था। प्रायः ये शंकराचार्य के साथ ही रहते थे और उनसे वेदान्त के उपदेशों का श्रवण किया करते थे। आचार्य पद्मपाद की प्रमुख रचना पंचपादिका है। पंचपादिका के सम्बन्ध में अद्भुत कहानी सुनने को मिलती है। कहा जाता है कि पद्मपाद पंचपादिका की रचना करके उसे अपने प्रभाकर मतानुयायी मामा के घर रखकर रामेश्वर चले गये थे। जब वे रामेश्वर से लौटे तो उन्हें पता चला कि उनके मामा ने पंचपादिका को जला दिया है। यह जानकर पदम्पाद को अत्यन्त दुःख हुआ और उन्होंने पंचपादिका को पुनः लिखने का प्रयत्न किया। परन्तु प्रभाकर मतानुयायी मामा ने आचार्य पद्मपाद को विष दे दिया जिससे वे विक्षिप्त हो गए। अब पद्मपादाचार्य ने गुरु (शंकराचार्य) से सुनकर पंचपादिका की रचना की। पंचपादिका के अन्तर्गत ब्रह्मसूत्र के चार सूत्रों के शांकर भाष्य की व्याख्या मिलती है। पंचपादिका पर प्रकाशात्म मुनि की विवरण और विवरण पर अखण्डानन्द की तत्त्वदीपन नामक टीका उपलब्ध है।

पंचपादिका के अतिरिक्त पद्मपादाचार्य रचित–आत्मानात्मविवेक, प्रपंचसार तथा सुरेश्वराचार्य-कृत लघुवार्तिक की टीका, ये तीन ग्रन्थ और उपलब्ध होते हैं। जहां तक पद्मपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रश्न है, अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में उन्होंने एक नई दृष्टि दी थी। पंचपादिकाकार पद्मपादाचार्य एवं विवरणकार प्रकाशात्म यति के नाम से जो दार्शनिक विवेचन मिलता है वह विवरण सम्प्रदाय के नाम से मिलता है। पद्मपादाचार्य ने ब्रह्म एवं अविद्या का सम्बन्ध निश्चित करते हुए इन दोनों में आश्रयाश्रयिभाव एवं विषयविषयिभाव सम्बन्ध स्थापित किया है।[1] इसी को अधिष्ठान एवं अध्यास का सम्बन्ध कहा जा सकता है। वाचस्पति मिश्र उक्त मत के विपरीत अवच्छेद सम्प्रदाय के समर्थक हैं।

---

१. Lights on Vedānta, Page 105.

अवच्छेद सम्प्रदाय का विवेचन वाचस्पति मिश्र के दार्शनिक विवेचन के अवसर पर किया जाएगा।

जगन्मिथ्यात्व के सम्बन्ध में पद्मपादाचार्य का विचार

पद्मपादाचार्य ने मिथ्यात्व को सत्त्व एवं असत्त्व अत्यन्ताभाव का अनधिकरण कहा है।[1] इस मत के अनुसार मिथ्या एवं अनिर्वचनीय जगत् को न पूर्णतया सत्य कहा जा सकता है और न पूर्णतया असत्य। पद्मपादाचार्य का कथन है कि एक स्थान पर मिथ्या पदार्थ का विलक्षणत्व त्रिकाल में अबाधित नहीं है। यही कारण है कि एक स्थान पर मिथ्या पदार्थ का बोध होने पर भी दूसरे स्थान पर उसकी सत्य रूप से प्रतीति होती है।[2]

मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति के सम्बन्ध में पद्मपादाचार्य का विचार है कि जीव एवं ब्रह्म के एकत्व के द्वारा ही मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है।[3]

वाचस्पतिमिश्र (८४० ई०)[4] और उनकी दार्शनिक देन–

अद्वैताकाश के देदीप्यमान नक्षत्रों में भामतीकार वाचस्पति मिश्र का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। भामती ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य की अद्भुत व्याख्या है। भामती के अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र के अन्य कई ग्रन्थ हैं। इन्होंने सुरेश्वर की ब्रह्मसिद्धि पर ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा, सांख्यकारिका पर तत्त्वकौमुदी, पातंजलदर्शन पर तत्त्ववैशारदी, न्यायदर्शन पर न्यायवार्तिकतात्पर्य, पूर्वमीमांसादर्शन पर न्यायसूचीनिबन्ध, भाट्ट मत पर तत्त्वबिन्दु तथा मण्डन मिश्र के विधिविवेक पर न्यायकणिका नामक टीका की रचना की थी। इसके अतिरिक्त वाचस्पतिमिश्र के नाम से दो और ग्रन्थ हैं–एक खण्डनकुठार तथा दूसरा स्मृतिसंग्रह। परन्तु इन ग्रन्थों के रचयिता के सम्बन्ध में अभी संदेह बना हुआ है।

वाचस्पतिमिश्र द्वारा अद्वैतवेदान्त की व्याख्या–वाचस्पति मिश्र ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन अवच्छेदवाद के आधार पर किया है, यह हम सुरेश्वराचार्य के आभासवाद का विवेचन करते समय पीछे कह चुके हैं। प्रतिबिम्बवाद एवं आभासवाद के विपरीत वाचस्पति मिश्र का कथन है, कि जीव की अविद्योपाधि के कारण अनवच्छिन्न एवं असीम ब्रह्म अवच्छिन्नता एवं ससीमता को प्राप्त होता है। अवच्छेदवाद के समर्थकों ने इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण प्रायः आकाश के उदाहरण द्वारा किया है। जिस प्रकार कि एक ही आकाश को सांसारिक लोग घट एवं मठ के सम्बन्ध से घटाकाश एवं मठाकाश कहकर पुकारते हैं, उसी प्रकार एक ही असीम ब्रह्म जीव की अविद्योपाधि के नष्ट हो जाने पर घटाकाश एवं मठाकाश आदि भेद नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार अविद्योपाधि के नष्ट हो जाने पर भी जगत् के

---

१. सत्त्वासत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम्। –पंचपादिका, पृ० १०।

२. पंचपादिका, १०।

३. मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति न क्रियातः।
–पंचपादिका, पृष्ठ ६०, ई० जे० लाजरस एण्ड कम्पनी, संवत् १६४२।

४. वाचस्पति मिश्र के काल के सम्बन्ध में देखिए, आशुतोषशास्त्री–वेदान्तदर्शन, अद्वैतवाद (बंगला संस्करण)।

समस्त भेद नष्ट हो जाते हैं और तत्फलस्वरूप एक ब्रह्मात्मा ही शेष रह जाता है।

जहाँ तक जीव और अविद्या के पारस्परिक सम्बन्ध की बात है वाचस्पति मिश्र इन दोनों में आश्रयाश्रयिभाव करते हैं और इसके विपरीत ईश्वर और अविद्या में वे विषय-विषयि भाव को स्वीकार करते हैं।

ब्रह्मसाक्षात्कार के कारण के सम्बन्ध में भी अद्वैतदर्शन के व्याख्याताओं की भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ हैं। ब्रह्मदत्त एवं मण्डन मिश्र आदि प्राचीन अद्वैती आचार्य प्रसंख्यान (गम्भीर चिन्तन) को ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण स्वीकार करते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी उक्त मत का ही समर्थन एवं स्पष्टीकरण किया है। वाचस्पति मिश्र के मत को उद्धृत करते हुए अमलानन्द का कथन है कि वाचस्पति मिश्र श्रुतिसाक्षात्कार से वही अर्थ लेते हैं जो मण्डन मिश्र प्रसंख्यान से प्राप्त ब्रह्मसाक्षात्कार से ग्रहण करते हैं।[१]

अद्वैतवेदान्त शास्त्र की उपयोगिता बतलाते हुए कल्पतरुकार का कथन है कि वेदान्तदर्शन जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य का बोध कराने में समर्थ है।[२]

सर्वज्ञात्ममुनि (९०० ई०)[३]

सर्वज्ञात्ममुनि का दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। ये शृंगेरी मठ की गद्दी पर विराजित थे। सर्वज्ञात्ममुनि की प्रख्यात रचना संक्षेपशारीरक है। सर्वज्ञात्ममुनि ने अपने गुरु का नाम देवेश्वराचार्य लिखा है।[४] रामतीर्थ ने देवेश्वराचार्य से सुरेश्वराचार्य का ही अर्थ लिया है।[५]

जगत्कारणता के सम्बन्ध में शंकराचार्य-परवर्ती अद्वैतवादियों के जो तीन मत प्रसिद्ध हैं उनमें सर्वज्ञात्ममुनि का मत प्रमुख है। दो अन्य मत प्रकाशात्मयति और वाचस्पति मिश्र के हैं। विवरणकार प्रकाशात्मयति ईश्वर एवं जीव को अविद्या में बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के रूप में ग्रहण करते हैं। प्रकाशात्मयति का मत है कि शुद्ध चित् तत्त्व ही जो ईश्वर एवं जीव रूप में दिखाई पड़ता है और जो साक्षी के रूप में कार्य करता है, वही जगत् का उपादानकारण है। सर्वज्ञात्ममुनि का जगत्कारणता सम्बन्धी मत विवरणकार के उक्त मत से भिन्न है। संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि अविद्या में शुद्ध चित् का प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अन्तःकरण में शुद्ध चित् का प्रतिबिम्ब जीव है। सर्वज्ञात्ममुनि के मतानुसर शुद्ध-चित् ही जो अविद्यागत प्रतिबिम्ब का मूल है, साक्षी एवं जगत् का उपादानकारण है।

---

१. वेदान्तकल्पतरु, पृष्ठ ५६।

२. ब्रह्मात्मैकत्वबोधत्वाद्वेदान्तिनाम्। –वेदान्तकल्पतरु, पृ० २५ (प्रथम भाग), ई० जे० लाजरस एण्ड कम्पनी, सवंत् १९५२।

३. सर्वज्ञात्ममुनि का यह काल डा० दासगुप्त के 'ऐ हिस्ट्री आफ इन्डियन फिलासफी', भाग २, पृष्ठ ११२ के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

४. जयन्ति देवेश्वरपादरेणवः। संक्षेपशारीरकम्, १।८।

५. सं० शा० १।८ पर देखिये रामतीर्थ की टीका।

वाचस्पति मिश्र का यह मत उक्त दोनों मतों से भिन्न है। वाचस्पति मिश्र के दृष्टिकोण के अनुसार शुद्ध चित् ही जो अविद्या का आधार या अधिष्ठान प्रतीत होता है, जीव है और वही शुद्ध चित् जब अविद्या के विषय रूप में दिखाई पड़ता है तो ईश्वर कहलाता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने जीव को ही जगत् का उपादानकारण माना है, क्योंकि अविद्या के कारण जीव ही ब्रह्म साक्षात्कार न करके प्रपंचरूप जगत् की सृष्टि करता है।[1]

अप्पयदीक्षित के अनुसार उक्त मतों का विवेचन

सिद्धान्तलेशसंग्रह के रचयिता अप्पय दीक्षित के अनुसार सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है कि माया के कारण ब्रह्म जगत् का कारण है। जगत् की सृष्टि के कार्य में माया का साहाय्य द्वारत्वेन ग्राह्य है। विवरणकार के मतानुसार मायाविशिष्ट ब्रह्म जो कि सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी होकर ईश्वर संज्ञा को प्राप्त होता है वही, ईश्वर जगत् का कारण है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ब्रह्म जब अविद्या का विषय बनता है तो वह ईश्वरता को प्राप्त होता है और वही ब्रह्म अविद्या के भिन्न-भिन्न रूपों के अनुरूप जीव को जब अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है तो जगत् का कारण बन जाता है।[2]

सर्वज्ञात्ममुनि और अधिष्ठानवाद

अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त अद्वैतवाद के प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सर्वज्ञात्ममुनि एवं ब्रह्मानन्द आदि शंकराचार्य के परवर्ती विद्वानों के भिन्न-भिनन मत हैं। यहाँ सर्वज्ञात्ममुनि के ही अधिष्ठान सम्बन्धी दृष्टिकोण का विवेचन किया जायेगा।

सर्वज्ञात्ममुनि ने एक विलक्षण मत की स्थापना करते हुए आधार एवं अधिष्ठान के बीच भेद की व्यवस्था की है। सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि साक्षी या शुद्ध चिद् रूप ब्रह्म, जिसकी अविद्या जगत् की स्थिति एवं उसके दृश्यत्व के लिए उत्तरदायिनी है, अधिष्ठान है। इसके अतिरिक्त जब ब्रह्म उस अविद्या से विशिष्ट प्रतीत होता है जो ब्रह्म की उपस्थिति मात्र से ही अविच्छिन्न रूप से व्यावहारिक जगत् के रूप में परिणत होती है और इस परिस्थिति में जब वह (ब्रह्म) अविद्या के आश्रयदाता के रूप में स्थित होता है तो वह अधिष्ठान न होकर आधार होता है। उदाहरण के लिए, 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस वाक्य में 'इदं' रूप से वर्तमान चित् का वह रूप जो अविद्या का आश्रय प्रतीत होता है अधिष्ठान न होकर आधार है। शुक्ति एवं रजत और ब्रह्म एवं अविद्योत्पन्न जगत् के सम्बन्ध में शुक्ति और ब्रह्म का आधाररूप मिथ्या है। ब्रह्म और जगत् के बीच जिस आधार-आधेय भाव की कल्पना की जाती है वह मिथ्या है, क्योंकि जिस जगत् की उत्पत्ति अविद्या से हुई है उसे ब्रह्म का आधेय और ब्रह्म को उसका आधार नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक ब्रह्म की अधिष्ठानरूपता का प्रश्न है उसके अज्ञान के कारण ही शुक्ति में रजत एवं ब्रह्म में जगत् की बुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु अधिष्ठानरूप शुक्ति एवं ब्रह्म रजत

---

१. विशेष देखिए, अद्वैतसिद्धि पर ब्रह्मानन्दी टीका, पृ० ४८३ (बम्बई प्रकाशन) तथा सिद्धान्तबिन्दु, पृ० २२५-२२७।

२. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ५६, ७५-६६; पंचपादिकाविवरण २२३, २२४, २३१ (बनारस संस्करण)।

एवं जगत् से असम्बद्ध हैं। दोनों में सम्बन्ध हो भी कैसे सकता है, क्योंकि एक सत् है और दूसरा असत् और सत् एवं असत् का सम्बन्ध अनिश्चित है।[१] अतः जैसा कि सर्वज्ञात्ममुनि मानते हैं ब्रह्म का अधिष्ठान रूप ही सत्य है आधार रूप नहीं।[२]

अद्वैतानन्दबोधेन्द्र (११४६ ई०)

अद्वैतानन्दबोधेन्द्र का काल बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का अन्त है। यह कांची के शारदामठ (कामकोटिपीठ) के पीठाधीश थे, और भूमानन्द सरस्वती या चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती के शिष्य थे। वेदान्त-विद्या का अध्ययन इन्होंने रामानन्द सरस्वती से किया था। यह चिद्विलास एवं आनन्दबोध के नाम से भी प्रख्यात थे। इन्होंने ब्रह्मविद्याभरण, शान्तिविवरण और गुरुप्रदीप नामक ग्रन्थों की रचना की थी।[३]

आनन्दबोधभट्टारकाचार्य (१२वीं शताब्दी)

अद्वैतवेदान्त के समीक्षक आचार्य आनन्दबोध भट्टारक १२वीं शताब्दी में वर्तमान थे। अद्वैत-वेदान्त पर इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं–न्यायमकरंद, प्रमाणमाला और न्यायदीपावली। न्यायमकरंद इनका संग्रहात्मक ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ के आधार पर इन्होंने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

जगत् के मिथ्यात्व का विवेचन अद्वैतवाद के प्रतिपादन का प्रमुख अंग है। जगत् के मिथ्यात्व एवं अनिर्वचनीयत्व के सम्बन्ध में शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये हैं। न्यायमकरंदकार आनन्दबोधाचार्य का मत पद्मपादाचार्य और प्रकाशात्मा के मतों से भिन्न है। मिथ्यात्व एवं अनिर्वाच्यत्व का प्रतिपादन करते हुए आनन्दबोधाचार्य का कथन है, कि अविद्या के कार्यों एवं परिणामों सहित अविद्या की निवृत्ति को बाध कहते हैं और उस बाध का ज्ञान होना ही अनिर्वाच्यता है।[४]

आनन्दबोधाचार्य सदसद्विलक्षण अविद्या को ही जगत् का कारण मानते हैं।[५] अपने मत के समर्थन में इनका कथन है कि असत् जगत् की उत्पत्ति किसी सत् पदार्थ से तो हो नहीं सकती और सर्वथा असत् पदार्थ से भी जगत् की उत्पत्ति पूर्णतया असंगत है। अतः जब सत् या असत् वस्तु जगत् का कारण नहीं हो सकती तो सत् एवं असत् विलक्षण वस्तु ही जगत् का कारण हो सकती है। आनन्दबोधाचार्य का कथन है कि सत् एवं असत् से विलक्षण अविद्या ही है।

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१८।
२. Light on Vedānta, p. 163.
३. देखिए, *Tripathi's* Introduction to Ānandajñāna's Tarkasaṅgraha.
४. सविलासाविद्यानिवृत्तिरेव बाधस्तदगोचरतैवानिर्वाच्यता।
–न्यायमकरंद, पृ० १२५, चौखम्बा संस्करण, बनारस १६०७।
५. न्यायमकरंद, पृ० १२२, १२३।
६. डा० दासगुप्त ने विवरणकार प्रकाशात्मा का स्थितिकाल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है (डा० दासगुप्त के मत के लिए देखिए–इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० १६६-६७)।

प्रकाशात्मयति (१२वीं शताब्दी)

प्रकाशात्मा रचित पंचपादिका की टीका विवरण का स्थान अद्वैतवेदान्त में भी अतिशय महत्त्वशाली है। प्रकाशात्मा के गुरु का नाम श्रीमत् अनन्यानुभव था।[1] प्रकाशात्मा ही प्रकाशानुभव के नाम से भी प्रचलित थे।

अद्वैतवेदान्त के क्षेत्र में प्रकाशात्मा का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि उनकी विवरण टीका के नाम से विवरण सम्प्रदाय नामक एक पृथक् सम्प्रदाय का ही प्रचलन हो गया है।

प्रकाशात्मा ने अद्वैतदर्शन का विश्लेषण करते हुए ब्रह्म एवं अविद्या के बीच आश्रयाश्रयिभाव एवं विषय-विषयि भाव सम्बन्ध माना है। पद्मपादाचार्य भी इसी मत के पक्षपाती थे। जैसा कि कहा जा चुका है, वाचस्पति मिश्र का मत उक्त मत से भिन्न है।

मिथ्यात्व के सम्बन्ध में प्रकाशात्मा का मत पद्मपादाचार्य के मत से भिन्न है। पद्मपादाचार्य शुक्ति आदि में रजतादि के सार्वत्रिक एवं त्रैकालिक.मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं करते। इसके विपरीत प्रकाशात्मा शुक्ति आदि में रजतादि के सार्वत्रिक एवं त्रैकालिक मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं।[2] विवरणकार ने मिथ्यात्व को अनिर्वचनीयता का ही समर्थक माना है।[3]

ब्रह्मसाक्षात्कार के कारण के सम्बन्ध में प्रकाशात्मा का मत ब्रह्मदत्त आदि के मत से भिन्न है। प्रकाशात्मा ब्रह्मदत्त आदि की तरह मनन को ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रधान कारण न मानकर श्रवण को ब्रह्म साक्षात्कार का प्रधान कारण मानते हैं।[4] विवरणकार का मत है कि यद्यपि मनन और निदिध्यासन श्रवण की अपेक्षा आगामी हैं, परन्तु फिर भी वे ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रधान कारण नहीं हैं। अपने मत की पुष्टि में प्रकाशात्मा का तर्क है कि श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार में प्रधान कारण है। इसके विपरीत मनन एवं निदिध्यासन ब्रह्मसाक्षात्कार के परम्परया कारण हैं।

विमुक्तात्मा (१२०० ई०)

विमुक्तात्मा ने अपने इष्टसिद्धि नामक ग्रन्थ में अद्वैत-सिद्धान्त की अज्ञान आदि प्रमुख विचार-ग्रन्थियों का आलोचनात्मक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है।

विमुक्तात्मा ने आत्मा एवं जगत् के विषयों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न का समाधान

---

१. वेदान्त अंक (कल्याण), पृ० ६४६।

२. प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकानिषेधकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् ।......स्वनिष्ठनिरवच्छिन्नप्रकारतानिरूपित विशेष्यतासमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम् । Lights on Vedānta, page 181 से उद्धृत प्रकाशात्मा का मत।

३. पंचपादिकाविवरण, पृ० १५६। (Govt. Oriental Manuscripts Library, Madras, 1958).

४. पंचपादिकाविवरण, पृ० १०४, १०५।

खोजने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि दृक् (आत्मा) एवं दृश्य (जगत् रूप विषय) न एक-दूसरे से भिन्न कहे जा सकते हैं, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न। भिन्न इसलिए नहीं हैं कि 'दृक्' (आत्मा) दृश्य नहीं है। दृश्य का अदृश्य या अदृश्य का दृश्य से भेद सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी ने अरुण नामक व्यक्ति को नहीं देखा है तो वह उसे श्याम नामक व्यक्ति से भिन्न नहीं बता सकता। इसी प्रकार जब दृक् (आत्मा) दृश्य नहीं है तो उसे दृश्य से भिन्न कैसे कहा जा सकता है। इसके विपरीत जैसा कि विज्ञानवादी बौद्ध कहता है, दृक् (आत्मा) एवं दृश्य (जगत्) के बीच अभेद सम्बन्ध भी नहीं स्थापित किया जा सकता। अभेदवादी का कथन है कि दृक् एवं दृश्य का साथ-साथ बोध होता है। दृक् एवं दृश्य का समकालिक बोध ही उनके भेद का सूचक है, क्योंकि दोनों के अभिन्न होने पर उनके पृथक् बोध का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। विमुक्तात्मा का कथन है कि भेद, अभेद सम्बन्ध के अतिरिक्त दृक् एवं दृश्य के बीच भेदाभेद सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता। भेदाभेदवाद के समर्थक का कथन है कि यद्यपि दृक् एवं दृश्य में भेद है, परन्तु ब्रह्मात्मता की दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं, इसलिए दृक् एवं दृश्य में भेदाभेद मानना चाहिए। उक्त तर्क का अनौचित्य स्पष्ट करते हुए विमुक्तात्मा का कथन है कि यदि दृक् एवं दृश्य ब्रह्म से अभिन्न हुए होते तो दोनों के भेद का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अतः भेदाभेद सम्बन्ध की स्थापना भी अनुचित है।[१] अतः दृक् एवं ब्रह्म में तो अभेद है, परन्तु दृक् एवं मायोत्पन्न जगत् का सम्बन्ध अनिर्वाच्य है। मायिक जगत् का अधिष्ठान विमुक्तात्मा ने आत्मानुभूति को माना है। इसीलिए विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि के आरम्भ में अज, अनन्त एवं आनन्द स्वरूप आत्मानुभूति को महदादि जगत् के माया चित्र की भित्ति कहा है।[२]

अज्ञान के सम्बन्ध में विमुक्तात्मा ने एक विलक्षण मत को जन्म दिया है। वे अज्ञान की अनेकरूपता स्वीकार करते हैं। विमुक्तात्मा का विचार है कि प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में उतने ही अज्ञान हो सकते हैं जितने रूपों में उस विषय का प्रत्यक्ष सम्भव है। इस सम्बन्ध में विमुक्तात्मा का कथन है कि यदि किसी वस्तु के विषय में उत्पन्न हुआ किसी व्यक्ति का अज्ञान नष्ट हो जाता है तो इससे मूल अविद्या का उच्छेद नहीं होता, अपितु उसके अंश का ही उच्छेद होता है। यही कारण है कि एक वस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, रस्सी के सम्बन्ध में उत्पन्न किसी व्यक्ति का सर्प रूप अज्ञान नष्ट होने पर भी किसी दूसरे व्यक्ति को उसी रस्सी में दण्ड, धारा आदि रूप अज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। इस प्रकार विमुक्तात्मा अज्ञान की अनेकरूपता के पक्षपाती हैं।

इस प्रकार विमुक्तात्मा ने अद्वैतवेदान्त की अनेक दुरूहताओं का स्पष्टीकरण बड़े वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण ढंग से किया है।

आचार्य चित्सुख (११२० ई०)

आचार्य चित्सुख दर्शन के क्षेत्र में उस समय अवतरित हुए थे, जिस समय दर्शन के क्षेत्र में

---

१. *T. M. P. Mahadevan* : The Philosophy of the Advaita, p. 151-152.

२. यानुभूतिरजामेयानन्तात्मानन्दविग्रहा।
महदादिजगन्मायाचित्रभित्तिं नमामि ताम् ।। –इष्टसिद्धि, पृ० १।

दो प्रबल धाराएँ प्रवर्तित हो रही थीं। एक ओर तो गंगेश आदि नैयायिक न्याय मत के प्रचार में लीन थे, और दूसरी ओर वैष्णव आचार्य अद्वैत मत का खण्डन कर रहे थे। इस काल में अद्वैतमतावलम्बी चित्सुखाचार्य ने न्यायदर्शन का खण्डन करते हुए, अद्वैतदर्शन का समर्थन किया था। चित्सुखाचार्य ने अद्वैत मत का विश्लेषण अपने तीन ग्रन्थों–तत्त्वप्रदीपिका, न्यायमकरन्दटीका और खण्डनखण्डखाद्य की टीका के अन्तर्गत किया है। तत्त्वप्रदीपिका का ही दूसरा नाम चित्सुखी है।

साक्षी के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के शंकराचार्य परवर्ती विद्वानों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण मिलते हैं। आचार्य चित्सुख साक्षी एवं प्रमाता में भेद की स्थापना के समर्थक हैं। वे साक्षी को स्वतन्त्र एवं द्रष्टा मात्र मानते हैं। इसके विपरीत प्रमाता आचार्य चित्सुख के अनुसार ज्ञाता है तथा ज्ञान के साधनों के कार्य के अधीन है।[1]

आचार्य चित्सुख दुःख को सुख का विरोधी मानते हैं। इसलिए उनके मतानुसार दुःख का विनाश स्वतः पुरुषार्थ न होकर केवल सुख ही स्वतः पुरुषार्थ है। चित्सुखाचार्य ने उक्त मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि दुःखाभाव स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ नहीं है, प्रत्युत सुखाभिव्यक्ति का अंग मात्र है। आचार्य चित्सुख पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए कहते हैं कि सुख ही दुःखाभाव का अंग है, इस प्रकार विपरीत प्रसंग नहीं उपस्थित हो सकता। क्योंकि, सुख को दुःखाभाव का अंग मानने पर न उसे दुःखाभाव का उत्पादक माना जा सकता है और न उसका अभिव्यंजक।[2]

अमलानन्द (१३वीं शताब्दी)

अमलानन्द के गुरु का नाम अनुभवानन्द था। आचार्य अमलानन्द अद्वैत मत के पूर्ण समर्थक थे। अमलानन्द ने वेदान्तकल्पतरु (वाचस्पति मिश्र की भामती की टीका), शास्त्रदर्पण और पंचपादिका-दर्पण इन तीन ग्रन्थों की रचना की थी। तीनों ही ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त के क्षेत्र में प्रामाणिकता की दृष्टि से सम्मान्य हैं।

अमलानन्द दृष्टिसृष्टिवाद सिद्धान्त के समर्थक हैं। दृष्टिसृष्टिवाद का सैद्धान्तिक विवेचन आगामी प्रकरण के अन्तर्गत किया जाएगा। दृष्टि-सृष्टिवाद के अनुसार समस्त प्रपंचशून्य ब्रह्म की अवगति के उपाय के रूप में ही श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का विवेचन स्वीकार किया गया है। वस्तुतः श्रुतियों में सृष्टि का प्रतिपादन पारमार्थिक रूप से नहीं किया गया है। जहाँ आरोप न्याय के द्वारा सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ अपवाद न्याय के द्वारा उसका निराकरण भी कर दिया गया है। उक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हुए अमलानन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सृष्टि-प्रतिपादक श्रुतियों (स इमांल्लोकानसृजत आदि) का तात्पर्य वस्तुतः ब्रह्मात्मैक्य में होने से सृष्टि के प्रतिपादन में उनका अभिप्राय

---

१. तत्त्वप्रदीपिका (चतुर्थ परिच्छेद), पृ० ३८१-३८२ एवं इस पर देखिए नयनप्रसादिनी टीका (निर्णय-सागर, बम्बई १६३१)।

२. नात्र दुःखाभावः स्वतन्त्रतया पुरुषार्थः, सुखाभिव्यक्तिशेषत्वात्। न च विपरीतवृत्तिप्रसंगः, विकल्पासहत्वात्। किं सुखदुःखभावस्योत्पादकमुताभिव्यंजकम्, नोभयथापि। –तत्त्वप्रदीपिका, चतुर्थ-परिच्छेद।

कदापि नहीं है।[1] इसलिए दृष्टिसृष्टिवादी के अनुसार सृष्टि तात्त्विक न होकर दृष्टिकालिक ही है–**दृष्टिसमसमया विश्वसृष्टिरिति दृष्टिसृष्टिवादः ।**

अमलानन्द का एक और विचार उनके अद्वैतवेदान्त के सूक्ष्म पर्यवेक्षी होने का परिचायक है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र के दार्शनिक मत का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, ब्रह्मदत्त एवं मण्डन मिश्र प्रभृति प्रसंख्यान को ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण मानते हैं। प्रसंख्यान को ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण स्वीकार करने पर यह आपत्ति स्वाभाविक है कि प्रमाण संख्या के अन्तर्गत प्रसंख्यान का परिगणन न होने के कारण उससे उत्पन्न होने वाले ब्रह्मसाक्षात्कार को प्रमा नहीं कहा जा सकता। इस आपत्ति का समाधान हमें अमलानन्द के इस कथन के अन्तर्गत मिलता है कि वेदान्त वाक्यों से जन्य ज्ञान के अभ्यास से होने वाली अपरोक्ष बुद्धि वेदान्त वाक्य अथवा उससे होने वाली प्रमा की दृढ़ता से (अविप्रतिपन्न प्रामाण्य होने के कारण) भ्रम नहीं होती है। इसीलिए परतः प्रामाण्यापत्ति भी प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि अपवाद के निरास के लिए मूल प्रमाण की शुद्धि की अपेक्षा की गई है।[2] इस प्रकार अमलानन्द परिसंख्यानजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार को प्रमारूप स्वीकार करते थे।

अद्वैतवेदान्त का विवेचन करते समय कहीं-कहीं अमलानन्द का दृष्टिकोण अपने पूर्ववर्ती शंकराचार्य एवं वाचस्पति मिश्र आदि के मत से भिन्न हो गया है। उदाहरण के लिए ब्रह्मसूत्रभाष्यकार शंकराचार्य एवं भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने जीव की ईश्वरभावापत्ति को स्पष्ट सिद्ध किया है।[3] इस सम्बन्ध में अमलानन्द का दृष्टिकोण भिन्न है। वे मायाप्रतिबिम्बित ईश्वर की मुक्तों द्वारा प्राप्यता नहीं स्वीकार करते।[4]

इस प्रकार अमलानन्द ने अद्वैतवेदान्त के अनेक सिद्धान्तों का सूक्ष्म पर्यालोचन किया है।

विद्यारण्य (१३५० ई०)

विद्यारण्य का पूर्वाश्रम का नाम माधवाचार्य था। इसके विपरीत कुछ विद्वान् इनका दूसरा नाम

---

१. श्रुतीनां सृष्टितात्पर्यं स्वीकृत्येदमिहेरितम् ।
ब्रह्मात्मैक्यपरत्वात्तु तासां तन्नैव विद्यते ।। –शास्त्रदर्पण–१।४।४ पृ० ८७
(वाणीविलासप्रेस, श्रीरंगम् १६१३)।

२. वेदान्तवाक्यजज्ञानभावनाजाऽपरोक्षधीः ।
मूलप्रमाणदार्ढ्येन न भ्रमत्वं प्रपद्यते ।।
न च प्रामाण्यपरतस्त्वापत्तिस्तु प्रसज्यते ।
अपवादनिरासाय मूलशुद्ध्यनुरोधात् ।। –सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ४७० से उद्धृत कल्पतरुकार का मत।

३. ब्र० सू०, शा० भा०, एवं भामती ४।४३, ४।४।६, ४।४।७ तथा देखिए–सि० ले० सं०, पृ० ५५३।

४. देखिए-सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ५५३।

भारतीतीर्थ भी मानते हैं।[1] डाक्टर वीरमणिप्रसाद उपाध्याय ने भारतीतीर्थ को पंचदशी का लेखक कहा है।[2] इस विषय का विवेचन यहाँ आवसरिक न होने के कारण, इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि स्वयं माधवाचार्य (विद्यारण्य) ने अपने ग्रन्थ 'जैमिनीयन्यायमाला' की टीका विस्तर में भारतीतीर्थ को अपना गुरु लिखा है। अतः भारतीतीर्थ और विद्यारण्य को पृथक्-पृथक् मानना ही समुचित होगा।[3] विद्यारण्य द्वारा रचित १६ ग्रन्थ हैं, जिनमें पंचदशी सर्वाधिक प्रख्यात है।

अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य का आभासवाद, पद्मपादाचार्य एवं प्रकाशात्मा का प्रतिविम्बवाद एवं वाचस्पति मिश्र का अवच्छेदवाद सिद्धान्त प्रचलित हैं। विद्यारण्य उक्त सिद्धान्तों में से प्रतिबिम्बवाद के अनुयायी प्रतीत होते हैं।[4] विद्यारण्य के अनुसार माया में प्रतिविम्बित चेतन को ईश्वर एवं अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन को जीव कहते हैं। विद्यारण्य के अनुसार माया एवं अविद्या में यही भेद है कि माया शुद्धसत्त्वमयी है एवं अविद्या मलिनसत्त्वमयी।[5]

विद्यारण्य द्वारा किया गया साक्षी का विवेचन

विद्यारण्य ने पंचदशी के कूटस्थदीप, नाटकदीप एवं चित्रदीप प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी का भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन किया है। कूटस्थदीप के अन्तर्गत विद्यारण्य ने साक्षी की व्याख्या करते हुए कहा है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य अपने अवच्छेदक उक्त दोनों शरीरा का साक्षात् द्रष्टा एवं कर्तृत्व आदि विकारों से शून्य होने के कारण साक्षी है।[6]

नाटकदीप प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी का विवेचन नृत्यशाला में स्थित दीपक के दृष्टान्त के आधार पर किया गया है। जिस प्रकार कि नृत्यशाला में रखा हुआ दीपक नृत्यशाला के स्वामी, सभ्यों (दर्शकों) तथा नर्तकी को समान रूप से प्रकाशित करता है एवं स्वाम्यादि के अभाव में भी दीप्त रहता है, उसी प्रकार साक्षी भी अहंकार, बुद्धि तथा विषयों को प्रकाशित किया करता है और अहंकारादि के अभाव में भी सुषुप्ति अवस्था में पूर्ववत् साक्षी को दीप्त करता रहता है।[7]

पंचदशी के चित्रदीप प्रकरण के अन्तर्गत विद्यारण्य ने ब्रह्म, कूटस्थ, ईश्वर एवं जीव का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। उक्त तत्त्वों का निरूपण पंचदशीकार ने आकाश के दृष्टान्त के आधार पर किया है। विद्यारण्य का कथन है कि व्यापक आकाश का नाम महाकाश है। घटावच्छिन्न आकाश को घटाकाश, घटवर्ती जल में प्रतिबिम्बित आकाश को जलाकाश तथा मेघ के जल में प्रतिबिम्बित आकाश

---

१. कल्याण–वेदान्तांक, पृ० ६५२।
२. Lights of Vedānta, p. 111, 116.
३. वेदान्तांक (कल्याण), पृ० ६५२।
४. *T. M. P. Mahadevan* : The Philosophy of Advaita, p. 219. (Ganesh & Co., Madras, 1957).
५. पंचदशी, १।१६।
६. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० १८०।
७. पंचदशी, १०।११, १२।

को मेघाकाश कहते हैं। इसी प्रकार अखण्ड एवं व्यापक शुद्ध चेतन को ब्रह्म और देहरूप उपाधि से परिच्छिन्न चेतन को कूटस्थ कहते हैं। देहान्तर्गत अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन जीव तथा माया-प्रतिबिम्बित चेतन को ईश्वर कहते हैं।[1] विद्यारण्यनिरूपित अविद्या एवं माया के भेद की दिशा का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

विद्यारण्य ने श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के अतिरिक्त चित्तशुद्धिकर्त्री उपासना को भी मोक्ष-साधन के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु उपासना को भी ये आगे चलकर भ्रम ही मानते हैं। अन्तर इतना ही है कि निर्गुणोपासना संवादी भ्रम है तथा सगुणोपासना विसंवादी भ्रम है। जो भ्रम, भ्रम होते हुए भी परिणाम में इष्ट वस्तु की उपलब्धि कराता है उसे संवादी भ्रम कहते हैं। अन्य सगुणोपासनाएँ विसंवादी भ्रम के अन्तर्गत आती हैं। निर्गुणब्रह्म की उपासना संवादी भ्रम होने पर भी ब्रह्मसाक्षात्कार में सहायक है। उक्त क्रम मध्यम कोटि के अधिकारियों के लिए ही है। उत्तम कोटि के अधिकारियों के लिए तो श्रवणादि की ही व्यवस्था है।[2]

प्रकाशानन्द (१५५०-१६०० ई०)

प्रकाशानन्दरचित (वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली) अद्वैत वेदान्त का एक प्रामाणिक एवं प्रख्यात ग्रन्थ है। प्रकाशानन्द ने अपनी मुक्तावली में अद्वैत वेदान्त का विवेचन करके अपनी प्रांजल एवं पाण्डित्यपूर्ण शैली का परिचय दिया है।

प्रकाशानन्द ने वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के अज्ञान आदि सिद्धान्तों का वैज्ञानिक मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

अज्ञान के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए प्रकाशानन्द ने उसे वेदसिद्ध एवं लौकिक प्रत्यक्षादि से सिद्ध न मानकर कल्प्य माना है। अपने मत की पुष्टि करते हुए प्रकाशानन्द का कथन है कि अज्ञान को वेदसिद्ध इसलिए नहीं माना जा सकता कि वेद के पूर्व काण्ड (पूर्वमीमांसा) का विषय कर्म मात्र है एवं वेदान्त (उत्तरमीमांसा) का विषय एवं फल पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म है। किन्तु अज्ञान के सम्बन्ध में उक्त स्थिति का अभाव होने के कारण अज्ञान को वेदसिद्ध नहीं माना जा सकता।[3] अज्ञान के लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होने का निराकरण करते हुए प्रकाशानन्द का तर्क है कि यदि अज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हुआ होता तो इस प्रकार के विवाद का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अज्ञान को कल्प्य मानने के लिए प्रकाशानन्द का तर्क है, कि जो ईश्वर, असंग, उदासीन एवं स्वानन्दतृप्त है, उसके द्वारा असत्य एवं अनेकविध सुखदुःखादिमय प्रपंच रूप जगत् की सृष्टि अनुपपन्न है। अतः बिना अज्ञान के प्रपंच मय जगत् की रचना अनुपपन्न होने के कारण अज्ञान की कल्पना करना अपेक्षित ही है।[4] इसीलिए

---

१. पञ्चदशी, ६।१८, २२।

२. वेदान्तांक (कल्याण), पृष्ट ६५४।

३. अज्ञानं किं वेदसिद्धम्⋯तत्र नाद्यः, पूर्वकाण्डस्य कर्ममात्रविषयत्वात्, वेदान्तानां च परिपूर्ण-सच्चदानन्दब्रह्ममात्रविषयत्वात् तत्रैव फलसम्बन्धात् अज्ञानादौ तदभावात् तदप्रतिपादकत्वात्। वे० सि० मुक्तावली, पृष्ठ २६ (कलिकाता-१६३५)।

४. अत एवंविधस्य प्रपंचरचना बिना अज्ञान न सम्भवति, इति अज्ञानं कल्प्यत इति भावः।
जीवानन्द की टीका, वे० सि० मु०, पृ० २६, २७, २८।

अज्ञान वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार की दृष्टि से कल्प्य है।

प्रकाशानन्द ने अविद्या को जीवाश्रया एवं ब्रह्मविषयिणी कहा है।[1] शुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला भी ईश्वर अज्ञान के आश्रित होकर जीवभाव को प्राप्त करके तथा देव, तिर्यक् एवं मनुष्यादि की देह का निर्माण करके उन्हीं के उपकरण ब्रह्माण्डादि चतुर्दश भुवनों की सृष्टि करता है।[2] अतः ईश्वर का स्रष्टृत्व अज्ञान के कारण ही सिद्ध होता है। दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्त के समर्थक होने के कारण प्रकाशानन्द जगत् की सत्ता को दृष्टि मात्र ही मानते हैं, तात्त्विक नहीं।[3]

अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रकाशानन्द ने अधिष्ठानवाद सिद्धान्त के आधार पर किया है। ये आचार्य अधिष्ठान एवं अध्यास में अद्वैतता के पक्षपाती हैं।[4] अधिष्ठानरूप आत्मा के अतिरिक्त द्वैत जगत् की सत्ता का समर्थन निराधार है। समस्त प्रपंचात्मक जगत् आत्मा में ही अध्यस्त है। आत्मसाक्षात्कार होने पर आत्माध्यस्त समस्त द्वैत जगत् का भी साक्षात्कार उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार रज्जु का ज्ञान होने पर उसमें अध्यस्त सर्प, दण्डादि के स्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है।[5]

इस प्रकार वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार ने अद्वैतवेदान्त के अनेक तथ्यों का विवेचन तर्क-प्रतिष्ठित शैली द्वारा प्रस्तुत किया है।

मधुसूदन सरस्वती (१६०० ई०)

मधुसूदनसरस्वती शंकराचार्योत्तर काल के अद्वैत सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यों में से हैं। इन्होंने सिद्धान्तबिन्दु, संक्षेपशारीरक की व्याख्या अद्वैतसिद्धि, अद्वैतरत्नरक्षण, वेदान्तकल्पलतिका, गूढ़ार्थदीपिका, प्रस्थानभेद आदि ग्रन्थों में अद्वैत वेदान्त का सूक्ष्म एवं व्यवस्थित विश्लेषण किया है।

सुषुप्ति काल में होने वाले–'सुखमहमस्वाप्सम्' (मैं सुखपूर्वक सोया) अनुभव के सम्बन्ध में शंकराचार्य के परवर्ती विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मतों की प्रतिष्ठा की है। सुरेश्वराचार्य सुषुप्ति के उत्तरवर्ती ज्ञान को 'विकल्प' कहते हैं।[6] इसके विपरीत विवरण सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रकाशात्मा आदि विद्वान् उक्त अनुभव को परामर्श कहते हैं और परामर्श से स्मृति का अर्थ ग्रहण करते हैं।[7] मधुसूदनसरस्वती ने इस

---

१. जीवाश्रया ब्रह्मपदा ह्यविद्या तत्त्वविन्मता। वे० सि० मु० ३ तथा देखिए विद्यासागरी।

२. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, ६; जीवानन्दविद्यासागरसंपादित १६३५ ई०।

३. तदेवं दृष्टिमात्रात्मकं जगत्।–वे० सि० मु० ६१।

४. अधिष्ठानभेदेन अध्यस्तस्य पृथक् स्वरूपाभावात्, पृष्ठ २५६।

५. आत्मसत्तैव द्वैतस्य सत्ता नान्या यतस्ततः।
आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।। –वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, ४६।

६. बृ० भा० वा०, पृ० ४६० (आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावली, १८६३)।

७. Lights on Vedānta, p. 133.

सम्बन्ध में एक नवीन मत की उद्भावना की है। अद्वैतवेदान्त के प्रतिपादक मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि सुषुप्ति अवस्था में तामसी वृत्ति की निवृत्ति हो जाती है। जाग्रत् अवस्था में विशेषणांश तामसी वृत्ति की निवृत्ति होने पर तामसीवृत्तिविशिष्ट अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ तक सुषुप्तिकालिक तामसीवृत्तिविशिष्ट अज्ञान का सम्बन्ध है, परामर्श को 'स्मृति' कहा जा सकता है। इसके विपरीत सुषुप्ति अवस्था को यदि हम मात्र अज्ञानानुभव मानेंगे तो हम परामर्श को 'स्मृति' नहीं कह सकते। इसका कारण यह है कि जाग्रत् अवस्था में भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं रहती। अज्ञान की निवृत्ति न होने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस भूतकालिक अनुभव का स्मरण नहीं हो सकता।

वृत्ति के सम्बन्ध में भी मधुसूदन सरस्वती ने विस्तार से विवेचन किया है। वृत्ति जीव के समस्त परिमित विषयों के ज्ञान के लिए एक आवश्यक दशा है। मधुसूदन सरस्वती वृत्ति के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए उसके नीचे लिखे प्रधान छः कारण बताते हैं।[1]

(१) वृत्ति माया की आवरण शक्ति का उच्छेद करती है।

(२) वृत्ति ही आवरण और विक्षेप शक्ति से युक्त तूलज्ञान का विनाश करती है।

(३) वृत्ति अविद्या की एक विशेष स्थिति का निवारण करती है। यह विशेष स्थिति अज्ञान और जीव के तादात्म्य की स्थिति है।[2]

(४) वृत्ति अविद्या के एकदेशीय विनाश की कर्त्री है। यह एकदेशीय विनाश अविद्या में कार्य की अक्षमता उत्पन्न करना या अविद्या की निवृत्ति है।

(५) वृत्ति के कार्य के सम्बन्ध में एक उपयुक्त दृष्टान्त देते हुए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि जिस प्रकार दूसरे वीर योद्धा को देखकर भीरु भट भाग जाता है, उसी प्रकार वृत्ति की उत्पत्ति के क्षण ही अविद्या का आवरण नष्ट हो जाता है।

(६) मधुसूदन सरस्वती का विचार है कि वृत्ति की उत्पत्ति होने पर अविद्या का आवरण उसी प्रकार हट जाता है, जिस प्रकार कि हाथ का संयोग होने पर चटाई हटती चली जाती है।

वृत्ति के उपर्युक्त पंचम एवं षष्ठ कार्यों में यह अन्तर है कि पंचम कार्य के अनुसार वृत्ति की उत्पत्ति होने पर ही[3] अविद्या भट के समान क्षणमात्र में ही निवृत्त हो जाती है, और षष्ठ कार्य के अनुसार वृत्त्युत्पत्तिक्षण के उत्तरवर्त्ती काल में आवरण की निवृत्ति होती है।[4] वृत्ति के उक्त दोनो कार्यों की भिन्नता की दृष्टि से ही मधुसूदन सरस्वती ने उपर्युक्त दृष्टान्तों की योजना की है। दोनों दृष्टान्तों में यह भेद है कि भीरु भट वीर योद्धा के आने पर ही भाग जाता है, परन्तु चटाई किसी व्यक्ति के

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ४८७।
२. लघुचन्द्रिका, अद्वैतसिद्धि, पृ० ४८७।
३. वृत्त्युत्पत्तिक्षण एवावरणाभिभवः। लघुचन्द्रिका, अद्वैतसिद्धि, पृ० ४८०।
४. वृत्युत्पत्तिक्षणोत्तरवृत्तिकाले आवरणाभिभवः।-लघुचन्द्रिका, अद्वैतसिद्धि, पृ० ४८०।

आने पर ही नहीं सिमट जाती, चटाई को लपेटने के लिए हस्तसंयोग की आवश्यकता पड़ती है।

एकजीववाद–अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत जीव की एकता एवं अनेकता के सम्बन्ध में मतभेद है। इस सम्बन्ध में इसी अध्याय में पीछे विचार किया जा चुका है। मधुसूदन सरस्वती एकजीववाद के समर्थक हैं।[1] एकजीववाद के सम्बन्ध में यह शंका स्वाभाविक है कि जब "मैं सुखी हूँ", "मैं दुःखी हूँ", "मैं संसारी हूँ" और "मैं सोया" आदि भिन्न-भिन्न अनुभव होते देखे जाते हैं तो एकजीवता का समर्थन किस प्रकार किया जा सकता है। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए मधुसूदनसरस्वती का कथन है कि अविद्या के कारण एक ब्रह्म ही जीवरूपता को प्राप्त करता है, उस जीव की ही प्रत्येक शरीर में 'अहं बुद्धि' होती है। इस प्रकार जीव अनन्त न होकर एक ही है।

मिथ्यात्व–मिथ्यात्व के सम्बन्ध में भी मधुसूदनसरस्वती ने विशेष एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए जितनी आवश्यकता जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने की है, उतनी ही आवश्यकता उस मिथ्यात्व के मिथ्या प्रतिपादन की भी है।[2] इसका कारण यह है, कि यदि जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादन करके छोड़ दिया जायेगा, तो प्रकारान्तर से जगत् सत्य सिद्ध हो जाएगा, क्योंकि किसी वस्तु की सत्ता होने पर भी उसका निषेध होता है। इसीलिए मिथ्या जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन को मिथ्या सिद्ध करना भी अद्वैतसिद्धि के लिए अनिवार्य है।

मिथ्यात्व के उपर्युक्त दृष्टिकोण के सम्बन्ध में मधुसूदनसरस्वती ने पूर्वपक्षी के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैतसिद्धि में साधक न होकर बाधक है। पूर्वपक्षी का कहना है, कि प्रपंचरूप जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन को मिथ्या कहना प्रपंच के सत्यत्व को सिद्ध करेगा। अपने मत के समर्थन में पूर्वपक्षी का विचार है, कि एक धर्मी में प्रसक्त–दो विरोधी धर्मों में से एक की मिथ्यात्व-सिद्धि दूसरे विरोधी धर्म की सत्यता को सिद्ध करती है। अतः प्रपंचरूप धर्मी में मिथ्यात्व प्रतिपादन के प्रपंच की सत्यता सिद्ध होती है। पूर्वपक्षी के उपर्युक्त मत का निराकरण मधुसूदन सरस्वती ने बड़ी कुशलता से किया है। इनका कहना है कि पूर्वपक्षी का यह कथन कि एक धर्म में प्रसक्त दो धर्मों में से एक के मिथ्या सिद्ध होने पर ही दूसरे की सत्यता सिद्ध होती है, निराधार है। एक गोरूप धर्मी में अश्वत्व एवं गोत्व रूप दो विरोधी धर्मों में से एक धर्म–अश्वत्व का अत्यन्ताभाव होने पर दूसरे गोत्व धर्म की सत्यता नहीं सिद्ध होती। गजधर्मी में गोत्व एवं अश्वत्व दोनों ही धर्मों का अत्यन्ताभाव है। अतः दो विरोधी धर्मों में से एक का मिथ्या सिद्ध होना दूसरे की सत्यता नहीं सिद्ध करता। अतः जगत् के मिथ्यात्व का मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैतसिद्धि में बाधक न होकर साधक ही है।[3]

इस प्रकार मधुसूदनसरस्वती ने अद्वैतवेदान्त के अनेकों सिद्धान्तों का गूढ़ विवेचन किया है।

---

१. स च दृष्ट एक एव तन्नानात्वे मानाऽभावात्।–अद्वैतसिद्धि, पृ० ५३६।

२. *Dr. S. N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 444.

३. अद्वैतसिद्धि, पृ० ४०७-१३।

ब्रह्मानन्दसरस्वती (१७वीं शताब्दी)

अद्वैतसिद्धि पर ब्रह्मानन्द की लघुचन्द्रिका टीका जो ब्रह्मानन्दी के नाम से प्रसिद्ध है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह कहा जाता है कि जब द्वैतमतावलम्बी व्यासराज के शिष्य रामाचार्य ने मधुसूदन जी से अद्वैत सिद्धान्त का उपदेश ग्रहण करके उन्हीं के मत के निराकरण के लिए तरंगिणी की रचना की थी, तो इससे क्रुद्ध हो ब्रह्मानन्द ने लघुचन्द्रिका की रचना की थी। लघुचन्द्रिका के अतिरिक्त ब्रह्मानन्द ने मधुसूदन जी के सिद्धान्तबिन्दु पर न्यायरत्नावली और सूत्ररत्नावली दो निबन्ध रूप ग्रन्थों की रचना और की है।

ब्रह्मानन्द द्वारा विश्लेषित अद्वैत सिद्धान्त में कारणवाद, अधिष्ठानवाद एवं मुक्ति आदि के सम्बन्ध में नवीन तथा मौलिक विचार मिलते हैं। जगत् के उपादानकारण के सम्बन्ध में ब्रह्मानन्द का मत अप्पय दीक्षित से भिन्न है। अप्पय दीक्षित जीव को जगत् का उपादानकारण कहते हैं, परन्तु इसके विपरीत ब्रह्मानन्द के मतानुसार ईश्वर जगत् का उपादानकारण है। ब्रह्मानन्द का मत है कि ईश्वर इसलिए जगत् का उपादानकारण है कि जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब होने के कारण ईश्वर से सम्बद्ध है और यह जीव ही अविद्या का आश्रय है।[1]

शंकराचार्य के उत्तरवर्ती काल के अद्वैती विद्वानों ने अधिष्ठान पर विचार करते हुए अधिष्ठान में अध्यस्त अविद्याजन्य विषयों को मिथ्या नहीं कहा है, अपितु अधिष्ठान एवं अध्यास सम्बन्ध को भी मिथ्या कहा है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मानन्द का मत है कि जहाँ तक अधिष्ठान एवं अध्यस्त विषयों के सम्बन्ध की बात है, यह सम्बन्ध सत्य नहीं है। अतः अधिष्ठान और अध्यास के सम्बन्ध की दृष्टि से अधिष्ठान मिथ्या है, परन्तु मूलतः अधिष्ठान पारमार्थिक सत्य रूप है।[2]

ब्रह्मानन्द ने न्यायरत्नावली के अन्तर्गत[3] श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को तर्क रूप में ग्रहण किया है। यदि 'तत्त्वमसि' के रूप में ब्रह्म एवं जीव में सम्बन्ध न हुआ होता तो तत्त्वमसि आदि के द्वारा ब्रह्मज्ञान का होना असम्भव था, इस प्रकार के तर्कों को ब्रह्मानन्द श्रवण के अन्तर्गत मानते हैं। इसी प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान को दृढ़ करने के लिए प्रवृत्त होना, मनन के अन्तर्गत आता है। ब्रह्मानन्द के मतानुसार यह भी तर्क का ही रूप है। निदिध्यासन को ब्रह्मानन्द अन्तिम तर्कों में मानते हैं। ब्रह्मानन्द का विचार है कि श्रवण एवं मनन से उत्पन्न ज्ञान को निदिध्यासन ब्रह्मसाक्षात्कार के मूल एवं आनन्द रूप में परिणत कर देता है।

इस प्रकार ब्रह्मानन्दसरस्वती ने अद्वैतवेदान्त के विभिन्न विषयों पर मौलिक दृष्टि से विचार किया है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र (१७वीं शताब्दी)

वेदान्तपरिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र अद्वैतवेदान्त के प्रमुख विवेचकों में हैं। जैसा कि

---

१. देखिए–अद्वैतसिद्धि पर ब्रह्मानन्दी, पृ० ४८३, न्यायरत्नावली, पृ० २३१।

२. देखिए–ब्रह्मानन्दी, अद्वैतसिद्धि, पृ० ३८-४७।

३. न्यायरत्नावली, पृ० ४२८।

वेदान्तपरिभाषा के आरम्भ में संकेतित है, इनके गुरु भेदधिक्कार के लेखक नृसिंहाश्रम थे।[1]

वेदान्तपरिभाषाकार ने शुद्ध चेतन के ही उपाधि के कारण–प्रमातृचैतन्य, प्रमाणचैतन्य एवं विषयचैतन्य रूप से तीन भेद किए है। घटादि से अवच्छिन्न अर्थात् जितने स्थल में घट स्थित है, उतने स्थल में वर्तित होने वाले चैतन्य का नाम विषयचैतन्य है। अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति जितने प्रदेश में रहती है, उतने प्रदेश में वर्तित होने वाले चैतन्य का नाम प्रमाणचैतन्य है। इसी प्रकार अन्तःकरणावच्छिन्न अर्थात् जितने प्रदेश में अन्तःकरण रहता है तत्प्रदेशवर्ती वृत्तिचैतन्य को प्रमातृचैतन्य कहते हैं।[2]

वृत्ति के सम्बन्ध में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विशेष रूप से विचार किया है। वृत्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार तडाग का जल तडाग के किसी एक छिद्र द्वारा निकलकर एवं कुल्या (नहर) रूप को प्राप्त होकर क्षेत्र में केदारों (क्यारियों) में प्रविष्ट हुआ उन केदारों के अनुरूप ही त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार तैजस होने से अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा निकलकर घटपटादि विषयदेश को प्राप्त हुआ घटपटादि विषयरूप से परिणाम को प्राप्त होता है। यही परिणाम 'वृत्ति' है।[3] आगे चलकर वृत्ति के भी धर्मराजाध्वरीन्द्र ने संशय, निश्चय, गर्व एवं स्मरण–ये चार भेद किए हैं। इस वृत्ति-भेद के कारण ही एक ही अन्तःकरण मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त इन चार संज्ञाओं को प्राप्त करता है।[4] उक्त कथन के अनुसार संशय मन का, निश्चय बुद्धि का, गर्व अहंकार का तथा स्मरण चित्त का विषय है।

ब्रह्मसाक्षात्कार के सम्बन्ध में वेदान्तपरिभाषाकार का मत है कि ब्रह्मज्ञानी का लोकान्तर में गमन नहीं होता, अपितु वह अपने प्रारब्ध कर्मों के क्षयपर्यन्त सुख-दुःख का भोग करके अन्त में विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है।[5]

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त धर्मराजाध्वरीन्द्र ने साक्षी, अनिर्वचनीयख्याति, मिथ्यात्व आदि विषयों का मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

शंकराचार्य के परवर्ती काल के अद्वैतवेदान्त के उपर्युक्त प्रमुख आचार्यों एवं विद्वानों के अतिरिक्त अन्यानेक आचार्यों ने भी अद्वैतवेदान्त का विश्लेषण किया है। इन आचार्यों में, गंगापुरी

---

१. यदन्तेवासिपंचास्यैर्निरस्ताभेदिवारणाः।
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यं यतीन्द्रं परमं गुरुम् ।।–वेदान्तपरिभाषा, द्वितीय श्लोक।

२. वेदान्तपरिभाषा, प्रथम परिच्छेद, पृ० ८, बम्बई सं० १९८९।

३. तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुःकोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। –वे० प०, प्रथम परिच्छेद।

४. वही, पृ० १२।

५. वेदान्तपरिभाषा, पृ० १३६।

भट्टारकाचार्य, श्रीकृष्णमिश्रयति, श्रीहर्षमिश्र, श्रीरामाद्वयाचार्य, शंकरानन्द, आनन्द गिरि, अखण्डानन्द, मल्लनाराध्य, नृसिंहाश्रम, नारायणाश्रम, रंगराजाध्वरी, अप्पयदीक्षित, भट्टोजिदीक्षित, सदाशिव ब्रह्मेन्द्र, नीलकण्ठसूरि, सदानन्दयोगीन्द्र सरस्वती, आनन्दपूर्ण विद्यासागर, नृसिंह सरस्वती, रामतीर्थ, आपदेव, गोविन्दानन्द, रामानन्द सरस्वती, काश्मीरक सदानन्द यति, रंगनाथ, अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ, महादेव सरस्वती, सदाशिवेन्द्र सरस्वती एवं आयन्न दीक्षित के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों की दार्शनिक देन के सम्बन्ध में यहाँ संक्षेप में विचार किया जाएगा।

गंगापुरी भट्टारकाचार्य (दशम-एकादश शताब्दी)

गंगापुरी भट्टारकाचार्य ने पदार्थतत्त्वनिर्णय नामक ग्रन्थ की रचना की थी। भट्टारकाचार्य जी ब्रह्म एवं माया को जगत् का कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त यह ब्रह्म को विवर्तकारण एवं माया को परिणामी कारण स्वीकार करते हैं।

श्रीकृष्णमिश्रयति (११वीं शताब्दी)

विद्वान् आचार्य ने प्रबोधचन्द्रोदय नाटक लिखकर नाटकीय शैली के द्वारा अद्वैत मत का प्रचार किया था। इस दिशा में इनका प्रयत्न अद्वितीय होने के कारण श्लाघ्य है।

श्रीहर्षमिश्र (१२वीं शताब्दी)

श्रीहर्षमिश्र दार्शनिक और कवि दोनों ही थे। इन्होंने खण्डनखण्डखाद्य की रचना करके अपने समय के अनेक अद्वैतविरोधी मत-मतान्तरों का निराकरण करके अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। आज भी श्रीहर्ष का उक्त ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त के क्षेत्र में अपना पृथक् स्थान रखता है।

श्रीरामाद्वयाचार्य (१३वीं शताब्दी)

रामाद्वयाचार्य ने वेदान्तकौमुदी नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रथम बार १९५५ में मद्रास विश्वविद्यालय ने किया है। इस ग्रन्थ में विभिन्न मतों की आलोचना करते हुए अद्वैत मत का प्रतिपादन किया गया है। इन्होंने साक्षी को ईश्वररूप भी कहा है।

शंकरानन्द (१४वीं शताब्दी)

शंकरानन्द विद्यारण्य के शिक्षा गुरु थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्र की टीका ब्रह्मसूत्रदीपिका एवं १०८ उपनिषदों की टीका लिखकर अद्वैतवेदान्त का विश्लेषण किया था। उन्होंने आत्मपुराण नामक एक और ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें श्रुतिरहस्य, योगसाधनरहस्य आदि का विवेचन बड़ी सरल एवं मर्मस्पर्शिनी भाषा में प्रस्तुत किया था।

आनन्दगिरि (१५वीं शताब्दी)

आनन्दगिरि का ही दूसरा नाम आनन्द ज्ञान भी है। आनन्दगिरि ने शंकराचार्य के भाष्यग्रन्थों

पर टीकायें लिखकर अद्वैतवेदान्त सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए शांकर मत का ही समर्थन किया है।[1] वेदान्तसूत्रभाष्य पर इनके द्वारा लिखी गई टीका 'न्यायनिर्णय' अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने शंकर दिग्विजय नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी की है, जिसमें शंकराचार्य के जीवन एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है।

अखण्डानन्द (१५वीं शताब्दी)

अखण्डानन्द अखण्डानुभूति के शिष्य थे। इन्होंने पंचपादिकाविवरण के ऊपर तत्त्वदीपन नामक एक प्रामाणिक टीका-ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में अद्वैत सिद्धान्त का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया गया है। इन्होंने भामती पर ऋजुप्रकाशिका नामक टीका भी लिखी है।

मल्लनाराध्य (१६वीं शताब्दी)

इन्होंने अद्वैतरत्न और अभेदरत्न नामक दो ग्रन्थों की रचना करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया था। इसके अतिरिक्त इन्होंने अद्वैतरत्न के ऊपर तत्त्वदीपन नामक टीका की रचना के द्वारा द्वैत मत का निराकरण करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

नृसिंहाश्रम (१६वीं शताब्दी[2])

नृसिंहाश्रम उद्‌भट दार्शनिक एवं प्रौढ़ पण्डित थे। इन्होंने भावप्रकाशिका (विवरण की टीका), तत्त्वविवेक, भेदधिक्कार, अद्वैतदीपिका, वैदिकसिद्धान्तसंग्रह एवं तत्त्वबोधिनी की रचना की थी। इन ग्रन्थों की रचना करके नृसिंहाश्रम ने निश्चय ही दर्शनशास्त्र के लिए एक विलक्षण देन प्रदान की है।

नारायणाश्रम (१६वीं शताब्दी)

नारायणाश्रम नृसिंहाश्रम के शिष्य थे। अपने गुरु के भेदधिक्कार एवं अद्वैतदीपिका नामक ग्रन्थों के ऊपर नारायणाश्रम ने टीकाग्रन्थ लिखे हैं। भेदधिक्कार पर इनका टीका-ग्रन्थ–भेदधिक्कार-सत्क्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ पर भेदधिक्कारसत्क्रियोज्ज्वला नामक एक और टीका भी मिलती है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में द्वैत का निराकरण करके अद्वैत का प्रामाणिक विवेचन किया है।

रंगराजाध्वरी (१६वीं शताब्दी)

रंगराजाध्वरी वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान् अप्पयदीक्षित के पिता थे। इनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ अद्वैतविद्यामुकुर एवं विवरणदर्पण हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने न्याय-वैशेषिक एवं सांख्य आदि मतों का खण्डन

---

१. प्रज्ञानानन्द, शेषशार्ङ्गधर, वादीन्द्र, रामानन्द सरस्वती, सदानन्द काश्मीरक, कृष्णानन्द एवं महेश्वरतीर्थ आदि आचार्यों की उक्तियों से भी आनन्दगिरि का शांकरवेदान्त का अनुयायी होना सिद्ध होता है।

२. नृसिंहाश्रम का यह समय वेदान्तांक (कल्याण) के आधार पर दिया गया है।

करके अद्वैत मत की स्थापना की है।

अप्पयदीक्षित (१५५० ई० १६२२ ई०)

अप्पयदीक्षित ने व्याकरण शास्त्र, मीमांसा, अद्वैतवेदान्त, मध्ववेदान्त, रामानुजवेदान्त, श्रीकण्ठमत एवं शैव मत आदि पर १०४ ग्रन्थों की रचना की है, वेदान्त के ग्रन्थों में परिमल, न्यायरक्षामणि, सिद्धान्त-लेश, मतसारार्थसंग्रह एवं न्यायमंजरी इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। इनका सिद्धान्त लेश तो अद्वैत वेदान्त के आचार्यों के मत-मतान्तरों के अध्ययन की दृष्टि से अनुपम ग्रन्थ है।

भट्टोजिदीक्षित (१६वीं शताब्दी)

भट्टोजिदीक्षित एक सुप्रसिद्ध वैयाकरण थे, परन्तु इन्होंने तत्त्वकौस्तुभ एवं वेदान्ततत्त्वविवेक की रचना के द्वारा द्वैत मत का निराकरण करके अद्वैत मत का समर्थन किया था। इस प्रकार भट्टोजिदीक्षित एक प्रशस्त वैयाकरण की ही तरह प्रशस्त वेदान्ती भी थे।

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र (१६वीं शताब्दी)

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र की कृतियाँ अद्वैतविद्याविलास, बोधार्थात्मनिर्वेद, गुरुरत्नमालिका और ब्रह्म-कीर्तनतरंगिणी आदि हैं। इन ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय भी अद्वैतवेदान्त ही है।

नीलकण्ठसूरि (१६वीं शताब्दी)

नीलकण्ठसूरि ने महाभारत पर भारतभावदीप नामक टीका-ग्रन्थ की रचना की है। गीता की व्याख्या करते हुए इन्होंने, यद्यपि कहीं-कहीं शांकर सिद्धान्त का विरोध भी किया है, परन्तु इनका प्रमुख सिद्धान्त शांकर अद्वैत ही है।

सदानन्दयोगीन्द्र सरस्वती (१६वीं शताब्दी)

सदानन्द जी ने अद्वैतवेदान्त के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्तसार की रचना की है। इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने अज्ञान, अध्यारोप, मोक्ष एवं पंचीकरण आदि के सम्बन्ध में आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में शांकर अद्वैत का ही संक्षेप में प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। वेदान्तसार के अतिरिक्त इनकी रचना शंकरदिग्विजय का भी उल्लेख मिलता है।

आनन्दपूर्ण विद्यासागर (१६वीं शताब्दी)

आनन्दपूर्ण विद्यासागर ने श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य पर न्यायचन्द्रिका नामक टीका की रचना की थी। इस टीका के अन्तर्गत लेखक ने अद्वैतवेदान्त के गूढ़ सिद्धान्तों का निरूपण किया है।

नृसिंहसरस्वती (१६वीं शताब्दी का अन्तिम भाग)

नृसिंह सरस्वती वेदान्तसार की प्रसिद्ध टीका सुबोधिनी के प्रणेता हैं। इस टीका में लेखक ने अद्वैत मत का ही समर्थन किया है।

रामतीर्थ (१७वीं शताब्दी का पूर्वभाग)

रामतीर्थ ने संक्षेपशारीरक पर अन्वयार्थप्रकाशिका, शंकराचार्य की उपदेशसाहस्री पर पदयोजनिका और वेदान्तसार पर विद्वन्मनोरंजनी नामक टीका ग्रन्थों में विशेषतया अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है।

आपदेव (१७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध)

आपदेव वैसे तो एक प्रसिद्ध मीमांसक थे, परन्तु इन्होंने वेदान्तसार पर बालबोधिनी नामक टीका की रचना करके अद्वैत मत का भी समर्थन किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मीमांसा के प्रौढ़ पण्डित होते हुए भी अद्वैत मत के समर्थक थे।

गोविन्दानन्द (१७वीं शताब्दी)

गोविन्दानन्दरचित, ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका–रत्नप्रभा शांकर भाष्य की सरलतम टीका है। इस टीका के अन्तर्गत गोविन्दानन्द ने अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों का बड़ा सरल एवं व्यवस्थित निरूपण किया है।

रामानन्द सरस्वती (१७वीं शताब्दी)

रामानन्द सरस्वती गोविन्दानन्द के शिष्य थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्यसम्मत ब्रह्मामृतवर्षिणी नामक टीका की रचना की है। इस टीका की सरलता एवं स्पष्टता अनुकरणीय है। इसके अतिरिक्त इनका दूसरा ग्रन्थ विवरणोपन्यास है। यह ग्रन्थ पंचपादिका की विवरण टीका का व्याख्या रूप है। रामानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैत मत का ही समर्थन किया है।

काश्मीरक सदानन्दयति (१७वीं शताब्दी)

अद्वैतवेदान्त के इस प्रतिष्ठित विद्वान् ने अद्वैतब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ की रचना की है। अद्वैतब्रह्मसिद्धि अद्वैत मत का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में एकजीववाद का समर्थन किया गया है।

रंगनाथ (१७वीं शताब्दी)

रंगनाथ ने ब्रह्मसूत्र की शांकरभाष्यानुसारिणी वृत्ति लिखी है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के अन्तर्गत तेइसवें सूत्र के पश्चात् 'प्रकरणत्वात्' नामक एक नवीन सूत्र

की कल्पना की है। भामतीकार ने इसे भाष्य के अन्तर्गत माना है, किन्तु वैयासिकन्यायमालाकार भारतीतीर्थ ने इसे पृथक् सूत्र माना है। रंगनाथ जी ने शांकर अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है।

अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ (१७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ ने अप्पय दीक्षित के सिद्धान्तलेश पर टीका लिखी है। सिद्धान्तलेश की यह टीका कृष्णालंकार अत्यन्त सरल एवं सुबोध है। कृष्णालंकार के अतिरिक्त इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य के ऊपर वनमाला नामक टीका लिखी है। इन टीकाओं के अन्तर्गत इनके विवेचन का विषय प्रधानतया अद्वैतवेदान्त ही है। अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ निर्गुण के प्रतिपादक होने के साथ कृष्ण के भक्त भी थे।

महादेव सरस्वती (१८वीं शताब्दी)

महादेव सरस्वती ने तत्त्वानुसन्धान नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ के ऊपर इन्होंने अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ नाम की एक टीका भी लिखी है। इन्होंने अद्वैतवेदान्त को सहज एवं सुबोध बनाने का प्रयास किया है और इस प्रयास में यह सफल भी हुए हैं।

सदाशिवेन्द्र सरस्वती (१८वीं शताब्दी)

इनका दूसरा नाम सदाशिवेन्द्र ब्राह्मण था। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका नामक टीका लिखी है। यह टीका शांकर सिद्धान्तों के अनुसार ही लिखी गई है। इसके अतिरिक्त इनके तीन ग्रन्थ और प्रकाशित हुए हैं। यह ग्रन्थ आत्मविद्याविलास, कविताकल्पवल्ली और अद्वैतरसमंजरी हैं। इनके ग्रन्थ सरल एवं सुबोध शैली में लिखे गये होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने द्वादश उपनिषदों की टीका भी लिखी है।

आयन्न दीक्षित (१८वीं शताब्दी)

आयन्न दीक्षित रचित व्यासतात्पर्यनिर्णय नामक एक ग्रन्थ ही मिलता है। इस ग्रन्थ में इन्होंने सांख्य, मीमांसा, पातंजल, न्याय-वैशेषिक, पाशुपत एवं वैष्णव मतों का निराकरण करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

१९वीं-२०वीं शताब्दी के अद्वैतवादी दार्शनिक

प्रायः अद्वैतवेदान्त के इतिहास-लेखकों ने अष्टादश शताब्दी में ही अद्वैत चिन्तन की मौलिकता का ह्रास माना है।[1] मेरे विचार से अद्वैत चिन्तन की मौलिकता का ह्रास असम्भव है। हाँ, यह अवश्य सम्भव है कि देश एवं काल की स्थिति के अनुसार अद्वैत विचारधारा भी नया प्रवाह ग्रहण कर ले। यही हुआ भी है। उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के प्रख्यात रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द,

---

१. आशुतोषशास्त्री, वेदान्तदर्शन–अद्वैतवाद, प्रथम खण्ड, पृ० ३८७, (बंगला संस्करण)।

अरविन्द घोष एवं आचार्य विनोवाभावे आदि तत्त्ववेत्ताओं एवं दार्शनिकों ने परम्परागत अद्वैतदर्शन को ठीक उसी रूप में न ग्रहण करके उसे एक व्यावहारिक एवं नवीन रूप प्रदान किया है। इन दार्शनिकों की अद्वैतपरक दार्शनिक दृष्टि के सम्बन्ध में भी आगे चलकर चतुर्दश अध्याय में विचार किया जायेगा। वैसे, बीसवीं शताब्दी के पंचानन तर्करत्न एवं अनन्तकृष्ण शास्त्री आदि विद्वानों ने अद्वैत परम्परा के शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की है।

अद्वैतदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त

ब्रह्म का सगुण एवं निर्गुण रूप

अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का वर्णन विस्तार से मिलता है। मूल सत्य के निर्गुण एवं सगुण रूप का वर्णन तो संहिताओं से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। उपनिषदों में आकर तो निर्गुण एवं सगुण का विस्तृत उल्लेख मिलता है। उपनिषत्परवर्तीकाल के प्रसिद्ध अद्वैती आचार्य गौडपादाचार्य ने भी ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप की विचारदृष्टि अपनी कारिकाओं में स्पष्ट की है। अद्वैतवेदान्त के सम्राट् शंकराचार्य ने तो अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का प्रतिपादन विस्तार से किया है। यहाँ पहले ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का प्रतिपादन किया जाएगा। इसके पश्चात् निर्गुण एवं सगुण के समन्वय पर विचार किया जाएगा।

ब्रह्म का निर्गुण रूप—ऋग्वेद की हंसवती ऋचा के अन्तर्गत समस्त प्राणियों के चित्त में स्थित एवं उपाधिरहित निर्गुण परमात्म तत्त्व का वर्णन हंस के रूप में किया गया है।[1] कठोपनिषद् में परब्रह्म को शब्द, रूप, रस तथा गन्ध से रहित एवं अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, परात्पर और ध्रुव कहा है।[2] गौडपादाचार्य ने ब्रह्म का वर्णन अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूपरहित, सकृत्-विभात तथा सर्वज्ञ कहकर किया है।[3] यहाँ शंकराचार्य ने सर्वज्ञ का अर्थ सब कुछ जानने वाला न करके 'वह ब्रह्म पूर्णतया ज्ञान रूप है' ऐसा किया है—सर्वं च तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम्।[4] शंकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म को अद्वैतवेदान्त का सर्वोच्च सत्य माना है। शंकराचार्य की दृष्टि में ब्रह्म की सत्यता का यही तात्पर्य है कि वह देशकालादि के बन्धन से मुक्त है।[5] शंकराचार्य ने ब्रह्म को वाङ्मनसातीत कहा है, परन्तु फिर भी वह अभावरूप नहीं है।[6] सत् तत्त्व होने के कारण ही ब्रह्म बौद्धों के शून्य से भी भिन्न है। साथ ही, निर्गुण ब्रह्म कारण रूप भी नहीं कहा जा सकता।[7] ब्रह्म की कारणता स्वीकार करने पर उसका देशकालादि से सम्बन्ध भी

---

१. ऋग्वेद, ४।४०।५।
२. कठ० उ० १।३।१५।
३. गौ० का० ३।३६।
४. शा० भा०, गौ० का० ३।३६।
५. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४।
६. वही, ३।२।२२।
७. वही, ३।३।३६।

स्थापित करना पड़ेगा, जो अनुचित है। ब्रह्म त्रिगुणात्मिका प्रकृति अथवा माया से अविशिष्ट होने के कारण ही निर्गुण है। शांकरवेदान्त के अनुसार यही निर्गुण ब्रह्म का मूल स्वरूप है।

ब्रह्म का सगुण रूप–ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अन्तर्गत सहस्र शिर वाले, अनन्त चक्षुधारी तथा अनन्त चरणों वाले जिस विराट् पुरुष का वर्णन मिलता है, वह परमात्मा के सगुण रूप का ही वर्णन है। इसी स्थल पर पुरुष का वर्णन स्रष्टा के रूप में भी मिलता है।[1] मुण्डकोपनिषद् के अन्तर्गत परब्रह्म परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्ववित् एवं ज्ञानमय तपवाला बतलाते हुए, जगत् के नाम, रूप और अन्नादि का स्रष्टा कहा है।[2] यह ब्रह्म के सगुण रूप का ही संकेत है। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म को स्रष्टा,[3] लोकरक्षक[4] और नियन्ता[5] कहकर उसके सगुण रूप की ही वर्णना की गई है। आचार्य गौडपाद ने जहाँ पुरुष को समस्त लोक का जनक कहा है,[6] वहाँ उनका तात्पर्य स्पष्ट रूप से परमात्मा की सगुणता का ही है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का स्पष्टीकरण सौविध्य दृष्टि से ब्रह्म के पर एवं अपर रूप के भेदनिरूपण द्वारा किया है। शंकराचार्य का विचार है कि जहाँ अविद्या प्रयुक्त नाम और रूप आदि विशेष के प्रतिषेध से अस्थूल आदि शब्दों से ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, वह परब्रह्म है। इसके अतिरिक्त उपासना के लिए जब नाम-रूप आदि किसी विशेष से विशिष्ट ब्रह्म का वर्णन किया जाता है तो वही अपरब्रह्म कहलाता है।[7] उदाहरण के लिए, छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म को मनोमय, प्राण शरीर वाला तथा प्रकाश रूप कहना ब्रह्म के सगुण रूप का वर्णन है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों ही रूपों का वर्णन मिलता है। निर्गुण एवं सगुण के समन्वय के बिना, इन दोनों सिद्धान्तों की पारस्परिक विरोधप्रतीति के कारण अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन असम्भव है। अतः यहाँ निर्गुण एवं सगुण का समन्वय करना अत्यन्त अपेक्षित है।

निर्गुण एवं सगुण का समन्वय

साधारण दृष्टि से विचार करने पर ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप की विवेचना ब्रह्म की अद्वैत-सत्यता में, बाधक-सी प्रतीत होती है। ब्रह्म के सम्वन्ध में इस प्रकर की शंका पश्चिमी विद्वान् डायसन को भी हुई थी।[8] इसीलिए शंकराचार्य ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म के विरोध के समाधान के लिए समन्वयमूलक दर्शन की स्थापना की थी। शंकराचार्य ने सगुण ब्रह्म की स्थापना का प्रयोजन उपासना को बतलाया है।[9] वस्तुतः ब्रह्म का कर्तृत्व एवं स्रष्टृत्व आदि से सम्पन्न सगुण रूप अविद्या पर आधारित

---

१. ऋग्वेदसंहिता, १०।९०।१, ३, ५।
२. मुण्डकोपनिषद्, १।१।९।
३. तै० उ० ३।१।
४. बृ० उ०, ४।४।२२।
५. वही, ३।७।३।
६. गौ० का० १।६।
७. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४।
८. D.S.V., pp. 102-3.
९. शा० भा०, छा० उ० ८।१।१, ब्र० सू०, शा० भा० १।१।२०, २४, ३१, १।२।११, १४, ३।२।१२, ३३।

है। इस सम्बन्ध में रत्नप्रभाकार ने स्पष्ट कहा है कि निर्गुण ब्रह्म विद्या का विषय है एवं सगुण ब्रह्म अविद्या का विषय है।[1] अविद्या के आधार पर ब्रह्म के जो स्रष्टा, नियन्ता आदि विशेषण देखे जाते हैं, वे कल्पित ही हैं, क्योंकि जब साधक को आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है तो उसे जगत् के स्रष्टा एवं नियन्ता का बोध पृथक् रूप से नहीं होता। तत्त्वज्ञान होने पर समस्त द्वैत की निवृत्ति हो जाती है। अतः जब ज्ञानी की द्वैत बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है तो संसार की सृष्टि आदि के कर्ता सगुण परमात्मा के स्वरूप विवेचन का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार सगुण ब्रह्म का स्वरूप पारमार्थिक न होकर अविद्याकालिक ही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सगुण ब्रह्म पारमार्थिक न होते हुए भी शंकराचार्य के मतानुसार उपासना दृष्टि से उपादेय है। सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वरोपासना के द्वारा जीव का अन्तःकरण शुद्ध होता है और तब यह परब्रह्म का साक्षात्कार करता है।[2] शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि उपासनाओं का एकमात्र फल उपास्य-परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही है। आचार्य का कथन है कि एक ही उपासना से उपास्य का साक्षात्कार होने पर अन्य उपासनाएँ निरर्थक ही कही जायेंगी।[3] जहाँ तक कर्तृत्व, स्रष्टृत्व आदि विशेषताओं से सम्पन्न सगुण ब्रह्म की उपासना से निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की बात है, एकहार्ट,[4] प्लोटिनस[5] और ब्रेडले[6] आदि पश्चिमी दार्शनिक विद्वानों ने भी सगुण परमात्मा के ज्ञान से ही निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की उपलब्धि मानी है।

इस प्रकार शांकरवेदान्त के अनुसार निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म में मूलतया भेद न होते हुए भी उपासना की दृष्टि से सगुण ब्रह्म का पृथक् उल्लेख किया गया है। उपासना के अतिरिक्त सगुण ब्रह्म की स्थापना का उद्देश्य ब्रह्मसम्बन्धी विचारों का दूसरों तक पहुँचाना भी हो सकता है।

जगत् का मिथ्यात्व और उसकी व्यावहारिकता

जिस जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, उसका मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैतवेदान्त की एक अद्भुत प्रहेलिका है। अद्वैतवेदान्त द्वारा किए गए जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन का यह वैशिष्ट्य है कि वह कालानुसार जगत् के लौकिक व्यवहारों एवं परमार्थसत्तागत ब्रह्मानुभूति, इन दोनों का ही समर्थन करता है। पश्चिमी विद्वान् वर्कले भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता के पूर्णतया समर्थक हैं।[7] अतः यदि देखा जाए तो अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत जगत् का सत्यत्व एवं मिथ्यात्व काल की दृष्टि से ही विचार्य है।

---

१. विद्याविषयो ज्ञेयम् निर्गुणं सत्यम्, अविद्याविषय उपास्यं सगुणकल्पितम्।
–रत्नप्रभा, ब्र० सू० १।१।१२।

२. D.S.V. p. 103.

३. ब्र० सू०, शा० भा० ३।३।५६।

४. Hunt's essay on Pantheism, p. 179.

५. *Enneads* : Makenna's English Translation, Vol. II, p. 135.

६. Appearence and Reality, p. 159.

७. Principles of Human Knowledge, p. 34.

जगत् की सत्ता इसलिए असत् कही जाती है कि वह त्रिकाल में नहीं रहती। वस्तुतः ब्रह्मात्मा का ज्ञान होने के पहले ही जगत् के व्यवहारों की सत्यता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि जाग्रत् अवस्था से पूर्व स्वप्न दशा के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं।[1] परमार्थावस्था में तो जगत् के सारे व्यवहार लुप्त हो जाते हैं।[2] इसके अतिरिक्त सृष्टि के पूर्व काल में भी एक मूल सत्य-ब्रह्म की ही सत्ता थी। इस प्रकार यह निश्चित है कि जगत् की सत्ता त्रैकालिक नहीं है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जगत् को असत् कहा जाता है। अब हम इस विषय के दूसरे पक्ष पर विचार करते हैं। इस दूसरे पक्ष के अनुसार जगत् 'सत्' है। सत् इसलिए है कि प्रत्यक्ष रूप से दृश्यमान जगत् को शशशृंग अथवा आकाशकुसुम के समान असत् नहीं कहा जा सकता। उक्त तर्कों के आधार पर अद्वैतवेदान्त का अध्येता इस परिणाम पर पहुँचता है कि नामरूपात्मक जगत् न पूर्णतया सत् है और न पूर्णतया असत्। इस प्रकार जगत् की सत्ता न पूर्णतया असत् है और न सत्। सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण ही जगत् की सत्ता को वेदान्तियों ने अनिर्वचनीय कहा है। शांकरवेदान्त के अनुसार जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन का यही दृष्टिकोण है।

जगत् की अभावरूपता का निराकरण

ऊपर हमने शंकराचार्य को उद्धृत करते हुए कहा है कि परमार्थावस्था में जगत् के समस्त व्यवहार लुप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा चुका है कि परमार्थ दृष्टि से जगत् असत् है। यही यहाँ विवेच्य है कि परमार्थ दृष्टि से जगत् के असत् सिद्ध होने पर भी यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि परमार्थ सत्ता-ब्रह्मबोध की स्थिति में जगत् का भी लोप हो जाता है। यदि ब्रह्मात्मता की स्थिति में जगत् का लोप हो जाया करता तो एक व्यक्ति के जीवन्मुक्त होने पर जगत् की सत्ता ही समाप्त हो जाती।[3] परन्तु ऐसा नहीं होता। ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए जगत् का लोप न होकर द्वैतमूलक नामरूपात्मक प्रपंच एवं उससे उत्पन्न होने वाले समस्त व्यवहारों का ही लोप होता है, प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का नहीं। अतः शांकरवेदान्त के अनुसार जगत् के असत् होने का यही तात्पर्य है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है।[4] भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म और जगत् के अनन्यत्व से हम केवल दोनों के अभेद का प्रतिपादन नहीं करते अपितु भेद का निराकरण करते हैं।[5] भामतीकार के मत के समर्थन में ही रत्नप्रभाकार का भी कथन है कि ब्रह्म एवं जगत् का अनन्यत्व कारण से पृथक् कार्य की सत्ता की शून्यता सिद्ध करता है न कि ऐक्य।[6] इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के आचार्यों ने जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन के द्वारा ब्रह्मव्यतिरिक्त

---

१. सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः।
स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्।-ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

२. एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे।-वही० २।१।१४।

३. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२१।

४. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

५. न खल्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधाम-भामती २।१।१४।

६. कारणात् पृथक् सत्वशून्यत्वं कार्यस्य साध्यते न ऐक्यम्।-रत्नप्रभा, ब्र० सू० २।१।१४।

जगत् की सत्ता का ही निराकरण किया है। अतः जगन्मिथ्यात्व का उद्देश्य भौतिक जगत् का अभाव सिद्ध करना भारी भूल कही जाएगी।

जहाँ तक अद्वैततत्त्ववेत्ता जीवन्मुक्त प्राणी के व्यवहार का प्रश्न है, उसके लिए क्रियाकारक और तत्फलस्वरूप समस्त व्यवहार नष्ट हो जाते हैं।[1] जीवन्मुक्त प्राणी तो इस लोक में जडवत् विचरण करता है और प्रारब्ध कर्मों का भोग पूरा होने पर विदेहमुक्ति लाभ करता है। इस विषय का विशेष प्रतिपादन पांचवें अध्याय के अन्तर्गत किया गया है।

अध्यास के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन

अध्यास अविद्या का ही दूसरा नाम है। शंकराचार्य ने अध्यास की परिभाषा 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' कहकर ही दी है।[2] इस परिभाषा के अनुसार जिस वस्तु में जो वस्तु नहीं है उस वस्तु में उस अवर्तमान वस्तु की सत्ता स्वीकार करना अध्यास है। शुक्ति में रजत, रस्सी में सर्प और नामरूप से रहित आत्मा में प्रपंचरूप जगत् की सत्यता का भान होना अध्यास ही है। इस अध्यास का मूल जीव का अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही शुक्ति में रजत, रस्सी में सर्प, आत्मा में अनेकत्वमय जगत् की सत्ता का अनुभव होता है।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि अद्वैतवेदान्त का उद्देश्य जगत् का निराकरण न होकर जगत् के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई द्वैतबुद्धि का निराकरण है। अध्यास ही द्वैत-बुद्धि का जनक है। अध्यास के ही कारण आत्मा में बाध्य धर्मों का आरोप होता है। उदाहरण के लिए, पुत्र एवं प्रिया आदि के अपूर्ण तथा पूर्ण होने पर 'मैं ही अपूर्ण तथा पूर्ण हूँ' इस प्रकार का अनुभव अध्यास के कारण ही होता है। इसी प्रकार आत्मा में उत्पन्न हुए देहाध्यास के कारण पुरुष को अपने स्थूलत्व, कृशत्व, गौरत्व आदि का अनुभव होता है।[3] वस्तुतः कूटस्थ, अचल एवं सनातन आत्मा स्थूलत्व, गौरत्वादि विशेषताओं से विशिष्ट नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में द्वैतमूलक जगत् की जो नामरूपात्मक सत्यता प्रतीत होती है, वह अध्यास मात्र होने के कारण मिथ्या है।

अध्यासवाद के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण अधिष्ठान के बिना असम्भव है। क्योंकि मृग तृष्णिका जैसी वस्तुएँ भी किसी आधार पर ही कल्पित की जाती हैं।[4] इसीलिए शांकरवेदान्त के अनुसार ब्रह्मरूप में ही जगत् को अध्यस्त कहा गया है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का स्पष्ट कथन है कि वन्ध्या स्त्री को सत्य अथवा मिथ्या पुत्र की जननी नहीं कहा जा सकता।[5] अतः अध्यास की कल्पना

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।
२. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।
३. तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति। तथा देहधर्मान्–स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।
४. शा० भा०, गीता १३।१४।
५. गौ० का०, शा० भा० ३।२८, ·१।६।

अधिष्ठान के बिना नहीं की जा सकती। अधिष्ठान का विस्तृत विवेचन पंचम अध्याय के अन्तर्गत किया गया है।

शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैती आचार्यों ने जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर किया है। वाचस्पति मिश्र अज्ञान का आश्रय जीव एवं विषय ब्रह्म मानते हैं। भामतीकार का विचार है कि अज्ञान के कारण ही ब्रह्म में अनेक प्रकार के अनात्म विषयों का आरोप होता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के मतानुसार प्रपंचरूप जगत् की सत्यता का मूल कारण जीवाश्रया अविद्या ही है। अविद्या की निवृत्ति होने पर जगत् भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में ख्यातिवाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ख्याति शब्द की निष्पत्ति ख्या (प्रकथने) धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर होती है, जिसका अर्थ दर्शन की परिधि में ज्ञान होता है। शुक्ति में रजत एवं रज्जु में सर्प का ज्ञान ख्याति ही है। उक्त शुक्ति आदि में हुए रजतादि ज्ञान का समीक्षण विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्धों, मीमांसकों तथा नैयायिकों ने पृथक्-पृथक् रीति से किया है। ख्याति के सम्बन्ध में प्राप्त नीचे उद्धृत श्लोक में पाँच ख्याति सम्बन्धी सिद्धान्तों का संकेत मिलता है–

> आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
> तथानिर्वचनीयख्यातिरित्येतत् ख्यातिपंचकम् ।।

उपर्युक्त श्लोक में निर्दिष्ट आत्मख्याति, असत् ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति–इन पाँच ख्यातियों के अतिरिक्त सत्ख्याति का विवेचन भी वेदान्त के मूल[1] एवं समालोचनात्मक[2] ग्रन्थों में उपलब्ध होता है–(१) आत्मख्याति, (२) असत्ख्यातिवाद, (३) अन्यथाख्यातिवाद, (४) ख्यातिवाद, (५) सत्ख्यातिवाद तथा (६) अनिर्वचनीयख्यातिवाद।

यहाँ उपर्युक्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण करना अनिर्वचनीयख्यातिवाद के सही मूल्यांकन के लिए उपयुक्त होगा।

आत्मख्यातिवाद का सिद्धान्त

आत्मख्यातिवाद के प्रवर्तक विज्ञानवादी बौद्ध हैं। आत्मख्यातिवादी बौद्ध शुक्ति में हुए रजत ज्ञान को असत् न मानकर बुद्धिगत मानता है। इस प्रकार आत्मख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति आदि में हुए रजतादि के भ्रम का आधार कोई बाह्य विषय न होकर चित्त ही है।[3] इस प्रकार आत्मख्यातिवादी

---

१. श्रीभाष्य, श्रुतिप्रकाशिका, १।१।१।

२. शंकरचैतन्यभारती ख्यातिवाद (सरस्वतीभवन टेक्स्ट्स)।
तथा देखिए–The Doctrine of Māyā, p. 11.

३. विवरणप्रमेयसंग्रह, *Hiriyanna* : Introduction to Iṣṭasiddhi.

की दृष्टि में रजतादि असत् न होकर चित्तगत हैं।

असत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त

असत्ख्यातिवाद का प्रतिपादन शून्यवादी बौद्ध ने किया है। शून्यवादी बौद्ध शुक्ति आदि में रजत आदि के अध्यास को असत् स्वीकार करता है। उनके अनुसार अधिष्ठानरूप शुक्ति में रजत के असत् होने के कारण, रजत शुक्ति में विपरीत धर्म की कल्पना मात्र है।[1]

अन्यथाख्यातिवाद का सिद्धान्त

अन्यथाख्यातिवाद सिद्धान्त का प्रतिपादनकर्ता नैयायिक है। अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार किसी वस्तु के धर्मों का अन्य वस्तु में आरोप ही अन्यथाख्याति है। शुक्ति एवं रजत के उदाहरण में रजत के धर्मों का शुक्ति में आरोप होता है। इस आरोप के कारण शुक्ति का रजत रूप से अन्यथा ज्ञान होता है। इसीलिए यह सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद के सिद्धान्त के नाम से प्रचलित हुआ है। अन्यथाख्यातिवादी के मतानुसार पूर्वदृष्ट रजत का स्मरण ही नेत्रों एवं दूरस्थ रजत में सम्बन्ध की स्थापना करता है। इस प्रकार भ्रम से दूरस्थ रजत का सम्बन्ध पुरोवर्ती 'इदम्' होने के कारण ही शुक्ति में रजत का अन्यथा ज्ञान होता है।

अख्यातिवाद का सिद्धान्त

अख्यातिवाद का समर्थक प्रभाकर मीमांसक शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को भ्रम नहीं स्वीकार करता। अख्यातिवादी का विचार है कि द्रष्टा को शुक्ति को देखकर, जब यह ज्ञान होता है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) तो इस द्विविध ज्ञान में 'इदम्' (यह) का यथार्थ ज्ञान होता है और रजत का स्मरण। 'इदम्' सम्बन्धी ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसके अतिरिक्त संस्कारजन्य सादृश्य के आधार पर ज्ञात 'रजतम्' (रजत सम्बन्धी ज्ञान) स्मृति मात्र है। अख्यातिवादी का तर्क है कि पुरोवर्ती–'इदम्' (यह) रूप यथार्थ ज्ञान और रजत रूप स्मृति, इन दोनों के भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न रूप से न ग्रहण होने के कारण ही शुक्ति का रजत रूप से ज्ञान होता है। इसी सिद्धान्त को भेदाग्रह भी कहते हैं।[2]

सत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के प्रस्थापक रामानुजाचार्य सत्ख्यातिवाद के अनुयायी हैं। सत्ख्यातिवादी शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को मिथ्या न मानकर सत् ही मानते हैं। सत्ख्यातिवाद सिद्धान्त का आधार 'सर्वं सर्वात्मकम्' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु का सात्त्विक अंश वर्तमान रहता है। इसीलिए रज्जु आदि में सर्पादि का ज्ञान सत् ही कहा जायेगा। सत्ख्यातिवादी

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

२. विशेष देखिये–डा० हरदत्त शर्मा : ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री, पृ० १३।

का विचार है कि भ्रान्तिस्थल का रजत भले ही मिथ्या हो, परन्तु द्रष्टा द्वारा किया गया पूर्वदृष्ट रजत का ज्ञान सत्य ही है। अतः रजत ज्ञान को मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त मतों की समालोचना

ख्याति सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्तों में अनेक न्यूनताएँ देखने में आती हैं। असत्ख्यातिवादी का रजतादि को असत् कहना संगत नहीं प्रतीत होता। इसीलिए शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त को सर्वप्रमाणविरुद्ध कहा है।[1] आत्मख्यातिवादी का रजतादि को चित्तगत मानना अनौचित्यपूर्ण ही है। भ्रमकालिक रजत का ज्ञान ही रजत की बाह्य सत्ता को सिद्ध करता है।

शंकराचार्य ने आत्मख्यातिवादी बौद्ध के मत का निराकरण करते हुए लिखा है कि अर्थ से अतिरिक्त भी विज्ञान स्वयं ही अनुभव में आता है, यह कथन अनुचित है।[2] क्योंकि आत्मा में क्रिया का विरोध है। अतः विज्ञानवाद के अनुसर्ता आत्मख्यातिवादी बौद्ध का रजतादि की बाह्य सत्ता को असत् कहना तर्कप्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता।

अन्यथाख्यातिवादी-का मत भी दोषपूर्ण है। अन्यथाख्यातिवादी का तर्क है कि पूर्वकाल में दृष्ट रजत का स्मरण ही नेत्रों एवं दूरवर्ती रजत में सम्बन्ध की स्थापना करता है। इस प्रकार अन्यथाख्यातिवादी के मतानुसार भ्रमवश दूरवर्ती रजत का सम्बन्ध पुरोवर्ती इदम् (विषय) से हो जाता है। अन्यथाख्यातिवादी का यह तर्क समुचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि भ्रमकालिक रजत-ज्ञान रजत का दूरवर्ती होना सिद्ध नहीं करता। भ्रमकाल में तो इदम् (पुरोवर्ती) विषय ही रजत रूप में भासता है। यही कारण है कि द्रष्टा को शुक्ति का इदम् रूप से ज्ञान होता है और 'इदम्' से सम्बन्धित ही रजत का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त भ्रम दूर होने पर किसी दूरवर्ती रजत का निषेध न होकर भ्रमकाल में अनुभूयमान रजत का ही निषेध होता है। इसलिए अन्यथाख्यातिवादी की दूरवर्ती रजत की कल्पना का तर्क असंगत ही कहा जाएगा।

अख्यातिवादी का कथन है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय 'इदम्' एवं स्मरण ज्ञान के विषय 'रजतम्' के भेदाग्रह के कारण ही शुक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। परन्तु अख्यातिवादी का यह तर्क युक्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होता। अख्यातिवादी ने जिस 'भेदाग्रह' का प्रतिपादन किया है, यह असंगत है। किसी वस्तु का स्वरूप ज्ञान ही उस वस्तु का भेदक ज्ञान है। यह अनुचित है कि दो भिन्न वस्तुओं का ज्ञान होने पर भी 'भेदाग्रह' बना रहे। अख्यातिवादी मीमांसक के मत में पुरोवर्त्ती 'इदम्' और स्मृति पर आधारित रजत दोनों ही भिन्न ज्ञान हैं। इस प्रकार दोनों ज्ञानों के भिन्न होने पर भेदग्रह स्पष्ट ही है। अतः भेदाग्रह का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

सत्ख्यातिवादी ने 'सर्वं सर्वात्मकम्' के आधार पर जिस सिद्धान्त की स्थापना की है, वह भी तर्कसिद्ध नहीं कहा जा सकता। सत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त पंचीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है।

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।३१।
२. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।२८।

नृसिंहाश्रम ने उक्त विषय का विवेचन करते हुए कहा है कि पंचीकरण विभिन्न भूतों (क्षित्यादि) का ही होता है, न कि उन भूतों से निर्मित विभिन्न भौतिक पदार्थों का। यदि ऐसा हुआ होता तो स्तम्भ आदि में भी रजत आदि की प्रतीति हुई होती। इसलिए यद्यपि मूल तत्त्व एक-दूसरे पदार्थों में मिश्रित होते हैं, परन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उन तत्त्वों से निर्मित पदार्थों में पार्थक्य न हो। अतः सत्ख्यातिवादी का मत भी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आत्मख्यातिवाद, असत्ख्यातिवाद, अन्यथाख्यातिवाद, अख्यातिवाद एवं सत्ख्यातिवाद के सिद्धान्तों में कुछ न कुछ न्यूनताएँ अवश्य मिलती हैं। अब यहाँ अनिर्वचनीयख्यातिवाद सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद का सिद्धान्त

अद्वैतवेदान्त के आचार्यों ने उपुर्यक्त पाँच ख्यातियों को महत्त्व न देकर अनिर्वचनीयख्याति की स्थापना की है। अनिर्वचनीयख्याति की परिभाषा करते हुए आनन्दबोधाचार्य ने न्यायमकरंद के अन्तर्गत लिखा है–

सविलासाविद्यानिवृत्तिरेव बाधस्तद्गोचरतैवानिर्वाच्यता[1]।

उक्त लक्षण के अन्तर्गत लेखक का तात्पर्य है कि कार्यादि विलाससहित अविद्या की गोचरता अनिर्वाच्यता है और उसी कार्यादि विलाससहित अविद्या की निवृत्ति बाध है। अनिर्वाच्यता की उक्त परिभाषा के अनुसार शुक्ति एवं रज्जु आदि में अध्यस्त रजत एवं सर्पादि की सत्ता अनिर्वाच्य विषयों के अन्तर्गत आती है। जब रजत एवं सर्पादि की जननी अविद्या[2] एवं अध्यास अनिर्वचनीय हैं, तो उनसे उत्पन्न शुक्त्यादि का अनिर्वचनीय होना संगत ही है। अनिर्वचनीयख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति-रजत के उदाहरण में रजत की सत्ता न आत्मख्यातिवादी के अनुसार चित्तगत है और न असत्ख्यातिवादी माध्यमिक बौद्ध के अनुसार असत्। अनिर्वचीयख्यातिवादी शुक्ति में अध्यस्त रजत को सत् एवं असत् से विलक्षण मानते हुए, उसकी प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार करता है।

सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण ही रजत अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय रजत के सदसद्विलक्षणत्व के समर्थन में अनिर्वचनीयख्यातिवादी का कथन है कि यदि रजत पूर्णतया सत् हुआ तो अविद्यानिवृत्ति होने पर उसका बाध न होता। अतः रजत को त्रिकालाबाधित सत् नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत अध्यस्त रजत को नितान्त असत् भी नहीं कह सकते। रजत शशशृंग के समान नितान्त असत् नही है। यदि रजत नितान्त असत् हुआ होता तो भ्रमकाल में भी उसकी प्रतीति सम्भव न होती। इसीलिए अद्वैतवेदान्त के अनुयायियों ने शुक्ति आदि में अध्यस्त रजतादि की प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार किया है।[3]

---

१. न्यायमकरंद, पृष्ठ १२५, चौखम्बा संस्करण, १६०७।

२. विवेकचूडामणि, श्लोक ११०, १११।

३. तथा च लोकेऽनुभवः शुक्तिका हि रजतवदवभासते।–ब्र० सू०, शा० भा०, उपोद्घात।

उपर्युक्त विवेचनदृष्टि के अनुरूप सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण, अनिर्वचनीयख्यातिवाद के समर्थक अद्वैतवेदान्ती का रजत प्रातिभासिक रूप से सत् होने के कारण शून्यवाद के अनुयायी असत्ख्यातिवादी बौद्ध के असत् रजत एवं विज्ञानवाद के समर्थक आत्मख्यातिवादी बौद्ध के चित्तगत रजत से भिन्न है। इसके साथ ही साथ अद्वैतवेदान्त के अनुसार शुक्ति में अध्यस्त रजत पूर्णतया सत् न होने के कारण सत्ख्यातिवादी रामानुजाचार्य के सत् रजत से भी भिन्न है। प्रातिभासिक रूप से सत् होने के कारण ही अनिर्वचनीयख्यातिवादी का रजत अख्यातिवादी मीमांसक के स्मृत रजत एवं अन्यथाख्यातिवादी के देशान्तर एवं कालान्तरवर्ती रजत से भी भिन्न है।

अनिर्वचनीयख्यातिवादी ने शुक्ति एवं रजत के दृष्टान्त के आधार पर अविद्याजन्य जगत् की अनिर्वचनीयता सिद्ध की है। अनिर्वचनीय होने के कारण जगत् को न शशशृंग के समान अलीक (असत्) कहा जा सकता है और न पारमार्थिक ब्रह्म के समान सत् ही कहा जा सकता है। इस प्रकार जगत् की सदसद्विलक्षणता के द्वारा जगत् की प्रातीतिक सत्ता का समर्थन करके अनिर्वचीयख्यातिवादी ने एक ओर अद्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, और दूसरी ओर जगत् की व्यावहारिकता का समर्थन करके अद्वैत-दर्शन को पलायनवादी होने से बचाया है।

क्या अद्वैतवेदान्त में कार्यकारण सम्बन्धी विचार सम्भव है ?

ब्रह्म एवं जगत् का अनन्यत्व-प्रतिपादन अद्वैतवेदान्त का आधारभूत सिद्धान्त है। इस अनन्यत्व का प्रतिपादन अद्वैतवेदान्त में विवर्तवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया गया है, जिसके अनुसार ब्रह्म एवं जगत् की अद्वैतता का समर्थन किया गया है। विवर्तवाद का समुचित स्पष्टीकरण इसी अवसर पर आगे किया जाएगा। अद्वैतवेदान्त के प्रमुख आचार्य गौडपाद ने भी समस्त वस्तुओं की अज्ञानता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सत्, असत् और सदसत् वस्तु की उत्पत्ति न स्वतः होती है और न परतः।[१] इस प्रकार गौडपादाचार्य ने अजातवाद के आधार पर प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का निराकरण किया है। उक्त कथन के अनुसार जब जगत् की उत्पत्ति का ही निराकरण हो जाता है, तो ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना किस प्रकार हो सकती है। ब्रह्म और जगत् की कार्य-कारणता इसलिए भी असंगत प्रतीत होती है कि यदि अमृत ब्रह्म से विनाशशील जगत् की उत्पत्ति होने लगेगी तो अमृत भी मर्त्यता को प्राप्त होने लगेगा।[२] इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव नहीं है कि किसी वस्तु से तद्विरुद्ध वस्तु की उत्पत्ति हो जाए। अतः जब अमृत ब्रह्म से तद्विरुद्ध धर्म वाले मर्त्य जगत् की उत्पत्ति ही असम्भव है, तो ब्रह्म को कारण एवं जगत् को कार्य कहना कहाँ तक सम्भव हो सकता है।[३]

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध का विचार असम्भव

---

१. स्वतो वा परतो वापि न किंचिद्वस्तु जायते।
सदसत्सदसद्वापि न किंचिद् वस्तु जायते।। गौ० का० ४।२२।

२. वही ३।१६।

३. शा० भा०, गौ० का० ३।२१।

प्रतीत होता है। परन्तु यह सुचिन्त्य है कि जहां अद्वैतवेदान्त में कार्य-कारणवाद की असम्भवता सिद्ध होती है वहां अद्वैतवेदान्त के आचार्यों द्वारा ब्रह्म को जगत् का मूल कारण एवं जगत् को कार्य कहकर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति भी स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० ३।१।१) (जिस परमात्मा से सारे भूत उत्पन्न होते हैं) श्रुतिवाक्य पर आधारित बादरायण के 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) सूत्र पर भाष्य करते हुए, शंकराचार्य ने लिखा है, कि नामरूप से प्रकट होने वाले, अनेक कर्ता एवं भोक्ताओं से संयुक्त, जिसके क्रिया और फल के देश, काल और निमित्त व्यवस्थित हैं–उसके आश्रय, तथा मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता, ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है।[1] स्पष्ट ही उक्त कथन के अन्तर्गत शंकराचार्य ने ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति को स्वीकार करके ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्वन्ध की स्थापना की है।

ऊपर दिए गए विवेचन के आधार पर यह पूर्णतया विदित हो जाता है कि जहाँ एक ओर अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना असम्भव प्रतीत होती है वहाँ दूसरी ओर कार्य-कारणवाद के विवेचन के सम्बन्ध में इन दोनों विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय अत्यन्त अपेक्षित है। उक्त सिद्धान्तों के समन्वय के अर्थ मेरा विचार है कि जहाँ अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत परमार्थ सत् रूप ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया गया है, वहाँ जगत् की व्यावहारिक सत्ता का भी प्रतिपादन किया गया है। नामरूपात्मक व्यावहारिक जगत् की सत्ता अद्वैतवेदान्त में मायिक कही गई है। यहां यह उल्लेख्य है कि जब मृगतृष्णिका आदि की ही कल्पना बिना किसी अधिष्ठान के असम्भव है तो व्यावहारिक जगत् की सत्ता बिना किसी अधिष्ठान के कैसे सम्भव हो सकती है। इसीलिए अद्वैतवेदान्त के आचार्यों ने ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान एवं मायाजन्य जगत् को 'अध्यास' कहा है। इस प्रकार अधिष्ठानवाद के आधार पर ही ब्रह्म से मायिक जगत् की उत्पत्ति सम्भव होती है। क्योंकि जगत् की यह उत्पत्ति मायिक होने के कारण मिथ्या है एवं अवास्तविक है। इसलिए ब्रह्म और जगत् के बीच कार्यकारण सिद्धान्त की योजना भी पारमार्थिक न होकर मिथ्या ही है। उक्त कथन का स्पष्टीकरण गौडपादाचार्य के निम्नलिखित सिद्धान्त में पूर्णतया मिल जाता है–

सतो हि माया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः। (गौ० का० ३।२७)

अर्थात् सत् रूप अधिष्ठान ब्रह्म से माया के द्वारा जगत् का जन्म होता है। परन्तु जगत् की यह उत्पत्ति मायिक होने के कारण तात्त्विक नहीं है। गौडपादाचार्य की उपर्युक्त पंक्ति का एक दूसरा अर्थ यह है कि सत् अर्थात् विद्यमान वस्तु का जन्म माया के द्वारा ही होता है, परन्तु यह तात्त्विक नहीं है। इन दोनों अर्थों के अनुसार रज्जु-आदि में सर्पादि के समान जगत् का जन्म पारमार्थिक न बतलाकर मायिक बतलाया गया है।

उपर्युक्त तर्क से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म और जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध पारमार्थिक नहीं है। अतः नामरूपात्मक व्यावहारिक जगत् एवं ब्रह्म के बीच सम्बन्धदृष्टि के निमित्त ही कार्यकारणवाद सिद्धान्त की उपयोगिता का औचित्य है।

---

१. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।२।

बादरायण,[1] गौडपादाचार्य[2] एवं शंकराचार्य[3] प्रभृति अद्वैतवेदान्त के आचार्यों ने कार्य-कारण सम्बन्ध की उपयोगिता की ओर संकेत करते हुए यही कहा है कि श्रुति वाक्यों के द्वारा जगत् की सृष्टि का जो निर्देश किया गया है, वह मानव की बौद्धिक जिज्ञासा की सन्तुष्टि मात्र के लिए ही है।

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार यह कहना उपयुक्त होगा कि अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म एवं जगत् के कार्य-कारण सम्बन्ध की कल्पना की सम्भावना पारमार्थिक न होकर ब्रह्म एवं जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध के रूप में मनुष्य की बौद्धिक भूख की तुष्टि के प्रयोजन से ही संगत है।

अब यहाँ वैदिक एवं अद्वैतवेदान्तवर्ती कार्य-कारण सम्बन्ध के विषय में विवेचन किया जायेगा।

वैदिक कार्यकारणवाद

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत यद्यपि कार्य-कारण सिद्धान्त के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक व्यवस्था नहीं मिलती, परन्तु फिर भी अनेक स्थलों पर कार्य-कारण सम्बन्धी विचार उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ कतिपय स्थलों के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

ऋग्वेदसंहिता के दशम मण्डल के १२९ वें सूक्त के तृतीय एवं चतुर्थ मन्त्र में कहा है कि आरम्भिक मूल तत्त्व एक ही है। यह तत्त्व अप्रकट सलिल के रूप में वर्तमान है। इस मूल तत्त्व से सर्वप्रथम तप द्वारा काम अथवा मन की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद (१०।१२१।१) में प्रजापतिरूप हिरण्यगर्भ को जगत् का पति कहा है। ऋग्वेद (१०।८२।१) में सृष्टि समस्या की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि शरीर के उत्पादयिता और अनुपम धीर विश्वकर्मा ने प्रथम, जल को उत्पन्न किया और फिर इधर उधर चलने वाले द्यावा-पृथिवी को बनाया। ऋग्वेद (१०।७२।२) के अन्तर्गत कहा है, कि ब्रह्मणस्पति (अदिति) ने देवताओं को उत्पन्न किया एवं असत् (अविद्यमान) से सत् (विद्यमान) की उत्पत्ति हुई।

ऋग्वेद (१०।१२५।७, ८) में वाक् का मूल तत्त्व के रूप में वर्णन करते हुए लिखा है कि आरम्भ में वाक् तत्त्व ही जगत् के स्रष्टा के रूप में वर्तमान था। यह मूल तत्त्व ही फिर समुद्र के जल में उत्पन्न हुआ। इसके जल में उत्पन्न होने का उद्देश्य जीवों में अपने स्वरूप का प्रचार करना था। ऋग्वेद (१०।१६०।५) में पुरुष का मूल स्रष्टा के रूप में वर्णन करते हुए कहा है कि आदि पुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह) उत्पन्न हुआ और ब्रह्माण्ड देह का आश्रय करके जीवरूप से पुरुष उत्पन्न हुए। वे देव-मनुष्यादि रूप हुए। उन्होंने भूमि और फिर जीवों के शरीरों का निर्माण किया।

अथर्ववेदसंहिता (१०।७।७, ८) के अन्तर्गत स्कम्भ का वर्णन करते हुए कहा है कि स्कम्भ ने जिसमें कि प्रजापति ने समस्त जगत् को आश्रय एवं पोषण दिया, अपने अंशसहित जगत् में प्रवेश

---

१. ब्र० सू० २।१।१४०।

२. गौ० का० ३।१८।

३. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४।

किया। अथर्ववेद-संहिता में ही एक स्थल पर यह भी कहा है कि प्राण जगत् का निर्माण करता है।[1] **शतपथ ब्राह्मण** के अन्तर्गत कहा है कि पुरुष-प्रजापति जलों को उत्पन्न करता है और फिर उन जलों में अण्ड रूप में प्रवेश करके उनसे ब्रह्म को उत्पन्न करता है।[2] **तैत्तिरीय आरण्यक** में प्रजापति ने लोकों का निर्माण करते हुए सृष्टि के आदि तत्त्व के रूप में आत्म स्वरूप में प्रवेश किया।[3]

उपर्युक्त स्थलों के स्पष्टीकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि का मूल तत्त्व एक ही था और यह मूल तत्त्व जगत् का निर्माण करने के पश्चात् उसी में प्रवेश कर लेता था। यह मूल तत्त्व आत्मा एवं हिरण्यगर्भ का ही रूप था।

उपर्युक्त विचार का विश्लेषण उपनिषदों में भी पूर्ण रूप से मिलता है। इस स्थल पर उपनिषदुपलब्ध कार्य-कारण सम्बन्धी विचार के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा।

बृहदारण्यक में मूल तत्व की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्याकृत था, फिर यह नाम-रूप के द्वारा व्यक्तावस्था को प्राप्त हुआ। इसी स्थल पर यह भी कहा है कि आत्मा इस शरीर में नखाग्रपर्यन्त उसी प्रकार प्रवेश करता है जिस प्रकार कि छुरा अपने घर में प्रवेश करता है और अग्नि, अग्नि के आश्रय काष्ठादि में गुप्त रहता है।[4] **छान्दोग्योपनिषद्** में सत् रूप परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि आरम्भ में सत् तत्त्व ही वर्तमान था, उसी आदि तत्त्व ने अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा की और सर्वप्रथम तेज की उत्पत्ति की। इसके अनन्तर तेज ने अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा करके जल की रचना की और फिर इसी प्रकार जल ने अन्न को उत्पन्न किया। इसके पश्चात् उस सर्वोच्च सत्ता ने यह इच्छा की कि मैं तेज, जल और अन्न में जीवात्मा के साथ प्रवेश करूँ तथा नाम और रूप को व्याकृत करूँ (छा० उ० ६।२।२–६।३।२)।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत परमात्मा के सृष्टिसंकल्प की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि सर्गारम्भ में परमात्मा ने यह विचार किया कि मैं अनेक रूपों में उत्पन्न होकर बहुत-से रूप धारण करूँ। उक्त संकल्प के बाद परमेश्वर ने जड-चेतनमय समस्त जगत् की रचना की और उसके पश्चात् स्वयं भी उसी में प्रविष्ट हो गए।[5]

ऐतरेयोपनिषद् में आत्मा को सृष्टि का मूल तत्त्व स्वीकार करते हुए कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व केवल एक आत्मतत्त्व की ही सत्ता थी, उसी परमात्मा ने लोकों के सृजन की इच्छा की और तदनुसार अम्भ (द्युलोक तथा उसके ऊपर के लोक), मरीचि (अन्तरिक्ष), नर (मर्त्यलोक) और जल लोक की रचना की।[6] ऐतरेयोपनिषद् में ही आगे चलकर कहा गया है कि उस परमात्मा ने विचार किया

---

१. अथर्वेद-संहिता, ११।४।
२. शतपथ-ब्राह्मण, ६।१।१।
३. तैत्तिरीय आरण्यक, १।२३।
४. बृ० उ० १।४।७।
५. तै० उ० २।६।
६. ऐतरेयोपनिषद्, १।१।१, २।

कि मेरे बिना यह मनुष्यरूप पुरुष कैसे रह सकेगा ? इस कामना से परमात्मा ने मनुष्य शरीर में प्रवेश करने की इच्छा की और वह ब्रह्मरन्ध्र को चीर कर मनुष्य शरीर में प्रवेश कर गया।[1]

ऊपर किए गए विवेचन के आधार पर वैदिक साहित्य के अन्तर्गत कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त के संकेत स्पष्ट हैं। इन संकेतों में परमात्मा के कारणत्व एवं जगत् की व्यंजना बहुत स्पष्ट है। परन्तु यहाँ यह कह देना भी समीचीन ही होगा कि ऊपर निर्दिष्ट किए गए वैदिक स्थलों में कार्य-कारणवाद सिद्धान्त के बीज मात्र ही उपलब्ध हैं, उसका सैद्धान्तिक रूप नहीं। उक्त न्यूनता वैदिक साहित्य की न्यूनता इसलिए नहीं कही जा सकती कि उसका उद्देश्य किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन नहीं था। कार्य-कारणवाद सिद्धान्त का समुचित प्रतिपादन तो अद्वैतवेदान्त के आचार्यों द्वारा ही किया गया है। अतः यहाँ अद्वैतवेदान्त के आचार्यों के अनुसार कार्य-कारणवाद सिद्धान्त की समीक्षात्मक वर्णना की जाएगी।

अद्वैतवेदान्त और कार्य-कारणवाद का सिद्धान्त

कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए शंकराचार्य ने आकाशादि प्रपंचमय जगत् को कार्य एवं ब्रह्म के कारणरूप में स्वीकार किया है, परन्तु जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, शंकराचार्य ने कारणरूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत् के बीच अनन्यत्व की स्थापना की है।[2] परन्तु अनित्य एवं मिथ्या जगत् की कार्यता के सम्बन्ध में कूटस्थ एवं नित्य ब्रह्म की कारणता संगत नहीं कही जा सकती। इसीलिए अद्वैतवेदान्त में मायाशक्तिविशिष्ट परमात्मा से प्रपंचमय जगत् की सृष्टि सिद्ध की गई है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य ने मायावी परमेश्वर को जगत् का स्रष्टा स्वीकार करते हुए कहा है कि एक ही परमेश्वर जो कूटस्थ, नित्य एवं विज्ञान स्वरूप है, माया के द्वारा अनेक प्रकार का प्रतीत होता है।[3] यहाँ, यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' आदि स्थलों में जहाँ-जहाँ, परमेश्वर में जगदुत्पत्ति आदि की कामना का वर्णन आया है, वहाँ मायाविशिष्ट ब्रह्म का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यही मायाविशिष्ट ब्रह्म अद्वैतवेदान्त में ईश्वर संज्ञा के द्वारा वर्णित हुआ है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार अद्वैतवेदान्त में कार्यरूप जगत् की सत्ता का कारण मायावी परमेश्वर है। माया के द्वारा ही परमेश्वर में जगत्-सृष्टि की योग्यता है। इसीलिए शांकरवेदान्त में माया को बीजशक्ति कहा गया है।[4] अपनी माया शक्ति के द्वारा परमेश्वर उसी प्रकार जगत् की रचना करता है जिस प्रकार कि ऐन्द्रजालिक अपने इन्द्रजाल के द्वारा बहुविध अवास्तविक विषयों की रचना करता है। जिस प्रकार कि ऐन्द्रजालिक स्वरचित इन्द्रजाल से प्रभावित नहीं होता उसी प्रकार मायावी परमेश्वर भी जगत् के समस्त पाप-पुण्यादि कृत्यों से अस्पृष्ट है।[5]

---

१. वही, १।३।११, १२।
२. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपंचं जगत् , कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते।–ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।
३. ब्र० सू०, शा० भा० १।३।१६।
४. वही, १।४।३।
५. गीता, शा० भा० ५।१४।१५।

अद्वैतवेदान्त में, माया की दो शक्तियाँ बतलाई गई हैं–एक आवरण और दूसरी विक्षेप। आवरण शक्ति सत्य–ब्रह्म की तिरोधानकर्त्री एवं ब्रह्मसाक्षात्कार की बाधक है[1] और विक्षेप शक्ति नामरूपात्मक मिथ्या जगत् की निर्मात्री।[2] जगत् की कार्य-कारणता का स्पष्टीकरण अद्वैतवेदान्त में अनेक स्थलों पर रज्जु-सर्प के दृष्टान्त के आधार पर किया गया है। इस दृष्टान्त के आधार पर शंकराचार्य का कथन है कि जिस प्रकार अविद्यावश रस्सी में सर्प का मिथ्या अनुभव होने लगता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण परमात्मा में जगत् के नानात्व का अनुभव होता है।[3] यहाँ यह कहना और उपयुक्त होगा कि जिस प्रकार भ्रान्तिकालिक सर्प रस्सी का विकार नहीं होता उसी प्रकार जगत् को भी ब्रह्म का विकार नहीं समझना चाहिए। शंकराचार्य ने इस विषय का विवेचन करते हुए कहा है कि गाढान्धकार में पड़ी हुई रस्सी को सर्प मानता हुआ द्रष्टा भय से कम्पित होकर भागने लगता है। किन्तु, किसी से यह सुनकर कि 'डरो मत, यह सर्प नहीं है, वरन् रज्जु है' सर्पज्ञानजन्य भय से मुक्त हो जाता है और काँपना तथा भागना छोड़ देता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार सर्पज्ञानजन्य भय और उसकी निवृत्ति, इन दोनों अवस्थाओं में सर्प रूप वस्तु में किसी प्रकार का विकार नहीं देखा जाता, उसी प्रकार ब्रह्म में भी किसी प्रकार का विकार सम्भव नहीं है।[4] अत एव अद्वैतवेदान्त में विकारवाद का समर्थन न करके विवर्तवाद का ही अनुसरण किया गया है। इस स्थल पर विवर्तवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

विवर्तवाद का स्वरूप

वेदान्तपरिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विवर्त की परिभाषा करते हुए कहा है–

विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः।

अर्थात् उपादानकारण से विषम कार्य की सत्ता को विवर्त कहते हैं।[5] इस परिभाषा के अनुसार परमार्थ सत्य ब्रह्म से मिथ्या जगत् की सत्ता विषम होने के कारण जगत् ब्रह्म का विवर्त है। यह निःसन्देह सत्य है कि मिथ्या जगत् की उत्पत्ति का कारण अधिष्ठान ब्रह्म ही है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जगत् ब्रह्म के तात्त्विक परिवर्तन का स्वरूप है। जगत् के ब्रह्म का तात्त्विक परिवर्तन न होने के कारण ही, ब्रह्म और जगत् में विवर्तभाव है।[6]

विवर्तवाद एवं सांख्य का सत्कार्यवाद या परिणामवाद

कार्य-कारणवाद सिद्धान्त के विवेचन के सम्बन्ध में सांख्यवादी सत्कार्यवाद अथवा परिणामवाद

---

१. गौ० का० १।१६।

२. वेदान्तसार–४।

३. ब्र० सू०, शा० भा० २।१२।१६।

४. वही, १।४।६।

५. वेदान्तपरिभाषा–१।

६. अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथाविवर्त इत्युदीरितः–वेदान्तसार, २१।

का समर्थक है। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता वर्तमान रहती है। सांख्यवादी के अनुसार घट एवं पट, मृत्तिका एवं तन्तुओं के परिणाम मात्र हैं, इसीलिए इस सिद्धान्त को परिणामवाद का नाम भी दिया जाता है। सत्कार्यवाद का निरूपण प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

परिणामवाद एवं विवर्तवाद का तुलनात्मक अध्ययन करने पर, इन दोनों में पर्याप्त अन्तर मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जहाँ विवर्त[1] उपादान से विषम कार्य की सत्ता का नाम है, वहाँ इसके विपरीत परिणाम उपादान के समान कार्य की सत्ता को कहते हैं।[2] रत्नप्रभाकार ने एक उदाहरण के द्वारा इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'परिणामः, यथा दुग्धस्य दधिभावः,…… विवर्तः यथा शुक्ते रजतभावः'।[3] अर्थात् दुग्ध का दधिभाव परिणाम और शुक्ति का रजतभाव विवर्त है। इसप्रकार विवर्तवाद एवं परिणामवाद सिद्धान्तों का मौलिक अन्तर पूर्णतया द्रष्टव्य है।

विवर्तवाद और असत्कार्यवाद का सिद्धान्त

न्याय-वैशषिक दार्शनिकों ने असत्कार्यवाद के सिद्धान्त के आधार पर कार्य-कारणवाद की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। सांख्य के सत्कार्यवाद एवं न्याय-वैशेषिक के असत्कार्यवाद में पर्याप्त अन्तर है। सत्कार्यवाद के अनुयायी कार्य की सत्ता को कारण में सत् मानते हैं। इसके विपरीत असत्कार्यवादी कार्य को कारण में असत् मानते हैं। असत्कार्यवादी कारण में कार्य की सत्ता को सत् न मानकर कार्य का नवीन आरम्भ मानता है। इसीलिए असत्कार्यवाद का सिद्धान्त आरम्भवाद के नाम से भी प्रचलित है। असत्कार्यवाद का अपेक्षित स्पष्टीकरण प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। विवर्तवादी के अनुसार जहाँ कार्य की सत्ता कारण से पृथक् नहीं है, वहाँ असत्कार्यवादी कार्य की सत्ता को कारण से पृथक् मानता है, यही दोनों सिद्धान्तों का मूल भेद है।

ऊपर किए गये विवेचन के अनुसार कार्यकारणवाद के सम्बन्ध में अद्वैतवेदान्त सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद का विरोधी होकर सत्कारणवाद का पोषक है। सत्कारणवाद के अनुसार कारण सत् एवं कार्य मिथ्या है[4]।

इस प्रकार इस लेखक के मतानुसार अद्वैतवेदान्त के कार्यकारणसम्बन्धी सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम न देकर सत्कारणवाद का नाम देना ही उपयुक्त है।

---

१. वेदान्तसार, २१।

२. परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः–वेदान्तपरिभाषा, १।

३. रत्नप्रभा–ब्र० सू०, शा० भा० २।१।२८।

४. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. I, p. 468.

अद्वैतवेदान्त के शंकराचार्यपरवर्त्ती आचार्यों द्वारा कार्यकारणवाद की समालोचना

अद्वैतवेदान्त के परवर्ती आचार्यों ने कार्य-कारण समस्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है।

संक्षेपशारीरककार का मत–संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है, कि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के प्रति उपादान और निमित्तभूत जो कारण है, वह शुद्ध परब्रह्म ही है।[1] सिद्धान्तलेशकार अप्पयदीक्षित ने सर्वज्ञात्ममुनि के उक्त मत का ही उल्लेख किया है।[2] परन्तु अद्वैतसिद्धि के टीकाकार के अनुसार संक्षेपशारीरककार का मत है कि अविद्योपहित चित् जगत् का कारण है।[3]

विवरणकार का मत–विवरण मतानुयायियों का कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में कथन है कि जो 'सर्वज्ञ', सर्ववित् है तथा जिसका तपोज्ञानमय स्वरूप ज्ञान का विकार है, उस सर्वज्ञ ब्रह्म से हिरण्यगर्भ, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं, इस श्रुतितात्पर्य के अनुरूप सर्वज्ञत्वादि धर्मों से युक्त माया से शबलित ईश्वर रूप ब्रह्म ही जगत् का उपादानकारण है।[4] ब्रह्मानन्द ने विवरणकार के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि ईश्वर और जीव अविद्या में क्रमशः शुद्ध चित् के बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के रूप हैं। यह शुद्धचित् तत्त्व ही, जो ईश्वर एवं जीव सत्ता को प्राप्त होता है, एवं सर्वकालिक साक्षी है, जगत् का उपादानकारण है।[5]

वाचस्पतिमिश्र का मत–अद्वैतवेदान्त के गम्भीर समालोचक अप्पय दीक्षित ने वाचस्पति मिश्र के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन करते हुए कहा है कि वाचस्पति मिश्र के मतानुसार माया

---

१. निमित्तं च योनिश्च यत् कारणं सत्
परब्रह्म सर्वस्य जन्मादिभाजः।
इति स्पष्टमाचष्ट एषा श्रुतिर्नः
कथं सिद्धवल्लक्षणं सिद्धिबाह्यम् ॥ –संक्षेपशारीरकम्, १।५३२।

२. अत्र संक्षेपशारीरकानुसारिणः केचिदाहुः–शुद्धमेवोदानम्,
जन्मादिसूत्रतद्भाष्ययोरुपादानत्वस्य ज्ञेयब्रह्मलक्षणत्वोक्तेः।
–सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथम परिच्छेद।

३. ब्रह्मानन्दी, अद्वैतसिद्धि, पृ० ४३८।

४. सिद्धान्तलेशसंग्रह–१।

५. ब्रह्मानन्दी, अद्वैतसिद्धि, पृ० ४८३। (निर्णयसागर, १६१७)

से विषयीकृत ब्रह्म ही जगत् का उपादानकारण है और माया सहकारी कारण है।[1] यहां जीवाश्रितत्व से जीवत्वविशिष्टचैतन्याश्रितत्व विवक्षित न होकर चैतन्याश्रितत्व ही विवक्षित है।

अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती का मत—मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार अज्ञान ही इस द्वैतात्मक जगत् का उपादानकारण है। अद्वैतवेदान्त के इस प्रकाण्ड विद्वान् का कथन है कि अज्ञान के ही कारण ब्रह्म जगत् का कारण कहलाता है।[2]

प्रकाशानन्द का मत—वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली के लेखक प्रकाशानन्द ने जगत् को अज्ञानकृत माना है।[3] प्रकाशानन्द के मतानुसार अज्ञान ही जगत् का निमित्त कारण है और वही उपादानकारण है।

कतिपय अन्य मत—माया एवं अविद्या के भेद के आधार पर भी कुछ विद्वानों ने जगत् के कार्य-कारण सम्बन्धी मत का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है। माया एवं अविद्या में भेद को स्वीकार करने वाले कुछ विद्वान् कहते हैं कि आकाशादि 'महाभूत प्रपंच' ईश्वर में रहने वाली माया का परिणाम है। अतः आकाशादि महाभूत प्रपंच का उपादान ईश्वर है। इसके अतिरिक्त अन्तःकरण आदि प्रपंच, ईश्वराश्रित माया के परिणामभूत आकाशादि महाभूतों से संसृष्ट जीव की अविद्या से उत्पन्न हुए सूक्ष्म भूतों का कार्य है, इसलिए ईश्वर और जीव दोनों अन्तःकरण आदि के उपादानकारण है।

माया एवं अविद्या सम्बन्धी भेद के आधार पर कुछ समालोचक विद्वानों का विचार है कि जिस प्रकार आकाशादि महाभूत प्रपंच ईश्वराश्रित माया का परिणाम है और इसलिए आकाशादि महाभूत प्रपंच में ईश्वर उपादान है, उसी प्रकार अन्तःकरण आदि जीवाश्रित अविद्या के ही परिणाम हैं, और उनमें जीव ही उपादान है, ईश्वर नहीं।

उपर्युक्त मतों के विपरीत अद्वैतवेदान्त के एकाधिक विद्वानों ने माया एवं अविद्यां को अभिन्न मानकर भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना की है। माया एवं अविद्या की अभिन्नता के अनुसर्ता कतिपय

---

१. वाचस्पतिमिश्रास्तु—जीवाश्रितमायाविषयीकृतं ब्रह्म स्वत एव जाड्याश्रयप्रपंचाकारेण विवर्तमान-तयोपादानमिति मायासहकारित्वम्। —सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथम परिच्छेद।

२. अस्य दैत्येन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते।। —अद्वैतसिद्धि, पृ० २३८।
Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 580 से उद्धृत।

३. देखिए—वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, श्लोक २६ की व्याख्या।
(जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित संस्करण, कलकत्ता १६३५।)

विद्वानों का विचार है कि यद्यपि आकाशादि महाभूत प्रपंच का ईश्वर ही उपादान है, परन्तु अन्तःकरण आदि में जीव के तादात्म्य की प्रतीति होने से अन्तःकरण आदि का उपादान जीव ही है।

उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों के मतानुसार सम्पूर्ण व्यावहारिक पदार्थों का उपादान ईश्वर है और प्रातिभासिक पदार्थों का उपादान जीव है।

उपर्युक्त मत के विपरीत कुछ विद्वानों का विचार है कि केवल एक जीव ही अज्ञान से स्वाप्निक पदार्थों के समान ईश्वरसहित इस समस्त प्रपंच का कारण है।

विद्वानों के एक वर्ग का विचार है कि ब्रह्म और माया दोनों ही जगत् के प्रति उपादान हैं। केवल अन्तर इतना है कि ब्रह्म विवर्त दृष्टि से उपादान है और माया परिणाम रूप से।[1]

आलोचना

कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में ऊपर हमने जिन मत-मतान्तरों का उल्लेख किया है, उन सभी ने ब्रह्म, ईश्वर और जीव में से किसी एक को जगत् का कारण स्वीकार किया है। यहाँ पर यह कह देना और उपयुक्त होगा कि उक्त तीनों कारणों की जगत्कारणता बिना माया के असिद्ध है। माया के द्वारा ही ब्रह्म, ईश्वर एवं जीव जगत् के कारण कहलाते हैं। माया की सहकारिता के बिना तो सर्वोच्च सत्य पारमार्थिक ब्रह्म में भी जगत्कारणता नहीं सिद्ध होती। परन्तु माया शक्ति से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण भी सिद्ध होता है और उपादानकारण भी। अपनी चैतन्यप्रधानता के कारण मायाविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर प्रपंचमय जगत् का निमित्तकारण है और अज्ञानप्रधानता के कारण उपादानकारण। जिस प्रकार कि एक ही मकड़ी अपने तन्तुरूप कार्य के प्रति, चैतन्यप्रधानता के कारण निमित्तकारण है और अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादानकारण है, उसी प्रकार मायाविशिष्ट ब्रह्म चैतन्य-प्रधानता के कारण निमित्तकारण और उपादानकारण दोनों ही है।

जगत् के कार्य-कारणसम्बन्धी सिद्धान्त के सम्बंध में यह कहना और उचित होगा कि वेदान्तिक विषयवाद एवं अज्ञानवाद का प्रभाव पश्चिमी दार्शनिकों पर भी अक्षुण्ण रूप से पड़ा है। जिस प्रकार कि विषयिवाद एवं विषयबाद के अन्तर्गत अज्ञान के द्वारा विषयी आत्मा में समस्त विषयों की उत्पत्ति सिद्ध की गई है, उसी प्रकार वर्कले,[2] एडवर्ड,[3] हीगल[4] एवं हल्डेन प्रभृति पश्चिमी विद्वानों ने भी जगत् की

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृष्ठ ६७-७४ (अच्युत ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण)।

२. *Prof. T. C. Chatterji's* article, Empericism—History of Philosophy, Eastern and Western, Edited by *Radhakrishnan*.

३. *Edward Gaird* : Evolution of Religion, Vol. I., p. 263.

४. Lectures on the Philosophy of Religion, Vol. I., p. 328.

५. *Haldane* : Pathway to Reality, Vol. 2., p. 111.

सत्ता को आत्मगत ही माना है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्तिक एवं पाश्चात्य विद्वानों के कार्यकारणसम्बन्धी सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य मिलता है।[1]

अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत जगत् की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद, आभासवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद एवं अध्यारोपवाद–आदि सिद्धान्तों के आधार पर स्पष्ट किया गया है। उक्त सिद्धान्तों में से प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और आभासवाद का विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। यहाँ दृष्टि-सृष्टिवादादि शेष सिद्धान्तों का समीक्षात्मक निरूपण किया जाएगा।

दृष्टि-सृष्टिवाद

दृष्टि-सृष्टिवाद के सम्बन्ध में अद्वैतवेदान्त के आचार्यों में मतैक्य नहीं है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त का निरूपण अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत दो मतों के आधार पर किया गया है। यहाँ दोनों मतों के अनुसार इस सिद्धान्त का पृथक्-पृथक् निरूपण किया जाएगा।

प्रथम मत के अनुसार दृष्टि-सृष्टिवाद का स्वरूप

दृष्टि-सृष्टिवाद के अनुसार कुछ विद्वानों का कहना है कि जाग्रत्कालिक घटादि के ज्ञानों की गति भी स्वप्नकालीन पदार्थों की गति के समान ही है। क्योंकि अर्थ-सृष्टि के पूर्व अर्थों में इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं है। दृष्टि-सृष्टिवादी जगत् को कल्पित सिद्ध करते हुए समस्त प्रपंचरूप जगत् की सृष्टि, दृष्टिसमकालीन ही मानते हैं, इसलिए इस सिद्धान्त का नाम दृष्टि-सृष्टिवाद पड़ा है। दृष्टि-सृष्टिवाद के समर्थकों का कहना है कि जो पदार्थ कल्पित है, उसकी अज्ञानसत्ता हो ही नहीं सकती। अतः समस्त जाग्रत् प्रपंच की दृष्टिसमकालिक सृष्टि मानकर घटादि दृष्टि में चक्षु के सन्निकर्ष का अनुविधान प्रत्यय, दृष्टि के पूर्व में घटादि का अभाव होने से नहीं हो सकता। इसलिए स्वप्न के समान जाग्रत्कालीन घटादि जागतिक पदार्थों का अनुभव भी चाक्षुष नहीं है।[2]

प्रथम मत की आलोचना

दृष्टि-सृष्टिवाद के उपर्युक्त विचार के सम्बन्ध में इस शंका का होना स्वाभाविक है कि यदि दृष्टि-सृष्टिवाद के आधार पर समस्त जगत् को कल्पित माना जाएगा तो उसकी कल्पना करने वाला कौन कहा जाएगा ? अविद्योपाधि से रहित आत्मा अथवा अविद्योपाधि से उपहित आत्मा। अविद्योपाधि से रहित आत्मा को तो इसलिए प्रपंच की कल्पना करने वाला नहीं कहा जा सकता कि मोक्ष में भी अन्य साधनों की अपेक्षा न करने वाले निरुपाधिक कल्पक आत्मा की अवस्थिति होने के कारण प्रपंच की अनुवृत्ति होने लगेगी, और इस प्रकार मोक्ष एवं प्रपंच-मय संसार की स्थिति में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। इसके विपरीत यदि कहा जाय कि अविद्योपहित आत्मा प्रपंच-मय संसार का कल्पक है, तो भी यह पक्ष अयुक्त

---

१. विशेष देखिए : *J. Kirtikar* : Studies in Vedānta, Ch. II.

२. सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद।

ही है, क्योंकि अविद्या स्वतः कल्पित है। अविद्या के कल्पित होने के कारण अविद्या की कल्पना से पहले ही कल्पक अविद्योपहित आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना होगा, जो असंगत है। क्योंकि जब अविद्या की कल्पना ही नहीं है तो अविद्योपहित आत्मा की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है। अतः अविद्या की ही सृष्टि असम्भव है। वस्तुतः सिद्धान्त मतानुसार अविद्योपहित आत्मा को ही प्रपंच का कल्पक माना गया है। उक्त शंका का समाधान करते हुए यह कहा जा सकता है कि पूर्व-पूर्व कल्पित अविद्या से उपहित आत्मा ही उत्तरोत्तर अविद्या का कल्पक है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि अविद्यादि छः पदार्थ अनादि हैं, अतः उनमें दृष्टि-सृष्टि नहीं माननी चाहिए। किन्तु अविद्या से भिन्न सम्पूर्ण कार्य-प्रपंच में दृष्टि-सृष्टि संगत है।[1] सिद्धान्ती के पूर्वोक्त मत के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि अविद्या से उपहित आत्मा पूर्वोक्त उक्ति से प्रत्यक्ष वस्तु का कल्पक भले ही हो, परन्तु केवल श्रुतिमात्र से प्रतीत आकाशादि प्रपंच और उनके क्रम आदि का कल्पक किसी को नहीं कहा जा सकता। पूर्वपक्षी के उक्त तर्क की अयुक्तता सिद्ध करते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि श्रुति मात्र से प्रतीत आकाशादि प्रपंच का कोई कल्पक नहीं है। सिद्धान्ती के उक्त मत के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी फिर शंका करता है कि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुति सिद्धान्ती के मतानुसार निरालम्ब सिद्ध होगी।

सिद्धान्ती पूर्वपक्षी की उपर्युक्त शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहता है कि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' आदि श्रुतियों का आलम्बन प्रपंचशून्य ब्रह्म और जीव का ऐक्य है। अध्यारोप और अपवाद के आधार पर प्रपंचशून्य ब्रह्म की प्रतिपत्ति होती है, इसलिए समस्त प्रपंचशून्य ब्रह्म की अवगति के उपाय रूप से श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का कथन किया गया है। परन्तु वस्तुतः, सृष्टि आदि का प्रतिपादन श्रुति का तात्पर्यभूत अर्थ कदापि नहीं है।[2]

द्वितीय मत के अनुरूप दृष्टि-सृष्टिवाद का निरूपण

ऊपर हमने दृष्टि-सृष्टिवाद के जिस सिद्धान्त की चर्चा की है उसके अनुसार विश्व की सृष्टि दृष्टिसमसामयिक है। उक्त मत के अतिरिक्त दृष्टि-सृष्टिवाद का एक अन्य रूप भी मिलता है। दृष्टि-सृष्टिवाद के इस द्वितीय मत के समर्थक वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द आदि विद्वान् हैं। प्रकाशानन्द प्रभृति का कथन है कि दृष्टि ही विश्वसृष्टि है।[3] इस मत के अनुसार स्वप्रकाशज्ञानस्वरूपा दृष्टि ही प्रपंच सृष्टि है, जैसा कि ऊपर कहा गया है, विश्व की सृष्टि दृष्टिसमकालिक कदापि नहीं है। इस मत के अनुयायियों का कथन है कि दृश्य जगत् स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप आत्मा से पृथक् नहीं माना जा सकता। अपने मत की पुष्टि में इन विद्वानों ने स्मृति का प्रमाण देते हुए कहा है–

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद।

२. अमलानन्द–शास्त्रदर्पण १।४।४, पृष्ठ ८७ (वाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम्)।

३. तदेवं दृष्टिमात्रात्मकं जगत्–वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, श्लो० २६ पर प्रकाशानन्द की व्याख्या।

ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः ।
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ।।[1]

अर्थात् विवेकी पुरुष इस जगत् को ज्ञानात्मक ही कहते हैं, परन्तु कुछ भ्रान्त पुरुष इसी ज्ञान-रूप जगत् को ज्ञान सत्ता से पृथक् देखते हैं। इस प्रकार दृष्टि-सृष्टिवाद सम्बन्धी उक्त मत के अनुसार जगत् की सत्ता दृष्टिसमकालिक न होकर दृष्टि मात्र ही है।

समीक्षा

दृष्टि-सृष्टिवाद और अद्वैतवेदान्त के सामान्य सिद्धान्त में इतना अन्तर है कि जहाँ दृष्टि-सृष्टिवाद के अनुसार जगत् की व्यावहारिक सत्ता का निराकरण किया है, वहाँ शांकरवेदान्त के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है। दृष्टि-सृष्टिवादी का सिद्धान्त विज्ञानवादी बौद्ध के अधिक समीप प्रतीत होता है। दोनों में केवल यही एक विशेष असाम्य है कि दृष्टि-सृष्टिवादी आत्मारूप परमार्थ सत्य को स्वीकार करता है, जबकि विज्ञानवादी बौद्ध वेदान्त के आत्मवाद का विरोधी है। इसी प्रकार दृष्टि-सृष्टिवाद का सिद्धान्त सुरेश्वराचार्य के आभासवाद से भी इस अर्थ में भिन्न है कि दृष्टि-सृष्टिवादी के अनुसार जागतिक विषयों की सत्ता दृष्टिसमकालिक ही स्वीकार की गई है, जबकि आभासवादी के मतानुसार जागतिक पदार्थों की सत्ता तब तक सत्य ही कही जाएगी, जब तक कि परमार्थ सत्य का बोध नहीं हो जाता।[2]

सृष्टि-दृष्टिवाद का सिद्धान्त

जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में अद्वैतवेदान्त के कतिपय विद्वान् दृष्टि-सृष्टिवाद के विरोधी हैं। ये विद्वान् सृष्टि-दृष्टिवाद के समर्थक हैं। दृष्टि-सृष्टिवाद के विरोध में इनका कहना है कि दृष्टि-सृष्टिवादियों द्वारा प्रतिपादित जाग्रत् प्रपंच की प्रातिभासिकता, आकाशादि सृष्टि का अपलाप एवं स्वर्गादि का अपलाप अप्रामाणिक है। ये विद्वान् दृष्टि-सृष्टिवाद का समर्थन न करके सृष्टि-दृष्टिवाद के पक्षपाती हैं। सृष्टि-दृष्टिवादियों का विचार है कि श्रुति में बतलाये हुए क्रम के अनुसार परमेश्वर द्वारा सृष्ट जगत् अज्ञात सत्ता से युक्त है। इस मत के अनुयायियों का तर्क है कि तत्तत् विषयों में तत्तत् प्रमाणों की प्रवृत्ति होने के अनन्तर आवरण भंग द्वारा तत्तत् विषयों का अपरोक्षावभास होता है।[3] अतः दृष्टि ही सृष्टि नहीं है, प्रत्युत सृष्टि ही दृष्टि की जननी है।

अध्यारोपवाद एवं अपवाद की योजना

ब्रह्मवेत्ता गुरु के लिए जिज्ञासु शिष्य को जगत् के मिथ्यात्व एवं परमात्मा की सत्यता का उपदेश देने के लिए अध्यारोपवाद एवं अपवाद सिद्धान्त की योजना अद्वैतवेदान्त की एक अनुपम देन है।

---

१. अप्पयदीक्षित द्वारा प्रणीत सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परि० से उद्धृत।
२. Lights on Vedānta, p. 46.
३. सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद।

अध्यारोपवाद योजना के अभाव में तत्त्ववेत्ता गुरु द्वारा विवित्सु के लिए उपदेश देना ही असम्भव होता। अतः यह कथन अनुचित न होगा कि अध्यारोपवाद सिद्धान्त के द्वारा ही निष्प्रपंच ब्रह्म का उपदेश सम्भव है।

अध्यारोप का अर्थ है–किसी वस्तु का आरोप, और अपवाद का अर्थ है–आरोपित वस्तु का निराकरण। अद्वैतवेदान्त के सन्दर्भ में ब्रह्म में जगत् के विषयों का आरोप अध्यारोप है, एवं जगत् के समस्त विषयों का निराकरण अपवाद है। अद्वैतवेदान्त के परवर्ती आचार्य सदानन्द ने एक उदाहरण के आधार पर अध्यारोप की जो परिभाषा की है, वह इस प्रकार है– "असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः' (वेदान्तसार, ६) अर्थात् किसी वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं, जैसे रस्सी में सर्प का आरोप अध्यारोप है। अध्यारोप के द्वारा गुरु पहले आत्मा में, अवस्तुरूप अनात्म शरीर का आरोप करता है और फिर आत्मा को अपवाद पद्धति के द्वारा शरीर के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशों से अतिरिक्त सिद्ध करता है।

अपवाद के तीन भेद

आरोप के निराकरण के लिए ऊपर हमने जिस अपवाद की चर्चा की है, वह (१) श्रौत (२) यौक्तिक और (३) प्रत्यक्ष भेद से तीन प्रकार का है।[1] यहाँ इन तीनों भेदों का पृथक्-पृथक् स्पष्टीकरण उपयुक्त होगा।

श्रौत अपवाद–'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुति-वाक्यों द्वारा नानात्वमय प्रपंच का निराकरण श्रौत अपवाद कहलाता है।

यौक्तिक अपवाद–कटक एवं कुण्डलादि की सत्ता अपने उपादानकारणभूत सुवर्णादि से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार घटादि दृश्य पदार्थों की सत्ता घटादि के उपादान मृत्तिका आदि से भिन्न नहीं है। उक्त युक्ति के आधार पर जब यह कहा जाता है कि जिस प्रकार कि कटक-कुण्डलादि अपने सुवर्णरूप उपादान से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार प्रपंचरूप जगत् भी अपने कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है, तो प्रपंच का यह निराकरण यौक्तिक अपवाद कहलाता है।

प्रत्यक्ष अपवाद–रस्सी एवं सर्प के उदाहरण में रस्सी का प्रत्यक्ष होने पर यह रस्सी है सर्प नहीं, इस प्रकार सर्प का अपवाद–प्रत्यक्ष अपवाद है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अनुसार तत्त्ववेत्ता को जब 'मैं सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का अनुभव होता है और अनात्मबुद्धि का निराकरण हो जाता है तो यह प्रत्यक्ष अपवाद कहलाता है।

लोक में भी जिस प्रकार कि आकाश के स्वरूप का परिज्ञान कराने के लिए प्रवृत्त पुरुष पहले नीलिमा और विशालता आदि का ज्ञान कराकर फिर यह आकाश वस्तुतः नीलिमायुक्त नहीं है, इस प्रकार अपवाद करके रूपरहित एवं व्यापक आकाश का बोध कराता है, उसी प्रकार अद्वैतवेदान्त में भी पहले आकाशादि का कारण ब्रह्म को बतलाया जाता है और फिर निषेध-वाक्यों से आरोपित संसारकारणत्व

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृष्ठ ३५६, ६० पर देखिए–पादटिप्पणी (अच्युत ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण)।

के अपवाद से शून्यब्रह्म की अद्वैतता का प्रतिपादन किया जाता है।

ऊपर किए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि अद्वैतवाद वेदान्त के अन्तर्गत अध्यारोप एवं अपवाद की व्यवस्था ब्रह्म एवं जगत् की समस्या को सुलझाने का एक सरल एवं वैज्ञानिक उपाय है।

अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत अधिष्ठान का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अधिष्ठानवाद के सिद्धान्त के स्वीकार किए बिना कूटस्थ एवं अचल ब्रह्म में जगत् की कारणता अनिष्पन्न है, यही अधिष्ठानवाद का सर्वाधिक महत्त्व है। इस सिद्धान्त का यत्किचिंत् उल्लेख तृतीय अध्याय में गौडपादाचार्य एवं सर्वज्ञात्ममुनि के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करते समय किया जा चुका है। यहाँ इस सिद्धान्त का सैद्धान्तिक विवेचन अभीष्ट है।

अद्वैतवेदान्तदर्शन कें मायावाद सिद्धान्त के अनुसार अविद्या एवं माया को जगत् का कारण कहा गया है। परन्तु अविद्या एवं माया बिना आधार के नामरूपात्मक प्रपंचमय जगत् की उत्पत्ति में असमर्थ हैं। इसलिए वेदान्तपरिभाषाकार का यह कथन युक्ति-युक्त ही है कि अधिष्ठान सत्ता के स्वीकार किए बिना जगत् की आरोपित सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1] व्यावहारिक जगत् की बात तो दूर रही, असत् मृगतृष्णिका आदि भी बिना आधार के नहीं रह सकते।[2] अधिष्ठान के उपयोगित्व पर विचार करते हुए शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है कि इन्द्रियों के व्यवहार भी बिना अधिष्ठान के स्वीकार किए नहीं सिद्ध हो सकते।[3]

सत् ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है और जगत् अध्यस्त है। जिस प्रकार कि विवेक न होने के कारण लोक अप्रत्यक्ष आकाश में श्यामता, शुक्लता और नीलता का आरोप कर लेते हैं, उसी प्रकार सत् ब्रह्म में भी अज्ञानी जगत् का आरोप कर लेते हैं। वस्तुतः अध्यस्त जगत् की सत्ता अधिष्ठानरूप ब्रह्म से पृथक् नहीं है। परन्तु अध्यस्त जगत् के अधिष्ठान ब्रह्म से अपृथक् होने पर भी अधिष्ठान ब्रह्म की अखण्डता एवं शुद्धता अबाधित है। इस सम्बन्ध में वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द ने कहा है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब रहता है, उसी प्रकार पापादि एवं दोषों से रहित पूर्णानन्दस्वरूप शुद्ध ब्रह्म में समस्त प्रपंच अध्यस्त है।[4] अधिष्ठानवाद के अनुसार ब्रह्म से पृथक् जगत् की कल्पना करना ही भ्रान्ति है। शंकराचार्य ने उक्त विषय को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रज्जु में सर्पादि की कल्पना करना भ्रान्ति है, उसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म से पृथक् जगत् की कल्पना करना भी भ्रान्ति मात्र है।[5]

अधिष्ठानवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार नामरूपात्मक प्रपंचमय जगत् अध्यस्त है एवं

---

१. वेदान्तपरिभाषा, प्रथम परिच्छेद।

२. गीता, शा० भा० १३।१४।

३. न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति।–ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।

४. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, २४।

५. विवेकचूडामणि, ४०६।

ब्रह्म अधिष्ठान है।

शून्यवादी बौद्ध का अधिष्ठानवाद पर आरोप और उसका परिहार

अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत जिस सत् को अध्यासरूप जगत् का अधिष्ठान कहा है, उसका शून्यवादी ने निराकरण किया है। शून्यवादी का कहना है कि शून्य में ही सांवृत्तिक सत्ता से रजतादि का भ्रम उत्पन्न होता है। शून्यवादी का अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहना है कि वेदान्ती का यह कथन असंगत है कि बिना सद्रूप अधिष्ठान के भ्रम सम्भव नहीं है। शून्यवादी कहता है कि वेदान्ती के मत में भी तो केशोण्ड्रक या गन्धर्वनगर आदि भ्रम बिना अधिष्ठान के ही उत्पन्न होते हैं। साथ ही वेदान्ती का यह कथन भी अनुचित है कि शुक्ति ज्ञान होने के अनन्तर रजत के 'नेदं रजतम्' बाध से शुक्ति सत्य बनी रहती है, उसका बाध नहीं होता और इस प्रकार उसके बाधित न होने से ही वह बाध की अवधि कहलाती है। अतः बाध अवधि के सहित ही होता है, वेदान्ती का यह कथन दोषपूर्ण है। वेदान्ती के उक्त तर्क का खण्डन करते हुए शून्यवादी का कहना है कि रज्जु और सर्प के दृष्टान्त में 'न सर्पः' सर्प नहीं है, यह आप्तवाक्यस्वरूप बाध निरवधिक होता है। शून्यवादी का आक्षेप है कि जिस भ्रम का बाध आपके अभिमत अधिष्ठान (शुक्ति, रज्जु आदि) के ज्ञान से नहीं हुआ, अपितु 'सर्प नहीं है या रजत नहीं है' इस आप्त वाक्य से हुआ, उसमें कुछ भी अवधि नहीं है। अतः अधिष्ठान की सत्ता ही नहीं स्वीकार की जा सकती।[1]

शून्यवादी के आक्षेप का परिहार करते हुए यह कहा जायेगा कि शून्यवादी का यह कथन यथार्थ नहीं है कि वेदान्ती के मत में केशोण्ड्रक का भ्रम बिना अधिष्ठान के ही सम्भव है। केशोण्ड्रक के सम्बन्ध में वेदान्ती का मत है कि अंगुलि से अपांग भाग में नेत्र दबाकर मलने से एकत्रित हुई नेत्र की किरणें ही केशोण्ड्रक के अधिष्ठान हैं। गन्धर्वनगर का अधिष्ठान वेदान्त के मतानुसार आकाश है। यदि पूर्व-पक्षी के अनुसार बिना अधिष्ठान के ही भ्रम सम्भव होने लगेगा तो शून्य ज्ञान भी शुक्ति-रजत ज्ञान के समान निरधिष्ठानक होने से भ्रम ही कहलाएगा।

यदि कहा जाय कि रजत का अधिष्ठान भ्रम है और भ्रम का अधिष्ठान रजत और इस प्रकार ज्ञेय रजतादि और भ्रमज्ञान दोनों परस्पर एक-दूसरे के अधिष्ठान हैं, तो यह अनुचित है, क्योंकि ऐसा मानने से अन्योऽन्याश्रय दोष आ जाएगा, कारण कि अधिष्ठान का अध्यस्यमान से पूर्वकाल में रहना आवश्यक है। भ्रम और रजत को एक-दूसरे का अधिष्ठान मानकर भ्रम की साधिष्ठानता सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए भ्रम और रजत के अतिरिक्त किसी तीसरे सत्य को अधिष्ठान मानना ही युक्तिसंगत होगा।

बीजांकुरन्याय द्वारा अधिष्ठान का समर्थन

बीजांकुरन्याय से भ्रमज्ञान और ज्ञेय (रजतादि) वस्तुओं की परम्परा मानने पर भी बीजांकुर प्रवाह में अनुगत मृत्तिका की तरह ज्ञान और ज्ञेय की परम्परा में अनुगत रूप से प्रतीत होने वाली किसी

---

१. विवरणप्रमेयसंग्रह, १।१।

स्थायी वस्तु को अवश्य स्वीकार करना होगा। जिस प्रकार कि घट और कपाल में परस्पर अन्वित-अनुगत मृत्तिका के अन्वय से कार्य-कारण भाव की उपपत्ति होती है, उसी प्रकार परस्पर अन्वित बीजांकुर में अन्वयी-अनुगत तदारम्भक कारण द्रव्य के अन्वय से कार्य-कारणभाव की उपपत्ति होती है और बीजांकुर परम्परा में जिस बीज से जो अंकुर उत्पन्न हुआ है उसी अंकुर से अपने कारणस्वरूप बीज की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु दूसरे बीज की उत्पत्ति होती है और यह बीज भी पुनः दूसरे अंकुर को उत्पन्न करता है, अपने कारण भूत अंकुर को नहीं। इस प्रकार एकत्र बीजांकुर में कार्य-कारण का ग्रहण हो जाने पर उस गृहीत कार्य-कारण भाव को लेकर अदृष्ट बीजांकुरपरम्परा में भी कार्य-कारण भाव का ग्रहण हो जाता है। अतः बीजांकुरपरम्परा में अनवस्था तथा अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। अतः सद्रूप अधिष्ठान को स्वीकार करना आवश्यक ही है। वेदान्ती का कथन है कि अनुगत स्थायी कारण न मानकर अदृष्ट की कल्पना करने में अन्य परम्परा के प्रसंग की आपत्ति अवश्य आ सकती है।

आप्तवाक्यस्वरूप बाध निरवधिक है, शून्यवादी के इस तर्क का निराकरण करते हुए वेदान्ती का कथन है, कि 'सर्प नहीं है' इस आप्तवाक्यस्वरूप बाध का भी 'किन्तु रज्जु है' यहाँ तक तात्पर्य होने से, आप्तवाक्यरूप बाध भी स्वाभाविक है। 'सर्प नहीं है' यह सुनने पर 'तो क्या है ?' ऐसी अपेक्षा का नित्य उदय होने से पुरोवर्ती वस्तु-मात्र अवधि विद्यमान ही है। इसके अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है, व्यर्थ ही तुम डर रहे हो, इस प्रकार बाध में भी 'यहाँ' पद से उपस्थित पुरोवर्ती देश ही अवधिरूपेण विद्यमान है। अतः शून्यवादी का उक्त तर्क निरर्थक है।

जिन मायारचित हस्त्यादि स्थलों में पूर्वपक्षी निरधिष्ठान भ्रम की शंका करता है, वहाँ वेदान्ती का मत है कि उन स्थलों में भी भ्रम या बाध का साधक साक्षि-चैतन्य ही अधिष्ठान एवं अवधि है। पूर्वपक्षी का यह तर्क उचित नहीं होगा कि भ्रम विषय के बाधित होने से भ्रम का बाध, और भ्रम के बाधित होने से उस बाधित भ्रम का अवभास कराने वाले साक्षिचैतन्य का भी बाध हो जाता है। पूर्वपक्षी के उक्त तर्क का निरास करते हुए वेदान्ती का कहना है कि साक्षि-चैतन्य का बाध नहीं किया जा सकता, क्योंकि साक्षि-चैतन्य के बाध का कोई साधक नहीं है। साक्षि-चैतन्य के अतिरिक्त सब कुछ जड रूप ही है। यदि पूर्वपक्षी शून्य को ही अधिष्ठान मानने लगे तो यह अनुचित है, क्योंकि अध्यस्यमान रजतादि में शून्य अनुगम्यमान नहीं है। इसके विपरीत सद्रूप अधिष्ठान 'सदिदं रजतम्' (वह रजत सद् है) इस अनुभव बल से सर्वत्र अन्वयी है। यदि शून्य को अन्वयी मान लिया जाय तो भ्रम दशा में 'शून्य रजत है' इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए, 'यह रजत है' ऐसी प्रतीति नहीं। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'इदम्' (यह) इस प्रतीति का विषय होने वाला ही शून्य है, तो ऐसा स्वीकार करने पर तो केवल शून्य एवं सद् ब्रह्म में नाम मात्र का ही अन्तर रहा। इसके अतिरिक्त शून्य को अवधि भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्वबाध के अनन्तर शून्य की प्रतीति नहीं होती। यदि बाध के अनन्तर भी शून्य की प्रतीति मानी जाएगी तब तो शून्य चैतन्य का ही रूप कहलाएगा।

उक्त विवेचन के आधार पर शून्यवादी के उन समस्त तर्कों का निराकरण हो जाता है जिनके आधार पर वह अधिष्ठान के वैयर्थ्य को सिद्ध करना चाहता था।

जागरण एवं स्वप्नकालिक अध्यास का अधिष्ठान

अद्वैतवेदान्त के अनुसार जागरण एवं स्वप्नावस्था में वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य ही अधिष्ठान है। जिस प्रकार कि जागरण में संप्रयोग से उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्ति में अभिव्यक्त मुक्ति रूप इदमंशावच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली अविद्या रजताकार होकर विवर्तरूप परिणाम को प्राप्त होती है, उसी प्रकार स्वप्न में ही देह के भीतर ही होने वाले निद्रादि दोषों से दूषित अन्तःकरण की वृत्ति में अभिव्यक्त वृत्यवच्छिन्न चैतन्य में विद्यमान अविद्या अदृष्ट द्वारा उद्बुद्ध किए गए अनेक विषयों के संस्कारों से युक्त होती हुई प्रपंच के आधार में विवर्तरूपता को प्राप्त होती है।

वेदान्ती के उपर्युक्त मत के सम्बन्ध में शंका करते हुए पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि उक्त कथन के अनुसार स्वप्नकालिक भ्रम का अधिष्ठान आत्मचैतन्य है तो अध्यस्यमान पदार्थ के साथ आत्मचैतन्य का सामानाधिकरण्य होने से 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रकार की प्रतीति के समान ही 'अहं नीलः' (मैं नील हूँ) आदि प्रतीति होनी चाहिए, न कि 'पुरोदेश के सम्बन्ध से' 'यह नील है' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। पूर्वपक्षी का तर्क है कि यदि उस पुरोवर्ती देश को भी आत्मा में अध्यस्त मानोगे तो 'मैं देश हूँ' ऐसा भी अन्दर ही प्रतिभासित मानना पड़ेगा। संक्षेप में पूर्वपक्षी के उपर्युक्त मत का तात्पर्य है कि आत्मचैतन्य के साथ तादात्म्य दिखाने वाली प्रतीति होनी चाहिए न कि बाह्य देश के साथ। यदि कहा जाए कि आत्मचैतन्य के साथ तादात्म्य-प्रतीति का अतिप्रसंगात्मक दोष तो अत्यल्प है, जागरण में भी चैतन्य के अधिष्ठान होने से वहाँ भी यह दोष है तो पूर्वपक्षी कहता है कि जागरण में भी यह दोष हम मानते ही हैं।

पूर्वपक्षी के उक्त तर्कों का निराकरण वेदान्ती ने बड़ी कुशलता एवं सूक्ष्मदर्शिता के साथ किया है। उपर्युक्त तर्कों के सम्बन्ध में वेदान्ती का कथन है कि शरीरावच्छिन्न अहंकार के साथ सामानाधिकरण्य से अन्तःप्रतीति 'अहं देशः', 'अहंः नीलः'–(मैं देश हूँ, मैं नील हूँ) की आपत्ति उत्पन्न कर रहे हो या शुद्ध चैतन्य के साथ सामानाधिकरण्य से उक्त अन्तःप्रतीति 'अहं देशः' 'अहं नीलः' की आपत्ति प्रस्तुत कर रहे हो। वेदान्ती का समाधान है कि प्रथम दृष्टि से तो आपत्ति इसलिए नहीं स्वीकार की जा सकती कि हमने अहंकार को अधिष्ठानरूप से स्वीकार नहीं किया है। जहाँ तक द्वितीय पक्ष की बात है, यह आपत्ति हमें इष्ट ही है, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि वेदान्ती के मतानुसार स्वाप्न पदार्थ अन्तःकरण में ही भासित होता है और उसका तादात्म्य अधिष्ठानभूत आत्मचैतन्य के साथ होता है।

अद्वैतवेदान्त के विचार से केवल स्वाप्न पदार्थ तथा शुक्तिरजतादि ही विभ्रम नहीं है, वरन् व्यावहारिक घट-पटादि भी आत्मचैतन्य में ही अध्यस्त है। पूर्वपक्षी का तर्क समुचित नहीं होगा कि इन्द्रियादि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उत्पन्न घटादि का ज्ञान आत्मस्वरूप नहीं है, क्योंकि विषयावच्छिन्न चैतन्य अहंकारावच्छिन्न चैतन्य से वस्तुतः भिन्न नहीं है। जिस प्रकार कि घटाकाश और मठाकाश में केवल घटरूप उपाधि का उल्लेख मात्र विशेष है, परन्तु आकाश उभयत्र समान ही है उसी प्रकार विषयावच्छिन्न चैतन्य और अहंकारावच्छिन्न चैतन्य में भी केवल विषय और अहंकार रूप उपाधिमात्र विशेष है, परन्तु चैतन्य सामान्य उभयत्र समान ही है। अतः दोनों प्रकार के चैतन्यों में परमार्थतः कोई भेद नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि घटादि व्यावहारिक पदार्थों का स्फुरण (ज्ञान) आत्म स्वरूप ही है। और वह आत्मचैतन्य में ही अध्यस्त है।

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार 'मैं हूँ और मैं नहीं हूँ' इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का व्यवहार अहंकाररूप उपाधि के कारण है। एक ही चैतन्य के सर्वव्यापक होने के कारण उसका 'भीतर' एवं 'बाह्य' जगत् में रहना उपपन्न है। अतः जागरण काल में पारमार्थिक रूप में माने गए घटपटादि सकल व्यवहार जब सर्वगत चैतन्यरूप अधिष्ठान में अध्यस्त हैं, तो स्वप्न भी उस आत्मचैतन्य में अध्यस्त है, यह कहने की अपेक्षा ही नहीं है।

जैसा कि अधिष्ठान सम्बन्धी विवेचन के आरम्भ में ही कहा गया है, अधिष्ठानवाद का प्रतिपाद्य मायिक जगत् की कार्यता सिद्ध करना है। मायिक जगत् की सिद्धि में जो स्थान अधिष्ठान का है, वही अध्यास का भी है। अतः इस स्थल पर अध्यास सिद्धान्त का विवेचन अत्यन्त उपयोगी समझ कर किया जा रहा है।

अध्यासवाद और अद्वैतदर्शन

अद्वैतदर्शन में वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से अध्यासवाद का महत्त्व भी अधिष्ठानवाद से कथमपि कम नहीं है। अधिष्ठानवाद के द्वारा यदि जगत्कारणवाद का स्पष्टीकरण किया गया है तो अध्यासवाद के द्वारा कार्यरूप जगत् की सत्ता का समालोचन निष्पन्न हुआ है। दोनों सिद्धान्त एक-दूसरे के पूरक हैं। वेदान्तविरोधी आचार्यों के अध्यास के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। यहाँ पहले इन मतों का निरूपण किया जाएगा। इसके पश्चात् वेदान्तिक दृष्टि से अध्यास का विवेचन अभीष्ट होगा।

अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक का अध्याससम्बन्धी मत

अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक का विचार है कि अन्य में (शुक्ति आदि में) अन्य वस्तु (देशान्तरवर्ती रजत आदि) के धर्म का अध्यास होता है। इस प्रकार अन्यथाख्यातिवादी का मत है कि देशान्तर्गत और कालान्तर्गत रजत का ग्रहण दोषयुक्त इन्द्रिय द्वारा ज्ञान-लक्षण-प्रत्यासत्ति से होता है।

आत्मख्यातिवादी क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध का मत

अध्यास के सम्बन्ध में आत्मख्यातिवादी बौद्ध का मत है कि अन्य वस्तु (बाह्य शुक्ति आदि) में अन्य वस्तु (बुद्धिरूपी आत्मा) के धर्म रजत आदि का अध्यास होता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार कह सकते हैं कि आत्मख्यातिवादी बौद्ध के मतानुसार बुद्धि (विज्ञान) के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ की सत्ता नहीं स्वीकार की गई है। अतः आत्मख्यातिवादी बौद्ध के मत में रजतादि का अध्यास बुद्धिरूप ही है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद भी इस मत में भ्रम ही माना गया है।[1]

शून्यवादी बौद्ध का मत

असत्ख्यातिवाद के समर्थक शून्यवादी का मत है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) यह ज्ञान स्मृति और अनुभव से भिन्न है। उक्त ज्ञान को शून्यवादी बौद्ध अध्यासरूपी ज्ञान मानता है। शून्यवादी

---

१. रत्नप्रभा, ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

का दृष्टिकोण है कि 'वह रजत है', इस ज्ञान में अध्यास के द्वारा असत् रजत का भान होता है।[1]

अख्यातिवादी मीमांसक का मत

अख्यातिवादी के मत का आशय है कि जिसमें (शुक्ति में) जिस (रजत) का अध्यास है, उसका भेद न समझने से होने वाला भ्रम ही अध्यास कहलाता है।[2]

उपर्युक्त सभी मतों में इस अंश में ऐकमत्य है कि अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के धर्म की प्रतीति को अध्यास कहते हैं। इस अंश में अद्वैतवेदान्त और उपर्युक्त मतों में भी साम्य अवलोकनीय है।

अद्वैतवेदान्त में अध्यास का स्वरूप

शंकराचार्य ने अध्यास की परिभाषा 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' कहकर दी है। इस परिभाषा के अनुसार किसी वस्तु में तद्भिन्न वस्तु का आरोप करना ही अध्यास है। शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प और आत्मा में जगत् का अनुभव अध्यास का ही रूप है। अध्यास ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का प्रवर्त्तक एवं लोकप्रत्यक्ष का विषय है। यह अनादि, अनन्त, नैसर्गिक एवं मिथ्या है।[3]

अद्वैतवेदान्त के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास होता है, इस शंका का होना स्वाभाविक है कि जो आत्मा विषय नहीं है उसमें विषय और विषय के धर्म का अध्यास किस प्रकार सम्भव हो सकता है, क्योंकि किसी पुरोवर्ती विषय के ऊपर ही तदितर विषय या उसके धर्मों का आरोप अध्यास कहलाता है। उक्त शंका का उत्तर अद्वैतदर्शन के सम्राट् शंकराचार्य ने बड़ी कुशलता के साथ दिया है। शंकराचार्य का कथन है कि प्रथम तो आत्मा अत्यन्त अविषय ही नहीं है, क्योंकि जब हम यह अनुभव करते हैं कि मैं सोता हूँ, मैं जागता हूँ, आदि, तो उस समय उक्त प्रकार के विभिन्न ज्ञानों का विषय आत्मा ही होता है। अतः आत्मा की विषयता का सार्वकालिक निषेध नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य का कथन है कि इस प्रकार का भी कोई नियम नहीं है जिसके अनुसार पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो। उदाहरण के लिए, अज्ञानी पुरुष अप्रत्यक्ष आकाश में भी तलमलिनता आदि अध्यास का अनुभव करता है।[4] अतः यह कहना तर्क-संगत नहीं है कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास नहीं हो सकता।

अध्यास के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी एक शंका करते हुए कहता कि यदि अध्यास–रजत का अधिष्ठान चेतन है तो चेतननिष्ठ रजत का 'इदं रजतम्' यह रजत है इत्याकारक पुरोवर्ती अध्यास किस प्रकार सम्भव है। वेदान्तपरिभाषाकार ने उक्त शंका का बड़ा समीचीन उत्तर देते हुए कहा है कि जिस प्रकार न्यायदर्शन में आत्मनिष्ठ सुखादिकों का ज्ञान शरीर के सुखादिकों की अधिकरणता का अवच्छेदक

---

१. रत्नप्रभा की टिप्पणी, ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात (श्रीकृष्ण पन्त सम्पादित)।

२. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

३. एवमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्त्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः (ब्र० सू० शा० भा० उपोद्घात)।

४. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

होने से उपलब्ध होता है, उसी प्रकार चैतन्य मात्र के सत्य रजत का अधिष्ठान न होने पर भी इदमवच्छिन्न चैतन्य के साथ उसका (रजत का) अधिष्ठान सम्भव है। वेदान्तपरिभाषाकार ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि विषयचैतन्य (इदमवच्छिन्न) के अन्तःकरणोपहित साक्षि-चैतन्य के साथ अभिन्न होने से पुरोवर्ति-विषयचैतन्य में भी अध्यस्त रजतादि वस्तुतः साक्षी में ही अध्यस्त हैं।

अध्यास के विभिन्न रूप

अध्यास के ही कारण जीव, पुत्र-स्त्री आदि की पूर्णता एवं अपूर्णता के हाने पर (मैं ही पूर्ण और अपूर्ण हूँ' इस प्रकार अनुभव करके बाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास करता है। इसी प्रकार 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं गौरवर्ण वाला हूँ' इत्यादि अनुभव करके आत्मा में देह के धर्मों का अध्यास देखा जाता है। इन्द्रियधर्मों के अध्यास के द्वारा जीव 'मैं मूक हूँ, मैं अन्धा हूँ', ऐसा अनुभव करता है।[1] इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय और निश्चय आदि अन्तःकरण का, अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों के साक्षी प्रत्यगात्मा में अध्यास होता है और इसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास होता है।

अध्यास का महत्त्व

यद्यपि अध्यास परमार्थ सत् होने के कारण मिथ्या है, परन्तु मिथ्या होते हुए भी यह संसार के समस्त लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों का हेतु है। अध्यास के कारण विधि-निषेध-बोधक एवं मोक्षपरक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार अद्वैतदर्शन में अध्यास की महती उपयोगिता स्वीकार की गई है। शंकराचार्य ने इस विषय में स्पष्ट रूप से कहा है कि जिस देह में आत्मभाव अध्यस्त नहीं है उस शरीर से कोई व्यापार नहीं किया जा सकता। इस अध्यास के अभाव में असंग आत्मा, प्रमाता नहीं बन सकता एवं आत्मा के प्रमातृत्व के अभाव में प्रमाण की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती।[2] इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्रों का अनुभवकर्ता अध्यासदृष्टि वाला पुरुष ही है। इसके अतिरिक्त पशु आदि के व्यवहार और शरीर, इन्द्रियादि अनात्मा से आत्मा भिन्न है, इस प्रकार का परोक्षज्ञान करने वाले विवेकियों के व्यवहार में कोई भेद नहीं मिलता। इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रमाण एवं शास्त्र व्यवस्था के आश्रय अविद्वान् ही हैं, क्योंकि उक्त प्रकार के विवेकी पुरुषों को आत्मा और अनात्मा के भेद का परोक्ष ज्ञान होता है परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में उनके और पशुओं के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं होता।[3] उदाहरण के लिए, जिस प्रकार किसी पशु को यदि प्रतिकूल शब्द सुनाई पड़ता है तो वह दूर हट जाता है और यदि अनुकूल शब्द सुनाई पड़ता है तो उस ओर प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार पुरुष भी उधर ही प्रवृत्त होते हैं, जिधर अनुकूल व्यवहार दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत जिधर प्रतिकूलता दिखती है वहाँ पुरुष भी प्रवृत्त नहीं होते। जैसे कि पशु यदि किसी पुरुष को मारने

---

१. ब्र० सू० शा० भा० उपोद्घात।
२. ब्र० सू० शा० भा० उपोद्घात।
३. रत्नप्रभा, ब्र० सू० शा० भा० उपोद्घात।

के लिए लाठी उठाए जाते हुए देखता है तो पिटने की आशंका से भागने लगता है और यदि उनके सामने कोई पुरुष हरित तृण लिए हुए आता दिखाई पड़ता है तो उसके सम्मुख प्रवृत्त हो जाता है। यही बात पुरुषों के सम्वन्ध में भी है, व्युत्पन्नचित्त पुरुष भी यदि किसी को खड्ग लिए एवं चिल्लाते हुए देखते हैं तो उससे दूर हट जाते हैं, और इसके विपरीत पुरुषों को देखकर उनकी ओर प्रवृत्त होते हैं। पशुओं एवं पुरुषों के उपर्युक्त प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार का कारण अध्यास है। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण से यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि पुरुषों के समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार अध्यास के कार्य हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, समस्त शास्त्रीय व्यवहारों का मूल भी अध्यास ही है। अतः आत्मबोध के पूर्व में प्रवर्तमान शास्त्र अविद्यावान् पुरुष का ही आश्रय लेता है। उदाहरण के लिए, 'ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए' आदि शास्त्र व्यवहार आत्मा में, वर्ण, आश्रम, वय आदि का अध्यास करके ही प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार समस्त प्रमाण-प्रमेय एवं शास्त्रीय व्यवहारों का मूल अध्यास ही है। जब अध्यास की निवृत्ति हो जाती है तो केवल अधिष्ठान तत्त्व—एक ब्रह्म की ही सत्ता वर्तमान रहती है।

अद्वैतवेदान्त में ईश्वरोपासना की संगति और उसका महत्त्व

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म का समन्वय करते समय यह कहा जा चुका है कि सगुण ब्रह्म की उपासना के द्वारा भी मनुष्य निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ है। अतः उपासना सगुण ब्रह्म की दृष्टि से ही संगत है, निर्गुण ब्रह्म की दृष्टि से नहीं। परन्तु यह सगुणोपासना अविद्या का ही रूप है। अध्यास का विवेचन करते हुए, अभी यह कहा जा चुका है, कि शास्त्रनिर्दिष्ट यज्ञादि कृत्यों का आधार अध्यास ही है। यद्यपि ईश्वर की उपासना वेदान्तिक दृष्टि से अविद्या का ही रूप है, परन्तु अविद्या के द्वारा ही मनुष्य मरणत्व को पार करके अमरत्व लाभ कर सकता है।[१] इसलिए अविद्यारूप उपासना भी निर्विशेष ब्रह्म की उपलब्धि कराने वाली विद्या की साधिका है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपासना विधि की उपादेयता मन्दबुद्धि साधकों के लिए ही है, उच्च साधकों के लिए नहीं।

ब्रह्मलोक प्राप्त करने वाले सगुणोपासकों की मुक्ति

उपासना का फल चित्त की एकाग्रता है। सगुण ब्रह्म की उपासना चित्त की एकाग्रता के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार में हेतु है, इस कथन का समर्थन करते हुए कल्पतरुकार अमलानन्द ने कहा है कि निर्विशेष परब्रह्म के साक्षात्कार करने में जो अल्पबुद्धि वाले लोग असमर्थ हैं, उन पर दया करते हुए ही आचार्यों ने सगुण ब्रह्म का निरूपण किया है। सगुण ब्रह्म के परिशीलन के द्वारा जब उपासकों का मन वशीभूत होता है तो वे सगुण ब्रह्म का ही, कल्पित उपाधि से विनिर्मुक्त निर्गुण ब्रह्म के रूप में साक्षात्कार करते हैं।

उपर्युक्त दृष्टि से उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण न होकर परम्परया कारण है।

---

१. अवान्तरभेदेनोपादानविधिरपि मन्दानुकम्पार्थमपवादत्वेन—रामाद्वयाचार्य, वेदान्तकौमुदी, पृ० २४१ (मद्रास संस्करण, १९५५)।

इसीलिए वेदान्तपरिभाषाकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सगुण ब्रह्म के उपासक अर्चि[1] आदि मार्ग (या देवयान मार्ग) के द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और ब्रह्मलोक पहुँचने पर श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्कार करने वालों का शेष में ब्रह्मा की आयु शेष होने से ब्रह्मा के साथ ही मोक्ष होता है।[2]

वेदान्तपरिभाषाकार के उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि सगुणोपासकों को भी बिना श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता।

सुरेश्वराचार्य का मत

सुरेश्वराचार्य का मत है कि उपासना के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार सम्भव नहीं है। सुरेश्वराचार्य का तर्क है कि जो उपासनाविधि कर्म, फल एवं कारक के भेद को लेकर आरम्भ होती है, वह अद्वैततत्त्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण नहीं हो सकती। क्योंकि ब्रह्म के सम्बन्ध में कर्मादि का भेद सम्भव नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कार का तो स्वरूप ही समस्त अविद्या की निवृत्ति है। जिस प्रकार उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण नहीं है।[3] इसके अतिरिक्त सुरेश्वराचार्य का कथन है कि उपासना की, कर्म की फलभूत उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, प्रयोगविधि एवं अधिकारविधि में से कोई भी ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण नहीं कही जा सकती।[4]

लेखक का मत

उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार में कारण है या नहीं, इस समस्या के सम्बन्ध में इस लेखक का मत है कि उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि होती है, इसीलिए वह परमात्मसाक्षात्कार में साक्षात् कारण तो नहीं है, परन्तु परम्परया ब्रह्मसाक्षात्कार की कारणता उसमें अवश्य सम्भव है। इसका कारण यह है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए चित्त का नैर्मल्य अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। यहाँ यह और विचारणीय है कि उपासना भी चित्त-शुद्धि का अनिवार्य हेतु नहीं है। यही कारण है कि अनेक उपासकों का भी चित्तनैर्मल्य देखने में नहीं आता।

---

१. सगुण उपासक का उत्तरायण मार्ग से गमन का क्रम यह है कि वह सर्वप्रथम अर्चि अभिमानी देवता को प्राप्त होता है और फिर दिन के अभिमानी, शुक्लपक्षाभिमानी षण्मासाभिमानी उत्तरायणाभिमानी संवत्सराभिमानी और देवलोकाभिमानी देवता को प्राप्त होकर वायुलोक सूर्यलोक, चन्द्रलोक, विद्युल्लोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक और प्रजापतिलोक में होता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।

२. वेदान्तपरिभाषा–परिच्छेद, ८।

३. Lights on Vedānta, p. 206-207.

४. Lights on Vedānta, p. 207.

अहंग्रह और प्रतीक उपासनाएँ

साधारणतया अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत उपासना के दो भेद किए गए हैं–अहंग्रह उपासना और दूसरी प्रतीकोपासना। जब तत्त्वजिज्ञासु 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' एवं 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के आत्मरूप से ब्रह्म का ग्रहण करते हैं तो वह अहंग्रह उपासना कहलाती है।[1] इसके अतिरिक्त अनात्मवस्तु में देवता दृष्टि से संस्कार द्वारा जो उपासनाएँ होती है वे सब प्रतीक उपासनाएँ हैं।

अहंग्रह और प्रतीक उपासनाओं में यह वैलक्षण्य है कि अहंग्रह उपासना के द्वारा जीव जीवनदशा में ही भावना के प्रकर्ष से ही परमात्मसाक्षात्कार करके मृत्यु को प्राप्त होने पर परमात्मरूपता को प्राप्त करता है, परन्तु प्रतीक उपासना के द्वारा उक्त परमात्मसाक्षात्कार असम्भव है। वेदान्तसूत्र के लेखक ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में उन पुरुषों को ही ले जाता है जो प्रतीकोपासक नहीं हैं।[2] प्रतीकोपासना में तो प्रतीक की ही प्रधानता होने के कारण प्रतीकोपासक प्रतीक की ही उपलब्धि कर सकता है, परमात्मा की साक्षात्काररूप उपलब्धि नहीं, क्योंकि उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है।[3] इस प्रकार अहंग्रह एवं प्रतीक उपासनाओं के फल पृथक्-पृथक् हैं।

उपर्युक्त दोनों उपासनाओं के फलवैलक्षण्य को सिद्ध करते हुए शंकराचार्य ने कहा है, कि नामवागादि प्रतीकोपासनाओं में पूर्व-पूर्व उपासनाओं की अपेक्षा उत्तरोत्तर उपासनाओं में विशेष फल का बोध होता है। उदाहरण के लिए, नाम की ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने वाला नाम के विषय में स्वतंत्र होता है (छा० उ० ७।१।५) और नामोत्तरवर्ती वाक् की उपासना करने वाला वाणी के विषय में स्वतन्त्र होता है। (छा० उ० ७।२।२)। इस प्रकार फलविशेष की उपपत्ति उपासनाओं के प्रतीकाधीन होने से ही सम्भव है। इसके विपरीत उपासनाओं के ब्रह्माधीन मानने पर फल विशेष की उपपत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अविशिष्ट है। अतः प्रतीकालम्बन-उपासनाओं का फल इतर उपासनाओं के फल के समान नहीं है।[4]

ऊपर किए गए विवेचन से यह पूर्णतया विदित है कि प्रतीकोपासना के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार कदापि सम्भव नहीं है। प्रतीक उपासना की यही उपयोगिता है कि प्रतीकोपासक इस उपासना के द्वारा चित् की एकाग्रता का अभ्यास करता है और ब्रह्मसाक्षात्कार के पावन पथ पर अग्रसर होता है।

सन्यास की उपयोगिता और योग्यता

ब्रह्मसाक्षात्कार में संन्यास की उपयोगिता के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद मिलता है। कुछ आचार्यों का मत है, कि ब्रह्मविद्या के प्रादुर्भाव के प्रतिबन्धक अनेक पाप यज्ञादि के अनुष्ठान से निवृत्त होते हैं, परन्तु कुछ ऐसे पाप भी हैं, जो संन्यासजनित अपूर्व से निवृत्त होते हैं। इस प्रकार कर्म के समान

---

१. ब्र० सू० ४।१।३।
२. ब्र० सू० ४।३।१५ तथा देखिए–वेदान्तकौमुदी, द्वितीय अध्याय, पृ० १६५।
३. न तस्य प्रतिमाऽस्ति श्वे० उप० ४।१९।
४. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१६।

चित्तशुद्धि के द्वारा ही संन्यास की भी उपयोगिता स्वीकार्य है। अद्वैतवेदान्त के कुछ आचार्यों का मत है कि संन्यास के, श्रवण आदि का अंग होने के कारण संन्यास का फल ब्रह्मज्ञान सिद्ध ही है। उक्त मत विवरण सम्प्रदाय के अनुयायियों के द्वारा स्वीकार किया गया है। कुछ भी हो, संन्यास-ग्रहण, श्रवणादि में सहायक होने के कारण ब्रह्म-साक्षात्कार का सहायक तो अवश्य है, परन्तु वह अनिवार्य रूप से ब्रह्मसाक्षात्काररूप फल का दाता कदापि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि केवल संन्यासग्रहण से ब्रह्मसाक्षात्कार की सिद्धि कदापि सम्भव नहीं है।[1] परमहंसोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा है कि संन्यास आश्रम को धारण करने वाला पुरुष यदि ज्ञान प्राप्त नहीं करता तो अज्ञानवश महारौरव आदि घोर नरकों को प्राप्त करता है।[2] अतः संन्यासग्रहण परमात्मसाक्षात्कार का अनिवार्य कारण नहीं है।

संन्यास-ग्रहण की योग्यता के सम्बन्ध में भी विद्वानों के एकाधिक मत मिलते हैं। स्मृति वाक्य के आधार पर कुछ विद्वानों का मत तो यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य, इन तीनों वर्णों के लिए ही ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों की व्यवस्था है।[3] सुरेश्वराचार्य भी द्विजमात्र को संन्यास एवं श्रवणादि का अधिकारी बतलाते हैं।[4] परन्तु एक अन्य सम्मानित मत के अनुसार ब्राह्मण मात्र को ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकार है।[5] आज के शांकर सम्प्रदाय के अनुयायी संन्यासियों द्वारा उक्त मत को ही महत्त्व दिया गया है। ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार स्वीकार करने वाले विद्वानों का कथन है कि यद्यपि स्मृति में तीनों वर्णों के संन्यास की चर्चा है, परन्तु विरोधाधिकरणन्याय से उसी स्मृति के अर्थ का परिग्रहण करना चाहिए, जो श्रुति से विरुद्ध नहीं है।[6] अतः श्रुति में कहीं भी ब्राह्मणेतर के लिए संन्यास की व्यवस्था न होने के कारण, वर्णत्रय के लिए संन्यास की व्यवस्था सिद्ध करने वाला स्मृति वाक्य श्रुतिविरुद्ध होने के कारण अमान्य समझा जाएगा।

वेदान्तदर्शन में मुक्ति का स्वरूप

वेदान्तदर्शन के सर्वोच्च प्रतिपाद्य मोक्ष का विवेचन उपनिषद् दर्शन से ही पूर्णतया मिलना आरम्भ हो जाता है, यह हम द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत देख चुके हैं। यह बात दूसरी है कि प्राचीन उपनिषदों में जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति आदि विषयों का पूर्ण एवं स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। उपनिषत्कालिक मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त का पूर्ण विकास हमें शांकरवेदान्त के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। आगे चलकर शंकराचार्यपरवर्ती सर्वज्ञात्ममुनि आदि आचार्यों ने मुक्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया था। इस स्थल पर शंकराचार्य और उनके परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दर्शन के

---

१. न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति। –गीता ३।४।

२. काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञकान्।। परमहंसोपनिषद्, 'ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषद्' पृ० १६६ (निर्णयसागर, बम्बई १९४८)।

३. ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्।
त्रयाणामपि वर्णानाममी चत्वार आश्रमाः।। –सि० ल० सं०, द्वितीय परिच्छेद से उद्धृत।

४. बृ० भा० वा०, पृ० ७५८-७५६।

५. अन्ये तु ब्राह्मणस्यैव संन्यासो बहुधा श्रुतः। –वेदान्तसिद्धान्तसूक्तिमंजरी, ३।१२।

६. सि० ले० सं०, तृतीय परिच्छेद।

आधार पर मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन किया जाएगा।

मुक्ति की परिभाषा और उसका स्वरूप

मुक्ति शब्द की निष्पत्ति मुच् (मोचनार्थक) धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होती है, जिसका अर्थ छुटकारा पाना होता है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर आत्मबोध होने पर अध्यासजन्य मिथ्या बन्धन से छुटकारा पाने का नाम मुक्ति है। वस्तुतः आत्मा सर्वदा विकाररहित होने के कारण बन्धन एवं मोक्ष के प्रश्न से अतीत है, परन्तु अविद्यावश जीवकोटि में आने पर उसमें जगत् के सम्बन्ध में ममत्व-परत्व आदि अनेकानेक बन्धन उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण जीव आत्मबोध करने में असमर्थ होता है। आत्मबोध न होने के कारण ही जीव जगत् की समस्त वस्तुओं से कोई सम्बन्ध न होने पर भी अविद्या के कारण अपना मिथ्या सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यह मिथ्या सम्बन्ध ही मिथ्या बन्धन का मूल है। जब बन्धन की मूलभूता इस अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, तभी जीव मुक्त कहलाता है। परन्तु बन्धन एवं मोक्ष की व्यवस्था पारमार्थिक न होकर मायिक ही है।[1]

शंकराचार्य ने मुक्ति का स्वरूप निर्धारित करते हुए मुक्ति को पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापी, समस्त विक्रियाओं से रहित, नित्य तृप्त, निरवयव, स्वयंज्योतिस्वभाव कहा है। शंकराचार्य का कथन है कि मोक्ष की स्थिति में धर्म और अधर्म अपने कार्य सुख-दुःख के साथ तीनों कालों में भी सम्बन्ध नहीं रखते। इसी शरीररहित स्थिति को शंकराचार्य ने मोक्ष कहा है।[2] वेदान्त-दर्शन की मुक्ति आनन्द रूप है। वह न्यायदर्शन की तरह शुष्क नहीं है।

अविद्यानिवृत्ति और आत्मबोध

आत्मबोध का ही नाम मुक्ति है और अविद्या जीव की मुक्ति में बाधक है, यह विचार अभी व्यक्त किया जा चुका है। अविद्यानिवृत्ति के सम्बन्ध में भी वेदान्त के आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। जैसा कि अप्पयदीक्षित ने ब्रह्मसिद्धिकार के मत को स्पष्ट करते हुए कहा है, ब्रह्मसिद्धिकार के मतानुसार आत्मा ही अविद्यानिवृत्ति है।[3] चित्सुखाचार्य एवं विमुक्तात्मा भी उक्त मत के ही समर्थक हैं। इन आचार्यों ने अविद्यानिवृत्ति को ब्रह्मज्ञान कहा है।[4] ब्रह्मसिद्धिकार के उक्त मत के सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि आलोचकों[5] का अप्पयदीक्षित पर यह आक्षेप उचित नहीं है कि ब्रह्मसिद्धि में

---

१. मानसोल्लास, २।५६ अड्यार, मद्रास।

२. इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत्, सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिस्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। ब्र० सू०, शा० भा० १।१।४।

३. अथ केयमविद्यानिवृत्तिः ? आत्मैवेति ब्रह्मसिद्धिकाराः। –सिद्धान्तलेशसंग्रह, चतुर्थपरिच्छेद।

४. Lights on Vedānta, p. 259.

५. वही, p. 258-259.

आत्मसाक्षात्कार को अविद्या-निवृत्ति कहा है, आत्मा को नहीं। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार की स्थिति में आत्मा के अतिरिक्त और किसी की सत्ता ही नहीं रहती। आनन्दबोधाचार्य अविद्यानिवृत्ति को सत्, असत्, सदसत् और अनिर्वचनीय से भी विलक्षण मानते हैं। अपने मत की पुष्टि में आनन्दबोधाचार्य का तर्क है कि अविद्यानिवृत्ति को सत्य इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अविद्यानिवृत्ति को सत्य मानने पर अद्वैतसिद्धि नहीं हो सकती। अविद्यानिवृत्ति को असत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि असत् मानने से अविद्यानिवृत्ति में ज्ञानसाध्यत्व नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अविद्यानिवृत्ति को सदसत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि सत् एवं असत् एक-दूसरे के विरोधी हैं। आनन्दबोधाचार्य के मतानुसार अविद्यानिवृत्ति की अनिर्वचनीयता भी अस्वीकार्य है। आचार्य का विचार है कि अविद्यानिवृत्ति को अनिर्वचनीय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि सादि-अनिर्वचनीय पदार्थों के प्रति अज्ञान के उपादानकारण होने से, अविद्यानिवृत्ति के अनिर्वचनीय मानने से अविद्या-निवृत्ति की फलभूत मुक्ति में भी अपने उपादानकारण–अविद्या की अनुवृत्ति प्रसक्त होगी और इस प्रकार मुक्ति की स्थिति अनिष्पन्न ही रह जाएगी।[१] अतः आनन्दबोधाचार्य के मतानुसार अविद्यानिवृत्ति को सत्, असत् और अनिर्वचनीय से विलक्षण किसी पंचम प्रकार का ही स्वीकार किया गया है।[२] इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा ने भी अविद्यानिवृत्ति को किसी पंचम प्रकार ही माना था। आनन्दबोधाचार्य ने न्यायमकरन्द में अविद्यानिवृत्ति को अनिर्वाच्य भी कहा है।[३] न्यायमकरन्द के टीकाकार चित्सुखाचार्य के अनुसार उक्त मत का लेखक आनन्दबोधाचार्य को ही सिद्ध किया गया है। परन्तु ऊपर हमने अविद्या-निवृत्ति के सम्बन्ध में सिद्धान्तलेशसंग्रहकार के अनुसार आनन्दबोधाचार्य के जिस मत का उल्लेख किया है उसके अनुसार अविद्यानिवृत्ति की अनिर्वाच्यता का निराकरण हुआ है। दोनों ही मत परमार्थ सत्य के समर्थक हैं। प्रकाशात्मा ने भी दोनों ही मतों का निरूपण एवं समर्थन किया था।[४]

मेरे विचार से अविद्यानिवृत्ति को अनिर्वचनीय मानना ही तर्कसंगत होगा, क्योंकि जब अविद्या ही अनिर्वचनीय है, तो उसकी निवृत्ति भी अनिर्वचनीय मानी जाएगी। यदि शंका हो कि मुक्ति में भी अविद्यानिवृत्ति की अनुवृति होगी तो उसकी उपादानभूता अविद्या की भी अनुवृत्ति होने से अनिर्मोक्ष की प्रसक्ति होगी, तो यह अनुचित है, कारण कि अज्ञाननिवृत्ति की अनुवृत्ति में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें उत्पत्ति नाम का एक भावरूप विकार है, जो केवल एक ही क्षण में (उत्पत्त्यवच्छिन्न काल) में ही रहता है। इसी प्रकार निवृत्ति (विनाश) भी पदार्थों का भावरूप धर्म ही है, जो निवृत्त्यवच्छिन्न काल में ही रहता है। उत्पत्ति और निवृत्ति, आद्य और विनाश काल के अतिरिक्त यदि अन्य काल में रहती होतीं तो चिरकालोत्पन्न घट में और चिरविनष्ट घट में 'उत्पन्न होता है और नष्ट होता है' ऐसा व्यवहार हुआ होता। अतः अत्यन्त क्षणिक अविद्यानिवृत्ति की अनुवृत्ति मोक्ष काल में कदापि नहीं सिद्ध की जा सकती। अतः अविद्यानिवृत्ति की अनिर्वाच्यता उचित ही है।

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, चतुर्थ परिच्छेद।
२. न्यायमकरंद, पृष्ठ ३५२ (चौखम्बा संस्करण)।
३. न्यायमकरंद, पृष्ठ ३५७।
४. Lights on Vedānta p. 257.

जहाँ तक अविद्यानिवृत्ति और आत्मबोध का प्रश्न है, अविद्यानिवृत्ति होने पर आत्मबोध स्वतः हो जाता है। जिस प्रकार कि कोई व्यक्ति अपने गले में हार के रहते हुए भी विस्मृति के कारण हार को यत्र-तत्र खोजता फिरता है, परन्तु विस्मृति दूर होने पर उसे अपने गले में ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार नित्यानन्दस्वरूप ब्रह्म जीव को नित्य प्राप्त होते हुए भी जीव के, अनादि अविद्या से आवृत्त होने के कारण अप्राप्त-सा प्रतीत होता है। जब श्रवणादि के द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तो जीव को अपने आनन्दस्वरूप का बोध तत्क्षण हो जाता है।

मुक्तपुरुष का व्यवहार

मुक्त पुरुष के व्यवहार के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस समस्या पर विचार करना परमावश्यक है कि मुक्त पुरुष का प्रपंचमय जगत् के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध होता है। इस समस्या का समाधान करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि मुक्त पुरुष के लिए यह प्रपंचरूप जगत् उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्नि के द्वारा घृत का काठिन्य नष्ट हो जाता है।[1] यदि मुक्ति प्राप्त होने पर जगत् का ही विनाश हो जाता तब तो एक व्यक्ति के मुक्त होने पर ही समस्त जगत् का विनाश हो गया होता।[2] अतः मुक्ति प्राप्त होने पर समस्त भौतिक जगत् का विनाश न होकर केवल जीव की जगद् बुद्धि का ही विनाश होता है। वृद्धावस्था में जो प्रपंचमय जगत् जीव को सत्य रूप से भासित होता है, मुक्तावस्था में उसका प्रपंच शान्त हो जाता है।[3] प्रपंच शान्त होने पर मुक्त जीव की द्वैतबुद्धि का भी विनाश हो जाता है।[4] तत्त्वबोध की स्थिति में ब्रह्मज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जाता है–ब्रह्म हि भवति य एवं वेद।[5]

मुक्त पुरुष एवं बद्ध पुरुष के व्यवहार में यही अन्तर है कि मुक्त पुरुष के लिए अविद्या की निवृत्ति होने पर मिथ्याभिमान एवं भ्रमजन्य दुःखादि की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि दुखाद्यनुभूति का कारण मिथ्याभिमान ही है। इसके विपरीत अविद्याजन्य मिथ्याभिमान के कारण ही बद्ध संसारी पुरुष को दुःखादि की अनुभूति होती है। मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय में इस शंका का होना स्वाभाविक है कि जब परमेश्वर रूप रामादि को अनेक अवसरों पर अज्ञान एवं दुःखादि का अनुभव करते हुए देखा जाता है तो साधारण मुक्त पुरुषों में अज्ञान एवं दुःखादि की अनुभूति का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। उक्त शंका के सम्बन्ध में यह निवेद्य है कि ईश्वररूप रामादि द्वारा किया गया अज्ञान एवं दुःखादि का अनुभव ईश्वर का नट के समान अभिनय मात्र है। लोकमर्यादा के लिए ही ईश्वर को इस अभिनय की आवश्यकता पड़ती है।[6] सुरेश्वराचार्य ने मुक्त पुरुष के व्यवहार के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि जिस प्रकार निद्राभंग होने पर द्रष्टा स्वप्नदृष्ट पदार्थों को पुनः नहीं देखता है, उसी

---

१. ब्र० सू०, शा० भा०, १।१।४।
२. ब्र० सू०, शा० भा०, ३।२।११।
३. माण्डूक्योपनिषद्, शा० भा०, १।३।
४. ज्ञाते द्वैतं न विद्यते, मा० का० १।१८।
५. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।२५।
६. सिद्धान्तलेशसंग्रह, चतुर्थ परिच्छेद।

प्रकार ज्ञानी सम्यक् ज्ञान होने पर विश्व को नहीं देखता है।[1] ज्ञानी के विश्व को न देखने का यही तात्पर्य है कि उसे सर्वत्र आनन्दस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं दृष्टिगोचर होती। ऐसे मुक्त पुरुष का लोक में जडवद् व्यवहार देखा जाता है।[2] श्रुति में मुक्त पुरुष को चक्षु रहते हुए भी अचक्षु के समान और कर्ण होते हुए भी अकर्ण[3] के समान कहा गया है। मुक्त के अचक्षु एवं अकर्ण होने का यह तात्पर्य है कि मुक्त पुरुष नेत्र एवं कर्ण रहते हुए भी किसी विषय को कामना से नहीं देखता और न सुनता है। इसीलिए जगत् के समस्त विषयों में ज्ञानी की अनासक्ति देखी जाती है। उपदेश-साहस्री के अन्तर्गत शंकराचार्य ने आत्मवेत्ता जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो जाग्रत् अवस्था में भी सुषुप्त्यवस्था का अनुभव करते हुए द्वैत जगत् को नहीं देखता और यदि इस द्वैतात्मा जगत् को देखता है तो उसे अद्वैत रूप ही समझता है तथा कर्मों को करते हुए भी जो निष्क्रिय है, वही आत्मवेत्ता मुक्त पुरुष है।[4]

क्या मुक्तपुरुष का परलोकगमन सम्भव है ?

मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में इस शंका का होना स्वाभाविक है कि क्या मुक्त पुरुष देहत्याग के पश्चात् किसी लोकान्तर की प्राप्ति करता है अथवा नहीं। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव की ब्रह्मात्मता सिद्ध होने पर उसका लोकान्तरगमन कदापि सम्भव नहीं है। 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ते' (उस आत्मज्ञानी पुरुष के प्राण उत्क्रमण को नहीं प्राप्त होते) आदि श्रुति-वाक्य भी उक्त सिद्धान्त के ही प्रतिपादक हैं। इस प्रकार आत्मज्ञानी मुक्त पुरुष वर्तमान शरीर को त्याग कर लोकान्तर को प्राप्त नहीं होता, अपितु अपने प्रारब्ध कर्मों के क्षयपर्यन्त सुख-दुःख को भोगकर अन्त में विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है।[5] इस विषय का विवेचन अभी जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के तुलनात्मक समीक्षण के अवसर पर किया जाएगा। मुक्त पुरुष के लोकान्तरगमन के सम्बन्ध में विचार करते हुए ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत 'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः' (ब्र० सू०, ४।३।७) सूत्र के अन्तर्गत बादरायण द्वारा उद्धृत आचार्य बादरि के मत की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि सगुण ब्रह्म में गन्तव्यत्व की उपाधि होने के कारण उपासक ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है, परन्तु इसके विपरीत परब्रह्म में गन्तृत्व, गन्तव्यत्व या गति की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म सर्वगत एवं गमन करने वालों का प्रत्यगात्मा है।[6] ब्रह्मवेत्ता मुक्त पुरुष जब स्वयं ब्रह्मरूप

---

१. निद्रया दर्शितानर्थान्न पश्यति यथोत्थितः।
सम्यक् ज्ञानोदयादूर्ध्वं तथा विश्वं न पश्यति।। मानसोल्लास, १।२।

२. नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चाऽन्येन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।। वे० सि० मु०, पृ० २५५ से उद्धृत।

३. स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव–वेदान्तसार, ३५ से उद्धृत।

४. सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः, स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः।।–उपदेशसाहस्री, १०।१३।

५. वेदान्तपरिभाषा, परिच्छेद ८।

६. ब्र० सू०, शा० भा०, ४।३।७।

हो जाता है और अद्वैत सत्य ब्रह्म के अतिरिक्त जब किसी अन्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं देखी जाती तो फिर मुक्त के लोकान्तरगमन का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

मूलतः, मुक्ति के अन्तर्गत भेद का निरूपण शांकरवेदान्त के प्रतिकूल है। शंकराचार्य ने मुक्तावस्था को एक रूप ही माना है।[1] अतः शांकरवेदान्त में मुक्ति सम्बन्धी जो भेद मिलते हैं, वे परिस्थिति के अनुसार किए गए भेद हैं। शांकरवेदान्त में मुक्ति के जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति–ये दो भेद मिलते हैं। जीवन्मुक्त प्राणी के लिए अविद्या की निवृत्ति एवं ब्रह्मबोध होने पर कर्मादि का बन्धन समाप्त हो जाता है। परन्तु जिस प्रकार छोड़े हुए बाण की निवृत्ति, वेग का क्षय होने पर होती है, उसी प्रकार जिस कर्म का फल प्रवृत्त हो चुका है, उसकी निवृत्ति शरीरपात होने पर ही होती है।इस प्रकार जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता, तब तक मुक्त पुरुष को भी जीवन धारण करना ही पड़ता है। शंकराचार्य ने जीवन्मुक्ति की स्थिति को कुम्भकार के चक्र के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कहा है, कि जिस प्रकार एक बार चलाया हुआ कुम्भकार का चक्र तब तक नहीं रुकता, जब तक कि उसका वेग समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार मुक्त पुरुष को भी प्रवृत्त फल वाले कर्मों के भोग के लिए जीवन धारण करना पड़ता है। यही जीवन्मुक्ति की स्थिति है। जब जीवन्मुक्त प्राणी का प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है, तो उसका देह नष्ट हो जाता है, और वह विदेहकैवल्य की उपलब्धि करता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति में प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होने के कारण जीवन्मुक्त प्राणी को शरीर धारण करना पड़ता है और विदेह मुक्ति में प्राणी कर्मभोग समाप्त करके शरीर बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है, यही जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का प्रधान भेद है।

मुक्तात्माओं द्वारा शरीरपात होने पर पुनः शरीर धारण करने की समस्या पर विचार

प्राचीन इतिहास में मुक्त आत्माओं के शरीर धारण करने की अनेक कथाएँ मिलती हैं। अपान्तरतमा नामक आचार्य ने विष्णु की आज्ञा से कलि और द्वापर की संधि में कृष्णद्वैपायन रूप से जन्म ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा के मानसपुत्र वशिष्ट ने भी निमि के शाप से पूर्व देह का त्याग करके ब्रह्मा के आदेश से मित्रावरुण के रूप में जन्म ग्रहण किया था। इन दृष्टान्तों के अनुसार अपान्तरतमा आदि लोक मर्यादा के अर्थ वेदप्रवर्तन आदि अधिकार में नियुक्त हुए थे। अतः उनकी स्थिति अधिकाराधीन है। जिस प्रकार 'अथ तत उर्ध्वम् उदेत्य नैवोंदिता नास्तमेत्येकल एवं मध्ये स्थाता' (छा० उ० ३।११।१) श्रुतिवाक्य के अनुसार सूर्य सहस्रों युगों तक जगत् का अधिकार चलाकर उसकी समाप्ति होने पर उदय और अस्त से रहित होने पर कैवल्य का अनुभव करता है, और जैसे आज भी ब्रह्मवेत्ता आरम्भभूति कर्मों के भोग के क्षीण होने पर कैवल्यानुभूति को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर द्वारा तत्तत् अधिकारों में नियुक्त हुए अपान्तरतमा आदि कैवल्य के हेतु–सम्यक् तत्त्वज्ञान के होने पर भी कर्मों के क्षीण न होने से, अधिकारपर्यन्त शरीर धारण करते हैं और कर्मों के क्षीण होने पर विदेह कैवल्य

---

१. वही, ३।४।५।

की प्राप्ति करते हैं।[1] इस प्रकार ईश्वररूप को प्राप्त अपान्तरतमा आदि को भी जब तक कर्म क्षीण नहीं हो जाते, तब तक पुनः-पुनः शरीर धारण करना ही पड़ता है।

समीक्षा

शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने शांकरवेदान्तसम्मत जीवन्मुक्ति एवं विदेह-मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना की है। सर्वज्ञात्ममुनि तो जीवन्मुक्ति को ही अस्वीकार करते हैं। सर्वज्ञात्ममुनि का तर्क है कि अविद्या के विरोधी तत्त्वसाक्षात्कार के उदित होने पर लेशरूप से भी अविद्या की अनुवृत्ति नहीं हो सकती। अतः जीवन्मुक्ति का प्रतिपादक शास्त्र श्रवण आदि विधि का केवल अर्थवाद मात्र है, क्योंकि जीवन्मुक्ति के प्रतिपादन में शास्त्र का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार जिस पुरुष ने निदिध्यासन किया है, उस पुरुष को ब्रह्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति मात्र से विलास और वासना के साथ अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।[2] शंकराचार्य और सर्वज्ञात्ममुनि के सिद्धान्तों के इस अंश में साम्मत्य है कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर अविद्यालेश शेष नहीं रहता। ब्रह्मवादी शंकराचार्य के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म अखण्ड[3] एवं अनन्तप्रकाशसम्पन्न है। अतः अखण्ड एवं अनन्तप्रकाशसम्पन्न ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर अविद्यालेश का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। परन्तु जैसा कि सर्वज्ञात्ममुनि ने कहा है अविद्यालेश के निराकरण द्वारा जीवन्मुक्ति का निराकरण असमीचीन है। जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है, ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर अपान्तरतमा आदि को भी प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगने के लिए पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ा था। अतः सर्वज्ञात्ममुनि का यह कथन शांकरवेदान्त के प्रतिकूल है कि अविद्यालेश न रहने के कारण, ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्ति का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

विद्यारण्य ने, देहेन्द्रियादिसंघात के उपादानकारण–अविद्या की निवृत्ति होने पर जीवन्मुक्ति की असंगतता का निराकरण करते हुए कहा है कि तत्त्वसाक्षात्कार होने पर भी प्रारब्ध कर्मों का नाश होने तक अविद्यालेश की अनुवृत्ति होने के कारण जीवन्मुक्ति की सिद्धि होगी।[4] इस प्रकार विद्यारण्य के विचारानुसार प्रारब्ध कर्म पूर्णतया अविद्यानिवृत्ति में बाधक हैं। तत्त्वसाक्षात्कार होने पर भी अविद्यालेश की अनुवृत्ति का विचार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित मुक्तिविषयक विचार से भिन्न है। शंकराचार्य अविद्या की पूर्वनिवृत्ति के पक्षपाती हैं।

मण्डन मिश्र ने जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में दो विरोधी विचारों का उल्लेख किया है।[5]

---

१. एवमपान्तरतमःप्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतौ अक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते, तदवसाने च अपवृज्यन्ते।

–ब्र० सू०, शा० भा०, ३।३।३२।

२. सि० ले० सं०, ५१३-५४।

३. ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, न च ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति। –ब्र० सू०, शा० भा०, ३।५।५२।

४. तर्हि तत्त्वसाक्षात्कारे जातेऽप्यप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिरस्तु।

–वि० प्र० सं० ९।१, पृ० ३६२।

५. ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३०।

जीवन्मुक्ति का निराकरण करते हुए एक ओर उन्होंने सद्योमुक्ति का समर्थन किया है तो दूसरी ओर प्रकारान्तर से जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन भी किया है। सद्योमुक्ति का समर्थन करते हुए मण्डन मिश्र का कथन है कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर प्राणी के समस्त संचित, संचीयमान एवं प्रारब्ध कर्मों का ही क्षय हो जाता है। ब्रह्मसिद्धिकार का कथन है कि समस्त कर्मों का क्षय होने पर प्राणी का देहपात हो जाता है और वह विदेहकैवल्य को प्राप्त करता है। उक्त तर्क का ही समर्थन करते हुए कुछ विद्वानों का कथन है कि 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (उस परावर परमात्मा का साक्षात्कार होने पर ब्रह्मवेत्ता के समस्त कर्मों का क्षय होता है) इस श्रुति तथा 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार समस्त काष्ठ को जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानरूप प्रज्वलित अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मीभूत करता है) इत्यादि स्मृति-वाक्यों के अनुसार ब्रह्मज्ञान के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय सिद्ध होता है।[1] परन्तु श्रुति एवं स्मृति के वाक्यों के पारस्परिक सामंजस्य के आधार पर यदि इस विषय का अध्ययन किया जाय तो उक्त मत का अनौचित्य स्वयं सिद्ध हो जाता है, क्योंकि 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (उस आत्मज्ञानी विद्वान् के विदेहकैवल्य में तब तक ही विलम्ब है जब तक प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता) इस श्रुति-वाक्य तथा 'नाभक्तं क्षीयते कर्म' (बिना मोक्ष के कर्म का क्षय नहीं होता) इस स्मृति-वाक्य के अनुसार प्रारब्ध कर्मों का क्षय ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी बिना भोग किए नहीं होता।[2] अतः मण्डन मिश्र प्रभृति विद्वानों का सद्योमुक्ति का विचार समुचित नहीं प्रतीत होता।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति के समर्थक विचार का भी उल्लेख किया है।[3] परन्तु उनका जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त शंकराचार्य के जीवन्मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त से भिन्न है। मण्डन मिश्र का विचार है कि जीवन्मुक्ति की स्थिति में शेष अविद्यालेश में, प्राणी में बाह्य तथा आभ्यन्तर किसी प्रकार का भी बन्धन उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। परन्तु अविद्या का लेश शेष रहने के कारण प्रारब्ध कर्मों का भोग आवश्यक है। मण्डन मिश्र का तर्क है कि अविद्यालेश के ही कारण जीवन्मुक्त प्राणी को शरीर धारण करना पड़ता है और जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तो उस अविद्यालेश[4] की भी पूर्णतया निवृत्ति हो जाती है, जिसके कारण प्राणी प्रारब्ध कर्मों का भोग करता है। जैसा कि ऊपर किए गए विवेचन से स्पष्ट हुआ है, मण्डन मिश्र का जीवन्मुक्ति सम्बन्धी उक्त मत शांकर मत से पूर्णतया भिन्न है। प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर एकाधिक स्थलों पर इस प्रकरण में यह कहा जा चुका है कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी प्रारब्ध कर्मों का भोग अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त यह भी ऊपर कहा चुका है कि जीवन्मुक्ति के लिए अविद्यालेश की अनुवृत्ति

---

१. वेदान्तपरिभाषा, परिच्छेद ८, पृ० १३६, १३७।

२. वेदान्त परिभाषा, पृ० १३६।

३. ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३१-१३२।

४. ज्ञान से आवरण के नष्ट होने पर भी प्रारब्ध कर्म से जो अज्ञान का विक्षेपांश अनुवृत्त होता है, वही अविद्या का लेश है, और उसी से जीवन है। कुछ विद्वानों का मत है, कि अत्यन्त स्वच्छ किए लहसुन के पात्र में वर्तमान लहसुन की वासना के असमान अनुवर्तमान अविद्या की वासना ही अविद्या का लेश है।–सि० ले० सं०, चतुर्थ परिच्छेद।

शंकराचार्य के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। सदानन्द प्रभृति शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने भी उक्त मत का समर्थन करते हुए कहा है कि जीवन्मुक्त प्राणी को अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर उसके संचित कर्म, संशय-विपर्यय आदि नष्ट हो जाते हैं और देह समस्त बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है।[1]

'काश्यां मरणान्मुक्तिः' (काशी में मृत्यु होने से मुक्ति मिलती है) के सम्बन्ध में विचार

अद्वैतवेदान्त के पारम्परिक विवेचन के अन्तर्गत इस तथ्य का प्रतिपादन स्थल-स्थल पर किया गया है कि ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। परन्तु कुछ विद्वानों ने मुक्ति के एक सरल मार्ग का अन्वेषण करते हुए कहा है कि काशी में मृत्यु होने से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो जाती है। उक्त तथ्य को यदि ठीक इसी रूप में ग्रहण किया जाए तो अवश्य ही ज्ञान के बिना मुक्ति को असिद्ध करने वाले सिद्धान्त–'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' एवं काशीमरण से मुक्ति प्राप्ति सम्बन्धी सिद्धान्त में परस्पर विरोध दिखाई पड़ने लगता है। विरोध के साथ ही साथ 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' सिद्धान्त के स्वीकार कर लेने पर अद्वैतवेदान्त के प्रमुख एवं आधारभूत सिद्धान्त 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' का वैयर्थ्य भी सिद्ध होता है। 'ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः' पक्ष का वैयर्थ्य सिद्ध करते हुए पूर्वपक्षी का कथन है, कि जब काशी मरण से ही मुक्ति मिल सकती है तो फिर क्लेशसंकुल, स्त्री आदि के त्याग से ही क्या लाभ ? अतः अनासक्ति एवं वैराग्य के फेर में न पड़कर मुमुक्षु को यथेच्छ जीवनयापन करते हुए काशीमरण के लिए ही प्रयत्नशील होना चाहिए।[2] उक्त तर्क के आधार पर पूर्वपक्षी का 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' पक्ष का निराकरण पूर्णतया तर्काप्रतिष्ठित एवं एकांगी है। पूर्वपक्षी के उपर्युक्त तर्क का निरास एवं उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के पारस्परिक विरोध का सामंजस्य सिद्ध करते हुए रामाद्वयाचार्य का कथन है कि काशी में भी भगवान् शंकर के उपदेशों में भक्ति होने से ज्ञान प्राप्त होता है और फिर ज्ञान से ही जीव को मुक्ति मिलती है।[3] अतः काशीमरण भी ज्ञानप्रयोजक ही समझना चाहिए। इस प्रकार काशी-मरण के द्वारा भी जीव को तभी मुक्ति मिल सकती है, जब कि उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाए।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कथन नितान्त समुचित होगा कि केवल काशी-मरण के द्वारा ही जीव को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत ज्ञान के द्वारा ही जीव की मुक्ति सम्भव है।

अद्वैतवेदान्त में वृत्तिनिरूपण

अद्वैत वेदान्त के आध्यात्मिक स्वरूप के सूक्ष्म अध्ययन के दृष्टिकोण से वृत्तिनिरूपण अत्यन्त उपादेय है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि वृत्तिनिरूपण के अभाव में अद्वैतवाद का प्रतिपादन भी अधूरा है। परन्तु यह आश्चर्य है कि इतना उपादेय होते हुए भी अद्वैतवेदान्त के सहस्रों आलोचकों में से कतिपय आलोचकों ने ही इस विषय का यत्किंचित् विवेचन किया है। यहाँ वृत्ति के स्वरूप एवं उसकी

---

१. वेदान्तसार, पृ० ६३ (चौखम्बा संस्करण)।

२. ननु किमनेन क्लेशसंकुलकलत्रादित्यागानुष्ठानेन यथाकामं वर्तमानानामपि वाराणसी मरणमेवानुष्ठेयम् । –वेदान्तकौमुदी, पृ० ७३ (मद्रास १९५५)।

३. तथा हि शम्भूपदेशभक्त्या ज्ञानान्मुक्त्युपपत्तेः। वेदान्तकौमुदी पृ० ७३।

स्थिति के सम्बन्ध में आलोचनात्मक विवेचन किया जाएगा।

अन्तःकरण के परिणाम विशेष को वृत्ति कहते हैं। वृत्ति के मूलतया दो भेद किए जा सकते हैं–एक बाह्य विषयों से सम्बन्धित वृत्ति और दूसरी 'अहं ब्रह्मास्मि' के रूप में अन्तःकरण की अखण्डाकाराकारित वृत्ति। आलोचकों ने प्रायः वृत्ति के प्रथम प्रकार के सम्बन्ध में ही विवेचन किया है, जबकि अद्वैत सिद्धान्त के आध्यात्मिक पक्ष के अध्ययन की दृष्टि से द्वितीय प्रकार की वृत्ति का अध्ययन ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। यहाँ दोनों प्रकार की वृत्तियों का निरूपण किया जाएगा।

स्थूल विषयों से सम्बन्धित वृत्ति

जिस प्रकार कि तालाब का जल तालाब के किसी एक छिद्र द्वारा निकलकर कुल्या (नहर) के समान लम्बायमान होकर खेत के केदारों (क्यारियों) में प्रविष्ट होकर उन केदारों की ही तरह त्रिकोण-चतुष्कोणादि आकारों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार तैजस होने के कारण अतिशीघ्रगामी अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा निकलकर घट-पट आदि विषयदेश को प्राप्त हुआ घट-पट आदि विषयदेश को प्राप्त हुआ घट-पट आदि विषयों के आकाररूप से परिणाम को प्राप्त होता है। यही परिणाम वृत्ति है।[1] अन्तःकरण की इस वृत्ति संशय, निश्चय, गर्व तथा स्मरण, ये चार भेद हैं। वृत्ति सम्बन्धी उक्त भेद व्यवस्था के कारण ही अन्तःकरण के भी क्रमशः मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त–ये चार भेद होते हैं।

वृत्ति का महत्त्व

वृत्ति के महत्त्व एवं उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन प्रमुख पक्ष मिलते हैं :

प्रथम पक्ष–विवरणकार प्रकाशात्मा ने वृत्ति की उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि जिस प्रकार गोत्व जाति के व्यापक होने पर भी उसका गौ व्यक्ति से ही सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार जीव के व्यापक होने पर भी उसका अन्तःकरण से ही सम्बन्ध होता है, परन्तु फिर जीव का अन्तःकरण की वृत्तियों के ऊपर आरूढ होकर अन्य विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है[2] और वह जीव ज्ञाता कहलाता है।

द्वितीय पक्ष–एक दूसरा पक्ष है कि अन्तःकरणोपाधिक जीव वृत्ति द्वारा बाहर निकलकर विषयचैतन्य और ब्रह्मचैतन्य की अभेदाभिव्यक्ति से विषय का प्रकाशक होता है।

तृतीय पक्ष–तृतीय पक्ष के अनुरूप, यद्यपि जीव व्यापक एवं अन्तःकरणावच्छेदेन अनावृत है, तथापि अविद्यावृत होने से स्वयं अप्रकाशमान होकर विषयों का प्रकाश नहीं करता है, परन्तु वृत्ति द्वारा आवरण का भंग होने पर विषयों का प्रकाश करता है। वृत्ति के उक्त पक्षों के अनुसार अधोलिखित तीन प्रयोजन हैं[3]–

---

१. वेदान्तपरिभाषा, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ६ (बम्बई संस्करण, सं० १६८६)।

२. सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथम परिच्छेद, १४३-१४४।

३. वही, पृ० १४६।

(१) वृत्ति के बिना जीव चैतन्य विषय का अवभासक नहीं होता है, इसीलिए चित् के साथ सम्बन्ध के लिए वृत्ति की अपेक्षा है।

(२) वृत्ति द्वारा जीवचैतन्य एवं विषयचैतन्य में अभेद की स्थापना होती है।

(३) आवरण के विनाश के लिए वृत्तिनिर्गम की अपेक्षा करके वृत्ति के साथ सम्बद्ध मात्र विषय का जीव प्रकाश करता है। इस प्रकार वृत्ति द्वारा अविद्या का आवरण भंग होता है।

उपर्युक्त तीनों पक्षों की अद्वैतवेदान्त के आलोचकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टि से आलोचना की है। इस स्थल पर भी उपर्युक्त पक्षों की समालोचना करना उपयुक्त होगा।

प्रथम पक्ष की आलोचना–प्रथम पक्ष के सम्बन्ध में आक्षेप की अवतारणा करते हुए आलोचक विद्वानों का कथन है कि विषयचैतन्य एवं जीवचैतन्य का वृत्तिजन्य सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। अपने मत की पुष्टि में आक्षेपकर्ता का तर्क है कि क्रियारहित विषयचैतन्य एवं जीवचैतन्य का वृत्ति के द्वारा तादात्म्य अथवा संयोग नहीं स्थापित किया जा सकता। तादात्म्यसम्बन्ध तो इसलिए नहीं स्थापित किया जा सकता कि जिनका तादात्म्य व्यवहार से देखा जाता है, वह पूर्व से ही होता है, मध्य में तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना नहीं की जा सकती। विषयचैतन्य और जीवचैतन्य में संयोग सम्बन्ध इसलिए नहीं माना जा सकता कि संयोग सम्बन्ध एक या उभय की क्रिया से उत्पन्न होता है, परन्तु विषयचैतन्य और जीवचैतन्य तो स्वभावतः ही निष्क्रिय हैं, अतः उनका कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

पूर्वपक्षी के उपर्युक्त आक्षेप का परिहार करते हुए अद्वैतवेदान्त के समीक्षकों ने भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख किया है। यहाँ प्रमुख चार मतों का संक्षेप में उल्लेख करना समीचीन होगा। इसके पश्चात् शेष दो पक्षों की समालोचना की जायेगी।

प्रथम मत–कुछ विद्वानों का विचार है कि जैसे नैयायिक लोग विषयविषयिभाव सम्बन्ध स्वभाव से ही मानते हैं, उसी प्रकार वृत्ति से विषय-विषयि भाव सम्बन्ध उत्पन्न होता है।

द्वितीय मत–प्रथम मत के विरुद्ध कुछ विद्वानों का विचार है कि यदि केवल विषय-विषयि संसर्ग माना जाएगा तो वृत्ति का निर्गम ही व्यर्थ होगा। अतः विषयसंयुक्तवृत्ति-तादात्म्य ही वृत्ति से उत्पन्न होता है, यह मानना चाहिए।

तृतीय मत–तृतीय मत के अनुयायियों का कथन है कि जिस प्रकार तरंग के स्पर्श से वृक्ष में नदी का स्पर्श होता है, उसी प्रकार विषय में वृत्ति के सम्बन्ध से जीव का सम्बन्ध होता है।

चतुर्थ मत–चतुर्थ मत के पक्षपाती विद्वानों का विचार है कि 'अभेदाभिव्यक्त्यर्था वृत्तिः' (वृत्ति का प्रयोजन अभेद की अभिव्यक्ति है) इस द्वितीय पक्ष में जीव के अव्यापक होने के कारण, उसके साथ सांकर्य न होने से विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य के साथ अभेदाभिव्यक्ति के द्वारा विषय के साथ तादात्म्यसम्पादन ही वृत्ति का प्रयोजन है।

द्वितीय पक्ष की आलोचना–वृत्ति की उपयोगिता के जिस द्वितीय पक्ष का उल्लेख हमने पीछे

किया है, उसके अनुसार अन्तःकरणोपाधिक जीव वृत्ति द्वारा बाहर निकल कर विषयचैतन्य और ब्रह्मचैतन्य की अभेदाभिव्यक्ति से विषय का अवभासक होता है। इस द्वितीय पक्ष की अभेदाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में भी अद्वैती आलोचकों ने विभिन्न प्रकार से विचार किया है। कई एक विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार नाली द्वारा तालाब और खेत के जल का एकीभाव–अभेदाभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का जो वृत्ति द्वारा एकीभाव होता है, वही अभेदाभिव्यक्ति है। द्वितीय मत के अन्तर्गत उक्त मत के विपरीत कुछ आलोचक विद्वानों का मत है कि उपाधि के रहने पर बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद अवश्य रहता है। जिस प्रकार दर्पण के रहने पर दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब और बिम्बस्थानीय मुख का अभेद अभिव्यक्त नहीं होता, क्योंकि दर्पणरूप उपाधि बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब की अभेदाभिव्यक्ति में बाधक है। उसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी विषय और अन्तःकरणरूप व्यावर्तक उपाधि के रहते हुए बिम्बभूत ब्रह्मचैतन्य और प्रतिबिम्बभूत जीवचैतन्य की अभेदाभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

द्वितीय मत के समर्थक विद्वानों ने प्रकारान्तर से अभेदाभिव्यक्ति का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य विषयसंस्पृष्ट वृत्ति के अग्रभाग में विषय का प्रकाश करने वाले अपने प्रतिबिम्ब का समर्पण करता है, अतः उसके प्रतिबिम्ब का ही जीव के साथ एकीभाव है। यह एकीभाव ही अभेदाभिव्यक्ति है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जाएगा कि जिस प्रकार कौस्तुभमणि या किसी रत्न की प्रभा अपने स्थान से निकलती हुई बड़े आकार में परिणत होकर विषयदेशपर्यन्त जाती है, उसी प्रकार हृदयदेश में रहने वाले अन्तःकरण की वृत्ति अन्तःकरण से लेकर विषयपर्यन्त अवच्छिन्नरूप से जाती है। इस वृत्ति का विषय के साथ सम्बद्ध भाग अग्रभाग कहलाता है। उस अग्रभाग में पड़े हुए ब्रह्म के विषय-प्रकाशक प्रतिबिम्ब के साथ जीव का एकीभाव (अभेदाभिव्यक्ति) है।

कुछ आलोचकों ने उपर्युक्त दोनों मतों के विपरीत एक तृतीय मत की अवतारणा करते हुए कहा है कि विषय का अधिष्ठानभूत बिम्बस्वरूप ब्रह्मचैतन्य ही, साक्षात् आध्यात्मिक सम्बन्ध का लाभ होने से, विषय का प्रकाशक है। अतः बिम्बत्वविशिष्ट चैतन्य का बिम्बत्व रूप से प्रतिबिम्बत्वविशिष्टचैतन्यरूप जीव के साथ भेद होने पर भी बिम्बत्व और प्रतिबिम्बत्व रूप से उपलक्षित शुद्धचैतन्य रूप से जो एकीभाव है, वही अभेदाभिव्यक्ति है।

तृतीय पक्ष की आलोचना–वृत्ति के महत्त्व के सम्बन्ध में तृतीय पक्ष का उल्लेख करते हुए हमने पीछे कहा है कि वृत्ति के द्वारा अविद्या के आवरण का भंग होने पर जीव विषयों का प्रकाश करता है। उपर्युक्त दो पक्षों की तरह तृतीय पक्ष आवरणभंग के सम्बन्ध में भी अद्वैतदर्शन के समालोचकों का मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में प्राप्त प्रमुख मतमतान्तरों का ही निर्देश इस स्थल पर उपयुक्त होगा।

प्रथम मत–प्रथम मत के अनुसन्धित्सुओं का विचार है कि जिस प्रकार अन्धकार में जुगनू के प्रकाश से छिद्र होता है, उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान के एकदेश में चटाई के समान अज्ञान का वेष्टन, या भीत योद्धा के समान पलायन, आवरणभंग है।

द्वितीय मत–अज्ञान के एकदेशीय विनाश, संवेष्टन या अपसरण को आवरणभंग न मानकर कुछ विद्वानों की मान्यता है, कि आवरण के होने से वृत्तिकालपर्यन्त विषयावच्छिन्न चैतन्य का आवरण न रहना ही आवरणभंग है। 'मैं अज्ञ हूँ' इस अनुभव की स्थिति में 'अहम्' अनुभव में प्रकाशमान जीव

चैतन्य का अज्ञान आश्रय है, परन्तु वह अज्ञान उसे आवृत्त नहीं करता।

तृतीय मत–उपर्युक्त दोनों मतों के विपरीत कुछ आलोचकों का कथन है कि वृत्ति से नष्ट होने वाले और संख्या में वृत्ति के बराबर अवस्थारूप अज्ञान अनेक हैं। एक अज्ञान के नष्ट होने की स्थिति में वृत्ति से अवस्थारूप अज्ञान का विनाश आवरणभंग है। इस मत के अनुसार जितने ज्ञान हैं उतने ही अज्ञान भी हैं। इस अवस्थारूप अज्ञान के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। यदि कुछ विद्वान् अवस्थारूप अज्ञान को मूलाज्ञान के समान अनादि मानते हैं तो इसके विपरीत दूसरे निद्रा आदि के समान सादि मानते हैं।

चतुर्थ मत–चतुर्थ मत के अनुयायियों का विचार है कि जिस काल में जो अज्ञान जिस वस्तु का आवरण करता है, उस काल में उस वस्तु के ज्ञान से उसी अज्ञान का नाश होता है। समस्त अज्ञान सर्वदा आवृत्त नहीं करते। जब अन्य वृत्ति के द्वारा, आवरक अज्ञान का नाश होने पर, उस वृत्ति का उपशम होता है तो अन्य अज्ञान उसको आवृत कर लेता है।

पंचम मत–खण्डनखण्डखाद्य की प्रसिद्ध टीका न्यायचन्द्रिका के लेखक आनन्दपूर्ण विद्यासागर का विचार है कि एक ज्ञान से किसी एक अज्ञान का नाश होता ही है, परन्तु इतर आवरक अज्ञानों का तिरस्कार नहीं होता। अतः धारावाहिक दूसरी वृत्तियों से भी एक-एक अज्ञान का नाश होता है।

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार संक्षेप में वृत्ति के कार्य–आवरण शक्ति का उच्छेद, तूलाज्ञान का विनाश, अविद्या की एक विशेष स्थिति का निराकरण, अविद्या के एक देश का विनाश कर उसमें दौर्बल्य उत्पन्न करना, भीरुभटापसरण के समान अविद्या का निवारण तथा कटसंवेष्टन (चटाई लपेटना) के समान अविद्या की निवृत्ति करना है। संक्षेप में, वृत्ति का यही महत्त्व है।

'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति का स्वरूप और उसकी उपयोगिता

'अहं ब्रह्मास्मि' अन्तःकरण की वह अखण्ड आकार से आकारित वृत्ति है जिसका उदय जिज्ञासु के अन्तःकरण में, तत्त्वमसि के द्वारा अखण्डाकार का बोध होने पर होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति के अनुसार तत्त्वजिज्ञासु को यह बोध होता है कि 'मैं ही नित्य शुद्धबुद्धस्वरूप ब्रह्म हूँ'। इस वृत्ति के सम्बन्ध में यह शंका होनी स्वाभाविक है कि जडचित्तवृत्ति नित्य-शुद्ध-बुद्धस्वरूप ब्रह्म को अपना विषय किस प्रकार बना सकती है। उक्त शंका का समाधान हमें अद्वैती सदानन्द के इस कथन में मिलता है कि चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती, वरन् वह अज्ञानविशिष्ट प्रत्यगभिन्नविषयिणी होती है। जब उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो वह प्रत्यक्‌चैतन्यगत अज्ञानावरण को दूर करती है। इस प्रकार अज्ञानावरण को दूर करना ही (अहं ब्रह्मास्मि) इस वृत्ति के उदय का परिचायक है। प्रत्यक् परब्रह्मविषयक अज्ञानावरण के दूर होते ही तत्त्वजिज्ञासु को यह अनुभव होने लगता है कि मैं ही नित्य-शुद्धबुद्धस्वरूप ब्रह्म हूँ। उक्त वृत्तिसम्पन्न तत्त्ववेत्ता को ब्रह्म के अतिरिक्त किसी सत्ता की भ्रान्ति नहीं होती। इस प्रकार अखण्ड चैतन्य वृत्ति के कारण प्रत्यक्‌चैतन्यगत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अज्ञान के कार्यप्रपंच का भी उसी प्रकार बाध हो जाता है जिस प्रकार कि तन्तुरूप कारण के जल जाने पटरूप कार्य का विनाश हो जाता है। यहाँ, यह आक्षेप करना उचित न होगा कि अज्ञान और उसके कार्य-प्रपंच का बाध होने पर भी 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति तो शेष रह जाएगी, जिसके कारण अद्वैतसिद्धि में बाधा आएगी। उक्त आक्षेप के निराकरण के सम्बन्ध में यह तथ्य विचारणीय है कि वृत्ति भी अज्ञान एवं उसके कार्य प्रपंच के अन्तर्गत

ही है। अतः जब अज्ञान की निवृत्ति होगी तो कार्य-प्रपंच एवं अखण्डाकाराकारित वृत्ति का भी नाश हो जाएगा। अब यदि यह कहा जाए कि अज्ञान, प्रपंच एवं अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का नाश होने पर भी वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्याभास तो वर्तमान ही रहेगा, तो इसके उत्तर में यह कहा जाएगा कि अखण्डाकार वृत्ति के नष्ट होने पर उसमें जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था वह अलग नहीं प्रतीत हो सकता। जिस प्रकार कि दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब तभी तक दिखाई पड़ता है जब तक कि दर्पण रहता है, उसी प्रकार वृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्ब तभी तक पड़ता है, जब तक कि वृत्ति रहती है। जिस प्रकार कि दर्पण के नष्ट हो जाने पर बिम्ब मात्र (मुख) शेष रह जाता है, उसी प्रकार वृत्ति के लीन होने पर उस चैतन्य प्रतिबिम्ब के बिम्ब-प्रत्यगभिन्न पर ब्रह्म मात्र की ही सत्ता रह जाती है।[1]

जिस प्रकार कि घटादि जड़ पदार्थ को देखने के लिए नेत्र एवं दीपक दोनों की आवश्यकता होती है, परन्तु दीपदर्शनार्थ केवल नेत्र ही पर्याप्त हैं,[2] उसी प्रकार अज्ञानावच्छिन्न जीव चैतन्यगत अज्ञान को दूर करने पर ब्रह्म मात्र के दर्शन के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' यह तदाकाराकारित चित्तवृत्ति तथा तद्गत चिदाभास दोनों की आवश्यकता है।

'अहं ब्रह्मास्मि' एवं जडघटाद्याकाराकारित चित्तवृत्ति का भेदनिरूपण

वृत्ति सम्बन्धी विवेचन के आरम्भ में जड़घटाद्याकाराकारित वृत्ति एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप वृत्ति के भेद की ओर संकेत किया गया था। यहाँ दोनों प्रकार की वृत्तियों के सूक्ष्म भेद का निरूपण किया जाएगा।

जैसा कि 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति सम्बन्धी विवेचन करते समय कहा जा चुका है, अज्ञानावरण का उच्छेद करके स्वयं चित्तवृत्ति भी शान्त हो जाती है। इसके पश्चात् उस वृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्बरूप चैतन्याभास रह जाता है। यह चैतन्याभास स्वयं प्रकाशमान शुद्ध चैतन्य का ही अंश है, अतः यह उसे प्रकाशित करके स्वयं उसी में विलीन हो जाता है। परन्तु जडघटाद्याकाराकारित वृत्ति की स्थिति वृत्ति की उक्त स्थिति से भिन्न है। क्योंकि जब 'अयं घटः' (यह घट है) इस प्रकार अज्ञातघटविषयक चित्तवृत्ति का उदय होता है तो वह वृत्ति घटावच्छिन्नचैतन्य के आवरण करने वाले घटविषयक अज्ञान का भी नाश करती है और अपने में वर्तमान चिदाभास के द्वारा घट को भी प्रकाशित करती है।[3] इसके विपरीत जैसा कि ऊपर कह आए हैं, 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्बरूप चैतन्याभास शुद्धचैतन्य का अंश होने के कारण उसे प्रकाशित करने में असमर्थ होता है।[4]

---

१. वेदान्तसार, पृष्ठ ७७ (चौखम्बा संस्करण)।

२. चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा।
न दीपदर्शने, किन्तु चक्षुरेकमपेक्ष्यते।। पंचदशी, वेदान्तसार, पृ० ८२ से उद्धृत।

३. बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्, पंचदशी, वेदान्तसार, २९ से उद्धृत।

४. जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तिविशेषोऽस्ति। तथा हि अयं घट इति घटाकाराकारित-चित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरःसरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति।–वेदान्तसार, पृष्ठ ८०।

'तत्त्वमसि' द्वारा ब्रह्मबोध

मोक्ष के साधन के रूप में उपनिषदों में 'प्रज्ञानं ब्रह्म', (ऐ० ५-१) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०), 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २।५।१६) और 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६-८-७)–इन चार महावाक्यों का उल्लेख किया है। यहाँ हमारा उद्देश्य सामवेद शाखा के छान्दोग्योपनिषत् के महाकाव्य–तत्त्वमसि द्वारा होने वाले अखण्डार्थबोध की मीमांसा करना है। छान्दोग्योपनिषद् में तत्वमसि का उपदेश उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु के प्रति किया है। यहाँ यह कह देना और उपयुक्त होगा कि तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा अखण्डार्थब्रह्म का साक्षात्कार तभी हो सकता है जब कि जिज्ञासु का चित्त शुद्ध, संस्कृत एवं ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए दृढ़ है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य का विवेचन करने से पूर्व इस महावाक्य के पदों के अर्थ का विवेचन करना उपयुक्त होगा। अतः यहाँ पहले तत्त्वमसि महावाक्य के पदार्थ का निर्णय किया जाएगा।

'तत्त्वमसि' के अन्तर्वर्त्ती पदों का अर्थ

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अन्तर्गत पहला पद तत् है, जिसका वाच्यार्थ अज्ञान एवं कारण, सूक्ष्म-स्थूल शरीर की समष्टि, तदुपहित चैतन्य तथा एतदनुपहित चैतन्य (तुरीयचैतन्य)–इन सबका तप्तलौहपिण्ड के समान एक रूप से अवभासित होना है। इसके अतिरिक्त 'तत्' शब्द का लक्ष्यार्थ–अज्ञानावच्छिन्न ईश्वरचैतन्य का आधारभूत जो अनुपहित चैतन्य उसका अज्ञान एवं तदवच्छिन्न ईश्वर चैतन्य से विविक्त होकर भिन्न-भिन्न रूप से अवभासित होता है।

'त्वम्' पद का वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ–अज्ञान तथा कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीरों की व्यष्टि एवं प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व चैतन्य और तदनुपहित चैतन्य, इन तीनों का तप्त लौहपिण्ड के समान अभेद विवक्षा में एकरूप से अवभासित होना 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है। इसके अतिरिक्त व्यष्टिभूत अज्ञानादि, तदुपहित जीवचैतन्य एवं इनका आधारभूत जो अनुपहित प्रत्यगात्मक तुरीयचैतन्य, इन सबका भेद विवक्षा में पृथक् -पृथक् प्रतीत होना 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार अनुपहित चैतन्य (शुद्ध चैतन्य) तत् और त्वम् पदों का लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार त्वम् पदों के अर्थ का निर्णय होने पर अब यहाँ 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अर्थ का प्रतिपादन किया जाएगा।

'तत्त्वमसि' का लक्षणाप्रतिपाद्य अर्थ–'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत 'तत्' एवं 'त्वम्' यह क्रमशः सर्वज्ञ ईश्वर एवं अल्पज्ञ जीव के बोधक हैं। इस प्रकार दोनों पदार्थों में स्पष्ट विरोध होने के कारण 'तत्त्वमसि' द्वारा अखण्डार्थ का बोध होना असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु उक्त आपत्ति तत्त्वमसि का अभिधेयार्थ ग्रहण करने पर ही उत्पन्न होती है। लक्षणा द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अर्थ ग्रहण करने पर 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थ का बोध स्वयं हो जाता है।

पंचदशीकार ने तत्त्वमसि के अन्तर्गत तत् एवं त्वम् पदों का लक्ष्यार्थ बतलाते हुए पहले तत् शब्द का लक्ष्यार्थ निश्चित करते हुए कहा है कि सृष्टि से पहले नाम-रूप से रहित जो सद् एवं अद्वैत वस्तु बतलाई गई है, सृष्टि निर्माण होने के पश्चात् वह सद् वस्तु अब भी वैसी ही अविरत है, यही

तत् शब्द का लक्ष्यार्थ है। पंचदशीकार विद्यारण्य ने 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ बतलाते हुए कहा है कि 'त्वम्' पद लक्षणा के द्वारा श्रवणादि का अनुष्ठान करने वाले तथा महावाक्य के जिज्ञासु श्रोता के देहेन्द्रियातीत एवं तीनों देहों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) के साक्षी पदार्थ का बोधक है।[1]

यह कहना असंगत न होगा कि तत्त्वमसि महावाक्य का अखण्डार्थबोध तब तक नहीं हो सकता जब तक कि यह निर्णय न हो जाय कि जहल्लक्षणा एवं जहदजहल्लक्षणा या भाग-लक्षणा में से किस लक्षण के द्वारा अखण्डार्थ का बोध होता है। उक्त तीनों लक्षणाओं के समीक्षात्मक विवेचन के द्वारा यह देखने का प्रयत्न किया जाएगा कि किस लक्षणा के द्वारा तत्त्वमसि के अखण्डार्थ का बोध संगत हो सकता है।

जहल्लक्षणा और तत्त्वमसि

जहल्लक्षणा को ही जहत्स्वार्था भी कहते हैं। जब पद अपने अर्थ का त्याग करके अन्य अर्थ का बोध कराता है तो वह जहल्लक्षणा कहलाती है। जहल्लक्षणा का उदाहरण 'गंगायां घोषः' (गंगा में घोष है) उदाहरण के अन्तर्गत गंगा शब्द का मुख्यार्थ प्रवाह है। परन्तु प्रवाह में घोष का होना सम्भव नहीं प्रतीत होता, इसलिए गंगा शब्द अपने मुख्यार्थ-प्रवाह को त्याग कर सामीप्य सम्बन्ध के द्वारा तीर अर्थ का बोधक है। अतः 'गंगाया घोषः' स्पष्ट ही जहल्लक्षणा का उदाहरण है। जहाँ तक 'तत्त्वमसि' का प्रश्न है, यह महावाक्य उक्त रीति से जहल्लक्षणा का उदाहरण नहीं सिद्ध होता। तत्त्वमसि में जहल्लक्षणा न मानने का कारण यह है कि तत्त्वमसि के तत् एवं 'त्वम्' पद अपने मुख्यार्थ-चैतन्य का पूर्ण रूप से परित्याग नहीं करते, क्योंकि दोनों के चैतन्यांश में विरोध न होकर तत् के परोक्षत्व एवं त्वम् के अपरोक्षत्व का ही विरोध है। यदि कहा जाय कि अविरुद्ध चैतन्यरूप वाक्यार्थ को त्याग कर तो उक्त लक्षणा हो ही जाएगी तो यह अनुचित है, क्योंकि यदि 'तत्त्वमसि' के चैतन्यांश रूप वाक्यार्थ का त्याग कर दिया जाएगा तो तत्त्वमसि के द्वारा प्रतिपाद्य अखण्ड एवं चेतन ब्रह्म का बोध ही नहीं निष्पन्न हो सकेगा। एक दूसरा तर्क करते हुए पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस प्रकार 'गंगायां घोषः' के अन्तर्गत गंगा पद अपने अर्थ का त्याग करके तीर अर्थ का बोध कराता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत भी 'तत्' एवं 'त्वम्' पद क्रमशः परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ और किंचिंज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ को त्याग कर लक्षणा द्वारा जीवचैतन्य का बोध कराएंगे। पूर्वपक्षी की उक्त शंका निराधार है, क्योंकि 'गंगायां घोषः' में तो तीर पद न होने के कारण लक्षणा द्वारा गंगा शब्द का अर्थ तीर ग्रहण किया जाता है, किन्तु 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत तो 'तत्' एवं 'त्वम्' शब्द वर्तमान हैं, अतः इन पदों के द्वारा तत्-तत् अर्थों की प्रतीति स्वतः हो रही है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा एक पद से दूसरे पद के अर्थ का बोध कराने का प्रयत्न व्यर्थ ही कहा जाएगा।[2] इसलिए 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थ का बोध जहल्लक्षणा द्वारा कदापि संगत नहीं कहा जा सकता।

---

१. पंचदशी, ५।५, ६।

२. वेदान्तसार, २५।

अजहल्लक्षणा और तत्वमसि

जहाँ पद अपने अर्थ का परित्याग न करके अन्य अर्थ का बोध कराता है, वहाँ अजहल्लक्षणा होती है। इसे अजहत्स्वार्था भी कहते हैं। 'शोणो धावति' (लाल दौड़ता है) अजहल्लक्षणा का उदाहरण है। उक्त उदाहरण के अन्तर्गत 'लाल' (वर्णविशेष) का दौड़ना असम्भव है, इसीलिए शोण शब्द का अर्थ लक्षणा के द्वारा शोणवर्णविशिष्ट अश्वादि लिया जाता है। 'शोणो धावति' में शोण शब्द अपने अर्थ–लाल वर्ण का परित्याग किए बिना ही शोणगुणविशिष्ट अश्वादिरूप अन्य अर्थ का बोध कराता है। परन्तु 'तत्त्वमसि' का वाक्यार्थबोध अजहल्लक्षणा के द्वारा नहीं प्रतिपादित किया जा सकता। इसका कारण यह है कि 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों का अर्थ क्रमशः परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य एवं अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य है। अतः ये दोनों चैतन्यांश में अविरुद्ध होते हुए भी परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व रूप अर्थ में विरुद्ध ही हैं। अतः अजहत्स्वार्था लक्षणा मानने पर उक्त विरोध का परिहार न होने के कारण तत्त्वमसि के द्वारा अखण्डार्थ का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि अजहत्स्वार्था लक्षणा के अनुसार पदों के अपने अर्थ का त्याग न होने के कारण उक्त परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व रूप अर्थ का विरोध बना ही रहेगा।

तत्त्वमसि में पुनः अजहल्लक्षणा सिद्ध करते हुए पूर्वपक्षी का विचार है कि 'तत्' पद 'त्वम्' पद से विरुद्ध अपने परोक्षत्वादि धर्म को त्याग कर उभयसामान्य एवं (तत् एवं त्वम् पदवर्ती) अविरुद्ध चैतन्यांश को न त्यागकर त्वम् पद के अर्थ–किंचिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट जीव-चैतन्य का लक्षणा द्वारा बोध कराता है। उक्त प्रकार के अनुसार ही त्वम् पद तत् पद से विरुद्ध अपने अपरोक्षत्वादि धर्म को त्याग कर उभयसामान्य एवं अविरुद्ध चैतन्यांश को न त्यागकर तत् पद के अर्थ–सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वरचैतन्य का लक्षणा से बोध कराता है। अजहल्लक्षणा के समर्थन में पूर्वपक्षी का उक्त तर्क संगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक पद ('तत्' या 'त्वम्') लक्षणा द्वारा अपने परित्यक्त परोक्षत्वापरोक्षत्व रूप अर्थ को भी लक्षणा से सूचित करे और दूसरे पद के अर्थ को भी लक्षणा द्वारा बोधित करे, यह असंगत है, क्योंकि अजहल्लक्षणा का जो उदाहरण 'शोणो धावति' हमने अभी दिया है, उसमें शोण पद अपने अर्थ–रक्त को भी बतलाए और लक्षणया नीलादि वर्णों का भी बोध कराए, यह असंगत है। इसके अतिरिक्त 'तत्' एव 'त्वम्' पदों द्वारा अपने-अपने अर्थ की स्वतः प्रतीति होने के कारण लक्षणा द्वारा एक पद से दूसरे पद के अर्थ का ग्रहण करना ही व्यर्थ है।[1]

ऊपर किए गए विवेचन कि आधार पर अजहल्लक्षणा द्वारा भी 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थबोध की असंगति स्पष्ट ही है।

तत्त्वमसि और भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा

भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा उस स्थल पर होती है, जहाँ शब्द अपने कुछ अंश का त्याग कर कुछ अंश के अर्थ का बोध कराता है। उदाहरण के लिए 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में तत् (सः) शब्द का अर्थ है–तत्कालविशिष्ट देवदत्त और इदम् (अयम्) शब्द का अर्थ है–एतत्कालविशिष्ट देवदत्त। उक्त वाक्य के अन्तर्गत देवदत्तांश में कोई विरोध न होकर तत्कालीन और एतत्कालीन अंश में ही काल

---

१. एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात् पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च। –वेदान्तसार, २६।

सम्बन्धी विरोध है। इस प्रकार उक्त उदाहरण में विरुद्धांश का त्याग करके अविरुद्ध देवदत्तपिण्डमात्र का बोध कराने के लिए जहदजहल्लक्षणा मानी जाती है। इसी प्रकार तत्वमसि के अन्तर्गत भी तत् शब्द का अर्थ है–परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य–ब्रह्म और त्वम् पद का अर्थ है–अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यजीव। इस प्रकार इन दोनों पदों के चैतन्यांश में कोई विरोध न होकर केवल परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व में ही पारस्परिक विरोध है। अतः परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व रूप विरुद्धांशों का त्याग जहल्लक्षणा द्वारा और तत् एवं त्वम् पद से अविरुद्ध अखण्ड चैतन्य का बोध अजहल्लक्षणा द्वारा होकर, जहदजहल्लक्षणा द्वारा तत्त्वमसि से अखण्ड चैतन्य का बोध होता है। जहदजहल्लक्षणा द्वारा पदार्थ के कुछ अंश का त्याग एवं कुछ अंश का ग्रहण होता है, इसीलिए इसे भागलक्षणा भी कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से तत्त्वमसि में लक्षणा होने पर सम्बन्धत्रय (समानाधिकरण सम्बन्ध, विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध और लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध) के आधार पर अखण्डैकार्थ का प्रतिपादन करना है। अतः यहाँ तत्त्वमसि के सम्बन्ध में उक्त तीनों सम्बन्धों का विवेचन अपेक्षित है।

समानाधिकरण-सम्बन्ध

जिस सम्बन्ध के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्यबोध होता है, वह सम्बन्ध समानाधिकरण सम्बन्ध कहलाता है। उदाहरणार्थ 'सोऽयं देवदत्तः' इस उदाहरण में तत् (सः) पद का तत्काल-तद्देशविशिष्ट अर्थ है और इदम् (अयम्) शब्द का एतत्काल एतद्देश विशिष्ट रूप अर्थ है। परन्तु उक्त दोनों पदों का तात्पर्य देवदत्तपिण्डरूप एक ही अर्थ को प्रकट करना है। इसी प्रकार तत्त्वमसि में भी तत् एवं त्वम् पदों का परोक्षत्व-सर्वज्ञत्वादिविशिष्टरूप अर्थ तथा किंचिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट रूप अर्थ परस्पर विरुद्ध होते हुए भी समानाधिकरणसम्बन्ध द्वारा एक ही अखण्ड चैतन्य रूप अर्थ का बोधक है। अतः समानाधिकरणसम्बन्ध द्वारा तत्त्वमसि से एक ही अखण्डार्थ ब्रह्म का प्रतिपादन होता है।

विशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्ध

जो शब्द अपने विशेष्य को अन्य शब्दों से व्यावृत्त कर देता है उसे विशेषण कहते हैं और जो शब्द व्यावृत्त होता है, उसे विशेष्य कहते हैं। उदाहरणार्थ 'सोऽयं देवदत्तः' इस उदाहरण में अयंशब्दवाच्य एतत्काल–एतद्देशविशिष्ट देवदत्त 'सः' शब्द वाच्य तत्काल-तद्देशविशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है, जब यह बोध होता है तो तत् शब्द 'इदम्' शब्द का विशेषण होता है और इदम् शब्द तत् शब्द का विशेष्य है। अतः विशेषणविशेष्यसम्बन्ध से 'सोऽयं देवदत्तः' से यह वही देवदत्त है, यह बोध होता है और तत्काल-तद्देशविशिष्ट देवदत्त से अन्य देवदत्त की व्यावृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार तद्पद-वाच्य तत्कालतद्देशविशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है अर्थात् 'यही वह देवदत्त है' जब इस प्रकार का बोध होता है तो इदं (अयम्) शब्द तत् (सः) शब्द का विशेषण होता है और वह (सः) शब्दविशेष्य होता है। इस प्रकार परस्पर भेद व्यावर्तक होने से एवायम् (यह वही है) एवं 'अयमेव सः' (वह यही है) के रूप में सः और अयम् दोनों ही एक दूसरे के विशेषण एवं विशेष्य हो जाते हैं। इस प्रकार विशेषणविशेष्यसम्बन्ध के द्वारा देवदत्तरूप एक ही अर्थ का प्रतिपादन होता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में जब यह बोध होता है कि 'त्वम्' पदवाच्य अपरोक्षत्व-किंचिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तत्पदवाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं है, तो तत् शब्द का अर्थ त्वम्पदार्थनिष्ठ भेद का व्यावर्तक होने से विशेषण होता

है और त्वम्पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य होता है। इसी प्रकार जब यह बोध होता है कि तत्पदवाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य 'त्वम्' पदवाच्य अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चेतन्य से भिन्न नहीं है तो त्वम्पदार्थ तत्पदार्थनिष्ठ भेद का व्यावर्तक होने से विशेषण है और तत्पदार्थ व्यावर्त्य होने से विशेष्य है। इस प्रकार विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध के आधार पर तत् एवं त्वम् पदों के द्वारा चैतन्यरूप एक ही अर्थ का बोध होता है। तत् एवं त्वम् पदों द्वारा एक ही अर्थ का बोध होने से 'वही तू है' और 'तू ही वह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। अतः 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ के द्वारा जिस विरोध की प्रतीति होती है, उसका निराकरण उक्त विधि से लक्षणा मानने पर स्वयं हो जाता है। मधुसूदन सरस्वती प्रभृति अद्वैतवेदान्त के अनेक विद्वानों ने तत्त्वमसि के अखण्डार्थ बोध के सम्भव में जहदजहल्लक्षणा का ही समर्थन किया है।

वेदान्तपरिभाषाकार का मत

वेदान्तपरिभाषाकार ने स्वमतप्रतिपादन के सम्बन्ध में पहले पूर्वपक्षी के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस प्रकार 'आदित्यो यूपः' (यज्ञस्तम्भ सूर्यरूप है) तथा 'यजमानः प्रस्तरः' (यजमान दर्भमुष्टि स्वरूप है), इत्यादि वाक्यों में गौणरूप से यूप में आदित्य एवं दर्भमुष्टि में यजमान का व्यवहार होता है, उसी प्रकार जीव और परमात्मा का अभेद 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च', 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' आदि प्रमाणों से बाधित होने पर भी तत्त्वमसि इत्यादि में आदित्य एवं यूप तथा यजमान एव दर्भमुष्टि के परस्पर भेद की तरह तत्, त्वम् पदों के अर्थों में परस्पर भेद होते हुए भी गौण रूप से अभेद का व्यवहार हो जाता है। पूर्वपक्षी के मत का निराकरण करते हुए धर्मराजाध्वरीन्द्र का तर्क है कि 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के विरोध की शान्ति गौणार्थव्यवस्था के बिना स्वीकार किए ही सम्भव है। इस विद्वान् का कथन है कि व्यावहारिक भेद को सिद्ध करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ वास्तविक अभेद का बोध कराने वाले 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का कुछ भी विरोध नहीं है। अपने मत की पुष्टि में वेदान्तपरिभाषाकार, का कथन है कि 'तत्त्वमसि' में तत् एवं त्वम् पदों के भेद के साक्षात्कार में प्रत्यक्षादि दोषपूर्ण होने की संभावना हो सकती है, परन्तु वैदिक प्रमाण के सर्वथा निर्दोष होने के कारण उसमें दोषों की संभावना नहीं की जा सकती। अतः वेदजन्य ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों का बाध स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार तत् एवं त्वम् पदों का-अभेद प्रतिपादन, वेदप्रतिपाद्य होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतिपादित भेदप्रतिपादन की अपेक्षा प्रामाणिक होने के कारण स्वीकार्य है। यदि शास्त्र प्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण को बलवान् माना जाएगा, तब तो चन्द्रादि ग्रहों को अधिक परिमाण के ग्रहण करने वाले ज्योतिषशास्त्र का, चन्द्रादि प्रदेश मात्र दिखलाने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध होने लगेगा। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा शास्त्र प्रमाण को ही बलवान् माना जाना चाहिए। परन्तु पूर्वपक्षी की शंका है कि प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण का परस्पर उपजीव्योपजीवक भाव है। यदि शब्दप्रमाण को प्रत्यक्षप्रमाण की अपेक्षा बलवान् माना जाएगा तो उपजीव्योपजीवक भाव की स्थिति नहीं देखी जा सकती। पूर्वपक्षी की शंका का समाधान करते हुए वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि अग्निसंयोग से रक्त हुए घट में 'अयं रक्तो घटो न श्यामः' (यह रक्त घट श्याम नहीं है) इत्याकारक प्रतीति होती है। यहाँ वेदान्तपरिभाषाकार का

१. वेदान्त परिभाषा, सप्तम परिच्छेद।

कथन है कि 'सविशेषणे हि' न्यायनियम[1] के अनुसार जिस प्रकार कि पके हुए रक्त घट में 'सोऽयं घटो रक्तो न श्यामः' (वह यह घड़ा रक्त है, श्याम नहीं है) आदि स्थलों में श्यामता एवं रक्तता आदि धर्मों के भेद होने से भी धर्मी विशेष्य मात्र घटादि का अभेद होने से, उक्त वाक्य का केवल श्यामत्व एवं रक्तता आदि धर्म भेद ही में तात्पर्य सिद्ध होता है, उसी प्रकार जीव एवं परमात्मा के भेद के साधक प्रत्यक्ष का भी, उसके (प्रत्यक्ष के) विशेषणीभूत अल्पज्ञत्व एवं सर्वज्ञत्वादि धर्मों का अवगाहन करने वाला होने से अर्थात् 'नाहं ईश्वरः' इत्यादि प्रत्ययों का केवल विशेषण मात्र में उपक्षीण होने से, केवल विशेष्य भाग में अभेद के बोधक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यार्थ के साथ कुछ विरोध नहीं है। अतः 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' दुःखी हूँ', संसारी हूँ इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर तत् एवं त्वम् पदार्थों की भेद-योजना अनुचित कही जाएगी।[2]

उपर्युक्त विवेचन के अनुरूप प्रत्यक्ष का निराकरण होने पर पूर्वपक्षी का यह कहना कि जीव और ईश्वर किंचिज्ज्ञत्वादि एवं सर्वज्ञत्वादि विरुद्ध धर्मों से आक्रान्त होने के कारण तथा प्रकाश एवं अन्धकार के सामान विरुद्ध धर्मवाले होने के कारण परस्पर भिन्न हैं, इत्यादि अनुमान के अनुसार जीव एवं ईश्वर में परस्पर भेद होने के कारण तत् एवं त्वम् पदों के अर्थों में भेद निश्चित है, यह अयुक्त है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाएगा तो 'मेरुपाषाणमयः पर्वतत्वाद् विन्ध्यादिवत्' (विन्ध्यादि के समान पर्वत होने के कारण सुमेरु पर्वत भी पाषाणयुक्त है) आदि अनुमान भी प्रामाणिक कहलायेंगे, परन्तु उक्त अनुमानवाक्य आगमप्रमाण से बोधित होने के कारण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार 'जीवेश्वरौ परस्परभिन्नौ' आदि अनुामन वाक्य भी आगमबाधित होने के कारण अप्रामाणिक हैं। वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि आगमान्तर के साथ तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का विरोध नहीं है,[3] क्योंकि तत्पर एवं अतत्पर वाक्यों में से तत्पर वाक्य के बलवान् होने के कारण 'तत्त्वमसि' में भेद के अनुवादक 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि आगम वाक्यों से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की ही प्रबलता है। क्योंकि उपक्रम-उपसंहारादि षड्विध लिंगों के अनुरोध से अद्वैत में ही तात्पर्य निश्चित होता है। इस प्रकार वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थों के विरोध का परिहार जहदजहल्लक्षणा के द्वारा न करके उपर्युक्त तर्क-तथ्यों के आधार पर किया है।

अद्वैतवेदान्त एवं पाश्चात्य दार्शनिक तथा उनके सिद्धान्त

शोपेनहर, सर विलियम जोन्स, विक्टर कजिन और फ्रेड्रिक श्लेगिल आदि पाश्चात्य विद्वानों

---

१. वेदान्तपरिभाषाकार द्वारा निर्दिष्ट 'सविशेषणे हि' इस न्याय के अनुसार विशेषणविशिष्ट में प्रवृत्त होने वाले विधि-निषेध रूप वचनों का यदि विशेष्य भाग में बाध प्रतीत हो तो वह विधि-निषेध विशेषण भाग मात्र में प्रवृत्त होकर शान्त हो जाता है।

२. विशेष देखिए—वेदान्तपरिभाषाकार, सप्तम परिच्छेद।

३. अत एव च नानुमानमपि प्रमाणम्, आगमबाधात्, मेरुपाषाणमयत्वानुमानवत्। भाष्यानुमान्तरविरोधः तत्परातत्परवाक्योस्तत्परवाक्यस्य बलवत्त्वेन लोकसिद्धभेदानुवादिद्वासुपर्णादिवाक्यापेक्षया उपक्रमोप-संहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य प्रबलत्वात्। —वेदान्तपरिभाषा, सप्तमपरिच्छेद।

ने वेदान्तदर्शन का महत्त्व निःसंकोच भाव से स्वीकार किया है।[1] इसके अतिरिक्त टामलिन-प्रभृति पाश्चात्य आलोचकों ने काण्ट आदि पाश्चात्य दार्शनिकों पर शांकरदर्शन (अद्वैतवेदान्त) का प्रभाव भी स्वीकार किया है। टामलिन महोदय काण्टीय दर्शन पर शांकरदर्शन का प्रभाव स्वीकार करते हुए लिखते हैं :

> "शांकरदर्शन की दिशा लगभग वही थी जिसको उत्तरकाल में जाकर जर्मन दार्शनिक काण्ट ने अपनाया था[2]।"

उपर्युक्त कथन के आधार पर यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि पाश्चात्य आलोचक विद्वानों ने भी पाश्चात्य दर्शन पर अद्वैतवेदान्त का प्रभाव स्वीकार किया है। वैसे तो, अनेकों पश्चिमी दार्शनिकों पर भारतीय दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है, परन्तु इस स्थल पर हमारे अध्ययन की दिशा पाश्चात्य दर्शन पर अद्वैतवेदान्त का प्रभाव एवं सम्बन्ध देखना है। इस दृष्टि से हम यहाँ देकार्त, स्पिनोजा, लाइब्निज, वर्कले, काण्ट, फिक्ते, शेलिंग, हेगल तथा शोपेनहर के दार्शनिक सिद्धान्तों का अद्वैतवेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा उपर्युक्त पश्चिमी दार्शनिकों के सिद्धान्तों पर अद्वैतवेदान्त का प्रभाव स्पष्ट हो जायेगा।

देकार्त (Descartes) (१५९६-१६५०) और अद्वैतवेदान्त

फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्त एक महान् गणितज्ञ भी था। गणित की नियमित प्रक्रियाओं के समान ही उसने दर्शन के क्षेत्र में भी एक नियमबद्ध प्रक्रिया को ही स्वीकार किया था।[4] उसका कहना था कि हम ईश्वर और जगत् के अनेक विषयों के बारे में संदेह करते हैं, अतः सन्देह एक निश्चित वस्तु है। इस तर्क के आधार पर देकार्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जिस आत्मा के विषय में हम सन्देह करते हैं उसकी सत्ता स्वतःसिद्ध है। देकार्त के Cogito, ergo sum (मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ) वाक्य में उक्त सिद्धान्त की ही व्याख्या हुई है। प्रतीति को सत्य मानने के कारण देकार्त ईश्वर तथा जगत् को ही सत्य मानता था।[5] देकार्त एक द्वैतवादी दार्शनिक था। सृष्टि के सम्बन्ध में देकार्त का कथन है कि ईश्वर ने प्रारम्भ में गति और विश्राम के साथ भौतिक तत्त्वों, अर्थात् प्रकृति को उत्पन्न किया। ईश्वर ने प्रकृति में जिस गति का संचार किया उसे उसी मात्रा में रखने के लिए ईश्वर की आज भी आवश्यकता है, यह सिद्धान्त देकार्त को मान्य था।[6] इस प्रकार देकार्त के अनुसार ईश्वर की सक्रियता सदा अपेक्षित थी।

---

१. *Max Muller* : Three Lectures on the Vedānta Philosophy, p. 8-11.

२. The Great Philosophers, (The Eastern World), p. 218. (Skeffington-London 1952, first edition).

३. *Radhakrishnan* : East and West, p. 99 (London : Allen & Unwin, 1954)

४. राहुल सांकृत्यायन : दर्शनदिग्दर्शन, पृ० ३०६।

५. वही, ३०६।

वैसे तो, जैसा कि अभी कहा गया है, देकार्त एक द्वैतवादी दार्शनिक था, परन्तु उसका उपर्युक्त विचार कि 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। अद्वैत-वेदान्त के अन्तर्गत भी आत्मा के अस्तित्व का समर्थन किया गया है। दूसरे शब्दों में, अद्वैतवेदान्त में आत्मा के अभाव एवं शून्यत्व का निराकरण किया गया है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अनुसार सभी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं ! कोई नहीं मानता कि मैं नहीं हूँ। शंकराचार्य के परवर्ती दार्शनिक वाचस्पति मिश्र के निम्नोद्धृत कथन में उपर्युक्त आशय पूर्ण रूप से निहित है :

"नहि कश्चित् सन्दिग्धो नाहमस्मीति।"[1]

अर्थात् मैं नहीं हूँ, इस बात का सन्देह कोई भी नहीं करता।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अद्वैतवेदान्त और देकार्त की दार्शनिक दृष्टि में प्रमुख भेद होते हुए भी कुछ विचारों के सम्बन्ध में साम्य मिलता है।

स्पिनोज़ा (१६३२-७७ ई०) और अद्वैतवेदान्त

बारुच दे स्पिनोजा हालैण्ड के एक समृद्ध परिवार में उत्पन्न हुआ था। स्पिनोजा ने पहले इब्रानी और फिर फ्रेंच दार्शनिक देकार्त के ग्रन्थों का अध्ययन किया था और इसके पश्चात् वह दर्शन के स्वतन्त्र चिन्तन में लग गया था। स्पिनोजा पहला दार्शनिक था जिसने लोकोत्तरवाद तथा धर्मरूढ़िवाद का खण्डन करके बुद्धिवाद तथा प्रकृतिवाद का समर्थन किया था। इसीलिए स्पिनोजा प्रकृति को ईश्वर-रूप मानता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रकृति को ईश्वर-रूप मानते हुए भी स्पिनोजा प्रकृति को मानव-सत्ता से भिन्न मानता था।[2] उसका कहना था कि जगत् की अच्छी और बुरी, नीच और ऊँच, प्रत्येक वस्तु पूर्णतया ईश्वर का ही अंश है। वस्तुओं की सुन्दरता और कुरूपता, सुस्पष्टता तथा अस्पष्टता का आधार स्पिनोजा की दृष्टि में हमारी कल्पना ही है।[3]

स्पिनोजा सर्वेश्वरवादी दार्शनिक था। सर्वेश्वरवाद के अनुसार कहना था कि सब ईश्वर है और ईश्वर ही सब है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में स्पिनोजा का कथन है कि जगत् के समस्त पदार्थ एक-दूसरे पर आश्रित हैं और इन समस्त पदार्थों का एक आधार भी है। यह आधार उसकी दृष्टि में प्रकृति या ईश्वर है। स्पिनोजा के अनुसार, ईश्वर जगत् का बाह्य अथवा क्षणिक कारण नहीं है, वरन् वह उपादानकारण है तथा उसकी वास्तविक सत्ता है। ईश्वर के अनन्त धर्म हैं। इन धर्मों में विस्तार तथा ज्ञान प्रमुख है। इसके अतिरिक्त स्पिनोज़ा के ईश्वर का देहधारी व्यक्तित्व नहीं है, उसका व्यक्तित्व तो समस्त व्यक्तित्वों से ऊपर है। यदि हम अद्वैतवेदान्त पर स्पिनोज़ा की दार्शनिक विचारधारा के तुलनात्मक

---

१. बलदेव उपाध्यायः भारतीय दर्शन, पृ० ६२८।

२. The Ethics of Spinoza & De Emenda Tiene, p. VII (New York : Dutton & Co, 1930).

३. Only in relation to our imagination can things be called beautiful and ugly, well or discreet or confused. Letter XV (VAN VLOTE & LAND. XXXII) addressed to Oldenburg, Nov. 20, 1665.

अध्ययन की दृष्टि से विचार करें तो हमें दोनों विचारधाराओं में बहुत-कुछ साम्य भी मिलता है और वैषम्य भी। साम्य के लिए अद्वैतवेदान्त के ब्रह्म और स्पिनोज़ा के 'स्वतन्त्र तत्त्व' (Substantia) को ले सकते हैं। यही स्वतन्त्र तत्त्व स्पिनोज़ा का ईश्वर है। स्पिनोज़ा द्वारा स्वीकृत यह स्वतन्त्र तत्त्व अपने में पूर्ण तथा किसी दूसरे पर आधारित न होने के कारण स्वतन्त्र है।[१] स्पिनोज़ा ने उक्त स्वतन्त्र तत्त्व को स्वतन्त्र तथा स्वतः सिद्ध (In se est and per se concipitur) माना है। स्पिनोज़ा के अनुसार उक्त तत्त्व असीम, अविभाज्य, अद्वैत, स्वतन्त्र तथा आनन्द-रूप है। इसी प्रकार शांकरवेदान्त और उपनिषद्-दर्शन का ब्रह्म भी अजात, अविनाशी, अनन्त, पूर्ण, अचल, शान्त तथा दोषरहित है।[२] इस सम्बन्ध में मैक्समूलर का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है:

"Thus the Brahman, as conceived in the Upaniṣads and defined by Śaṅkara is clearly the same as Spinoza's 'Substantia'."[3]

अर्थात् उपनिषदों और शंकराचार्य ने जिस प्रकार ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, वह स्पष्ट रूप से वैसा ही है जैसा कि स्पिनोज़ा का 'सबस्टेण्शिआ' अर्थात् 'स्वतन्त्र तत्त्व'।

शंकराचार्य की तरह स्पिनोज़ा भी व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य के बीच अन्तर स्वीकार करता था। प्राचीन भारतीय (वेदान्तिक) और ग्रीक दार्शनिकों की तरह स्पिनोज़ा का विचार था कि वास्तविक आनन्द मनुष्य की साधारण आकांक्षाओं जैसे—सम्पत्ति, सम्मान या तृष्णा तथा इन्द्रियों के आनन्द में नहीं है। उक्त भौतिक प्रसन्नताओं को स्पिनोज़ा अस्थिर, विनाशशील तथा प्रवंचनामय मानता था। इस प्रकार स्पिनोज़ा उपर्युक्त वस्तुओं की केवल क्षणिक सत्यता स्वीकार करता था।[४] इसी प्रकार अद्वैतवेदान्त के अनुसार भी व्यावहारिक जगत् की केवल क्षणिक सत्यता है। इसीलिए अद्वैतवेदान्त में परमार्थ सत्य की स्थापना की गई है। स्पिनोज़ा ने भी व्यावहारिक जगत् के आकर्षणों में परम आनन्द न देखकर अपने ईश्वर में परम सत्य की स्थापना की थी। यही कारण था कि स्पिनोज़ा ईश्वर को परिपूर्ण, अद्वैत, आनन्द, सर्वव्यापक तथा सम्पूर्ण विश्व के स्रष्टा के रूप में देखता था। इसके अतिरिक्त स्पिनोज़ा ईश्वर को अन्तर्यामी तो मानता था, परन्तु जैसा कहा जा चुका है, वह ईश्वर को वस्तुओं का अनित्य कारण नहीं मानता था।

---

१. Spinoza Ethics, part 1, p. 1 (Dutton & co., New York).

२. It is according to him infinite, indivisible, one, free and eternal, just as Śaṅkara's Brahman is called in the Upaniṣads unborne, undecaying, undying, without parts, without action, tranquil, without fault or taint. *Max Muller* : Three Lectures of the Vedānta Philosophy, p. 123 (Longmans Green, London, 1894).

३. *Max Muller* : Three Lectures of the Vedānta Philosophy, p. 123.

४. *Vasudeva J. Kirtikar* : Studies in Vedānta p. 20. (Taraporevala, Bombay, 1924)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि स्पिनोज़ा की ईश्वर सम्बन्धी विचारधारा बहुत-कुछ अद्वैतवेदान्त के समान ही थी। दोनों विचार-दृष्टियों में समानता होते हुए भी एक विषमता यह थी कि अद्वैत-स्वीकृत ईश्वर और ब्रह्म का भेद स्पिनोज़ा को मान्य नहीं था। स्पिनोज़ा तो प्रकृतिगत एक ही ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता मानता था और उसे ही वह सर्वव्यापी स्वीकार करता था। हमारे अद्वैतवेदान्त में यह विचार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के विचार के रूप में प्रकट हुआ था। एक और दृष्टि से अद्वैतवेदान्त और स्पिनोज़ा के विचार में साम्य था। अद्वैती शंकराचार्य और स्पिनोज़ा, दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियानुभूत नानारूपात्मक जगत् एक दिखावट है और एक सीमित ज्ञान का फल है। जैसे ही वास्तविक ज्ञान होता है, पूर्वज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।[1]

लाइब्निज़ (१६४६-१७१६ ई०) और अद्वैतवेदान्त

गोटफ्रीड विल्हेल्म लाइब्निज़ (Gott fried Wilhelm Leibniz) लिब्जिक (जर्मनी) का रहने वाला था। लाइब्निज़ का प्रधान दार्शनिक सिद्धान्त आत्मकणवाद या शक्त्यणुवाद (Monadism) था। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् के भौतिक पदार्थ वस्तु-सत्य नहीं हैं। उसके अनुसार यह मन के अनुभव के दिखावे मात्र हैं। अतः लाइब्निज के मत में आत्मकण (Monads) ही एकमात्र वस्तु-सत्य हैं। यहाँ यह उल्लेख्य है कि जहां स्पिनोज़ा एक स्वतन्त्र और स्वतःसिद्ध तत्त्व को स्वीकार करता था, वहाँ लाइब्निज उक्त तत्त्व को एक न मानकर अनन्त मानता था और इन्हें वह आत्मकण कहता था।[2] लाइब्निज अनेकजीववादी था। उसके द्वारा स्वीकृत आत्मकण, जीवों के भी रूप थे।[3] जिस प्रकार जीवों में भेद मिलता है, उसी प्रकार आत्मकणों के विकास में भी भेद है। इनमें कुछ सुप्त से हैं, कुछ स्वप्नावस्था की चेतना जैसे हैं, और कुछ पूर्णतया जाग्रत् चेतना-जैसे हैं।[4] ईश्वर को लाइब्निज सर्वोच्च आत्मकण मानता है। उसे वह सर्वोच्च तथा परिपूर्ण मानता है। इस प्रकार ईश्वर की सम्भवता और सत्ता में लाइब्निज को तनिक भी सन्देह नहीं है।[5]

वैसे तो आत्मकणों की संख्या अनेक मानने के कारण लाइब्निज द्वैतवादी है परन्तु अद्वैत-वेदान्त और स्पिनोज़ा[6] की इस विचारधारा में सादृश्य है कि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं है। इसीलिए

---

१. *N. Shastri* : A Study of Śaṅkara, p. 96 (Calcutta, 1942).
२. Thus in place of the one substance of Spinoza, Leibniz came to admit infinite number of substances which he called 'Monads'. (Dr. *Nikunja Behari Banarjee's* article on 'Rationalism', p. 216. Published in 'History of Philosophy', Vol. II, edited by Dr. *Radhakrishnan*).
३. History of Philosophy, Vol. II. p. 216.
४. राहुलसांकृत्यायन : दर्शनदिग्दर्शन, पृ ३०७।
५. *Leibniz* : The Monodology (Translated by Dr. Robert Latter, Oxford Clarendon, p. 275-276).
६. *Leibniz* : Principles of Nature & Grace, p. 422 (Translated by Dr. *Robert Latter*, Oxford Clarendon, 1892).

परमेश्वर कृष्ण ने भी अर्जुन को अपने परमेश्वर रूप के दर्शन कराने के लिए स्थूल नेत्रों की अयोग्यता देख दिव्य दृष्टि प्रदान की थी।[१]

अद्वैतवेदान्त की 'माया' और लाइब्निज़ का 'मैटेरिया प्राइमा' (Materia Prima) का सिद्धान्त

'माया' सम्बन्धी सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। माया सम्बन्धी सिद्धान्त का सैद्धान्तिक प्रतिपादन शंकराचार्य ने किया था। इस विषय में, अद्वैती की माया और लाइब्निज के मैटेरिया प्राइमा (Materia Prima) में समानता है कि माया और 'मैटेरिया प्राइमा' दोनों ही अनन्त परमेश्वर के आत्मसाक्षात्कार में बाधक हैं।[२] शांकरदर्शन के अनुसार जीव के आत्मस्वरूप के बोध होने में माया बाधक है। माया के ही कारण जीव की जीवता है, अन्यथा तो अपने वास्तविक स्वरूप में जीव ब्रह्म ही है–'जीवो ब्रह्मैव नापरः'। परन्तु लाइब्निज की प्रक्रिया इससे कुछ भिन्न है। वह तो यही कहता है कि आत्मकण, 'मैटेरिया प्राइमा' के कारण ईश्वर नहीं हो पाता।[३] आत्मकरण से मैटेरिया प्राइमा का सम्बन्ध अमिट तथा अनन्त है। इसीलिए एर्डमैन ने कहा है–

> "From it, God himself has not the Power to free the monads."[४]

अर्थात् स्वयं ईश्वर में भी आत्मकणों को 'मैटीरिया प्राइमा' से मुक्त कराने की सामर्थ्य नहीं है। यहाँ लाइब्निज़ और अद्वैतवेदान्त का यह वैषम्य द्रष्टव्य है कि जहाँ लाइब्निज के दर्शन में मैटीरिया प्राइमा का आत्मकण से अनन्त सम्बन्ध माना गया है, वहाँ अद्वैतवेदान्त में ज्ञान होने पर अविद्या की निवृत्ति सम्भव है। अद्वैतवेदान्त में अविद्या अनादि होने पर भी सान्त है।[५]

लाइब्निज़ का यह कथन कि ईश्वर महान् आनन्द प्रदान करता[६] है, अद्वैतवेदान्त के बहुत समीप है, क्योंकि अद्वैतियों का ब्रह्म भी आनन्द स्वरूप है। इसीलिए अद्वैतवदेन्त का पर्यवसान आनन्द में ही होता है। लाइब्निज़ और अद्वैतवेदान्त की विचारधारा में एक बड़ा वैषम्य यह है कि लाइब्निज़ के मतानुसार परमानन्द कभी पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर अनन्त होने के कारण पूर्ण रूप से

---

१. शां भा०, गीता ११।८।

२. Māyā & Materia Prima agree in this respect that both of them hinder the self realisation of the finite. (*A.K. Ray Chaudhuri*. The Doctrine of Māyā, p. 177.)

३. He simply says that the Monad due to the Materia Prima fails to become God. (*A.K. Ray Chaudhuri* : The Doctrine of Māyā, p. 178.)

४. *A.K. Ray Chaudhuri* : The Doctrine of Māyā, p. 178 से उद्धृत।

५. अनन्तकृष्णशास्त्री : अद्वैततत्त्वसुधा, भूमिका (द्वितीयभाग, प्रथम संपुट) पृ ४३, तारा मुद्रणालय, वाराणसी, १९६२।

६. *Leibniz* : Principles of Nature and Grace, p. 422.

नहीं जाना जा सकता।[1] इसके विपरीत अद्वैतवेदान्त में जीव अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर ब्रह्मता को प्राप्त हो जाता है और ब्रह्म पूर्ण आनन्द स्वरूप है। इसीलिए अद्वैतवेदान्त के परवर्ती आचार्य चित्सुख अविच्छिन्नानन्द प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं।[2] .

अतः उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचें कि अद्वैतवेदान्त और लाइब्निज़ के दार्शनिक सिद्धान्तों में परस्पर साम्य होते हुए भी कतिपय स्थलों पर वैषम्य भी मिलता है।

बर्कले (१६८५-१७५३ ई०) और अद्वैतवेदान्त

आयरलैण्ड के दार्शनिक जार्ज बर्कले का अध्यात्मवादी सिद्धान्त जड़ देहवाद के विरोध के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। दार्शनिक बर्कले ने यह सिद्ध किया था कि बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है। इसके विपरीत विचारों की सत्ता केवल मस्तिष्क में विचार रूप से स्थित है।[3] इसीलिये इस दार्शनिक का विचार है कि जिस वस्तु की अनुभूति होती है उसी की सत्ता है।

बर्कले का विचार है कि ईश्वर ने ही वस्तुओं और उनके अवान्तर प्रत्ययों का सम्बन्ध स्थापित किया है। अतः बर्कले की दृष्टि में ईश्वर, उसके द्वारा सृष्ट जीव एवं अनेक प्रत्यय ही सत्य हैं। इसके अतिरक्त बाह्य वस्तुओं की सत्यता बर्कले को स्वीकार नहीं है।

अद्वैतवेदान्त और बर्कले की विचारधारा की यदि तुलना की जाए तो दोनों में कई सिद्धान्तों के सम्बन्ध में साम्य मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बर्कले के अनुसार विज्ञान के अतिरिक्त जगत् की बाह्य वस्तुओं की सत्यता नहीं है। यही बात अद्वैतवादी शंकराचार्य ने भी कही है। शंकराचार्य कहते हैं कि जिस वस्तु का ज्ञान नहीं होता उस वस्तु की बाह्य सत्ता भी नहीं होती। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य ने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं–

> **"यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वं वस्तुत्वं भवति । किंचिन्न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्।** (प्रश्नोपनिषद् , शंकराभाष्य ६।२)

अर्थात् जैसा-जैसा पदार्थ जाना जाता है वैसा-वैसा ही जाना हुआ होने के कारण उस पदार्थ का स्वरूप होता है। इसीलिए यह कथन कि अमुक वस्तु जानी नहीं गई, उचित नहीं है। इस प्रकार शंकराचार्य और बर्कले दोनों ही ज्ञान की सत्यता को स्वीकार करते हैं। परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि शंकराचार्य ज्ञान की सत्यता स्वीकार करते हुए भी बाह्य जगत् को अभाव रूप या वन्ध्या-पुत्र के समान मिथ्या नहीं मानते।

---

१. वही, पृ० ४२४।

२. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ५२८।

३. Prof. *G.C. Chatterji's* article 'Empericism' (History of Philosophy, Vol. II, p. 231).

बर्कले और दृष्टि-सृष्टिवाद

बर्कले का उक्त मत वेदान्त के दृष्टि-सृष्टिवाद से भी बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्त के अनुसार दृष्टि ही विश्वसृष्टि है। इस प्रकार स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूपता दृष्टि ही प्रपंच की सृष्टि है। अतः दृष्टि-समकालिक अन्य प्रपंच भी सृष्टि नहीं हैं। इस दृष्टि-सृष्टिवाद का समर्थन वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द ने भी किया है।[1] इस सिद्धान्त के अनुसार जैसा कि प्रकाशानन्द ने कहा है–सकल जगत् की सत्ता आत्मा में ही है।[2] बर्कले भी जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बाह्य जगत् की सत्यता को अस्वीकार करके, केवल ज्ञान जगत् की सत्यता को ही स्वीकार करता है। इस प्रकार बर्कले और दृष्टिसृष्टिवादी, दोनों के ही अनुसार जगत् का आधार ज्ञान है।

काण्ट (१७२४–१८०४ ई०) और अद्वैतवेदान्त

जर्मन दार्शनिक काण्ट ने मानसिक शक्तियों की समीक्षा के लिये तीन ग्रन्थ लिखे थे :

(१) Critique of pure reason; (२) Critique of practical reason; (३) Critique of Judgement.

इन ग्रन्थों में काण्ट ने दो प्रकार की शक्तियाँ मानी हैं–एक इन्द्रियशक्ति और दूसरी बुद्धिशक्ति। इन्द्रियशक्ति भिन्न-भिन्न एवं असम्बद्ध संवेदनों की प्रस्तुतकर्त्री है और बुद्धिशक्ति प्रस्तुत की गयी संवेदनशक्ति में विभिन्न सम्बन्धों की स्थापिका है। बुद्धिशक्ति का यही सम्बन्ध-स्थापन अनुभव का मूल है। काण्ट की दृष्टि से अनुभवों के दो भेद हो सकते हैं–अनुभव का एक तत्त्व द्रष्टा के बाहर रहने वाला बाह्य जगत् है और दूसरा तत्त्व बुद्धि है। इस प्रकार काण्ट ने प्रत्येक अनुभव में उक्त दोनों तत्त्वों का समन्वय करके अनुभववाद तथा बुद्धिवाद का सामंजस्य स्पष्ट किया है।

काण्ट ने अनुभव-निरपेक्ष और अनुभव-सापेक्ष दो प्रकार की वस्तुसत्ताएँ मानी है। देश और काल, द्रव्य, गुण, कार्य-कारण आदि सम्बन्धों के ज्ञान की गणना पहली श्रेणी में की जाती है। इन्द्रियों के द्वारा जिन पदार्थों को प्रस्तुत किया जाता है उनकी सत्ता का परिचायक अनुभव ही होता है। यही अनुभव-सापेक्ष स्थिति है। काण्ट के अनुसार, प्रज्ञान में शुद्ध वस्तु (Ding-an-sich-thing in itself) के प्रकट होने की शक्ति नहीं है; यही कारण है कि काण्ट की दृष्टि में शुद्ध वस्तु (Thing in itself) का बोध होना असम्भव है।[3] इसीलिए वह वस्तुसार (Nomena) को अज्ञेय मानता है। ईश्वर को काण्ट बुद्धि तथा अनुभव दोनों की पहुँच से बाहर स्वीकार करता है। वह ईश्वर की सत्ता श्रद्धा पर आधारित मानता है। इसलिए काण्ट की दृष्टि में सर्वोच्च तत्त्व (ईश्वर) एक विचारमात्र है। अतः काण्ट का विचार है कि सर्वोच्च सत्ता (ईश्वर) की वास्तविक सत्यता की स्थापना केवल इस तत्त्व

---

१. अप्पयदीक्षित, सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ३६२।

२. आत्मन्येव जगत् सर्वम्।–वे० सि० मु० २३ (कलकत्ता, १६३७)।

३. *H.J. Paten*. Kant's Metaphysics of Experience, Vol. I. p. 64 (London, Allen & Unwin, 1951).

के आधार पर करना बहुत कठिन है कि वह (ईश्वर) एक तर्कसम्बन्धी आवश्यकता है।[१]

काण्ट और अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य भी मिलता है और वैषम्य भी। अद्वैती शंकराचार्य और काण्ट के दार्शनिक सिद्धान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध विचारयोग्य है। काण्ट और शांकरवेदान्त दोनों ही के अनुसार ईश्वर जगत् का आधार है।[२] आत्मा के शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान की स्थिति के सम्बन्ध में भी काण्ट और अद्वैतवेदान्त की विचारधारा में सादृश्य है।[३] इस विषय में तो काण्ट और शंकराचार्य ही नहीं, बौद्धों का भी ऐकमत्य है कि ज्ञान की निर्विकल्प अवस्था (Indeterminate state) शुद्ध अनेकरूपता (Pure manifold) की अवस्था है।[४] सविकल्प ज्ञान के विषय जगत् के समस्त विकल्पों की सत्ता बाह्य है। शुद्ध अनेकरूपता ही आकार ग्रहण करके जगत् की व्यावहारिक सत्ता का कारण बनती है।[५] जैसा कि डॉक्टर दास का कथन है, यहाँ तक तो काण्ट, शंकर और बौद्धों में भी ऐकमत्य है,[६] परन्तु आगे चलकर इन दार्शनिकों की विचारधारा में मतभेद हो जाता है। काण्ट का विचार है कि इन्द्रिय-संवेदन की अनेकरूपता शुद्ध वस्तुओं (Things in themselves) की क्रिया से उत्पन्न होती है। काण्ट कहता है कि यह शुद्ध वस्तुएँ यद्यपि चैतन्य तत्त्व से भिन्न हैं, परन्तु सीमापारी होने के कारण इनकी सत्यता में चैतन्य तत्त्व की अपेक्षा कोई न्यूनता नहीं है। इसके विपरीत शांकर विचारधारा के अनुसार जगत् की अनेकरूपता चैतन्य में उत्पन्न हुआ ही विकल्प है।[७] शांकरवेदान्त में इस विकल्प का कारण अध्यास अथवा माया है। परन्तु आचार्य शंकर की माया काण्ट की शुद्ध वस्तुओं की तरह सत्य नहीं है। शांकरवेदान्त की माया तो अचेतन तथा मिथ्या है। जैसा कि प्रो० पैटन का विचार है : व्यावहारिक जगत् जो कि ज्ञात है, और शुद्ध वस्तु-जगत् (World of things in themselves) जो कि अज्ञात है, के बीच भेद स्थापित करना काण्ट के दर्शन का मूल सिद्धान्त है।[८] प्रो० पैटन के उक्त कथन के अनुसार काण्ट ने दो प्रकार की सत्ताएँ मानी हैं–एक व्यावहारिक सत्ता और

---

१. *Kant* : Critique of Pure Reason, p. 364. Translated by J.M.D. Meiklejohn, London, G.Ball & Sons, 1930).

२. *E. Caird* : Philosophy of Kant, p. 164 (Glasgow, James Maclepose, 1877).

३. *Ranade* : Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy, p. 269.

४. In the first instance we can class together the Buddhists Sankara and Kant so far as they agree in holding the indeterminate state to be a pure manifold.–*Dr. S.K. Das* A Study of Vedānta, p. 146 (University of Calcutta, 1937).

५. *Dr. S.K. Das* : A Study of Vedānta, p. 146.

६. वही, पृ० १४६।

७. *Dr. S.K. Das* : A Study of Vedānta, p. 146.

८. *H.J. Patan* : Kant's Metaphysics of Experience, Vol. I, p. 64.

दूसरी वस्तुसारात्मक सत्ता (Noumenal reality)।[1]

प्रो० रानाडे ने काण्ट द्वारा स्वीकृत उक्त दोनों सत्ताओं को शंकराचार्य की व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओं के समान ही कहा है।[2] यहाँ यदि गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाये तो काण्ट की वस्तुसारात्मक सत्ता (Noumenal reality) और शंकराचार्य की पारमार्थिक सत्ता में भेद दिखाई पड़ता है। आचार्य शंकर ने जिसकी पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार किया है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है तथा अविद्या-निवृत्ति के द्वारा उसका बोध सम्भव है। यहाँ यह अवश्य उल्लेखनीय है कि ब्रह्मज्ञान स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं है। परन्तु इससे यह अर्थ कदापि न लगाना चाहिए कि ब्रह्मज्ञान होता ही नहीं है। यदि ऐसा हुआ होता तो वेदान्तसूत्रकार महर्षि बादरायण अपने प्रथम सूत्र– "अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा" में ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रश्न ही क्यों उठाते। इसके विपरीत, दार्शनिक काण्ट का वस्तुसार (Noumena) अज्ञात होने के कारण कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता।[3] काण्ट के अनुसार वह केवल विश्वास का विषय है। अतः काण्ट की वस्तुसारात्मक सत्ता (Noumenal reality) और शंकराचार्य की पारमार्थिक सत्ता में उपर्युक्त भेद द्रष्टव्य है। मेरे विचार से काण्ट की वस्तुसारात्मक सत्ता को अज्ञात एवं अप्राप्तव्य कहना काण्ट के दर्शन की दुर्बलता है। यही कारण है कि जर्मनी के विचारवादी दर्शन ने काण्ट की अज्ञात शुद्ध वस्तु (Unknown thing itself) की अवहेलना की थी। काण्ट के दर्शन की उपर्युक्त दुर्बलता के कारण ही इंग्लैंड के नवीन काण्टवादियों ने काण्ट के दर्शन के उक्त दृष्टिकोण की उपेक्षा की थी।[4]

जैसा कि डाक्टर राधाकृष्णन् का विचार है : अद्वैती शंकराचार्य और काण्ट की परमार्थ सत्य सम्बन्धी विचारधारा में यह महान् अन्तर है कि जहाँ काण्ट शुद्ध वस्तुओं की अनेकता (Plurality of things in themselves) में विश्वास करता है वहाँ आचार्य शंकर केवल एक मूल सत्य (ब्रह्म) की घोषणा करते हैं।[5]

---

१. *E. Caird* : The Philosophy of Kant, p. 403.

२. Śaṅkara makes the great distinction between the Pārmārthika and Vyāvahārika views of reality as Kant makes the distinction between the Noumenal and the phenomenal (Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy, p. 125).

३. Consistently with his method he arrived at the absurb finding that the Noumenon, the supreme reality, the thing in itself is unknown and unknowable.–*N. Shastri*, A Study of Śaṅkara. p. 50.

४. Kant's Metaphysics of Experience, Vol. I, p. 65.

५. While Kant believes in a plurality of things in themselves, Śaṅkara declares that there is only one fundamental reality. (*Dr. S. Radhakrishnan*, Indian Philosophy, Vol. II, p. 522.

इस प्रकार विचार करने पर अद्वैतवेदान्त और काण्ट के दार्शनिक दृष्टिकोण में साम्य और भेद दोनों ही मिलते हैं। परन्तु दोनों में भेद होते हुए भी इतना तो स्वीकार्य होगा कि काण्ट अद्वैतवेदान्त, विशेषतः शांकरवेदान्त से पूर्णतया प्रभावित हैं। इस प्रभाव का संकेत प्रो० टौमलिन ने भी किया है।[1]

फिक्ते (Fichte) (१७६५-१८१४ ई०) और अद्वैतवेदान्त

जर्मन दार्शनिक फिक्ते ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों–काण्ट और स्पिनोज़ा के दार्शनिक सिद्धान्तों का समन्वय किया था। फिक्ते जहाँ काण्ट की तरह नैतिक आदर्श को स्वीकार करता है, वहाँ स्पिनोज़ा के समान व्यवहार और परमार्थ की एकता को भी स्वीकार करता है। फिक्ते जगत् को मूल तत्त्व की प्रतिलिपि या अनुकरण मात्र मानता है। फिक्ते की दृष्टि में मूल तत्त्व आत्मा है और इस आत्मा में ही अनात्म की स्थिति है।[2] इस प्रकार आत्मा में फिक्ते विषय-विषयिभाव मानता है, क्योंकि फिक्ते के अनुसार आत्मा विषयी तथा अनात्म विषयरूप है।

ईश्वर, फिक्ते के विचार से अद्वितीय सत्ता है।[3] फिक्ते की दार्शनिक दृष्टि अद्वैतवेदान्त की विचारदृष्टि से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फिक्ते के विचार से ईश्वर एक अद्वितीय सत्ता है। अतः फिक्ते के ईश्वर और अद्वैतवेदान्त के ब्रह्म का प्रायः एक-सा ही रूप है। अद्वैती के विवर्तवाद के अनुसार अनात्म-जगत् ब्रह्म का विवर्त है, अर्थात जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है। इसी प्रकार फिक्ते के दर्शन में भी विषयरूप अनात्म जगत् की स्थिति विषयी परमात्मा से पृथक् नहीं है। अतः दोनों ही अद्वैतवादी हैं।

अद्वैतवेदान्तिक सिद्धान्त के अनुसार जीव की स्थिति सोपाधिक है; अपने मूल रूप में तो जीव ब्रह्म ही है। अद्वैत की इस प्रक्रिया के अनुरूप जब जीव को आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है तो उसकी स्थिति ब्रह्म की ही स्थिति हो जाती है। फिक्ते की विचार-प्रक्रिया में भी, जैसे ही मनुष्य अपने मूल रूप को प्राप्त करता है तो वह केवल सर्वशक्तिमान् ईश्वर के रूप में ही शेष रह जाता है। इस प्रकार वह जीव-कोटि से परमात्म कोटि में प्रवेश करता है।[4] अतः फिक्ते और अद्वैतवेदान्त की उक्त दार्शनिक दृष्टि बहुत कुछ समान ही है।

फिक्ते और शांकरवेदान्त की व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओं का स्वरूप भी एक-सा ही है। अद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार व्यावहारिक जगत् की सत्यता केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही है,

---

१. The Great Philosophers (The Eastern World) p. 218, Skeffington, London, 1952.

२. Dr. *Rasbehari Das's article* on 'Fichte, Shelling & Hegel' (Published in History of Philosophy, Vol. II, p. 264.)

३. *Pfleiderer* : Philosophy of Religion, Vol. I, p. 291, (Williams and Norgat, 1887.)

४. *Pfleiderer* : Philosophy of Religion, Vol. I, p. 293.

परमार्थ-दृष्टि से तो जगत् मिथ्या है। जैसा कि कीर्तिकर महोदय ने लिखा है। फिक्ते के दर्शन में भी व्यावहारिक जगत् की अनेकरूपता व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि से है, वास्तविक दृष्टि से तो यह जगत् की कल्पना के दर्पण में पड़ा हुआ परमात्मा का अतात्त्विक प्रतिबिम्ब मात्र है।[१] अतः फिक्ते के विचार से भी परमार्थ-दृष्टि से जगत् के मिथ्यात्व का ही आशय है।

फिक्ते का 'अंसटास'-सम्बन्धी सिद्धान्त और अद्वैतवेदान्त की 'माया'

अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार माया-उपाधि के कारण ही ब्रह्म का जीवत्व दिखाई पड़ता है; परन्तु यहाँ, यह और समझना होगा कि जीवत्व ब्रह्म की परिवर्तित स्थिति नहीं है। अविद्या के कारण ही जीवत्व की अनुभूति होती है। परमार्थतः तो ब्रह्म अचल, तथा शाश्वत है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। फिक्ते का 'प्रतिनिवृत्ति' (Anstoss : The principle of Repulsion) का सिद्धान्त भी बहुत कुछ अद्वैतवेदान्त की माया-जैसा ही है, यद्यपि इन दोनों में कुछ भेद अवश्य है। फिक्ते के 'प्रतिनिवृत्ति' सिद्धान्त के अनुसार आत्मा में एक विरोधी प्रतिनिवृत्ति की क्रिया होती है, जिसके द्वारा आत्मा में सीमितता आती है। प्रो० रे चौधरी ने फिक्ते के प्रतिनिवृत्ति सिद्धान्त (Principle of Anstoss) का प्रभाव स्पष्ट करते हुए लिखा है :

> "We thus See that through the Anstoss the absolute of Fichte finitises itself, limits itself and becomes other than what it is."[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिनिवृत्ति क्रिया (Austoss) के द्वारा, फिक्ते द्वारा स्वीकृत परमात्मा मर्यादित एवं सीमित तथा परिवर्तित हो जाता है। जैसे कि, अद्वैत मत में ब्रह्म माया अथवा अविद्या के कारण सीमित दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार जैसा कि अभी कहा जा चुका है, फिक्ते के 'प्रतिनिवृत्ति' सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा सीमित एवं मर्यादित हो जाता है। इन दोनों सिद्धान्तों में उक्त दृष्टि से साम्य होते हुए कुछ मौलिक वैषम्य भी मिलता है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, माया के द्वारा ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। न वह सीमित होता है और न वुद्धि को प्राप्त होता है। इसके विपरीत फिक्ते के प्रतिनिवृत्ति सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा सीमितता को प्राप्त होता है। इन दोनों दर्शन-पद्धतियों में एक महान् भेद यह है, कि फिक्ते के प्रतिनिवृत्ति सिद्धान्त के अनुसार अचेतन परमात्मा चेतन हो जाता है, परन्तु माया के कारण ब्रह्म में इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता। ब्रह्म तो स्वयं चित्-स्वरूप है।[३]

---

१. *Vasudeva J. Kiritikar* : Studies in Vedānta, p. 72.

२. *A.K. Ray Chaudhari* : The Doctrine of Māyā, p. 176.

३. Again, due to this principle of Anstoss, the unconscious absolute of Fichte becomes conscious. But Māyā has got nothing to do with Brahman in this respect.–*A.K. Ray Chaudhary* : The Doctrine of Māyā, p. 176.

ऊपर किये गए विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि अद्वैतवेदान्त और फिक्ते के दार्शनिक सिद्धान्तों में वैषम्य होते हुए भी पारस्परिक सम्बन्ध मिलता है।

शेलिंग (Schelling) (१७७५-१८५४ ई०) और अद्वैतवेदान्त

यद्यपि शेलिंग फिक्ते का शिष्य था, परन्तु फिक्ते से उसके विचार पूर्णतया नहीं मिलते थे। शेलिंग को फिक्ते का यह मत मान्य नहीं था कि कूटस्थ तत्त्व आत्मा ही अपनी अनिच्छा तथा अज्ञात दशा में अनात्म-जगत् को उत्पन्न करता है। फिक्ते के विपरीत, शेलिंग का परम तत्त्व (Absolute) आत्मा तथा अनात्मा से परे एवं स्वतन्त्र है। इस प्रकार शेलिंग द्वारा स्वीकृत परम तत्त्व अद्वैतवेदान्त के ब्रह्म के समान ही है। डा० रासबिहारीदास की निम्नलिखित पंक्तियों में उक्त विचार की ही ध्वनि मिलती है :

> "The distinctionless identical absolute of Shelling easily reminds one of the non-dual Brahman of the Advaita Vedanta."[1]

उपर्युक्त कथन के अनुसार शेलिंग द्वारा स्वीकृत भेदरहित तथा स्वतःसिद्ध परमतत्त्व सरलता से अद्वैतवेदान्त के अद्वैत ब्रह्म का स्मरण दिला देता है।

प्रकृति को शेलिंग परमात्म-तत्त्व की अभिव्यक्ति मानता है। शेलिंग एक समन्वयवादी दार्शनिक था। उसके दर्शन के परम तत्त्व के सिद्धान्त के अन्तर्गत काण्ट के ज्ञाता और ज्ञेय, फिक्ते के आत्म तथा अनात्म और स्पिनोज़ा के विचार और विस्तार की समन्वयात्मक भूमि मिलती है।

जैसा कि रासबिहारीदास के उपर्युक्त कथन से ध्वनित हुआ है, शेलिंग की दार्शनिक विचारधारा अद्वैतवेदान्त के बहुत-कुछ समान है। अद्वैतवेदान्त और शेलिंग का परमतत्त्वसम्बन्धी सिद्धान्त तो समान ही है। अद्वैतवेदान्त-सिद्धान्त के अनुरूप ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है–'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। जैसा कि 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' से स्पष्ट है ब्रह्मज्ञान होने पर द्वैतबुद्धि नष्ट हो जाती है। ठीक, यही मत शेलिंग का भी है। शेलिंग के मत का उल्लेख करते हुए कीर्तिकर महोदय ने लिखा है :

> "To know the Absolute is, as Shelling says, to be the Absolute and all differentiations would necessarily venish with that knowledge"[2]

अर्थात् शेलिंग के मतानुसार, परमात्मा को जानना ही परमात्म-रूप हो जाना है। इस परमात्म ज्ञान के होने पर समस्त भेद निश्चित रूप से दूर हो जाते हैं। इस प्रकार अद्वैतवाद और शेलिंग की उक्त विचारधाराएँ बहुत मिलती-जुलती हैं। बाह्य जगत् के मिथ्यात्व और ब्रह्म की सत्यतासम्बन्धी

---

१. *Dr. R.V. Das's* Article on, Fichto, Shelling & Hegel, History of Philosophy : Eastern & Western, Vol. II, Edited by *Dr. S. Radhakrishnan.*

२. *Vasudeva, J. Kirtikar* : Studies in Vedānta, p. 35.

धारणायें भी अद्वैतवेदान्त और शेलिंग के दर्शन के समान ही मिलती हैं। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अद्वैत-वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म की सत्यता तथा जगत् का मिथ्यात्व स्पष्ट किया गया है। परमसत्य ब्रह्म की सत्ता जीव से अतिरिक्त नहीं है, अपितु जीव जीव न होकर मूलतः ब्रह्म ही है। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में ज्ञाता और ज्ञेयभाव भी काल्पनिक ही है। 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्त का ही समर्थन किया गया है। अद्वैत मत के उक्त सिद्धान्त का तात्पर्य शेलिंग की निम्नलिखित पंक्तियों में भी मिलता है :

> "In all of us there dwells a sure marvellous power of freeing ourselves from the changes of time, of withdrawing to our secret selves away from external things, and so discovering to ourselves the eternal in us in the form of unchangeability."[1]

उपर्युक्त कथन के अनुसार हम सब में एक ऐसी अद्‌भुत शक्ति है, जो हमें कालकृत परिवर्तनों से मुक्त करा सकती है, बाह्य जगत् की वस्तुओं से निवृत्ति की ओर ले जा सकती है और जो हमारे भीतर वर्तमान शाश्वत तत्त्व की खोज करा सकती है।

शेलिंग के उपर्युक्त कथन में स्पष्ट रूप से परम तत्त्व की शाश्वतता और जगत् के मिथ्यात्व की ओर संकेत किया गया है।

अद्वैतदर्शन की माया तथा शेलिंग का 'डार्क ग्राउण्ड' (Dark Ground) का सिद्धान्त

प्रो० रे चौधरी ने अद्वैतदर्शन की माया तथा शेलिंग के 'डार्क ग्राउण्ड' की तुलना करते हुए कहा है, कि जिस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार माया ब्रह्म न होकर ब्रह्म में रहने वाली कोई वस्तु है, उसी प्रकार शेलिंग के अनुसार भी डार्क ग्राउण्ड परमतत्त्व में रहने वाली कोई वस्तु है, न कि स्वयं परमतत्त्व।[2] जिस प्रकार शांकरवेदान्त का ब्रह्म मायाशक्ति से सम्बद्ध होने पर ईश्वर-रूप को प्राप्त होता है, उसी प्रकार शेलिंग का परमतत्त्व भी 'डार्क ग्राउण्ड' के सम्बन्ध से स्रष्टा या ईश्वर रूप को प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त बद्ध जीव तथा ब्रह्म का विचार भी शांकरवेदान्त तथा शेलिंग के दर्शन में समान ही है।[3]

---

१. Shelling's Philosophycal letters upon Dogmatism and Criticism– *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 350. (F.N.) से उद्धृत।

२. The Dark Ground in the Absolute of Shelling is conceived by him as something in the Absolute (Not the Absolute itself) just as Māyā is considered by Śaṅkara as something in Brahman. The Doctrine of Māyā, p. 177.

३. *A.K. Ray Chaudhari* : The Doctrine of Māyā, p. 177.

शांकरवेदान्त और शेलिंग की माया और 'डार्क ग्राउण्ड' सम्बन्धी विचारधाराओं में उपर्युक्त साम्यं होने पर भी, यह भेद द्रष्टव्य है, कि शेलिंग का 'डार्क ग्राउण्ड' का सिद्धान्त परमात्मा के सम्बन्ध में आत्म-प्रकाशन (Self Revelation) का सिद्धान्त है, और इसके विपरीत शांकर वेदान्त और शेलिंग के दार्शनिक सिद्धान्तों में अनेक प्रकार की समानताएँ होते हुए भी कई-एक वैषम्य के स्थल भी मिलते हैं। अद्वैतवेदान्त के अनुसार व्यावहारिक जगत् अविद्याजन्य अध्यास है, तथा ब्रह्म अधिष्ठान है; परन्तु शेलिंग के दर्शन में जगत् अध्यास न होकर परमात्मा के ही अनुग्रह का परिणाम है। अद्वैती शंकर और शेलिंग के दर्शन का यह वैषम्य भी विचारणीय है, कि जहाँ अद्वैती आचार्य शंकर केवलाद्वैतवादी होने के कारण पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं, वहाँ शेलिंग परमात्मा तथा जगत् को भी पारमार्थिक दृष्टि से सत्य मानता है। इस प्रकार आचार्य शंकर की तरह जगत् की पारमार्थिक सत्यता का निषेध, दार्शनिक शेलिंग को स्वीकार नहीं है।[1] इस प्रकार जहाँ शंकराचार्य केवलाद्वैतवादी हैं, वहाँ शेलिंग का प्रमुख सिद्धान्त अद्वैत-द्वैतवाद है।

इस प्रकार अद्वैतवेदान्त-दर्शन और शेलिंग के सिद्धान्तों में साम्य के साथ वैषम्य होने पर भी, यह कहना अनुचित न होगा कि शेलिंग का दर्शन भारतीय अद्वैतवाद के सिद्धान्त से अत्यधिक सम्बन्धित एवं प्रभावित है।

हेगल (Hegel) (१७७०-१८३१) और अद्वैतवेदान्त

जर्मनी के दार्शनिकों में, जैसे कि काण्ट प्रसिद्ध हैं, वैसे ही हेगल भी। हेगल का मत अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों, फिक्ते तथा शेलिंग, के विपरीत है। फिक्ते के मत में वस्तु आत्मा ही है। यही आत्मा अज्ञान शक्ति से प्रपंच की उत्पत्ति करता है, और फिर स्वतन्त्र तथा ज्ञानपूर्वक उद्योग से प्रपंच को स्ववशीभूत कर लेता है। इसके विपरीत शेलिंग की दृष्टि में वह वस्तुतत्त्व न आत्मा है और न अनात्मा, वरन् वह मूल कारण है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के विरोध का पर्यवसान होता है। शेलिंग का यह निर्गुण तत्त्व सर्वोपरि है। हेगल का निरपेक्ष परमतत्त्व निष्क्रिय न होकर सक्रिय है। हेगल का यह परमतत्त्व मन तथा प्रकृति का आधार तत्त्व न होकर स्वतःक्रम से प्रकृति तथा आत्मा के रूप में परिणत होता है। अतः विद्वान् वेलेस के अनुसार हेगल के मत में जगत् की सत्ता परमात्मा के सत्यरूप का ही व्यक्तीकरण है।[2]

हेगल का दर्शन तर्कप्रधान है। उसका विचार है कि वास्तविक तत्त्व तर्कयुक्त है और तर्कयुक्त ही वास्तविक तत्त्व है (The real is rational and the rational is real)। इस प्रकार हेगल अनुभव-जगत् के बीच भी बुद्धि का राज्य स्वीकार करता है।

---

१. Śaṅkara denies ultimate reality to the pluralistic aspect of the universe but Shelling does not.–*N. Shastri*: A Study of Śaṅkara, p. 98.

२. Hegel's Logic, pp. 161-167.

हेगल विश्व को ईश्वर-रूप ही देखता है। जगत् और ईश्वर के बीच भेद-व्यवस्था को हेगल काल्पनिक कहता है।[१] अतः हेगल के दर्शन में प्रपंच का मिथ्यात्व पाया जाता है।[२]

भारतीय अद्वैतवाद और जर्मन दार्शनिक हेगल के दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना करते समय दोनों दर्शन-पद्धतियों में अनेक समानताएँ मिलती हैं। अद्वैतवाद के प्रतिपादक शंकराचार्य ने आत्मा को सत् तथा असत्‌रूप मानते हुए कहा है : 'सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थरूपश्च...तस्यापरमार्थरूपमविद्याकृतम् ।' (शा० भा०, माण्डूक्योपनिषद् १।७) अर्थात् यह आत्मा परमार्थ तथा अपरमार्थ (सत् तथा असत्) दोनों रूपों वाला है : उसका अपरमार्थ अर्थात् असत्-रूप अविद्याकृत है। शंकराचार्य के परमार्थ तथा अपरमार्थ के योग का उक्त भाव हेगल की निम्नलिखित पंक्ति में स्पष्ट रूप से मिलता है। दार्शनिक हेगल लिखते हैं :

"True infinitude is the unity of the finite and infinite"[३]

अर्थात् असीम (परमार्थ तत्त्व) ससीम तथा असीम की ही एकरूपता है। हेगल की तरह परमात्म के सत् तथा असत् रूप होने की बात कृष्ण ने गीता में भी स्पष्ट रूप से कही है–'सदसच्चाहमर्जुन'।[४]

अद्वैतवादी दार्शनिकों तथा हेगल की जीव की जगत् से निवृत्ति-सम्बन्धी विचारधारा भी प्रायः समान ही है। अद्वैती शंकर का कथन है, कि द्वैत जगत् केवल मानसिक कल्पना-मात्र ही सिद्ध होता है।[५] इस स्थिति में जीव की द्वैत जगत् से निवृत्ति हो जाती है तथा वह ब्रह्मरूप हो जाता है। हेगलीय दर्शन में भी आत्मा का बाह्य जगत् से निवृत्त होना तथा परमात्मा के साथ ऐक्य प्राप्त करना स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।[६]

जैसा प्रो० हाल्डेन कहते हैं, हेगल के मतानुसार जैसे-जैसे परमात्म तत्त्व की उपलब्धि होती है, भेददृष्टि समाप्त होती जाती है।[७] यही बात गौडपादाचार्य ने 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' (मा० का० १।१८) के द्वारा स्पष्ट की है। शंकराचार्य नें भी उक्त मत का ही समर्थन किया है। शंकराचार्य का कथन है कि परमार्थतत्त्व का ज्ञान होने पर द्वैतज्ञान नष्ट हो जाता है।

एक और दृष्टि से भी हेगल और अद्वैतवादी दृष्टिकोण में सामीप्य है। हेगल मानता है कि

---

१. Natur hat wader kern nochschale.
२. Hegel's Logic, p. 391.
३. Hegel's Logic on the Philosophy of Religion, Vol. I, p. 328.
४. गीता, ९।१९
५. शां० भा०, मा० उ०, २।३२।
६. Studies in Vedānta, p. 15, Haldane, Pathway to Reality, Vol. II, p. 109, (Gifford Lectures for 1902-3) Murray, 1903.
७. *Haldane* : Pathway to Reality, Vol. II, p. 221.

जगत् की समस्त वस्तुओं का पर्यवसान विचार या विज्ञान में होता है।[१] इस प्रकार ईश्वर को भी वह पूर्ण विचार-रूप ही मानता है। हेगल के अनुसार इस पूर्ण विचार की स्थिति में सब प्रकार की वास्तविकताएँ नष्ट हो जाती हैं।[२] इस प्रकार हेगलीय दर्शन में विचार ही परमार्थ है।[३] अद्वैतवादी आचार्य गौडपाद और शंकर के मत के अनुसार भी परमार्थ सत्य का ज्ञान होने पर ज्ञानी में सर्वत्र सर्वज्ञता का भाव जाग्रत हो जाता है।[४] इस प्रकार अद्वैत मत में भी परमार्थ-बोध की स्थिति विचार या विज्ञान की स्थिति है। इसी प्रकार गीता में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है, कि जब ज्ञानी भूतों के पृथक्-पृथक् भावों को एक आत्मा में ही स्थिर देखता है तथा उस आत्मा में ही सारा विस्तार, उत्पत्ति तथा विकास देखता है, तब वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है।[५] इस प्रकार गीता द्वारा निर्दिष्ट ज्ञानी की उक्त स्थिति भी विचार की ही स्थिति है।

भ्रम की सत्ता के सम्बन्ध में भी हेगल और अद्वैतवाद की विचारधारा में समानता मिलती है। दार्शनिक हेगल भ्रम को, परम सत्य के प्रकट करने के लिए आवश्यक मानता है। इसलिए उसने कहा है–

Otherness or error as cancelled is itself a necessary moment of truth.[६]

अर्थात् द्वैत या भ्रम की निवृत्ति का क्षण भी सत्य का एक आवश्यक क्षण होता है। हेगल की तरह ही अद्वैतदर्शन में भी भ्रम अथवा अविद्या के महत्त्व को स्वीकार करते हुए 'अध्यारोपापवाद' की कल्पना की गई है। अद्वैत सत्य की स्थापना द्वैत एवं अनात्म बुद्धि की निवृत्ति के बिना असम्भव है। इसलिए अद्वैतमत में पहले ब्रह्म में अविद्याजन्य अनात्म जगत् का आरोप किया गया है और फिर, अविद्यानिवृत्ति होने पर उस अविद्याजन्य आरोप का अपवाद किया गया है।[७] इस प्रकार अद्वैतमत में अनात्म का अपवाद होने पर परमार्थ सत्य की स्थापना की गई है। अतः यदि अविद्या अथवा भ्रम को न स्वीकार किया जाता, तो अविद्याजन्य अनात्म जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध न होने के कारण अद्वैतसिद्धि न हो पाती। अतः हेगल और अद्वैतवेदान्त दोनों की विचार-धारा के अनुसार सत्य की स्थापना में भ्रम का योगदान स्वीकार किया गया है।

---

१. *Haldane* : Pathway to Reality, Vol. II, p. 221.

२. *A. Schweglar* : History of Philosophy, p. 432. (Oliver and Boyd Edinburgh, 14th edition).

३. *Haldane* : Pathway to Reality, Vol. II, p. 170.

४. सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवति हि महाधिपः। मा० का० ४।८६ तथा शा० भा० (४।८६)

५. गीताभाष्य, १३।३०।

६. Hegel's Encyclopaedia, works, Vol. VI, p. 15, quoted by Prof. Upton in Hibbert Lectures for 1893.

७. वेदान्तसार १५, ६।

ऊपर किये गये विवेचन में भारतीय अद्वैतवाद तथा हेगलीय दर्शन में अनेक समानताएँ मिलीं हैं, परन्तु इन समानताओं के साथ-साथ दोनों दर्शनसिद्धान्तों में कुछ विषमताएँ भी मिलती हैं। उदाहरण-के लिए अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से जीव आत्मबोध होने पर ब्रह्मरूप हो जाता है, परन्तु हेगल को यह मत स्वीकार नहीं है। इसके अतिरिक्त जहाँ हेगल एकता में अनेकता मानते हैं, वहाँ अद्वैतदर्शन में अनेकता अविद्याजन्य होने के कारण मिथ्यारोप मात्र है। इसी प्रसंग में इन दोनों दर्शनपद्धतियों का यह वैषम्य भी उल्लेखनीय है कि हेगलीय दर्शन में जो परम तत्त्व सदसत् रूप है-वह अद्वैतदर्शन में शुद्ध सत् रूप है।[1]

इस प्रकार अद्वैत-दर्शन और हेगल-दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य होते हुए भी कुछ विषमताएँ भी मिलती हैं।

शोपेनहार (Schopenhaur) (१७८८-१८६० ई०) और अद्वैतवेदान्त

शोपेनहार का प्रमुख सिद्धान्त संकल्पवाद (Voluntarism) है। पूर्ववर्ती दार्शनिक हेगल की दृष्टि में चैतन्यसार था-बुद्धि और शोपेनहार की दृष्टि में चैतन्यसार था-संकल्प। शोपेनहार के मतानुसार संकल्पशक्ति सर्वव्यापिनी है, और अखिल सृष्टि का मूल है। शोपेनहार संकल्पों के अनेक रूप मानता है।

शोपेनहार एक निराशावादी दार्शनिक था। इस निराशावादिता के कारण ही उसके दर्शन में पलायनवादिता का समावेश हो गया था। कुछ आलोचकों ने उसके निराशावाद को भारतीय दर्शन का प्रभाव कहा है। इस सम्बन्ध में अभी आगे विचार किया जाएगा।

जहाँ तक शोपेनहार के दर्शन और अद्वैतवेदान्त के साम्यमूलक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, शोपेनहार ने वेदान्त ही नहीं, भारतीय दर्शन के मूलाधार उपनिषदों की प्रशंसा बड़ी भावपूर्ण एवं यथार्थ अभिव्यक्ति के साथ की है। उपनिषद्दर्शन की सराहना के सम्बन्ध में शोपेनहार की निम्नलिखित उक्ति जो उन्होनें अपने ग्रन्थ Weltals wille and Vorstellung के प्राक्कथन में कही है, इतनी प्रसिद्ध है कि प्रायः जहां किसी लेखक के द्वारा शोपेनहार की चर्चा हुई है वहाँ इस निम्नलिखित उक्ति को या इसके कुछ अंश को अवश्य उद्धृत किया गया है। इस लेखक ने भी इस उक्ति का संकेत अद्वैतवेदान्त के महत्त्व के सम्बन्ध में आरम्भ में ही कर दिया है। यहाँ भी उसका उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। शोपेनहार ने लिखा है-

In the whole world there is no study, except that of the originals, so benefitial and so elevating as that of the Aupnikhat. It

१. *Vasudeva, J. Kirtikar* : Studies in Vedānta, p. 69.

has been the solace of my life and it will be the solace of my death.[1]

अर्थात् शोपेनहार का तात्पर्य है, कि वेदों को छोड़कर संसार भर में उपनिषदों के समान लाभप्रद तथा उत्तम दर्शन और दूसरा नहीं है। निज पर पड़े प्रभाव की ओर निर्देश करते हुए शोपेनहार कहते हैं, कि उपनिषद् मेरे जीवन में सांत्वना देते रहते हैं, और मेरे मृत्यु के समय पर भी यह मुझे सांत्वना प्रदान करेंगे[2]।

शोपेनहार के उक्त कथन के आधार पर यह निःसन्देह स्वीकार करना होगा, कि उन पर भारतीय उपनिषद् साहित्य या तत्प्रतिपादित वेदान्तदर्शन का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इस स्थल पर इस प्रभाव की दिशा देखने का प्रयास किया जायेगा।

शोपेनहार और उपनिषद्वर्ती संकल्पवाद (Volutarism)

शोपेनहार ने जिस संकल्प-शक्ति या इच्छा-शक्ति के आधार पर संकल्पवाद की स्थापना की है, उसका स्पष्ट रूप हमें छान्दोग्योपनिषद् के निम्नलिखित उद्धरण में मिलता है–

तानि ह या एतानि संकल्पैकायनानि, संकल्पात्मकानि, संकल्पे प्रतिष्ठितानि.....संकल्पमुपास्स्वेति।[3] अर्थात् यह (मन आदि) संकल्परूप लयस्थान वाले, संकल्पमय तथा संकल्प में ही प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार द्युलोक और पृथ्वी, वायु और आकाश, जल और तेज भी संकल्पकृत हैं। इनके संकल्प के लिए, दृष्टि समर्थ होती है, अथवा यों कहिये, कि उन द्युलोकों आदि के संकल्प से वृष्टि होती है। वृष्टि के संकल्प के लिए, अन्न समर्थ होता है, अन्न के संकल्प के लिये प्राण समर्थ होते हैं, प्राणों के संकल्प के लिए मन्त्र समर्थ होते हैं, मन्त्रों के संकल्प के लिए कर्म समर्थ होते है, कर्मों के संकल्प के लिए सब समर्थ होते हैं, इसी संकल्प की उपासना करो। संकल्प को ब्रह्म का रूप देते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है, कि जो इस संकल्प ब्रह्म की उपासना करता है वह भगवान् के रूप को प्राप्त करता है।[4]

छान्दोग्योपनिषद् के उक्त उद्धरण में संकल्पवाद की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा मिलती है। मेरे

---

१. *Max Muller* : Three Lectures on the Vedānta Philosophy, p. 8.
Dr. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II; p. 633 (F.N.).
Dr. S.N. Das Gupta, Indian Philosophy, Vol. I, p. 40.
Dr. S.K. Maitra's article - Schopenhaur & Neitzsche (History of Philosophy, p. 286.)

२. The World Will and and Idea, Vol. 1, pp. Xii-Xiii. (Traslated by *Haldane and Kemp)*

३. छान्दोग्योपनिषद् ७।४।२।

४. छा० उ० ७।४।३।

विचार से उपनिषदों के उपयुक्त संकल्पवाद का प्रभाव शोपेनहार के संकल्पवाद[1] पर भी पड़ा है। परन्तु यहाँ, यह और उल्लेखनीय है, कि छान्दोग्योपनिषद् में उक्त उद्धरण के आधार पर जहाँ संकल्पवाद (Voluntarism) की प्रतिष्ठा की गई है वहाँ ज्ञानवाद (Intellectualism) का प्रतिपादन भी किया गया है।[2]

भारतीय दर्शन के शोपेनहार के दर्शन पर उपर्युक्त प्रभाव के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने शोपेनहार के निराशावाद को भारतीय दर्शन का प्रभाव कहा है। इन विद्वानों में डेविट्[3] तथा रानाडे[4] प्रमुख हैं। रानाडे महोदय ने शोपेनहार के निराशावाद पर औपनिषद निराशावाद का प्रभाव खोजते हुए कठोपनिषद् का नीचे लिखा उद्धरण दिया है–

> अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन् ।
> अभिध्यायन् वर्णरति प्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ।। (क० उ० १।२८)

कठोपनिषद् की उपर्युक्त पंक्तियों में नचिकेता यमराज से कह रहा है, कि हे यमराज, आप ही बताइये भला आप जैसे अजर-अमर महात्माओं का सम्पर्क प्राप्त करके भी मृत्युलोक का जरा-मरणशील ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो स्त्रियों के सौन्दर्य, क्रीड़ा और आमोद-प्रमोद में आसक्त होकर उनकी ओर दृष्टिपात करेगा और इस लोक में दीर्घकाल तक जीवित रहने में आनन्द मानेगा। कठोपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरण से शोपेनहार के विचार की तुलना करते हुए रानाडे महोदय लिखते हैं–

> This is almost in the spirit of Schopenhauer who said that the last thing for man here below is not to have been born at all and the second last to have died young.[5]

रानाडे महोदय के कथनानुसार उपनिषत् की उपर्युक्त विचारदृष्टि शोपेनहार के इस कथन के लगभग समान ही है, कि मनुष्य के लिए सबसे अच्छा तो यह होता कि वह इस पृथ्वी पर जन्म ही न लेता और फिर दूसरी कोटि की अच्छाई यह होती कि वह युवावस्था में ही मर गया होता। इसके अतिरिक्त जैसा कि अभी उद्धृत किया जा चुका है प्रो० डेविट ने शोपेनहार पर हिन्दू विचारधारा का प्रभाव स्वीकार किया है, परन्तु हिन्दू विचारधारा से मेरे विचार से उपनिषद्वर्ती विचारधारा का ही तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि शोपेनहार पर, जैसा कि उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है, उपनिषदों का

---

१. The world as will and idea, (Book I), Ranade's Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy, pp. 116, 117. से उद्धृत।

२. छा० उ० ७।५।१,२,३।

३. Another instance of the effect of Hindu thought upon the philosophe (Schopenhauer) was his pessimism. *Dewett, H. Parker* : Selection from Schopenhauer. Introduction.

४. *Ranade* : Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy, p. 294.

५. वही।

ही विशेष प्रभाव पड़ा है। प्रो० डेविट तथा रानाडे के उक्त मतों की अयुक्तता के सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है, कि उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित दर्शन को कदापि निराशावाद का जनक नहीं कहा जा सकता। उपनिषदों में इस लोक में जीव के आत्मतत्त्ववेत्ता होने का वर्णन इस बात का प्रमाण है, कि उपनिषद्दर्शन निराशावादी दर्शन नहीं है। इस कथन के प्रमाण में, हमें बृहदारण्यक उपनिषद् के उस उद्धरण की ओर दृष्टिपात करना चाहिए, जिसमें कहा गया है कि आत्मज्ञानी शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर आत्मा को आत्मा में ही देखता है तथा सब कुछ आत्मस्वरूप ही देखता है।[1] यही नहीं, उपनिषदों में जहाँ-जहाँ इस लोक में ही आत्मज्ञान होने की बात कही है,[2] उससे यही सिद्ध होता है, कि औपनिषद दर्शन इस लोक में ही मनुष्य के साफल्य का द्योतक है। अतः शोपेनहार पर औपनिषद दर्शन के निराशावाद का प्रभाव कहना उचित प्रतीत नहीं होता। प्रो० रानाडे ने शोपेनहार के निराशावाद से तुलना करते हुए कठोपनिषद् के जिस अंश को उद्धृत किया है, उसमें नचिकेता के द्वारा इस सांसारिक सौन्दर्य तथा प्रेमजन्य सुख के जीवन को ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले अमर जनों के जीवन की अपेक्षा हेय बतलाया गया है। ब्रह्मानन्द और सांसारिक सुख का भेद तथा अपेक्षाकृत उच्चावचभाव स्वाभाविक ही है। अतः कठोपनिषद् की ऊपर निर्दिष्ट की गयी पंक्तियों के आधार पर रानाडे महोदय का शोपेनहार के निराशावादी दर्शन से उपनिषद् दर्शन की साम्यमूलक तुलना करनी उचित नहीं है। परिणामतः, यह लेखक डाक्टर एस० के० मैत्रा के इस कथन से पूर्णतया सहमत है, कि शोपेनहार का निराशावाद उसके भारतीय दर्शन की विचारधारा के अध्ययन का प्रभाव नहीं था।[3] अब जहां तक शोपेनहार द्वारा स्वयं उपनिषद् दर्शन का प्रभाव स्वीकार करने की बात है, निश्चय ही, शोपेनहार की दार्शनिक दृष्टि पर उपनिषद् दर्शन का प्रभाव पड़ा है, परन्तु यह प्रभाव शोपेनहार पर शान्त तथा चिन्तनपूर्ण जीवन के रूप में पड़ा था। अतः जैसा कि डॉ० मैत्रा का विचार है, शोपेनहार का चिन्तनपूर्ण जीवन के प्रति तीव्र प्रेम भारतीय दर्शन के सम्पर्क का ही प्रभाव था।[4] इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि शोपेनहार के दर्शन पर उपनिषद्दर्शन के प्रभाव की दिशा निराशावाद की कदापि सूचक नहीं थी। सत्य तो यह है, कि दार्शनिक शोपेनहार का यह दुर्भाग्य ही रहा, कि वह भारतीय दर्शन के प्रभाव से प्रेरित अपनी हार्दिक अनुभूति को दार्शनिक रूप देने में असफल रहा। परन्तु किसी आलोचक विद्वान् को इस विषय में वैमत्य नहीं होना चाहिए, कि शोपेनहार की दार्शनिक दृष्टि पर औपनिषद वेदान्त का पूर्ण प्रभाव पड़ा था।

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् –४।४।२३ सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट, भाग २, पृष्ठ १८०।

२. छान्दोग्योपनिषद् –४।१४।३, ७।२६।२।

३. Schopenhauer's Pessimism, therefore was not derived from his study of Indian thought, *Dr. S.K. Maitra's* Article Schopenhauer and Niethzsche (History of Philosophy, Vol. II, p. 290).

४. History of Philosophy, Vol. II, edited by *Dr. Radhakrishnan*, p. 290.

एकादश अध्याय

वैष्णवदर्शन

पृष्ठभूमि

भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा की यह विशेषता रही है, कि वह गतिशील, समयानुकूल एवं लोकापेक्षी है। यह तथ्य प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत विशदीकृत है। साथ ही, यह भी वक्तव्य है, कि भारतीय दार्शनिकों ने अपनी दार्शनिक विचारधारा का आविर्भाव मानव के व्यापक लक्ष्य, लौकिक एवं पारलौकिक दृष्टि को ध्यान में रखकर किया है, एकाङ्गी दृष्टि से कदापि नहीं। यह बात दूसरी है, कि सभी दर्शन समानरूप से समाजसंस्पर्शी नहीं रहे। निदर्शनार्थ, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदान्त) में उत्तरोत्तर जो सामाजिक संस्पर्श दृष्टिगोचर होता है, वह न्याय-वैशेषिक में नहीं है। यद्यपि न्याय एवं वैशेषिक भी बौद्धदर्शन की प्रतिक्रियास्वरूप ही विकसित हुए थे। इनमें लौकिक एवं पारलौकिक, दोनों ही दृष्टियों से वेदान्त सर्वोपरि सिद्ध हुआ है। इसकी दार्शनिकता भी सर्वोत्कृष्ट है। इस विषय में गत अध्याय में विवेचन किया जा चुका है।

जहाँ तक, वैष्णवदर्शन का प्रश्न है, इसके विकास में, दो दृष्टियाँ बीज रूप में देखी जा सकती हैं। एक का सम्बन्ध मीमांसा से है, और दूसरी का सम्बन्ध वेदान्त से। मीमांसा से इसलिए, कि मीमांसकों ने अपनी कर्मकाण्ड की नियमावली में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण के लिए तो यज्ञादि का विधान किया था, किन्तु चतुर्थ वर्ण को कर्मकाण्ड के घेरे से बाहर रखा था, जैसे मानो स्वर्ग की कामना करने का अधिकार उसकी जन्मकुण्डली में नहीं था। वैष्णवदर्शन में उक्त विचार को प्रतिक्रिया के स्वरूप, चतुर्थ वर्ण ही क्या, मानव मात्र को भगवान् की प्राप्ति एवं मोक्ष लाभ का अधिकार दे दिया। यहाँ, जाति-पाँति के बन्धन टूट गए, कर्मकाण्ड का कृत्रिम पथ अनुपेक्षित हो गया एवं श्रद्धा एवं भक्ति ही भगवान् एवं मोक्ष-प्राप्ति के साधन स्वीकार हो गए। भक्त के मात्र दो श्रद्धा सुमन ही भगवान् को प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त थे–"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति"। जहाँ तक, वैष्णवदर्शन के विकास के मूल में वेदान्तसम्बन्धित दृष्टि का प्रश्न है, वहाँ यह स्वीकार्य है, कि यद्यपि वेदान्त, एवं उसके प्रमुख प्रस्थापनाचार्य शंकराचार्य ने एकात्मवाद एवं अद्वैतवाद की प्रस्थापना के द्वारा समानरूप से मानव मात्र के लिए मोक्ष का द्वार खोल दिया था, किन्तु सर्वथा तर्कपुष्ट एवं परिष्कृत विचारसम्पन्न तथा निर्गलित होते हुए भी, वेदान्त की गिलोय (कड़वी बूटी) के समान कड़वी अथवा अरुचिकर अवश्य थी। वेदान्त के लिए संस्कार, समझ एवं संकल्प की अपेक्षा थी। किन्तु यहाँ, यह कहना भी आवश्यक है, कि वेदान्त की साधना में जो शाश्वतता, एकरसता एवं परमार्थसत्यता का उद्देश्य निहित है, वह भक्ति में नहीं है।

इसी प्रसङ्ग में यह भी उल्लेखनीय है, कि भक्ति का सम्बन्ध भावना से होने के कारण, भक्ति मानसी सम्पत् है, जबकि वेदान्तानुसार मोक्ष-साधन ज्ञान, आत्मिक है। आत्मतत्त्व मन तथा बुद्धि से भी पर है—"यो बुद्धेः परतस्तु सः"। अस्तु, यहाँ, यह अङ्गीकार्य है, कि वेदान्त का ज्ञान उत्कृष्टतम लक्ष्य का साधन होने के कारण कुछ कठिन अवश्य था, किन्तु तुलसी की भाषा में "कृपाण की धारा" के समान दुष्कर कदापि नहीं। फिर भी, सामान्य समाज तपश्चर्या के मार्ग से डरता है, तथा सरल से सरल मार्ग की खोज में रहता है। यही कारण है कि वेदान्त की प्रतिक्रिया भी वैष्णवदर्शन के उदय एवं विकास के मूल में वर्तमान थी। इस प्रकार वैदिकयुग में जो विष्णु, शिव एवं शक्तिसम्बन्धी विचारधारा वर्तमान थी, वहाँ उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार भक्तों की भागवत दृष्टि का आधार बनकर वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के रूप में विकास को प्राप्त हुई। इन सम्प्रदायों के विशिष्ट ग्रन्थ क्रमशः पंचरात्रसंहिता, शैव आगम तथा तन्त्र थे।

यहाँ, यह संकेत करना अपेक्षित है, कि विष्णु, शिव एवं शक्तिसम्बन्धी वैदिक विचार ही वैष्णवागम, शैवागम एवं शाक्तागम के रूप में वैष्णवधर्म, शैवधर्म एवं शाक्त धर्म, तथा विष्णुभक्ति, शिव-भक्ति एवं शक्तिभक्ति के आधार रूप में विकसित हुए। ये, आगम इसीलिए कहलाए, क्योंकि इनके मूलस्रोत वेद ही थे, तथा इनके विचार मूलतया वेदों से ही आए थे। आगमों में ही धर्म एवं भक्ति के आश्रय के रूप में मूर्त्तिपूजा का विकास भी हुआ। यहाँ, यह कहना भी संगत होगा, कि आगमिक एवं पौराणिक धर्म, भक्ति एवं मूर्त्तिपूजा का मूल आधार वैदिक यज्ञभावना एवं और औपनिषद सगुण ब्रह्मवाद ही था। वैदिक देवता को भी मूर्तिपूजा का आधार कहा जा सकता है, क्योंकि वैदिक देवताओं के वर्णन में देवताओं के लिए विग्रह का वर्णन मिलता है। यहाँ, यह कथन भी अपेक्षित है, कि वैष्णव, शैव एवं शाक्त धर्म की चिन्तनधारा ही पुराणों में आकर पूर्णतया विकसित होकर, तत्-तत् धर्मों के विकास की परिचायक बनी। किन्तु पुराणों में सांख्ययोग एवं वेदान्तादि दार्शनिक विचारों की भी भरमार है। वस्तुतः, प्रधानतया पुराणों का उद्देश्य तो सभी धार्मिक विचारों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को, प्रवृत्ति की दृष्टि से, अर्थवादस्तुति, कथा एवं विस्तृत व्याख्या के माध्यम के द्वारा सरलतया समाज तक पहुँचाना है। अत एव वैदिक सिद्धान्तों के बोध एवं व्याख्या के लिए, पुराणों की महत्ता स्वीकार की गई है—"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्"।

जहाँ तक, वैष्णवागम आदि आगमों का प्रश्न है, इनके अन्तर्गत प्रमुख रूप से ज्ञानयोग (ध्यान) क्रिया (मन्दिरों का निर्माण तथा उनमें मूर्तियों की स्थापना) तथा चर्या (पूजा की विधि) आती हैं।

यद्यपि वैष्णवसम्प्रदाय के प्रधान आचार्य रामानुज हैं, किन्तु रामानुजदर्शन को एक प्राचीन एवं बलवती पृष्ठभूमि धरोहर के रूप में प्राप्त हुई थी। जिसका संकेत अभी ऊपर किया गया है, सर्वप्रथम, ऋग्वेद में विष्णु का वर्णन सौरदेवता (Solar deily) के रूप में किया गया है। विष्णु का निवास सर्वोच्च आकाश बतलाया गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद में वरुण देवता का स्वरूप भी एकेश्वरवादी स्वरूप

१. विष्णोः परमं पदम्। ऋग्वेद, १।२३।२०।

है। साथ ही वेदों में, सौजन्य की प्रतिमूर्त्ति एवं उत्कृष्ट वरदानदाता के रूप में भी भगदेवता का वर्णन मिलता है। इसी आधार, पर उक्त गुणधारी को भगवान् की संज्ञा प्रदान की गई। यहीं से, उस भागवत धर्म का उदय हुआ, जिसमें भगवान् पूज्य अथ च परमेष्ट रूप में प्रतिष्ठापित हुए। शतपथब्राह्मण के अन्तर्गत पाञ्चरात्र सत्र का वर्णन उपलब्ध है। इस सत्र को नारायण ने समस्त प्राणियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की दृष्टि से किया था। पाञ्चरात्र भागवत धर्म का ही अपर नागधेय है। यहाँ, यह संकेत अपेक्षित है, कि वैष्णव धर्म भागवत धर्म का ही विकसित रूप है, जिसमें विष्णु श्रीभगवान् के रूप में प्रतिष्ठित हुए। यद्यपि महाकाव्यकाल (Epic Period) में, विष्णु एवं शिव दोनों का प्रभुत्व देखने को मिलता है, किन्तु विष्णुपुराण में विष्णु की ही प्रधानता है। हरिवंशपुराण में भी वैष्णवसम्प्रदाय का ही समर्थन प्राप्त है। श्रीमद्भागवतपुराण भी भागवतसम्प्रदाय पर ही बल देता है। भागवत के अनुसार, आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं। यहां, यह भी उल्लेखयोग्य है, कि भागवत सम्प्रदाय का विशिष्ट क्षेत्र दक्षिण भारत था। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है, कि श्रीमद्भागवत में यह संकेत मिलता है, कि कलियुग में नारायण के उपासक अधिक संख्या में होंगे[२]। आलवार कहलाने वाले दाक्षिणात्य सन्तों के श्लोक नालायिरप्रबन्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस संग्रह में चार सहस्र पद्य हैं, जो चार भागों में विभक्त हैं। प्रथम भाग मुदलायिर है। मुदलायिर के अन्तर्गत येरिआलवार एवं साध्वी, आण्डाला (गोदा) जैसे सन्तों की वाणियाँ वर्तमान हैं। दूसरा भाग पेरियातिरूमयी, तीसरा भाग नम्मलकर (शठकोपाचार्य) का तिरुवायमयी तथा चतुर्थभाग इयार्थ है। तिरुवायमयी में सर्वोत्कृष्ट यथार्थसत्ता, जीव, जीव-परमात्मा का सम्बन्ध, अप्रिय एवं निषिद्ध का विनाश तथा श्रेय, इन पाँच विषयों का विशदीकरण वर्तमान है। पराशरभट्ट ने निम्नलिखित श्लोक में आलवारों के कुछ नाम दिए हैं–

> भूतं सरश्च महदाह्वय भट्टनाथ–
> श्रीभक्तिसारकुलशेखरयोगिवाहान् ।
> भक्त्याङ्घ्रिरेणुपरकालयतीन्द्रमिश्रान्,
> श्रीमत्पराङ्कुशमुनिंप्रणतोऽस्मिनित्यम् ।।

इस प्रकार, इस श्लोक के अनुसार सरोयोगी (पोचंगै), भूतयोगी (भूतत्तालवार), भह्दयोगी (पेचालवार), भक्तिसार (तिरुमलरी) तथा पराङ्कुशमुनि (नम्मलदार) आलवार भक्त हैं। पराङ्कुशमुनि, इन सभी में, श्रेष्ठ समझे जाते हैं। इन्होंने तिरुविरुतम, तिरुवाशिरियम्, पेरियतिरुविन्दादि एवं तिरुवायमोलि, इन चार ग्रन्थों की रचना की है। वेदान्तदेशिक ने तिरुवायमोलि को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हुए, द्रविड़ोपनिषत् कहा है।

उपर्युक्त आलवार भक्तों के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रमुख आलवार भी उल्लेखनीय हैं। इनमें, अपने गुरु शठकोपाचार्य के जीवनचरित्र के लेखक मधुरकवि, कुलशेवर[३], पेरियआलवार (विष्णुचित्त),

---

१. शतपथब्राह्मण, १३।६।१।

२. भागवत, १०।५।३८-४०।

३. कुलशेवर मालवार के राजा थे। किन्तु इन्होंने राजपाट त्याग दिया था, और ये एक सामान्य भक्त के रूप में श्रीरंगम् में रहने लगे थे। इन्होंने, तमिल में, पेरुमालतिरोमोलि एवं संस्कृत में मुकुन्दमाला ग्रन्थ की रचना की है।

तोण्डरडिपोलि (विप्रनारायण), जिनकी उपाधि भक्तपदरेणु थी,[1] तिरुप्पाण (मुनिवादन, योगवादन) एवं तिरुमंगै (नीलन् परकाल) हैं। तिरुमंगै के द्वारा तमिल में, छः पद्यात्मक ग्रन्थों की रचना की गई थी, जो वेदांग रूप में गृहीत हैं। यह स्वतः सिद्ध है, कि रामानुज एवं वैष्णवदर्शन के अन्य आचार्यों को आलवारों से एक बृहत् पृष्ठभूमि प्राप्त हुई थी।

जैसा कि, पहले कहा जा चुका है, उपनिषदों एवं पुराणों के साथ-साथ श्रीमद्भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र से भी रामानुज प्रभृति वैष्णव आचार्यों को वैष्णवसिद्धान्तों के प्रस्थापन में विशेष पृष्ठभूमि प्राप्त हुई थी। विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त को रामानुज ने ब्रह्मसूत्र से ढूँढ निकाला था, यही उनका विशेष योगदान था।

श्रीवैष्णवसम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय, तथा सनकसम्प्रदाय, वैष्णवधर्म के ये चार सम्प्रदाय हैं। श्रीवैष्णवसम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य हैं। ब्रह्मसम्प्रदाय के आचार्य आनन्दतीर्थ (मध्व) द्वैतवाद के प्रवर्तक, रुद्रसम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य, वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवाद के प्रवर्त्तक, तथा सनकसम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क द्वैताद्वैतवाद सिद्धान्त के प्रवर्त्तक हैं। अचिन्त्य भेदाभेदसिद्धान्त के प्रधान प्रवर्त्तक चैतन्य महाप्रभु हैं।

यहाँ, यह कथन भी आवश्यक है, कि पाञ्चरात्र का श्रीवैष्णवसम्प्रदाय के सभी आचार्यों पर विशेष प्रभाव है। पाञ्चरात्र के सिद्धान्तों का निरूपण आगे किया जाएगा।

यहाँ सर्वप्रथम वैष्णवमत के प्रमुख आचार्यों उनके ग्रन्थों तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में निरूपण विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

वैष्णव मत के प्रमुख आचार्य

रंगनाथमुनि (८२४-६२४ ई०)–ये नाथमुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। इनके प्रधान ग्रन्थ योग-रहस्य तथा न्यायतत्त्व हैं। नाथमुनि ने आलवार छन्दों को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया था।

यामुनाचार्य (१००० ई०)–यामुनाचार्य आलबन्दार नाम से प्रख्यात हुए थे। ये ६६४ ई० में श्रीरंगम् में पीठासीन हुए थे। वैष्णवसम्प्रदाय के ये अत्यन्त प्रतिष्ठित आचार्य थे। इनके प्रमुख ग्रन्थ, आगमप्रामाण्य, महापुरुषनिर्णय, सिद्धित्रय, गीतार्थसंग्रह, चतुःश्लोकी तथा स्तोत्ररत्न हैं। यामुनाचार्य की कृतियों में सिद्धित्रय अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, मायाखण्डन तथा संवित्सिद्धि का विशिष्ट निरूपण किया गया है। आगमप्रामाण्य, पुरुषनिर्णय तथा काश्मीरागम, इनके अन्य ग्रन्थ हैं। इनका आलबन्दारस्तोत्र (स्तोत्ररत्न) भी विशिष्ट स्तोत्रग्रन्थ हैं, जिसमें सत्तर पद्यों में भक्ति के आत्मसमर्पण सिद्धान्त का हृदयग्राही वर्णन वर्तमान है।

---

१. भक्तरेणु, "यथा नाम तथा गुणः" के अनुरूप श्रीरंगम् के मन्दिर में आने वाले भक्तों का प्रतिदिन चरणामृत लिया करते थे।

यामुनाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त–उत्तरकालिक वैष्णवों में यामुनाचार्य सर्वप्रथम ही कहे जायेंगे। ये आत्मा (जीवात्मा) को स्वचैतन्य के रूप में स्वीकार करते हैं। यामुन, शांकरवेदान्त के, इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, कि नित्य एवं निर्गुण चैतन्य एक है। उनका मत है, कि प्रत्येक व्यक्ति की चेतना स्वतन्त्र है। इस प्रकार यामुनाचार्य के दर्शन में, स्वचैतन्यस्वरूप जीव, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ईश्वर एवं जगत् के सम्बन्ध में विशेषतया विचार-विश्लेषण किया गया है। यही तीन तत्त्व वास्तविक हैं। यामुनाचार्य का यह मत विशिष्टाद्वैतवाद का द्योतक है, कि जगत् ईश्वर से उद्भूत, स्फुल्लिंग के समान है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य भी यही स्वीकार करते थे। वे जगत्कारणता के सम्बन्ध में न्याय मत के समर्थक हैं, जिसके अनुसार ईश्वर जगत् का कर्ता है। यामुनाचार्य के मतानुसार, जगत् मिथ्या न होकर सत्य है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है, कि यामुनाचार्य की प्रमुख दार्शनिक प्रस्थापना, जीवों के स्वचैतन्यस्वरूप का प्रतिपादन है।

यादवप्रकाश (११०० ई०)–काञ्जीवरम् में यादवप्रकाश कुछ समय तक रामानुजाचार्य के गुरु थे। किन्तु, कुछ समय के पश्चात् रामानुजाचार्य ने यादवप्रकाश से विद्योपार्जन करना बन्द कर दिया था, क्योंकि यादवप्रकाश के अद्वैत समर्थक विचार रामानुजाचार्य के गले नहीं उतर रहे थे। इन्होंने एक अद्वैत-परक टीका लिखी थी। यादवप्रकाश ब्रह्मपरिणामवाद के समर्थक थे। तदनुसार ये मानते थे, कि ब्रह्म, चित्स्वरूप आत्मा, अचित्स्वरूप प्रकृति एवं ईश्वररूप में परिणत होता है। इस प्रकार इनका मत अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत, दोनों के बीच का मत था। इनका सिद्धान्त है, कि ब्रह्म परिणमित होने पर भी अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता। इनका कहना है, कि कारणावस्था एवं जातिगत अवस्था में, सभी पदार्थों में अभिन्नता है, किन्तु कार्यावस्था में, उनमें निःसन्देह अनेकता एवं भिन्नता है। इस प्रकार ब्रह्म एवं जगत् में भेद भी है, और अभेद भी।[1] किन्तु इनका भेदाभेदवाद भास्कर के भेदाभेदवाद से इस अर्थ में भिन्न है, कि भास्कर अनेकात्मक जगत् की सत्ता को भ्रमात्मक स्वीकार करते हैं, जब कि यादवप्रकाश जगत् को भी ब्रह्म के समान सत्य मानते हैं। भास्कर के अनुसार भेद औपाधिक हैं। यद्यपि उपाधि भी भास्कर के अनुसार मिथ्या न होकर सत्य है, किन्तु ब्रह्म एक निरपेक्ष सत्य है। भास्कर एवं यादवप्रकाश के मत का यह अन्तर भी द्रष्टव्य है, कि जहाँ, एक ओर भास्कर यह मानते हैं, कि ब्रह्म जीवरूप में सीमित शक्ति वाली आत्माओं का भी अनुभव करता है, वहाँ दूसरी ओर यादवप्रकाश का मत है, कि ब्रह्म प्रत्येक स्थिति में अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता। भास्कर के सिद्धान्त का निरूपण, इसी प्रकरण में आगे किया जाएगा।

रामानुजाचार्य (१०१७-११३७ ई०)

रामानुजाचार्य (रामानुज) का दूसरा नाम लक्ष्मण था, जो रामानुज का ही पर्यायवाची है। इनका जन्म सन् १०१७ ई० में भूतपुरी में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवयज्वन् था। केशव-यज्वन् आसुरि केशव के नाम से भी प्रसिद्ध थे। इनकी माता का नाम कान्तिमती था। रामानुज (इलयपेरुमल) का जीवन बड़ा प्रेरणाप्रद रहा है। रामानुज का विवाह सोलह वर्ष की अवस्था में हो गया

---

१. देखें, सर्वार्थसिद्धि, ३।२७।

२. भास्करभाष्य, १।१।१७।

था। किन्तु विवाह के कुछ दिनों के पश्चात् ही इनके पिता का देहावसान हो गया था। तदनन्तर, ये भूतपुरी छोड़कर, यादवप्रकाश से विद्योपार्जन करने के लिए सपरिवार काञ्ची चले गए। इन्होंने अपने मौसेरे भाई गोबिन्द भट्ट के साथ यादवप्रकाश से शिक्षा प्राप्त की थी। किन्तु अपने गुरु यादवप्रकाश से इनकी पटी नहीं। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया है, इसका एक कारण तो यह बतलाया जाता है, कि यादवप्रकाश का अभिमत अद्वैत इन्हें नहीं रुचा। यादवप्रकाश की नाराज़गी का एक कारण यह भी बतलाया जाता है, कि रामानुज ने गाँव की एक ऐसी लड़की को ठीक कर दिया था, जिस पर प्रेतिनी की बाधा थी तथा जिसे यादवप्रकाश ठीक नहीं कर सके थे। यह भी कहा जाता है, कि उपनिषद् के एक अंश को यादव प्रकाश अद्वैत का पोषक मानते थे, जबकि रामानुज के अनुसार उससे विशिष्टाद्वैत की पुष्टि होती थी। कहाँ तक सच है, यह भी कहा जाता है कि जब रामानुज प्रयाग जाय, तो उन्हें गंगा में फेंक दिया जाय, ऐसा जाल भी यादव ने रचा था, किन्तु यह सफल नहीं हो सका, क्योंकि यह सब गोविन्द (उनके साथी) ने रामानुज को बतला दिया था। इसलिए रामानुज प्रयाग न जाकर रास्ते से ही वापस काञ्ची लौट आए। काञ्ची में फिर यादव से विद्योपार्जन करने लगे। एक बार जब यामुनाचार्य ने काञ्ची में रामानुज को यादव के अन्य शिष्यों के साथ देखा तो वे रामानुज को अपना शिष्य बनाने के लिए उत्सुक हो गए। इधर रामानुज का "कप्यासं पुण्डरीकम्" (छा० उ०) को लेकर फिर यादवप्रकाश से मतभेद हो गया। ये इस अंश की विशिष्टाद्वैतपरक व्याख्या करना चाहते थे, किन्तु यादव इसमें अद्वैत की झलक देख रहे थे। परिणाम यह हुआ, कि यादव ने इन्हें निकाल दिया और ये काञ्ची में हस्तिशैल पर नारायण की उपासना करने लगे। यहाँ, इन्होंने प्रथम बार अपने मामा एवं यामुन के शिष्य महापूर्ण से प्रथम बार यामुन के स्तोत्ररत्न का पाठ सुना जिससे मुग्ध होकर, ये यामुनाचार्य से विद्योपार्जन करने के लिए श्रीरंगम् की ओर चल पड़े, किन्तु इनके श्रीरंगम् पहुँचने के पहले ही यामुनाचार्य का देहावसान हो गया। यामुनाचार्य के देहावसान के पश्चात् उनके हाथ की तीन उंगलियाँ मुड़ गई थीं, जिसका अर्थ रामानुज ने यह लगाया कि यामुन की तीन इच्छाएँ पूरी नहीं हुईं, अत एव ऐसा हुआ है। रामानुज की तीन इच्छाएँ थीं–१. वैष्णवों के प्रपत्ति सिद्धान्त में परिवर्तन करना तथा आलवार ग्रन्थों का प्रचार, २. श्रीवैष्णवसम्प्रदायानुसार ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखना, एवं ३. श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रचारार्थ अनेक ग्रन्थों का लेखन। रामानुज वापस काञ्ची आ गए। यहाँ, वे यामुन के शिष्य काञ्चीपूर्ण के शिष्य हो गए। इसके पश्चात् उन्होंने महापूर्ण से पञ्चसंस्कार की दीक्षा ली। रामानुज ने ३० वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण कर लिया। संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् दाशरथि, कुरगनाथ एवं यादवप्रकाश भी इनके शिष्य हो गए। इसके पश्चात् रामानुज श्रीरंगम् में रंगेश की भक्ति में लग गए। रामानुज के शिष्यों में यज्ञमूर्त्ति, भक्तग्रामपूर्ण, व्यरुघ ग्रामपूर्ण, अनन्तार्य, वरदाचार्य एवं यज्ञेन भी प्रसिद्ध हैं।

रामानुज का दार्शनिक सिद्धान्त

रामानुजाचार्य ने सर्वप्रथम गद्यत्रय की रचना की थी। इनके ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र की सूक्ष्म टीका, वेदान्तदीप (ब्रह्मसूत्र की विस्तृत टीका), गीताभाष्य तथा वेदार्थसंग्रह (शांकर तथा भास्कर मत का खंडनात्मक ग्रन्थ), अन्य ग्रन्थ हैं–वेदान्तसार, ब्रह्मसूत्र। उनके ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनके ग्रन्थों में वेदान्तदीप, वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह महत्त्वपूर्ण हैं। भगवद्गीता की टीका तथा भगवद्गीता क्रम का प्रणयन भी इन्होंने किया था।

श्रीभाष्य का रचनाकाल–रामानुजाचार्यदिव्यचरितम् के आधार पर श्रीभाष्य की रचना १०१७ शक संवत् (११५५ ई०) में पूर्ण हुई थी। किन्तु यह मत उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि रामानुज का शरीर ११५५ ई० में शान्त हो गया था, यह सुप्रसिद्ध एवं प्रमाणित है। चलादिस्मृति नामक मध्व ग्रन्थ के अनुसार ११२७ ई० में श्रीभाष्य प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। यह कहा जा सकता है कि १११७ एवं ११२७ ई० के मध्य श्रीभाष्य ने प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। किन्तु गोपीनाथ कविराज का मत है कि श्रीभाष्य का प्रणयन ११२५ ई० में सम्पन्न हुआ था।

रामानुजाचार्य (१०३७-११३७ ई०) का दार्शनिक सिद्धान्त (विशिष्टाद्वैतवाद)

अन्य वेदान्तिक सिद्धान्तों के विपरीत रामानुजीय दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न जीव एवं जड जगत्, ब्रह्म के शरीर, प्रकार एवं विशेषण कहे गए हैं। जीव चित् एवं जड जगत् अचित् है। चित् एवं अचित् से विशिष्ट ब्रह्म ही रामानुज दर्शन का विशिष्टाद्वैत तत्त्व है। इस प्रकार चित् एवं अचित् से विशिष्ट होने के कारण ही, इस सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा है। कुछ समालोचकों ने, अद्वैत तत्व और दो विशिष्ट, कारण एवं कार्य की सत्ता के आधार पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का नामकरण किया है।[1] रामानुजदर्शन के अनुसार यद्यपि जीव तथा जगत् की स्वतन्त्र सत्ताएँ स्वीकार की गई हैं, तथापि परमेश्वर अन्तर्यामी रूप से, भोक्ता–जीव एवं भोग्य–जगत् में स्थित रहता है।[2]

ब्रह्म का विविध प्रकार से वर्णन

रामानुजीय वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन विविध प्रकार से किया गया है। ब्रह्म-सम्बन्धी वर्णनों में, ब्रह्म के आधार, नियन्ता, शासक एवं रक्षक, शेषी, प्रकारी, स्रष्टा एवं सुन्दर रूप के वर्णन प्रमुख हैं। यहाँ ब्रह्म के उपर्युक्त स्वरूपों का समीक्षात्मक निरूपण किया जाएगा।

ब्रह्म का आधार रूप–शांकर अद्वैत के अधिष्ठानवाद सिद्धान्त के विपरीत आचार्य रामानुज ब्रह्म तथा जीव एवं जगत् के बीच शरीर-शरीरी एवं आधाराधेय सम्बन्ध मानते हैं। इस सम्बन्ध के अनुरूप ब्रह्म शरीरी एवं चित् तथा अचित् –जीव-जगत् ब्रह्म के शरीर हैं। दूसरे शब्दों में, शरीरी ब्रह्म, शरीररूप जीव तथा जगत् का आधार है, तथा जीव एवं जगत् उस ब्रह्म के आधेय हैं। इस सम्बन्ध को ही रामानुज वेदान्त में शरीर–शरीरी सम्बन्ध तथा आधाराधेय सम्बन्ध कहा गया है। शरीर की परिभाषा करते हुए, रामानुजाचार्य ने लिखा है, कि वह द्रव्य, जिसकी आत्मा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए रक्षा करता है तथा जिसे धारण करता है और जो आत्मा के अधीन रहता है, उसे शरीर कहते हैं।[3] जिस प्रकार

---

१. The phrase विशिष्टाद्वैतम् is sometimes explained as the oneness or identity and the two Viśhishṭa entities mentioned with text. as cause and effect. (Three great Acharyas p. 151. Footnote) G.A. Nateson and Co. Madras.

२. परमेश्वरस्य भोक्तृभोग्ययोरुभयोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानम्। –सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १०८।

३. यस्य चैतन्यस्य यद् द्रव्यम् सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुं धारयितुं च शक्यम्, तच्चेष्टैकस्वरूपं च तत् तस्य शरीरम्।–श्रीभाष्य, २।१।९६।

४. सर्वं परमपुरुषेण...सर्वचेतनाचेतनं तस्य शरीरम्।–श्रीभाष्य, २।१।६।

कि आत्मा सर्वात्मना शरीर को धारण करता है, तथा उस पर नियमन करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जीव तथा जगत् को धारण करता है, तथा उनका निगमन करता है। इस प्रकार चेतन जीव तथा अचेतन शरीर उस ब्रह्म के शरीर हैं।[७] ब्रह्म जब आत्मा रूप से जीव को धारण करता है, तथा अन्तर्यामी रूप से उस पर शासन करते हुए स्वार्थसिद्धि के लिए उसे उसी प्रकार कार्य में प्रवृत्त करता है, जिस प्रकार कि जीव शरीर को धारण करता हुआ तथा उस पर नियमन करता हुआ अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है, तो ब्रह्म और जीव का यह सम्बन्ध आधाराधेय सम्बन्ध कहलाता है। इस सम्बन्ध के अनुसार ब्रह्म आधार एवं जगत् आधेय है। इस प्रकार शरीर-शरीरी-सम्बन्ध को ही आधाराधेय-सम्बन्ध भी कहते हैं।

ब्रह्म का नियन्ता रूप–रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत आधार रूप ब्रह्म का वर्णन नियन्ता रूप से भी किया गया है। ब्रह्म के इस नियन्ता रूप का उल्लेख, हमें बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत उस स्थल पर स्पष्ट रूप से मिलता है, जहाँ उद्दालक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं, कि इस संसार का अन्तर्यामी नियन्ता एवं शासक कौन है और याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, कि जो परमात्मा समस्त प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से स्थित रहता हुआ भी सबसे अलग रहता है, और जिसे समस्त प्राणी नहीं जानते, परन्तु प्राणी जिसके शरीर हैं, वही परमात्मा अन्तर्यामी रूप से समस्त प्राणियों का नियन्ता है।[१] इस कथन के अन्तर्गत परमात्मा के प्राणियों से पार्थक्य का यही आशय है, कि वह प्राणियों के पाप-पुण्यों से अस्पृष्ट रहता है। नियन्ता परमात्मा पुरुषोत्तमरूप है। उसकी पुरुषोत्तमता यही है, कि वह अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, अविजिगित्स, तृष्णारहित, सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प है।[२] श्वेताश्वतर उपनिषद् में उस परमपुरुष के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है, कि वह परमपुरुष अपाणिपाद होते हुए भी, समस्त वस्तुओं को ग्रहण कर लेता है, तथा सर्वत्र वेगपूर्वक गमन करता है। वह परमात्मा नेत्रहीन होते हुए भी देखता है, तथा अकर्ण होते हुए भी सुनता है। वह सब कुछ जानता है, परन्तु उसे कोई नहीं जानता।[३] वह परमात्मा ही प्राणियों का सर्वोच्च शासक है, जिसके प्रशासन में सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक तथा पृथ्वी एवं समस्त संसार स्थिर रहता है। इसी प्रकार रामानुजवेदान्त के अन्तर्गत अन्तर्यामी परमपुरुष परमात्मा को जगत् का नियन्ता कहा गया है। परमात्मा के नियन्ता रूप के अनुसार जीव एवं जगत् की सत्ता, स्थिति एवं प्रवृत्ति परमात्मा के संकल्प के अधीन है। यही, उस परमात्मा का नियाम्यत्व है।[४] विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज के अतिरिक्त शांकर अद्वैतवाद में भी मायाविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को अन्तर्यामी[५] एवं नियन्ता कहा गया है।[६]

ब्रह्म का शासक एवं रक्षक रूप–रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत जहाँ, चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को नियन्ता कहा है, वहाँ उसके शासक एवं रक्षक रूप का भी व्यवस्थित एवं तर्कप्रतिष्ठित वर्णन मिलता

१. बृहदारण्यक-उपनिषद्, ३।७।१५।
२. श्रीभाष्य, ३।२।११।
३. श्वे० उ० ३।१६।
४. तत्संकल्पाधीनसत्तास्थितिप्रवृत्तिकत्वं नियाम्यत्वम्।
५. ब्रह्मसूत्र, शा० भा०, १।१।२०।
६. ब्रह्मसूत्र, शा० भा०, १।१।१८, २०, २२, १।३।३६, ४१, १।२।६-१०।
७. The Philosophy of Viśiṣṭādvaita, p. 153.

है। रामानुज का शासक ब्रह्म जीवों को उनके कर्मों के अनुसार शुभ एवं अशुभ फल का दाता है। यद्यपि ब्रह्म स्वभाव से परमकारुणिक है, परन्तु उसकी कारुणिकता का यह अर्थ कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिए कि वह पापी को दण्ड नहीं देता। आचार दृष्टि से पापी को दण्ड देना भी उस पर कृपा ही करना है[७]। क्योंकि दण्ड भी पापी के लिए पाप की मुक्ति का ही उपाय है, जो परमात्मा की कृपा से सम्पन्न होता है। इस प्रकार शासक ब्रह्म में करुणा की प्रतिष्ठा होने पर भी रामानुजवेदान्त में कर्म-सिद्धान्त की अवहेलना नहीं की गई है। शासक ब्रह्म, जहाँ पापी को दण्ड देता है, वहाँ पुण्यकृत्यकारी को शुभ फल भी प्रदान करता है।

रामानुजीय दर्शनपद्धति में ब्रह्म के उपर्युक्त शासकरूप के अतिरिक्त उसका एक लोकरक्षक का भी रूप है। लोकरक्षा के ही हेतु ईश्वर जगत् की रक्षा के लिए पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चारूपों को ग्रहण करता है।[१] इनमें प्रथम–पर, ज्ञान, शक्ति आदि कल्याण गुणों से विशिष्ट परब्रह्म, पर वासुदेवादि शब्दों से वाच्य, नारायण का रूप है। ईश्वर का दूसरा व्यूहरूप, उपासना एवं जगत्सृष्टि आदि के लिए वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध भेद से चार रूपों में स्थित होता है। इनमें वासुदेव षड्गुणयुक्त, संकर्षण ज्ञान और बलयुक्त, प्रद्युम्न ऐश्वर्य और वीर्य से युक्त एवं अनिरुद्ध शक्ति और तेज से युक्त हैं। ईश्वर का तीसरा रूप-विभव अवतार रूप है। ईश्वर के मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलभद्र, श्रीकृष्ण एवं कल्की, ये अवतारभेद हैं। इन अवतारों का उद्देश्य दृष्कृति विनाशपूर्वक साधुओं की रक्षा करना ही है। अपने अन्तर्यामी रूप के द्वारा ईश्वर स्वर्ग-नरकादि की अनुभव दशा में भी सुहद्रूप से जीवात्मा के हृदय में स्थित रहता है। अर्चा रूप से ईश्वर मूर्तिविशेष के रूप में[२] गृह, ग्राम, नगर, प्रशस्तदेव एवं पर्वतादि में स्थित रहता है। ईश्वर का यह अर्चा रूप भी, स्वयं व्यक्त, दैव, सैद्ध एवं मानुषभेद से चार प्रकार का है। इस प्रकार ईश्वर के उपर्युक्त रूपों के द्वारा उसके लोकरक्षकत्व गुण की सिद्धि पूर्णतया हो जाती है। इसके अतिरिक्त लोकरक्षकत्व परमकारुणिक ईश्वर की करुणा का एक तीव्र रूप वह भी होता है, जब वह प्रलय के द्वारा पापियों एवं अपराधियों का संहार कर देता है और फिर से सृष्टि-रचना करके मुक्त होने का अवसर प्रदान कर देता है।

ब्रह्म का शेषी रूप–रामानुजवेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म का एक शेषी रूप भी है। ब्रह्म एवं जीव में 'शेष-शेषी' भाव है। ब्रह्म शेषी एवं जीव शेष है। 'शेष' जीव ईश्वर का उपकारक है। जीव की प्रत्येक क्रिया अन्तर्यामी ईश्वर के निर्देशानुसार ही होती है। इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म में सेवक-स्वामी का सम्बन्ध है, परन्तु भगवान् का कैंकर्य परम भक्ति अथवा प्रपत्ति द्वारा ही प्राप्य है।[३] रामानुजाचार्य ने ब्रह्म का वर्णन प्रकारीरूप से भी किया है। ब्रह्म के प्रकारी रूप के अनुसार ब्रह्म 'प्रकारी' और जीव एवं जगत् 'प्रकार' है। इस प्रकार ब्रह्म एवं जीव तथा जगत् के अन्तर्गत प्रकार-प्रकारीभाव सम्बन्ध है। भोक्ता

---

१. एवंप्रकार ईश्वरः पर-व्यूहविभवान्तर्याम्यवताररूपेणपंचप्रकारः,–यतिपतिमतदीपिका, नवम अवतार, पृ० ४०– (ब्रिज बी० दास एण्ड कम्पनी, बनारस १६०७)

२. श्रीभाष्य २।४।१४।

३. रहस्यत्रय, अध्याय ३, पृ० २२ (कल्याण, बम्बई)।

जीव, भोग्य जगत् एवं प्रेरक ईश्वर में स्वरूपभेद होने के कारण भेद होने पर भी प्रकारप्रकारीभाव सम्बन्ध के द्वारा अभेद ही है,[१] क्योंकि रामानुजाचार्य का ब्रह्म प्रकारविशिष्ट प्रकारी कहा गया है।[२]

ब्रह्म का स्रष्टा रूप–विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त के समर्थकों ने ब्रह्म के कारणावस्थ एवं कार्यावस्थ भेद से दो रूप माने हैं। प्रलयकाल में जीव एवं जगत् के सूक्ष्मरूपता प्राप्त कर लेने पर सूक्ष्म चित् एवं अचित् से विशिष्ट ईश्वर 'कारणावस्थ ब्रह्म' कहलाता है।[३] कारण एवं कार्य ब्रह्म का यह पार्थक्य ही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का समर्थक है। कारणावस्थ ब्रह्म स्वेच्छा से कार्यावस्था को प्राप्त होता है। अतः ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।

कार्यरूप जीव एवं जगत् की सत्ता कारणरूप ब्रह्म में वर्तमान रहती है,[४] इसीलिए रामानुज-वेदान्त में कार्यकारणवादसम्बन्धी सिद्धान्त के अन्तर्गत अद्वैतवेदान्त की तरह विवर्तवाद सिद्धान्त को न मानकर सत्कार्यवाद सिद्धान्त का समर्थन किया गया है।

रामानुजवेदान्त के अन्तर्गत सृष्टि का सापेक्ष विधान द्रष्टव्य है। इस सापेक्ष विधान के अनुसार प्रलय एवं सृष्टि, ब्रह्म की दो अवस्थायें मात्र हैं। ब्रह्म की कारणावस्था प्रलय की स्थिति है, और कार्यावस्था सृष्टि की स्थिति। प्रलयकालिक ब्रह्म कारणावस्था को प्राप्त होकर जब स्वेच्छा से सृष्टि आरम्भ करता है, तो सूक्ष्म भौतिक तत्त्व स्थूल दशा को प्राप्त होते हैं, और फिर जीव अपने पूर्व जन्म के पाप एवं पुण्यों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीरों में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार स्रष्टा ब्रह्म, जगत् की सृष्टि विभिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुरूप ही करता है। अतः यह कहना और संगत होगा कि स्रष्टा ब्रह्म जगत् की सृष्टि करने में पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है[५]।

रामानुजदर्शन में जीव का स्वरूप

रामानुजवेदान्त के अन्तर्गत निर्दिष्ट जीव का स्वरूप शांकरवेदान्त में विवेचित जीव के स्वरूप से नितान्त भिन्न है। जहां, शांकर अद्वैतवाद के अनुरूप जीव और ब्रह्म की एकता का निरूपण करते हुए, यह कहा गया है, कि जीव स्वरूपतः ब्रह्म ही है, वहाँ रामानुज दर्शन में जीव की अनन्त सत्ता स्वीकार की गई है[६]। रामानुजाचार्य के मतानुसार जीव ब्रह्म का प्रकार होने से सत्य, अद्वितीय, अनन्त, ज्ञान शक्तिसम्पन्न, चैतन्यस्वरूप, अवयवरहित, परिवर्तनीय, अगोचर एवं अणुरूप है[७]। जीव की सत्ता शरीर,

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, ४।३०।
२. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 685. (F. note)
३. यतिपतिमतदीपिका, पृ० ३६।
४. *Ghate* : The Vedānta p. 28.
५. श्री भाष्य २।१।३४, ३५।
६. *M. Hiriyanna* : Outlines of Indian Philosophy, p. 405. (London, Allen & Unwin–1956)
७. श्रीभाष्य २।२।१६-३२, २।३।१८, यतिपतिमतदीपिका ८।

इन्द्रियों, प्राण एवं बुद्धि से पृथक् है। जीव कर्ता एवं भोक्ता दोनों ही है। अणुरूप जीव का आधारस्थान हृत्पद्म है। सुषुप्ति अवस्था में जीव हृत्पद्म एवं परमात्मा का आश्रय लेकर विश्राम करता है।[1] यद्यपि जीव अणु है, परन्तु अणु होते हुए भी विस्तार एवं संकोचशील ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण, शरीर के सुख एवं दुःख का भोक्ता है। श्रीभाष्यकार ने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देते हुए कहा है, कि जिस प्रकार दीपक की ज्वाला लघु होते हुए भी अपने प्रकाश के द्वारा अनेक वस्तुओं को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार अणु जीव भी सुख-दुःख का भोक्ता बनता है। दीपक के विस्तार एवं संकोचशील प्रकाश के समान ही जीव का ज्ञान भी विस्तार एवं संकोच से सम्पन्न है।

जीवों की संख्या अनन्त है। प्राणियों में सुख एवं दुःख का पृथक् -पृथक् विभाजन जीवों की अनन्तता का द्योतक है। यद्यपि जीव, जगत् में अनेक बार जन्म लेते हैं, परन्तु अनेक बार जन्म लेने पर भी उनके मूल रूप में परिवर्तन न होकर बाह्य रूपों में ही परिवर्तन होता है।

रामानुजदर्शन के अन्तर्गत जीव को ज्ञाता कहा गया है। बन्धन एवं मुक्ति दोनों अवस्थाओं में, जीव का ज्ञातृत्व बना रहता है।[2] इसके अतिरिक्त शांकरवेदान्त के विपरीत रामानुजवेदान्त में जीव एवं ब्रह्म में अद्वैतता न मानकर 'अंशांशिभाव' का प्रतिपादन किया गया है। अंशांशिभाव के अनुसार ब्रह्म अंशी एवं जीव अंश है। जीव की अंशता से यह कदापि न ग्रहण करना चाहिए कि जीव ब्रह्म का कोई पृथक् कृत अंश है, क्योंकि ब्रह्म भेदों से रहित है।[3] जीवों के, ब्रह्म के विशेषण एवं 'प्रकार' होने के कारण ही उन्हें ब्रह्म का अंश कहा गया है।[4]

जीवों के भेद

रामानुजदर्शन के अन्तर्गत जीव के बद्ध, मुक्त एवं नित्य रूप से तीन भेद माने गए हैं।[5] जो जीव अज्ञान एवं स्वार्थ के कारण संसार में बार-बार जन्म लेते हैं, वे बद्ध कहलाते हैं।[6] चतुर्दश भुवनों में रहने वाले ब्रह्म आदि से लेकर कीट पर्यन्त जीव बद्ध कोटि में आते हैं। बद्ध जीव के ही देव, मनुष्य, तिर्यक् एवं स्थावर, ये चार भेद हैं। कुछ एक विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् जीवों का एक भेद नित्यबद्ध भी मानते हैं। नित्यबद्ध वे जीव हैं जो सदा संसार चक्र में फंसे रहते हैं।[7] जैसा कि ऊपर कहा है, दूसरे प्रकार के जीव मुक्त जीव कहलाते हैं। ये वे जीव हैं, जो अपनी बुद्धि, गुणों एवं भक्ति के द्वारा संसार के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे प्रकार के नित्य जीव वे जीव हैं जो भगवदभिमत आचरण के विरुद्ध कदापि व्यवहार नहीं करते। ऐसे जीवों के ज्ञान के संकोच का अवसर नहीं आता।[8] ये जीव

---

१. श्रीभाष्य, ३।२।७।
२. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 692.
३. श्रीभाष्य २।३।४२।
४. वही, २।३।४५।
५. स जीवस्त्रिविधः–बद्धमुक्तनित्यभेदात्। यतिपतिमतदीपिका, पृ० ३२।
६. रहस्यत्रयसार, ४।
७. तत्त्वमुक्ताकलाप, २।२७, २८।
८. यतिपतिमतदीपिका, पृष्ठ ३६।

कर्म एवं प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर आनन्द का अनुभव करते हुए वैकुण्ठ में निवास करते हैं। गरुड एवं विष्वक्सेन आदि जीव नित्य जीवों की कोटि में आते हैं।

जगत्

शांकरवेदान्त के अन्तर्गत जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन अत्यन्त बलपूर्वक किया गया है। इसके विपरीत विशिष्टाद्वैतवादी परम्परा के अनुसार ब्रह्म एवं जगत् के शरीर–शरीरी एवं विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध के आधार पर जगत् को, ब्रह्म का शरीर एवं विशेषण होने के कारण मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार, कि नील कमल का नीलत्व कमल से पृथक् नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार जगत् की सत्ता भी ब्रह्म से पृथक् नहीं है। अतः शांकरवेदान्त में जगत् को जिस व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत बतलाया गया है, रामानुजीय दर्शन में उसका वैपरीत्य है।[१] रामानुज दर्शन, में अचित् जगत् भी उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार, कि ब्रह्म और जीव। मूलतः, जगत्, ब्रह्म और जीव दोनों से भिन्न है, परन्तु साथ ही साथ, ब्रह्म का विशेषण एवं प्रकार होने के कारण, जगत् की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है[२]। ब्रह्म की कार्यावस्था में सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट रूप से स्थित ब्रह्म स्वेच्छा से, विचित्र शक्ति के योग से नामरूपात्मक जगत् एवं जीवों की सृष्टि करता है।

मुक्ति का स्वरूप

रामानुजदर्शन का मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त शांकरवेदान्त के मुक्तिसम्बन्धी सिद्धांत से नितान्त भिन्न है। शांकरवेदान्त के अनुसार मुक्ति के अन्तर्गत जीव और ब्रह्म की जिस एकता का विवेचन किया गया है, उसका रामानुजदर्शनपद्धति से विरोध है। रामानुजदर्शन के अनुसार जीव ब्रह्म के साथ ऐक्य को न प्राप्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।[३] इन दोनों सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन अभी रामानुजदर्शन का निरूपण करने के पश्चात् किया जाएगा। रामानुजदर्शन के अनुसार मुक्त जीव सर्वज्ञत्व एवं सत्यसंकल्पत्व को तो प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह ईश्वर की तरह सर्वकर्तृत्व गुण से सम्पन्न नहीं होता।[४] मुक्त जीव को स्वराट् कहने का यही आशय है, कि वह संसार के कर्मबन्धन से मुक्त होता है।[५]

शांकरवेदान्त के विपरीत रामानुजवेदान्त के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति को न स्वीकार करके, केवल विदेह मुक्ति का ही समर्थन किया गया है। मुक्त जीव की कोई कामना न होने के कारण, उसे फिर संसार में जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता।[६] इसीलिए रामानुजवेदान्त में विदेहमुक्ति का समर्थन किया गया

---

१. *Radha-kKrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 701.

२. *Ghate* : The Vedānta, p. 28.

३. ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम्। –श्रीभाष्य १।१।१।

४. एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च।
सर्वकर्तृत्वमेवैक तेभ्यो देवे विशिष्यते। – सर्वदर्शन संग्रह ४।४३ तथा देखिए, श्रीभाष्य ४।४।१७।

५. श्रुतप्रकाशिका–श्रीभाष्य १।१।१।

६. श्रीभाष्य ४।४।२२।

है। मुक्तावस्था में जीवात्मा, यों तो अनेक शरीरों में प्रवेश कर सकता है, और स्रष्टा द्वारा यह अनेकों लोकों का आनन्द ले सकता है, परन्तु स्रष्टा ब्रह्म की अपेक्षा जीव में दो न्यूनताएँ स्पष्ट रूप से मिलती हैं। एक तो यह, कि जीव अणु है, और दूसरी यह, कि जगत् की क्रियाओं के नियन्त्रण की शक्ति जीव में नहीं होती। उक्त न्यूनताओं की पूर्ति ब्रह्म में ही मिलती है।[१]

विशिष्टाद्वैतदर्शन परम्परा के अनुसार मुक्त जीव भी दो प्रकार के हैं–एक वे जो संसार और स्वर्ग में परमेश्वर के किंकर बने रहना चाहते हैं। इन जीवों का यह कैंकर्य ही मुक्ति है। दूसरे प्रकार के मुक्त जीव केवली कहलाते हैं, मुक्त जीवों का सम्बन्ध किसी अन्य वस्तु से नहीं होता। ये जीव अपने मुक्तिरूप लक्ष्य की प्राप्ति आत्मा के सतत चिन्तन द्वारा प्राप्त करते हैं।[२] प्रथम प्रकार के मुक्तों को कैंकर्य रस की उपलब्धि होती है, और इससे उनमें निःस्वार्थ सेवा का भाव उत्पन्न होता है। इसके विपरीत केवली मुक्तों को आत्मरतिरूप आनन्द की उपलब्धि होती है।[३]

मुक्तात्माओं को जिस वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है, वह साधारण जीवन से भिन्न नहीं है[४]। वेश-भूषा, रहन-सहन एवं रमणीक दृश्यों की सुसम्पन्न योजना वैकुण्ठ में साधारण जीवन की अपेक्षा विशिष्ट होती है। वैकुण्ठ में जीव संगीत भी सुनता है, और कभी-कभी गूढ़ रहस्यों का विवेचन भी करता है। इस प्रकार वैकुण्ठ में भी जीव के कामना एवं विलासिता के जीवन का अन्त नहीं होता। अतः रामानुजदर्शन के अनुसार मुक्त पुरुष परमात्मा द्वारा सृष्ट आनन्दमय पदार्थों का भोग करता है। (वे० सा० ४।४)

रामानुजदर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

रामानुज दर्शन के अनुयायी विद्वानों का मत है, कि ज्ञानयोग एवं कर्मयोग से शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक एकान्तिक भक्तियोग से भगवान् की उपलब्धि करता है।[५] विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज ने तो मुक्ति में भक्ति को प्रधान कारण माना है।[६] भक्ति में भी परा प्रपत्ति का महत्त्व रामानुजदर्शन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रपत्ति का अर्थ शरणागति है। यामुनाचार्य के शब्दों में प्रपत्ति को प्राप्त भगवान् का भक्त न अपने आपको धर्मनिष्ठ मानता है, न आत्मवेत्ता और न भक्तिमान्। वह सदा अपने अकिंचनत्व एवं अनन्यगतित्व का ही भगवान् से निवेदन करता है।[७] प्रपत्ति को प्राप्त भक्त की दृष्टि में एकमात्र भगवान् ही उसका उद्धारकर्त्ता है।[८] इस प्रकार प्रपत्ति का अर्थ भक्त का सर्वात्मना

---

१. श्रीभाष्य ४।४।१३, १५।

२. *Radha Krishnan* : Indian Philosophy, p. 711.

३. *P.N. Shrinivasachari* : The Philosophy of Vishishtadvaita, page 489-490.

४. नारद-पंचरात्र १।६।१३, १४, १५, १६, १७। (सुवर्ण प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, सन् १६०६)

५. बलदेव उपाध्याय–भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४७४।

६. वेदार्थ संग्रह, पृष्ठ १४५, १४७।

७. नधर्मनिष्ठोस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये।। –यामुनाचार्य : आलवन्दर स्तोत्र २५।

८. रामानुजाचार्य, शरणगति गद्यम्, १२।

भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण है। समर्पण के भी निम्नलिखित तीन भेद हैं[1]–

(१) फलसमर्पण। (२) भारसमर्पण। (३) स्वरूपसमर्पण।

(१) **फलसमर्पण**–फलसमर्पण के अन्तर्गत भक्त का फल-त्याग आता है। फल का समर्पण करने वाला भक्त प्रपत्ति रूप साधन से किसी प्रकार के आत्मानन्द या आत्मसन्तोष की कामना नहीं करता। जहाँ ऐश्वर्य एवं कैवल्य के साधक स्वर्ग और आत्म-दर्शन की कामना करते हैं, वहाँ प्रपत्ति का सच्चा अनुयायी यही समझता है, कि अनन्यार्ह, शेष एवं पूर्ण परतन्त्र रूप में उसका आधार 'शेषी' परमात्मा ही है। प्रपत्ति पर आधारित भक्त अपनी सत्ता भगवान् की प्रसन्नता के लिए ही समझता है। इस प्रकार प्रपत्ति में फल-समर्पण के द्वारा भक्त फल का पूर्णरूपेण त्याग कर देता है।

(२) **भारसमर्पण**–भारसमर्पण के द्वारा भक्त अपनी रक्षा का पूर्ण भार अपने ऊपर न रखकर पूर्णतया भगवान् को समर्पण कर देता है। प्रपत्ति के अनुसार आत्मरक्षा का भाव उस रक्षक में उत्पन्न होता है, जो साध्य एवं साधन दोनों ही है, न कि प्रपन्न में। इसका कारण यह है, कि प्रपन्न द्वारा पूर्ण समर्पण होने पर, रक्षक एवं रक्ष्य का भेद नहीं रह जाता। भारसमर्पणमूलक प्रपत्ति और भक्ति में, यह प्रमुख भेद है, कि प्रपत्ति, हृदय को कर्तव्य, प्रयत्न एवं पाप के भार से मुक्त कर देती है, जबकि भक्तियोग के अनुसार भक्त में सतत नैतिक प्रयत्न एवं आध्यात्मिक उत्कण्ठा तथा जागरण अपेक्षित होता है।[2] अतः प्रपत्ति-योग भक्तियोग की अपेक्षा सरल है।

(३) **स्वरूप-समर्पण**–स्वरूप-समर्पण के द्वारा प्रपन्न अपने स्वरूप का पूर्ण रूप से त्याग कर देता है। स्वरूप-समर्पण केवल अहंकार त्याग ही नहीं है, अपितु उसमें आत्म-समर्पण का भाव भी निहित है।

इस प्रकार प्रपत्ति भाव द्वारा पूर्ण आत्मसमर्पण का नाम है। परन्तु प्रपत्ति-सम्बन्धी विवेचन के समय यह विचार करना भी अत्यन्त अपेक्षित है, कि क्या प्रपत्ति में कर्मानुष्ठान की उपादेयता है, अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत हैं–

(१) **टैंकलई मत**–इस मत के प्रस्थापक श्री लोकाचार्य हैं। ये प्रपत्ति में कर्मों के अनुष्ठान को आवश्यक नहीं मानते। इनका विचार है, कि प्रपत्ति के अन्तर्गत भक्त पर भगवान् की दया किसी कर्मादि हेतु पर नहीं आधारित होती। यह इसी प्रकार है, जिस प्रकार, कि मार्जार शिशु जब अपनी माँ (बिल्ली) की शरण में जाता है, तो उसकी मां (बिल्ली) तुरन्त शिशु को मुँह में दबाकर यथास्थान पहुँचा देती है। अहिर्बुध्न्यसंहिता[3] एवं शठकोपाचार्य[4] आदि की उक्तियों के अनुसार भी भक्त पर भगवान् की अकारण कृपा का ही उल्लेख है।

---

१. वेदान्तदेशिक, न्यासदशक, श्लोक २।

२. *Shrinivāsāchāri* : The Philosophy of Vishishtadvaita, p. 392.

४. अहिर्बुध्न्यसंहिता, १४।२६।

४. श्रीवचनभूषण, पृष्ट ६२७।

(२) **बडकलै मत**—बडकलै मत के प्रस्थापक आचार्य वेदान्तदेशिक हैं। इस मत के अन्तर्गत वेदान्तदेशिक प्रपत्ति के लिए भक्तों के कर्मानुष्ठान को आवश्यक मानते हैं।

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद की तुलना

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त का विवेचन अभी ऊपर किया जा चुका है। अद्वैतवाद का निरूपण भी किया जा चुका है। अतः, यहाँ उसके पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं समझते।

शंकराचार्य एवं रामानुज-वेदान्त की तुलना करते हुए डाक्टर राधाकृष्णन् ने लिखा है–

Śaṅkara and Rāmānuja are the two great thinkers of the Vedānta, and the best qualities of each were defects of the other.[1]

डा० राधाकृष्णन के उपर्युक्त कथन के अनुसार शंकर और रामानुज दोनों वेदान्त के महान् विचारक हैं। इन दोनों में प्रत्येक के उत्तम गुण दूसरे के दोष हैं। विचार करने पर, यों तो दोनों ही दर्शन-पद्धतियाँ अपने-अपने प्रकार एवं स्वरूप के अनुसार बड़े बलपूर्वक स्थापित की गई हैं, परन्तु फिर भी दोनों की कुछ-न-कुछ दुर्बलताएँ अवश्य देखने को मिलती हैं। कहना न होगा, कि शंकराचार्य का दर्शन यदि तर्कपुष्ट होने के कारण धार्मिक आकर्षण से दूर है तो रामानुजाचार्य द्वारा की गई परलोकसम्बन्धिनी सुन्दर कथाएँ विश्वास की भाजन नहीं बनतीं। इसके विपरीत शांकरवेदान्त की वह तर्कविद्या जो ईश्वर, जीव एवं जगत् को पूर्ण ब्रह्म का रूप देती है, रामानुजदर्शन में किसी प्रकार ग्राह्य नहीं है। जैसा कि, रामानुजदर्शन की विवेचना के समय कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर, जीव एवं जगत् की पृथक् -पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है, जबकि अद्वेती शंकराचार्य ने परमार्थतः ईश्वर, जीव एवं जगत् की पृथक् सत्ता को न स्वीकार करके, एकमात्र अद्वैत ब्रह्म की ही सत्ता को सिद्ध किया है। इसके साथ ही साथ, यदि शांकरवेदान्त में बौद्धिक सन्तुष्टि के लिए तर्क की सुन्दर योजना की गई है, तो रामानुजीय दर्शनपद्धति में अपूर्व धार्मिक दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। इस प्रकार, यह निश्चित है कि दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवाद को जो प्रतिष्ठा मिली है, वह रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद को नहीं। धार्मिक दृष्टि से, निःसन्देह रामानुजदर्शन की देन बेजोड़ है, परन्तु धर्म जीवन का प्रथम चरण है और दर्शन द्वितीय। धर्म साधन है, साध्य तो दर्शन ही है। समालोचक घाटे ने शांकरवेदान्त के विशिष्ट आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार तो किया है, परन्तु साथ ही साथ उन्होंने उस पर लोकसामान्य के अनुपयोगी होने का आरोप भी लगाया है[२]। मेरे विचार से जैसा कि घाटे महोदय ने स्वयं स्वीकार किया है, शंकराचार्य द्वारा की गई उपास्य-सगुण ब्रह्म की प्रस्थापना शंकराचार्य के अध्यात्मदर्शन को पूर्णतया लोकसामान्य के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। परन्तु शंकराचार्यप्रतिपादित उपास्य ईश्वर की आलोचना करते हुए घाटे साहब ने उसे मिथ्या एवं गौण कहा है[३]। घाटे महोदय का उक्त मत समीचीन नहीं कहा

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, p. 720.

२. *Ghate* : The Vedānta, p. 20.

३. वही।

जा सकता, क्योंकि शांकर वेदान्त में मायोपहित ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। अतः मायोपहित ब्रह्म अर्थात् ईश्वर में माया को ही मिथ्या कहा जा सकता है, न कि ब्रह्म को। जहाँ तक कि, ईश्वर को गौण सिद्ध करने की बात है, वह भी उचित नहीं है। इसका कारण यह है, कि शांकरवेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म एवं ईश्वर-रूप से दो भिन्न तत्वों की स्थापना नहीं की गई है। यदि ऐसा हुआ होता तो अद्वैत सिद्धान्त की सिद्धि ही सम्भव न होती। अतः ब्रह्म एवं ईश्वर के मूलतः एक होने के कारण प्रधानत्व एवं गौणत्व का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। जब साधक, ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त हो जाता है, तो उसकी दृष्टि में, ईश्वर एवं ब्रह्म का स्वरूपभेद नहीं रहता। अतः ईश्वर के सम्बन्ध में घाटे महोदय की गौणत्व की कल्पना समीचीन नहीं प्रतीत होती।

प्रायः समालोचकों ने रामानुजदर्शन के धार्मिक दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व दिया है।[1] परन्तु जैसा कि, कहा जा चुका है, धर्म जीवन का साधन मात्र है। दर्शन ही के द्वारा आत्मदर्शन सम्भव है। अब यहां शंकराचार्य एवं रामानुजदर्शन के ब्रह्म, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तुलनात्मक रीति से विचार किया जाएगा। इससे दोनों महान् दार्शनिकों का सैद्धान्तिक अन्तर स्वतः स्पष्ट हो जाएगा।

ब्रह्म

ब्रह्मतत्त्व की स्थापना शांकर एवं रामानुज-वेदान्त की उच्चतम निधि है, परन्तु दोनों दर्शनपद्धतियों की ब्रह्मसम्बन्धिनी विचारधारा में पर्याप्त अन्तर है। शांकरवेदान्त का ब्रह्म अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूपरहित, सकृद्-विभात एवं सर्वज्ञ है।[2] शांकरवेदान्त में ब्रह्म की सर्वज्ञता का आशय उसकी ज्ञानरूपता से है,[3] न कि उसके सर्वज्ञातृत्व से। रामानुजाचार्य का ब्रह्म उपर्युक्त शांकरवेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म से बहुत-सी बातों में भिन्न है। जैसा कि, पहले भी कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म समस्त दोषों से रहित, असीम, अतिशय एवं असंख्य कल्याण गुणों से सम्पन्न पुरुषोत्तम का रूप है।[4] रामानुज के ब्रह्म की कल्याणगुणसम्पन्नता एवं पुरुषोत्तमाभिधानता[5] शांकरवेदान्त के ब्रह्म से विपरीत है। शांकरवेदान्त का ब्रह्म तो निर्गुण एवं निरभिधान है। यों, रामानुज भी ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं, परन्तु उनकी निर्गुणता की परिभाषा शांकरवेदान्त की निर्गुणता की परिभाषा से भिन्न है। रामानुज का कथन है, कि ब्रह्म समस्त हेय गुणों से शून्य है, इसीलिए वह निर्गुण कहलाता है।[6]

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 720.

२. गौ० का० ३।३६।

३. शा० भा०, गौ० का० ३।३६।

४. श्रीभाष्य, १।१।१।

५. पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। –श्रीभाष्य, १।१।१।

६. निर्गुणवादश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यते। –श्रीभाष्य, पृ० ८३।

रामानुज-वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म को चिदचिद्विशेषणों से विशिष्ट कहना भी शांकरवेदान्त की ब्रह्मविषयिका विचारधारा से भिन्न है। जहाँ, शांकरवेदान्त का ब्रह्म समस्त भेदों से रहित होता हुआ अद्वैत सत्य रूप है, वहाँ रामानुजाचार्य का ब्रह्म सजातीय-विजातीय भेदों में शून्य होते हुए भी स्वगत भेद से शून्य नहीं है। इसके अतिरिक्त शांकरवेदान्त में मायोपाधिक ब्रह्म एवं ईश्वर में भेद नहीं है। रामानुज वेदान्त में जहाँ, सगुण ब्रह्म के अतिरिक्त जीव एवं जगत् की नित्यता स्वीकार की गई है, वहाँ शांकरवेदान्त में जीव एवं जगत् की नित्यता का निराकरण कर, इन्हें मिथ्या सिद्ध किया गया है। इस प्रकार जहां, अद्वैतवेदान्त में एकमात्र ब्रह्म को ही नित्य पदार्थ माना है, वहाँ रामानुजदर्शन में ब्रह्म, जीव एवं जगत्, इन तीन नित्य पदार्थों को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार शांकरवेदान्त एवं रामानुज वेदान्त के ब्रह्मसम्बन्धी विचार में पर्याप्त अन्तर है। परन्तु ब्रह्म का सत्, चित् एवं आनन्द रूप दोनों दर्शन-पद्धतियों में समान है।

जीव

शांकरवेदान्त के अन्तर्गत 'ब्रह्मैव जीवः स्वयम्,' (विवेकचूडामणि, ३६५) कहकर जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता सिद्ध की गई है। जीव की जीवता तभी तक है, जब तक कि वह अविद्या से उपहित है। अविद्यानिवृत्ति होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप, ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है। इस प्रकार शांकर-वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता स्वयंसिद्ध है, परन्तु इसके विपरीत रामानुजवेदान्त में जीव एवं ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट है। ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्ध में विचारित शेष-शेषीभावसम्बन्ध, प्रकार-प्रकारी-भावसम्बन्ध, नियाम्य-नियामकभाव-सम्बन्ध एवं विशेषणविशेष्यभाव आदि सम्बन्ध दोनों की भिन्न स्थिति के ही सूचक हैं। इसके अतिरिक्त रामानुज-वेदान्त में ब्रह्म एवं जीव में अंशांशिभावसम्बन्ध माना गया है। अंशाशिभाव को स्पष्ट करते हुए, रामानुजाचार्य ने कहा है, कि जिस प्रकार अग्नि आदि आदित्यादि के, गोत्वादि गवादि के और देव-मनुष्य आदि शरीर, देही के अंश हैं, उसी प्रकार जीव परमात्मा का अंश है।[१] रामानुजदर्शन में अंशांशिभाव होने पर भी ब्रह्म एवं जीव में विशेषणविशेष्य सम्बन्ध होने के कारण दोनों में स्वाभाविक वैलक्षण्य भी मिलता है।[२] इसके अतिरिक्त रामानुज-वेदान्त में जीव को ज्ञाता कहा गया है।[३] जबकि शांकरवेदान्त में जीव 'ज्ञ' कहा गया है।[४] अपने ज्ञत्व के कारण ही जीव स्वयं ज्योतिस्वरूप कहलाता है।

शांकरवेदान्त का जीव विभु एवं सर्वव्यापक है, परन्तु रामानुजाचार्य ने जीव के विभुत्व का निराकरण कर उसे अणु सिद्ध किया है।[५] जीव के विभुत्व एवं अणुत्व के आधार पर ही, दोनों दर्शनपद्धतियों का यह भेद भी द्रष्टव्य है, कि अद्वैतवेदान्त के विभु जीव के उत्क्रमण एवं आगमन का प्रश्न नहीं उपस्थित होता, जबकि विशिष्टाद्वैतवेदान्त के अनुसार अणु जीव की उत्क्रान्ति, चन्द्रादिलोकगमन एवं ऊर्ध्व लोकों से आगमन की बात पूर्णतया सिद्ध होती है।[६] इस प्रकार शांकरवेदान्त और

---

१. श्रीभाष्य, २।३।४५।

२. विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते। –श्रीभाष्य, २।३।४५।

३. श्रीभाष्य, २।३।१९ तथा देखिए–*Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, page 692.

४. ब्र० सू०, शा० भा० २।३।१०।

५. नायं सर्वगतः अपि त्वणुरेवायमात्मा। –श्रीभाष्य, २।३।२०।

६. श्रीभाष्य, २।३।२०।

रामानुज-वेदान्त की जीवसम्बन्धित विचारधारा में मौलिक भेद हैं।

जगत्

शांकरवेदान्त का जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। अद्वैतवेदान्त के व्याख्याताओं द्वारा मिथ्यात्व की व्याख्या सदसद्विलक्षणत्व की जाने पर भी, इस दर्शन पर आलोचकों द्वारा पलायनवादिता का अनुचित आरोप लगाया गया है। शांकरवेदान्त में जगत् की व्यावहारिक सत्ता निःसंकोच स्वीकार की गई है, परन्तु रामानुजदर्शन में जगत् को मूलतया सत्य स्वीकार किया गया है। दोनों दर्शन पद्धतियों की तुलना करते हुए घाटे महोदय लिखते हैं-

According to one, the world as we perceive it, is unreal, only an appearence superimposed through nescience on the real entity, i.e. Brahman, just like that of serpent superimposed on a rope. According to the other, the world, though inexplicable, is however, as real as the Brahman.[1]

घाटे साहब के उपर्युक्त कथन के अनुसार रज्जु में आरोपित सर्प के समान अज्ञान के कारण ब्रह्म में आरोपित जगत् के शांकरवेदान्तगत स्वरूप से रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण करते समय कहा जा चुका है, रामानुज-वेदान्त द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म एवं जगत् का शरीर-शरीरी-सम्बन्ध भी शांकरवेदान्त में पूर्ण विपरीत है।

शांकरवेदान्त का, ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध में प्रचलित अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त भी रामानुज-दर्शन पद्धति में ग्राह्य नहीं है। अद्वैतियों के अधिष्ठानवाद के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान एवं जगत् अध्यास अविद्या रूप है। जबकि रामानुज-वेदान्त के अन्तर्गत अविद्यावाद या मायावाद सिद्धान्त को मूलतया अस्वीकार किया गया है। मायावाद सिद्धान्त के विरोध में रामानुज ने जो आक्षेप लगाये हैं, उनकी समीक्षा अभी आगे की जायेगी।

कार्य-कारणवाद

शांकर-वेदान्त एवं रामानुज-वेदान्त के कार्यकारणवाद-सिद्धान्त भी एक-दूसरे से विरुद्ध हैं। शांकर-वेदान्त के अन्तर्गत मायाशक्तिसम्पन्न ब्रह्म जगत् का उपादान-कारण एवं निमित्तकारण दोनों हैं। माया के कारण ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है, एवं चैतन्यरूप होने के कारण निमित्त-कारण है। रामानुजदर्शन के अनुसार सृष्टि एवं प्रलय ब्रह्म की ही दो स्थितियों के नाम हैं। (रामानुजभाष्यगीता, १३।२, ६।७) प्रलयावस्था में जो ब्रह्म कारणरूप से स्थित रहता है वही सृष्टिकाल में कार्यावस्थ देखा जाता है। इस प्रकार सृष्टि एवं प्रलय ब्रह्म की ही दो स्थितियाँ हैं। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार रामानुज सत्कार्यवाद[2] के समर्थक हैं, और शंकराचार्य विवर्तवाद के। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता वर्तमान रहती है। जैसा कि अभी कह चुके हैं, जगत् की कार्यता ब्रह्म के अवस्थान्तर का ही नाम है।[3] इसके विपरीत शांकरवेदान्त के अनुसार जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण, न ब्रह्म का कार्य

---

१. *Ghate* : The Vedānta, p. 173.

२. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 678.

३. अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता। -रामानुजाभाष्य, गीता १३।२।

है, और न परिणाम। शांकरवेदान्त में तो जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विवर्तवाद के अनुसार जगत् ब्रह्म का कार्य न होकर मायिक, एवं मिथ्या प्रतीतिमात्र का फल है। कार्य-कारण-सम्बन्धी उक्त विचार के कारण ही शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य के ख्यातिसम्बन्धी विचार में भी अन्तर है। रामानुज के अनुसार शुक्ति आदि में रजतादि की ख्याति असत्ख्यातिवादी बौद्ध की तरह असत् अथवा शांकरवेदान्ती की तरह अनिर्वचनीय न होकर सत् है। इसके विपरीत शांकरवेदान्त के अन्तर्गत शुक्ति आदि में रजतादि की ख्याति को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य के कार्य-कारण-सम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर मिलता है।

मुक्ति का विचार

रामानुज-दर्शन की मुक्तिविषयक विचारणा के अवसर पर अभी पीछे रामानुज एवं शांकरवेदान्त की मुक्ति से सम्बन्धित अन्तर का संकेत किया गया था। निश्चय ही, दोनों की मुक्तिविषयक विचारधारा में पर्याप्त अन्तर है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवेदान्त की प्रक्रिया के फलस्वरूप मुक्ति जीव की ब्रह्मदशा-प्राप्ति का नाम है। जब जीव की अविद्या निवृत्त हो जाती है, तो वह ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होता है। शांकरवेदान्त के इस दृष्टिकोण से रामानुज का मौलिक विरोध है। रामानुज के मतानुसार मुक्त जीव एवं ब्रह्म की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है। शांकरवेदान्त के विपरीत रामानुजाचार्य का विचार है, कि मुक्त जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है, न कि स्वरूपैक्य को। (श्रीभाष्य १।१।१), इसके अतिरिक्त रामानुज-वेदान्त में, जहाँ, मुक्त जीव का चन्द्रादिलोकगमन संगत है,[१] वहाँ, शांकरवेदान्त में ब्रह्मभावापन्न मुक्त जीव की परलोकादिगमनशीलता का पूर्णतया निराकरण किया गया हैं।[२]

शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य के मुक्तिसम्बन्धी विचार का यह अन्तर और विचार्य है कि जहाँ, शंकराचार्य जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति, दोनों के समर्थक हैं, वहाँ रामानुजाचार्य के मतानुसार केवल विदेहमुक्ति को ही स्वीकार किया गया है।[३] रामानुजाचार्य का सिद्धान्त है, कि जब जीव को परब्रह्म का अनुभव हो जाता है, तो फिर उसे शरीरग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।[४] परन्तु शांकरवेदान्त के अनुसार अविद्यानिवृत्ति के फलस्वरूप आत्मवोध होने पर जीव को तब तक शरीर धारण करना पड़ता है, जब तक कि प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता। यहाँ तक, कि अपान्तरतमा आदि को भी अक्षीण कर्मों के भोग के लिए जन्म ग्रहण करना पड़ता था। इस प्रकार शांकरवेदान्त में जीवन्मुक्ति

---

१. श्रीभाष्य, २।३।२०।
२. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।७।
३. *For Ramanuja there is no Jivanmukti, –Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 710.
४. श्रीभाष्य, ४।४।२०।

एवं विदेहमुक्ति दोनों को ही स्वीकार किया गया है।

तत्त्वमसि

शांकर-वेदान्त और रामानुज-वेदान्त की, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की समन्वयदिशा में भी भेद है। शांकरवेदान्तानुगत 'तत्त्वमसि' का प्रतिपादन पंचम अध्याय के अन्तर्गत विस्तृत रूप में किया जा चुका है। शांकरवेदान्त के अनुसार 'तत्वमसि' में 'तत्' पद परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्वरूप ब्रह्म एवं 'त्वम्' पद अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्वरूप जीव का बोधक है। दोनों के परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व अंशों में विरोध होने पर भी जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा द्वारा जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन किया जाता है। आचार्य रामानुज का दृष्टिकोण शांकरवेदान्त के उक्त दृष्टिकोण से भिन्न है। आचार्य रामानुज के मतानुसार 'तत्त्वमसि' में 'तत्' पद सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प एवं जगत्कारणरूप ब्रह्म का बोधक है, और 'त्वम्' पद अचिद्विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का।[1]

अचिद्विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म रामानुज वेदान्त का अन्तर्यामी ब्रह्म है। रामानुजाचार्य के मतानुसार जीवात्मा के वाचक 'तत्त्वमसि', आदि महावाक्यों के अन्तर्वर्त्ती 'त्वम्' आदि शब्दों का परमात्मा में ही पर्यवसान है। इसीलिए तो परमात्मा के द्वारा 'मामेव विजानीहि' (मुझ ही को जानो) और 'मामुपासस्व' (मेरी उपासना करो) का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार वामदेव का यह कथन है, कि 'मैं ही सूर्य हूँ' परमात्मा के अन्तर्यामित्व का ही सूचक है।[2] अनन्त ब्रह्म के अन्तर्गत ब्रह्म के सर्वगत एवं अन्तर्यामी होने के कारण प्रत्येक जीव में उसकी सत्ता देखी जा सकती है। अतः प्रत्येक जीव प्रह्लाद की तरह यह कह सकता है, कि अनन्त परमात्मा के सर्वगत होने के कारण मैं उस परमात्मा का ही रूप हूं, मुझ से सारा संसार उत्पन्न हुआ है, मैं सब कुछ हूँ और मुझ सनातन में सब कुछ स्थित है।[3]

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने उपर्युक्त दृष्टि से विचार करते हुए 'तत्'पदबोध्य, जगत्कारण ब्रह्म एवं 'त्वम्' पदबोध्य अन्तर्यामी ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन किया है।

मायासम्बन्धी दृष्टिकोण

यों तो, शांकरवेदान्त एवं रामानुजवेदान्त, दोनों ही दर्शनपद्धतियों में माया की चर्चा मिलती है, परन्तु दोनों का मायासम्बन्धी दृष्टिकोण एकदम भिन्न है। शांकरवेदान्त का तो प्रासाद ही मायावाद पर आधारित है। क्योंकि मायावाद को स्वीकार किए बिना अद्वैतवाद की सिद्धि ही असम्भव है। शांकर-वेदान्त के अनुसार माया शब्द का अर्थ मायावी परमेश्वर की शक्ति है।[4] परमेश्वर की यह माया शक्ति

---

१. तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्मेत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा अपि, जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वात् ।–श्रीभाष्य, २।३।४५।

२. श्रीभाष्य, १।१।३१।

३. सर्वगतत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः।
मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने।। –विष्णुपुराण, १।१६।८५।

४. शा० भा०, श्वे० उ० ४।१०।

सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। इसके विपरीत रामानुजाचार्य ने माया को परमात्मा की विचित्र शक्ति का रूप दिया है। इन्होंने माया शब्द को आश्चर्य अर्थ का बोधक माना है।[1] इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य ने एक स्थल पर माया शब्द का अर्थ कूटयुक्ति भी किया है।[2] अतः निश्चित ही मिथ्यात्व एवं अनिर्वचनीयत्व की बोधक शांकरवेदान्त की मायासम्बन्धी विचारधारा से रामानुज का मायासम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णतया भिन्न है। दोनों दर्शनपद्धतियों के मायासम्बन्धी दृष्टिकोण में भेद का होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त मायावाद की ही प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ है। शांकरवेदान्त के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण ने जहाँ, जगत् के मिथ्यात्व का विचार प्रस्तुत किया था, वहाँ रामानुजाचार्य ने शांकरवेदान्त के उक्त दृष्टिकोण की विरोधिनी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जगत् को सत्य सिद्ध किया था। इतना ही नहीं, रामानुजाचार्य ने शांकरवेदान्त के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कुछ आक्षेप भी लगाये थे। यहाँ इन आक्षेपों का उल्लेख एवं समीक्षण उपयुक्त होगा। रामानुजाचार्य के यह आक्षेप रामानुजवेदान्त के अन्तर्गत सात अनुपपत्तियों के रूप में मिलते हैं। यहाँ सातों अनुपपत्तियों के अन्तर्गत रामानुजाचार्य के मायावादविरोधी आक्षेपों का निरूपण एवं समीक्षा की जाएगी।

१. आश्रयानुपपत्ति

शांकरवेदान्त के अविद्यासम्बन्धी दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए रामानुजाचार्य का कथन है, कि अविद्या का आश्रय अनुपपन्न है। अतः निराधार अविद्या की स्थिति नहीं सिद्ध की जा सकती। रामानुजाचार्य का तर्क है, कि जीव एवं ब्रह्म दोनों ही अविद्या के आश्रय नहीं सिद्ध किये जा सकते। जीव तो अविद्या का आश्रय इसलिए नहीं सिद्ध किया जा सकता, कि वह स्वयं अविद्याकल्पित है, और ब्रह्म अविद्या का आश्रय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह ज्ञानस्वरूप होने के कारण, अविद्या का विरोधी है।[3] इस प्रकार रामानुजाचार्य का तर्क है, कि अविद्या न ब्रह्माश्रित कही जा सकती है और न जीवाश्रित।

समीक्षा–डा० प्रभुदत्त शास्त्री ने रामानुजाचार्य के उपर्युक्त आक्षेप की समालोचना करते हुए निम्नलिखित दो दोष बतलाए हैं–

(१) आश्रयानुपपत्ति के अन्तर्गत रामानुजाचार्य के तर्क का पहला दोष तो यह है, कि वे अविद्या को सत् पदार्थ मानकर उसके आश्रय का अन्वेषण करते हैं, जब कि अविद्या सत् न होकर असत् है। अविद्या विद्या का अभाव एवं आवरण है। इस सम्बन्ध में डा० प्रभुदत्त शास्त्री ने एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार उपाधियों में ब्रह्म की सत्ता एवं चैतन्य भाव छिपा रहता है।[4]

---

१. मायाशब्दो ह्याश्चर्यवाची। –श्रीभाष्य, ३।२।३।

२. रामानुजभाष्य, गीता ७।१५।

३. अतो ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणो विरोधादेव नाज्ञानाश्रयत्वम्। –श्रीभाष्य, १।१।१।

४. *P.D. Shastri* : The Doctrine of Māyā, p. 122.

आलोचना–तर्क की कसौटी पर प्रभुदत्त जी का उपर्युक्त मत खरा नहीं उतरता। जैसा कि, प्रभुदत्त जी का कथन है, यदि अविद्या को विद्या का अभाव माना जाएगा, तो अविद्या आवरणशक्ति का कार्य ही किस प्रकार कर सकती है। इसके अतिरिक्त डा० प्रभुदत्त जी के कथन के विपरीत अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत अविद्या या अज्ञान को अभाव रूप न मानकर भाव रूप माना गया है।[1]

(२) डा० प्रभुदत्त जी के अनुसार रामानुजाचार्य के तर्क का दूसरा दोष यह है कि वे ब्रह्म एवं जीव की पृथक् -पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। ब्रह्म एवं जीव की भेदव्यवस्था का निराकरण करते हुए डा० प्रभुदत्त जी का कथन है कि उपाधि के कारण ही ब्रह्म और जीव की भेद व्यवस्था सम्भव है। जहाँ तक अविद्या के आश्रय का प्रश्न है, मन और इन्द्रियों की उपाधियाँ ही अविद्या की आश्रय हैं।[2]

आलोचना–प्रथम मत के समान ही डा० प्रभुदत्त जी का दूसरा मत भी दोषपूर्ण है। जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है, डा० प्रभुदत्त जी ने जीव एवं ब्रह्म के भेद का निराकरण किया है, परन्तु अद्वैतवेदान्त के अनुसार परमार्थ दृष्टि से अभेद होते हुए भी अविद्योपाधि के कारण जीव एवं ब्रह्म का भेद देखने में आता है। इसके अतिरिक्त डा० प्रभुदत्त जी का, मन और इन्द्रियों की उपाधियों को अविद्या का आश्रय कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि मन और इन्द्रियों की उपाधियाँ भी अविद्यारूप ही हैं। इस प्रकार डा० प्रभुदत्त जी ने रामानुजाचार्य की आश्रयानुपपत्ति के विरोध में जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, वे अप्रामाणिक एवं अयुक्त हैं। परन्तु डा० प्रभुदत्त जी के तर्कों को अयुक्ति से हमारा तात्पर्य रामानुजाचार्य की आश्रयानुपपत्ति को युक्ति-युक्त कहना कदापि नहीं है।

रामानुजार्य की आश्रयानुपपत्ति के विरोध एवं आश्रयोपपत्ति के समर्थन में यह कहा जाएगा कि अविद्या जीवाश्रया है। यदि कहा जाए कि अविद्या को जीवाश्रया मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष की सम्भावना है, तो यह अयुक्त है, क्योंकि अविद्या एवं जीव का सम्बन्ध अनादि है।[3] इस प्रकार जीव एवं अविद्या का अनादिसम्बन्ध होने के कारण रामानुजाचार्य का यह कथन उचित नहीं है कि जीव को अविद्या द्वारा कल्पित होने के कारण अविद्या का आश्रय नहीं कहा जा सकता। दोनों के अनादि होने के कारण अविद्या जीवाश्रया है, और जीव अविद्याश्रय।

विवरणकार का मत

विवरणप्रस्थान के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव न होकर ब्रह्म है। इस मत के अनुसार अविद्या स्वरूपज्ञान की उपाधि एवं अविरोधिनी है।[4] अतः रामानुजाचार्य का ब्रह्म एवं अविद्या में विरोध

---

१. वेदान्तसार, ६।

२. *P.D. Shastri* : The Doctrine of Maya, p. 122.

३. अविद्येयं जीवाश्रया। न चान्योऽन्याश्रयः, अनादित्वादविद्या-जीवतत्सम्बन्धात्।
–अनन्तकृष्ण शास्त्री : अद्वैततत्त्वसुधा, द्वितीय भाग, प्रथम संपुट, पृ० १७१)।

४. विवरणप्रस्थाने त्वविद्या ब्रह्माश्रया। सादिस्वरूपज्ञानोपाधिः, तदविरोधिनी च। –वही, पृष्ठ १७२।

देखना समुचित नहीं है। रामानुजाचार्य द्वारा तर्कित ब्रह्म एवं अविद्या के विरोध के सम्बन्ध में यह कहना और युक्ति-युक्त होगा कि ब्रह्मज्ञान, अज्ञान या अविद्या का निवर्तक नहीं है, अपितु अखण्डाकारवृत्ति ही अज्ञान की निवर्तक है। अतः ब्रह्मज्ञान एवं अविद्या में विरोध मानना असंगत है।

२. ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति

ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति को ही तिरोधानानुपपत्ति भी कहते हैं। मायावाद-सिद्धान्त के अन्तर्गत अविद्या की आवरणशक्ति का निरूपण किया गया है। अविद्या की आवरणशक्ति के कारण ही जीव ब्रह्मबोध करने में असमर्थ होता है। रामानुजाचार्य ने मायावाद-सिद्धान्त के उक्त तर्क का निराकरण करते हुए कहा है, कि यदि अविद्या के द्वारा प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का तिरोधान समझा जाएगा, तो इससे तो ब्रह्म का तिरोधान समझा जाएगा, एवं इससे तो ब्रह्म का स्वरूपनाश ही सिद्ध होगा। उक्त तथ्य के समर्थन में श्रीभाष्यकार का कथन है, कि प्रकाश के तिरोधान से प्रकाशोत्पत्ति के प्रतिबन्ध एवं विद्यमान प्रकाश के विनाश का आशय ग्रहण किया जाता है। परन्तु अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञानरूप प्रकाश के अनुत्पाद्य होने के कारण प्रकाशतिरोधान का आशय प्रकाशनाश ही समझा जाएगा।[1] अतः प्रकाशैकस्वरूप ब्रह्म का तिरोधान या आवरण मानने से तो ब्रह्म के स्वरूप का नाश ही सिद्ध होगा, जो अनभिप्रेत है।

समीक्षा–ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति के समर्थन में रामानुजाचार्य का यह तर्क समीचीन नहीं है, कि अविद्या के द्वारा प्रकाशैकस्वरूप ब्रह्म का तिरोधान मानने से ब्रह्म का स्वरूपनाश ही हो जाएगा। अविद्या का आवरण प्रकाश का नाशक न होकर प्रकाश का प्रतिबन्धक ही है। आत्मबोध होने पर प्रकाश के प्रतिबन्धक अज्ञान की ही निवृत्ति होती है, न कि स्वरूपज्ञान की[2]। जिस प्रकार घट से आवृत दीपक पर दण्डपात होने से घटावरण मात्र की निवृत्ति होती है, न कि दीपक की, उसी प्रकार आत्मबोध होने पर अविद्यावरण की ही निवृत्ति सम्भव है, न कि स्वरूपज्ञान की। अतः अविद्या के आवरण द्वारा, रामानुज द्वारा की गई स्वरूपज्ञान के विनाश की कल्पना निरर्थक ही कही जाएगी। इस प्रकार रामानुजाचार्य की ब्रह्मावरकत्वानुपपत्ति की सूझ अनिष्पन्न ही है।

३. स्वरूपानुपपत्ति

मायावाद के विरोध में रामानुजाचार्य का विचार है, कि जिस अविद्या के कारण अनन्त ज्ञाताओं एवं ज्ञेयों की कल्पना की जाती है, उसका स्वरूप अनुपपन्न है। अपने मत के समर्थन में आचार्य रामानुज का कथन है, कि अविद्या को न सत् कहा जा सकता है और न असत्। अविद्या को सत् मानने में तो स्वयं अद्वैतवेदान्तियों को ही आपत्ति है। यही कारण है, कि अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत एक मात्र ब्रह्म

---

१. अविद्यया प्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्म तिरोहितमिति वदता स्वरूपनाश एव उक्तस्स्यात्। प्रकाशतिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्तिप्रतिबन्धो विद्यमानस्य विनाशो वा। प्रकाशस्यानुत्पाद्यत्वाऽभ्युपगमेन प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश एव। –श्रीभाष्य, १।१।१।

२. अद्वैततत्त्वसुधा, द्वितीय भाग, प्रथम संपुट, पृष्ठ १७३।

को ही सत् पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि अविद्या को असत् माना जाएगा तो अविद्या का आश्रय भी असत् ही मानना पड़ेगा, और इस प्रकार एक अन्य असत् पदार्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। इस असत् पदार्थ के आश्रय के लिए भी एक अन्य असत् पदार्थ की कल्पना करना भी उक्त कथन के अनुसार अपेक्षित ही होगा। इस असत्पदार्थ कल्पना का परिणाम अनवस्थादोष होगा।[1]

समीक्षा–रामानुजाचार्य की दृष्टि में अविद्या की स्वरूपानुपपत्ति का कारण अद्वैतवेदान्त के अनिर्वचनीयवाद सिद्धान्त की अवहेलना है। अनिर्वचनीयवाद के अनुसार अविद्या न सत् रूप है, और न असत्‌रूप, प्रत्युत, सदसत् से विलक्षण है। सदसत् से विलक्षण होने के कारण ही अविद्या को अद्वैत-वेदान्त में अनिर्वचनीय कहा गया है। इस प्रकार अविद्या को अनिर्वचनीय मान लेने पर उसकी स्वरूपानुपपत्ति का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।[2] अनिर्वचनीयता के द्वारा ही परमार्थ में अविद्या की असत्यता एवं व्यवहार में सत्यता सिद्ध होती है। अत एव अविद्योत्पन्न संसार यदि परमार्थ रूप से सत् नहीं है तो वन्ध्यापुत्रादिवत् नितान्त असत् भी नहीं है। इसीलिए अनिर्वचनीयवाद के आधार पर, अद्वैतवेदान्त में मायिक जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है।

४. अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति

जिस अनिर्वचनीयवाद के आधार पर अद्वैतवेदान्तियों ने अविद्या के स्वरूप का निश्चय किया है, रामानुजाचार्य ने उसका निराकरण करने की चेष्टा की है। अनिर्वचनीयत्व के विरोध में रामानुजाचार्य का कथन है, कि अनिर्वचनीयत्व से सदसद्विलक्षणत्व का आशय ग्रहण करना अनुचित है, क्योंकि सदसत् से विलक्षण वस्तु की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए अनिर्वचनीयता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[3] रामानुजाचार्य का तर्क है कि संसार की समस्त वस्तुओं की प्रतीति सदसदाकारप्रतीति का विषय मान लेने पर तो समस्त वस्तुजगत् समस्त जीवों की प्रतीति का विषय बन जाएगा[4] और इस प्रकार वस्तु प्रतीति के सम्बन्ध में कोई मर्यादा न रह जाएगी। उक्त तर्कों के आधार पर रामानुजाचार्य ने अद्वैतवेदान्त के अनिर्वचनीयवाद को अनुपपन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

समीक्षा–जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य का अनिर्वचनीयता को प्रमाणासिद्ध कहना समीचीन नहीं है। अनिर्वचनीयता में अर्थापत्ति प्रमाण है। सद्वस्तु का बाध नहीं होता, इस प्रकार प्रतीति का विषय सद्विलक्षणत्व अर्थापत्ति के द्वारा सिद्ध है। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य का प्रतीति को सदसदाकार कहना भी अयुक्त है। किसी भी वस्तु की प्रतीति सदसदाकाररूपा नहीं होती। इसीलिए, मीमांसक की सदसत्ख्याति का भामतीकार द्वारा पूर्णतया निराकरण किया गया है।[5] यदि कहा जाए,

---

१. श्रीभाष्य, १।१।१।
२. अद्वैततत्त्वसुधा, द्वितीय भाग (प्रथम संपुट), पृष्ठ १७४।
३. श्रीभाष्य, १।१।१।
४. वही।
५. भामती, ब्र० सू० शा० भा० उपोद्घात।

कि सदसदाकारवती अविद्या ही समस्त कार्यजगत् का उपादान है, तो यह असंगत है, क्योंकि अविद्या को सदसदाकारा मानने पर समस्त विषयों की प्रतीति भी सदसदाकारा ही मानी जाएगी, और इसका परिणाम यह होगा, कि ख्यातिवाद अनुपपन्न ही रह जाएगा। इस प्रकार ख्यातिबोध की अनुपपत्ति ही अनिर्वचनीय अविद्या में प्रमाण है।[1] ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की तिरोधानकर्त्री, अनेक प्रकार के अध्यासों की उपादानभूता, अज्ञानादिपदवाच्या, भावरूप एवं प्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध अनिवर्चनीय अविद्या के स्वीकार कर लेने पर उससे उत्पन्न समस्त जगत् की अनिर्वचनीयता सिद्ध ही है। सदसद्विलक्षणत्व लक्षणवाली अनिर्वचनीयता प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है। अनिर्वचनीय अज्ञान के आवरण के विना ब्रह्म की जगदुपादानता एवं सर्वप्रपंच की अधिष्ठानता सिद्ध नहीं होती।[2]

५. प्रमाणानुपपत्ति

सदसद्विलक्षणत्वसम्पन्न अनिवर्चनीयता का निराकरण करते हुए रामानुजाचार्य ने अनिर्वचनीयता को प्रमाणासिद्ध बतलाया है। श्रीभाष्यकार का विचार है, कि सदसद्विलक्षण वस्तु में कोई प्रमाण नहीं है।[3]

समीक्षा–अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति की समीक्षा करते समय, हम अनिर्वचनीय अविद्या की प्रामाणिकता का उल्लेख कर चुके हैं। अनिर्वचनीय अविद्या अर्थापत्ति एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। सदसद्विलक्षण एवं अनिवर्चनीय वस्तुओं का स्वरूप पारमार्थिक सत् एवं अलौकिक असत् से विलक्षण होने के कारण ही प्रत्यक्ष का विषय है। इसीलिए शंकराचार्य ने जगत् के उपादान एवं अनिवर्चनीय अध्यास को लोकप्रत्यक्ष का विषय कहा है।[4] इस प्रकार अनिर्वचनीय वस्तुओं की प्रमाणोपपत्ति स्पष्ट ही सिद्ध है।

६. निवर्तकानुपपत्ति

रामानुजाचार्य ने अद्वैतवेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान के अज्ञाननिवर्तकत्व को अनुपपन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है। रामानुजाचार्य का कथन है, कि अद्वैत वेदान्त का यह सिद्धान्त, कि श्रुति के अनुसार निर्विशेष ब्रह्म के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है, अयुक्त है। अपने कथन की पुष्टि में रामानुजाचार्य का तर्क है, कि 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' आदि वाक्य निर्विशेष ब्रह्मज्ञान के विरोधी हैं। श्रीभाष्यकार का कथन है, कि ब्रह्म के सगुण होने के कारण, समस्त श्रुतिवाक्य, सगुण ब्रह्म के ज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं[5]। इसके अतिरिक्त तत्त्वमसि

---

१. इतिख्यातिबाधनुपपत्तिरेवानिर्वचनीयाविद्यायां प्रमाणम्।
–अद्वैततत्वसुधा, द्वितीय भाग (प्रथम संपुट), पृ० १७५।

२. वही पृष्ठ १७५।

३. श्रीभाष्य १।१।१।

४. एवंमयमनादिरनन्तानसर्गिकोऽध्यासो ... लोकप्रत्यक्षः। –ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

५. ब्रह्मणः सविशेषत्वादेव सर्वाण्यपि वाक्यानि सविशेषज्ञानादेव मोक्षं वदन्ति। –श्रीभाष्य, १।१।१।

आदि महाकाव्य भी आचार्य रामानुज के मतानुसार सगुण ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं। रामानुजाचार्य के मतानुसार तत्त्वमसि का निरूपण, इसी अध्याय में पीछे किया जा चुका है।

समीक्षा–आचार्य रामानुज ने निर्गुण-ब्रह्म-ज्ञान के विरोध में जिन 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० उ० ३।८) आदि स्थलों को उद्धृत किया है, वे वाच्यार्थ या अनुवाद मात्र की दृष्टि से ही सगुण ब्रह्म के समर्थक हैं, परन्तु उनका लक्ष्य परमात्मा को अविद्यारूप अन्धकार से सर्वथा अतीत कहना एवं स्वप्रकाशस्वरूप चित्तत्त्व के बोध की ओर संकेत करता ही है। इस प्रकार 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' के अन्तर्गत 'तमसः परस्तात्' से परमात्मा की अविद्या से अतीत होने का अभिप्राय है, और आदित्यवर्णता से स्वप्रकाशस्वरूप संविद्त्मात्रता का। इसी प्रकार श्रीभाष्यकार द्वारा उद्धृत अन्य वाक्यों का भी अद्वैत-वेदान्त के जीवब्रह्मैक्यसिद्धान्त से कोई विरोध नहीं कहा जा सकता।[1] यों तो, अद्वैतवेदान्त में भी, पर एवं अपर ब्रह्म के रूप में निर्गुण एवं सगुण दोनों प्रकार से ही ब्रह्म का निरूपण किया गया है, परन्तु निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान को ही मनुष्य जीवन का सर्वोच्च प्रतिपाद्य बतलाया गया है। निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से ही अध्यास रूप अविद्या की निवृत्ति सम्भव है। अतः रामानुजाचार्य का निवर्तकानुपपत्ति का सिद्धान्त पुष्टतर्काधारित नहीं कहा जा सकता।

७. निवृत्त्यनुपपत्ति

जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य से होने वाली अद्वैतवेदान्तानुगत अविद्यानिवृत्ति को श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य ने अयुक्त बतलाया है। रामानुजाचार्य ने अविद्यानिवृत्ति को अनुपपन्न सिद्ध किया है। रामानुजाचार्य का तर्क है, कि बन्धन पारमार्थिक है, इसलिए उसकी निवृत्ति ज्ञान के द्वारा कदापि सम्भव नहीं है।[2] विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के अनुयायियों का तर्क है कि पुण्यापुण्य कर्मों के निमित्तस्वरूप देवादि के शरीर में प्रवेश करने से होने वाले सुख-दुःखानुभवरूप बन्धन का मिथ्यात्व किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। इस बन्धन की निवृत्ति तो भक्तिरूपापन्न उपासना से तुष्ट परमपुरुष के अनुग्रह से ही सम्भव है। अतः जीव एवं ब्रह्म के एकत्व के द्वारा अद्वैतवेदान्त में जो अविद्यानिवृत्ति का विवेचन किया गया है, वह असंगत है।

समीक्षा–सूक्ष्मतया विचार करने पर रामानुजाचार्य का निवृत्त्यनुपपत्ति का तर्क पूर्णतया असंगत प्रतीत होता है। जैसा कि, रामानुजाचार्य के मत का उल्लेख करते समय ऊपर कहा जा चुका है, यदि बन्धन के पारमार्थिक होने के कारण, जीव और ब्रह्म के एकत्वज्ञान के द्वारा अविद्यानिवृत्ति असम्भव होगी, तो फिर, श्रीभाष्यकार के मतानुसार ही अविद्यानिवृत्ति का कौन उपाय होगा। यदि उपासना मात्र से अविद्याबन्धन की निवृत्ति मानी जाएगी, तो फिर, अविद्याबन्धन की पारमार्थिकता का ही क्या आशय होगा। यदि कहा जाए, कि अविद्याबन्धन की निवृत्ति होने पर भी बन्धन शेष रह जाएगा, तो संसार दशा एवं मुक्तिदशा में अन्तर ही क्या रहेगा। इसके अतिरिक्त यदि अज्ञाननिवृत्त्यनुपपत्ति का समर्थक कहे, कि निवृत्ति से केवल निवृत्त की अबन्धकता से अभिप्राय है, तो यह भी अनुचित है, क्योंकि ऐसी

---

१. अद्वैततत्त्वसुधा (प्रथम सम्पुट), पृष्ठ २०६।

२. बन्धस्य पारमार्थिकत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात्। –श्रीभाष्य, १।१।१।

निवृत्ति का आशय एवं उद्देश्य अस्पष्ट है। अतः रामानुजाचार्य द्वारा निवृत्त्यनुपपत्ति के समर्थन में जो तर्क दिए गए हैं, वे निराधार हैं।

श्रीभाष्यकार का बन्धन को पारमार्थिक कहना भी अनौचित्यपूर्ण ही है। 'नेह नानास्ति किंचन' आदि श्रुतिवाक्य अविद्याजन्य नानात्वमय बन्धन की अपारमार्थिकता के ही द्योतक हैं। जिन जिज्ञासुओं को परमार्थतत्त्व का ज्ञान होता है, वे अविद्याजन्य द्वैतबन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

रामानुज का दार्शनिक सिद्धान्त

पराशरभट्टाचार्य–ये रामानुज के उत्तराधिकारी थे। इनके पिता का नाम कुरेश था। इन्होंने सहस्रगीति पर टीका लिखी थी।

परवादिभयङ्कर–परवादिभयङ्कर का गोत्र वत्स्य था। ये रम्यजामातमुनि के शिष्य थे। इनके पिता का नाम शठकोपयति था।

सुदर्शनसूरि (१२००-१२७४ ई०)–इन्होंने श्रीभाष्य पर श्रुतप्रकाशिका का प्रणयन किया था। सुदर्शनसूरि वरदाचार्य के शिष्य थे। श्रुतप्रकाशिका से पूर्ववर्त्ती एक टीका और थी–**श्रीभाष्यवृत्ति**, जिसका प्रणयन रामानुज के शिष्य राममिश्रदेशिक ने किया था। छः अध्यायों में विभक्त रामानुजभाष्य की यह एक विशेष टीका थी।

वीरराघवदास (१४००-१५०० ई०)–वीरराघवदास ने श्रुतप्रकाशिका की व्याख्या के रूप में एक और ग्रन्थ भावप्रकाशिका की रचना की थी।

वाधुल श्रीनिवास (१५०० ई०)–वाधुल श्रीनिवास ने श्रुतप्रकाशिका पर **तूलिका** नाम्नी टीका की रचना की थी।

शठकोपाचार्य (१६०० ई०)–शठकोपाचार्य ने भाष्यप्रकाशिकादूषणोद्धारनामक समालोचनात्मक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। इसमें वीरराघवदासकृत भावप्रकाशिका के प्रश्नों के उत्तर दिए गए थे।

वात्स्यवरद–वात्स्यवरद ने रामानुजभाष्य की व्याख्या के रूप में, तत्त्वसारनाम्नी टीका का प्रणयन किया था। ये कुरेश के शिष्य विष्णुचित्त के शिष्य थे।

अप्पय्यदीक्षित (१६०० ई०)–ने अपने न्यायमुखमलिका ग्रन्थ में रामानुज के सिद्धान्त का संग्रह किया था।

परकालयति (१५०० ई०)–परकालयति ने श्रीभाष्य पर मितप्रकाशिका नाम की टीका की रचना की थी।

रंगरामानुज (१५०० ई०)–परकालयति के शिष्य रंगरामानुज ने श्रीभाष्य पर मूलभावप्रकाशिका नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। इसके अतिरिक्त न्यायसिद्धाञ्जन पर न्यायसिद्धाञ्जनव्याख्या,

द्रविडोपनिषद्भाष्य, रामानुजसिद्धान्तसार, छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिका, बृहदारण्यकरोपनिषत्प्रकाशिका तथा शारीरक-शास्त्रार्थदीपिका आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया था।

शुद्धतत्त्वलक्ष्मणाचार्य (१६०० ई०)–शुद्धतत्त्वलक्ष्मणाचार्य ने चम्पकदेश के ग्रन्थ 'गुरुतत्त्व प्रकाशिका' के आधार पर, श्रीभाष्य पर गुरुभावप्रकाशिका नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। ये शुद्धसत्त्वयोगीन्द्र के शिष्य थे।

श्रीनिवास या श्रीशैलनिवास (१६०० ई०)–ये अण्णार्य तथा कोण्डिलश्रीनिवासदीक्षित के शिष्य थे। इन्होंने श्रीभाष्य पर तत्त्वमार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इन्होंने णत्वदर्पण, भेददर्पण, सिद्धान्तचिन्तामणि, सारदर्पण तथा विरोधविरोध नामक ग्रन्थों की रचना की थी। इसके अतिरिक्त जिज्ञासादर्पण, नयद्युमाणिदीपिका तथा नयद्युमणिसंग्रह भी इन्हीं के द्वारा रचित ग्रन्थ हैं। श्रीनिवास ने सिद्धान्तचिन्तामणि में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि ब्रह्म जड एवं चेतन जगत् का कारण है। इस ग्रन्थ में शांकरवेदान्त के ब्रह्मकारणवाद का खंडन किया गया है।

इतर टीकाएँ

इतर टीकाओं में, नारायणमुनि की **भावप्रदीपिका,** पुरुषोत्तम की श्रीसुबोधिनी, श्रीनिवास-ताताचार्य की लघुप्रकाशिका, वत्सांक श्रीनिवास का श्रीभाष्यसारार्थसंग्रह एवं शठकोप का **ब्रह्मसूत्रार्थसंग्रह** (श्रीभाष्य की टीका) उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त रंगाचार्य का श्रीवत्ससिद्धान्तसार, अप्पय दीक्षितरचित **नयमुखमालिका,** रंगरामानुजरचित **शारीरिकशास्त्रार्थदीपिका, विषयवाक्यदीपिका, छान्दोग्योपनिषद्भाष्य** एवं रामानुजसिद्धान्तसार भी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ हैं। इस सन्दर्भ में रामानुजदास की अधिकरणसारार्थदीपिका, पराशरार्यविजय, ब्रह्मसूत्रभाष्योपन्यास, विद्याविजय, वेदान्तविजय, रहस्यत्रयमीमांसा, रामानुजचरितचुलूक, अष्टादशरहस्यार्थनिर्णय तथा चण्डमारुत के नाम भी विशेषतया उल्लेखयोग्य हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त वादिहंसाम्बुदाचार्यरचित नयकुलिश अथवा न्यायकुलिश, दिव्यसूरि प्रभावदीपिका, सर्वदर्शनशिरोमणि तथा मोक्षसिद्धि, विष्णुचित्तप्रणीत प्रमेयसंग्रह एवं संगतिमाल, वरदविष्णुमिश्ररचित मानमाहात्म्यनिर्णय, वरदनारायणभट्टारकरचित प्रज्ञापरित्राण भी रामानुजभाष्य से सम्बद्ध विशेष टीका-व्याख्या-ग्रन्थ हैं।

वेंकटनाथ या वेदान्तदेशिक (१२६८-१३६८ ई०)–वेंकटनाथ वैष्णव सम्प्रदाय के रामानुज के पश्चाद्वर्त्ती आचार्यों में अद्वितीय थे। ये वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध वडकलै मत के महान् प्रवर्त्तक थे। दूसरे, टेंकलई मत के प्रवर्त्तक लोकाचार्य थे। वेंकटनाथ का जन्म कांजीवरम् के टुप्पल नगर में हुआ था। इनके पिता का नाम अनन्तसूरि था, तथा इनका गोत्र विश्वामित्र था। वत्स्यवरद ने इनके सम्बन्ध में यह भविष्यवाणी की थी, कि ये विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के दृढ़ शक्तिस्तम्भ के रूप में स्थापित होंगे, तथा अद्वैतमत का खंडन करेंगे। टेंकलई मत के प्रवर्त्तक लोकनाथ ने, जो वेंकट के विरोधी थे, वेंकटनाथ की प्रशंसा में एक पद्य लिखा था–"शत्रोरपि गुणा वाच्याः"। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि सम्प्रदाय-

विरोध होने पर भी विद्वान्, विद्वान् के गुणों की प्रशंसा भी किया करते थे। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण विद्यारण्य (पञ्चदशी के लेखक) का भी है, जो वेंकटनाथ के मित्र थे। यद्यपि इन दोनों में साम्प्रदायिक विरोध था।

वेंकटनाथरचित दार्शनिक ग्रन्थ, तत्त्वटीका (श्रीभाष्य की टीका), अधिकरणसारावली, न्यायपरिशुद्धि, तत्त्वमुक्ताकलाप, (सर्वार्थसिद्धि) गीतार्थतात्पर्यचन्द्रिका, ईशावास्यभाष्य, शतदूषणी[1], द्रविडोपनिषत्, तात्पर्यरत्नावली, पाञ्चरात्ररक्षा, सच्चरित्ररक्षा, निक्षेपरक्षा, न्यासविंशति, शिल्पार्थसार, न्यायसिद्धाञ्जन (न्यायपरिशुद्धि का परिशिष्ट), परमतभङ्ग एवं खण्डनमण्डनात्मकशतदूषणी प्रख्यात हैं। वेंकटनाथ केवल रामानुज सम्प्रदाय के ही उद्‌भट विद्वान् नहीं थे, अपितु उन्होंने मीमांसा पर भी दो श्रेष्ठ ग्रन्थ, मीमांसापादुका एवं सेश्वरमीमांसा लिखे थे। बहुशास्त्रज्ञ होने के कारण, आयुर्वेदविषयक इनके दो ग्रन्थ, रसभौमामृत एवं वृक्षभौमामृत हैं। काव्यशास्त्रीय प्रतिभा के द्योतक इनके ग्रन्थ, यादवाभ्युदय, हंससंदेश, सुभाषितनीवि, संकल्पसूर्योदय, रामाभ्युदय एवं पादुकासहस्र प्रसिद्ध हैं। वेंकटनाथ ने मणिप्रवाल शैली में अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें प्रमुख सम्प्रदायपरिशुद्धि, तत्त्वपदवी, रहस्यपदवी, तत्त्वनवनीतम्, रहस्यनवनीतम्, तत्त्वमातृका, रहस्यमातृका, तत्त्वसंदेश, रहस्यसंदेश, रहस्यसंदेशविवरण, तत्त्वरत्नावली, तत्त्वरत्नावलीसंग्रह, रहस्यमालावली, रहस्यरत्नावलीहृदय, तत्त्वत्रयचुलूक, रहस्यत्रयचुलूक, सारदीप, रहस्यत्रयसार, सारसार, अभयप्रदानसार, तत्त्वशिखामणि, रहस्यशिखामणि, अंजलिवैभव, प्रधानशतक, उपकारसंग्रह, सारसंग्रह, विरोधपरिहार, मुनिवाहनभोग, मधुरकविहृदय, परमपादसोपान, परमतभंग, हस्तिगिरिमाहात्म्य, द्रविडोपनिषत्सार, द्रविडोपनिषत्तात्पर्यावली तथा निगमपरिमल विशिष्ट हैं। इनमें अन्तिम तीन ग्रन्थों में आलवारों के उपदेशों का संक्षिप्त वर्णन है।

वेंकटनाथ का दार्शनिक सिद्धान्त

यद्यपि वेंकटनाथ भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के ही समर्थक थे। ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध में वेंकटनाथ के विशेष विचार थे। ये ईश्वर को सर्वव्यापक तो मानते थे, किन्तु इनके मतानुसार व्यापकता का अर्थ ईश्वर के श्रेष्ठ गुणों में मर्यादा का अभाव है।[2] वेंकट इस मत का प्रतिपादन करते हैं, कि ईश्वर नारायणस्वरूप है, और लक्ष्मी उसकी शक्ति है। यही जड तथा जीव की अधिष्ठात्री है। वेंकट के अनुसार भगवान् वासुदेव की अभिव्यक्ति, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, इन तीन रूपों में हुई है, वासुदेव इन्हीं के द्वारा जीव, मनस् तथा जगत् का नियन्त्रण करते हैं।

कर्म, ज्ञान एवं भक्ति में परस्पर समन्वय प्रदर्शित करते हुए वेंकटनाथ का सिद्धान्त है, कि सत्कर्म के व्यवहार से मनुष्य में ज्ञान के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, एवं ज्ञान की प्राप्ति होने पर मनुष्य में भक्ति की पात्रता आती है। यह भी उल्लेखनीय है, कि ज्ञान की प्राप्ति होने पर ज्ञानी की कर्म में आसक्ति नहीं होती। वेंकटनाथ के अनुसार भक्ति, पूज्य (भगवान्) में प्रीति है, मात्र ज्ञान नहीं है।

---

१. अनन्त कृष्ण शास्त्री ने शतदूषणी का खंडन अपने ग्रन्थ शतभूषणी के अन्तर्गत किया है।
२. देखें, वेंकटनाथकृत न्यायसिद्धांजन।

सायुज्य मुक्ति इसी भक्ति से मिलती है। सायुज्य मुक्ति की स्थिति में, जीव में ईश्वर के सर्वज्ञता आदि गुणों का प्रवेश हो जाता है। किन्तु सृष्टि की रचना, सृष्टि का नियन्त्रण तथा मुक्ति प्रदान करना ईश्वर की ही सामर्थ्य है, जीव की नहीं। सायुज्य मुक्ति की स्थिति में, जीव भगवान् का दास बनकर रहता है, तथा इस दासता में भी आनन्द का अनुभव करता है। भगवान् की दासता की यह अनुभूति, लोक की सामान्य दासता से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार दासभाव वेंकटनाथ द्वारा समर्थित मुक्ति की प्रधान विशेषता है।

वैष्णवदर्शन की मुक्ति, वेंकटनाथ के अनुसार, कैवल्यमुक्ति से इस अर्थ में भिन्न है, कि ज्ञानियों की कैवल्यमुक्ति के अनुसार जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है–"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति", किन्तु, इसके विपरीत वैष्णवीय मुक्ति के अनुरूप जीव श्रीभगवान् के सायुज्य का आनन्द लेता है। वेंकटनाथ के मतानुसार कैवल्यमोक्ष एवं ब्रह्मानुभव की स्थिति, मुक्ति की निम्नावस्था है[1]।

वेंकटनाथ के अनुसार काल भी ईश्वर का ही रूप है। काल ईश्वर की एक विशेष अभिव्यक्ति का नाम है। दिक् भी आकाश से भिन्न तत्त्व नहीं है, जो पदार्थों को गति के लिए अवसर प्रदान करता है। वेंकटनाथ के अनुसार आकाश, मात्र शून्यता न होकर भावरूप है।

वेंकटनाथ ने संशय एवं भ्रम के सम्बन्ध में भी विशेष रूप से विचार किया है। उनके अनुसार संशय मन की वह स्थिति है, जिसमें वह (मन) एक विकल्प से दूसरे विकल्प की ओर दोलायमान हो जाता है। यही दोलावेगवदत्र स्फुरणक्रम कहलाता है। इस प्रकार संशय सत्य एवं मिथ्या पदार्थों के बीच होता है–जैसे स्थाणु (थून-लकड़ी) को देखकर कोई कहे, कि यह स्थाणु है, अथवा पुरुष ("स्थाणुरयं पुरुषो वा")। वेंकटनाथ अनेक उदाहरणों के द्वारा यह स्पष्ट करते हैं, कि दो दो संभाव्य विकल्पों में अनिश्चय के कारण, मन का दोलायित (डाँवाडोल) होना 'संशय' है।

भ्रम के विषय में, वेंकटनाथ का मत है, कि जब किसी वस्तु में, एक या एक से अधिक विरोधी लक्षण, उनकी असंगति अथवा विरोध को न जानते हुए निर्दिष्ट किए जाते हैं, तब वह भ्रम कहलाता है। भ्रम, प्रायः सदोष प्रत्यक्ष वस्तु से सम्बन्धित मिथ्या मानसिक प्रवृत्ति के कारण होता है[2]। उदाहरणार्थ, श्वेत शुक्ति का पीला अनुभव करना, केशोण्ड्रक (नेत्र का परवार रोग) के कारण एक चन्द्र का दो दिखलाई देना, एवं शांकर वेदान्तियों का जगत् को सत् एवं असत् दोनों कहना, भ्रम है। संशय में, ज्ञान की स्थिति संदिग्ध होती है, जबकि भ्रम में मिथ्याज्ञान ही निश्चित रूप से सत्य प्रतीत होता है। शुक्ति में रजत का, एवं रज्जु में सर्प का मिथ्या ज्ञान भ्रम है। इसके विपरीत यह स्थाणु है, अथवा पुरुष, यह निश्चयरहित संदिग्ध ज्ञान संशय है। एकाग्र मन द्वारा प्राप्त किया गया दृढ़ एवं निश्चित ज्ञान ही संशय एवं भ्रम की

---

१. विशेष देखिए–वेदान्तपरिभाषा, सप्तम परिच्छेद।

२. अतएव च नानुमानमपि प्रमाणम् , आगमबाधात् , मेरुपाषाणमयत्वानुमानवत् । नाप्यान्तरविरोध, तत्परातत्परवाक्ययोस्तत्परवाक्यस्यबलवत्वेन लोकसिद्धभेदानुवादिद्वासुपर्णादिवाक्यापेक्षः या उपक्रमोपसंहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य प्रबलत्वात् । –वेदान्तपरिभाषा, सप्तम परिच्छेद।

निवृत्ति में सफल सिद्ध होता है।

लोकाचार्य (१२६४-१३२७ ई०) पिल्लै लोकाचार्य ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया था। इनमें तत्त्वशेखर, तत्त्वत्रय एवं श्रीवचनभूषण प्रमुख हैं। श्रीवचनभूषण धार्मिक ग्रन्थ है। इनका एक दार्शनिक ग्रन्थ अर्थपञ्चक भी है[1]।

तत्त्वत्रय के अन्तर्गत अचित्, चित् एवं ईश्वर के स्वरूप एवं पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विवेचन किया गया है। तत्वत्रय पर वरवरमुनि की टीका है। लोकाचार्यप्रणीत तत्त्वत्रय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में नारायण के स्वरूप का वर्णन परम देव एवं जगत् के कारण के रूप में किया गया है। द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में जीव के स्वरूप का वर्णन, तथा चतुर्थ अध्याय में जीव के भगवान् की शराणागति को, जीवन के परम लक्ष्य के रूप में सिद्ध किया गया है। लोकाचार्य के अनुसार भगवान् में प्रीतिजनित कैंकर्य भाव से भगवान् के स्वरूप एवं उनके दिव्यस्वरूप, प्रभुत्वशक्ति तथा सर्वोत्कृष्ट स्वरूप का बोध ही जीव का परमपुरुषार्थ है। किन्तु यह तथ्य अवलोकनीय है, कि लोकाचार्य को कैंकर्य सर्वदा अभीप्सित नहीं है। अत एव वे मानते हैं, कि दैनिक जीवन में भगवत् प्रेम की दासता स्वमय होती है, तथा प्रतिदिन के जीवन में भक्त अहंकार का अनुभव भी करता है। किन्तु, यह स्थिति परम पुरुषार्थ की अपेक्षा न्यून है। लोकाचार्य इस मत का निराकरण करते हैं, कि भगवान् के पूर्णतया अधीन होकर भक्त अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है। वस्तुतः लोकाचार्य जैसे (भक्तों Bhakti) को भक्ति में ज्ञान की गन्ध भी सहन नहीं है। लोकाचार्य के अनुसार प्रपत्ति बन्धननिवारण का साधन है। प्रपत्ति व्यवहित भी होती है, तथा अव्यवहित भी। व्यवहित प्रतिपत्ति में, शरणागति संपूर्ण तथा आत्यन्तिक होती है, तथा एक बार ही होती है।[2]–अव्यवहित प्रपत्ति वह है, जिसमें, भक्त भगवान् का सतत ध्यान करता है, तथा वर्जित कर्म न करते हुए, शास्त्रोक्त कर्मों का सम्पादन करता है। यह स्थिति प्रथम स्थिति की अपेक्षा निम्न है।

मेघनादारि (१३०० ई०)–मेघनादारि ने श्रीभाष्य पर न्यायप्रकाशिका टीका का प्रणयन किया था। इनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ भावप्रबोध, मुमुक्षूपायसंग्रह तथा नयद्युमणि हैं। इन ग्रन्थों में नयद्युमणि विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का विशेष ग्रन्थ है।

श्रीनिवास (१६०० ई०) श्रीनिवासाचार्य रामानुज सम्प्रदाय के विशेष आचार्य हैं। इनके पिता का नाम गोविन्दाचार्य था। ये महाचार्य या रामानुजदास के शिष्य थे। इन्होंने श्रीभाष्य की टीका, श्रुतप्रकाशिका पर टीका लिखी थी। श्रीनिवास द्वारा प्रणीत यतिपतिमतदीपिका वैष्णव सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है। यतिपतिमतदीपिका के अन्तर्गत १० अध्याय हैं। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत विभिन्न तत्त्वों का वर्णन करते हुए प्रमाण निरूपण किया गया है, जिसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रमुखता प्रस्थापित करते हुए, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा एवं अनुपलब्धि को भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत माना गया है। श्रीनिवासाचार्य ने भ्रम

---

१. वेंकटनाथ, न्यायपरिशुद्धि, पृ. ५४-५५।

२. तत्त्वशेखर, पृ. १४।

के सम्बन्ध में सत्ख्याति को स्वीकार किया है। द्वितीय अध्याय में अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में विशेष विचार करते हुए, उपमान एवं अर्थापत्ति को भी अनुमान के अन्तर्गत परिभाषित किया है। तृतीय अध्याय में शब्द चतुर्थ अध्याय में न्यायदर्शन के पदार्थों का खंडन, पञ्चम अध्याय में काल के स्वरूप का निरूपण, षष्ठ में शुद्ध सत्त्व के नित्य एवं लोकोत्तर गुणों का वर्णन, तथा ईश्वर एवं जीव के गुणों का निरूपण किया गया है। सप्तम अध्याय में, भक्ति एवं ज्ञान का विशेष वर्णन वर्तमान है। इस अध्याय में चित्त की समस्त अवस्थाओं एवं भाव को भी ज्ञान रूप माना है। कर्म, ज्ञान, भक्ति एवं प्रपत्ति का विशेष निरूपण भी इस अध्याय में वर्तमान है। अष्टम अध्याय के अन्तर्गत ईश्वर एवं जीव के गुणों का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में भक्त एवं मुक्त के गुणों का वर्णन भी मिलता है। नवम अध्याय के अन्तर्गत ईश्वर की जगत्कारणता के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत शंकराचार्य के मायावाद का निराकरण भी किया गया है। दशम अध्याय में, द्रव्यनिरूपण के अतिरिक्त सत्त्व, रजस्, तमस् , शब्द एवं स्पर्श आदि का विवेचन भी प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रतिपत्तिमत्तदीपिका वैष्णव-दार्शनिकसाहित्य का एक प्रमुख ग्रन्थ है।

अहोविलरंगनाथ यति (१५०० ई०) ने न्यायविवृत्ति का प्रणयन किया था। उपर्युक्त वैष्णव दार्शनिकों के अतिरिक्त १५०० ई० में अनेक ग्रन्थकार हुए, जिन्होंने वैष्णवदर्शन पर मूल एवं टीकाग्रन्थ लिखकर रामानुजदर्शन साहित्य की अभिवृद्धि की। इन विद्वानों में न्यायविवृत्ति के लेखक, अहोविल रंगनाथयति, न्यायरत्नावली के प्रणेता आदिवराहवेदान्ताचार्य, न्यायपरिशुद्धि व्याख्या के रचयिता कृष्णताताचार्य, रहस्यत्रयमीमांसाभाष्य, दिव्यप्रबंधव्याख्या, चतुःश्लोकी व्याख्या के लेखक कृष्णपादलोकगुरु प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त नारायण मुनि ने भावप्रकाशिका एवं पुरुषोत्तम ने श्रीभाष्य पर सुबोधिनी टीका लिखी थी।

१६वीं शताब्दी के रामानुजदर्शन के आचार्यों एवं व्याख्याताओं में, अद्वैतबहिष्कार के प्रणेता रंगराजदिव्यसूरि, प्रभावदीपिका तथा सर्वदर्शनशिरोमणि के रचयिता वेदान्तरामानुज (रामानुजाचार्य से भिन्न, १६वीं शताब्दी) प्रमुख हैं। रामानुजसाहित्य के प्रणेताओं की इस शृंखला में यतिप्रतिवन्दनखंडन एवं रहस्यत्रयसारसंग्रह के नाम विशेष रूप से उल्लेखयोग्य हैं।

ऊपर निर्दिष्ट रामानुजदर्शन के व्याख्याताओं के ग्रन्थों के अतिरिक्त, और अनेक लघु एवं बृहत् ग्रन्थ भी मिलते हैं, जिनमें रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों की विवृत्ति एवं व्याख्या मिलती है। इन ग्रन्थों में, शतकोटिखंडन, न्यायभास्कर, आचारलोचन, शास्त्रारम्भसमर्थन, विषयतावाद, ब्रह्मशक्तिवाद, शरीरवाद, सुदर्शनसारद्रुम एवं न्यायभास्कर (अद्वैतसिद्धि की गौडब्रह्मानन्दी टीका का खंडन) प्रमुख हैं। ये ग्रन्थ १८वीं शताब्दी के अन्तर्गत प्रणीत हैं।

रामानुजदर्शन—*एक तुलनात्मक दृष्टि*

(भास्कराचार्य, यामुनाचार्य, वेंकटनाथ, लोकाचार्य एवं मेघनादारि)

भास्कराचार्य ने जो शङ्कराचार्य के समसामयिक थे, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य का प्रणयन किया था। भास्कर का सिद्धान्त भेदाभेदवाद एवं ब्रह्मपरिणामवाद के रूप में सुविदित है। ये स्वीकार करते थे, कि जगत् की सृष्टि एवं स्थिति का मूल कारण ब्रह्म के शक्तिविक्षेप पर आधारित है। भास्कर के अनुसार भेद एवं अभेद दोनों ही सत्य हैं। उनका मानना है, कि कारणरूप में जगत् के विषय अभिन्न हैं, किन्तु कार्यरूप में भिन्न हैं।[1] भास्कराचार्य के मतानुसार जगत् रूप परिणाम शांकरवेदान्त के अनुसार मिथ्या न होकर सत्य है। शाङ्कर मायावाद को भास्कर बौद्ध प्रभाव के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] इसीलिए उनका कहना है, कि चिदचिदंशात्मविशिष्ट ब्रह्म ही अचिंदश से जगत्रूप में परिणमित है।[3] ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्ध में भास्कराचार्य का मत है कि वस्तुतः जीव एवं ब्रह्म में ऐक्य है, एवञ्च भेद औपाधिक है।[4] ब्रह्म एवं जीव का सम्बन्ध अग्नि एवं स्फुल्लिंगवत् है। कर्म के विषय में उनका मत है, कि वह ज्ञान का अंग है, तथा कर्म एवं ज्ञान, दोनों ही मोक्ष के कारण हैं। इस प्रकार भास्कराचार्य ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी कहे जा सकते हैं।

जहाँ तक भास्कर एवं रामानुज की चिन्तन दृष्टि का प्रश्न है, दोनों की सैद्धान्तिक विचारधारा प्रायः समान ही है। एक प्रकार से रामानुज भास्कर के ऋणी हैं, भास्कर के समान रामानुज भी ब्रह्म को चिदचिद्विशिष्ट स्वीकार करते हैं। दोनों ही जगत् के मिथ्यात्व एवं मायिक होने के विरोधी हैं। दोनों ही ब्रह्म को जगत् का कारण एवं जगत् को कार्य मानते हैं।

भास्कर एवं रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त का यह भेद द्रष्टव्य है, कि भास्कर ब्रह्म के व्यक्त (प्रकट) एवं अव्यक्त सत् एवं चित् के तादात्म्यभाव से दो रूप स्वीकार करते हैं। अव्यक्तरूप ब्रह्म का निराकार रूप है। यही ब्रह्म भास्कर के अनुसार व्यक्ति का परम साध्य है। किन्तु इसके विपरीत रामानुजाचार्य चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के सगुणरूप (ईश्वरस्वरूप) को स्वीकार करते हैं। वे भास्कर के समान ब्रह्म के निराकार स्वरूप को नहीं मानते। वास्तविकता यह है, कि भास्कर के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के निर्गुण एवं निराकार स्वरूप पर शंकराचार्य के ब्रह्मवाद का पूर्ण प्रभाव है, जब कि, रामानुज का ब्रह्मसिद्धान्त शंकराचार्य के ब्रह्मवाद की पूर्ण प्रतिक्रिया का फल है। शंकराचार्य एवं भास्कर के सिद्धान्त की यह समानता भी द्रष्टव्य है, कि दोनों ही जीव की सत्ता को औपाधिक मानते है। भेदाभेदवादी होने के कारण भास्कर भेद एवं अभेद दोनों को ही सत्य मानते हैं। भास्कर के भेदाभेदवाद पर रामानुजसम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा यह आक्षेप किया जाता है, कि यदि ब्रह्म के मर्यादित-परिणमित रूप भी सत्य माने जायेंगे, तब तो ब्रह्म को भी मर्यादित एवं सीमित स्वीकार करना होगा। किन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि भेद एवं अभेद अथवा कार्य एवं कारण, एक ही सत्ता के दो रूप हैं, तथा दोनों ही सत्य हैं। भास्कराचार्य का यह सिद्धान्त शांकर सिद्धान्त के विरुद्ध है, जिसके अनुसार कार्यरूप जगत् सत्य न होकर, मिथ्या है। इसप्रकार भास्कराचार्य का सिद्धान्त शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य के

१. कार्यरूपेण नानात्वम्, अभेदः कारणात्मना। भास्करभाष्य, १।१।४।
२. महायानबौद्धगाथितं मायावादम्। भास्करभाष्य, १।४।२५।
३. भास्करीयास्तु चिदचिदंशात्मकब्रह्मद्रव्यमचिदंशेन विक्रियते। सर्वार्थसिद्धि, ३।२७।
४. जीवपरयोश्च स्वाभाविकोऽभेदः, औपाधिकस्तु भेदः। भास्करभाष्य, ४।४।४, ४।४।१५।, २।३।१८।

दार्शनिक सिद्धान्त के बीच की शृंखला है। एक ओर भास्कर का भेदाभेदवाद शांकर अद्वैत से भिन्न है, किन्तु दूसरी ओर रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद के बहुत कुछ समान है।[1] भास्कर के ब्रह्मसिद्धान्त की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि उनके अनुसार ब्रह्म एक साथ ही सर्वान्तर्यामी एवं परतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है, तथा कार्यकारणरूप से उसकी सत्यता स्वीकार की गई है।

डा० दासगुप्त के मत की आलोचना–भास्कर एवं रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए, डा० दासगुप्त ने कहा है, कि भास्कर, देह अथवा अंश या द्रव्य अथवा गुण के सिद्धान्त के प्रवर्त्तन की आवश्यकता नहीं समझते[2], जबकि रामानुज ने अंशांशिभाव को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। डा० दासगुप्त का यह मत समुचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भास्कराचार्य ने तो अंशांशिभाव को स्पष्टतया स्वीका किया है, जैसा कि सर्वार्थसिद्धि के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है :

"भास्करीयास्तु चिदचिदंशात्मकं ब्रह्मद्रव्यमचिंदशेन विक्रियते" ...... (सर्वार्थसिद्धि, ३।२७)

यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य एवं वेंकटनाथ के दार्शनिक सिद्धान्तों में यत्किंचित् अन्तर दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि, यामुनाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए, कहा जा चुका है, वे ईश्वर को, न्याय के समान जगत् का कर्त्ता मानते हैं, एवं जगत् को कार्य। किन्तु रामानुज का तर्क है, कि ईश्वरसिद्धि तर्क एवं अनुमान के द्वारा सम्भव नहीं है, जैसा कि यामुन स्वीकार करते हैं। रामानुज का मत है, कि ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि तो शास्त्र द्वारा ही प्रमाणित हो सकती है।[3] रामानुज ईश्वर को समस्त देश एवं काल में व्यापक (सर्वव्यापक) मानते हैं, किन्तु वेंकटनाथ के अनुसार व्यापकता का अर्थ, ईश्वर के श्रेष्ठ गुणों में मर्यादा एवं प्रतिबन्ध का अभाव है।[4] वेंकट का कथन है, कि लक्ष्मी, नारायण स्वरूप ईश्वर की शक्ति है, जो जड जगत् एवं जीव की अधिष्ठात्री है। इसके साथ ही साथ, ईश्वर का अपना मनस् है, एवं उसे अपनी नित्य इन्द्रियों को प्रकटीकरणार्थ, किसी भौतिक देह अथवा अंग की अपेक्षा नहीं होती।

लोकाचार्य ने भी ईश्वर के सम्बन्ध में विशेष रूप से वर्णन किया है। वे कहते हैं कि ईश्वर की सर्वज्ञता एक विशेष प्रकार की है, और वह नित्यानन्दस्वरूप है। ईश्वर सर्वोच्च एवं अचिन्त्य होने के कारण अतुलनीय है। ईश्वर, व्यक्ति को उसके कर्मानुसार फल प्रदान करता है। जहाँ तक सृष्टि, उत्पत्ति एवं प्रलय की बात है, यह उसकी लीला मात्र है, स्वभाव है, इसमें उसकी कोई इच्छाविशेष नहीं

---

१. श्रीभाष्य, पृ० २६५-२६६, निर्णयसागर, बम्बई, १६१६।

२. The main difference that remains this praint, between Bhaskara and Ramānuja is this, that Bhāskara does not think is necessary to introduce the conception of body & praits, or substance and attributes, S.N. Dasgupta, A history of Indian Philosophy, Vol. III, p. 195

३. श्रीभाष्य, १।१।३

४. इयद्गुणक इति परिच्छेदरहितः। वेंकटनाथ, न्यायसिद्धाञ्जन।

है। लोकाचार्य का यह विचार अद्वैत वेदान्त के ईश्वरसम्बन्धी विचार जैसा ही है।

रामानुज एवं वेंकटनाथ के जीवविषयक विचार भी अवलोकनीय हैं। रामानुज ने वेदान्तदीप ग्रन्थ के अन्तर्गत जीव की उपमा दीपक से प्रदर्शित करते हुए, कहा है कि जिस प्रकार दीपक एक स्थान पर रहते हुए समस्त गृह में प्रकाश करता है, उसी प्रकार जीव भी अणु रूप से शरीर में एक स्थान पर रहते हुए सारे शरीर में प्रभावशील रहता है। रामानुज के अनुसार जीव अपनी इच्छा, ज्ञान एवं कर्म में स्वतन्त्र है।[1] ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध में, जैसा कि रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिपादन के अवसर पर पहले भी कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य, शरीरशरीरिभाव, प्रकारप्रकारिभाव, अंशांशिभाव एवं शेष-शेषिभाव स्वीकार करते हैं।

रामानुज के अनुसार जीव का परम साध्य एक विशेष प्रकार का ज्ञान है, जब कि वेंकटनाथ के अनुसार भक्ति एवं नित्यानन्द जीव का परम लक्ष्य है। जैसा कि, पहले भी कह आए हैं, वेंकटनाथ के अनुसार जीव सायुज्यावस्था में सर्वज्ञत्व तो प्राप्त करता है, किन्तु उस में ईश्वर की सृष्टि-उत्पत्ति आदि की शक्ति कदापि नहीं आ सकती। वेंकटनाथ द्वारा प्रतिपादित जीव की मुक्ति का सिद्धान्त वेदान्त के कैवल्यभाव पर आधारित मुक्ति के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है।

वेंकटनाथ एवं **मेघनादारि**, यद्यपि दोनों ही रामानुज-दर्शन के प्रति आस्थावान् थे, किन्तु दोनों के मतों में यत्किंचित् अन्तर वर्त्तमान है। दोनों ने ही प्रमाण के सम्बन्ध में विशेष विवेचन किया है। निदर्शनार्थ, मेघनादारि यह मानते हैं, कि रामानुज प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति, ये पाँच प्रमाण मानते हैं, किन्तु यह तथ्य वेंकटनाथ को कथमपि स्वीकार नहीं है। प्रत्यक्ष के विषय में वेंकटनाथ एवं मेघनादारि के समान विचार हैं। वेंकटनाथ प्रत्यक्ष की परिभाषा 'साक्षात्कारि' प्रभा करते हैं। यह ज्ञान स्वरूपतः अवर्णनीय है। इसका अनुभव स्वचैतन्यरूपी प्रत्यक्ष से होता है।–"ज्ञानस्वभावविशेषः स्वात्मसाक्षिकः"। वेंकटनाथ का विचार है कि यह विशेष प्रकार का ज्ञान (साक्षात्कारि, प्रभा) अनुमान, शब्द अथवा स्मृति के समान, किसी अन्य ज्ञान पर निर्भर नहीं है।[2] इसी प्रकार मेघानादारि भी प्रत्यक्ष को विषय का साक्षात् ज्ञान कहते हैं।[3] ये भी वेंकटनाथ के समान ज्ञान की उत्पत्ति किसी अन्य प्रमाण पर, आश्रित नहीं मानते। इस सम्बन्ध में रामानुज, वेंकट एवं मेघनादारि, तीनों एकमत हैं, कि इन्द्रियप्रत्यक्ष से किसी शुद्ध विषय रूप द्रव्य का, लक्षण एवं सामान्यधर्मों के बिना, अनुभव नहीं किया जा सकता। इन तीनों आचार्यों का कहना है, कि इन्द्रियों के द्वारा जब भी विषयों का ग्रहण होता है, तब प्रथम क्षण में ही, उनका ग्रहण कुछ लक्षणों के समेत होता है, अन्यथा उत्तर क्षणों में उनका ग्रहण सम्भव नहीं होता।

इस प्रकार, यह कथन साभिप्राय होगा कि रामानुजाचार्य एवं उनके परवर्त्ती वैष्णवाचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में यत्किंचित् मतमतान्तर होते हुए भी उनका प्रधान स्वर भक्ति में ही अन्तर्निहित

---

१. श्रीभाष्य, २।३।४०, ४१

२. ज्ञानकरणजज्ञान स्मृति रहिता मतिरपरोक्षम्। वेंकटनाथ, न्यायपरिशुद्धि, पृ. ७०, ७१ तथा देखें, प्रमेय संग्रह एवं तत्त्वरत्नाकर।

३. अर्थपरिच्छेदकंसाक्षात्ज्ञानम्।

है। जैसा कि अग्रिम विवेचन में भी देखने को मिलेगा, भक्ति का यह स्वर समस्त वैष्णवाचार्यों की दार्शनिक दृष्टि में समाविष्ट है। इस अध्याय के अन्त में इस विषय में पुनर्विवेचन किया जाएगा।

आचार्य मध्व : संक्षिप्त जीवनवृत्त

मध्व (११६६ ई०-१३०३ ई०) मध्व के पिता का नाम मध्वगेदभट्ट था। ये कर्नाटक में, शृंगेरी से पश्चिम में, चालीस मील दूर, उडिपी के समीप रजतपथनगर में रहते थे। शृंगेरी में शङ्कराचार्य का प्रतिष्ठित मठ था। उडिपी आज भी मध्वसम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र समझा जाता है। सम्प्रति श्री पेजावर स्वामी उडिपी में मध्व सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। ग्रियर्सन का कहना है कि इस क्षेत्र में लगभग ७०,००० (सत्तर हजार) मध्व के अनुयायी रहते थे। मध्व का जन्म स्थान रजतपथ का नाम आज कल्याणपुर है। इनके गुरु का नाम अच्युतप्रेक्ष था। गुरु ने दीक्षा के समय, इनका नाम पूर्णप्रज्ञ रखा था। इसीलिए मध्वरचित् ब्रह्मसूत्रभाष्य पूर्णप्रज्ञदर्शन के नाम से प्रख्यात है। मध्व का एक नाम आनन्दतीर्थ भी था। यह एक अद्भुत तथ्य है, कि अद्वैत के कट्टर विरोधी मध्व ने पहले शाङ्करवेदान्त का ही अध्ययन किया था, किन्तु इसके पश्चात् मध्व ने वैष्णव एवं अद्वैती आचार्यों का विरोध करते हुए, अपने पूर्ववर्त्ती २१ आचार्यों के भाष्यों का खंडन किया था। इन आचार्यों में, भारतीविजय, संविदानन्द, ब्रह्मघोष, शतानन्द, वाग्भट, विजय, रुद्रभट्ट, वामन, यादवप्रकाश, रामानुज, भर्तृप्रपञ्च, द्रविड, ब्रह्मदत्त, भास्कर, पिशाच, वृत्तिकार, विजयभट्ट, विष्णुक्रान्त, वादीन्द्र, माध्वदेशक तथा शंकर थे। मध्व शांकर-वेदान्त के इतने पीछे पड़ गए थे, कि ये प्रत्येक वेदान्ती को परास्त करने का प्रयत्न करते थे। एक बार जब एक शांकर वेदान्त का अनुयायी रजतपीठपुर में इनके गुरु अच्युतप्रेक्ष के पास आया था, तो उसे भी इन्होंने शास्त्रार्थ में परास्त किया था। इसके पश्चात् मध्व अपने गुरु के साथ दक्षिण भारत की यात्रा के लिए निकल पड़े, और विष्णुमंगल पहुँचे।[1] यहाँ से ये अनन्तपुर ('त्रिवेन्द्रम्') पहुंचे, जहां इन्होंने शृंगेरी के शांकर वेदान्त के अनुयायियों के साथ शास्त्रार्थ किया। यहां से मध्व धनुष्कोटि एवं रामेश्वरम् गए, जहां चार महीने तक रहकर इन्होंने वेदान्त के अनेक विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। दक्षिण की यात्रा के पश्चात् मध्व उत्तरभारत के भ्रमण को निकले, और पहले हरद्वार गए, तथा यहाँ से बदरिकाश्रम पहुंचे। कहते हैं, बदरिकाश्रम में, भगवान् व्यास ने इनसे ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य का खंडन करने के लिए भाष्य लिखने को कहा। किन्तु इस प्रकार की धारणाएँ, कपोलकल्पित ही लगती हैं, क्योंकि यह भी प्रसिद्धि है, कि व्यास ने ही शंकराचार्य से भी ब्रह्मसूत्र पर अद्वैत समर्थक भाष्य लिखने को कहा था। यह आश्चर्यास्पद है, कि अद्वैतमत के प्रस्थापक एवं समर्थक व्यास अद्वैत मत का विरोधी भाष्य लिखने के लिए कैसे आग्रह कर सकते थे। ऐसा समझा जा सकता है, कि व्यास के प्रति सभी आचार्यों की अपार श्रद्धा होने के कारण, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने के लिए, व्यास के आग्रह की बात जोड़ ली जाती थी, क्योंकि उनकी (व्यास की) आज्ञा के बिना उनके द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने की बात अनुचित समझी जाती होगी। मध्वविजय के अनुसार बदारिका श्रम से मध्व उडिपी की ओर लौट पडे, जहां इन्होंने गोदावरी के तटवर्त्ती प्रदेश में रहने वाले, शोभनभट्ट जैसे अनेक वेदान्तियों को मध्वदर्शन का अनुयायी बना लिया। अन्त में, ये अपने वेदान्ती गुरु अच्युतप्रेक्ष को भी मध्वदर्शन का

१. मध्वविजय, ५, ३०।

अनुसर्ता बनाने में सफल हो गए। मध्वविजय के द्वादश एवं त्रयोदश अध्याय के अनुरूप यह कहा जाता है, कि शृंगेरी के मध्वविरोधी मठाधीश, पद्मतीर्थ ने मध्व को ताडना देते हुए, मध्व की पुस्तकें चुरा ली थीं, जो मध्व को तत्कालीन, विश्वमंगल के रामकुमार जयसिंह की सहायता से पुनः प्राप्त हो सकी थीं। कहा जाता है, कि मणिमञ्जरी एवं मध्व विजय के लेखक, नारायण भट्ट के पिता त्रिविक्रम भट्ट एवं अनेक वेदान्त के अनुयायी आचार्य, मध्व के अनुयायी हो गए थे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में, मध्व पुनः उत्तरभारत आये थे, तथा उन्होंने व्यास जी के साथ जीवनयापन किया था।

मध्वलिखित ग्रन्थ

आचार्य मध्व ने छोटे-बड़े निम्नलिखित सैंतीस ग्रन्थों की रचना की थी :

ऋग्भाष्य (ऋग्वेद, १.१-४०); क्रमनिर्णय (ऐतरेयब्राह्मण, ४।१।४, ऐत० आरण्यक, ४-१ तथा इनमें उद्धृत वैदिक मन्त्रों पर), ऐतरेय उपनिषद्भाष्य, बण्हदारण्यक उपनिषद्भाष्य, छान्दोग्योपनिषद्भाष्य, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य, ईशावास्योपनिषद्भाष्य, काठकोपनिषद्भाष्य, मुण्डकोपनिश्षद्भाष्य, माण्डूक्योपनिषद्-भाष्य, प्रश्नोपनिषद्भाष्य, केनोपनिषद्भाष्य, महाभारततात्पर्यनिर्णय, भगवद्गीताभाष्य, भगवद्गीतातात्पर्यनिर्णय, भागवततात्पर्यनिर्णय, ब्रह्मसूत्रभाष्य, ब्रह्मसूत्राणुभाष्य, ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान, ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान निर्णय, प्रमाणलक्षण, कथालक्षण, उपाधिखण्डन, मायावादखण्डन, प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानखण्डन, तत्त्वोद्योत, तत्त्वविवेक, तत्त्वसंख्यान, विष्णुतत्वनिर्णय तन्त्रसार, संग्रह, कृष्णामृतमहार्णव यतिप्रणवकल्प, सदाचारस्मृति, जयन्तीनिर्णय, अथवा जयन्तीकल्प, यमकभारत, नृसिंहनखस्तोत्र, एवं द्वादशस्तोत्र।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त मध्वलिखित अन्य ग्रन्थों का उल्लेख भी मिलता है। ये ग्रन्थ हैं–

आत्मज्ञानप्रदेशटीका, आत्मोपदेशटीका, आर्यस्तोत्र, उपदेशसाहस्रीटीका, उपनिषत्प्रस्थान, ऐतरेयोपनिषद्भाष्यटिप्पणी, काठकोपनिषद्भाष्यटिप्पणी, केनोपनिषद्भाष्यटिप्पणी, कौशीतकोपनिषद्भाष्य टिप्पणी, खपुष्पटीका, गुरुस्तुति, गोविन्दभाष्यपीठक, गोविन्दाष्टकटीका, गौडपादीयभाष्यटीका, छान्दोग्योपनिषद्भाष्यटिप्पणी, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यटिप्पणी, तैत्तिरीयश्रुतिवार्त्तिकटीका, त्रिपुटीप्रकरणटीका, नारायणोपनिषद्भाष्यटिप्पणी, न्यायविवरण, पञ्चीकरणप्रक्रियाविवरण, प्रश्नोपनिषद्भाष्यटिप्पणी, बृहज्जाबालोपनिषद्भाष्य, बृहदारण्यकभाष्यटिप्पणी, बृहदारण्यकवार्त्तिकटीका, ब्रह्मसूत्रभाष्यटीका, ब्रह्मसूत्र-भाष्यनिर्णय, ब्रह्मानन्द, भक्तिरसायन, भगवद्गीताप्रस्थान, भगवद्गीताभाष्यविवेचन, माण्डूक्योपनिषद्भाष्यटिप्पणी, मितभाषिणी, रामोत्तरतापिनीयभाष्य, वाक्यसुधाटीका, विष्णुसहस्रनामभाष्य, वेदान्तवार्त्तिक, शंकरविजय, शङ्कराचार्यावतारकथा, शतश्लोकीटीका, संहितोपनिषद्भाष्य, संहितोपनिषद्भाष्य टिप्पणी, षट्तत्त्व, सदाचारस्तुतिस्तोत्र, स्मृतिविवरण, स्मृतिसारसमुच्चय, स्वरूपनिर्णयटीका एवं हरिमीडेस्तोत्रटीका।

मध्व के पश्चाद्वर्त्ती अनेक आचार्य एवं विद्वान् हुए, जिन्होंने माध्व सिद्धान्तों एवं दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत की। इन आचार्यों एवं विद्वानों ने भाष्यप्रणयन भी किया, एवं व्याख्याएँ एवं टीकाएँ भी लिखीं। इन आचार्यों एवं विद्वानों के नाम इस प्रकार हैं–पद्मनाभतीर्थ, (११२६ शक, निधनकाल),

१. मध्वविजय, ६।१७।

नरहरितीर्थ (११३५ श. नि. का.) माधवतीर्थ (११५२ श० नि० का०), अक्षोभ्यतीर्थ, (११६६ श. नि. का.) जयतीर्थ[1] (११६०, श. नि. का.) विद्याधिराजतीर्थ (१२५४ श. नि. का.), कवीन्द्रतीर्थ (१२६१ श. नि. का.) वागीशतीर्थ (१२६५), रामचन्द्रतीर्थ (१२६८), विद्यानिधितीर्थ (१३०६), रघुनाथतीर्थ (१३६४), रघुवर्यतीर्थ, (१४१६), रघूत्तमतीर्थ[2] (१४५०), वेदव्यासतीर्थ[3] (१४८१), विद्याधीशतीर्थ (१४६३), वेदनिधितीर्थ (१४६७), सयलततीर्थ (१५६०), सत्यनिधितीर्थ (१५८२), सत्यनाथतीर्थ, (१५८५), सत्याभिनवतीर्थ (१६२८), सत्यपूर्णतीर्थ (१६४८), सत्यविजयतीर्थ (१६६१), सत्यप्रियतीर्थ (१६६६), सत्यबोधतीर्थ (१७०५), सत्यसन्निधानतीर्थ (१७१६), सत्यवरतीर्थ (१७१६), सत्यधामतीर्थ (१७५२), सत्यसारतीर्थ (१७६३), सत्यपरायणतीर्थ (१७८५), सत्यकामतीर्थ (१७६३), सत्येष्टितीर्थ (१७६४), सत्यपरायणतीर्थ (१८०१) तथा सत्यवित्तीर्थ (१८८२)।

वनमाली मिश्र (१७०० शता.)–ये मध्वसम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। मध्वमुखालङ्कार इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत अप्पयदीक्षित के मध्वमतमुखमर्दन, न्यायामृतसौगन्ध्य, तरंगिणीसौरभ, अद्वैतसिद्धि तथा गौडब्रह्मानन्दी का पाण्डित्यपूर्ण खंडन किया गया है।

आचार्य मध्व की चिन्तनदृष्टि

आचार्य मध्व की चिन्तनदृष्टि शङ्कराचार्य के पूर्ण अद्वैतवाद की पूर्ण, रामानुजाचार्य के विशष्टाद्वैतवाद की यत्किंचित् प्रतिक्रिया का परिणाम है। इसमे सन्देह नहीं कि मध्वदर्शन पूर्णतया द्वैतवादी होने के कारण सामान्य मानवमस्तिष्क में, जितनी शीघ्रता से प्रवेश करता है, वैसा न रामानुजविशिष्टाद्वैत, और न अन्य वैष्णवदर्शन। किन्तु यहाँ, यह कहना होगा, कि इस दर्शन के अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्तों में गाम्भीर्य की न्यूनता है। यह तथ्य अग्रिम विवेचन एवं माध्वसिद्धान्तों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाएगा। अन्य वैष्णवदर्शनों के समान आचार्य द्वारा प्रतिपादित द्वैतवाद-दर्शन भी एक

---

१. जयतीर्थ ने आचार्य मध्व के ब्रह्मसूत्रभाष्य पर तत्त्वप्रकाशिका, तत्त्वोद्योत, तत्त्वविवेक, तत्त्वसंख्यान एवं प्रमाणलक्षण टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त गीताभाष्य के ऊपर भी इन्होंने टीका लिखी थी। साथ ही, प्रमाणपद्धति एवं वादावली जैसे, मौलिक ग्रन्थों के भी ये प्रणेता थे। जयतीर्थ ने शांकर अद्वैतमत का खंडन करते हुए, द्वैतमत का प्रतिपादन किया था। इनके ग्रन्थ, प्रमाणपद्धति का महत्त्व इसी से समझ लेना चाहिए, कि इस पर आचार्यों के द्वारा आठ टीकाओं का प्रणयन हुआ था।

२. रघूत्तमतीर्थ का दूसरा नाम भावबोधाचार्य अथवा भावबोधकार है। इनके ये नाम इसलिए प्रसिद्ध हैं, कि इन्होंने जयतीर्थरचित तत्त्वप्रकाशिका एवं विष्णुतत्त्वनिर्णय पर भावबोधकनाम्नी टीका लिखी है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ, बृहदारण्यकभाष्य की टीका परब्रह्मप्रकाशिका है। रामाचार्य एवं वेदेश, इनके प्रधान शिष्य थे। वेदेश ने तत्त्वोद्योतपञ्चिका एवं मध्वप्रणीत ऐतरेयभाष्य, छान्दोग्यभाष्य एवं केनोपनिषद्भाष्य की टीका तथा प्रमाणपद्धति पर व्याख्या लिखी थी।

३. व्यासतीर्थ का उत्कृष्ट ग्रन्थ न्यायामृत है। मधुसूदन सरस्वती ने न्यायामृत का खंडन अद्वैतसिद्धि के अन्तर्गत किया है। व्यासतीर्थ के अन्य ग्रन्थ–तर्कतांडव, तात्पर्यचन्द्रिका, मन्दारमञ्जरी, भेदोज्जीवन एवं मायावादखंडन हैं। व्यासतीर्थ के न्यायामृत पर १० टीकाएँ लिखी हैं, जिनमें रामाचार्य की तरंगिणी तथा विजयीन्द्रतीर्थ की कण्टकोद्धार विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

भक्तिपरक दर्शन है। इस प्रकार सभी वैष्णव आचार्यों के समान मध्व का उद्देश्य भी, जगन्मिथ्यात्व के साधक, एवं भक्तिमार्ग में बाधक शंकराचार्य के मायावाद का खंडन है। मायावाद को भक्तिमार्ग में बाधक, इसलिए माना गया, क्योंकि जहाँ, शांकरवेदान्त में जगत् मायिक होने के कारण मिथ्या है, वहाँ, भक्तिपरक दर्शन में समस्त जगत् प्रभु की लीला होने के कारण, प्रभु का ही स्वरूप है, जिसके मिथ्या होने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। वैसे तो, शांकरवेदान्त के अनुसार भी जगत् ईश्वर की लीला ही है,[1] किन्तु दोनों लीलाओं में अन्तर है। जहां शांकर अद्वैतसम्मत लीला, मात्र क्रीडा होने के कारण मिथ्या है, भक्त के प्रभु की लीला सर्वथा सत्य है।

यदि रामानुज ने शांकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ईश्वर को जगत् का उपादान-कारण एवं निमित्तकारण मानते हुए, विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना की थी, तो मध्व को न शंकर का निर्गुण अद्वैतवाद अभीष्ट था, और न रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद। मध्व ने ईश्वर एवं जीव, ईश्वर एवं जगत्, जीव एवं जड जगत्, जीव एवं जीव, एवं जागतिक विषयों में भेद की स्थापना करके, एक स्वतन्त्र द्वैतपरक सिद्धान्त की स्थापना की थी। अपनी इस स्थापना के लिए, ब्रह्मसूत्र एवं औपनिषद सिद्धान्तों की तोड़-मरोड़ भी मध्व ने की थी। ऐसा लगता है, कि मध्व का वश चलता, तो वे ब्रह्मसूत्र की तनिक भी परवाह न करते, किन्तु विवशता सम्भवतः यह थी, कि मध्व के समय तक ब्रह्मसूत्र की दार्शनिक प्रमाणिकता सर्वस्वीकृत सिद्ध हो चुकी थी।[2]

शंकराचार्य ने जहाँ, अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था, वहाँ मध्वाचार्य ने अद्वैतवाद के एकदम विरोधी द्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना की थी। द्वैतवाद का बीजारोपण तो रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद, सिद्धान्त के अन्तर्गत ही हो चुका था, क्योंकि विशिष्टाद्वैतवादवादी ने ब्रह्म के अतिरिक्त जीव एवं जगत् की सत्यता स्वीकार करते हुए, इन्हें ब्रह्म का विशेषण बतलाया था। आचार्य मध्व ने जगत् को ब्रह्म का विशेषण अथवा शरीर न मानकर, ब्रह्म और जगत् की पृथक्-पृथक् सत्ता ही स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार कहना न होगा, कि आचार्य मध्व का दार्शनिक सिद्धान्त रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त का ही विकसित रूप है। यह बात दूसरी है, कि रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त में मध्वाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त के बीज निहित होने पर भी दोनों दर्शनपद्धतियों के सिद्धान्तों में भेद दृष्टिगोचर होता है[3]।

जैसा कि, अभी कहा जा चुका है, आचार्य मध्व का प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त द्वैतवाद है। शांकर अद्वैतवाद के विपरीत द्वैतवादी आचार्य मध्व जीव एवं जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य सिद्ध करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म, जीव एवं जड जगत् में अभेद न मानकर भेद सिद्ध करना मध्व दर्शन की प्रमुख विशेषता है।[4] अपने इस दार्शनिक वैशिष्ट्य के समर्थन के लिए, आचार्य मध्व ने दरिद्र-दम्पत्तिन्याय से

---

१. देखें, लोकवस्तुलीलाकैवल्यम् (ब्र.सू. २) पर शांकरभाष्य।

२. Probably he would hope set aside the Brahmasūtras altogether, but he could not do so, since the work had acquired an imecitested anothoritativeness as regards religious truth before his time. Bhandarkar, X.

३. देखें, ग्रियर्सन का मध्वचरित विषयक लेख, Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. VIII

४. *Ghate* : The Vedanta, p. 33.

श्रुति का भी आश्रय लिया है। अद्वैतसिद्धान्त के समर्थक तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, एकमेवाद्वयं ब्रह्म एवं सर्वं खल्विदं ब्रह्म, आदि वाक्य भी आचार्य मध्व की अद्भुत कल्पना के अनुसार द्वैतसिद्धान्त के ही समर्थक हैं। यहां, उक्त सिद्धान्त, वाक्यों के सम्बन्ध में मध्वदर्शन की दृष्टि से विचार करना उपयुक्त होगा। आचार्य मध्व 'तत्वमसि' से जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य को न स्वीकार करके, यह अर्थ ग्रहण करते हैं, कि जीवात्मा एवं परमात्मा की मूलभूत विशेषताओं में साम्य है।[१] इस सम्बन्ध में माध्वाचार्य ने अपने भाष्य में जीवों और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करते हुए भविष्यपुराण का एक श्लोक भी उद्धृत किया है।[२] उन्होंने तत्वमसि का अर्थ 'त्वम् तदीयः असि' एवं 'त्वम् तस्य असि' भी स्वीकार किया है।[३] आचार्य मध्व 'स आत्मा तत्वमसि' को 'स आत्मा अतत्वमसि' के रूप में ग्रहण करते है।[४] 'अयम् आत्मा ब्रह्म' को आचार्य मध्व जीवात्मा की प्रशंसा अथवा ध्यान की दृष्टि से उपदिष्ट मानते हैं। इन्होंने अद्वैतपरक उपर्युक्त वाक्य को पूर्वपक्ष भी कहा है।[५] 'अयमात्मा ब्रह्म' वाक्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य मध्व ने शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ग्रहण किया है। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के ही आधार पर मध्वाचार्य ने उक्त वाक्य के अन्तर्गत जीवात्मा या ब्रह्म का वर्णन माना है। जीवात्मा का वर्णन मानने पर मध्वाचार्य ने 'अयमात्मा ब्रह्म' का अर्थ किया है–यह जीवात्मा वर्द्धनशील है।[६] आचार्य मध्व ने उक्त वाक्य में ब्रह्मपरक वर्णन मानते हुए, इस वाक्य का अर्थ किया है–यह जो सर्वत्र व्याप्त है, ब्रह्म है। इसी प्रकार 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्म वेत्ता ब्रह्मरूप ही हो जाता है।) वाक्य का अर्थ भी आचार्य मध्व यह करते हैं, कि मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म के समान हो जाता है। 'एकमेवाद्वयं ब्रह्म' एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वाक्य भी मध्वाचार्य की दृष्टि से क्रमशः ब्रह्म की अद्वितीयता और विश्वव्यापकता के द्योतक है, न कि जगत् और ब्रह्म के अभेद के द्योतक। इस प्रकार विश्वव्यापक ब्रह्म को आचार्य मध्व विश्व से पृथक् मानते हैं। अद्वैतवाद के समर्थक वाक्यों का मनमाना अर्थ लगाकर मध्वाचार्य ने द्वैतवाद की ही स्थापना करने का प्रयत्न किया था।

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद के विपरीत मध्वाचार्य ने पाँच प्रकार के भेद की स्थापना की थी। यह भेद, ईश्वर और जीव, ईश्वर और जड जगत्, जीव और जगत्, जीव और जीव तथा जड और जड का भेद है।[७] इस भेदवाद के आधार पर ही आचार्य मध्व ने द्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना की है। अब यहां, ईश्वर, जीव एवं जगत् आदि के सम्बन्ध में आचार्य मध्व के विचार का अध्ययन किया जाएगा। इससे उनका द्वैतदर्शन और भी स्पष्ट हो जाएगा।

---

१. मध्वभाष्य, ब्र. सू. २।३।२६।

२. भिन्नाः जीवाः परोभिन्नस्तथापिज्ञानरूपतः।
प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदावादेषुसर्वशः।।

–भविष्यपुराण, मध्वभाष्य २।३।२६ के अन्तर्गत उद्धृत।

३. *Ghate* : The Vedanta, 34.

४. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 746.

५. वही, पृ. ७४६।

६. *Ghate* : The Vedanta, p. 34.

७. सकलाचार्यमतसंग्रह, पृष्ठ १७ (चौखम्बा संस्करण, १६०७)।

ईश्वर

ईश्वर के सम्बन्ध में मध्व का विचार है, कि परमात्मा वेदों द्वारा जानने योग्य है (मध्वभाष्य ३।३।१)। अतः ईश्वरस्वभाव को अपरिभाष्य नहीं कहा जा सकता। मध्वाचार्य का कथन है, कि परमेश्वर की अवाच्यता का यही आशय है, कि उसका पूर्णज्ञान होना कठिन है[1]। ब्रह्म को मध्व ने विष्णु का रूप प्रदान किया है। विष्णु ही संसार का पूर्ण रूप से शासन करते हैं। वे ही संसार के स्रष्टा एवं संहारकर्ता है। इसके अतिरिक्त मध्व, विष्णु को सभी जीवों का अन्तर्यामी मानते है।[2] विष्णु संसार के कल्याणार्थ मत्स्यादिरूप से अवतार ग्रहण करते हैं। विष्णु के समस्त अवतार पूर्ण हैं।[3] परन्तु मध्व, ईश्वर को उपादानकारण न मानकर, कारण ही मानते हैं। मध्व का कहना है, कि जो ईश्वर ज्ञानस्वरूप है, उससे जड जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव है।[4]

लक्ष्मी, परमात्मा की शक्ति है। वह परमात्मा से भिन्न एवं केवल उसी के अधीन है।[5] लक्ष्मी दिव्यशरीरधारिणी होने के कारण अक्षरस्वरूपा है।[6] परमात्मा की तरह लक्ष्मी नित्यमुक्ता तथा देश एवं काल की दृष्टि से परमात्मा के ही समान व्यापक है।[7] परन्तु गुणों की दृष्टि से लक्ष्मी परमात्मा से न्यून ही है। निश्चय ही, परमात्माभिन्ना, नित्यमुक्ता एवं दिव्यशरीरधारिणी शक्ति (लक्ष्मी) का स्वरूप शांकरवेदान्त की ईश्वराभिन्ना, अज्ञानस्वरूपा एवं जड माया से भिन्न है।

जीव

मध्वदर्शन में जीव परमात्मा से भिन्न है, तथा समस्त जीव परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं। परमाणु प्रदेश में रहने वाले जीव अनन्त हैं।[8] समस्त जीवों का आधार परमात्मा है। परमात्मा ही जीवों की उनके पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार कर्म करने के लिये प्रवृत्त करता है।[9] मध्वाचार्य का कहना है, कि जीव की स्वप्नकल्पना भी ईश्वर की इच्छा पर ही आधारित है–(मध्वभाष्य, ३।२।३, ५) जीव अणु-परिमाण होने के कारण सर्वव्यापक ब्रह्म की सत्ता से पृथक् है। यद्यपि जीव पूर्वकृतकर्मानुसार अज्ञान,

---

१. मध्वभाष्य १।१।५।

२. वही, १।२।१३।

३. अवतारादयो विष्णोः सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिताः।
पूर्णञ्च, तत् परंपूर्ण पूर्णात् पूर्णाः समुद्गताः।। मध्वबृहद्भाष्यम्,
(बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ४८१ से उद्धृत)

४. *Ghate* : The Vedanta, p. 34.

५. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ २६।

६. लक्ष्मीरक्षरदेहत्वाद् अक्षरा–मध्वकृत ऐतरेयभाष्य।

७. द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा। देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावपि।।
–भागवततात्पर्यनिर्णय, बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४८२ से उद्धृत।

८. परमाणुप्रदेशेष्वनन्ताः प्राणिराशयः। –मध्वाचार्य, तत्त्वनिर्णय।

९. मध्वभाष्य, ब्रह्मसूत्र, २।३।४१, २।३।४२।

मोह, दुःख एवं भयादि दोषों से पूर्ण है, तथापि उसका स्वभाव आनन्द ही है। मुक्तावस्था में जीव अपने मूलस्वभाव, आनन्दस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

मध्वदर्शन के अनुसार प्रधानतया तीन प्रकार के जीव बतलाये गए हैं—मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी एवं तमोयोग्य जीव। मुक्तियोग्य जीवों के अन्तर्गत देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती एवं उत्तम रूप से, पाँच प्रकार के जीव आते हैं। नित्य संसारी वे जीव हैं, जो महासुखदुःखादि का भोग करते हुए अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग, नरक एवं भूलोक में विचरण करते हैं। तमोयोग्य जीवों में दैत्य, राक्षस, पिशाच तथा अन्य अधम कोटि के जीव आते हैं।

जगत्

मध्वदर्शन के अनुसार प्रकृति, जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर, उपादानकारणभूता प्रकृति से अनेकानेक रूपों की सृष्टि करता है। स्वयं ईश्वर प्रकृति के अनेक रूपों में वर्तमान रहता है। इस प्रकार प्रकृति भी परमात्मा का ही रूप है। व्यक्तावस्था में प्रकृति के—महत्, अहंकार, बुद्धि, मन, दशेन्द्रियाँ, पंचतन्त्रमात्राएँ और क्षित्यादि पंचतत्व, ये चतुर्विंशति तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। अव्यक्तावस्था में, मूल प्रकृति में, ये तत्त्व सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहते हैं। लक्ष्मी अपने श्री, भू. एवं दूर्गारूप के द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति की अध्यक्षता करती है। मध्वदर्शन के अनुसार अविद्या प्रकृति का ही रूप है।[1] इस अविद्या के ही जीवाच्छादिका एवं परमाच्छादिका, ये दो रूप है। अविद्या जीवाच्छादिका रूप में जीव की आध्यात्मिक शक्ति को आच्छन्न कर लेती है, और अपने परमाच्छादिका रूप में परमात्मा को आवृत्त कर लेती है। परमाच्छादिका अविद्या के आवरण के कारण ही, जीव परमात्मा का साक्षात्कार करने में असमर्थ होता है।[2]

मुक्ति

मध्वदर्शन की मुक्ति, अद्वैतवेदान्त की तरह जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य की समर्थक नहीं है। मध्वसमर्थित मुक्ति के अनुसार जीव परमात्मा के साथ परम साम्य को प्राप्त करता है। जीव एवं परमेश्वर के चैतन्यांश में ही एकता है, परन्तु गुण-दृष्टि से विचार करने पर, जीव एवं परमेश्वर का पार्थक्य सिद्ध ही है। मध्वदर्शन के अनुसार मुक्ति की यह विशेषता उल्लेखनीय है, कि मुक्तावस्था में भी जीव समान रूप से आनन्द का अनुभव नहीं करते।[3]

मध्व-दर्शन के अनुसार मुक्ति की, कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चिरादिमार्ग एवं भोग, ये चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं। भोग के भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य रूप से चार भेद हैं। सालोक्य के अनुसार जीव स्वर्ग में निवास करता हुआ, सन्तोषपूर्वक आनन्द का भोग करके सदा ईश्वर

---

१. मध्वभाष्य, १।४।२५।

२. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 745.

३. दुःखाभावः परानन्दो लिंगभेदसमो मतः।
तथापि परमानन्दो ज्ञानभेदात्तु भिद्यते।। –मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ३२।

साक्षात्कार करता है। सामीप्य में जीव सदा भगवान् के समीप स्थित रहता है, तथा सारूप्य में जीव ब्रह्मरूप से भगवान् का सादृश्य प्राप्त करता है। सायुज्य में जीव भगवान् के शरीर में प्रवेश करके उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करता है।[१] जैसा कि कहा जा चुका है, जीवों के मुक्तिकालिक आनन्द की स्थिति भिन्न-भिन्न है। मध्वदर्शन के अनुसार जीव की मुक्ति के लिए, वैराग्य, शम दमादि का सम्पादन, स्वाध्याय, शरणागतिभाव, गुरुसेवा, शास्त्रश्रवण, मनन, ईश्वरार्पणबुद्धि एवं ईश्वरोपासना आवश्यक है।

अद्वैतवेदान्त एवं मध्व-दर्शन

मध्व-दर्शन का द्वैतवाद-सिद्धान्त अद्वैतवेदान्तदर्शन द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का चरम-विरोधी सिद्धान्त है। यों तो, दोनों ही दर्शन पद्धतियों में ईश्वर, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है, परन्तु दोनों दर्शनपद्धतियों के अन्तर्गत उक्त सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अत्यधिक भेद मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जहां निर्गुण ब्रह्म को पूर्ण सत्य एवं साध्य के रूप में घोषित किया गया है, वहां मध्वदर्शनपरम्परा में सगुण एवं साकाररूपधारी भगवान् विष्णु ही परमेश्वर के रूप बतलाए गए हैं। अद्वैत वेदान्त एवं मध्व-दर्शन के ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त का यह भेद भी द्रष्टव्य है, कि मध्व-दर्शन में ईश्वर जगत् का निमित्तकारण ही है, उपादानकारण नहीं, जब, अद्वैतवेदान्त में ईश्वर निमित्त कारण एवं उपादान कारण दोनों ही है। जीव एवं जगत् के मिथ्यात्व के आधार पर अद्वैतवादियों ने जो जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य के सिद्धान्त की स्थापना की है, जिसका मध्वाचार्य ने पूर्णतया विरोध किया ही है। इस विरोध का ही तो फल है, कि आचार्य मध्व ने ईश्वर और जीव, ईश्वर और जगत्, जीव और जगत्, जीव और जीव एवं जड और जड में भी भेद की व्यवस्था की है। इस भेदव्यवस्था के अनुसार, जीव एवं जगत् को अद्वैत वेदान्त की तरह मध्वदर्शन में मिथ्या न मानकर सत्य ही माना गया है।

मायावाद, अद्वैतवेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। अद्वैतवेदान्त में माया से अविद्या एवं मिथ्यात्व का आशय ग्रहण किया जाता है, परन्तु पूर्णप्रज्ञदर्शन के लेखक मध्व ने माया से स्वप्न का तात्पर्य ग्रहण किया है–(मध्व भाष्य ३।२।३) इसके अतिरिक्त जहाँ, अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत माया शक्ति परमेश्वर से अभिन्न बतलाई गई है, वहाँ मध्व-दर्शन में परमेश्वर की शक्ति लक्ष्मी को परमेश्वर से भिन्न सिद्ध किया गया है।[२]

जैसा कि, मध्व-दर्शन द्वारा प्रतिपादित मुक्ति का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, मध्व-दर्शन के अनुसार मुक्तिकालिक आनन्द के भेद की व्यवस्था, अद्वैतवेदान्तसम्मत मुक्ति की अद्वैतरूपता एवं भेदराहित्य के विपरीत है। इस प्रकार कहना होगा, कि अद्वैत वेदान्त एवं मध्व-दर्शन के ईश्वरादि सिद्धान्तों में भेद की एक अत्यन्त स्पष्ट रेखा मिलती है।

---

१. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 318.
२. परमात्मभिन्नतन्मात्राधीना लक्ष्मीः।–मध्वसिद्धान्तसार, पृ० २६।

क्या मध्व पर ईसाई प्रभाव था ? (ग्रियर्सन का मत)

प्रसिद्ध विद्वान् ग्रियर्सन कुछ आनुमानिक एवं सारहीन तर्कों के आधार पर, यह सिद्ध करना चाहते हैं, कि मध्व पर ईसाई धर्म का प्रभाव था। ग्रियर्सन ने जो तर्क दिए हैं, वे इस प्रकार हैं–

१. मध्व का जन्मस्थान प्राचीन कल्यानपुर या उसके समीप था। यहाँ यह स्मरणीय है कि कल्यानपुर उन कतिपय नगरों में से है, जिनमें ईसाई धर्म की सर्वप्रथम स्थापना हुई थी।

२. नारायणविरचित मध्वचरित में जो प्राचीन कथाएँ (Legends, मिलती हैं, उनमें, एक कथा के अनुसार अनन्तेश्वरदेव की आत्मा (spirit) का दर्शन एक ब्राह्मण को हुआ था, जिसका यह अर्थ लगाया गया, कि स्वर्ग का राज्य हस्तगत था।

३. एक बार, जब बालक मध्व जंगल में जा रहे थे, तो उनका मार्ग प्रेतात्मा ने रोक दिया, किन्तु जब मध्व ने उस प्रेतात्मा को ललकारा तो वह भाग गई।

४. एक बार मध्व जब पाँच वर्ष की अवस्था में, बचपन में खो गए थे, तो उन्हें भगवान् विष्णु की उपासना की शिक्षा देते हुए पाया गया था।

५. दक्षिण भारत की यात्रा के समय, एक बार जब उनके भक्तों के लिए भोजन कम पड़ गया था, तो उन्होंने उसे पूरा कर दिया था।

६. जब वे उत्तर भारत की यात्रा पर थे, तो वे जल के ऊपर चले थे, किन्तु उनके पैर नहीं भीगे थे। इसी प्रकार एक बार उन्होंने उमड़ते हुए क्रुद्ध समुद्र को अपनी कठोर दृष्टि से शान्त कर दिया था।

ग्रियर्सन का कहना है, कि मध्व से सम्बन्धित उपर्युक्त आश्चर्यास्पद घटनाएँ (miracles), ईसाई धर्म एवं धार्मिकों तथा भक्तों की भावनाओं के समान ही हैं। इसके अतिरिक्त उनका निवास कल्यानपुर होने के कारण, उन पर ईसाई धर्म का प्रभाव स्वाभाविक है। ग्रियर्सन का कहना है, कि मध्व का यह कहना, कि वायुदेव की कृपा से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती हे, ईसाई धर्म के प्रभाव का ही द्योतक है।

लेखक का मत

ग्रियर्सन का उपर्युक्त मत आनुमानिक होने के कारण भ्रमपूर्ण है। मध्व पर, जिस धार्मिक एवं भक्ति भावना का प्रभाव ग्रियर्सन ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वह भारतीय वाङ्मय के अन्तर्गत संहिताओं, उपनिषदों, गीता, रामायण, महाभारत एवं पुराणों में अतिशय समृद्ध रूप में उपलब्ध है। साथ ही, यह भी वक्तव्य है कि स्वयं मध्व ने अपने सिद्धान्त का आधारवेद, गीता, पाञ्चरात्र एवं महाभारत स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता, कि मध्व की ईसाई धर्म में आस्था थी। जहाँ तक, यह कथन है, कि मध्व के अनुसार वायुदेव की कृपा से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव थी, इस सम्बन्ध में यह कहा जाएगा, कि मध्व भगवत्कृपा को ही मोक्ष का कारण मानते थे। वायु देवता को तो मध्व ने मोक्षप्राप्ति का सहायक मात्र कहा है। इस प्रकार, ग्रियर्सन का मध्व पर ईसाई धर्म का

प्रभाव ढूँढना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। देखादेखी, बर्नेल (Burnell) ने भी ग्रियर्सन के मत का समर्थन किया है,[१] जो असमीचीन है। कल्याणपुर के सम्बन्ध में गार्वे का विचार है कि यह बम्बई के उत्तर में कल्याण (कल्याण) था, जो आज भी इसी नाम से जाना जाता है, किन्तु ग्रियर्सन मानते हैं, कि 'कल्याण' उडिपी में है, जो मलाबार के समीप है।

निम्बार्क (द्वैताद्वैतसम्प्रदाय) (१२०० ई.) का आरम्भ

निम्बार्क का जन्म स्थान, दक्षिण में, बेलारी जिले के अन्तर्गत निम्ब अथवा निम्बपुर है। इनका जन्म वैशाख मास में, शुक्लपक्ष की तृतीया को हुआ था। इनके पिता का नाम जगन्नाथ एवं माता का नाम सरस्वती था।[२] किन्तु डा० उमेशमिश्र ने इनके पिता का नाम अरुणमुनि एवं माता का नाम जयन्ती देवी लिखा है।[३] निम्बार्क के दूसरे नाम निम्बादित्य तथा नियमानन्द[४] भी बतलाए जाते हैं। कहते हैं, इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य इस लिए पड़र था, क्योंकि सूर्यास्त होने पर भी इन्होंने एक संन्यासी को सूर्य का दर्शन कराया था।[५] ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे।

निम्बार्क सम्प्रदाय, हंस सम्प्रदाय के नाम से भी प्रसिद्ध है।[६] भगवान् ने हंस के रूप में, सर्वप्रथम इस सम्प्रदाय की शिक्षा सनक को दी थी। इसके पश्चात् सनकादि ने इस का उपदेश सनत्कुमार को दिया, और सनत्कुमार ने द्वैताद्वैतदर्शन का उपदेश नारद को दिया। इस प्रकार, नारद ने इस दर्शन का उपदेश निम्बार्क को दिया था।[७] निम्बार्क, भगवान् श्रीकृष्ण की सुदर्शनशक्ति के अवतार माने जाते थे।

पश्चिमी विद्वान् ऐगलिंग (Eggling) ने एक आश्चर्यास्पद मत प्रस्तुत किया है, कि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार, भास्कर एवं निम्बार्क एक ही थे।[८] किन्तु दोनों के भाष्य में सूक्ष्म भेद होने के कारण, अब दोनों का भिन्न-भिन्न होना सिद्ध हो गया है। वैसे, स्थूल रूप से भास्कर एवं निम्बार्क, दोनों का प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैतवाद ही है, जैसा कि पीछे, भास्कर के सिद्धान्तनिरूपण के अवसर पर कहा जा चुका है।

निम्बार्कलिखित जिन ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, वे, वेदान्तपारिजातसौरभ, दशश्लोकी, सिद्धान्तरत्न, कृष्णस्तवराज, गुरुपरम्परा, मध्यमुखमर्दन, वेदान्ततत्त्वबोध, वेदान्तसिद्धान्तप्रदीप,[९] स्व-

---

१. The Indian artiguary, 1873-74.
२. देखें, हरिव्यासदेव, दशश्लोकी की टीका।
३. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, पृ. ४२०, लखनऊ १८५७।
४. सिद्धान्तजाह्नवी, १।
५. भक्तमाल, सर्ग २२।
६. वेदान्तपारिजातसौरभ, १।३।८।
७. देखें, हरिगुरुस्तव माला।
८. Catalogue of Mss. of the India office. Part IV, pp. 802, 803.
९. यह एक कूट ग्रन्थ है, तथा शांकरवेदान्त के सिद्धान्तों को स्पष्ट करता है। (देखें, राजेन्द्रलाला मित्रा, Notices of Sanskrit Manuscript N.S. No. 2826)।

धर्माध्वबोध एवं श्रीकृष्णस्तव हैं। किन्तु इनमें, कुछ की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

आचार्यपरम्परा–हरिगुरुस्तवमाला के[1] अनुसार निम्बार्क के शिष्य श्रीनिवास थे। इस प्रकार, इस गुरुशिष्यपरम्परा में, क्रमशः श्रीनिवास, विश्वाचार्य, पुरुषोत्तम, स्वरूपाचार्य, माधवाचार्य, वलभद्राचार्य, पद्माचार्य, श्यामाचार्य, गोपालाचार्य, कृपाचार्य, देवाचार्य, सिद्धान्तसुन्दरभट्ट (सिद्धान्तजाह्नवी की टीका, सेतु के लेखक) पद्मनाभाचार्य, उपेन्द्रभट्ट, रामचन्द्रभट्ट, कृष्णभट्ट, पद्माकरभट्ट, श्रावणभट्ट, भूरिभट्ट, मध्वभट्ट, श्यामभट्ट, गोपालभट्ट, गोपीनाथभट्ट, केशवमंगलभट्ट, केशवकाश्मीरी (ब्रह्मसूत्र की टीका के लेखक), श्रीभट्ट तथा हरिव्यासदेव थे।

हरिव्यासदेव की पश्चाद्वर्त्ती परम्परा में स्वयंभू रामदेव, कर्महरदेव, मथुरादेव, श्यामदेव, सेवादेव, नरहरिदेव, दयारामदेव, पुराणदेव, मनीषीदेव, राधाकृष्णशरणदेव, हरिदेव तथा बृजभूषण शरणदेव आते हैं। यह उल्लेखनीय है, कि इनमें प्रत्येक गुरु का समय लगभग १४ वर्ष था। इस प्रकार इन १३ गुरुओं का शासनकाल लगभग १८५ वर्ष तक चला था।

आचार्यों के ग्रन्थ

आचार्य निम्बार्क के शिष्य श्रीनिवास ने निम्बार्क के वेदान्तपारिजातसौरभ पर वेदान्तकौस्तुभ टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त इन्होंने लघुस्तवराजस्त्रोत भी लिखा था। इसमें इन्होंने अपने गुरु निम्बार्क की स्तुति की है। केशवकाश्मीरी भट्ट ने, जो मुकुन्द के शिष्य थे, वेदान्तकौस्तुभ पर वेदान्त-कोस्तुभ प्रभा नाम की टीका लिखी थी। इन्होंने भगवद्गीता पर तत्त्वप्रकाशिका, श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध पर तत्त्वप्रकाशिकावेदस्तुति टीका तथा तैत्तिरीय उपनिषद् पर तैत्तिरीयप्रकाशिका टीका का प्रणयन किया था। इसके अतिरिक्त क्रमदीपिका भी केशवकश्मीरी द्वारा ही रचित है। इस पर गोविन्द भट्टाचार्य ने टीका लिखी थी। क्रमदीपिका के अन्तर्गत निम्बार्कसम्प्रदाय की उपासनापद्धति एवं कर्मकाण्ड का वर्णन है। पुरुषोत्तम ने श्रीनिवासरचित लघुस्तवराजस्तोत्र पर गुरुभक्तिमन्दाकिनी टीका का प्रणयन किया था। निम्बार्क की दशश्लोकी पर लघुमंजूषा एवं हरिवंशमुनि की टीका का उल्लेख भी मिलता है। पुरुषोत्तम ने निम्बार्करचित श्रुत्यन्तरन्सुरद्रुम (श्रीकृष्णस्तव) पर टीका का प्रणयन किया था, तथा स्तोत्रत्रयी भी लिखी थी। श्रीकृष्णस्तव पर श्रुतिसिद्धान्तमंजरी नामक एक अन्य टीका का उल्लेख भी मिलता है।

चिन्तनदृष्टि

दक्षिण में ११वीं शती के मध्य से शाङ्करवेदान्त की घोर प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप भक्ति एवं भगवत्प्रेम का आन्दोलन आरम्भ हो गया था। भक्ति का यह आन्दोलन दक्षिण भारत तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु उत्तर भारत में भी यह लहर, हिन्दी भाषा के माध्यम से तीव्रतया फैल रही थी। सूर, तुलसी एवं मीरा प्रभृति अनेक भक्त कवि एवं सन्त, भक्ति उत्तर भारत के महान् कर्णधार थे। जहाँ

---

१. R.G. Bhandarkar, Repart for of the search for sanskrit manuscript 1882-83.

तक वैष्णव दार्शनिकों की चिन्तनदृष्टि का प्रश्न है, जैसा कि, अभी रामानुज एवं मध्व की दार्शनिक विचारधारा का विश्लेषण करते हुए देखा है, इनका मूल दृष्टिकोण शांकर मायावाद के खंडन एवं तदनुकूल भक्ति के अनुभव एवं प्रचार-प्रसार पर आधारित था। इसी शृंखला में निम्बार्क भी आते हैं, जिन्होंने मध्व की द्वैतवादी प्रतिक्रिया के रूप में, एवं द्वैत एवं अद्वैत की समन्वयप्रक्रिया के अन्तर्गत द्वैताद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। जैसा कि, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ब्र० सू० १।१।१, से स्पष्ट है, ब्रह्मजिज्ञासा अथवा मोक्षप्राप्ति की इच्छा प्रत्येक आस्तिक दर्शन में स्वीकार की गई है। किन्तु, निम्बार्क की दृष्टि में ब्रह्मजिज्ञासा उसी व्यक्ति में उत्पन्न होती है, जिसकी, फलभोग से दूषित होने के कारण अनेकविध कर्मफलों में अनास्था हो गई हो, तथा जिसने यह सुदृढ़ रूप से जान लिया हो, कि मात्र पुण्यप्रद कर्मकाण्ड के धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन-पारायण करने से शाश्वत आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार विविध शास्त्रों के अनुशीलन से, जब व्यक्ति को यह बोध हो जाता है, कि ब्रह्मज्ञान से ही शाश्वत आनन्द की प्राप्ति सम्भव है, तब उसमें ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है, और वह ब्रह्मज्ञानप्राप्ति की इच्छा से गुरू की शरण में जाता है। किन्तु यहाँ, यह उल्लेखनीय है, कि निम्बार्कदर्शन के अनुसार, ब्रह्म शांकर वेदान्त के समान न निर्गुण तत्त्व है, और न रामानुज के समान चिदचिद्विशिष्ट, प्रत्युत ब्रह्म तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमशरण एवं एक सर्वव्यापक सत्ता के रूप में स्थित हैं। निम्बार्क ही नहीं, सभी वैष्णव दार्शनिकों को माया अथवा, अज्ञान का सिद्धान्त सर्वथा अमान्य है। निम्बार्क के अनुसार अज्ञान, जीव अथवा आत्मा का गुण है। तथा जीव स्वरूपतः ब्रह्म से भिन्न है। किन्तु भिन्न होते हुए भी सभी जीव ब्रह्म के अधीन हैं। निम्बार्क के मत में, जीव, कर्म के बन्धन में बंधे होने के कारण, ज्ञानदृष्टि से अन्धवत् ही हैं। इस प्रकार, निम्बार्कदर्शन के अनुसार जीव, स्वरूपतः ईश्वर से भिन्न है, किन्तु जीव एवं जगत् ईश्वराश्रित होने के कारण, ईश्वर से अभिन्न भी हैं। यही, भेदाभेद एवं द्वैताद्वैतपरक दृष्टिकोण निम्बार्कदर्शन की चिन्तनदृष्टि का प्राण है।

निम्बार्कदर्शन (११वीं शताब्दी) का स्वरूप

निम्बार्काचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैतवाद है। यहाँ द्वैताद्वैतवाद सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

द्वैताद्वैतवाद का सिद्धान्त

रामानुजाचार्य के मतानुसार निम्बार्क-दर्शन में भी चित्, अचित् एवं ईश्वर रूप से तीन तत्व माने गए हैं। चित् तत्त्व, जीव एवं अचित् तत्त्व, जगत् का बोधक है। परन्तु निम्बार्कदर्शन के चित् एवं अचित् तत्व रामानुजाचार्य की तरह ईश्वर के विशेषण नहीं हैं। इसीलिए निम्बाचार्य विशिष्टाद्वैतावाद के विरोधी हैं। आचार्य निम्बार्क के अनुसार ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में, रामानुजाचार्य की तरह विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्ध न होकर, आश्रयाश्रितसम्बन्ध है। जीव एवं जगत् ईश्वर के आश्रित तथा

---

१. परमात्मभिन्नोऽल्पशक्तिस्तदभिन्नः सनातनस्तदंशभूतोऽनादिकर्मात्मिकाऽविद्यावृतधर्मभूतज्ञानो जीवः क्षेत्रादिशब्दाभिधेयस्तत् प्रत्ययाश्रय इति। वेदान्ततत्त्वबोध, पृ० १८।

ईश्वर आश्रय है।

निम्बार्काचार्य के अनुसार ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अभेद भी है, और भेद भी। इस प्रकार, निम्बार्कदर्शन में, जीव एवं जगत् के आश्रितत्वादि स्वभाव एवं अचेतनत्वादि विशेषणों के, ईश्वर के आश्रयत्वादि स्वभाव एवं कल्याणविशेषणों से विरुद्ध होने के कारणईश्वर तथा जीव एवं जगत् का भेद स्पष्ट ही है। परन्तु जीव तथा जगत् की सत्ता आश्रयरूप ईश्वर के बिना असम्भव है, अतः ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अभेद भी है।[१] इस प्रकार ईश्वर, जीव एवं जगत् में भेद भी है, और अभेद भी। जिस प्रकार, कि जल की लहरें, सूर्य की किरणें, अग्नि के स्फुल्लिंग, रस्सी के लपेट एवं सर्प का कुण्डली-रूप, जलादि से भिन्न एवं अभिन्न दोनों ही हैं, उसी प्रकार जीव एवं जगत् ईश्वर से भिन्न भी हैं, और अभिन्न भी। इस प्रकार द्वैताद्वैतवादी के मतानुसार द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही सत्य हैं। इसीलिए द्वैताद्वैतवाददर्शन के अनुरूप द्वैत एवं अद्वैत दोनों की ही प्रतिपादक श्रुतियाँ सत्य हैं। अब यहाँ, द्वैताद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर, जीव जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन किया जाएगा।

ईश्वर

द्वैताद्वैतवादी निम्बार्कदर्शन के अन्तर्गत अद्वैतवेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के विरुद्ध सगुण ब्रह्म की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की गई है। निम्बार्काचार्य ने अपने ब्रह्म को समस्त दोषों से रहित एवं अशेष कल्याण गुणों से सम्पन्न कहा है।[२] इसके अतिरिक्त परमात्मा समस्त अन्तर्जगत् एवं बहिर्जगत् में व्याप्त होकर स्थित है।[३] जीव एवं जगत् की सत्ता स्वतन्त्र न होकर, ईश्वराधीन है, इसीलिए ईश्वर इनका नियन्ता कहलाता है।[४] प्रलयकाल में जीव एवं जगत् ईश्वर में ही लीन हो जाते हैं। प्रलय एवं सृष्टि के पुनर्निमाण काल के बीच, जीव एवं जगत् सूक्ष्म रूप से ईश्वर में ही स्थित रहते हैं। सर्वशक्तिमान् होने के कारण, ईश्वर अपनी इच्छामात्र से ही समस्त संसार की सृष्टि में समर्थ होता है।[५] इसप्रकार, रामानुज के अनुसार जहाँ, जगत् सगुण ब्रह्म की विशेषभूत प्रकृति का परिणाम है, वहाँ, निम्बार्काचार्य के दृष्टिकोण के अनुसार, वह ईश्वर की शक्ति का परिणाम है। इस प्रकार, आचार्य निम्बार्क अद्वैती की तरह विवर्तवादी न होकर परिणामवादी हैं। इस विषय का विवेचन अद्वैतवेदान्तदर्शन एवं निम्बार्कदर्शन के सिद्धान्तों के तुलनात्मक विवेचन के समय किया जाएगा। द्वैतवादी मध्वाचार्य के विपरीत, निम्बार्क ईश्वर को उपादानकारण एवं निमित्तकारण दोनों ही मानते हैं। रामानुजाचार्य के विष्णु, एवं लक्ष्मी के स्थान पर आचार्य निम्बार्क ने कृष्ण एवं राधा की प्रतिष्ठा की है। इसके अतिरिक्त निम्बार्काचार्य की, वासुदेव,

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 753.

२. दशश्लोकी, ४।

३. यत्किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूतयेऽपिव।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।। –सिद्धान्तरत्न, पृष्ठ ५३ से उद्धृत।

४. दशश्लोकी, ७।

५. निम्बार्कभाष्य, ब्र० सू० १।१।१६।

संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध, इन चार व्यूहों की कल्पना रामानुजाचार्य के समान ही है।[1] निम्बार्कदर्शन के अनुसार भी ईश्वर मत्स्यादि रूप से लोककल्याण के लिए अवतार ग्रहण करता है। निम्बार्कदर्शन के अनुसार जीव एवं जगत् ईश्वर के ही आश्रित हैं।

जीव

निम्बार्कदर्शन में जीवों को अनन्त एवं अणुरूप बतलाया गया है, परन्तु अणु होते हुए भी जीव का यह वैशिष्ट्य है, कि वह सार्वत्रिक ज्ञान के कारण शरीर के सुखदुःखादि का अनुभव करने में समर्थ होता है। शांकरदर्शन के विपरीत जीव बद्ध एवं मुक्त दोनों अवस्थाओं में ही कर्तृत्व से युक्त रहता है। परन्तु यहां, यह कह देना और अपेक्षित होगा, कि जीव स्वतन्त्र रूप से कर्ता नहीं है। उसका कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है। जीवज्ञाता एवं भोक्ता भी है, परन्तु कर्तृत्व के समान ही जीव का ज्ञातृत्व एवं भोक्तृत्व भी परमेश्वर के ही आश्रित है।

साधारण एवं मुक्त रूप से जीवों के दो भेद हैं। बद्ध जीव मुमुक्षु तथा बुभुक्षु रूप से दो प्रकार के हैं। मुमुक्षु एवं बुभुक्षु जीवों का यह अन्तर द्रष्टव्य है, कि मुमुक्षु जीव मुक्ति का इच्छुक होता है, और बुभुक्षु जीव विषयानन्द का इच्छुक। इसी प्रकार मुक्त जीवों के भी नित्यमुक्त एवं मुक्त रूप से, दो भेद बतलाए गये हैं। नित्यमुक्त जीवों में गरुड एवं विष्वक्सेन आदि आते हैं। नित्यमुक्त जीव भगवान् के पार्षद रूप में परमानन्द की प्राप्ति करते हैं। इसके विपरीत वे मुक्त जीव हैं, जो अपनी साधना के बल से संसारचक्र से मुक्ति प्राप्त करते हैं। निम्बार्काचार्य का कथन है, कि मुक्ति की प्राप्ति भगवत्प्रसाद के द्वारा सम्भव है।[2] निम्बार्कदर्शनसम्मत मुक्ति का विवेचन अभी आगे किया जाएगा।

ईश्वर एवं जीव का सम्बन्ध

निम्बार्कदर्शन के अनुसार जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभाव है। जीव अंश एवं ईश्वर अंशी है, परन्तु द्वैताद्वैतवादी के अनुसार अंश शब्द का अर्थ अवयव नहीं है। वेदान्तपारिजातसौरभ (निम्बार्क भाष्य) के टीकाकार श्रीनिवासाचार्य ने अंश शब्द का 'अर्थशक्ति' किया है[3]। अतः सर्वशक्तिमान् होने के कारण ही ईश्वर को अंशी कहा गया है। इस प्रकार, जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभाव के द्वारा शक्ति एवं शक्तिमान् का सम्बन्ध है।

जगत्

निम्बार्कदर्शन में भी रामानुजदर्शन की तरह जगत् अचित्स्वरूप है। यह कहा जा चुका है कि ईश्वर अपनी शक्ति से जगत् की सृष्टि एवं संहार करता है। यह अचित् जगत् भी अप्राकृत, प्राकृत

---

१. डा० देवराज : दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४६०।

२. दशश्लोकी–२।

३. अंशोहि शक्तिरूपोग्राह्यः। –वेदान्तकौस्तुभ; ब्र० सू० २।३।४२।

एवं कालभेद से तीन प्रकार का है। अप्राकृत जगत्, वह जगत् कहलाता है, जो प्रकृति के गुणों से निर्मित नहीं है। इस प्रकार के जगत् में भगवान् का लोक और उनके अलंकार आदि पदार्थ आते हैं। प्राकृत जगत् से उस जगत् का आशय है, जो प्रकृति द्वारा उत्पन्न हुआ है। इसमें महत्तत्त्व से लेकर महाभूतों तक के पदार्थ आते हैं। प्राकृत पदार्थों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति, सांख्य की प्रकृति के समान त्रिगुणात्मिक तो है, किन्तु सांख्य की प्रकृति के समान स्वतन्त्र न होकर ईश्वर द्वारा नियन्त्रित रहती है। जगत् के कालतत्त्व का स्वरूप प्राकृत एवं अप्राकृत स्वरूप से भिन्न है। काल ही संसार चक्र का नियामक है, परन्तु यह भी ईश्वर द्वारा शासित है। काल, मूलतया अखण्ड है, परन्तु उपाधि के कारण इसके प्रातरादि अनेक भेद हैं।

मुक्ति

जीव, अनादि, त्रिगुणात्मिका एवं प्रकृतिस्वरूपा माया से आवृत्त होने के कारण, अपने धर्मभूत ज्ञान से वंचित रहता है। भगवान् के अनुग्रह से ही जीव को अपने वास्तविक रूप का ज्ञान होता है।[1] निम्बार्कदर्शन का यह वैशिष्ट्य है, कि उसके अनुसार मुक्तावस्था में भी जीव के कर्तृत्व में बाधा नहीं पड़ती[2]। यही कारण है, कि मुक्तावस्था में भी जीव के द्वारा उपासना का विधान बतलाया गया है। निम्बार्कदर्शन के अनुसार मुक्ति इस संसारावस्था में संभव नहीं है। सांसारिक देह का विनाश होने पर ही, जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

निम्बार्कदर्शन और अद्वैतवेदान्तदर्शन

आचार्य निम्बार्क यों तो, ब्रह्मवादी ही हैं, परन्तु उनका ब्रह्म अद्वैतवेदान्तियों के समान निर्गुण न होकर सगुण है। उनके ब्रह्म की सगुणता रामानुजाचार्य के चिदचिद्विशेषणविशिष्ट ब्रह्म से भिन्न है, यह पीछे कहा जा चुका है। अद्वैतवेदान्तसम्मत ब्रह्म के स्वरूप से तो निम्बार्काचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप पूर्णतया भिन्न ही है। अद्वैतवेदान्तदर्शन और निम्बार्कदर्शन, दोनों के ही अन्तर्गत ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म दोनों ही जगत् के निमित्तकारण एवं उपादानकारण हैं, परन्तु दोनों में यह अन्तर विचारणीय है, कि अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म अपनी मायाशक्ति के कारण जगत् का उपादानकारण है, जब कि निम्बार्कदर्शन के अनुसार चित् एवं अचित् शक्ति के द्वारा, ईश्वर जगत् का उपादानकारण है। इसी लिए, अद्वैतवेदान्त और निम्बार्कदर्शन के कार्य-कारणसम्बन्धी सिद्धान्त में भी अन्तर है। अद्वैतवेदान्त में, जहां, विवर्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, वहां निम्बार्कदर्शन परिणामवादी है। परिणामवादी निम्बार्कदर्शन के अनुसार जगत्, ईश्वर की चित् एवं अचित् शक्ति का ही परिणाम है। विवर्तवाद के विरोध में निम्बार्क दर्शन के अनुयायियों का तर्क है कि जैसा कि विवर्तवादी कहते हैं यदि जगत् मिथ्या

१. वेदान्तरत्नमंजूषा, पृ० २०-२३।
२. कर्ता शास्त्रार्थत्वात्। वेदान्तपारिजातसौरभ, ब्र० सू० २।३।३२।

हुआ होता तो उसका अध्यस्त होना संभव न हुआ होता।[1] द्वैताद्वैतवादी के उक्त तर्क का अनौचित्य प्रदर्शित करते हुए यह कथन असंगत न होगा कि अद्वैतवेदान्त के अनुसार जगत् आकाशकुसुम अथवा शशशृंग के समान मिथ्या न होकर केवल परमार्थ दृष्टि से मिथ्या है। विवर्तवादी अद्वैतवेदान्ती के अनुसार जगत् के नाम एवं रूप का ही मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है। इसीलिए अद्वैतवेदान्त के अनुसार मुक्त पुरुष के लिए भी भौतिक जगत् का विनाश नहीं हो जाता, अपितु उसकी नामरूपता का ही विनाश हो जाता है।

अद्वैतवेदान्त एवं निम्बार्कदर्शन के जीव सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी भेद है। अद्वैतवेदान्त में जीव ज्ञानस्वरूप मात्र है, परन्तु निम्बार्कदर्शन के अन्तर्गत वह एक काल में ही ज्ञान का स्वरूप एवं आश्रय दोनों ही है।[2] जिस प्रकार कि सूर्य प्रकाश का स्वरूप एवं आश्रय दोनों ही हैं, उसी प्रकार जीव भी ज्ञान का स्वरूप तथा आश्रय दोनों है।

अद्वैतवेदान्त एवं निम्बार्कदर्शन के मुक्तिविषयक विचार में भी पर्याप्त भेद है। अद्वैतवेदान्तदर्शन के अन्तर्गत जीव मुक्तावस्था में ब्रह्मरूप हो जाता है। शंकराचार्य भी जीव और ब्रह्म के ऐक्य के ही समर्थ हैं। इसके विपरीत निम्बार्कदर्शन के अन्तर्गत भक्ति द्वारा प्राप्य भगवत्साक्षात्कार ही मोक्ष है। परन्तु यह भगवत्साक्षात्कार भक्त को इस जीवन में संभव नहीं है।

वल्लभाचार्य (१४८१-१५३३ ई०)

मूल चिन्तनदृष्टि–जैसा कि अभी तक देखने में आया है, वैष्णव आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्त शंकराचार्य के ब्रह्मवाद के ही बहुत कुछ रूपान्तर हैं। सभी ने उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म तत्त्व को सर्वोपरि माना है। किन्तु भक्ति के प्रबल समर्थक होने के कारण वैष्णव आचार्यों की दृष्टि में शांकर-वेदान्त की माया का मिथ्यात्व सम्बन्धी विचार कथमपि स्वीकार्य नहीं है। ब्रह्मतत्त्व के स्वरूप-निरूपण के सम्बन्ध में यह कहना संगत होगा कि जहाँ, रामानुज ने चिदचिद्विशिष्ट रूप में, मध्व ने स्वतन्त्र ईश्वर तत्त्व के रूप में, निम्बार्क ने द्वैताद्वैत रूप में ब्रह्म के स्वरूप की प्रतिष्ठा की थी, वहाँ वल्लभाचार्य ने पूर्णतया माया से विरहित शुद्ध ब्रह्म के रूप में ब्रह्मतत्त्व को स्वीकार किया था। वल्लभाचार्य को ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूप स्वीकार्य थे। निर्गुण रूप में ब्रह्म, शुद्ध अद्वैत तत्त्व स्वरूप है, एवं सगुण रूप में वही ब्रह्म अनन्त ऐश्वर्यशाली गुणों से सम्पन्न है। वल्लभाचार्य की दृष्टि में भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म स्वरूप ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण शरीरधारी अवश्य हैं, किन्तु उनका शरीर दैवी है। वे सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, एवं पुरुषोत्तम रूप में उनकी समस्त लीलाएँ अनन्त हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तों के साथ वृन्दावन में अनन्त लीलाएँ करते हैं। पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा से उनका सत्त्व गुण आनन्द का अतिशायी हो जाता है, और वे अपने अक्षर स्वरूप में, समस्त कारणों के कारण होकर जगत् की

---

१. *Dr. Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 753.

२. ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।। –दशश्लोकी १।

सृष्टि करते हैं। अक्षर ब्रह्म के भी दो रूप हैं, एक रूप में, भगवान् का अक्षर-ब्रह्मस्वरूप, उनके पुरुषोत्तम स्वरूप का आधार है, तथा दूसरे स्वरूप में वे सच्चिदानन्द स्वरूप, गुणातीत एवं देशकालातीत तथा स्वतः प्रकाशमान् हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप में पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के अनन्त गुणों का अभाव नहीं होता, अपितु उनकी अपार शक्ति से उनके अनन्त ऐश्वर्यमय गुण उन्हीं में तिरोहित हो जाते हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मश्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत भी अक्षर पुरुष का विशेष रूप में उपदेश मिलता है। गीता में क्षर एवं अक्षर पुरुष का वर्णन मिलता है।[1] यहाँ यह तथ्य विशेष रूप से विचारणीय है कि गीता में पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने अपने आपको कूटस्थ अक्षर (कूटस्थोऽक्षर उच्यते) से भी उत्तम कहा है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कूटस्थ तो सर्वोपरि ब्रह्म है, अतः उससे उत्तम कौन हो सकता है। किन्तु यहाँ यह पक्ष स्वीकरणीय है कि प्रस्तुत प्रकरण में कूटस्थ अक्षर ब्रह्म की अपेक्षा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की अधिक महत्ता सिद्ध की गई है। जगन्नियन्ता एवं अन्तर्यामी रूप से अनन्ततरूपों में जगत् का नियमन करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का सत्वगुण, विष्णुरूप में जगत् का रक्षक है, एवं रजोगुण एवं तमोगुण, क्रमशः ब्रह्मा एवं शिव के रूप में जगत् का स्रष्टा एवं संहारकर्त्ता है। भगवान् श्रीकृष्ण के इसी स्वरूप, एवं उनके प्रति अनन्य भक्ति कर मूलचिन्तन दृष्टि के आधार पर ही वाल्लभदर्शन का विस्तार वितान हुआ है।

संक्षिप्त जीवनवृत्त एवं कृतियाँ–वल्लभ का जन्म तैलङ्ग ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट एवं माता का नाम एलमागारन था। जब इनके माता-पिता एक बार काशी जा रहे थे, तो मार्ग में वैशाख कृष्ण पक्ष की एकादशी को इनका जन्म एक पेड़ के नीचे हुआ था। वैसे, इनके मूल ग्राम का नाम कांकख था। जब ये आठ वर्ष के थे, तो इन्होंने अपने पिता से दीक्षा ली थी। तत्पश्चात् इन्होंने अपनी आरम्भिक शिक्षा विष्णुचित्त से प्राप्त की थी। इनके वेदाध्ययनकाल के गुरु, त्रिरम्मलय, अन्धनारायण दीक्षित तथा माधवयतीन्द्र थे। इन्होंने दक्षिण एवं उत्तरभारत के प्रायः सभी प्रमुख तीर्थों एवं धार्मिक स्थानों की यात्रा की थी। इन यात्राओं में ये काशी, वृन्दावन एवं वदरिकाश्रम अनेक बार गए। इनका विवाह काशी में देवन्न भट्ट की पुत्री महालक्ष्मी के साथ सम्पन्न हुआ। जब वल्लभ-सैंतीस वर्ष के थे, तो इनके पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम विट्ठल था। इसके पश्चात् ये संन्यासी हो गए। वल्लभ ने चौरासी ग्रन्थ लिखे थे। वल्लभाचार्य के शिष्यों की संख्या भी चौरासी ही थी।

वल्लभाचार्य के प्रमुख ग्रन्थों में, ब्रह्मसूत्रभाष्य (अणुभाष्य), भागवतपुराण की टीका–सुबोधिनी, उनकी अपनी तत्त्वदीपिका पर प्रकाश टीका, भागवत सूक्ष्मटीका, पूर्वमीमांसाभाष्य, तथा सिद्धान्त मुक्तावली हैं। इनके लघुकाय ग्रन्थों में, सेवाफल, भक्ति वर्द्धिनी, संन्यासनिर्णय, यमुनाष्टक, बालबोध, पुष्टिप्रवाहमर्यादा एवं सिद्धान्तरहस्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य एवं कृतियाँ

वल्लभाचार्य के अणुभाष्य पर आचार्यों द्वारा अनेक टीकाओं का निर्माण किया गया था। इनमें पुरुषोत्तम जी महाराज की भाष्यप्रकाश, गिरिधर महाराज की विवरण, इच्छाराम की ब्रह्मसूत्राणु-भाष्य

---

१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।। गीता, १५।

प्रदीप, श्रीधर शर्मा की बालप्रबोधिनी, लालू भट्ट की अणुभाष्यनिगूढार्थदीपिका, मुरलीधर की अणुभाष्य-व्याख्या एवं किसी अज्ञात लेखक की वेदान्तचन्द्रिका महत्त्वपूर्ण हैं।

वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलदीक्षित अथवा विट्ठलेश (१५१८-१६८८) ने अवतारतारतम्यस्तोत्र, कृष्णप्रेमामृत एवं गीतगोविन्द प्रथमाष्टपदीविवृति आदि अनेक ग्रन्थ लिखे थे। विट्ठल के प्रपौत्र एवं शिष्य एवं पुरुषोत्तमाचार्य के पिता पीताम्बर ने अवतारवादावली, भक्तिरसत्ववाद, द्रव्यशुद्धि (सटीक) एवं पुष्टि प्रवाह मर्यादा पर टीका लिखी थी। पुरुषोत्तम (१६७०) ने सुबोधिनीप्रकाश, उपनिषद्दीपिका, आवरणभङ्ग, (प्रकाश की टीका), भक्तिहंसविवेक, उत्सवप्रतान, स्वर्णसूत्र एवं षोडशग्रन्थविवृति आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया था। कुल मिलाकर इन्होंने २४ ग्रन्थ लिखे थे। विट्ठल के शिष्य मुरलीधर ने वल्लभाचार्य के अणुभाष्य पर टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त इन्होंने परतत्वाञ्जन, भक्ति चिन्तामणि, भगवन्नाथ दर्पणा एवं भगवन्नाम वैभव की भी रचना की थी। वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य गोपेश्वर जी महाराज (१६०० ई०) ने, जो कल्याणराज के पुत्र एवं विट्ठल के प्रपौत्र थे, वल्लभाचार्य की प्रकाशटीका पर 'रश्मि' नाम्नी टीका का प्रणयन किया था। रघुनाथ ने वल्लभाचार्य के भक्ति हंस पर नामचन्द्रिका नाम की टीका लिखी थी। इस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय के अनेक आचार्य एवं टीकाकार हुए हैं, जिन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय को समृद्ध किया है। इन आचार्यों में शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड के लेखक गिरिधर जी महाराज, भक्तिवाद एवं रसवाद के लेखक हरिदास, मरीचिका (ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका) लेखक, व्रजनाथ भट्ट तथा प्रमेयरत्नार्णव के लेखक बालकृष्ण भट्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वल्लभाचार्य (१४८१-१५३३ ई०) का दार्शनिक सिद्धान्त (शुद्धाद्वैतवाद)

वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद है। अद्वैतवेदान्त के समान वल्लभदर्शन के अन्तर्गत माया ब्रह्म की शक्ति नहीं मानी गयी है, इसीलिए ब्रह्म के माया-सम्बन्ध से अलिप्त होने के कारण ही वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रचलित हुआ है।[1] शुद्धाद्वैतवाद के अन्तर्गत गिरीधर महाराज ने कर्मधारय एवं षष्ठीतत्पुरुष दोनों समासों की ओर संकेत किया है। कर्मधारय समास मानने पर विग्रह होगा–शुद्धं चेदम् अद्वैतम्–शुद्धाद्वैतम् और षष्ठी तत्पुरुष मानने पर विग्रह होगा–शुद्धयोः अद्वैतम् –शुद्धाद्वैतम्।[2] इस प्रकार वल्लभ दर्शन के अन्तर्गत शुद्ध अद्वैत तत्व के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करके शुद्धाद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रवर्तन किया गया है। अब यहाँ वल्लभ-दर्शन के अनुसार ब्रह्म, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का निरूपण करने के पश्चात् वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त एवं अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा।

---

१. मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्।। –शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, २८।

२. शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः।।–शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, २७।

ब्रह्म

ब्रह्म की शुद्धाद्वैतता का ऊपर संकेत किया जा चुका है। वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म निर्गुण एवं सगुण दोनों हैं। शुद्ध अद्वैत तत्त्व होने के कारण ब्रह्म निर्गुण तथा अनन्त ऐश्वर्य गुणों से युक्त होने के कारण सगुण है। ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण के विरोध का सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए वल्लभाचार्य का कथन है कि जिस प्रकार एक ही ऋजु सर्प कुण्डलादि अनेक रूपों को ग्रहण कर लेने पर कुण्डलादि अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है, परन्तु सर्प और उसके कुण्डलादि से अभेद होता है, उसी प्रकार ब्रह्म का स्वरूप भी भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार से स्फुरित होता है।[1] वस्तुतः ब्रह्म शुद्ध अद्वैत तत्त्व रूप ही है। ब्रह्मस्वरूपनिरूपण के सम्बन्ध में वल्लभाचार्य द्वारा दिए गए 'अहिकुण्डल' दृष्टान्त में यह वैषम्य प्रतीत होता है कि सर्प तो कालरूप से अपनी इच्छा के अनुसार कुण्डलादि अनेक रूपों को ग्रहण करता है, परन्तु वल्लभाचार्य का ब्रह्म एक ही काल में भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक रूपों को प्राप्त होता है। उक्त वैषम्य के समाधानार्थ प्रकाशकार पुरुषोत्तमाचार्य का तर्क है कि भक्त की तादृश इच्छा की उत्पत्ति में ईश्वर की तादृश-तादृश फल देने की इच्छा ही प्रयोजिका है। अतः उक्त दृष्टान्त के अन्तर्गत वैषम्य देखना समुचित नहीं है।[2]

कार्य-कारण-सम्बन्ध

वल्लभदर्शन के अन्तर्गत कारण रूप ब्रह्म एवं कार्य रूप जगत् में भेद नहीं है। जगत् ब्रह्म की आविर्भाव दशा है। ब्रह्म की कारणता उसकी तिरोभावदशा है। इस सम्बन्ध में प्रस्थानरत्नाकरकार पुरुषोत्तमाचार्य का कथन है कि उपादानरूप ब्रह्म के कार्य की जो शक्ति व्यवहारगोचर करती है, वह आविर्भाविका है। इस प्रकार आविर्भाव व्यवहारयोग्यत्व एवं तिरोभाव व्यवहारायोग्यत्व का नाम है।[3] इसीलिए वल्लभाचार्य ने सजातीय जीव, विजातीय जगत् एवं स्वगत अन्तर्यामी ईश्वर, ये ब्रह्म के ही तीन रूप बतलाए हैं। इसलिए जीवादि ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म जीवादि में सदा अनुस्यूत है।[4] वल्लभ-दर्शनपद्धति के अनुसार ब्रह्म जगत् का उपादानकारण एवं निमित्तकारण दोनों है। ब्रह्म के निमित्तकारणत्व के सम्बन्ध में तो कोई वैमत्य नहीं है, परन्तु उपादानकारणत्व विवेचनयोग्य है। वल्लभ-दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म को समवायिकारण के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु ब्रह्म की समवायिकारणता के विरोध में पूर्वपक्षी का तर्क है कि यदि ब्रह्म को समवायिकारण माना जाएगा तब तो ब्रह्म को भी विकार का विषय मानना पड़ेगा–समवायित्वे विकृतत्वस्यापत्तेः। पूर्वपक्षी के उक्त कथन के विपरीत यह कहा जाएगा कि सत्, चित् एवं आनन्द रूप से सर्वव्यापी होने के कारण ब्रह्म समवायिकारण

---

१. अणुभाष्य–ब्र०सू० ३।२।२७ (चौखम्बा संस्करण, १६०६)।
२. पुरुषोत्तमाचार्य, प्रकाशटीका, अणुभाष्य ३।२।२७।
३. उपादानस्य कार्यं या व्यवहारगोचरं करोति सा शक्तिराविर्भाविका...तिरोभावश्च तदयोग्यत्वम्।–प्रस्थान-रत्नाकर, पृष्ठ २६।
४. देखिए, तत्त्वार्थदीप १।६६ एवं उसकी आवरणभंग-टीका, पृष्ठ १०६।

है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के आरोपवाद सिद्धान्त के विपरीत वल्लभाचार्य का सिद्धान्त है कि ब्रह्म स्वेच्छा से सत्, चित् एवं आनन्द तत्त्वों के प्रभाव से भौतिक जगत्, जीव एवं ब्रह्म रूप से व्यक्त होता है। अतः वल्लभ-दर्शनपद्धति के अन्तर्गत ब्रह्म जगत् का समवायिकारण है।[1]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार वल्लभ-दर्शन का समवायिकारणवाद माया की उपादानकारण मानने वाले अद्वैतिक कारणवाद से तो भिन्न है ही, साथ ही न्यायदर्शन की समवायकल्पना से भी भिन्न है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार कारण एवं कार्य का सम्बन्ध तादात्म्यमूलक है। कारण एवं कार्यरूप द्रव्यों का तादात्म्य निर्विवाद सिद्ध है।

अद्वैतवेदान्त के समान ही वल्लभ-वेदान्त में भी माया ब्रह्म की शक्ति है।[2] परन्तु दोनों के मायासम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर है। वल्लभाचार्य की माया अद्वैत वेदान्त की माया की तरह मिथ्या नहीं है। इस अन्तर का विस्तृत उल्लेख दोनों दर्शन पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन करते समय किया जाएगा। वल्लभ दर्शन के अनुसार ब्रह्म माया शक्ति के द्वारा ही अनेक रूपों में प्रकट होता है। इस प्रकार माया ब्रह्म की सहायिका शक्ति है।

वल्लभ-दर्शन का जीवसम्बन्धी सिद्धान्त

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव अणु तथा ईश्वर का ही अंश है। अणु होते हुए भी जीव सर्वव्यापक है, परन्तु ईश्वर की तरह सर्वज्ञ नहीं है। वह जीव उसी प्रकार ईश्वर का अंश है, जिस प्रकार स्फुलिंग अग्नि का अंश है। इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म दोनों में अभिन्नत्व है।[3]

वल्लभ-दर्शनपद्धति द्वारा प्रतिपादित जीव एवं ईश्वर का अंशाशिभावसम्बन्ध वैष्णव एवं अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित जीवेश्वरसम्बन्ध से भिन्न है। मध्व दर्शन के अनुसार भी जीव एवं ईश्वर में अंशाशिभावसम्बन्ध बतलाया गया है, परन्तु वहां जीवों की सत्ता ईश्वर से भिन्न है। इस प्रकार मध्वदर्शन के अन्तर्गत जीव एवं ईश्वर का दूरवर्ती सम्बन्ध है। निम्बार्क दर्शन के अनुसार जीव ईश्वर से भिन्न होते हुए भी ईश्वर के समान है। निम्बार्क दर्शन परम्परा के अन्तर्गत भी ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध में अंशाशिभाव को स्वीकार किया गया है। परन्तु निम्बार्क दर्शन के अनुयायियों ने जीव एवं ईश्वर की भिन्नता तथा सादृश्य पर ही विशेष बल दिया है। जहां तक रामानुज दर्शन का प्रश्न है, रामानुजाचार्य के मतानुसार ईश्वर जीवों के ज्ञान का विकास एवं संकोच करते हुए उनकी समस्त क्रियाओं का नियमन करता है। भास्कराचार्य के अनुसार तो जीव स्वतः ईश्वर से सम्बद्ध है। उपाधि के कारण ही जीव ईश्वर से भिन्न दिखाई पड़ता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार यद्यपि जीव वस्तुतः ईश्वर से भिन्न है परन्तु जीव ईश्वरस्वभावसम्पन्न है। अतः ईश्वर से जीव अभिन्न है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु के मतानुसार भी जीव एवं ईश्वर में अंशाशिभाव सम्बन्ध है।[1]

---

१. पुरुषोत्तमाचार्य, प्रकाश टीका, अणुभाष्य, पृष्ठ ६०।
२. प्रस्थानरत्नाकर, पृष्ठ १५६ (चौखम्बा संस्करण)।
३. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, पृष्ठ १५, १६।

जैसा कि ऊपर भी संकेत किया जा चुका है, वल्लभाचार्य का जीवेश्वरसम्बन्धी सिद्धान्त उपर्युक्त आचार्यों के सिद्धान्त से भिन्न है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव ईश्वर के अंश होने के कारण ईश्वर से अभिन्न है। जीवों का जीवत्व ईश्वर की आविर्भाव एवं तिरोभाव क्रियाओं का फल है। आविर्भाव एवं तिरोभाव क्रियाओं के द्वारा ही ईश्वर की कुछ शक्तियाँ एवं गुण जीव में तिरोभूत हो जाते हैं और कुछ आविर्भूत हो जाते हैं।[२]

जीवों के भेद–वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीवों के शुद्ध, संसारी और मुक्त, यह तीन भेद बतलाए गए हैं। आनन्दांश के तिरोधान के फलस्वरूप अविद्या से सम्बन्ध होने से पहले जीव की शुद्धावस्था कहलाती है। जीव जीव का अविद्या से सम्बन्ध हो जाता है और जब जीव जन्मादि क्रियाओं के बन्धन का विषय हो जाता है तो उसे संसारी कहते हैं संसारी जीव भी द्वैत और आसुर भेद से दो प्रकार के होते हैं। मुक्त जीव वे जीव है जो ईश्वर के अनुग्रह से सच्चिदानन्द रूप को प्राप्त कर ईश्वराभिन्नतत्त्व को प्राप्त होते हैं। वल्लभ-दर्शन द्वारा प्रतिपादित मुक्ति का विवेचन पृथक् रूप से आगे किया जाएगा।

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् का स्वरूप

वल्लभ-दर्शन पद्धति के अन्तर्गत जीव के समान जगत् भी ईश्वर का ही रूप है और वह ईश्वर से अभिन्न है।[३] जगत् ईश्वर की आविर्भाविका शक्ति का ही फल है। ईश्वर स्वेच्छा से आविर्भाविका शक्ति के द्वारा जगत् रूप में आविर्भूत होता है और तिरोभाविका शक्ति के द्वारा समस्त जीवों एवं जगत् के ईश्वर में तिरोधान हो जाता है। इस प्रकार जगत् ईश्वर का रूप होने के कारण, अद्वैतवेदान्त की तरह मिथ्या नहीं है। ईश्वर ही समस्त जगत् का शासक तथा नियन्ता है।

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् का और संसार का भेद

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् एवं संसार में भेद की स्थापना की गई है। ईश्वरेच्छा से प्रादुर्भूत पदार्थों को जगत् कहते हैं। इसके विपरीत स्वरूपज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास एवं अन्तःकरणाध्यास, अविद्या के इन पंच पर्वों के द्वारा जीवों की बुद्धि में जगत् के पदार्थों के सम्बन्ध में जो द्वैतमूलक भ्रम उत्पन्न हो जाता है, उसे संसार कहते हैं। उदाहरण के लिए, संसार बुद्धि के अनुसार जीव, जगत् के घटादि पदार्थों की सत्ता ईश्वर से पृथक् समझते है। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् मिथ्या न होकर उपर्युक्त द्वैत-मूलक संसार ही मिथ्या है। वादावलिकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि बुद्धिवर्ती घट ही मिथ्या है, न कि प्रपंचान्तर्वर्ती

---

१. स्वर्णसूत्र, पृष्ठ ८५।

२. *Dr. S.N. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 367.

३. देखिए–तत्त्वदीपन पर वल्लभाचार्य की टीका, पृष्ठ १०६।

घट।[1] इसी प्रकार अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत भी जगत् की नानात्वमूलक बुद्धि का निराकरण किया गया है–'नेह नानास्ति किंचन' (विवेकचूडामणि, ४६५)।

वल्लभ-दर्शन के अनुसार भक्ति का स्वरूप

भक्ति वल्लभ-दर्शन का प्रमुख तत्त्व है। आचार्य वल्लभ ने भक्ति की महत्ता को स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है कि भक्ति मुक्ति का अनिवार्य साधन है। परन्तु आचार्य वल्लभ ने जिस भक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था उसका विवेचन हमें वल्लभपूर्ववर्ती साहित्य में अनेक मतमतान्तरों के साथ मिलता है। जहां तक वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति सिद्धान्त पर पूर्ववर्ती पुराणादि के प्रभाव का प्रश्न है, निश्चित ही वल्लभाचार्य का भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त पुराणादि के भक्तिसम्बन्धी विवेचन से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित हुआ है। श्रीमद्भगवत का तो पूर्ण प्रभाव वल्लभाचार्य के भक्ति सिद्धान्त पर प्रत्यक्ष ही है। यहां वल्लभ दर्शन के अनुसार भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की समीक्षा करने से पूर्व भक्ति सम्बन्धी विभिन्न मतों के सम्बन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

शाण्डिल्यसूत्र और भक्ति–'परानुरक्तिरीश्वरे' सूत्र के अन्तर्गत शाण्डिल्यसूत्र में भक्ति का निरूपण किया गया है। शाण्डिल्यसूत्र में भक्ति को 'परानुरक्ति' का रूप दिया गया है। अनुरक्ति राग का ही उत्कृष्ट रूप है। इस प्रकार आराध्यविषयक उत्कृष्ट राग ही शाण्डिल्य सूत्र के अनुसार भक्ति है।[2] स्वप्नेश्वर ने शाण्डिल्यसूत्र के उक्त अनुरक्ति शब्द की व्याख्या करते हुए 'अनु' का अर्थ पश्चात् किया है और 'रक्ति' का अर्थ राग। इस प्रकार स्वप्नेश्वर अनुरक्ति का अर्थ ईश्वरज्ञानोत्तरवर्ती राग ग्रहण करते हैं।[3]

विष्णुपुराण और भक्ति–विष्णुपुराण के अन्तर्गत प्रह्लाद के प्रसंग में भक्ति का प्रीति रूप से वर्णन किया गया है (विष्णुपुराण-१।२०।१६)।

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति का स्वरूप–श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति का जो स्वरूप समझाया गया है, उसमें भक्त का आनन्द भी सम्मिलित है। कृष्ण अपने भक्तों के लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि मुझ में ही जिसका चित्त है तथा मुझमें ही जिनके चक्षु आदि इन्द्रिय रूप प्राण लीन रहते हैं, ऐसे मेरे भक्त परस्पर एक-दूसरे को मेरा तत्व समझाते हुए तथा ज्ञान, बल, एवं सामर्थ्यादि गुणों से युक्त मुझ परमेश्वर के रूप का वर्णन करते हुए, सदा सन्तुष्ट रहते हैं तथा आनन्द को प्राप्त होते हैं।[4] इस प्रकार उपर्युक्त कथन के अनुसार भक्ति में से सन्तोष एवं आनन्द के भाव भी सन्निहित रहते हैं।

रामानुजाचार्य और भक्ति–रामानुजाचार्य ने भक्ति को ज्ञान की एक कोटि के रूप में माना

---

१. अत्रापि बौद्ध एव घटो मिथ्या, न तु प्रपंचान्तर्वर्तीति निष्कर्षः।
–वादावली, पृष्ठ ६। (बृहन्मन्दिरपुष्टिमार्ग, सिद्धान्त कार्यालय, बम्बई १६२०)।

२. शाण्डिल्यसूत्र १।१ तथा देखिए स्वप्नेश्वर की टीका।

३. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 704.

४. श्रीमद्भगवद्गीता, १०।६।

है। विभिन्न प्रकार की अर्चनाएं एवं कर्मकाण्ड के अनेक रूप जीव को भक्ति की ओर ही अग्रसर करते हैं, परन्तु वह भक्ति के अन्तर्गत नहीं आते। इस प्रकार रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति, ज्ञान एवं कर्म का समन्वय है (रामानुजभाष्य-गीता, उपोद्घात)।

भक्तिचिन्तामणि के अनुसार भक्ति का स्वरूप–भक्तिचिन्तामणि के अन्तर्गत भक्ति को 'योगवियोगवृत्तिप्रेम' कहा गया है। योगवियोगवृत्तिप्रेम प्रेम का वह रूप है, जिसमें दो मिलन को प्राप्त प्रेमी वियोग से भयविह्वल रहते हैं और दो वियुक्त प्रेमी संयोग के लिए उत्कंठित रहते हैं।[1]

कुछ अन्य आचार्यों एवं विद्वानों के मत–हरिदास एवं गुप्ताचार्य भक्तिचिन्तामणि के उपर्युक्त मत ही के समर्थक हैं। गोविन्द चक्रवर्ती ने भक्ति के पोषक प्रेम को महान् से महान् आपत्तिकाल में भी निरन्तर रूप से स्थिर रहने वाला कहा है।[2] प्रेमलक्षणचन्द्रिकाकार परमार्थ ठक्कुर ने उक्त प्रेम की अभिलाषा को वाणी द्वारा अवर्णनीय कहा है।[3] प्रेमरसायनकार विश्वनाथ ने भक्ति को प्रेममय आकांक्षा का रूप दिया है।

गोपेश्वर जी महाराज का मत–गोपेश्वर जी का भक्तिसम्बन्धी मत उपर्युक्त मतों से भिन्न है जो आकांक्षा या उत्कण्ठा को भक्ति का प्रमुख तत्व मानते हैं उनका कहना है कि पुत्र अथवा किसी प्रिय सम्बन्धी के प्रति जो प्रेम होता है उसका आधार कोई आकांक्षा नहीं होती। फिर आकांक्षा किसी अप्राप्य विषय की होती है परन्तु भक्ति का अनुराग अप्राप्त नहीं कहा जा सकता।[4] इसके अतिरिक्त गोपेश्वर जी रामानुज-सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति को ज्ञान की कोटि के अन्तर्गत नहीं मानते। उनके मतानुसार भक्ति में कर्मकाण्ड एवं उपासना सम्मिलित नहीं है। गोपेश्वर जी तो शाण्डिल्यसूत्र के अनुयायी होने के कारण भक्ति को अनुरक्ति के ही अन्तर्गत मानते हैं।

इस लेखक का दृष्टिकोण–मेरे विचार से भक्ति, हृदय की वह भावदशा है जिसमें भक्त के हृदय में एक ओर तो भगवान् के माहात्म्य पर दृष्टि रहती है और दूसरी ओर आत्मनिवेदन तथा आत्म समर्पण पर। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सँख्य, और आत्मनिवेदन, यह नौ भक्ति की मौलिक विशेषताएँ हैं। भक्ति ज्ञान से तो कोसों दूर हैं। जहाँ ज्ञान है वहाँ भक्ति नहीं और जहां भक्ति है वहाँ ज्ञान कहाँ ? दोनों के आधार स्थल भी भिन्न है। ज्ञान का आधार बुद्धि है और भक्ति का आधार हृदय। अतः भक्ति को ज्ञान की कोटि के अन्तर्गत मानने वाले रामानुजाचार्य आदि आचार्यों के मतों से इस लेखक का मतवैपरीत्य है।

---

१. अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विश्लेषभीरुता। –भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ ७५ (चौखम्बा संस्करण, बनारस) स. १९६५।

२. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ ७५।

३. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 351.

४. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ ७५।

वल्लभाचार्य और उनका भक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त–वल्लभाचार्य ने स्नेह को भक्ति का प्रमुख तत्व माना है। उन्हीं के शब्दों में भक्ति की परिभाषा है–भगवान् के महात्म्य का ज्ञान होने पर भगवान् के प्रति जो सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्नेह होता है वही, भक्ति हैं[1]। अपनी भक्तिवर्धिनी के अन्तर्गत भक्ति तत्त्व का निरूपण करते हुए वल्लभाचार्य ने प्रेम को भक्ति का बीज माना है, जो भगवत्कृपा से उत्पन्न होता है। जब यह बीज पुष्टि को प्राप्त हो जाता है तो त्याग, भक्ति, शास्त्रश्रवण एवं नामकीर्तनादि के द्वारा बुद्धि को प्राप्त होता है। भक्ति कभी स्वतः, कभी भक्तों के सम्पर्क से और कभी भक्ति के उपयोगी साधनों से उत्पन्न होती है। जिन भक्तों में साधन द्वारा भक्ति उत्पन्न होती है उनके हृदय में वह भाव रूप से स्थित रहती है। फिर पुत्रादि साधनों के द्वारा प्रेमादि रूप से क्रम से उद्भूत होती है।[2] भाव, प्रेम, प्रणय, स्नेह, राग, अनुराग और व्यसन यह सात भक्ति के क्रमिक विकास के सोपान है। जब भक्त को भगवद् व्यसन प्राप्त हो जाता है तो उसे संसार की कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। भगवद् व्यसन से पहिले सांसारिक बाधायें भक्त के जीवन में बाधक बनकर उपस्थित होती है। अतः जब तक व्यसन की उत्पत्ति नहीं होती तब तक सांसारिक पदार्थों का राग नष्ट नहीं होता। इस प्रकार भक्त की स्नेह शक्ति सांसारिक व्यसनों की विनाशकर्त्री है। व्यसनों के नाश होने पर पूर्वकृत समस्त कर्म भी व्यर्थ हो जाते हैं। अतः कर्म का त्याग करके ही भगवत्प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।[3]

वल्लभाचार्य और उनका पुष्टिमार्ग–वल्लभाचार्य का भक्ति सिद्धान्त पुष्टिमार्ग के नाम से प्रख्यात है। पुष्टि का अर्थ है–भगवान् का अनुग्रह (पोषणं तदनुग्रहः, श्रीमद्भागवत २।१०) इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार भगवदनुग्रह ही मुक्ति का प्रधान कारण माना गया है। इसलिए वल्लभदर्शन का भक्तिसिद्धान्त पुष्टिमार्ग के नाम से अभिहित होता है। पुष्टिमार्ग के अनुसार भगवत्प्राप्ति के लिए ज्ञानादि की अपेक्षा नहीं है।[4]

मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति–पुष्टि-भक्ति के विपरीत वैष्णवदर्शन का मर्यादा-भक्ति का सिद्धान्त है। स्वयं वल्लभाचार्य ने पुष्टि-भक्ति का समर्थन करते हुए भी मर्यादा-भक्ति को युक्तता की शंका नहीं की है।[5] भक्तिमार्तण्डकार ने मर्यादाभक्ति और पुष्टिभक्ति का तुलनात्मक विवेचन करते हुए कहा है कि मनुष्य को अपने कर्मों एवं साधनों के द्वारा जो भक्ति प्राप्त होती है वह मर्यादा-भक्ति कहलाती है और जैसा कि कहा जा चुका है, कर्म और साधकों के बिना केवल भगवदनुग्रह के द्वारा जिस भक्ति की उपलब्धि होती है उसे 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं।[6] कर्म एवं साधनों का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी, मर्यादा भक्ति के अनुयायियों की यह मान्यता है कि एक बार कर्म एवं साधनों द्वारा भगवत्प्रेम उत्पन्न

---

१. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।। –तत्त्वार्थदीप, पृ. ८०।। –Edited by Hari Shanker Onkarji Shastri, Bombay, 1943.

२. देखिए–भक्तिवर्द्धिनी, श्लोक ५ पर पुरुषोत्तमाचार्य की वृत्ति।

३. स्नेहशक्तिः व्यसनानाम् विनाशनां। तथा सति कृतमपि सर्वं कार्यं व्यर्थं स्यात्। तेन तत् त्याग कृत्वयतेत।–भक्तिवर्द्धिनी, श्लोक ६ पर बालकृष्ण की टीका।

४. अणुभाष्य, ३।३।२९।

५. वही।

६. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ १५१।

होने पर फिर साधनादि की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु पुष्टिमार्ग के अनुसार किसी स्थिति में भी साधन मात्र से भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। पुष्टि मार्ग में जो भगवत्कृपा को ही साधन कहा गया है–पुष्टिमार्गे वरणम् एव साधनम्। मर्यादा भक्ति के अन्तर्गत श्रवणादि के द्वारा पापक्षय होने पर प्रेमोत्पत्ति और मुक्ति की उपलब्धि हो जाती है। परन्तु पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुसार भगवान् का अनुग्रह ही पापादि की अप्रतिबन्धकता का कारण है। इसके अतिरिक्त मर्यादाभक्ति के अन्तर्गत जो श्रवणादि एवं प्रेम का पौर्वापर्य सम्बन्ध बतलाया गया है, वह भी पुष्टिमार्ग की भक्ति में आवश्यक नहीं है।[1]

प्रवाह-मार्ग और पुष्टिमार्ग–वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग के अतिरिक्त प्रवाहमार्ग के नाम से एक और मार्ग का भी उल्लेख किया है। प्रवाहमार्ग के अन्तर्गत उन वैदिक कर्मों का उल्लेख किया गया है, जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। जो कर्म वैदिक नियमों का उल्लंघन नहीं करते वे मर्यादामार्ग के अन्तर्गत आते हैं। पुष्टि-मार्ग और मर्यादा-मार्ग का भेद ऊपर बतलाया जा चुका है। पुष्टि-मार्ग प्रवाह-मार्ग से इस अंश में भिन्न है कि पुष्टिमार्ग प्रवाहमार्ग की तरह वैदिक कर्मों पर आधारित न होकर पूर्णतया भगवदनुग्रह पर ही प्रतिष्ठित रहता है।[2]

भक्ति के साधन–वैसे तो, भगवद् भक्ति की प्राप्ति का प्रमुख कारण भगवदनुग्रह ही है, परन्तु भगवदनुग्रह प्राप्त करने के लिए भक्त में अन्तःकरण की शुद्धि अत्यावश्यक है। अन्तःकरण की शुद्धि के षोडश साधन बतलाए गए हैं। इनमें कुछ साधन आन्तरिक तथा कुछ बाह्य है। बाह्य साधनों में स्नान, यज्ञ और देवमूर्ति का अर्चन ये तीन साधन आते हैं। सर्वात्मरूप से भगवान् का ध्यान करना चतुर्थ साधन है। सत्त्वगुण का उत्कर्ष पंचम साधन है। समस्त कर्मों का समर्पण एवं अनासक्ति षष्ठ साधन है। श्रद्धेयों एवं आदरणीयों का आदर करना सप्तम साधन है। दीनों के प्रति दश का भाव अष्टम साधन के अन्तर्गत आता है। सभी प्राणियों के प्रति समानता एवं मित्रता का भाव नवम साधन है। दशम साधन यम तथा एकादश साधन नियम है। गुरुमुख द्वारा शास्त्र द्वादश साधन है। भगवन्नामश्रवण एवं कीर्तन त्रयोदश साधन है। सार्वभौमसहानुभूति एवं स्नेह चतुर्दश साधन है। सत्संग पन्द्रहवाँ साधन है। डाक्टर देवराज ने ईश्वरसायुज्य को अन्तःकरण की शुद्धि का पंचदश साधन माना है।[3] परन्तु यह अनुचित है, क्योंकि ईश्वर सायुज्य तो साधन न होकर साध्य ही है। अन्तःकरण की शुद्धि का सोलहवाँ साधन अहंकार का विनाश है।[4] इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार अन्तःकरण की शुद्धि के अर्थ यह सोलह साधन बतलाए गए हैं।

वल्लभदर्शन में मुक्ति का स्वरूप

अद्वैतवेदान्तपरम्परा के अनुसार जहाँ परमात्मसाक्षात्कार का मूलज्ञान है, वहाँ वल्लभदर्शन के

---

१. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ १५२।

२. अतो वेदोक्तत्वेऽपि वेदतात्पर्यगोचरत्वेऽपि जीवकृतवैधसाधनेष्वप्रवेशात् तदसाध्यसाधनात् फलवैलक्षण्याच्च स्वरूपतः कार्यतः फलतश्चोत्कर्षाच्च वेदोक्तसाधनेभ्योऽपि भिन्नैव तत्तदाकारिका पुष्टिरस्तीत्यतो हेतोः सिद्धमिति मार्गत्रयोऽत्र न सन्देह इत्यर्थः।–पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद-टीका, पृष्ठ ८।

३. डा० देवराज : दर्शन शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४३७। (हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद, १६५०)

४. *Dr. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 351.

अन्तर्गत भगवन्माहात्म्य ज्ञानपूर्विका भक्ति ही मुक्ति का कारण है, यह इसी प्रकरण के अन्तर्गत कहा जा चुका है। अतः ज्ञान एवं भक्ति द्वारा प्राप्त मुक्ति स्थिति में भी अन्तर होना स्वाभाविक है। अद्वैत-वेदान्त के अन्तर्गत ज्ञानसाध्य जिस जीवब्रह्मैक्यरूप मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है, उससे वल्लभाचार्य-प्रतिपादित मुक्ति का स्वरूप भिन्न है। वल्लभदर्शन के अनुसार जीव मुक्तावस्था में भी कर्मरत रहते हैं। इनमें कुछ जीव इस प्रकार के हैं जो पूर्व-बन्धन से मुक्त हो गए हैं। इस प्रकार के जीवों में सनकादि आते हैं। दूसरे प्रकार वे जीव वे हैं जो ब्रह्मलोक की प्राप्ति करके, भगवान् के अनुग्रह से मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त तीसरे प्रकार के जीव वे हैं जो एकमात्र भगवान् की भक्ति का आश्रय प्राप्त करते हैं और फिर पूर्ण भगवत्प्रेम के द्वारा ईश्वरसायुज्य की उपलब्धि करते हैं।[१]

वल्लभदर्शन के अन्तर्गत यद्यपि भक्ति मुक्ति का साधन है, परन्तु उसका महत्त्व मुक्ति से भी अधिक है। मुक्ति के अन्तर्गत जिस आनन्द का अनुभव होता है वह आत्मिक है, परन्तु भक्त को जो रसानुभव होता है, वह इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के द्वारा ही अनुभूत होता है। वल्लभाचार्य के मतानुसार इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के द्वारा आनन्द का अनुभव करने वाले भक्तों की महत्ता जीवन्मुक्तों से भी अधिक मानी गई है।[२]

अद्वैतवेदान्त एवं वल्लभदर्शन, तुलनात्मक विवेचन

शांकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया होने पर भी वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त-शुद्धाद्वैतवाद एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद में समताएँ एवं विषमताएँ दोनों ही मिलती हैं। जहाँ तक शांकर अद्वैतवाद एवं वाल्लभ शुद्धाद्वैतवाद की समताओं का प्रश्न है, दोनों में ही दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार अद्वैतवाद का समर्थन किया गया है। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार यदि सजातीय-विजातीय भेद से रहित एवं दिग्देशगुणगतिफलभेद शून्य अद्वैत एवं एकरस ब्रह्म ही परमार्थ रूप से सत्य है[३] तो वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत भी मायासम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म को ही अद्वैत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है।[४] शांकर अद्वैतवाद का परब्रह्म भी शुद्धाद्वैतवादी की तरह माया से रहित है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कि अद्वैतवेदान्त में जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन के द्वारा पदार्थमय जगत् की शून्यता न सिद्ध करके जगत् के सम्बन्ध में उत्पन्न द्वैतबुद्धि का ही निराकरण किया गया है, उसी प्रकार शुद्धाद्वैतवादियों ने भी प्रपंचबुद्धि का ही मिथ्यात्व सिद्ध किया है (वादावली, पृष्ठ ६)। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' एवं 'नेह नानास्ति किंचन' की भावना के द्वारा जिस प्रकार ब्रह्म एवं जगत् का अद्वैतत्व स्थापित किया गया है, उसी प्रकार शुद्धाद्वैतदर्शन के अन्तर्गत भी जगत् के सम्बन्ध में ब्रह्मात्मकता

---

१. *Radhakrishnan* : Indian Philosophy, Vol. II, p. 760.

२. देखिए, तत्त्वदीपन पर वल्लभाचार्य की टीका, पृष्ठ ७७।

३. दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसदद्वयं ब्रह्म।–शा० भा०, छा० उ० ८।१।१।

४. मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः –शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, २८।

का भाव स्पष्ट रूप से मिलता है।[1] अद्वैतवादी एवं शुद्धाद्वैतवादी के दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रतिबिम्बवादसम्बन्धिनी समानता भी द्रष्टव्य है। अद्वैतवादी शंकराचार्य एवं शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य दोनों ही प्रतिबिम्बवाद सिद्धान्त के अनुसर्ता प्रतीत होते हैं। प्रतिबिम्बवाद के द्वारा अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए, अद्वैती शंकराचार्य का कथन है कि जल में स्थित सूर्यप्रतिबिम्ब जल की वृद्धि होने पर बढ़ता है और जल के क्षीण होने पर क्षीणता को प्राप्त होता है, जल के कम्पित होने पर कम्पित होता है और जलभेद होने पर भिन्नता को प्राप्त होता है। इस प्रकार सूर्यप्रतिबिम्ब जल के धर्मों का अनुसरण करता है, परन्तु परमार्थतः सूर्य वैसा नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म परमार्थतः अविकृत एवं एक होते हुए भी देहादि उपाधि के अन्तर्भाव से वृद्धि, क्षय आदि को प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है।[2] इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद सिद्धान्त के अनुसार जीव प्रतिबिम्ब रूप है जिस प्रकार प्रतिबिम्ब वृद्धिक्षयादि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जीव सुखदुःखादि का अनुभव करता है। परमेश्वर वस्तुतः सुखदुःखादि से असम्बद्ध है। अब शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य को लीजिए। प्रतिबिम्बवादी वल्लभाचार्य ने सूर्य का दृष्टान्त न देकर चन्द्रमा के दृष्टान्त के द्वारा प्रतिबिम्बवादी वल्लभाचार्य ने सूर्य का दृष्टान्त न देकर चन्द्रमा के दृष्टान्त के द्वारा प्रतिबिम्बवाद का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं–जिस प्रकार कि जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ने पर जलवर्ती कम्पादि धर्म मिथ्या है और उनकी चन्द्रमा से कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार अनात्मदेहादि का जन्म, बन्ध, दुःखादि रूप धर्म, जीव का ही है, ईश्वर का नहीं।[3] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की प्रतिक्रिया होने पर भी वल्लभदर्शन एवं शांकरवेदान्त के सिद्धान्तों में समानता भी मिलती है। अतः वल्लभाचार्य के शंकराचार्यपरवर्ती होने के कारण शांकरवेदान्त एवं वल्लभवेदान्त के संबंध में ऊपर निर्दिष्ट किए गए समान स्थलों में, वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों पर शांकरवेदान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित कहा जा सकता है। अद्वैतवेदान्त एवं वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतदर्शन के अन्तर्गत समताओं की अपेक्षा विषमताएँ अधिक हैं। शुद्धाद्वैतदर्शन के शांकरवेदान्त की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने के कारण शांकरवेदान्त एवं शुद्धाद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों में विषमताओं का होना स्वाभाविक ही है। यहाँ दोनों दर्शन-पद्धतियों की विषमताओं का उल्लेख किया जाएगा।

अद्वैतवेदान्त एवं शुद्धाद्वैतवेदान्त, दोनों ही पद्धतियों के अनुसार सर्वोच्च तत्त्व ब्रह्म है, परन्तु दोनों की ब्रह्मसम्बन्धिनी विचारधारा में मूल अन्तर तो यह है कि अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म निर्गुण है और वल्लभवेदान्त के अनुसार सगुण पुरुषोत्तम। अद्वैतवेदान्त में भी अपरब्रह्म के नाम से सगुण ब्रह्म की चर्चा मिलती है, परन्तु उसकी सत्ता केवल उपासनार्थ है। परमार्थ, दशा में पर अर्थात् निर्गुण ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। पर एवं अपर ब्रह्म का निरूपण चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। शंकराचार्य और वल्लभाचार्य दोनों ही अद्वैती है, परन्तु एक का सिद्धान्त केवलाद्वैतवाद है और दूसरे का शुद्धाद्वैतवाद। केवल द्वैतवादी शंकराचार्य के मतानुसार केवल अद्वैत ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है,

---

१. विवेकस्तु ममैतद् एव प्रभुणकृतं सर्वं ब्रह्मात्मकम् कोऽहं, किंच साधनम्, किं फलम् , को दाता, को भोक्ता इत्यादिरूपः।–सेवाफल श्लोक ३ पर हरिराज की टीका।

२. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२०।

३. यथा जले चन्द्रमसः प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन कृतो गुणः कम्पादिधर्मः आसन्नो विद्यमानो मिथ्यैव दृश्यते न वस्तुतश्चन्द्रस्य एवमनात्मनो देहादेर्धर्मो जन्मबन्धदुःखादिरूपो द्रष्टुरात्मनो जीवस्य न ईश्वरस्य।–सुबोधिनी, श्रीमद्भागवत, ३।७।११।

जगत् जो व्यावहारिक सत्ता की दृष्टि से सत् है, परमार्थ दृष्टि से मिथ्या है। शांकरवेदान्त के अन्तर्गत जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण मिथ्या है, क्योंकि माया स्वयं मिथ्या है।[1] शुद्धाद्वैतवादी का सिद्धान्त शांकरवेदान्त के उक्त सिद्धान्त के विपरीत है। शंकराचार्य के केवलाद्वैतवाद पर आक्षेप करते हुए वल्लभाचार्य का कथन है कि ब्रह्म से अतिरिक्त माया की सत्ता स्वीकार करके मायिक जगत् की सत्ता सिद्ध करना शुद्ध अद्वैतवाद में बाधा उत्पन्न करता है।[2] वैसे, माया के दायित्व की कल्पना दोनों दर्शन पद्धतियों में समान ही है। शांकरवेदान्त में यदि माया को ईश्वर की शक्ति का रूप दिया गया है तो वाल्लभवेदान्त में भी माया का उल्लेख भगवान् की अभिन्न शक्ति के रूप में किया गया है।[3] परन्तु दोनों की माया शक्ति में पर्याप्त अन्तर है। शांकरवेदान्त की मायाशक्ति अविद्यात्मिका एवं मिथ्या है (ब्र० सू०, शा० भा० १।४।३) और वल्लभवेदान्त की माया मिथ्या न होकर पारमार्थिक सत्य है। वल्लभ दर्शन के विपरीत अद्वैतवेदान्त की माया का मिथ्यात्व अनिवर्चनीयता पर आधारित है। परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण होने के कारण ही माया की अद्वैतवेदान्त में अनिवर्चनीय कहा गया है। शांकर वेदान्त और वल्लभदर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि शांकरवेदान्तसम्मत मायिक जगत् मिथ्या है और इसके विपरीत वल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भगवान् की माया शक्ति की सहायता से आविर्भूत जगत् मिथ्या न होकर सत्य है। कार्य रूप जगत् के ब्रह्म की ही आविर्भाव दशा का फल होने के कारण उसका सत्यत्व स्पष्ट ही है।

कार्यकारणवाद-सिद्धान्त के सम्बन्ध में शांकरवेदान्त के अन्तर्गत जिस अधिष्ठानवाद[4] एवं अध्यारोपवाद[5] का समर्थन किया है उसका भी वल्लभदर्शनपद्धति में विरोध है। शांकरवेदान्त के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान है एवं जगत् आरोप का फल है। इसके विपरीत वल्लभदर्शन के अनुसार जीव एवं जगत् की सत्ता ब्रह्म का ही कार्यरूप है। इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार ब्रह्म जगत् का समवायिकरण है[6] और शांकर अद्वैतदर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है एवं माया उपादानकारण है।[7] इस प्रकार शांकरवेदान्त में माया शक्ति के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों है। अद्वैतवेदान्त-दर्शन के अन्तर्गत जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहकर विवर्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया है, परन्तु वल्लभदर्शन का सिद्धान्त विवर्तवाद न होकर अविकृत परिणामवाद का सिद्धान्त है।

शांकरवेदान्त एवं वल्लभदर्शन के जीव सम्बन्धी सिद्धान्त में भी पर्याप्त भेद है। वल्लभदर्शन

---

१. गौ० का० ४।५८।
२. अणुभाष्य १।१।६।
३. माया याअपि भगवच्छक्तित्वेन शक्तिमदभिन्नत्वात्।–प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ १५६।
४. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१, २।१।२८ तथा देखिए, वेदान्तपरिभाषा, प्रथम परिच्छेद वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली–४६।
५. ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।
६. देखिए –पुरुषोत्तमाचार्य की टीका–अणुभाष्य, पृष्ठ ९०।
७. वेदान्तसार, ११।

के अनुसार जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव है। अंशांशिभाव होने के कारण ही दोनों में अभेद है।[1] इसके विपरीत शांकरवेदान्त के अनुसार जीव स्वरूपतः ब्रह्म ही है–शांकरवेदान्त में जीव की सत्ता अविद्योपाधिक होने के कारण मिथ्या है, परन्तु वल्लभ-दर्शन में ऐसा नहीं है। वल्लभ दर्शन के अनुसार जीव भी मिथ्या न होकर ब्रह्म के समान सत्य है।[2] इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनानुगत जीव के विभुत्व का भी शांकरवेदान्त में विरोध है। शांकरवेदान्त के अनुरूप सबसे बड़ा भेद ज्ञान और भक्ति का है। शांकरवेदान्त के अनुरूप विभुत्व जीव में न होकर ब्रह्म में है। वल्लभ-वेदान्त और शांकरवेदान्त के अन्तर्गत सबसे बड़ा भेद ज्ञान और भक्ति का है। शांकरवेदान्त का पक्ष 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' पर आधारित है। जिसके अनुसार जीव को स्वरूप-ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। इस मत के अनुसार भक्ति का पर्यवसान भी ज्ञान में ही होता है। स्वयं कृष्ण ने भी भक्त की अपेक्षा ज्ञानी को ही अपना अधिक प्रिय माना है (गीता ७।१७), परन्तु आचार्य वल्लभ का मत शांकरवेदान्त के मत के विपरीत है। जैसा कि वल्लभदर्शन की भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते समय कह आए हैं, भक्ति मुक्ति का अनिवार्य साधन है, ज्ञान नहीं। ज्ञान तो भक्ति का बाधक है।[3] इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भक्ति का पर्यवसान ज्ञान में न होकर स्वयं ज्ञान को ही भक्ति का अंग बतलाया गया है।

शांकरवेदान्त और वल्लभ-दर्शन की मुक्तिपरक विचारधारा का प्रमुख भेद भी विवेच्य है। वल्लभ-दर्शन की भगवत् सायुज्यादिस्वरूपिणी मुक्ति शंकर वेदान्त की जीवैक्य स्वरूपिणी मुक्ति से तो भिन्न है ही, साथ ही दोनों दर्शनपद्धतियों की आत्मानुभवसम्बन्धिनी दृष्टि में भी मौलिक भेद है। शांकरवेदान्त के अन्तर्गत जीव को आत्मानन्द की स्थिति में जो आनन्दानुभव होता है वह इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से अतीत है, क्योंकि आत्मा इन्द्रियादि से परे है।[4] इसके विपरीत जैसा कि वल्लभदर्शनानुगत मुक्ति के स्वरूप का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, भक्त को इन्द्रियों एवं अन्तःकरण के द्वारा ही आनन्द का अनुभव होता है।

ऊपर किए गए तुलनात्मक विवेचन से ज्ञात होता है कि शांकरवेदान्त और वल्लभ-वेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर यत्किंचित् साम्य होते हुए भी पर्याप्त भेद है। जैसा कि दोनों दर्शनपद्धतियों के साम्यमूलक सिद्धान्तों की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, शांकरवेदान्त के सिद्धान्तों की समता को प्राप्त वल्लभदर्शन के सिद्धान्तों पर शांकरवेदान्त का प्रभाव निःसंकोच कहा जा सकता है।

चैतन्य महाप्रभु

चैतन्य महाप्रभु का मूल नाम विशम्भर मिश्र था। इनके पिता जगन्नाथ मिश्र एवं माता शची

---

१. अणुभाष्य, २।३।४३।

२. ...it is as real and eternal as Brahman. -Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 757.

३. भक्तिमार्तण्ड पृष्ठ १३७।

४. शांकरभाष्य, गीता, ३।४२।

देवी थी। इनके पिता पहले पूर्वी बंगाल में सिलहट में रहते थे, किन्तु इसके पश्चात् वे नदिया (नवद्वीप) में आ गए थे। विशम्भर (चैतन्य) के बड़े भाई का नाम विश्वरूप था। विश्वरूप का ही दूसरा नाम नित्यानन्द था। जगन्नाथ की आठ पुत्रियाँ थीं, जो युवावस्था में ही ईश्वर को प्यारी हो गई थीं। कृष्ण-चैतन्य का जन्म फाल्गुन मास की पूर्णिमा को हुआ था, तथा इन्हें कृष्ण का अवतार कहा गया था। कृष्ण-चैतन्य का दूसरा नाम गौराङ्ग भी था, क्योंकि इनका शरीर गौरवर्ण का था। जब ये अठारह वर्ष के थे, तो इनका विवाह लक्ष्मी देवी से हुआ था। इसके पश्चात् ये पूर्वी बंगाल में माँगते, खाते एवं कृष्णभक्ति के गीत एवं भजन गाते हुए अपना समय यापन करने लगे। पर्यटन करते समय ही, इनकी पत्नी का निधन हो गया, तथा इन्होंने दूसरा विवाह किया। जब ये बाईस वर्ष के थे, तो ये पितरों का श्राद्ध करने के लिए गया गए। वहाँ से लौट कर इन्होंने हरि भक्ति का प्रचार-प्रसार किया, एवं जाति-पांति के बंधन को समाप्त करने का पूर्ण प्रयास किया। इनका बल प्रेम एवं भगवान् की भक्ति पर ही विशेष था। इस प्रकार ये और इनके भक्त भजन गाते एवं हरि संकीर्तन करते-करते ही बेहोश हो जाते थे। १५१० में चैतन्य संन्यासी हो गए थे। इन्होंने संन्यास की दीक्षा, केशव भारती से ग्रहण की थी। संन्यास की दीक्षा लेने के बाद, सबसे पहले ये पुरी गए। इसके पश्चात् ये लगभग छः वर्ष तक देशाटन करते रहे। जब ये वाराणसी काशी गए, तो इनका शास्त्रार्थ अद्वैती आचार्य प्रकाशानन्द से हुआ। चैतन्य अद्वैतवेदान्त सम्मत विवर्त्तवाद के स्थान पर परिणामवाद के समर्थक थे। देशाटन करने के पश्चात् , चैतन्य ने अपने जीवन के १८ वर्ष पुरी में ही व्यतीत किए, जहाँ इनका देहावसान सन् १५३३ ई० में हो गया।

वल्लभ एवं चैतन्य की दार्शनिक दृष्टि का यह प्रमुख भेद उल्लेखनीय है कि चैतन्य की भक्ति-भावना संगीत भजन-संकीर्तनमय होने के कारण प्रचुर भावुकता से आप्लावित थी। इसके विपरीत वल्लभाचार्य एवं उनके अनुसर्त्ताओं का बल धार्मिक रीति-रिवाजों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के विश्लेषण एवं खंडन-मण्डन पर अधिक था। चैतन्य का भक्तिदर्शन पूर्णतया भक्ति परक होने के कारण सामान्य से सामान्य जन के लिए भी ग्राह्य था। इनका भक्तिदर्शन किसी प्रकार की जाति-पाँति की भावना पर, आधारित न होने के कारण समस्त समाज का ग्राह्य था। इसीलिए चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनेक मुस्लिम सन्त भी हुए थे।

कृष्णचैतन्य, नित्यानन्द एवं अद्वैतानन्द, ये तीन चैतन्य सम्प्रदाय के कर्णधार थे। नित्यानन्द के उत्तराधिकारी नदिया (नवद्वीप) में तथा अद्वैतानन्द के उत्तराधिकारी शान्तिपुर में रहते थे। चैतन्य सम्प्रदाय के मठ एवं मन्दिर, मथुरा, वृन्दावन तथा बंगाल में–नदिया, अम्बिका एवं अग्रद्वीप में थे। सिलहेट से उत्तर की ओर ढाका दक्षिण क्षेत्र में भी चैतन्य से सम्बन्धित एक पवित्र स्थान है, जहाँ दूर-दूर से हज़ारों की संख्या में भक्त जन दर्शनार्थ आते थे।

चैतन्य सम्प्रदाय के एक सन्त और उल्लेखनीय हैं, जिनका नाम रामसरन पाल है। ये सद्गोप जाति के थे। इन्होंने लगभग दो सौ वर्ष पूर्व, चैतन्य सम्प्रदाय की एक शाखा कर्ताभाजस कीं स्थापना की थी। इस शाखा में सभी जाति के लोगों को स्थान दिया था। रामसरन पाल कर्त्ता बाबा के नाम

से भी जाने जाते थे।[1]

चैतन्य महाप्रभु, नित्यानन्द एवं अद्वैतानन्द में से किसी का भी कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। किन्तु चैतन्य के शिष्यों–रूपगोस्वामी एवं सनातन गोस्वामी ने चैतन्य सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के बारे में विशेष रूप से लिखा था। सनातन गोस्वामी का ग्रन्थ रसामृतसिन्धु चैतन्य सम्प्रदाय का एक विशेष ग्रन्थ है, जिसमें भक्ति एवं प्रेम का विशेष विश्लेषण वर्तमान है।

महाप्रभु चैतन्य (१४८५-१५३३ ई०) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

महाप्रभु चैतन्यलिखित कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर उनके दार्शनिक सिद्धान्त की समीक्षा की जा सके। अतः उनके दार्शनिक सिद्धान्त के यत्किंचिद् बीज उनके चरित-ग्रन्थों में ही देखे जा सकते हैं जो उनके अनुयायियों द्वारा लिखे गए हैं। यहाँ, इन चरितग्रन्थों के आधार पर ही चैतन्य के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

महाप्रभु चैतन्य का दार्शनिक सिद्धान्त अचिन्त्यभेदाभेदवाद है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति अचिन्त्य है। अतः भगवान् और जगत् में भेद है या अभेद, यह भी अचिन्त्य ही है। इसीलिए इस सिद्धान्त का नाम अचिन्त्यभेदाभेदवाद पड़ा है।[2] भेदाभेद के अचिन्त्य होने के कारण चैतन्यसम्प्रदाय के अनुरूप जगत्, शांकरवेदान्त की तरह मिथ्या न होकर सत्य है। प्रलयकाल में भी जगत् भगवान् के साथ उसी प्रकार सूक्ष्मरूप से स्थित रहता है जिस प्रकार कि रात्रि में पक्षी वन में लीन हो जाता है।[3]

शांकर वेदान्त की तरह चैतन्यसम्प्रदाय के अन्तर्गत ब्रह्म को निर्गुण न स्वीकार करके पूर्णतया सगुण माना गया है। ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ हैं। चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति के प्रमुख तीन रूप हैं–विष्णु शक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति और अविद्या शक्ति।[4] विष्णु शक्ति के भी ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् भेद से तीन भेद हैं, सत्, चित् एवं आनन्द शक्तियाँ पराशक्ति या विष्णु शक्ति के अन्तर्गत वर्तमान हैं। क्षेत्रज्ञ शक्ति (जीव शक्ति) एवं अविद्या शक्ति भगवान् की परा शक्ति के अन्तर्गत नहीं है।

चैतन्यदर्शन का ब्रह्म प्राकृत गुणों से रहित होते हुए भी अप्राकृत विशेषताओं से विशिष्ट है।

---

१. देखें, R.G. Bhandarkar, Vaiṣṇavism & Saivism Page, 86.

२. स्वरूपादिभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतो भेदाभेदावंगीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमतेतु अचिन्त्य भेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्। (जीव गोस्वामी, सर्वसंवादिनी)।

३. 'आत्मावादमित्यादौ वनलीनविहंगवत्।
सत्वं विश्वस्य मन्तव्यमित्युक्तं वेदवेदिभिः।। (प्रमेयरत्नावली ३।२)

४. विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते।। विष्णु पुराण ६।७।६१।

श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत माया के द्वारा ईश्वर के नियन्तृत्व की विचारणा मिलती है।[1] माया शक्ति से सम्पन्न, चैतन्यदर्शन का ईश्वर भी जीवों का नियन्ता है, ईश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तियों के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। ईश्वर द्वारा सृष्ट जगत् यद्यपि मिथ्या नहीं है, परन्तु 'यदुत्पादि विनाशि तत्' के अनुसार विनाशशील अवश्य है। यही शांकरवेदान्त और चैतन्यदर्शन के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण का भेद है। शांकरवेदान्त का जगत् परमात्मा की अविद्या शक्ति से उत्पन्न होने के कारण मिथ्या है।

चैतन्य सम्प्रदाय के भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का संकेत हमें चैतन्य एवं रामानन्द के संवादों में मिलता है। रामानन्द का कथन है कि वर्णाश्रमव्यवस्थागत कर्मों के करने पर भगवान् की भक्ति की प्राप्ति होती है। परन्तु भक्तिरसामृतसिन्धुकार का मत चैतन्यचरितामृतकार के उक्त मत से भिन्न है। भक्तिरसामृतसिन्धुकार का कथन है कि उत्तमा भक्ति समस्त अभिलाषाओं से शून्य तथा ज्ञान-कर्मादि से अनावृत है। इस प्रकार आनुकूल्य के साथ भगवान् कृष्ण का अनुसेवन ही भक्ति है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि चैतन्य रामानन्द के इस उपर्युक्त मत से सहमत नहीं थे कि वर्णाश्रमव्यवस्थागत कर्मों के विधान से भक्ति की उपलब्धि होती है। चैतन्य की उक्त असहमति देखकर रामानन्द, भक्ति की एक और उच्चतर स्थिति मानते हैं, जिसके अनुसार भक्त ईश्वरप्राप्ति का अनुष्ठान करते हुए समस्त कामनाओं का त्याग कर देता है। इसके बाद भक्ति की यह स्थिति आती है जिसके अनुसार भक्त भगवत् प्रेम के द्वारा समस्त कर्मविधान का त्याग कर देता है। इसके पश्चात् भक्ति की वह ज्ञानगर्भित स्थिति आती है, जिसमें भक्त को भगवान् के माहात्म्य एवं स्वभाव का ज्ञान भक्ति का बाधक न होकर साधक ही है।

पंचधा भक्ति–भगवान् के प्रति भक्त का जो स्वाभाविक एवं अविच्छेद अनुराग होता है, उसे प्रेमा भक्ति कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं। यह पाँच भेद शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य हैं।

शुद्धा भक्ति–चैतन्य ने शुद्धा भक्ति की पृथक् रूप से चर्चा की है। चैतन्य के मतानुसार शुद्धा भक्ति वह है, जिसमें भक्त समस्त कामनाओं, वैधानिक उपासनाओं, ज्ञान एवं कर्म का त्याग कर देता है और अपनी समस्त इन्द्रियों के सामर्थ्य से एकमात्र कृष्ण में ही लीन हो जाता है। शुद्धभक्तिसम्पन्न भक्त भगवान् से किसी प्रकार की कामना की पूर्ति की इच्छा नहीं करता। उसे केवल भगवत्-अनुराग में ही आनन्द आता है। शांकरवेदान्त एवं चैतन्यदर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर वैषम्य होते हुए भी यह साम्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार शांकरवेदान्त के अन्तर्गत कर्म का मुक्ति से साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी आचार एवं दार्शनिक दृष्टि से उसका महत्त्व स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार चैतन्यविचारपद्धति के अनुसार भी भक्त के लिए आचार की महती उपयोगिता बतलाई गयी है। इस सम्बन्ध में चैतन्यदर्शन के अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित हुआ है कि कृष्ण के भक्त को दयालु, सत्यपालक, समानदृष्टिवाला, अनपकारी, उदारवेत्ता, सहृदय, शुद्ध निःस्वार्थी, एवं शान्त होना चाहिए। इस प्रकार शांकरवेदान्त एवं चैतन्यदर्शन के अन्तर्गत आचारपक्ष पर समान रूप से बल दिया गया है।

---

१. भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। (गीता, १८।६१)

जीवगोस्वामी

जीवगोस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त

जीवगोस्वामी एवं बलदेव विद्याभूषण, ये दोनों वैष्णव आचार्य भी चैतन्य के ही अनुयायी थे। यहां इन दोनों के दार्शनिक सिद्धान्तों का पृथक् पृथक् विवेचन करेंगे। पहले जीव गोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में मीमांसा की जाएगी।

जीवगोस्वामी के अनुसार ब्रह्म, भगवान् तथा परमात्मा का स्वरूप

जीवगोस्वामी का एकमात्र प्रधान ग्रन्थ षट्सन्दर्भ है। जीवगोस्वामी का कथन है कि मूलतः तो ब्रह्म भगवान् एवं परमात्मा में भेद नहीं है परन्तु फिर भी एक मूल सत्य ब्रह्म का प्रतिपादन होने के कारण और तदनुरूप उपासक पुरुष के अनुभव के कारण ब्रह्म, भगवान् या परमात्मा शब्दों का व्यवहार होता है।[३] जब पूर्ण सत्य रूप ब्रह्म और उसकी शक्तियों का भेद नहीं दिखायी पड़ता तो उसे ब्रह्म कहते हैं। परन्तु जब यह मूल सत्ता (ब्रह्म) अपनी मूल एवं स्वरूपस्थित शक्ति के द्वारा अन्य विभिन्न शक्तियों का आधार बन जाती है और भक्त की विविध शक्तियों से मण्डित दिखाई पड़ती है तो उसे भगवान् कहते हैं। इस प्रकार जीवगोस्वामी के मतानुसार आनन्द विशेष्य, समस्त शक्तियाँ विशेषण, एवं भगवान् विशिष्ट हैं।[१] यही भगवान् जब जीवों और उनकी क्रियाओं का नियन्ता होता है तो परमात्मा कहलाता है। जीवगोस्वामी के मतानुसार भगवान् ब्रह्म का ही पर्यायवाची है–(भगवान्ब्रह्म संज्ञितः। षट्सन्दर्भ, पृष्ठ २५४)।

यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जीवगोस्वामी के अनुसार ब्रह्म अद्वैत वेदान्त दर्शन के समान शुद्ध चित् एवं विषय, माया अथवा अज्ञान का आश्रय नहीं है, अपितु उसका माया से अचिन्त्य सम्बन्ध है। अद्वैतवेदान्त एवं जीवगोस्वामी के मतानुसार परमात्मा स्वयं जगत् का निमित्तकारण एवं अपनी शक्तियों के कारण उपादानकारण है।[२]

परमात्मा ही संकर्षण या महाविष्णु (समस्त जीवों एवं प्रकृति का स्वामी) प्रद्युम्न (समष्टि जीवान्तर्यामी) एवं प्रत्येक जीव के अन्तर्यामी रूप को स्वयं धारण करता है।

भगवान् की शक्तियाँ

भगवान् की मूल शक्ति अचिन्त्य है। दुर्घटघटकता की सामर्थ्य होने के कारण ही भगवान् की शक्ति को अचिन्त्य कहा गया है।[३] अचिन्त्य शक्ति भगवान् की स्वाभाविक शक्ति है। भगवान् की शक्ति

---

१. विवेकस्तु ममैतद् एवं प्रभुणा कृतम् सर्वं ब्रह्मात्मकम्, कोऽहं, किंच साधनम्, किं फलम्, को दाता, को भोक्ता इत्यादिरूपः।–सेवाफल, श्लोक ३ पर हरिराज की टीका।

२. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२०।

३. यथा जले चन्द्रमसः प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन कृतो गुणः कम्पादिधर्मः आसन्नो विद्यमानो मिथ्यैव दृश्यते न वस्तुतश्चन्द्रस्य एवमनात्मनो देहादेर्धर्मो जन्मबन्धदुःखादिरूपो द्रष्टुरात्मनो जीवस्य न ईश्वरस्य।–सुबोधिनी, श्रीमद्भागवत, ३।७।११।

के प्रधान रूप से नीचे लिखे तीन भेद मिलते हैं–

(१) अन्तरंग स्वरूप शक्ति (२) तटस्थ शक्ति और (३) बहिरंग माया शक्ति।

अन्तरंग स्वरूप शक्ति भगवान् की स्वाभाविक शक्ति है। भगवान् की द्वितीय तटस्थ शक्ति का प्रतिनिधित्व जीव करते हैं। इस प्रकार शुद्ध जीव तटस्थ शक्ति के प्रतीक हैं। जगत् भगवान् की बहिरंग माया शक्ति के ही विकास का फल है। इन शक्तियों में प्रथम स्वरूप शक्ति एवं तृतीय बहिरंग माया शक्ति में परस्पर वैषम्य स्पष्ट प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी जीवगोस्वामी के मतानुसार उनका एक निधान परमात्मा ही है। यही भगवान् का दुर्घटघटक अचिन्त्यशक्तित्व है। बहिरंग माया शक्ति का प्रभाव जीवों पर ही हो सकता है, भगवान् पर नहीं। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त का ईश्वर मायावी होते हुए भी माया से अस्पष्ट रहता है। परन्तु दोनों की माया शक्ति में भेद है। इस भेद का निरूपण तुलनात्मक अध्ययन के समय आगे किया जाएगा। जीवगोस्वामी के मतानुसार माया के दो भेद हैं–एक गुणमाया और दूसरी आत्ममाया। गुणमाया जगत् के समस्त भौतिक तत्वों की मूलभूता है और आत्ममाया ईश्वर की इच्छारूपिणी शक्ति है। जब माया शब्द का प्रयोग आत्ममाया अथवा ईश्वर की माया के अर्थ में होता है तो उसके तीन अर्थ होते हैं। आत्म माया के यह तीन अर्थ–स्वरूप शक्ति, ज्ञानक्रियाशक्ति और चित्शक्तिविलास है।[१] इसके अतिरिक्त जीवमाया का भी उल्लेख मिलता है। जीवमाया के ही भू, श्री एवं दुर्गा, यह तीन रूप मिलते हैं। इनमें भू शक्ति सृष्टिकर्त्री, श्री शक्ति रक्षाकर्त्री एवं दुर्गा शक्ति संहारकर्त्री है।

जीव का स्वरूप–जीव स्वभावतः शुद्ध होने के कारण माया का विषय नहीं है, परन्तु यह माया द्वारा उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव करता है और उनसे प्रभावित भी होता है। जीव स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के साथ अपने सम्बन्ध को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है, इसीलिए इसे क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं।[२] जीव की सत्ता अणुरूप है। जीव अनन्त है और वे ईश्वर के अंश है। इसके अतिरिक्त जीव सत्त्व, रज एवं तमोगुण से युक्त हैं। इसके विपरीत ब्रह्म त्रिगुणातीत है।

जगत् का स्वरूप–वैष्णव दार्शनिक जीवगोस्वामी जगत् का मिथ्यात्व रज्जु में सर्प के भान के समान नहीं स्वीकार करते। विवर्तवादी अद्वैतवेदान्तियों की ओर आक्षेप करते हुए उन्होंने कहा है कि रज्जुसर्प के समान जगत् मिथ्या नहीं है, अपितु घटादि के समान नश्वर है।[३] परन्तु मिथ्या न मानने पर भी जीवगोस्वामी जगत् को सत्य भी नहीं मानते हैं। सत्य के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि–सत्य वही हो सकता है जो त्रिकालाबाधित है। अतः जीवगोस्वामी के मतानुसार सत्यत्व केवल परमात्मा या उसकी शक्ति में ही देखा जा सकता है।[४]

---

१. गोविन्दभाष्य, ३।२।११।
२. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।३३।
३. ध्यातृभेदात् कार्यभेदाच्च अनेकतयाप्रतीतोऽपि हरिः स्वरूपैक्यं– स्वस्मिन्न मुंचति। गोविन्दभाष्य ३।२।१३ तथा देखिए ३।२।१२ पर सूक्ष्म टीका।
४. गोविन्दभाष्य, २।१।१३।

जीवगोस्वामी के विचारानुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त न होकर परिणाम है। परमात्मा अपनी अचिन्त्यशक्ति के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है।[1] इस प्रकार कार्यकारणवाद की दृष्टि से जीवगोस्वामी परिणामवाद एवं सत्कार्यवाद के समर्थक हैं।

जीवगोस्वामी और परमात्मसाक्षात्कार का स्वरूप–जीवगोस्वामी के मतानुसार परमात्मसाक्षात्कार के भी दो रूप हैं–एक ब्रह्मसाक्षात्कार और दूसरा ईश्वर या परमात्मा का साक्षात्कार। जीवगोस्वामी के दर्शन के अनुसार ब्रह्म एवं परमात्मासम्बन्धी भेद की ओर हम प्रारम्भ में ही संकेत कर चुके हैं। जीवगोस्वामी के मतानुसार विभिन्न रूपों सहित परमात्मा का साक्षात्कार उच्चकोटि का साक्षात्कार कहलाता है।[2] परमात्म साक्षात्कार की स्थिति में भक्त परमात्मा के विभिन्न रूपों एवं उसकी अनन्त शक्तियों का साक्षात्कार करता है। परमात्मसाक्षात्कार की स्थिति में भक्त अपने आनन्दस्वरूप का अनुभव करता है एवं आनन्द स्वरूपवान् परमात्मा के साथ ऐक्य का अनुभव करते हुए अद्वैतस्थिति को प्राप्त होता है। आनन्द की इस अनुभूति के द्वारा भक्त के समस्त क्लेशों का विनाश हो जाता है।

मुक्ति का विचार करते हुए यह भी द्रष्टव्य है कि परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले मुक्त पुरुष का जगत् के प्रति कैसा व्यवहार होता है। इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से विचार योग्य है कि मुक्त पुरुष के लिए भौतिक जगत् का लोप नहीं हो जाता। मुक्त पुरुष का यही वैशिष्ट्य है कि वह जगत् को ईश्वर का ही अंश समझता है। उसके लिए जगत् के समस्त सम्बन्ध एवं आकर्षण मिथ्या प्रतीत होते हैं। जहाँ तक मुक्त पुरुष के कर्म फल भोग का प्रश्न है वह केवल प्रारब्ध कर्मों के फल का ही भोग करता है, परन्तु इन प्रारब्ध कर्मों के फल के भोग में ही न उसकी इच्छा होती है और न उससे वह बद्ध होता है[3]।

परमात्मसाक्षात्कार की उपर्युक्त स्थिति में माया का अविद्याकार्य समाप्त हो जाता है। इस प्रकार माया की पूर्ण निवृत्ति ही मोक्ष की पूर्णता की स्थिति है[4]।

मुक्ति के अन्य रूप–मुक्ति की उपर्युक्त स्थिति के अतिरिक्त जीवगोस्वामी ने सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य, और सायुज्य रूप से मुक्ति के पाँच भेद और माने हैं, परन्तु जीवगोस्वामी का

---

१. गोविन्दभाष्य, २।१।१४।

२. भक्तिरपि ज्ञानविशेषो भवति।–सिद्धान्तरत्नटीका, पृ० २६।

३. भगवद्वशीकारहेतुरमृताशक्तिः–सिद्धान्तरत्नटीका पृ० ३५।

४. "We are in a way maintaining the honour of human reason when we reconcile it with itself in the different persons of acute thinking and discover the truth, which is never entirely missed by man of such thoroughness, even if they directly contradict each other."
-J.Ward, A Study of Kant, p. 11. से उद्धृत।

कथन है कि सच्चा भक्त परमात्मा की मुक्ति से ही सन्तुष्ट रहता है, उसे उपर्युक्त मुक्तियों की अपेक्षा नहीं है।[1]

जीवगोस्वामी और भक्ति–भक्त का भगवान् में पूर्णतया लीन हो जाने का नाम ही भक्ति है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार मुमुक्षु को ज्ञान-वैराग्य आदि अभ्यास की अपेक्षा है, परन्तु भक्त को ज्ञान एवं वैराग्य के अभ्यास की आवश्यकता नहीं है।[2] भक्ति का एक दूसरा रूप भी है जिसके अनुरूप ज्ञान के द्वारा भक्त का चित्त सांसारिक विषयों से हट कर परमात्मा में लीन होता है। इनमें भक्ति का प्रथम रूप ही प्रशस्त है। दोनों प्रकार की भक्ति का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना ही है, अतः कुल मिलाकर भक्ति अहेतुकी भी कहलाती है। क्योंकि सच्चे भक्त का कोई उद्देश्य विशेष नहीं होता। जीवगोस्वामी ने भक्ति को ही मुक्ति का रूप दिया है।

भक्ति का महत्त्व बतलाते हुए जीवगोस्वामी ने स्पष्ट कहा है कि भक्ति के द्वारा ही परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार सम्भव है।[3] भक्त को समस्त कर्त्तव्यादि कर्मों एवं वैराग्यादि के पोषक कर्मों का भी त्याग कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त भक्त को प्रत्येक कर्म भगवदर्पण बुद्धि से करना चाहिए। इस प्रकार भक्त्यनुष्ठान को जीवगोस्वामी ने कर्मानुष्ठान की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है। जीवगोस्वामी ने भक्ति को जीवन्मुक्ति से भी श्रेष्ठ कहा है। जीवगोस्वामी का कथन है कि जीवन्मुक्त पुरुष पुनः बन्धन को प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु भक्त का पतन नहीं होता। भक्त्यनुष्ठान में तो सदा आनन्द की ही स्थिति देखी जाती है।

भगवन्नाम का महत्त्व–जीवगोस्वामी का मत है कि वैसे तो एकमात्र भगवन्नाम ही जीव के घोरातिघोर पापों के विनाश में समर्थ है, परन्तु, यदि किसी में कौटिल्य, अश्रद्धा एवं इस प्रकार की वस्तुओं में अनुराग है जो भगवद्भक्ति में बाधक है तो उसमें भगवान् के प्रति भक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती। यदि किसी व्यक्ति के पूर्वकृत पाप नहीं हैं तो उसे एक बार भगवान् का नामसंकीर्तन करना ही पर्याप्त है। यदि वह एक बार नामसंकीर्तन करने के पश्चात् फिर घोर पाप नहीं करता है। तो यदि कोई एक बार ही भगवान् का नाम ले लेता है तो उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वह भगवान् के साथ अत्यन्त निकट सामीप्य को प्राप्त करता है।

भक्ति की नौ विशेषताएँ–प्रयोजनीय लक्ष्य की दृष्टि से भक्ति के तीन भेद हैं–सकाम भक्ति, कैवल्यकाम भक्ति और भक्तिमात्रकामा भक्ति। सकाम भक्ति के अनुरूप मनुष्य साधारण अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए भगवान् की भक्ति करता है। जैसा कि उसके नाम से ही प्रतीत होता है, कैवल्यकाम भक्ति का अनुयायी भक्त जीव और परमात्मा के ऐक्य रूप कैवल्य के उद्देश्य से भक्ति करता है। इस भक्ति के अन्तर्गत भक्त ज्ञान एवं योग का आश्रय भी लेता है। तृतीय भक्तिमात्रकामा भक्ति के अनुसार भक्त के समस्त ज्ञान एवं कर्मों का उद्देश्य एक मात्र भगवान् की भक्ति ही है, अन्य कोई लौकिक अथवा

---

१. मद्भक्ता यान्ति मामपि।–गीता, ७।२३।
२. ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं।–गीता, १३।१७।
३. जीवगोस्वामी, षट्सन्दर्भ, पृष्ठ ५०।

अलौकिक कामना नहीं यही भक्ति का प्रशस्त रूप है।

शरणागति भाव और उसके प्रमुख तत्त्व–भक्ति परम्परा के अन्तर्गत शरणागति का भाव प्रमुख भाव है। इस भाव के अनुसार मनुष्य सब ओर से निराश होकर एकमात्र भगवान् की ही शरण ग्रहण करता है।

वैष्णवतन्त्र के आधार पर शरणागति का लक्षण बतलाते हुए जीवगोस्वामी ने शरणागति भाव के प्रमुख तत्त्व–भगवान् के अनुकूल संकल्पना, भगवान् के प्रतिकूल विषयों का त्याग, भगवान् के रक्षकत्व में पूर्ण विश्वास, अपनी रक्षा के लिए भगवान् को वरण करना, आत्मनिक्षेप एवं कार्पण्य बतलाए हैं।

उपर्युक्त शरणागति के समस्त तत्त्वों में भगवान् में आत्मरक्षा का विश्वास करना सर्वसुन्दर तत्त्व है। अन्य तत्त्व येन केन प्रकारेण उसी से सम्बद्ध हैं।

भक्तों की विभिन्न कोटियाँ–जीवगोस्वामी ने प्रमुख रूप से भक्तों की तीन कोटियाँ बतलाई हैं, प्रथम कोटि के भक्त वे हैं जो समस्त जीवों में ईश्वर के ही दर्शन करते हैं। ये जगत् के जीवों को अपने एवं ईश्वर के ही अंश के रूप में मानते हैं। ये भक्त अपने आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। इसीलिए सांसारिक जीव इनके अंश कहे गए हैं। ये उत्तम कोटि के भक्त कहलाते हैं। द्वितीय कोटि के भक्त वे हैं जो ईश्वर के प्रति प्रेम, भगवान् के अधीन भक्तों के प्रति मैत्री, अबोधों के प्रति दया और शत्रुओं के प्रति उपेक्षा का भाव रहते है।[1] ये भक्त मध्यम कोटि के भक्त कहलाते हैं। तीसरी कोटि के भक्त वे हैं जो श्रद्धापूर्वक भगवान् की ही पूजा करते हैं, परन्तु भगवान् के भक्तों एवं अन्य पुरुषों के सम्बन्ध में उनमें किसी विशेष भाव का उदय नहीं देखा जाता।[2] ये अधम कोटि के भक्त कहलाते हैं।

उत्तम भक्त का लक्षण जीवगोस्वामी ने यह भी बतलाया है कि जिसके चित्त में सकाम कर्मों का भाव नहीं उदित होता और जो सदा भगवान् में ही अनुरक्त रहता है, वह उत्तम कोटि का भक्त है।[3] एक अन्य प्रकार से उत्तम भक्त का लक्षण बतलाते हुए जीवगोस्वामी ने कहा है कि जिसमें अपने पराये का भेद नहीं है और जो समस्त जीवों का मित्र एवं शान्त है वही उत्तम कोटि का भक्त है।[4] इसके अतिरिक्त जिनके हृदय को भगवान् वरण कर लेते हैं और तदनुसार जिनका हृदय भगवान् के चरणकमलों में प्रेम करता है उन्हें भी जीवगोस्वामी ने उत्तम कोटि का भक्त कहा है।[5]

अद्वैतवेदान्त और जीवगोस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त (तुलनात्मक दृष्टिकोण)

जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रमुख आधार वैष्णव भक्ति है, परन्तु फिर भी अद्वैत-

१. आनन्दमात्रं विशेष्यम्, समस्ताः शक्तयो विशेषणानि, विशिष्टो भगवान्।–षट्सन्दर्भ, पृ० ५०।
२. षट्सन्दर्भ, पृ० २५०।
३. दुर्घटघटकत्वं ह्यचिन्त्यत्वम्।
४. षट्सन्दर्भ, पृ० ६५।
५. षट्सन्दर्भ, पृ० ६१।

वेदान्त एवं जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्तों में साम्य एवं वैषम्य दोनों मिलते हैं। यहाँ जीवगोस्वामी और अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों के साम्य एवं वैषम्य का उल्लेख करेंगे।

जीवगोस्वामी एवं अद्वैतवेदान्त के ब्रह्म और उसके साक्षात्कारसम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त साम्य है। जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार भक्त विभिन्न गुणों एवं शक्तियों से रहित ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। जब भक्त अपने शुद्ध चित् स्वरूप का साक्षात्कार करता है तो उसे ब्रह्म के शुद्ध चित् स्वरूप का साक्षात्कार भी हो जाता है।[१] यह विषय अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत भी इसी रूप में मिलता है। अद्वैतवेदान्तदर्शन के अनुसार भी जब जीव को आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो उसे ब्रह्मतत्व का साक्षात्कार स्वयं हो जाता है। अद्वैतवेदान्तदर्शन के अन्तर्गत आत्मबोध का नाम ही ब्रह्मसाक्षात्कार या परमात्मसाक्षात्कार है। अविद्या के कारण जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तो जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार अज्ञाननाश को ही अद्वैतवेदान्त में मोक्ष कहा गया है।[२] यही स्वरूपज्ञान की स्थिति है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त और जीवगोस्वामी के ब्रह्मसाक्षात्कारसम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त साम्य है।

जीवगोस्वामी और अद्वैतवेदान्त के ब्रह्मसाक्षात्कार विषयक सिद्धान्त में उपर्युक्त समानता होते हुए भी यह वैषम्य है कि जहाँ अद्वैतवेदान्तानुगत सिद्धान्त के अनुसार जीव को, स्वरूपबोध के लिए तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के अनुशीलन की उपादेयता बतलाई गई है वहाँ जीवगोस्वामी के अनुसार निरन्तर भक्ति अथवा भगवत्कृपा के द्वारा ही ब्रह्मसाक्षात्कार संभव है। भगवत्कृपा भी भक्ति का ही फल है।

मायावाद का सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त का प्रमुख विचार है। इस विचार के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है। इसके अतिरिक्त माया को त्रिगुणात्मिका[३] भी कहा गया है। अद्वैत वेदान्त की तरह जीवगोस्वामी की दार्शनिक विचारधारा के अनुसार भी माया परमात्मा की शक्ति है—माया शब्देन शक्तिमात्रमपिमन्यते (षट् सन्दर्भ, पृष्ठ ७३) साथ ही साथ जीवगोस्वामी अद्वैतवेदान्त के ही समान माया को त्रिगुणात्मक भी मानते हैं। जीवगोस्वामी के मतानुसार यह त्रिगुणात्मिका माया जब भी है।[४] इस प्रकार माया का शक्तित्व, जड़त्व एवं त्रिगुणत्व अद्वैतवेदान्त एवं जीव-गोस्वामी के दार्शनिक विचार में समान है। जीवगोस्वामी और अद्वैत वेदान्त के इस सिद्धान्त के विषय में भी साम्य है कि अविद्या ही जीव में द्वैतबुद्धि की जननी है। इसके अतिरिक्त दोनों पद्धतियों को यह समानता भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत मायावी ईश्वर स्वयं माया से स्पृष्ट नहीं होता[५], उसी प्रकार जीवगोस्वामी के मतानुसार भी भगवान् की माया भगवान् पर अपना प्रभाव डालने में अक्षम है।[६] शंकराचार्य ने इस

---

१. षट्सन्दर्भ, पृ० ७३, ७४।
२. षट्सन्दर्भ, पृ० २०६।
३. ततो विवर्तवादिनामिव रज्जुसर्पवन्न मिथ्यात्वम्, किन्तु घटवन्नश्वरत्वमेव तस्य।
—षट्सन्दर्भ, पृ० २५५।
४. षट्सन्दर्भ, पृ० २५५।
५. षट्सन्दर्भ, पृ० २६०।
६. षट्सन्दर्भ, पृ० ६७५।

विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक स्वयं प्रसारित माया से त्रिकाल में भी स्पृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा भी संसारमाया से स्पृष्ट नहीं है। (ब्र० सू०, शा० भा० २।१।६)।

परमात्मा के क्षेत्रज्ञत्व का विचार भी दोनों दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत उपलब्ध है, परन्तु दोनों का यह अन्तर भी निर्दिश्य है कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत निर्विशिष्ट चित्स्वरूप ईश्वर क्षेत्रज्ञ है और जीवगोस्वामी द्वारा प्रतिपादित दर्शनपद्धति के अनुसार क्षेत्रज्ञ अन्तर्यामी परमात्मा है।[1]

अद्वैतवेदान्त ही की तरह जीवगोस्वामी के मतानुसार भी परमात्मा जगत् का निमित्तकारण एवं उपादानकारण दोनों है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार माया के कारण ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है और जीवगोस्वामी के मतानुसार अनन्य शक्तियों के द्वारा परमेश्वर जगत् का उपादानकारण है। जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त और अद्वैतवेदान्तदर्शन के अन्तर्गत यह सिद्धान्त साम्य भी विचार्य है कि दोनों दर्शन पद्धतियों के ही अनुसार मुक्त पुरुष के लिए भौतिक जगत् का विनाश न होकर केवल जगत् के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई मिथ्या दृष्टि का ही विनाश होता है।

जगन्मिथ्यात्वसम्बन्धी दृष्टिकोण के विषय में दोनों दर्शनपद्धतियों में साम्य तथा वैषम्य दोनों मिलते हैं। त्रिकालावाधित वस्तु को ही सत्य कहने के कारण जीवगोस्वामी के मतानुसार केवल परमात्मा या उसकी शक्ति ही सत्य है।[2] परन्तु अद्वैतवेदान्त में परमात्मा को तो त्रिकालाबाधित सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है, न कि उसकी शक्ति माया को भी। इसके अतिरिक्त जैसा कि जीवगोस्वामी के अनुरूप जगन्मिथ्यात्व के दृष्टिकोण का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, जीवगोस्वामी को रज्जु में सर्प के समान जगत् का मिथ्या कहा जा सकता है[3]।

विश्वनाथ चक्रवर्ती (१७००-१८०० ई०) चक्रवर्ती रचित दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं–भागवत् की सारार्थवादिनी टीका, तथा उज्ज्वलनीलमणि की आनन्दचन्द्रिका टीका। इनके द्वारा प्रणीत कविकर्णपूर के अलङ्कारकौस्तुभ की व्याख्या भी महत्त्वपूर्ण है।

कृष्णदास कविराज–कविराज ने बंग्ला में प्रणीत अपने चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में चैतन्य महाप्रभु की जीवनी एवं महाप्रभु के भक्तिपरक एवं प्रेमपरक सिद्धान्तों का निरूपण किया है[4]।

बलदेव विद्याभूषण (१६८०-१७७० ई०)

बलदेव विद्याभूषण का जन्म उड़ीसा में बलेश्वर सबडिवीजन में रेमुन के समीप एक ग्राम में वैश्य कुल में हुआ था। इनके गुरु पीताम्बरदास थे, जो गोविन्ददास के नाम से भी जाने जाते थे।

---

१. षट्सन्दर्भ, पृ० ६६१।
२. भजतां ज्ञानवैराग्याभ्यासेन प्रयोजनं नास्ति। षट्सन्दर्भ, पृ० ४८१।
३. षट्सन्दर्भ, पृ० ४५४।
४. षट्सन्दर्भ, पृ० ५७५।

ग्रन्थ–बलदेव विद्याभूषण रचित प्रधान ग्रन्थ तो उनका ब्रह्मसूत्रभाष्य ही है, जो गोविन्दभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु और अतिरिक्त उनके लघु एवं बृहत् चौदह ग्रन्थ और मिलते हैं– जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं–साहित्यकौमुदी तथा इसकी टीका कृष्णानन्दी, गोविन्दभाष्य, सिद्धान्तरत्न, काव्य कौस्तुभ, गीताभूषण, (गीता की टीका), राधा दामोदर रचित चण्डः कौस्तुभ की टीका, प्रमेयरत्नावली (सटीक), क्रान्तिमाला, नामार्थशुद्धि, सिद्धान्तदर्पण। इसके अतिरिक्त बलदेव विद्याभूषण ने उपनिषदों पर भी टीकाएँ लिखी थीं। बलदेव विद्याभूषण ने सिद्धान्तरत्न के अन्तर्गत गोविन्दभाष्य की विषय सामग्री को भी संक्षेप में प्रस्तुत किया है।

बलदेव विद्याभूषण और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

जीवगोस्वामी और बलदेव विद्याभूषण के सिद्धान्तों में यत्किंचित् ही अन्तर है। अतः यहाँ बलदेव विद्याभूषण के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त होगा।

ईश्वर–बलदेव विद्याभूषण के मतानुसार भगवान् का स्वरूप शुद्धचित् एवं आनन्द है। यह दोनों ही भगवान् के विग्रह रूप कहे जा सकते हैं। शुद्धचित् एवं आनन्द स्वभाववान् भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा अनेक स्थानों पर दिखायी पड़ता है। इसके अतिरिक्त भगवान् विभिन्न भक्तों के रूप को ग्रहण करता हुआ भी दिखाई पड़ता है। भगवान् का अनेक रूपों में प्रकट होना किसी वासना या कामना का फल न होने के कारण उसकी लीला मात्र है।[1] यह विचार अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत भी इसी रूप में मिलता है। यहाँ भी आप्तकाम ईश्वर के विषय में किसी कामना का मूल सम्भव न होने के कारण, लीला से ही, ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि सिद्ध की गई है।[2]

बलदेव विद्याभूषण के मतानुसार एक ही भगवान् ध्याता भक्तों और कार्यभेद के कारण अनेक रूप ग्रहण करने पर भी स्वरूपतः भेद सम्पन्न न होकर ऐक्यसम्पन्न ही है।[3] अतः बलदेव विद्याभूषण का सिद्धान्त भेदाभेद-सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बलदेव विद्याभूषण के अनुसार भगवान् के स्वरूप में कोई भेद नहीं देखा जा सकता है। बलदेव विद्याभूषण के दार्शनिक मत के अनुरूप तो भगवान् की स्थिति की तुलना उस अभिनेता से की जा सकती है, जो रंगमंच पर अनेक रूपों में प्रकट होता है, परन्तु जिसके मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं रखा जाता[4]।

बलदेव विद्याभूषण के मतानुसार जीव भगवान् के ही अंश है, वे अणु तथा भगवदागत हैं[5]।

बलदेव विद्याभूषण का 'विशेष' सिद्धान्त

भगवान् और उनके अनेक रूपों के आधार पर उत्पन्न हुई भेदाभेद शंका का निवारण अव

१. षट्सन्दर्भ, पृ० ५३२-५३४।
२. षट्सन्दर्भ, पृ० ५३६।
३. षट्सन्दर्भ, पृ० ५३६।
४. षट्सन्दर्भ, पृ० ५४१।
५. षट्सन्दर्भ, पृ० ५६३।

विद्याभूषण ने 'विशेष' नामक सिद्धान्त के आधार पर किया है। इस सिद्धान्त का सूत्र-रूप तो आचार्य मध्व द्वारा ही उद्घाटित हुआ था। परन्तु बलदेव विद्याभूषण ने इस सिद्धान्त का पूर्णतया विकास किया था। इसीलिए बलदेव विद्याभूषण के सम्प्रदाय को मध्वगौडीय सम्प्रदाय भी कहते हैं[1]।

विशेष, सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर और उसके गुणों अथवा ईश्वर के स्वभाव और उसके शरीर में भेद न होने पर भी भेद की सत्ता सिद्ध की जाती है। 'विशेष' के ही आधार पर भगवान् के स्वरूपभूतं चित् एवं आनन्द भगवान् के विशेषण या शरीर कहलाते हैं। इस प्रकार बलदेव विद्याभूषण का 'विशेष' भेद का प्रतिनिधि है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार भेद न होने पर भी भेद की प्रतीति होती है। 'विशेष' सिद्धान्त का महत्व समझाते हुए बलदेव विद्याभूषण का कथन है कि इस सिद्धान्त के स्वीकार किए बिना गुणी एवं गुण का विचार स्पष्ट नहीं हो सकता।[2] जीवगोस्वामी ने केवल अचिन्त्य शक्ति के आधार पर उक्त समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की थी। परन्तु बलदेव विद्याभूषण ने अचिन्त्य शक्ति के अतिरिक्त 'विशेष' नामक सिद्धान्त का विकास किया था। अतः बलदेव विद्याभूषण का 'विशेष' सिद्धान्त उनकी विशेष देन है[3]।

भगवान् की शक्तियाँ—भगवान् की तीन प्रमुख शक्तियाँ हैं। यह शक्तियाँ पराशक्ति या विष्णु शक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति और अविद्या शक्ति हैं। प्रथम शक्ति के अन्तर्गत ब्रह्म स्वरूपस्थ एवं अपरिवर्तनीय है। इतर दो शक्तियों के परिणाम जीव एवं जगत् हैं। इस प्रकार बलदेव विद्याभूषण के अनुसार ब्रह्म जगत् का निमित कारण एवं उपादानकारण[4] दोनों है।

भक्ति—भगवदनुरक्ति के अतिरिक्त भक्ति के सम्बन्ध में दो तथ्य और बतलाए गए हैं। एक तो यह कि भक्ति ज्ञानविशेष का ही नाम है।[5] इसी भक्ति के द्वारा जीव जागतिक विषयों से अपना मन हटा कर ईश्वर की ओर लगाता है। इसके अतिरिक्त दूसरा तथ्य यह है कि सिद्धान्तरत्न की टीका के अन्तर्गत भक्ति के स्वरूप का निरूपण शक्ति के रूप में किया गया है। इस प्रकार भक्ति भगवान् को वश में करने की शक्ति है।[6]

परमात्मा का पूर्ण साक्षात्कार या दर्शन भक्त को साध्यभक्ति के द्वारा ही प्राप्त होता है, न कि साधनभक्ति के द्वारा। साधनभक्ति के अन्तर्गत जहाँ भक्ति के सत्संग आदि विभिन्न साधनों का उल्लेख मिलता है, वहाँ साध्यभक्ति के अन्तर्गत साध्य—भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण का भाव ही प्रमुख है।

---

१. ईश्वरे तदधीनेषु वालिशेषु द्विषत्स्वपि।
प्रेममैत्रीकृपापेक्षां यः करोति स मध्यमः।।—षट्सन्दर्भ, पृ० ५६२।
२. वही, पृ० ५६४।
३. वही, पृ० ५६४।
४. षट्सन्दर्भ, पृ० ५६५।
५. षट्सन्दर्भ, पृष्ठ ५६५।
६. *Dr. Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 397.

समीक्षा

ऊपर रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, महाप्रभु चैतन्य, जीवगोस्वामी तथा बलदेव विद्याभूषण के दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षा तथा अद्वैतवेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते समय विरोध और साम्य दोनों ही पाये गए हैं। विरोध के कारण–शांकर-दर्शन की प्रतिक्रिया, ब्रह्मसूत्र की अस्पष्टता, स्वाभाविक तर्कनाशक्ति, सम्प्रदाय परम्परा का अनुपालन और आचार्यत्व की छाप हैं[१]। सत्य के अन्वेषणकार्य में मत वैविध्य एवं विचारविरोध का होना, लेखक के दृष्टिकोण से आध्यात्मिक अनौचित्य का मूल नहीं कहा जा सकता। किसी साधारण उद्देश्य की प्राप्ति के सम्बन्ध में ही जब साधक विभिन्न पथों का अनुगमन करते देखे जाते हैं तो फिर चतुर्थ पुरुषार्थ–मोक्ष के साधकों में विरोध होना आश्चर्यास्पद नहीं है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य एवं वल्लभाचार्य आदि उपर्युक्त आचार्य केवल शास्त्रीय दृष्टि से ही आचार्यत्व के भाजन नहीं थे, वरन् चतुर्थ पुरुषार्थ के साधक भी थे, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। अतः उक्त साधक विचारकों के सिद्धान्तों में विरोध होने पर भी जो साध्यगत साफल्य देखने को मिलता है, वह इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य की तर्कना शक्ति पर आधारित सैद्धान्तिक विरोध उसे सत्यान्वेषण की साधना से वंचित नहीं कर सकता।[२] इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के प्रतिपादक शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों का परस्पर विरोध स्वाभाविक एवं संगत ही है। इसके अतिरिक्त विशेषतया ज्ञान एवं भक्तिसम्बन्धी सिद्धान्तों पर आधारित उपर्युक्त आचार्यों की दर्शन पद्धतियाँ इस रूप में और उपयोगी रही हैं कि पात्रत्व की भिन्नता की दृष्टि से भक्तिभावसम्पन्न हृदयों एवं ज्ञानबीजसम्पन्न जीवों को पृथक् पृथक् पथप्रदर्शन मिल गया है[३]। जहाँ तक, ज्ञान एवं भक्ति पर आधारित उपर्युक्त दर्शनपद्धतियों की सफलता का प्रश्न है, कृष्ण ने गीता में स्पष्ट रूप से कहा है कि भक्त भी परमात्मा की प्राप्ति करते हैं[४] और परमात्मा ज्ञानगम्य भी है।[५] जहाँ तक शास्त्रीय दृष्टि से शांकरवेदान्त और रामानुजाचार्य आदि के सिद्धान्तों के विरोध-विवेचन का प्रश्न है, वहाँ यह कहा जाएगा कि श्रुतिसाम्मत्य, सिद्धान्तप्रतिष्ठा, तर्कपुष्टता, वैज्ञानिक विवेचनशीलता, दार्शनिकता और सुस्पष्टता के जो गुण शंकराचार्य के दर्शन में मिलते हैं, वे इतर दार्शनिकों के दर्शन में नहीं। यही कारण है कि रामानुज प्रभृति अनेक आचार्यों द्वारा शांकरवेदान्त का निराकरण होने पर भी आज शांकरवेदान्त की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है[६]।

जैसा कि इस प्रकरण के अन्तर्गत देखा गया है, रामानुजाचार्य आदि का शंकराचार्य का

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृष्ठ १२६।

२. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या। विवेकचूडामणि, श्लोक ११०।

३. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 400.

४. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।६।

५. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 399.

६. षट्सन्दर्भ, पृष्ठ २१०।

आलोचक एवं व्याख्याता होने के कारण शंकराचार्य एवं रामानुजार्य आदि के दार्शनिक सिद्धान्तों में परस्पर साम्य स्वाभाविक है। शंकराचार्य के पूर्ववर्त्ती होने के कारण, रामानुजादि आचार्यों की दर्शनपद्धतियों के ऐसे विचार जो शांकर-सिद्धान्त के समान हैं, शांकरवेदान्त से प्रभावित कहे जा सकते है। इस प्रकरण के अन्तर्गत, अद्वैतवेदान्त के साथ रामानुजाचार्य आदि के सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन करते समय इन दर्शन पद्धतियों के साम्यमूलक विचारों का निरूपण किया जा चुका है। इन साम्य मूलक विचारों के आधार पर शंकराचार्य के परवर्ती रामानुजाचार्य आदि पर शांकरवेदान्त का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव स्पष्ट है। इस स्थल पर उक्त दर्शनपद्धतियों के साम्यमूलक विचारों का पुनरुल्लेख अनावश्यक ही है[1]।

निष्कर्षसूत्र

वैष्णव विचारधारा का प्रारम्भिक सूत्र मानव की उस ऐकान्तिक आस्था, धर्म एवं प्रेम की भावना में देखा जा सकता है, जिसके द्वारा वह एक सर्वोच्च सत्ता के प्रति आकृष्ट होता था। यही सर्वोच्च सत्ता श्रीमद् भगवद् गीता के अन्तर्गत भगवान् वासुदेव कृष्ण के द्वारा भागवत धर्म की आधार सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुई थी। इस प्रकार इस भागवत धर्म एवं पाञ्चरात्र को वैष्णव धर्म का प्रथम साम्प्रदायिक रूप कहा जा सकता है। इस के पश्चात् क्षत्रियों की एक आदिम जाति सात्वत ने भी वैष्णव धर्म का प्रचार प्रसार किया था। मैगस्थनीज़ का मानना है कि ई० पू० ४०० के अन्त में सात्वतों ने वैष्णव धर्म का अनुसरण किया था। सात्वतों द्वारा स्वीकृत एवं प्रचारित-प्रसारित वैष्णव धर्म ही नारायणीय एवं विष्णु के रहस्यमय स्वरूप के साथ एकीकृत एवं स्वीकृत हो गया था। भण्डारकर का कहना है कि ईसवी सन् के आरम्भ होने के तुरन्त पश्चात् आभीरों एवं गोपों ने वैष्णव धर्म को एक नवीन स्वरूप प्रदान किया था, जिसके अन्तर्गत गोप-गोपियों तथा कृष्ण गोपियों की लीलाएँ की सम्मिलित थीं।[2] वैसे, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, वैष्णव धर्म का प्रमुख आधार श्रीमद्भगवद्गीता ही है।

इस प्रकार ई. पू. ५०० से लेकर ८०० ई. तक वैष्णव धर्म की नौका भागवत धर्म के रूप में उत्तरोत्तर गतिशील बनी रही, किन्तु ८०० ई. के अन्त में शङ्कराचार्य द्वारा वेदान्तदर्शन की प्रतिष्ठा होने पर वैष्णव धर्म की नींव दुर्बल हो गई। इसका कारण यह था कि उस समय तक वैष्णव दर्शन की प्रतिष्ठा सम्यक् रूप से नहीं हो सकी थी। यहाँ यह कथन अपेक्षित है कि कोई भी धार्मिक विचारधारा अपने दार्शनिक स्वरूप की प्रतिष्ठा के अभाव में स्थायी स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकती। इस प्रकार शाङ्कर वेदान्त द्वारा ब्रह्मज्ञान का पथ प्रदर्शन होने पर वैष्णव विचारधारा का विकास एक प्रकार से अवरुद्ध ही हो गया। किन्तु शङ्कराचार्य के ज्ञानमार्ग में भी व्यावहारिक रूप से भक्ति भाव का अन्त नहीं हुआ। इसीलिए शङ्कराचार्य भी सौन्दर्यलहरी एवं अपने अनेक स्रोत ग्रन्थों में ज्ञानी एवं भक्त बने रहे। अतएव भक्ति एवं ज्ञान की समन्वित विचारधारा का दर्शन मधुसूदन सरस्वती के भक्तिविशिष्ट अद्वैतवाद में परिलक्षित था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि शांकरवेदान्त के मूल में उपर्युक्त वैष्णव विचारधारा की प्रतिक्रिया भी वर्त्तमान थी। शङ्कराचार्यपूर्ववर्त्ती वैष्णव भक्ति में भक्ति का जो दाई एवं भावुकतामय स्वरूप था, उसी की प्रतिक्रिया वेदान्त का पुष्ट ज्ञानमार्ग था। यह कहना होगा कि प्रत्येक विचार क्षेत्र

---

१. षट्सन्दर्भ, पृष्ठ २५०।

२. Vaiṣṇavism Śaivism p. 100.

में क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रम स्वाभाविक है, कारण कि मानव मस्तिष्क सहज रूप से सक्रिय एवं विकासशील है। इसी लिए, जैसाकि पीछे विवेचित हुआ है, रामानुज प्रभृति वैष्णव आचार्यों की दार्शनिक एवं भक्ति-परक विचारधारा भी जो विशेषतः चैतन्य महाप्रभु के समय तक उत्तरोत्तर बुद्धि को प्राप्त हो गई, शांकर वेदान्त की प्रतिक्रिया का ही फल थी। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त भक्तिविषयक विचारधारा का आधार राधाकृष्ण की भक्ति थी। किन्तु अन्त में आकर तो राधा ही भक्त की प्रमुख आराध्या रह गई थीं।

यहाँ यह संकेत करना अपेक्षित है कि राधाभक्तिविषयक विचारधारा की अति चरम सीमा का उल्लंघन ही, उसके ह्रास एवं अधोगति का कारण बनी। यह इसलिए कि राधाविषयक भक्ति में जो सखीभाव का स्वरूप था, उसके अन्तर्गत पुरुष भक्त स्त्रीवद् व्यवहार करते थे, जिसका उद्देश्य राधा के साथ सादृश्य तारात्म्य प्राप्त करना ही रहा होगा। इस सखीभाव के अन्तर्गत पुरुष भक्त स्त्रियों की वेषभूषा धारण करते थे, तथा स्त्रियों के हाभाव भी प्रदर्शित करते थे। सखीभाव की यह स्थिति इस सीमा तक पहुँच गई कि इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत योनि-पूजा भी आरम्भ हो गई, जो एक सीमा तक तक भ्रष्टाचार का कारण भी बनी। बहुत कुछ यही परिणाम त्रिपुर-सुन्दरी उपासना का भी देखा गया। त्रिपुरा रहस्य के अनुसार शिव एवं शक्ति कामेश्वर एवं कामेश्वरी स्वरूप हैं। इन दोनों के सामरस्य को त्रिपुरा मत में त्रिपुरसुन्दरी क़हा है। यही ललिताम्बा है। ललिता अम्बा के सौन्दर्य का वर्णन ही शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी के अन्तर्गत सम्पन्न हुआ है। त्रिपुरसुन्दरी के उपासक इसकी उपासना चन्द्रमा की षोडश कलाओं के रूप में करते हैं। इनमें सोलहवीं कला 'षोडशी' रूप से नित्य है। इस प्रकार 'षोडशी' भगवती का नित्य स्वरूप है। भगवती 'षोडशी' साधकों के लिए सदा षोडशवर्षीया ही रहती है। वास्तव तथ्य तो यह है कि शक्ति की उक्त उपासना उन्हीं अधकचरे उपासकों के लिए भ्रष्टाचार का कारण बनी, जो इसके वास्तविक रहस्य से अपरिचित थे। सत्य तो यह है कि जो योगियों का योग है, वही शास्त्र योगियों का योग है जो सांसारिकों का पाप है, वह शास्त्रों का पुण्य है, तथा भोगरूप संसार ही शाक्तों का मोक्षस्थल है।[1]

वैष्णवों की आराध्या श्रीराधा के सन्दर्भ में यह कहना होगा कि वैष्णव साहित्य में राधा की विचित्र स्थिति है। हरिवंशपुराण में राधा का संकेत तक नहीं है। इसी प्रकार विष्णुपुराण एवं भागवत में भी राधा अनुल्लिखित ही है। हाँ, भागवत में एक महिला का संकेत अवश्य है, जिसके साथ कृष्ण वृन्दावन में, वसन्त की चान्द्रमा सी रात्रि में लीलाविलास करते हैं। इस लीलाविलास काल में कृष्ण गोपियों के लिए अदृश्य हो जाते हैं। लीलाविलास के पश्चात् वे इस महिला के लिए भी अदृश्य हो जाते हैं। राधा की उत्पत्ति उक्त प्रकरण से ही मानी जा सकती है। इसी विचार शृंखला में यह तथ्य भी अवलोकनीय है कि नारदपांचरात्रसंहिता के अनुसार कृष्ण पुरुष एवं स्त्री का रूप धारण करते हैं, तथा स्त्री के साथ काम क्रीडा विलास करते हैं। इस स्त्री को विद्वानों ने राधा ही माना है। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण

---

१. भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि ।। कुलर्णवतन्त्र।

के अनुसार कृष्ण की body से राधा की उत्पत्ति बतलायी है जो वामभाग के रूप में स्थित हैं। यही स्थिति शैवदर्शन में अर्धनारीश्वर के स्वरूप में भी अवलोकनीय है। ब्रह्मवैवर्त्त में यह भी उल्लेख है कि राधाकृष्ण के लीलाविलासों में इस लोक में तथा गोलोक में शाश्वत रूप से रत रहती हैं। जो भी हो, यह स्वीकार करना ही होगा कि वैष्णव धर्म में राधा को कृष्ण से अधिक महत्त्व देना एवं उनकी शृंगारिक लीलाएँ एवं विलासक्रीडाएँ आज भी मर्यादा के अनुसर्त्ता समाज की दृष्टि में प्रश्नचिह्न की केन्द्रबिन्दु बनी हुई हैं। ऐसे प्रश्नचिह्न सीता के सम्बन्ध में कदापि नहीं लगते। यह आश्चर्यस्पद है कि जहां वैष्णव साहित्य में राधा का इतना बढ़ा चढ़ाकर वर्णन किया गया है, वहाँ रुक्मिणी का उल्लेख सामान्य रूप से ही मिलता है। क्या इसके मूल में सुमित्रानन्दन पन्त की त्रिभुवन की भी श्री पा सकती नहीं प्रेयसी के पावन स्थान को जैसी, भावना ही वर्त्तमान थी। यहाँ यह संकेत अपेक्षित है कि पौराणिक एवं इतर शैव शाक्त सम्बन्ध धार्मिक साहित्य में पार्वती आदि शक्तियों के सम्बन्ध में राधा के शृंगारिक विलासों जैसी विचित्रताओं में राधा के शृंगारिक विलासों जैसी नहीं उपलब्ध होतीं[१]।

अब यहाँ पाञ्चरात्र के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

१. *R.S. Bhandarkar*, Vaiṣṇavism Śaivism p. 87.

पाञ्चरात्र

वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत निर्गुण एवं सगुण दोनों ही दार्शनिक दृष्टियाँ उपलब्ध हैं। इनमें, विष्णु, शिव एवं शक्तितत्त्व की प्रवलता है। इन तीनों की ही एक स्वतन्त्र उपासना-पद्धति है, जो तन्त्र कहलाती है। इसीलिए वैष्णवतन्त्र, शैवतन्त्र एवं शाक्ततन्त्र प्रख्यात हैं। तन्त्र, वस्तुतः एक विशिष्ट उपासना-पद्धति का ही नाम है। यह उल्लेखनीय है, कि त्रिविध तन्त्रों–(ब्राह्मणतन्त्र, बौद्धतन्त्र एवं जैन-तन्त्र) में वैष्णवागम, शैवागम एवं शाक्तागम, ब्राह्मण तन्त्र के अङ्ग हैं। जैसा कि स्पष्ट है, विष्णु, शिव एवं शक्ति उक्त तीनों आगमों के अन्तर्गत उपास्य देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। यह भी द्रष्टव्य है, कि वैष्णवागमों में रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवाद, शैवागमों में द्वैतवाद, अद्वैतवाद एवं द्वैताद्वैतवाद तथा शाक्तागमों में अद्वैत सिद्धान्त का प्राधान्य है। जहाँ तक, पाञ्चरात्र का सम्बन्ध है, इसमें विष्णु सम्बन्धी सामग्री एवं उपासनापद्धति आदि की प्रचुरता होने के कारण, यह सम्प्रदाय वैष्णवागमों के अन्तर्गत आता है।

पाञ्चरात्र नाम क्यों पड़ा

१. महाभारत के अनुसार पाञ्चरात्र के अन्तर्गत वेदचतुष्टयी एवं सांख्य-योग के सिद्धान्त निहित हैं, इसीलिए इसका नाम पाञ्चरात्र पड़ा है।

२. एक अन्य मत के अनुसार शाण्डिल्य, मौञ्जायन, औपगायन, कौशिक एवं भारद्वाज, इन पाँच ऋषियों को पाँच रात्रियों में उपेदश दिया गया। इसीलिए यह सम्प्रदाय पाञ्चरात्र के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[1]

३. यह मत भी मिलता है, कि इसकी तुलना में, अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन सिद्ध हो गए थे, अत एव यह पाञ्चरात्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[2]

४. नारद-पाञ्चरात्र के अनुसार नारद-पाञ्चरात्र, यह नाम इस लिए पड़ा है, क्योंकि इसमें विशेषरूप से परम तत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय रूप संसार मिलता है। नारद-पाञ्चरात्र के अनुसार रात्र शब्द का अर्थ ज्ञान है।[3]

---

१. ईश्वरसंहिता, २१वाँ अध्याय।

२. पद्मसंहिता, अध्याय १।

३. रात्रञ्च ज्ञानवचनम् ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्। (नारदपाञ्चरात्र, तथा देखें, अहिर्बुध्न्यसंहिता, १।४४)

५. भागवत, सात्वत एवं पाञ्चरात्र पर्यायवाची हैं। भगवान् विष्णु से सम्बद्ध होने के कारण इस सम्प्रदाय का नाम भागवत है। सात्वत का अर्थ यादव अर्थात् यदुवंशी है। भगवान् श्रीकृष्ण भी यादव थे, जो विष्णु के ही अवतार थे। अतः सात्वत (यादव) से सम्बद्ध होने के कारण पाञ्चरात्र सम्प्रदाय प्रख्यात हुआ है।

पाञ्चरात्र की प्रामाणिकता

शङ्कराचार्य ने पाञ्चरात्र का निराकरण करते हुए, इसे अवैदिक कहा है।[1] यह ठीक है, कि वेदों में मूर्त्तिपूजा स्पष्ट नहीं है, एवं पाञ्चरात्र ही क्या, समस्त वैष्णव सिद्धान्तों के अनुसार मूर्त्ति (विष्णु) की पूजा स्पष्ट ही है, किन्तु इस आधार पर पाञ्चरात्र को नितान्त अवैदिक कहना सङ्गत नहीं होगा। यह अवधारणा भी तर्कसङ्गत होगी, कि संहितावर्त्ती पुरुषवाद, शतपथब्राह्मण के नारायणस्वरूप, एवं उपनिषदों के अपर (सगुण) ब्रह्मसिद्धान्त के अन्तर्गत मूर्त्तिपूजा के मूल सर्वथा स्पष्ट हैं। देखा जाय, तो ऋग्वेद का पुरुषसिद्धान्त वैष्णवसिद्धान्त का मूलाधार है। शतपथब्राह्मण के अनुसार नारायण ने इस कामना से सात्वत नामक यज्ञ किया, कि वे अनेक जीवों का रूप धारण करें, तथा उनके साथ तादात्म्य प्राप्त करें। तदनुसार नारायण अनेक रूपों में प्रकट होकर उनमें व्याप्त हुए। यह भी संकेतयोग्य है, कि शतपथब्राह्मण के अन्तर्गत पुरुष को नारायण कहना–"पुरुषो ह नारायणः" भावी, नर-नारायणकल्पना का आधार है। इसके अतिरिक्त वेंकटसुधी ने सिद्धान्तरत्नावली के अन्तर्गत नारायण को सर्वोच्च देव के रूप में प्रतिष्ठित किया है। महाभारत (शा. प. ३३ अ.) के अन्तर्गत भी नारायण का सर्वोच्च देव के रूप में वर्णन उपलब्ध है। एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य पाञ्चरात्र की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विचारणीय है, वह यह कि नारायण केवल श्वेतद्वीप (भारतवर्ष के उत्तर में स्थित) वासियों के द्वारा दर्शनीय थे, जो इन्द्रियों से रहित थे, और जिन्हें भक्ष्य की अपेक्षा नहीं थी। नारद भी श्वेतद्वीप गए, जहाँ उन्होंने नारायण का दर्शन किया। नारायण ने नारद से कहा, कि वासुदेव सर्वोच्च देव हैं, तथा वासुदेव से संकर्षण (जीव), संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की उत्पत्ति है। यह व्याख्या शङ्कराचार्य के अनुसार है (ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य, २।२।४२, ४५)। किन्तु पाञ्चरात्र के अनुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध चतुर्व्यूह कहे गए हैं। चतुर्व्यूह भगवत् स्वरूप ही हैं। प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य यामुनाचार्य ने आगमप्रामाण्य ग्रन्थ के अन्तर्गत पाञ्चरात्र-सिद्धान्त की प्रामाणिकता सिद्ध की है। यामुनपरवर्त्ती रामानुजाचार्य ने भी श्रीभाष्य (२।२।४२-४५) के अन्तर्गत पाञ्चरात्र का समर्थन ही किया है, न कि शाङ्करभाष्य के समान खण्डन। इसी प्रकार रामानुजाचार्य के परवर्त्ती प्रख्यात वैष्णवाचार्य वेदान्तदेशिक[3] एवं भट्टारकवेदोत्तम[4] ने पाञ्चरात्र के वेदानुगत सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए, इस सिद्धान्त (पाञ्चरात्र) की प्रामाणिकता सिद्ध की है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों-तर्कों के आधार पर पाञ्चरात्र की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता

---

१. ब्र. सू. शा. भा. २।२।४२-४५

२. श. ब्रा. १३।६।१

३. देखें, वेदान्तदर्शन, पाञ्चरात्ररक्षा।

४. भट्टारिक वेदोत्तम, तन्त्रशुद्धि।

स्पष्टतया सिद्ध है।

पाञ्चरात्र के सम्बन्ध में, पुराणों की स्थिति विलक्षण है। कूर्मपुराण (१५वाँ अध्याय), पराशरपुराण, वसिष्ठसंहिता, साम्बपुराण तथा सूतसंहिता में पाञ्चरात्रों को महान् पापी एवं अवैदिक कहा गया है। इसी प्रकार बृहन्नारदीयपुराण, लिङ्गपुराण, विष्णुसंहिता, शातातपसंहिता, हारीतसंहिता, बौधायनसंहिता के अन्तर्गत भी पाञ्चरात्र की घोर निन्दा की गई है। इसके विपरीत विष्णुपुराण, नारदीयपुराण, महाभारत, भागवतपुराण, गरुडपुराण, पद्मपुराण तथा वराहपुराण के अन्तर्गत पाञ्चरात्र एवं उसके अनुयायियों की प्रशंसा विद्यमान है।

पाञ्चरात्रसाहित्य

पाञ्चरात्रसम्बन्धी मूल सिद्धान्तसूत्रों की उपलब्धि वैष्णव उपनिषदों–अव्यक्तोपनिषद्, कलिसन्तरणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद् , गरुडोपनिषद् , गोपालतापिन्युपनिषद् , गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्, तारासारोपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, नारायणोपनिषद् एवं रामतापिन्युपनिषद् आदि में यत्किञ्चित् रूप में अवश्य मिलती है। किन्तु ये उपनिषदें निश्चय ही, प्राचीन पाञ्चरात्र की उत्तरवर्त्तिनी हैं।

पाञ्चरात्र संहिताएँ

पाञ्चरात्र से सम्बन्धित अनेक प्राचीन संहिताएँ मिलती हैं, जो संस्कृत एवं तेलगु में हैं। इन संहिताओं में अहिर्बुध्न्यसंहिता,[१] ईश्वरसंहिता,[२] हयशीर्षसंहिता, कपिञ्जलसंहिता, जयाख्यसंहिता,[३] पाराशरसंहिता, पाद्मतन्त्र, बृहद् ब्रह्मसंहिता,[४] भारद्वाजसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र, विष्णुतिलक, श्रीप्रश्नसंहिता, विष्णुसंहिता[५] तथा सात्वतसंहिता[६] प्रमुख हैं।

इस स्थल पर कतिपय प्रमुख संहिताओं एवं उनमें वर्णित सिद्धान्त का निरूपण अभीष्ट है।

प्रमुख संहिताएँ एवं सिद्धान्त

ईश्वरसंहिता में २४ अध्याय हैं, जिनमें १६ अध्यायों में पूजासम्बन्धी विधि वर्णित है। इस संहिता के अन्तर्गत श्रीवैष्णवसम्प्रदाय के दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्त वर्णित हैं।

हयशीर्षसंहिता के चार भाग हैं। प्रथम भाग प्रतिष्ठाकाण्ड है, जिसमें ४२ अध्याय हैं। द्वितीय भाग संकर्षण है, जिसमें २६ अध्याय हैं, तृतीय भाग लिङ्ग है, जिसमें ४५ अध्याय हैं। इस संहिता के अन्तर्गत मूर्त्तियों के निर्माण एवं उनकी प्रतिष्ठा आदि की विधि वर्णित है।

---

१. अड्यार, मद्रास।

२. सुदर्शन प्रेस, काञ्ची।

३. गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज़ (४५), बड़ौदा।

४. आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, काशी।

५. अनन्वशयन ग्रन्थमाला।

६. काशी से प्रकाशित।

परमसंहिता में ३१ अध्याय हैं। इनमें, सृष्टि प्रक्रिया, मूर्त्तियों की प्राणप्रतिष्ठा एवं उपासना-सम्बन्धी विविध सिद्धान्त वर्णित हैं। दशम अध्याय के अन्तर्गत ज्ञानयोग, कर्मयोग, प्राणायाम तथा समाधि सम्बन्धी सिद्धान्त वर्णित हैं। परमसंहिता के अनुसार योग शब्द का अर्थ "मिलना" अथवा "जुड़ना" है।

पद्मसंहिता में ३१ अध्याय हैं, जिनमें मन्त्रोच्चारण एवं धार्मिक उत्सवों एवं उपासनासम्बन्धी वर्णन वर्त्तमान हैं।

जयाख्य संहिता के अन्तर्गत पाञ्चरात्र के दार्शनिक सिद्धान्त विशेष रूप से वर्णित हैं। जयाख्यसंहिता के अन्तर्गत इस सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है, कि परम तत्त्व की प्राप्ति समाधि अथवा मन्त्रसाधना के द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस संहिता में ज्ञान के दो भेद किए गए हैं–(१) सात्त्विक तथा (२) क्रियाख्य। क्रियाख्य ज्ञान के अन्तर्गत यम एवं नियम आते हैं। क्रियाख्य ज्ञान के द्वारा ही सात्त्विक ज्ञान की उपलब्धि होती है। आत्मा शुद्ध चिद्रूप है, तथा गुणों एवं माया से संपृक्त है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार घोर तपस्या के फलस्वरूप अहिर्बुध्न्य ने संकर्षण से पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। ज्ञान को इस संहिता के अन्तर्गत सुदर्शन स्वरूप कहा गया है।[1] ब्रह्मतत्त्व को नामरूप से अतीत कहा है, तथा ब्रह्म के पर्याय, परमात्मा, आत्मा, भगवान् , वासुदेव, अव्यक्त, प्रकृति, प्रधान आदि दिए गए हैं।

ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तत्त्व अनेक रूप धारण करता है, तो सुदर्शन कहलाता है। इस प्रकार निर्गुण ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही सगुण रूप से प्रकट होता है। सगुणब्रह्म, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य एवं तेज गुणों से युक्त है। यही **षाड्गुण्य** कहलाता है। **शक्ति** जगत् का उपादानकारण है। शक्ति की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए, अहिर्बुध्न्यसंहिता में लिखा है–

जगत्प्रकृतिभावो यः सा शक्तिः परिकीर्तिता। (अ.बु.सं. ३।२।५६)

ऐश्वर्य से भगवान् के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र जगत्कर्तृत्व का आशय है, एवं बल से भगवान् की उस विलक्षण शक्ति का तात्पर्य है, जिसके द्वारा वे बिना श्रम के ही संसार की सृष्टि करते हैं। जगत् की उपादानस्वरूप शक्ति से संपन्न होने पर भी भगवान् अविकृत रहते हैं, उनका यही गुण "वीर्य" है। भगवान् का तेज गुण यही है, कि वे बिना किसी सहकारिता के जगत्-सृष्टि में समर्थ हैं।

इस प्रकार षाड्गुण्य के आधार पर भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता, एवं सर्वज्ञता का प्रतिपादन किया गया है।

लक्ष्मी भगवान् की शक्ति हैं, किन्तु श्रीभगवान् एवं लक्ष्मी में अद्वैत भाव नहीं है। इसीलिए, प्रलयावस्था में, जब समस्त प्रपञ्च का लय हो जाता है, तब भी भगवान् एवं लक्ष्मी का पृथग्भाव बना रहता है। किन्तु यह भी स्वीकार्य है, कि भगवान् एवं लक्ष्मी में, उसी प्रकार अविनाभाव है, जिस प्रकार धर्म तथा धर्मी में, अहम् तथा अहन्ता में, चन्द्र तथा चन्द्रिका में, तथा सूर्य आतप में अविनाभाव वर्त्तमान

१. सुदर्शनस्वरूपं तत् प्रोच्यमानं मया शृणु।
श्रुते यत्राखिलाधारे संशयास्ते न सन्ति वै।। (अहिर्बुध्न्यसंहिता, ३।२।५)

है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में लक्ष्मी की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए, कहा गया है, क्योंकि जगत् रूप से लक्ष्मी लक्षित होती है, इसीलिए, इसकी लक्ष्मी संज्ञा है–

जगत्तया लक्ष्यमाणा सा लक्ष्मीरिति गीयते । (अ.बु.सं. ३।११।५६)

शुद्ध सृष्टि का स्वरूप–ज्ञान एवं बल से संकर्षण के आध्यात्मिक स्वरूप की, ऐश्वर्य एवं वीर्य से प्रद्युम्न के आध्यात्मिक स्वरूप की तथा शक्ति एवं तेज से अनिरुद्ध की सृष्टि होती है। संकर्षण, ऐश्वर्य एवं प्रद्युम्न, ये तीन व्यूह हैं। ये तीनों व्यूह विष्णु के स्वरूप हैं। संकर्षण जगत् की सृष्टि एवं पाञ्चरात्र का उपदेश करते हैं। प्रद्युम्न ऐकान्तिक मार्गसम्मत क्रिया की शिक्षा देते हैं, तथा अनिरुद्ध मोक्ष का उपदेश देते हैं। ये तीन व्यूह तथा वासुदेव चतुर्व्यूह कहलाते हैं। चतुर्व्यूह के उपव्यूहों का वर्णन भी मिलता है। केशव, माधव एवं नारायण वासुदेव के उपव्यूह हैं; गोविन्द, मधुसूदन एवं विष्णु संकर्षण के उपव्यूह हैं, त्रिविक्रम, वामन तथा श्रीधर प्रद्युम्न के उपव्यूह हैं, एवं हृषीकेश, पद्मनाभ तथा दामोदर अनिरुद्ध के उपव्यूह हैं।[1]

व्यूह के अतिरिक्त भगवान् का **द्वितीय रूप विभव** है। विभव से अवतार का आशय है। विभव-अवतारों की संख्या उनतालीस है। विभव अवतारों के दो भेद हैं–मुख्य एवं गौण। मुख्य अवतारों की उपासना मोक्ष के उद्देश्य से की जाती है, जबकि गौण अवतारों की उपासना भोग-प्राप्ति के उद्देश्य से की जाती है। पद्मनाभ, ध्रुव एवं मधुसूदन विभव अवतारों के अन्तर्गत आते हैं।

भगवान् का **तृतीय रूप** अर्चावतार है। प्रस्तरादि की मूर्त्तियाँ अर्चावतार के अन्तर्गत आती हैं।

अहिर्बुध्न्यसंहिता के अन्तर्गत आवेशावतार एवं साक्षात् अवतार का भी उल्लेख मिलता है। आवेशावतार दो प्रकार के हैं–स्वरूपावेशावतार एवं शक्त्यावेशावतार। परशुराम एवं राम आदि स्वरूपावेश अवतार के अन्तर्गत आते हैं, तथा ब्रह्मा एवं शिव आदि देव शक्त्यावेशावतार के अन्तर्गत आते हैं। शूकर, मत्स्य एवं नृसिंह तथा croocked mango tree दण्डकारण्य स्थित वक्र आम्रवृक्ष भी शक्त्यावेशावतार के ही अन्तर्गत गृहीत हैं।

भगवान् का **चतुर्थ रूप अन्तर्यामी** है। अन्तर्यामी रूप में भगवान् सभी के अन्तःकरण में वास करते हुए जगन्नियन्ता हैं। अन्तर्यामित्व एवं जगन्नियन्ता का सिद्धान्त औपनिषद है।[2] श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत भी ईश्वर के अन्तर्यामित्व का स्पष्ट उल्लेख मिलता है–

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"।

माया आदि की शुद्धेतरा सृष्टि–ऊपर अहिर्बुध्न्यसंहिता के आधार पर भगवान् की शुद्ध सृष्टि का निरूपण किया गया है। किन्तु भगवान् की शुद्ध सृष्टि के अतिरिक्त माया आदि की सृष्टि भी पाञ्चरात्र साहित्य में उपलब्ध है। यही शुद्धेतरा सृष्टि है। वासुदेव भगवान् के व्यूह एवं विभव रूप से शुद्धेतरा सृष्टि होती है। श्रेडर (पाश्चात्य विद्वान्) ने पद्मतन्त्र के आधार पर कहा है, कि भगवान् का

१. अ. बु. सं., पृ. ४६।
२. बृ. उ. ३।७।१।

एक स्वरूप परमतत्त्व है, जो व्यूह वासुदेव रूप है। दूसरे रूप में भगवान् व्यूह से पृथक् हैं। इस प्रकार भगवान् वासुदेव के स्वरूप के दो भाग हैं–अपने अर्ध भाग में, वे परतत्त्व अर्थात् व्यूह वासुदेव स्वरूप हैं, तथा अर्धभाग में नारायण स्वरूप हैं। नारायण स्वरूप से ही वासुदेव माया की सृष्टि करते हैं।[1] माया की सृष्टि शुद्धेतर सृष्टि के अन्तर्गत आती है।

शुद्धेतर सृष्टि का क्रम

पाञ्चरात्र का शुद्धेतर सृष्टि का क्रम बहुत कुछ सांख्य के समान है। शुद्धेतर सृष्टिक्रम के अन्तर्गत, प्रद्युम्न से कूटस्थ पुरुष, कूटस्थ पुरुष से माया, माया से नियति, नियति से काल, तथा काल से क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण एवं बुद्धि की सृष्टि होती है। अहिर्बुध्न्यसंहिता (६।५।१२) के अनुसार अहंकार के सात्विक, राजस एवं तामस, तीन भेद हैं। सात्विक अहंकार से बुद्धीन्द्रिय, मन एवं कर्मेन्द्रियों की सृष्टि होती है, तथा तामस अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राओं, एवं पञ्चतन्मात्राओं से स्थूल भूतों की सृष्टि होती है। सांख्य के अन्तर्गत भी "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गुणश्च षोडशकः" कहकर अहङ्कार को षोडश तत्त्वों की सृष्टि का कारण कहा गया है।

भगवान् की लीला एवं जीवतत्त्व

समस्त जगत्, भगवान् की लीला मात्र है। निष्काम होने पर भी भगवान् जगत् की सृष्टि आदि की लीला अर्थात् क्रीड़ा मात्र करते हैं। शङ्कराचार्य ने भी "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" (ब्र. सू. २।१।३३) पर भाष्य करते हुए लीलासम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या की है। भगवान् अपनी संकल्पशक्ति से जगत् की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति, संहारशक्ति एवं विग्रह शक्ति तथा अनुग्रह शक्ति, ये पाँच भगवान् की शक्तियाँ हैं।

पाञ्चरात्र सिद्धान्त के अन्तर्गत जीव सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक है, किन्तु सृष्टिकाल में भगवान् की तिरोधान शक्ति के कारण जीव की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता एवं सर्वव्यापकता तिरोहित हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप जीव अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता एवं अणुत्व को प्राप्त होता है। यही जीव की बन्धन की स्थिति है। बुद्ध जीव नाना योनियों में जन्म ग्रहण करते हुए, अनेकविध क्लेशों का भोग करता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार भगवान् अपनी अनुग्रहात्मिका शक्ति से जीवों पर अनुग्रह करते हैं। भगवान् के करुणामय अनुग्रह का यह फल होता है, कि जीव में वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप वह मोक्षोपलब्धि के प्रति अग्रसर होता है।

प्रपत्ति एवं मोक्ष

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अन्तर्गत मोक्ष का श्रेष्ठ साधन प्रपत्ति अर्थात् शरणागति है। समस्त भक्ति सम्प्रदायों में ही शरणागति को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है, जैसा कि वैष्णव सिद्धान्तों के निरूपण एवं विश्लेषण के अवसर पर देखा जा चुका है। पाञ्चरात्र के अन्तर्गत प्रपत्ति के लिए 'न्यास'

---

१. Shreder, Introduction to Pāñcarātra, p. 53.

त्याग का प्रयोग भी किया गया है। यह इसीलिए कि सब कुछ त्याग कर भक्त भगवान् की शरण में जाता है। भक्त भगवान् से यही प्रार्थना करता है, कि मैं महान् अपराधी तथा सर्वथा असहाय, तथा अगतिक-गति हूँ।[1] अहिर्बुध्न्यसंहिता के अन्तर्गत शरणागति के छः प्रकार निर्दिष्ट हैं। ये छः रूप (१) आराध्य भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प (२) उनकी प्रतिकूलता का त्याग (३) भगवान् की रक्षा में विश्वास (४) भगवान् के रक्षक रूप को वरण करना (५) आत्मसमर्पण तथा (६) कार्पण्य (दीन-हीन) कहना है। इसके अतिरिक्त अहिर्बुध्न्यसंहिता के अन्तर्गत उन पाँच कालों का भी निर्देश मिलता है, जो भक्त के लिए परमावश्यक होने के कारण, उसके लक्षण स्वरूप हैं। इन पञ्च कालों में (१) अभिगमन, मन, वचन एवं कर्म से भगवान् के प्रति अभिमुख होना (२) उपादान अर्थात् अर्चा के लिए पुष्पादि का संग्रह (३) इज्या (४) स्वाध्याय (आगम ग्रन्थों का अध्ययन) एवं योग (नियमादि अष्टाङ्ग योग) हैं।

इस प्रकार जब शरणागतिभाव से भक्त, उपर्युक्त उपासनाविधिपूर्वक, स्वयं को पूर्णतया भगवान् को समर्पित कर देता है, तो उसे मुक्ति अर्थात् ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। पाञ्चरात्र के अनुसार विवर्त्तवाद के स्थान पर जगत् की सत्ता परिणामवाद के आधार पर सिद्ध की गई है।

पाञ्चरात्रसम्मत मोक्ष के सम्बन्ध में यह तथ्य विचारणीय है, कि धर्म, अर्थ एवं काम के समान मोक्ष भी साध्य है, किन्तु धर्मादि परस्पर एक-दूसरे के सहायक हैं।[2]

मुक्त पुरुष के स्वरूप का वर्णन करते हुए, अहिर्बुध्न्यसंहिता के अन्तर्गत कहा गया है, कि वह वैकुण्ठ में भी वासुदेव के साथ विहार करता है। वैकुण्ठ में गरुड़ एवं विष्वक्सेन प्रभृति नित्य जीवों का वास है। वैकुण्ठवासी जीव के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है, कि उसका परिमाण त्रसरेणु है, तथा वह अनेक कोटि रश्मियों से देदीप्यमान है। यह भी उल्लेखनीय है, कि जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अनुसार मुक्त पुरुष पुनः संसार में वापस नहीं आता, उसी प्रकार पाञ्चरात्र के अन्तर्गत भी वैकुण्ठवासी मुक्त पुरुष संसार में नहीं आता, अपितु सदैव वैकुण्ठ में वास करता हुआ, भगवद्भजन एवं भगवत्सेवा में रत रहता है।[3]

समीक्षा

यद्यपि, जैसा कि हमने आरम्भ में ही कहा है, इतर वैष्णव सिद्धान्तों के समान पाञ्चरात्र सिद्धान्त के सूत्र तो वैदिक ही हैं, किन्तु उनका प्रमुख आधार औपनिषद एवं शाङ्करवेदान्त है, जैसा कि उनके सिद्धान्तों में ब्रह्मपरक विवेचन से प्रतीत होता है। यह आश्चर्यास्पद नहीं होना चाहिए, क्योंकि रामानुजाचार्य प्रभृति वैष्णव आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों की मूल भित्ति भी तो अद्वैतवेदान्तपरक ही थी। इसीलिए विशिष्टाद्वैतवाद (विशिष्ट अद्वैतवाद) शुद्धाद्वैतवाद (शुद्ध अद्वैतवाद), द्वैताद्वैतवाद (द्वैत+अद्वैतवाद) आदि वैष्णव दार्शनिक सिद्धान्तों में अद्वैत सिद्धान्त किसी न किसी प्रकार निगूढ है। सत्य तो यह है,

---

१. अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः॥
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्॥ (अ. बु. सं. ३७.३०, ३१)

२. विशेष देखें, अ. बु. सं. १३।२७, २८।

३. अ. बु. सं. ६।२७, ३०।

कि अनुभूति के स्तर पर वैष्णव दार्शनिकों की साध्यस्वरूपा भक्ति की पूर्णता ज्ञान में है, तथा अद्वैतियों के साध्यरूप ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति में है। भक्ति एवं ज्ञान का यह समन्वय पाञ्चरात्र दर्शन के अन्तर्गत भी स्पष्टतया द्रष्टव्य है। इसीलिए तो पाञ्चरात्र में, मुक्ति को ब्रह्मभावापत्ति का स्वरूप प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त उपासना एवं गुप्त तान्त्रिकपद्धति पर पाञ्चरात्र में विशेष बल दिया गया है– 'वेदतन्त्रमयोद्भूतनानाप्रसवशालिनी' (अ.बु.सं.६।८)। अथ च पाञ्चरात्र के अन्तर्गत मन्त्र अत्यन्त गोपनीय एवं भगवान् विष्णु की शक्तिस्वरूप हैं। इस प्रकार पाञ्चरात्र की उपासनापद्धति पर तान्त्रिक प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित है।

वैखानस आगम

वैखानस आगम पाञ्चरात्र के सदृश प्रख्यात तो नहीं है, किन्तु इसका प्रतिपाद्य प्रायः वैखानस जैसा ही है। अर्चा-पूजा, मूर्त्ति एवं मन्दिर निर्माण, कला तथा श्रीभगवान् के विविध रूपों का वर्णन, पाञ्चरात्र एवं वैखानस, दोनों में ही वर्त्तमान हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, वैखानस का सम्बन्ध वानप्रस्थ वैष्णवों से है। कृष्णयजुर्वेद की स्वतन्त्र शाखा के रूप में, वैखानस का निर्देश मिलता है। वैखानसधर्मप्रश्न (३।८।१) के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की चार शाखाओं-आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ़-हिरण्यकेशी तथा ओखेय में से, वैखानस का सम्बन्ध औखेय शाखा से है। आश्रमोपनिषद् में भी वैखानसों का उल्लेख मिलता है।[1] इसके अतिरिक्त धर्मसूत्रों, गौतमधर्मसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र एवं वसिष्ठधर्मसूत्र के अन्तर्गत भी वैखानस आगम का उल्लेख मिलता है। भवभूति ने भी उत्तररामचरित में "वैखानसाश्रमतरूणि तपोवनानि" कहकर वैखानसों का निर्देश किया है। पाञ्चरात्र के अन्तर्गत सात्त्विक, राजस एवं तामस, इस त्रिविध शास्त्र का वर्णन मिलता है। सात्त्विक शास्त्र के अन्तर्गत एकायनवेद आता है। छा. उ. में एकायन क्रिया निर्दिष्ट है (छा. उ. ७-१-२)। ईश्वरसंहिता (एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि, १।४३) तथा प्रश्नसंहिता (वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्) में भी एकायन वेद का उल्लेख है। राजसशास्त्र का कुछ भाग एकायनवेद पर आधारित है, तथा शेष वैष्णव सन्तों एवं आचार्यों के द्वारा निर्मित है। राजस शास्त्र के दो भेद हैं–पाञ्चरात्र एवं वैखानस। तामस शास्त्र, वह है, जो सामान्य मानवों के द्वारा निर्मित है। इस प्रकार वैखानस राजसशास्त्र के अन्तर्गत ग्राह्य है। पाञ्चरात्र एवं वैखानस को राजस, इसीलिए कहा जाता था, क्योंकि इनमें अर्चा-पूजा आदि की प्रवृत्ति का प्राधान्य था। निवृत्ति की भावना, इनमें न्यून रूप में ही थी।

साहित्य–वैखानसीय मन्त्रसंहिता, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र अथवा धर्मप्रश्न एवं श्रौतसूत्र वैखानसागम के प्रधान ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों[2] के अन्तर्गत मन्त्रों, अर्चा एवं कर्मकाण्डविषयक वर्णन वर्त्तमान हैं। इसके अतिरिक्त मरीचिप्रोक्त वैखानसागम[3] नामक ग्रन्थ भी वैखानस सिद्धान्तबोध में सहायक सिद्ध हुआ है। आनन्दगिरिप्रणीत शंकरविजय के अन्तर्गत भी वैखानस सिद्धान्तों का उल्लेख प्राप्त है।

सिद्धान्त–पाञ्चरात्र के समान वैखानस के अन्तर्गत भी विष्णुपरक सिद्धान्तों एवं अर्चना की प्रधानता है। वैखानस के अनुसार विष्णु, महाविष्णु, सदाविष्णु एवं सर्वव्यापीरूप से, विष्णु के चार स्वरूपों

१. वैखानसा उदुंबरा बालखिल्याः, आश्रमोपनिषत्, ३।

२. गौ. ध. सू., ३-२, बौ. ध. सू. (२।६।१७), वै. ध. सू. ३।१०

३. वैखानसागम, अनन्तशयन संस्कृतग्रन्थावली, (१२१)

का निर्देश मिलता है। इन चारों के अंशरूप क्रमशः, पुरुष, सत्य, अच्युत एवं अनिरुद्ध हैं। विष्णु के इन चारों स्वरूपों से युक्त होने के कारण ही नारायण पञ्चमूर्त्ति कहलाते हैं। सामान्यतया, वैखानसों के अनुसार जप, हवन, ध्यान एवं अर्चना (मूर्त्ति-प्रतिमापूजा) आराधना के प्रकार हैं।

वैखानसों की यह विशेषता अवलोकनीय है, कि इनके अनुसार आराधक भक्त, किसी एक प्रकार की मुक्ति को न प्राप्त कर वैष्णवसम्मत चारों प्रकार की मुक्ति को प्राप्त करता है। वैखानस के अनुसार, भक्त आमोद नामक विष्णुलोक में सालोक्य मुक्ति, प्रभास अथवा महाविष्णु लोक में, सामीप्य मुक्ति, सम्मोद अथवा सदाविष्णुलोक में सारूप्य मुक्ति तथा इन सबके पश्चात् नारायण के वैकुण्ठलोक में सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति करता है। वैखानसों के अनुसार, सायुज्य मुक्ति ही सर्वोत्तम मानी गई है।[1]

श्रीमद्भागवत

श्रीमद्भागवत वैष्णवदर्शन साहित्य की सुधानिधि है। समस्त वैष्णवदर्शन के अन्तर्गत कदाचित् ही कोई ग्रन्थ ऐसा हो, जिसकी तुलना कथमपि श्रीमद्भागवत से की जा सके। श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत भगवान् विष्णु के व्यापक एवं गूढ स्वरूप का वर्णन है। इसीलिए प्रसिद्ध है "विद्यावतां भागवते परीक्षा"। श्रीमद्भागवत का दक्षिण में भी विशेष प्रचार था, और आज भी है। श्रीमद्भागवत (११।५, ३८, ४०) के अन्तर्गत भी यह उल्लेख मिलता है, कि भगवान् विष्णु के भक्त दक्षिण में, ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, कावेरी तथा महानदी के तट पर देखने को मिलेंगे। श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत भगवान् विष्णु के व्यापक रूप का वर्णन है। श्रीमद्भागवत के भगवान् ब्रह्म, परमात्मा,[2] विशुद्ध परमार्थ ज्ञान एवं वासुदेव रूप में वर्णित हुए हैं। श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत भगवान् का लक्षण प्रस्तुत करते हुए, कहा गया है, कि भगवान् विशुद्ध परमार्थज्ञानस्वरूप, आन्तरिक एवं बाह्यभेदरहित, आन्तर (अन्तर्मुखी) सत्य-ब्रह्मस्वरूप एवं सम्यक् तथा शान्तस्वरूप हैं। वासुदेव भगवान् की ही अपर संज्ञा है।[3] यह कथन नितान्त संगत होगा, कि श्रीमद्भागवत निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म का अद्भुत समन्वय है, जिसकी मूल आधारभूमि औपनिषद निर्गुणवाद एवं सगुणवाद है। जैसा कि भगवान् स्वयं कहते हैं, निर्गुण अद्वैततत्त्व ही श्रीमद्भागवत का सर्वोपरि एवं मूलतत्त्व है-

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।।

निर्गुण ब्रह्म ही सत्त्व गुण की उपाधि से उपहित होकर, विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष इन चार सगुण रूपों को ग्रहण करता है। इनमें विष्णु शुद्ध सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य, रुद्र तमोगुणमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य, ब्रह्म रजोगुणमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य, एवं पुरुष-रजोगुण एंव तमोगुण से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्यस्वरूप है। ब्रह्मा जगत् के स्रष्टा, विष्णु स्थितिकर्ता एवं रुद्र-शिव संहारकर्त्ता एवं निमित्तकारण हैं। पुरुष उपादानकारण है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण है।

---

१. विशेष देखें, आनन्दगिरि, शंकरविषय, प्रकरण ६।

२. वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।। (भागवत, १।२।११)

३. ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म-सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद् वासुदेवम्।। भागवत, १।१२।११।

४. श्रीमद्भागवत, २।९।३२।।

अवतार–आदिदेव नारायण का प्रथम अवतार पुरुष है। श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से कहा है, कि जब भगवान् पृथिव्यादि पञ्चतत्त्वों की सृष्टि करके विराट् ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं, तथा अन्तर्यामी रूप से उसमें प्रवेश करते हैं, तो यही श्रीमन्नारायण का आदिपुरुष का अवतार है।[1] जैसा कि ऊपर कहा गया है, सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण की प्रधानता एवं मिश्रण के कारण, विष्णु आदि गुणावतार कहलाते हैं। इसी शृंखला में कल्पावतार, युगावतार एवं मन्वन्तरावतारों का वर्णन श्रीमद्भागवत में उपलब्ध है। निदर्शनार्थ, भगवान् श्रीकृष्ण, युगावतार के अन्तर्गत आते हैं–"सम्भवामि युगे युगे" (गीता)। श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत २४ अवतारों का उल्लेख मिलता है।

माया–यह उल्लेखनीय है, कि उपनिषद्वर्त्ती एवं उत्तरवर्त्ती वेदान्त में वर्णित माया को वैष्णव दर्शन के अन्तर्गत, कहीं लक्ष्मी, तो कहीं अचिन्त्य शक्ति आदि रूपों में स्वीकार किया है। श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत भी अद्वैतवेदान्तसम्मत सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीयस्वरूपा माया का निरूपण करते हुए, कहा गया है, कि माया एक ऐसा तत्त्व है, जिसके कारण विद्यमान (सत्) वस्तु की प्रतीति नहीं होती, तथा असद् वस्तु की प्रतीति होती है,[2] जिस प्रकार कि नेत्र में केशोण्ड्रक (परवार) दोष के कारण एक चन्द्रमा भी दो दिखलाई पड़ते हैं।

भक्ति–समस्त वैष्णवदर्शन के अन्तर्गत भक्ति को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, एवञ्च सभी वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भक्ति के सिद्धान्त में यत्किञ्चित् भेद भी दृष्टिगोचर होता है। सभी, वैष्णवदर्शन भक्ति में समर्पणभाव को अपेक्षित एवं उत्कृष्ट मानते हैं। श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत साधन एवं साध्य रूप से भक्ति के दो प्रमुख भेद मिलते हैं। नवधा भक्ति, साधन भक्ति के अन्तर्गत ग्राह्य है। साध्यरूपा भक्ति से प्रेमा भक्ति का तात्पर्य है। साध्यरूपा भक्ति के अन्तर्गत भगवत्प्रेम की प्राप्ति ही जीवन का परम साध्य है। निदर्शनार्थ, भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम की पिपासु व्रजबालाओं-गोपियों के लिए मोक्ष भी हेय है। इसीलिए श्रीमद्भागवत में कहा है कि जिस प्रकार खगशावक अपने मातृ-पितृ-खगों के लिए व्यग्र रहते हैं, गोवत्स, गोमाता के दुग्ध के लिए उत्सुक रहते हैं, तथा सुन्दरी प्रियतम से मिलन के लिए उत्सुक देखने में आती है, उसी प्रकार भक्त का हृदय भगवान् की प्राप्ति के लिए उत्सुक रहता है। इस प्रकार भगवत्प्रेम की प्राप्ति ही जीवन का चरम साध्य है।

स्पष्टतया श्रीमद्भागवत के अनुसार भक्ति ही परमाभीप्सित है। श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत भक्ति के महत्त्व को बतलाते हुए कहा गया है, कि व्यक्ति को न वैदिक सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए, न पाषण्डी होना चाहिए, और न हैतुक तार्किक होना चाहिए। व्यक्ति को शुष्क वादविवाद में पड़कर किसी एक पक्ष का समर्थन नहीं करना चाहिए :

वेदवादरतो न स्यान्न पाषण्डी न हैतुकः ।
शुष्कवादविवादे न कञ्चित् पक्षं समाश्रयेत्।। (श्रीमद्भागवत, ११।१८।३०)

उपर्युक्त श्लोक के अन्तर्गत पाषण्डी से बौद्धों एवं जैनों की ओर संकेत है। इस श्लोक में

---

१. भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरो विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः।। श्रीमद्भागवत, ११।४।३)

२. ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत, न प्रतीयेत चात्मनि।
यद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो तथा तमः।। (श्रीमद्भागवत, २।६।३३)

"हैतुक" शब्द का अर्थ विचारणीय है। मेधातिथि ने मनुस्मृति में प्रयुक्त "हैतुक" का अर्थ नास्तिक अथवा, ऐसे लोग किया है, जो न परलोक में विश्वास करते हैं, और न जिनका दान-होमादि याज्ञिक कृत्यों में विश्वास है। "हैतुका नास्तिकाः, नाऽस्ति परलोको, नास्ति दत्तं नाऽस्ति हुतमित्येवं स्थितप्रज्ञाः"।

मेरे विचार से यहाँ "हैतुक" से तार्किक नैयायिकों की ओर सङ्केत है, क्योंकि उपर्युक्त श्लोक के उत्तरार्द्ध में, जिस शुष्क वादविवाद का निर्देश है, वह नैयायिकों-तार्किकों से ही सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध में यह भी प्रासंगिक है, कि न्यायदर्शन की मुक्ति को समालोचकों ने शुष्क-तर्कपरक कहा है। "हैतुक" का तार्किक-नैयायिक अर्थ प्रसिद्ध ही है।

श्रीमद्भागवत की टीकाएँ

श्रीमद्भागवत का महत्त्व इसी से स्पष्ट है, कि इस पर आचार्यों ने अनेक टीकाएँ लिखी हैं। इन टीकाओं में प्रमुख हैं–सुदर्शनसूरि की शुकपक्षीय, वीरराघवाचार्यप्रणीत भागवतचन्द्रचन्द्रिका (रामानुजमत), विजयध्वज की पदरत्नावली (माध्वमत), शुकदेवाचार्य की सिद्धान्तप्रदीप (निम्बार्कमत), वल्लभाचार्य की सुबोधिनी तथा गिरिधराचार्य की आध्यात्मिक टीका (वल्लभमत), श्री सनातन की, भागवत के दशमस्कन्ध पर, बृहद्वैष्णवतोषिणी नाम्नी टीका (चैतन्यमत), जीवगोस्वामीरचित क्रम-सन्दर्भ एवं विश्वनाथचक्रवर्तीप्रणीत सारार्थवादिनी तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध श्रीधराचार्यरचित श्रीधरी नाम की टीका है। इसके अतिरिक्त भागवत के दशमस्कन्ध के पूर्वार्द्ध पर श्रीहरिप्रणीत हरिभक्तिरसायन नामक श्लोकात्मक व्याख्या उपलब्ध होती है। भागवत के दशम स्कन्ध पर मुकुन्द के शिष्य केशव काश्मीरी भट्ट प्रणीत, तत्त्वप्रकाशिका वेदस्तुतिटीका भी श्रीमद्भागवत के रहस्यबोध के लिए एक अत्यन्त उपादेय टीका है।

उपर्युक्त टीका एवं व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त आनन्दतीर्थ के भागवततात्पर्यनिर्णय एवं जीवगोस्वामी प्रणीत षट्सन्दर्भ के अन्तर्गत, श्रीमद्भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन अपनी-अपनी दार्शनिक पद्धति के अनुरूप किया गया है। श्रीमद्भागवत की यह अप्रतिम विशेषता द्रष्टव्य है, कि एक ओर यदि वह वैष्णव भक्तों का प्रिय आराध्य है, तो दूसरी ओर ज्ञानियों का भी श्रद्धेय ज्ञान ग्रन्थ है। इसका कारण यह है, कि श्रीमद्भागवत प्रतिपादित नैष्कर्म्यसिद्धान्त, ज्ञान-वैराग्य एवं भक्ति की अजस्र स्रोतस्विनी है, जिसमें निमग्न भक्त-भक्ति एवं ज्ञानी परमार्थ ज्ञान की उपलब्धि करते हैं। अत एव भागवत में कहा है, कि श्रीमद्भागवत के श्रवण, पठन एवं मनन से भक्ति को प्राप्त कर जीव संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है–

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
तत्र ज्ञान-विरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वनूविपठनूविचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ।। (श्रीमद्भागवत, १२।१३।१८)

---

१. मनुस्मृति, ४।३०।

द्वादश अध्याय

शैव एवं शाक्त दर्शन

कोई भी धार्मिक या भक्तिपरक सिद्धान्त दार्शनिक दृढ़ता के अभाव में परिपक्व नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि पाञ्चरात्र द्वारा प्रवृत्त भक्ति की अपेक्षा शङ्कराचार्य द्वारा प्रवृत्त अद्वैतपरक ब्रह्मज्ञान का सिद्धान्त अधिक प्रसिद्ध हुआ था। किन्तु यह तथ्य भी स्वीकार्य है कि कोई भी सिद्धान्त, चाहे उसका कितना भी ह्रास क्यों न हो पूर्णरूप से लुप्त नहीं होता। यही कारण है कि आज भी भारतवर्ष में अनेक धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्त, जैसे जैन-बौद्ध आदि न्यूनाधिक रूप में वर्त्तमान हैं। तात्पर्य यह है कि शंकराचार्य के ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक युग में भी भक्ति की विचारधारा पूर्णतया समाप्त नहीं हुई, प्रत्युत स्वयं शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी एवं अनेक स्तोत्रों में भक्तिभावना का स्पष्ट चित्र मिलता है। फिर मधुसूदन सरस्वती ने तो भक्तिविशिष्ट अद्वैतवाद का प्रतिपादन ही किया था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मदर्शन के क्षेत्र में क्रिया-प्रतिक्रिया एवं पूर्वापर सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से चलता रहता है। परिणामतः प्रारम्भिक पाञ्चरात्र वैष्णव भक्ति की प्रक्रिया यदि शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद था, तो अद्वैतपरक विचारधारा की प्रतिक्रिया रामानुज आदि वैष्णव आचार्यों के विशिष्टाद्वैतवाद आदि सिद्धान्त थे। यहाँ, पूर्वापरसम्बन्ध की दृष्टि से यह तथ्य भी अवलोकनीय है कि जिस प्रकार शांकरदर्शन में भी सगुण ब्रह्मपरक भक्ति के सूत्र वर्त्तमान थे, उसी प्रकार रामानुज आदि वैष्णव आचार्यों के दर्शन में भी ब्रह्मपरक विचारधारा अत्यन्त स्पष्ट रूप से वर्त्तमान थी। यही तथ्य शैव-शाक्त दर्शन के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होता है। शैवदर्शन उस वैष्णवदर्शन की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है, जिसके अन्तर्गत प्रेम एवं शृंगार की प्रतिमूर्त्ति राधा भक्तों की आराध्य बन गई थीं, एवं श्रीकृष्ण की अपेक्षा प्रेमस्वरूपिणी राधा की भक्ति श्रीकृष्ण का भी अतिक्रमण कर गई थी। ऐसी स्थिति में लोकमंगलविधायी महादेव के प्रति शिवाकांक्षी समाज की आस्था एवं श्रद्धा होना स्वाभाविक था। किन्तु पूर्वापर सम्बन्ध यहां भी बना रहा। जैसा कि कहा जा चुका है श्रीकृष्ण ने अपने शरीर से राधा की उत्पत्ति की थी। अतः मूलतः राधा एवं श्रीकृष्ण एक ही हैं। इसी प्रकार शैवदर्शन की विचारधारा के अन्तर्गत अर्धनारीश्वर विचार भी शिव एवं शक्ति के ऐक्य का प्रतिपादन करता है। सौन्दर्यलहरी का प्रथम पद्य, "शिवः शक्त्या युक्तो" भी उक्त विचारधारा का ही समर्थन करता है।

यों शिवपत्नी पार्वती भी शक्तिस्वरूपिणी ही हैं, किन्तु वैष्णव मत की राधा की अपेक्षा पार्वती माता का स्वरूप अधिक है। जिस प्रकार सीता एवं राधा के स्वरूप में महान् अन्तर है, उसी प्रकार राधा एवं पार्वती के स्वरूप में भी अन्तर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। किन्तु इससे यह पूर्णतया स्पष्ट है शैवमत वैष्णवदर्शन की प्रतिक्रिया का फलीभूत सिद्धान्त था।

अशिव मानव की अन्तःप्रकृति एवं बाह्य प्रकृति के ही स्वरूप हैं। जिस प्रकार अन्तः प्रकृति में मानव अशिव भावनाओं विचारों एवं अन्तः घटनाओं से खीझ कर शिवङ्करी भावनाओं एवं विचारों एवं अन्तर्घटनाओं के प्रति सकाम रहता है, उसी प्रकार बाह्य प्रकृति के अन्तर्गत भी प्रकृति के भयावह झंझाती रौद्र स्वरूप को देखकर, उसके मन में प्रकृति के शिवङ्कर स्वरूप को देखने की अभिलाषा बलवती होती है। मेरे विचार से रौद्र शैवदर्शन का यही प्राकृतिक बीज है। **ऋग्वेद** में प्रकृति के मनोहर रूप का वर्णन यदि उषस् एवं सूर्य के रूप में दर्शनीय है,[1] तो उसको भयंकर रूप रुद्र एवं उसके मरवत पुत्रों के बीहड़ तूफानों में अवलोकनीय है। इस प्रकार ऋग्वेद में रुद्र के भयंकर एवं अप्रिय रूप का वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है।[2] इसीलिए उससे द्विपदों (मनुष्यों) एवं चतुष्पदों (चौपायों जानवरों) की रक्षा की प्रार्थना ऋग्वेद में की गई है।[3] ऋग्वेद के रुद्र, पशुपति एवं औषध-विज्ञानी हैं। ऋग्वेद में रुद्र का वर्णन सर्वोच्च शक्ति के रूप में भी मिलता है।

शतरुद्रीय[4] के अन्तर्गत रुद्र का विकास और भी विकसित रूप में मिलता है, जहाँ वे सर्वकल्याणकारी एवं "औषधानां पतिः" हैं, अर्थात् सब को आरोग्य प्रदान करने वाले हैं। शतरुद्रीय में शिव के कपर्दी, शर्व एवं भव आदि अनेक नामों का उल्लेख है। रुद्र का एक नाम शम्भु भी है, जो उनके कल्याणकारी स्वरूप को चित्रित करता है। इस प्रकार शतरुद्रीय के रुद्र का स्वरूप सर्वहितकारी शिव का स्वरूप है। **अथर्ववेद** में भव एवं शर्व, शतरुद्रीय के समान एक न होकर पृथक्-पृथक् हैं[4]। ये दोनों द्विपदों एवं चतुष्पदों पर शासन करते हैं।[5] शर्व धनुर्धारी हैं, तो भव राजा हैं। अथर्ववेद के भव मर्त्यलोक एवं स्वर्ग लोक के ईश हैं। अथर्ववेद के रुद्र नक्षत्रों एवं चन्द्रमा के नियमनकर्त्ता भी कहे गए हैं। अथर्ववेद के अनुसार देवताओं को पूर्वी क्षेत्र के मध्य लोक में बाहयों का रक्षक, शर्व को दक्षिणी क्षेत्र का रक्षक, पशुपति को पश्चिमी क्षेत्र का रक्षक, उग्र को उत्तरी क्षेत्र का रक्षक, रुद्र को अधोलोक का रक्षक, महादेव को ऊर्ध्वलोक का रक्षक एवं ईशान को समस्त मध्यलोकों का रक्षक बनाया था।[6] मेरे विचार से शिव के ये अनेक रूप एक ही परम शिव के अनेक रूप हैं। जिस प्रकार सूर्य के सवित्, सूर्य, मित्र एवं पूषन् अनेक नाम हैं, उसी प्रकार वेद के अनुसार शिव के प्रमुख आठ नाम हैं–रुद्र, शर्व, उग्र, अशनि, भव, पशुपति, महादेव एवं ईशान। इनमें अशनि को छोड़कर इतर सात नाम अर्थर्ववेद में वर्णित हैं, किन्तु अशनि का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (६,१,३,६) एवं कौशीतकि ब्राह्मण (६।१।८) में मिलता है। शिव के इन आठ नामों में से आदि के चार नाम घातक शक्ति के कल्याणकारी (शिवंकर) स्वरूप के द्योतक हैं। इस प्रकार यह कहना होगा कि यजुर्वेद एवं अथर्ववेद तक आते-आते यह कहना होगा कि यजुर्वेद एक परम देव अर्थात् महादेव के रूप में हो गया था। जैसा कि अभी दृष्टिपथ में आएगा। श्वेताश्वतर के ईश्वरवाद एवं ब्रह्मवाद के मूल में शिवतत्त्व सम्बन्धी उपर्युक्त विचारधारा ही वर्त्तमान था।

---

१. ऋग्वेद, १-११५-२, ३-५८-२; ६-३६-२।
२. ऋग्वेद, १।११४।१०।
३. ऋग्वेद, १।११४।२।
४. तै. स. ४।५।२; वा. सं. सोलहवाँ-अध्याय।
५. अथर्ववेद, ४।२८।१।
६. अथर्ववेद, १५-५, १-७।

गृह्यसूत्रों में शिव का एक भीषण स्वरूप और मिलता है, और वह यह कि उन्हें शूलगव यज्ञ में वृषभ (बैल) की बलि देकर प्रसन्न किया जाता है।[1] यह यज्ञ ग्राम से बाहर किया जाता है। इसका प्रधान उद्देश्य पशुओं के रोग निवारण के लिए किया जाता है। रुद्र को यथा–पेट के अन्दर की खाल (omentum) की आहुति भी हो जाती थी। शिव ही नहीं; शिव (भव) की पत्नी भवानी के लिए भी आहुति होने का विधान था–"भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा"। इस प्रकार यह तथ्य सुस्पष्ट है कि मनुष्य किसी भी विपन्न दशा में रुद्र शिव को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता था। यही शिव आगे चलकर सर्वव्यापी तत्त्व के रूप में विकसित हुए यह उल्लेखनीय है कि शिव जैसी सर्वव्यापकता एकमात्र वैदिक देव विष्णु में ही थी।

यहाँ वैष्णवधर्म एवं रुद्र शिव के समबन्ध में यह तथ्य विशेष रूप से अवलोकनीय है कि जहां वैष्णव धर्म का आधार प्रेम, भक्ति एवं भगवत्कृपा है, वहाँ रुद्र शैव धर्म के मूल में भय का भाव छिपा है। जैसा कि अपर संकेत किया गया है, रुद्र-शिव का उपासक अनेक विपत्तियों से भयभीत होकर रुद्र-शिव को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है, यज्ञादि करता है। सूत्र रूप में, यदि वैष्णव धर्म में भगवान् प्रेम एवं भक्ति के आधार हैं, तो रुद्र-शैव धर्म के अनुसार मनुष्य शिव के रुद्र स्वरूप से भयभीत होता है। किन्तु शिव के पूर्ण विकास का स्वरूप शिव का अर्थात् मंगलविधायी है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में महेश्वर मायी कहे गए हैं।[2] शिव का यह स्वरूप संहिताओं में प्राप्त नहीं था। शिव को यह स्वरूप समस्तदार्शनिक केन्द्र विन्दु का आधार है। श्वेताश्वतर (३।११) के अन्तर्गत शिव को सर्वानन शिरोग्रीत सर्वभूत गुहाशय एवं सर्वव्यापी कहा गया है। इससे भी शिव का सर्वोच्च देव रूप होना सिद्ध होता है। किन्तु प्राचीन उपनिषदों में शिव को पशुपति आदि रूप अनुपलब्ध हैं। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि केनोपनिषद् के अन्तर्गत उमा का नामोल्लेख मिलता है,[3] किन्तु उन्हें हैमवती अर्थात् हिमालय की पुत्री कहा गया है, शिव की पत्नी नहीं। शिव की पत्नी के रूप में उमा का वर्णन उत्तरकालिक एवं पौराणिक देन है। अथर्वशीर्षोपनिषद् में जो उत्तरकालिक है रुद्र शिव का वर्णन ब्रह्म स्वरूप में मिलता है।[4] अथर्वशीर्षोपनिषद् के अनुसार शिव को रुद्र इसलिए कहा गया है, क्योंकि वे स्रष्टा एवं संहर्ता हैं। अथर्वशीर्षोपनिषद् में पाशुपत सिद्धान्त के अन्तर्गत सांसारिक बन्धन से मोक्ष की बात भी कही गयी है। इस उपनिषद् में "पशुपाशविमोक्षण" का वर्णन सांसारिक बन्धन से मुक्ति के सिद्धान्त की ही पुष्टि करता है। इस प्रकार अथर्वशीर्षोपनिषद् के अन्तर्गत भगवान् रुद्र शिव का स्वरूप ब्रह्म तत्त्व के रूप में विकसित मिलता है। **पुराणों** में तो शिव का वर्णन अनेक रूपों में मिलता है। शिवपुराण तो सम्यक्तया शिव से ही सम्बन्धित है। वामनपुराण के अन्तर्गत शैवों के चार

---

१. आश्वलायनगृह्यसूत्र, ४।८।
तथा देखें, पारस्करगृह्यसूत्र, ३।१५,
हिरण्यकेशीगृह्यसूत्र, १।५, १६।
२. मायिनं तु महेश्वरम्। श्वे. उ. ४।२०।
३. केनोपनिषद् , ३।१२।
४. अथर्वशीर्षोपनिषद्, ३३।

सम्प्रदायों–शैव, पाशुपत, कालदमन एवं कापालिक का उल्लेख मिलता है। **महाभारत** के अन्तर्गत[1] शैवभक्तों एवं लिङ्ग-पूजा का निरूपण मिलता है। इसके अतिरिक्त अर्जुन शिव से पाशुपतात्र प्राप्त करते हैं। शिव विराटवेष धारण करते हैं। भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य का भी यही आधार है। सौप्तिक पर्व में अश्वत्थामा के भी शिव से खड्ग प्राप्त करने का वर्णन मिलता है। महाभारत में उपमन्यु, जो शिव के परम भक्त हैं, कहते हैं, कि केवल **शिवलिंग** की ही उपासना की जाती है, किसी अन्य लिंग की नहीं। उपनिषदों में लिंग-पूजा का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। किन्तु भण्डारकर ने श्वेताश्वतर उपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्रों के आधार पर शिवलिंग एवं योनि का सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा की है, जो समुचित नहीं प्रतीत होती[2]।

यो यो नित्यमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निहं सर्व विचैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाक्षयेमां शान्तित्यन्तमेति ।।

(श्वे. उ ४।११)

निश्चय ही, उपर्युक्त मन्त्रों में योनि का अर्थ कारण है, भौतिक-शरीरस्थ योनि नहीं। अतः इसे शिवलिंग से सम्बद्ध करना उचित नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रुद्र शिव सभी समाज के आराध्यदेव थे। वे किसी सम्प्रदाय विशेष के देव नहीं थे। रुद्र शिव का महत्व विष्णु से पूर्वकाल का था। जैसा कि ऊपर देखा गया है, गृह्यसूत्रों में भी जो रुद्र शिव का वर्णन मिलता है, वह भी साम्प्रदायिकता से दूर है। पतञ्जलि के समय में भी शिव, स्कन्द एवं विशाख की प्रतिमाएँ मिलती हैं, वे भी सर्वमान्य के लिए ही थीं, किसी सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं। इस प्रकार रुद्र शिव का उक्त स्वरूप किसी प्रकार भी साम्प्रदायिक न होकर सर्वमान्य का आराध्य रूप था।

शैव सम्प्रदायों की उत्पत्ति एवं विस्तार

पतञ्जलि ने शैव सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। शिव सम्प्रदाय के अनुयायी शिव को भगवान् या भागवत मानने के कारण शिव भागवत कहलाते थे। महाभारत के नारायणीय भाग में पाशुपत सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है।[3] इसके अतिरिक्त शिव-श्रीकण्ठ को पाशुपत सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का

---

१. वामनपुराण, ६।८६-८१।

२. I do not however deny the posibility that when the 5 KV in iv. 2 speaks of the god Iśana as presiding over every yoni, and in v.2. of the lord as pyesiding one are forms & yonis, an allumion to the phynicatfoet of the Livga Yoni consected together may home bel> must as ty??? the philosophical doctrine of gods prending one every creative earse.

Vaiṣṇavism Śaivisma, F.N. P. 114.

३. शन्तिपर्व, ३४६, ५, ६४।

आविष्कारक कहा गया है। वायुपुराण (अ. २३) एवं लिंगपुराण (अ. २४) के अनुसार महेश्वर ब्रह्म देव
से कहते हैं कि अट्ठाईसवें कलियुग में कृष्णद्वैपायनव्यास के समय जब वासुदेव कृष्ण वसुदेव के पुत्र होंगे
तो वे एक मूल शरीर में प्रवेश करके लकुलीश के नाम से ब्रह्मचारी के रूप में अवतरित होंगे। लकुलीश
के चार शिष्य होंगे–कुशिक, गर्ग, मित्र तथा कौरूष्य। ऐसा कहा गया है कि ये पाशुपात भस्म धारण
करके रुद्रलोक को जायेंगे।

पाशुपात सम्प्रदाय के विकास के सम्बन्ध में कुछ एक शिलालेख भी अवलोकनीय हैं। एक
शिलालेख एक लिंग उदयपुर से उत्तर की ओर १४ कि. मी. के समीप नाथ मन्दिर में उत्कीर्ण है। इसमें
लिखा है कि शिव भृगुकच्छ ग्राम में एक ऐसे पुरुष के रूप में अवतरित हुए जिसके हाथ में लकुल
अर्थात् गदा है। एक अन्य शिलालेख के अनुसार शिव, भट्टारक लकुलीश के रूप में अवतरित हुए, जिसके
हाथ में लकुल अर्थात् गदा है। एक अन्य शिलालेख के अनुसार शिव, भट्टारक लकुलीश के चार शिष्य
थे–कुशिक, गार्ग्य, कौरुष्य एवं मैवेय। ये चार शिष्य पाशुपत धर्म के चार सम्प्रदायों के जन्मदाता हुए।
उपर्युक्त शिलालेखों में प्रथम शिलालेख का काल ८६१ई०, तथा द्वितीय शिलालेख का काल, १२६६–१२८६ई०
है। मैसूर (हैमवती) में प्राप्त ८४३ई० के एक अन्य शिलालेख के अनुसार लकुलीश ने अपने नाम एवं
सिद्धान्तों की रक्षा के लिए मुनिनाथ चिल्लुक के रूप में पुनः जन्म ग्रहण किया था।[1] मधवाचार्य ने
सर्वदर्शनसंग्रह के अन्तर्गत पाशुपत सिद्धान्त का वर्णन किया है। उन्होंने इसे लकुलीश पाशुपत कहा है।
माधव के कथनानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि लकुलिन् या लकुली नाम का कोई व्यक्ति विशेष था, जो
लकुट या लगुड धारण करता था।

वैशेषिक-सूत्र के भाष्यकार प्रशस्तपाद, अपने भाष्य के अन्त में कणाद की स्तुति करते हुए
कहते हैं कि योगध्यान से महेश को प्रसन्न कर उनकी कृपा से कणाद ने सूत्रों का प्रणयन किया था।
इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कणाद पाशुपत अथवा शैव सिद्धान्त के अनुयायी थे।
वात्स्यायन के न्यायभाष्य के वार्त्तिककार उद्योतकर भारद्वाज को पाशुपताचार्य कहा गया है। कुषाण काल
के एक राजकुमार वेम-कदाफिसिस्स (Wema-Kadphises) के सिक्के में एक ओर उसे महेश्वर
के भक्त के रूप में दिखाया गया है, तथा दूसरी ओर शिव एवं नन्दी को चित्रित किया गया है। राजकुमार
का काल द्वितीय शताब्दी है। छठी शताब्दी के अन्त में वराहमिहिर ने यह नियम बनाया था कि शम्भु
की मूर्त्ति का पुजारी शैव सम्प्रदाय का होना चाहिए, तथा उसे भस्म धारण करनी चाहिए।

षड्दर्शनसमुच्चय के लेखक हरिभद्र सूरि ने गोतम एवं कणाद को शैवधर्म का अनुयायी कहा
है। ह्वेनसांग ने सातवीं शताब्दी के मध्य में, अपने ग्रन्थ में बारह वार पाशुपत का उल्लेख किया है।
कादम्बरी में, बाण ने रक्तवस्त्रधारी पाशुपतों का उल्लेख किया है, जो शुकनास से मिलने के लिए जाते
हैं। भवभूति ने भी मालतीमाधव के तृतीय अंक में मालती के सम्बन्ध में कहा है कि वह अपनी माँ
के साथ भगवान् शंकर के मन्दिर में जाती है।

उपर्युक्त संकेतों से यह स्पष्ट है कि रुद्र-शिव का सिद्धान्त एक सामान्य देव शिव सिद्धान्त
के रूप में विकसित हुआ था। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कालिदास, सुबन्धु, बाण, श्रीहर्ष,

---

१. Journal, B.B.R.A.S. Vol. XXII. PP. 151&153.

महानारायण, भवभूति एवं अनेक अन्य कवि एवं नाटककार सामान्य शिव का ही मङ्गलाचरण करते हैं, किसी सम्प्रदाय विशेष के शिव का नहीं। इसी प्रकार प्राचीन चालुक्यों एवं राष्ट्रकूटों के द्वारा बनाए गए मन्दिरों एवं एलोरा के मन्दिरों में भी किसी सम्प्रदाय विशेष के शिव की उपलब्धि नहीं होती। इस प्रकार दशवीं शताब्दी तक शिव का एक सामान्य देव के रूप में विकास हुआ था, जो सामान्य रूप से सब के वन्द्य थे। अब यहाँ पाशुपत सिद्धान्त, शैव सिद्धान्त, वीरशैव सिद्धान्त एवं काश्मीर शैवसिद्धान्त एवं साहित्य का स्वतन्त्र रूप से निरूपण करना समीचीन होगा।

पाशुपत-सिद्धान्त एवं साहित्य

पाशुपत-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक नकुलीश या लकुलीश हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, ये हाथ में लगुड धारण करते थे। लकुलीश का समय १०५ई० माना जाता है। भगवान् शंकर के अठारह अवतारों में लकुलीश प्रथम अवतार माने जाते हैं। ये बारह अवतार हैं–लकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्रेय, कौरुष, ईशान, पारगार्य, कपिलाण्ड, मनुष्यक अपरकुशिक, अत्रि, पिंगलाक्ष, पुष्पक, बृहदार्य, अगस्ति, सन्तान, राशीकर एवं विद्यागुरु।

पाशुपात-सिद्धान्त के विषय में जो यत् किंचित् साहित्य उपलब्ध है, उसमें सर्वदर्शनसंग्रह, हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय में पाशुपतसिद्धान्त का थोड़ा-बहुत सिद्धान्त निरूपण मिलता है। इसके अतिरिक्त काश्मीरक भासर्वज्ञ (८००ई०) की गणकारिका में भी पाशुपत, सिद्धान्त का निरूपण उपलब्ध होता है। सत्कार्यविचार ग्रन्थ के अन्तर्गत भी पाशुपत सिद्धान्त की व्याख्या एवं पुष्टि मिलती है। पाशुपत सिद्धान्त साहित्य के सम्बन्ध में महेश्वररचित पाशुपतसूत्र (कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थी भाष्य सहित) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पाशुपत-सूत्र के अन्तर्गत पाशुपत-सिद्धान्तों की प्रामाणिक विवेचना प्रस्तुत की गई है।

शैव-सिद्धान्त एवं साहित्य

शैव-सिद्धान्त के प्रमुख तीन सिद्धान्त हैं–पति, पशु एवं पाश। पति स्वयं भगवान् शिव हैं। भगवान् शिव जीवों के कर्मानुसार फल प्रदान करते हैं। पशु जीव है। पशु स्वरूप जीव भगवान् शिव की अद्भुत कृपा से पाश अर्थात् बन्धन से मुक्त हो जाते हैं एवं शिव स्वरूप को प्राप्त करते हैं, किन्तु शिव के स्वरूप को प्राप्त जीव स्वतन्त्र न होकर भगवान् शिव पर ही निर्भर रहते हैं। शैवसिद्धान्त के अनुसार बन्धन (पाश), मल, कर्म, माया एवं रोधशक्ति के भेद से चार प्रकार का है। मल जीव की ज्ञान शक्ति को तिरोहित कर लेता है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि धान की भूसी छिलका चावल को आवृत कर लेता है। फल-प्राप्ति की दृष्टि से किए गए वस्त्र का संस्कार 'कर्म' है। बीजांकुर के समान कर्म अनादि है। जिसमें प्रलयकाल में समस्त विश्व समाहित हो जाता है, एवं जिससे प्रलय के पश्चात् सृष्टि होती है, वह माया है। रोधक शक्ति भगवान् शिव की वह शक्ति है, जो शिव के स्वरूप को तिरोहित किए रहती है। रोधक शक्ति वाक् स्वरूप है, जिसके द्वारा सांसारिक वस्तुओं के लहनुरूप नाम निर्धारित किए जाते हैं।[1]

---

१. शम्भुदेव, शैवसिद्धान्तदीपिका, शोलापुर, १९००।

पति, पशु एवं पाश में प्रत्येक के विद्या, क्रिया, योग एवं चर्या ये चार भाग हैं। पाशुपात सिद्धान्त की अपेक्षा शैव सिद्धान्त अधिक तर्कसंगत एवं युक्तियुक्त है। शैव सिद्धान्त को सिद्धान्तसार एवं शास्त्रसंगत कहा गया है। वायवीयसंहिता में इसे सिद्धान्त सम्प्रदाय कहा है। पाशुपात सिद्धान्त एवं शैव सिद्धान्त, दोनों ही द्वैतवादी हैं। दोनों स्वीकार करते हैं कि जीव एवं परम तत्त्व शिव भिन्न-भिन्न हैं, तथा जगत् का कारण प्रधान (प्रकृति) है।

उत्तरकाल में जिस शैव सिद्धान्त का विकास हुआ, उसका आधार शम्भुदेवकृत शैवसिद्धान्तदीपिका एवं शिव-कण्ठशिवाचार्य के द्वारा प्रस्तुत शैव-सिद्धान्त एवं वायवीयसंहिता हैं। वायवीयसंहिता के अनुसार शिव ऐसी शक्ति से विशिष्ट हैं जो जीवों एवं भौतिक जगत् की सृष्टि में समर्थ है। अत एव यह सिद्धान्त रामानुज के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के समीप है, क्योंकि विशिष्टाद्वैत में भी ईश्वर चित् एवं अचित् से विशिष्ट है। जिन आचार्यों ने शैव सिद्धान्त के विकास में विशेष योगदान किया, उसमें उग्र ज्योति के शिष्य सद्योज्याति (८वीं शताब्दी) विशिष्ट हैं। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ, गौरखागम की वृत्ति, नरेश्वर-संहिता, तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, परमोक्षनिरास की टीका भी शैव सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। रामकण्ठ (११वीं शताब्दी) ने सद्योज्योति के ग्रन्थों पर महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी है। इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में प्रकाश (नरेश्वरपरीक्षा), मातङ्गवृत्ति, नादकारिका, मोक्षकारिकावृत्ति, परमोक्षकारिकानिरासवृत्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त रामकण्ठ के शिष्य श्रीकण्ठ-सूरिरचित रत्नत्रय, भोजराज रचित तत्त्वप्रकाशिका, अघोरशिवाचार्य (१२वीं शता.) द्वारा प्रणीत तत्त्वप्रकाशिका एवं नाटकारिका की वृत्तियाँ भी शैव सिद्धान्त के विशिष्ट ग्रन्थ हैं।

कापाल एवं कालामुख सम्प्रदाय

कापाल एवं कालामुख, दो भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय थे। किन्तु इनमें कोई विशेष भेद नहीं था। कापाल या कापालिक सम्प्रदाय के लोग कपाल धारण करते थे, एवं कपाल में ही भोजन करते थें, इसीलिए ये कापाल या कापालिक कहलाते थे। कापालिक स्वीकार करते थे कि कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि भस्म एवं यज्ञोपवीत, इन छः मुद्राओं के धारण करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कालामुख सम्प्रदायी भी कपाल पात्र में भोजन करते थे। ये शरीर पर शव भस्म पोतते थे, लगुड धारण करते थे, तथा मदिरा घट की स्थापना करते थे। इस प्रकार इनके कृत्य नितान्त तामसिक एवं भयावह थे। इनका नाम कालामुख इसीलिए पड़ा होगा, क्योंकि ये भस्म से अपना मुख काला कर लेते थे।

माधवाचार्य ने शङ्करदिग्विजय (दशम अध्याय) में उज्जयिनी में शङ्कराचार्यों एवं कापालिकों की भेंट की चर्चा की है। कापालिकों ने शङ्कराचार्य से भैरव की उपासना तथा अपने सिद्धान्तों के पालन का आग्रह किया, किन्तु शङ्कराचार्य ने इसे किञ्चित् मात्र स्वीकार नहीं किया। मालतीमाधव के टीकाकार जगद्धर ने कापालिक व्रत का मतव्रत के रूप में उल्लेख किया है। यह उचित ही प्रतीत होता है, क्योंकि नासिक जिले के कापालेश्वर के मन्दिर में रहने वाले संन्यासी महाव्रती कहलाते थे।

वीरशैव एवं लिंगायत सम्प्रदाय

वीरशैव मत के प्रवर्त्तक मादीराज के पुत्र बसव थे। ये आराध्य सम्प्रदाय के ब्राह्मण थे। इनका वर्णन १८०५ में पूजा से प्रकाशित बसवपुराण में मिलता है। बसव का वर्णन एक जैन विद्वान् रचित विज्जलराय चरित ग्रन्थ में भी उपलब्ध होता है। वीरशैवमत सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म 'स्थल' कहलाता है। स्थल इसलिए कहलाता है, क्योंकि ब्रह्म अथवा शिवतत्त्व में जगत् प्रकृति एवं पुरुष से उत्पन्न होकर स्थित रहता है, किन्तु इसके पश्चात् उसी शिवतत्त्व में समाहित हो जाता है। 'स्थल' की शक्ति में आन्तरिक क्षोभ होने पर, यह लिंगस्थल एवं अंग स्थलरूप में विभक्त होता है। लिंगस्थल शिव अथवा रुद्र स्वरूप है। अंगस्थल जीव स्वरूप है। लिंगस्थल होने के कारण ही, इस सम्प्रदाय का नाम लिंगायत प्रचलित हुआ है। इसी प्रकार शक्ति के भी दो रूप हैं–एक शिव की शक्ति अर्थात् कला और दूसरी जीव की शक्ति अर्थात् भक्ति।

शिवलिंग शिव का केवल बाह्य दिन ही नहीं है, अपितु स्वयं शिवतत्त्व ही है। लिंगस्थल के तीन भेद है–भावलिंग, प्राणलिंग एवं इष्टलिंग। भावलिंग सत् स्वरूप, प्राणलिंग मनसा ध्येय एवं रचित स्वरूप एवं इष्टलिंग आनन्द स्वरूप है। इसे इष्टलिंग इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसकी उपासना से समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं। ऐसा भी माना जाता है कि इष्टलिंग की उपासना अभीष्ट होने के कारण इसे इष्टलिंग कहते हैं।

वीरशैव मत का समारस्य सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है, जिसके अनुसार जीव शिव के आनन्दमय स्वरूप के साथ समरसता प्राप्त कर आनन्द का अनुभव करता है। वीरशैव मत का यह सिद्धान्त शाङ्कर अद्वैतमत से इस अर्थ में भिन्न है कि इसके अनुसार न जीव एवं शिव (ब्रह्म स्वरूप) में अद्वैत भाव है और न वीरशैव मत के अनुसार शिव की शक्ति वेदान्त की माया के समान मिथ्या है। रामानुज ने भी माया के मिथ्यात्व का खंडन किया है। अतः वीरशैव सिद्धान्त रामानुज के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के समीप है। किन्तु दोनों का यह सूक्ष्म भेद द्रष्टव्य है कि विशिष्टाद्वैत मत में ब्रह्म के चिदचिद्विशिष्ट होने के कारण, उसमें जीव एवं जगत् के उत्पत्ति बीज निहित हैं, किन्तु वीरशैव सम्प्रदाय के अनुसार शिव की शक्ति ही जीव-जगत् की उत्पत्ति में समर्थ है।

लिंगायतों में सर्वोच्च लिंगी ब्राह्मण हैं। दूसरे लिंगायत उनके अनुयायी हैं। लिंगी ब्राह्मणों के भी दो भेद हैं–आचार्य एवं पंचम। आचार्य ब्राह्मण एवं जंगम कहलाते थे, पंचम वैश्य थे। ब्राह्मणों एवं वैश्यों के द्विज कहलाए जाने के कारण दोनों की गणना लिंगी ब्राह्मणों में की जाती थी। ब्राह्मणों के उपनयन अथवा यज्ञोपवीत संस्कार के समान लिंगायतों में शिवलिंग ग्रहण संस्कार किया जाता है, जिसके अन्तर्गत ये यज्ञोपवीत के स्थान पर शिवलिंग धारण करते हैं। गायत्री मंत्र के स्थान पर ये 'नमः शिवाय' इस पंचाक्षर मन्त्र का प्रयोग करते हैं। लिंगायत सदैव गले में या बाहु में शिवलिंग धारण करते हैं।

वीरशैव मत का प्रवर्त्तन रेणुका, वारुक, एकाराम, पण्डिताराध्य एवं विश्वाराध्य नामक आचार्यों ने किया था। कहा जाता है कि ये आचार्य क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ, मल्लिकार्जुन एवं विश्वनाथ नामक शिवलिंगों से आविर्भूत हुए थे। यह भी प्रसिद्ध है कि रेणुराचार्य ने मैसूर में वीरसिंहासन की, बासफाचार्य ने उज्जायिनी में सद्धर्म सिंहासन की, एकोरामाचार्य ने अरवीमठ में सूर्य सिंहासन की पण्डिताराध्य ने श्री शैल पर सूर्य सिंहासन की तथा विश्वाराध्य ने काशी में (जंगमवाड़ी) ज्ञान सिंहासन की स्थापना की थी। काशीपति (१०६०ई०) रचित ब्रह्मसूत्र का श्रीकरभाष्य वीरशैव मत का विशेष ग्रन्थ है। शिवयोगी शिवाचार्य प्रणीत सिद्धान्तशिखामणि भी वीरशैव मत का एक प्रमुख ग्रन्थ है। सम्प्रति काशी में जंगमवाड़ी मठ के प्रमुख अधिष्ठाता महास्वामी डा. चन्द्रशेखर जी हिरेमठ वीरशैव मत का विशेष प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। वीरशैव मत का विशेष प्रचार कर्नाटक एवं महाराष्ट्र राज्यों में दृष्टिगोचर होता है।

उत्तरकालिक अद्वैतिक का सैद्धान्तिक रूप

उत्तरकालिक अद्वैतिक शैवदर्शन का प्रचार क्षेत्र काश्मीर होने के कारण ही इस दर्शन का नाम काश्मीर शैवदर्शन पड़ गया है। सूक्ष्म समीक्षा करने पर काश्मीरी शैवदर्शन के भी दो शास्त्रीय रूप मिलते हैं–एक स्पन्ददर्शन और दूसरा प्रत्यभिज्ञादर्शन। अतः यहां दोनों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विवेचन करना उपयुक्त होगा।

स्पन्ददर्शन–स्पन्ददर्शन के प्रवर्तक स्पन्दकारिका के लेखक वसुगुप्त हैं। वसुगुप्त के ही शिष्य कल्लट स्पन्ददर्शन के प्रथम आचार्य हैं। इन्होंने स्पन्दकारिका पर स्पन्दसर्वस्व नामक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त क्षेमराज आदि स्पन्ददर्शन के कतिपय अन्य आचार्य भी मिलते हैं। स्पन्ददर्शन के अनुसार शिव सर्वोच्च तत्व है। यह शिवतत्त्वकर्ता एवं कर्म तथा ज्ञाता एवं ज्ञेय रूप है। यद्यपि यह शिव तत्व जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में गतिशील रहता है परन्तु इसका ज्ञातृतव कभी नष्ट नहीं होता। स्पन्ददर्शन का परमात्मा शिव सुख-दुःख, ज्ञान, ज्ञातृत्व एवं जडत्वादि से रहित होकर अद्वैततत्व रूप है[1]।

स्पन्ददर्शन के शिवतत्त्व को संसार की सृष्टि के लिए न 'प्रधान' जैसे उपादानकारण की आवश्यकता है और न अद्वैतवेदान्तियों की माया की ही आवश्यकता है[2]। इसके अतिरिक्त स्पन्ददर्शन के अनुयायियों का शिवतत्त्व स्वयं उपादानकारण भी नहीं है। वह स्वेच्छा से जगत् की सृष्टि करता है। इस प्रकार स्पन्ददर्शन के अन्तर्गत परमात्मा संकल्प मात्र से अपने अद्वितीय स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति

---

१. स्पन्दकारिका, पृष्ठ २६।
२. वही०, पृष्ठ ५।

और संहार का कारण है[1]। यदि कहा जाए कि बिना उपादान कारण आदि की सहायता के परमेश्वर शिव किस प्रकार जगत् की सृष्टि रचना में समर्थ होता है, तो इस सम्बन्ध में यह कहना संगत होगा कि जिस प्रकार मृत्तिका एवं बीजादि कारण के बिना ही योगियों की इच्छा मात्र से घट आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर भी बिना उपादानादि कारण के जगत् की सृष्टि करने में समर्थ होता है।[2] स्पन्दशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त ने भी परमेश्वर को उपादानादि सामग्री एवं भित्ति के बिना जगत् रूप चित्र का निर्माता कहा है।[3]

जहाँ तक अनेक जीवों का प्रश्न है, यह परमेश्वर शिव के ही रूप हैं। परमेश्वर शिव अपनी माया शक्ति के द्वारा अनेक जीवों के रूप में दृष्टिगोचर होता है और अपनी व्यतिरिक्त पराशक्ति को ज्ञान एवं ज्ञेय भाव से अवभासित करता हुआ जाग्रत्, स्वप्न दशा के व्यवहार का संचालन करता है।[4]

स्पन्ददर्शन के आधार पर भगवान् शिव एवं जगत् की अद्वैतता का निरूपण करते हुए स्पन्दकारिका के टीकाकार क्षेमराज का कथन है कि भगवान् शिव अपने स्वातन्त्र्य भाव से अपृथक् जगत् के रूप को स्वभित्ति पर उसी प्रकार पृथक् रूप से प्रकाशित करता है, जिस प्रकार कि दर्पण नगर वास्तविक नगर से अपृथक् होते हुए भी पृथक् रूप से प्रकाशित होता है।[5] जहाँ तक परमात्मा शिव का जगत् के व्यवहारों से लिप्त होने का प्रश्न है, वह जगत् के व्यवहारों से उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार कि दर्पण प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थों से अस्पृष्ट रहता है। इस प्रकार स्पन्ददर्शन के आचार्यों ने शिव की परमार्थ एवं अद्वैत तत्त्व के रूप में स्थापना करते हुए अद्वैतवाद सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। स्पन्ददर्शन के अनुसार जीव और शिव में अभेद है। परन्तु जीव 'मल' के कारण शिव रूपता को प्राप्त करने में असमर्थ होता है। इस 'मल' में तीन भेद हैं– आणव, मायीय और कार्मण। आणव मल के कारण जीव अज्ञान के कारण अपने व्यापक स्वरूप को भुलाकर अपने में अपूर्णता का अनुभव करता

---

१. अनेन स्वभावस्यैव शिवात्मकस्य संकल्पमात्रेण जगदुत्पत्तिसंहारयोः कारणत्वम् ।–स्पन्द-कारिका–१ पर कल्लट की वृत्ति।

२. माधवाचार्यः, सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ १७४।

३. अत एवोक्तं वसुगुप्ताचार्यैः–
निरुपादानम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।।
–माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ १७४-१७।

४. परमेश्वर एव स्वमायावशान्नानाक्षेत्रज्ञरूपतयावभासमानः स्वामेव व्यतिरिक्तां परां शक्तिं ज्ञानज्ञेयभावेनावभासयन् जागरस्वप्नदशाव्यवहारमुद्भावयति। –स्पन्दकारिका १८ पर राम की टीका; तथा देखिए–*N.B. Utagikar*: Report on Search for Sanskrti for 1883-84. (Collected Works of Sir R.G. Bhandarkar, Vol. 2, page, 204).

५. अपितु स एव भगवान् स्वस्वातन्त्र्यादनतिरिक्तामपि अतिरिक्तामिव जगद्रूपता स्वभित्तौ दर्पणनगरवत् प्रकाशयन् स्थितः। –स्पन्दकारिका २ पर क्षेमराज की टीका, स्पन्दनिर्णय।

है। इसके साथ ही साथ आणव मल के कारण जीव देहादि को आत्मरूप मान लेता है। दूसरे प्रकार का मल 'मायीय' मल है। मायीय मल के प्रभाव के कारण जीव देह रूप में संसार में भ्रमण करता है। अन्तःकरणादि की प्रेरणा से जब इन्द्रियाँ क्रियाशील होती हैं तो कार्मण मल की उत्पत्ति होती है। कार्मण मल की उत्पत्ति का कारण वह कर्म हो सकता है, जिसके विषय में कर्ता की सुख एवं दुःख के दाता सत् और असत् कर्म की धारणा बन गई है।[1]

उपर्युक्त 'मल' का मूल 'नाद' है। नाद शिव की शक्ति का स्त्री रूप है। उसी से शब्द की उत्पत्ति होती है। नाद के मल का मूल कारण यह है कि शब्द के बिना कर्म के अपरिचित होने से निज वैभव प्रकट नहीं करता। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अन्तर्गत परमेश्वर अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। इन अनन्त शक्तियों में चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ विशेष हैं। परमेश्वर अपनी चित् शक्ति से प्रभावित होकर ही विभिन्न जागतिक विषयों के रूप में भासित होता है। यह परमेश्वर का योगी रूप है। इस प्रकार योगी रूप में परमेश्वर अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं रखता।[2] इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन के अन्तर्गत परमेश्वर शिव अद्वैत सत्य रूप हैं। आनन्द शक्ति के द्वारा परमेश्वर स्वाभाविक आह्लद का निरपेक्ष अनुभव करता है। इच्छाशक्ति के कारण परमेश्वर स्वतन्त्र अबाधित इच्छाशक्ति से सम्पन्न है। ज्ञान शक्ति से वह आनन्द ज्ञान सम्पन्न है और क्रियाशक्ति से उसमें सर्वाकार ग्रहण करने की योग्यता है।[3]

अद्वैत सत्य रूप परमेश्वर शिव को सिद्ध करने के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह सर्वप्रमाणपुष्ट है। तन्त्रालोककार ने शिवतत्त्व का वर्णन मायाण्ड संज्ञित ब्रह्म के रूप में किया है।[4] तन्त्रालोक के उक्त प्रकरण में मायाण्ड के द्वारा मायीय शिव की सृष्टि बतलाई गयी है, परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त द्वारा निर्दिष्ट परमात्मा की माया अद्वैतवेदान्त एवं सांख्यादि की माया से भिन्न है। उन्होंने माया को गोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्ति के रूप में चित्रित किया है।[5] इसके अतिरिक्त राजानक क्षेमराजाचार्य ने परमेश्वर की माया के स्वरूप का निरूपण प्रकृति,[6] आवरणशक्ति,[7] एवं शक्ति[8] के रूप में ही बहुलता के साथ किया है।

---

१. देखिए–क्षेमराज, शिवसूत्रविमर्शिनी, सूत्र, १,२ और ३ (Published by the Kashmir Government).

२. चिद्गगनचन्द्रिका, श्लोक ५६।

३. कुलार्णवतन्त्र, १।११०।

४. सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं मयोच्यते।
विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये महानिर्वाणतन्त्र, २।७।

५. कर्पूरादिस्तवराज, १०। तथा देखिए–कर्पूरादिस्तवराज १० की व्याख्या–गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास।

६. Poussins's Opinions, pp. 403, 405, 406.

७. *D.C. Sen* History of Bengali Language & Literature, p. 251.

८. S.K. Belvalkar and Ranade : History of Indian Philosophy, vol. VII, p. 5, Poona 1933. Sāṅkhya system, p. 9.

काश्मीरी शैवदर्शन का ईश्वराद्वयवाद

क्रमणिका–शैव तन्त्र साधना का प्रमुख तत्त्व है। वैदिक काल से लेकर आज तक के साहित्य में शिव तत्त्व की साधना के अनेक रूप मिलते हैं। यद्यपि एस० के० बेलवल्कर एवं आर० डी० रानाडे प्रभृति भारतीय दर्शन के समालोचक विद्वानों ने शैव तन्त्र का मूल उद्गम महाभारत से ही माना है, परन्तु इस लेखक के दृष्टिकोण से शिवतत्त्व का मूल स्रोत हमें किसी न किसी रूप में ऋग्वेद में ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। ऋग्वेद में रुद्र के स्वरूप का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है।[1] ऋग्वेद के अन्तर्गत ही रुद्र शिव को सर्वोच्च शक्ति का रूप दिया जा चुका था।[2] यजुर्वेद का शतरुद्रीय अध्याय तो शिवाराधना के लिए प्रसिद्ध ही है। इस अध्याय के अन्तर्गत एक रुद्र के स्थान पर अनेक रुद्रों की चर्चा मिलती है। इसके अतिरिक्त रुद्र के लिए पशुपति, कपर्दी, शर्व, शम्भु और शिव आदि शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। अथर्ववेद के अन्तर्गत रुद्र के स्वरूप का वर्णन और उच्चतर स्थिति के रूप में किया गया है। अथर्ववेद में भी रुद्र के अनेक नामों की चर्चा है, परन्तु वहाँ रुद्र के पृथक्-पृथक् नामों के अनुसार पृथक्-पृथक् देवताओं की कल्पना भी की गई है। उदाहरण के लिए, रुद्र के नामों में से भव और शर्व को अथर्ववेद में पृथक्-पृथक् देवताओं के रूप में चित्रित किया गया है और इन्हें द्विपदों एवं चतुष्पदों का शासक कहा गया है।[3] शतपथब्राह्मण एवं कौषीतकि ब्राह्मण में रुद्र को उषस् का पुत्र बतलाया गया है।[4] उक्त ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति द्वारा दिए गए रुद्र के अष्ट नामधेयों–रुद्र, शर्व, उग्र, अशनि, भव, पशुपति, महादेव और ईशान नामों की चर्चा भी मिलती है। इनमें रुद्र, शिव, उग्र और अशनि संहार शक्ति के सूचक हैं और भव, पशुपति, महादेव और ईशान आरम्भक शक्ति के। गृह्य सूत्रों में रुद्र का उल्लेख भयानक देव के रूप में मिलता है।[5] उपनिषदों में भी रुद्र शिव के स्वरूप का वर्णन विविध रूप से मिलता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्तर्गत महेश्वर को मायी कहा गया है।[6] केनोपनिषद् में संकेत रूप से शिव की पत्नी के रूप में उमा की चर्चा मिलती है (केनोपनिषद् ३।१२)। उत्तरकालिक उपनिषद् अथर्वशीर्ष में रुद्र का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। अथर्वशीर्षोपनिषद् में रुद्र का ब्रह्म रूप में भी वर्णन मिलता है।[7] वैदिक साहित्य के अतिरिक्त पुराणों में शिव-वर्णन के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत अर्जुन के पाशुपतास्त्र माँगने और उसके प्राप्त करने का वर्णन किया गया है। अनुशासन पर्व में कृष्ण के द्वारा महादेव के माहात्म्य का वर्णन भी मिलता है। शिवपुराण का तो प्रधान विषय ही शिव के स्वरूप, माहात्म्य एवं साधना का निरूपण है।

शैव सम्प्रदाय–वामनपुराण के अन्तर्गत शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक के भेद से

---

१. ऋग्वेद ७।४६।३, १।११।१, ७।४६।२, १।४३।४, २।३३।४, १।११४।८।

२. Collected Works of Sir R. G. Bhandar, Vol. IV, p. 146.

३. अथर्ववेद, ४।१८।१।

४. शतपथ-ब्राह्मण, ६।१।३।७, कौषीतकि-ब्राह्मण, ६।१।६।

५. Collected Works of Sir R. G. Bhandar, Vol. VII, p. 151.

६. मायिनं तु महेश्वरम् ।श्वे० उ० ४।१०।

७. अथर्वशीर्षोपनिषद्–३३।

चार सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है।[1] शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में माहेश्वरों के मत का उल्लेख किया हैं।[2] माहेश्वर शब्द को स्पष्ट करते हुए भामतीकार एवं रत्नप्रभाकर ने वामनपुराण के कालदमन के स्थान पर कारुणिक सिद्धान्ती नामक सम्प्रदाय की चर्चा की है। अन्य सम्प्रदाय वामनपुराण के समान ही माने हैं।[3] कारुणिक सिद्धान्ती के ही स्थान पर शांकर भाष्य के टीकाकारों के कारुक सिद्धान्ती नामक सम्प्रदाय का भी संकेत किया है।[4] रामानुज तथा केशव काश्मीरी ने कारुक सिद्धान्ती के स्थान पर कालामुख नामक सिद्धान्त का उल्लेख किया है।[5] यामुनाचार्य ने भी कालामुख नामक सम्प्रदाय का निर्देश किया है।[6] इस प्रकार पाशुपत, शैव, कालामुख, और कापालिक, शैवों के ये चार विशेष सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त वीरशैव मत एवं काश्मीर शैव-मत के नाम से दो और उत्तरकालिक सम्प्रदाय मिलते हैं। वीरशैव मत का प्रचार दक्षिण भारत में हुआ था और काश्मीर शैव-मत का प्रचार-प्रसार उत्तर भारत में किया गया था।

उपर्युक्त षट् सम्प्रदायों में से पाशुपत एवं शैव सम्प्रदाय द्वैतवाद के समर्थक हैं। उक्त दोनों सम्प्रदायों के अन्तर्गत जीव (पशु) एवं शिव दोनों की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है। इन सम्प्रदायों में प्रधान को जगत् का उपादानकारण सिद्ध किया गया है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उत्तर कालिक शैव सिद्धान्त द्वैतवदी न होकर विशिष्टाद्वैतवाद का समर्थक प्रतीत होता है। वायवीयसंहिता आदि उत्तरकालिक शैव सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अनुसार शिव उस शक्ति से सम्पन्न कहा गया है, जिसमें जीव और जगत् के सूत्र तत्त्व वर्तमान हैं। इसके अतिरिक्त कापालिक एवं कालामुख सम्प्रदाय भी द्वैतानुसर्ता ही हैं। अद्वैतवेदान्त के प्रस्थापक शंकराचार्य और कापालिक का विरोध तो प्रसिद्ध ही है। जहाँ तक कालामुख सम्प्रदाय का प्रश्न है, यह भी कापालिक सम्प्रदाय का ही उत्कृष्ट रूप है। जहाँ तक वीरशैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त की समस्या है, इस सिद्धान्त के अन्तर्गत शिव को 'स्थल' कहा गया है। यह 'स्थल' भी अद्वैतवादियों के ब्रह्म की तरह सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है। परन्तु दोनों सिद्धांतों में यह विशेष अन्तर है कि वीरशैवसिद्धान्त के अनुरूप 'स्थल' अपनी सूक्ष्म शक्ति के द्वारा लिंगस्थल एवं अंगस्थल रूपों में विभक्त हो जाता है। लिंगस्थल स्वयं शिवरूप तथा आराध्य है और अंगस्थल जीव का स्वरूप है। वीरशैवसिद्धान्त के उक्त कथन के विपरीत अद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जीव ब्रह्म का अंश या भाग न होकर अविद्योपाधिक है। इसके साथ ही साथ अद्वैत मत के अनुयायी एवं वीरशैव मतानुयायी के शक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त में भी अन्तर है। अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुरूप जहाँ परमात्मा

---

१. वामनपुराण, ६।८६।६१।

२. ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३७।

३. चत्वारो माहेश्वराः–शैवाः, पाशुपताः, कारुणिकसिद्धान्तिनः, कापालिकाश्चेति। रत्नप्रभा ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३७ तथा देखिए–ब्र० सू०, शा० भा० २।२।३७ पर भामती।

४. Collected Works of Sir R.G. Bhandarkar, Vol. IV, p. 172.

५. वही, p. 172.

६. आगमप्रामाणय, पृष्ठ ४८-४६।

की शक्ति माया मिथ्या है, वहाँ वीरशैव सिद्धान्त के अन्तर्गत 'स्थल' रूप भी शक्ति में जीव एवं जगत् के मूल तत्त्व वर्तमान हैं। अतः वीरशैव सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद के समीप न होकर–रामानुजाचार्य के विशिष्ट द्वैतवाद सिद्धान्त के समीप है। परन्तु विशिष्टाद्वैतवाद एवं वीरशैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त में भी सूक्ष्म भेद विचारणीय है कि विशिष्टाद्वैतवाद मत में ब्रह्म के चिदचिद्विशिष्ट होने के कारण उसमें जीव एवं जगत् के मूल तत्त्व स्थित हैं, जब कि वीरशैव सिद्धान्त के अन्तर्गत यह शिव की शक्ति ही है, जिसके द्वारा वह सृष्टि करता है। उपर्युक्त पाशुपतादि पाँच सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त काश्मीरी शैवदर्शन के अन्तर्गत अद्वैतवाद का बहुत कुछ समर्थन मिलता है।

प्रायः काश्मीरशैवदर्शन के मूल लेखकों एवं आलोचकों ने स्पन्ददर्शन एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों का पृथक्-पृथक् निरूपण एवं विवेचन न करके दोनों सिद्धान्तों को मिला दिया है। स्वयं माधवाचार्य ने ही स्पन्ददर्शन एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन का पृथक् रूप से विवेचन नहीं किया है। यद्यपि डा० ब्यूहलर ने माधवाचार्य द्वारा सर्वदर्शनसंग्रह के अन्तर्गत विवेचित शैवदर्शन को स्पन्ददर्शन का ही रूप माना है[1], परन्तु ब्यूहलर महोदय का उक्त कथन नितान्त असंगत है। अपने मत की पुष्टि में मेरा तर्क है कि माधवाचार्य ने प्रत्यभिज्ञादर्शन को स्पष्ट करते हुए शिवसूत्र–'चैतन्यमात्मा' तथा वसुगुप्त की एक कारिका को उद्धृत किया है।[2] इसके विपरीत माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह के अन्तर्गत शैवदर्शन का विवेचन करते समय स्पन्ददर्शन के प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त अथवा उनके किसी ग्रन्थ का उल्लेख तक नहीं किया है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माधवाचार्य द्वारा विवेचित शैवदर्शन को स्पन्द दर्शन का मौलिक एवं सही सैद्धान्तिक रूप नहीं कहना चाहिए। इसके अतिरिक्त माधवाचार्य द्वारा विवेचित शैवदर्शन एवं वसुगुप्त के स्पन्ददर्शन में भेद भी है। उदाहरण के लिए, शैवदर्शन में शिव केवल निमित्तकारण है उपादानकारण नहीं,[3] परन्तु स्पन्ददर्शन के अन्तर्गत परमेश्वर शिवसंकल्प मात्र से ही सृष्टि की उत्पत्ति करता है। जहाँ तक स्पन्ददर्शन एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन के सैद्धान्तिक भेद का प्रश्न है, नीचे दिए गए विवेचन के अनुसार वह पूर्णतया स्पष्ट है।

स्पन्ददर्शन एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों के अन्तर्गत यह मौलिक भेद है कि स्पन्दशास्त्र के अनुसार ध्यान के द्वारा साधक को पहले भैरव या महेश्वर का चित्त दर्शन होता है और फिर समस्त मलों की निवृत्ति होती है, जिससे परमेश्वर का साक्षात्कार होता है, इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अन्तर्गत जीव का अपने को ईश्वर रूप जानना ही परमेश्वर के साक्षात्कार का साधन है।[4] प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के प्रतिपादक आचार्य सोमानन्दनाथ का मत है कि एक बार प्रत्यक्षादि प्रमाण अथवा गुरुवाक्य यद्वा दृढ़ युक्तियों से सर्वभावस्थ शिवत्व का ज्ञान होने पर फिर अन्य साधनों अथवा भावना का प्रयोजन नहीं

---

१. Dr. Buhler's Report, 1875-1876.

२. Bibl. Ind. Ed. 94-95.

३. Collected Works of Sir R.G. Bhandarkar, Vol. 9, p. 202, 203.

४. वही, Vol. IV, p. 187.

है। उदाहरण के लिए, सुवर्णादि का यथार्थ ज्ञान होने पर उसके साधन कसौटी आदि से प्रयोजन नहीं होता।

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, परन्तु उक्त दोनों शैवदर्शन-पद्धतियों के अन्तर्गत अद्वैतवाद की ही पुष्टि मिलती है। दोनों ही दर्शन-पद्धतियों में जीव एवं परमात्मा के ऐक्य की बात कही गयी है। दोनों ही के दार्शनिक विचारों के अनुसार जीव परमशिव रूप होते हुए भी अज्ञानवश अपने स्वरूप को भूला रहता है। सृष्टि, परमेश्वर की इच्छा-शक्ति का फल है, यह सिद्धान्त भी दोनों ही पद्धतियों में मान्य है। इस प्रकार स्पन्दवादी एवं प्रत्यभिज्ञावादी, दोनों ही ईश्वराद्वयवाद के समर्थक हैं। यहाँ काश्मीरी शैवदर्शन के इन स्पन्दवाद एवं प्रत्यभिज्ञावाद सिद्धान्तों का वेदान्तिक अद्वैतवाद के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का ईश्वराद्वयवाद और वेदान्तिक अद्वैतवाद (तुलनात्मक विवेचन)

काश्मीरी शैवदर्शन के अन्तर्गत स्पन्ददर्शन एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन दोनों ही अद्वैतवाद की पुष्टि करते हैं। परन्तु इन शैव सिद्धान्तों एवं वेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त में समानता के साथ ही असमानता भी है। यहाँ इन दर्शन सिद्धान्तों की अद्वैतवाद सिद्धान्त के साथ समानता तथा असमानता के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

वेदान्तिक अद्वैतवाद और स्पन्दवाद तथा प्रत्यभिज्ञावाद, इन तीनों सिद्धान्तों में तत्त्वतः जीव एवं परमात्मा का ऐक्य स्वीकार किया गया है। यह बात दूसरी है कि वेदान्तिक अद्वैतवाद के अन्तर्गत सर्वोच्च सत्ता ब्रह्म कहलाती है और इन शैव सिद्धान्तों में सर्वोच्च सत्ता को शिव कहा गया है। शैव-दर्शन के ग्रन्थों में शिव का ब्रह्मरूप में वर्णन भी उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कि वेदान्तिक अद्वैतवाद के अनुसार अविद्या जीव के स्वरूपज्ञान में बाधक है, उसी प्रकार स्पन्दशास्त्र के अन्तर्गत आणव, मायीय और कार्मण मल जीव के परमेश्वर-साक्षात्कार में बाधा उत्पन्न करते हैं। अद्वैत-वेदान्त की अविद्यानिवृत्ति के समान ही स्पन्ददर्शन में भी जब उक्त विविध मल का नाश हो जाता है, तो जीव को परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। इस त्रिविध मल का निरूपण हम स्पन्ददर्शन का विवेचन करते समय कर चुके हैं। स्पन्ददर्शन में आचार्य क्षेमराज ने जगत् के सम्बन्ध में जो दर्पणनगर का दृष्टान्त दिया है, उसमें परमात्मा के, जगत् से अस्पृष्ट रहने का तात्पर्य ही प्रमुख है। शांकर-वेदान्त के अन्तर्गत भी परमात्मा माया और मायिक जगत् से अस्पष्ट ही रहता है।

उपर्युक्त समानताओं के आधार पर स्पन्ददर्शन पर वेदान्तिक अद्वैतवाद का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। परन्तु उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त वेदान्तिक अद्वैतवाद एवं स्पन्ददर्शन के अद्वैतवाद में भेद भी मिलता है। उदाहरण के लिए, अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म, माया शक्ति के द्वारा जगत् का उपादानकारण एवं निमित्तकारण दोनों है, परन्तु स्पन्ददर्शन के अनुसार परमेश्वर को जगत् की सृष्टि

---

१. सर्वशब्देन उपादानादिनैरपेक्ष्यं कर्तुर्ध्वनितम्।
–स्पन्दकारिका २ पर क्षेमराज की टीका।

के लिए उपादानादि की अपेक्षा नहीं है।[1] वह तो संकल्प मात्र से ही जगत् की सृष्टि करता है। इसके साथ-साथ वेदान्तिक अद्वैतवाद एवं स्पन्दवाद का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि वेदान्तिक अद्वैतवाद में जगत् मायिक होने के कारण मिथ्या है, परन्तु स्पन्ददर्शन के अनुसार जगत् परमेश्वर की इच्छा से उत्पन्न होने के कारण सत्य है। यहाँ यह विशेष रूप से विचारणीय है कि जगत् के शिवस्वरूप होने के कारण स्पन्ददर्शन की अद्वैतता में बाधा नहीं पड़ती।

प्रत्यभिज्ञादर्शन की प्रत्यभिज्ञा अद्वैतवेदान्त के स्वरूपज्ञान का ही अपर नाम है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुरूप जीव वस्तुतः शिव रूप ही है, परन्तु अज्ञानवश शिवरूपता को भूला रहता है। जब जीव को अपने शिव का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है तो वह स्वयं शिवरूप हो जाता है। यही बात वेदान्त के अद्वैतवाद के सम्बन्ध में भी है। जीव अविद्यावंश अपने स्वरूप ब्रह्म को भूला रहता है और जब अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तो जीव ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद दोनों के ही अनुसार जीव स्वरूपतः शिव एवं ब्रह्म रूप है। परन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन और वेदान्तिक अद्वैतवाद में उपयुक्त साम्य होते हुए भी भेद की रेखा भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। बिना किसी उपादान के महेश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति वेदान्तिक अद्वैतवाद के विपरीत है। जैसा कि कहा जा चुका है, प्रत्यभिज्ञादर्शन में, वेदान्तियों के अद्वैतवाद की तरह परमेश्वर माया के कारण जगत् का उपादान कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञादर्शनानुगत महेश्वर की इच्छा एवं क्रिया शक्तियाँ भी अद्वैत वेदान्त के पारमार्थिक एवं कूटस्थ ब्रह्म के लक्षणों के विपरीत हैं।

अभी जो विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि काश्मीरशैवदर्शन के स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के ईश्वराद्वयवाद के सिद्धान्त शंकराचार्यप्रतिपादित अद्वैतवाद से अभिन्न एवं भिन्न दोनों हैं। परन्तु उपर्युक्त साम्यमूलक अध्ययन के आधार पर यह कहना पक्षपातपूर्ण न होगा कि काश्मीर-शैवदर्शन का ईश्वराद्वयवाद का सिद्धान्त शांकरवेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त से पूर्णतया प्रभावित है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन

प्रत्यभिज्ञादर्शन, स्पन्ददर्शन एक षडर्ध क्रम-विज्ञान के नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रत्यभिज्ञादर्शन का त्रिक सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत पर, अपर एवं परापर ये तीन तत्त्व (त्रिक) माने जाते हैं। **परत्रिक**–शिव, शक्ति एवं उनका संयोग समन्वय है, **अपरत्रिक** शिव, शक्ति तथा नर है, एवं परा, अपरा, परापरा, ये तीन अधिष्ठात्री देवियाँ परस्पर त्रिकस्वरूप हैं। एतदंनुसार नागरी लिपि के प्रथम छः अक्षर अ, आ, इ, ई, उ एवं ऊ उसी उन्मेष क्रम के प्रतिनिधि हैं, जिस क्रम से अनुत्तर, आनन्द, इच्छा, ईशान, उन्मेष तथा ऊर्मि शक्तियों का परमतत्त्व के साथ उल्लास होता है। इनमें अनुत्तर इच्छा एवं उन्मेष (ह्रस्वत्रय) प्रधान हैं, यही चित्, इच्छा एवं क्रम हैं। अनुत्तर, इच्छा एवं उन्मेष पर ही आनन्द-शक्ति, ईशान-शक्ति एवं ऊर्मिशक्ति आधारित हैं।

---

१. यदि निर्विमर्शः स्याद् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत्। क्षेमराज, प्रवेशिका।।

२. अकृत्रिमोऽहमिति विस्फुरणम्। क्षेमराज, पराप्रवेशिका पृ० २।

परासंवित् (परमतत्त्व)

परमतत्त्व ही चित् अथवा परासंवित् के नाम से विज्ञात है। प्रत्यभिज्ञादर्शन का यह अद्भुत सिद्धान्त है। वस्तुतः चित् वह निरपेक्ष सत्ता है, जो किसी अन्य ज्ञान पर आधारित नहीं है। चित् या परासंवित् वेदान्त के परमतत्त्व अर्थात् ब्रह्म जैसा ही है। जिस प्रकार परप्रकाशस्वरूप ब्रह्म समस्त विश्व का प्रकाशक है, उसी प्रकार परासंवि भी जगत् की प्रकाशिका है। परन्तु वेदान्त के ब्रह्म की तुलना में चित् अथवा परासंचित् की यह विशेषता द्रष्टव्य है, कि परासंवित् अर्थात् परमतत्त्व प्रकाश के साथ विमर्शस्वरूप भी है। विमर्श का अर्थ प्रत्यभिज्ञादर्शन के अन्तर्गत 'स्वयं की पूर्णता' का ज्ञान है। यही 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता' का अनुभव है। यदि देखा जाय तो स्वयं की पूर्णता का अनुभव (मैं स्वतन्त्र हूँ, या पूर्ण हूँ), अद्वैतवेदान्त के 'अहं ब्रह्मास्मि' अनुभव जैसा तो है। किन्तु काश्मीर-दर्शन में इसे 'विमर्श' कहा गया है। सामान्यतः विमर्श का अर्थ अनुसन्धान है। तदनुसार परमशिव मात्र प्रकाशस्वरूप नहीं है। यदि ऐसा होता तो वह मात्र जड होता,[1] किन्तु विमर्श शक्ति के द्वारा परमशिव को अपने शिवत्व का अनुसन्धान (ज्ञान) होता है। यह काश्मीर-दर्शन के आत्मबोध की सहज प्रक्रिया है।[2] इस प्रकार विमर्श शक्ति से सम्पन्न परमशिव ही विश्व की सृष्टि, रक्षा एवं संहार का कर्ता है। शंकराचार्य ने सौन्दर्य लहरी के अन्तर्गत परमशिव की शक्ति का उल्लेख करते हुए लिखा है-

"शिवाकारे मञ्चे परमशिव पर्यङ्क निलयाम् ।
भजन्ति त्वांधन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ।। सौन्दर्यलहरी,८।

चिति प्रत्यवमर्शस्वरूप है। यही परावाक्, पराशक्ति स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, स्फुरत्ता, सार, हृदय एवं स्पन्द नाम से ज्ञात है। सदाशिव शिव-शक्ति का आन्तर निमेष एवं ईश्वर बाह्य निमेष है। यह विचारणीय है, कि विमर्श के भी दो रूप हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विमर्श की एक स्थिति में 'अहं' का प्राधान्य होता है-'मैं स्वतन्त्र हूँ', एवं विमर्श का दूसरा स्वरूप वह है, जिसमें 'इदं' का प्राधान्य रहता है। 'इदं' के प्राधान्य से जगत् का स्पष्ट अनुभव होता है। ज्ञानदशा का नाम, सद् विद्या, शुद्ध विद्या या विद्या है। ज्ञान-दशा में 'अहम्' तथा 'इदम्' का उसी प्रकार ऐक्यानुभव सिद्ध होता है, जिस प्रकार 'तत्त्वमसि' में 'तत्' एवं 'त्वम्' का ऐक्य (अद्वैत) सिद्ध है। इस दशा में शिव को जगत् के वैभव की अनुभूति होती है। संक्षेप में, इस प्रकार कह सकते हैं, कि परासंवित् शिवशक्त्यात्मक रूप से सर्गात्मक है। सारांशतः यह उल्लेखनीय है, कि शिवतत्त्व में 'अहं' का विमर्श, सदाशिव में 'अहमिदं' (मैं यह जगत् हूँ) का विमर्श एवं ईश्वरतत्त्व के अन्तर्गत 'इदमिदम्' (यह जगत् है), इस प्रकार का विमर्श होता है।

माया

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की माया का स्वरूप वेदान्त की माया से भिन्न है। शिवतत्त्व के जिस 'अहमिदमंश' का ऊपर संकेत किया है, उसे पुरुष एवं प्रकृति का स्वरूप प्रदान करने वाली माया ही है। माया शिव के 'अहम्' अंश को 'पुरुष' एवं 'इदम्' अंश को 'प्रकृति' का स्वरूप प्रदान करती है। माया को काश्मीर दर्शन के अन्तर्गत 'कञ्चुक' का नाम दिया गया है। यदि देखा जाय तो यह कञ्चुक

(आवरण), वेदान्त में स्वीकृत माया की आवरण शक्ति के समान ही है। जिस प्रकार वेदान्त की माया ब्रह्म के स्वरूप को आवृत करती-सी प्रतीत होती है, उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन की माया भी कञ्चुक (आवरण) कहलाने के कारण जीव की शक्ति को आवृत करती है, एवं जीव को 'पुरुष' रूप प्रदान करती है। माया की कला, विद्या, राग, काल एवं नियति, ये पाँच उपाधियाँ हैं। इन्हीं के कारण माया 'कञ्चुक' कहलाती है। 'कला' जीव में वर्त्तमान सर्वकर्तृत्व शक्ति को संकुचित करती है। इसी कारण जीव में अल्पशक्तित्त्व आता है। जीव अल्पज्ञ है, एवं उसमें अल्पज्ञता लाने वाली 'विद्या' है। जीव स्वभाव से नित्यतृप्त है, अतः उसमें संकोच लाने वाला 'राग' तत्त्व है। स्वभावतः, विषयों में राग (आसक्ति) बढ़ने से नित्यतृप्तत्व की हानि होती है। नित्यत्व को अनित्यत्व प्रदान करने वाला तत्त्व 'काल' है। माया का 'निर्यात' (नियमन) स्वरूप जीव की स्वातन्त्र्य शक्ति को संकुचित करता है। इस प्रकार जैसा कि ऊपर कहा गया है, माया, कञ्चुक जीव की विविध स्वाभाविक शक्तियों में ह्रास उत्पन्न करते हैं।

त्रिकदर्शन में प्रत्यभिज्ञा की साधनता

त्रिकदर्शन के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञा मोक्ष के साधन रूप में वर्णित है। त्रिकदर्शन के अन्तर्गत चिदानन्द लाभ ही मोक्ष है। प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पहिचान या स्वरूपबोध के द्वारा साधक को चिदानन्द स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रत्यभिज्ञा के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के अन्तर्गत एक लौकिक दृष्टान्त के द्वारा कहा गया है, कि जिस प्रकार कोई सुन्दरी प्रेमपत्र अथवा दूती के माध्यम आदि उपायों से आए समीपस्थ नायक को देखकर हर्षित नहीं होती, क्योंकि उससे उसका परिचय नहीं है, किन्तु जब दूती के द्वारा नायिका से नायक का परिचय कराया जाता है, तो नायिका परमहर्षित एवं उल्लसित हो उठती है :-

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तालोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो,
नैवाऽलं निजवैभवाय व हि यं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता।।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ४।२।२।

इसी प्रकार साधक गुरु के द्वारा शिव तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होने पर आत्मचैतन्य के स्फुरण का अनुभव करता है। काश्मीर दर्शन का यही प्रत्यभिज्ञान है।

मोक्ष

भारतीय दर्शन के अनुसार मोक्ष मानव का परम उद्देश्य है, अत एव प्रायः प्रत्येक भारतीय दर्शन-पद्धति के अन्तर्गत मोक्ष के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचार किया गया है। मोक्षमार्ग में अज्ञान की बाधकता भी सामान्यतः स्वीकृत है। जीव का अपने चित् स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है। त्रिकदर्शन के अन्तर्गत अज्ञान का कार्य मल करता है। आणव, मायीय एवं कार्मण ये त्रिविध **मल** मोक्ष में बाधक हैं। इन मलों का निर्देश, इसी अध्याय के अन्तर्गत पहले भी किया जा चुका है। यहाँ,

यह संकेत आवश्यक है, कि मलों का प्रकाशन भी शिव की स्वतन्त्र शक्ति से होता है। उदाहरणार्थ, **आणव मल** शिव के अपने स्वरूप को आवृत करने की क्रिया है। आणवमल की इस क्रिया का परिणाम यह होता है, कि स्वतन्त्र चिद्रूप एवं प्रकाशस्वरूप शिव अणुत्व को प्राप्त होता है।[१] **मायीय** मल भेदबुद्धि उत्पन्न करने वाला है। आणवमल के परिणामस्वरूप जीव स्वयं को संकुचित प्रमाता समझने के कारण, भेदबुद्धि से चित्तत्त्व ज्ञेय विषयों को जडतत्त्व स्वरूप समझने लगता है। मायीय मल के परिणामानुसार जब साधक शुभाशुभ की कल्पना के द्वारा शुभ एवं अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है, तो यह **कार्मण** मल का प्रभाव होता है।

जहाँ तक मोक्ष का प्रश्न है, जीव की आत्मस्थ शिव की स्वतन्त्र शक्ति की प्रतीति ही मोक्ष है। अभिनवगुप्त के अनुसार 'स्वरूपप्रथन' मोक्ष है। 'स्वरूप प्रथन' शिवत्व के स्वरूप की प्रतीति है।[२] मोक्ष की यह स्थिति विमर्शस्वरूप संवित् का अनुभव है, जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है। जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत अविद्यानिवृत्ति मोक्ष है–"अविद्यानिवृत्तिर्मोक्षः", उसी प्रकार काश्मीर-दर्शन में भी अज्ञान-ग्रन्थि का भेद न होने पर स्वतन्त्र शक्ति की अभिव्यक्ति ही मोक्ष कहलाता है।[३]

काश्मीरदर्शन का त्रिकशास्त्र आणवादि मलों के प्रक्षालनार्थ 'समावेश' सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। 'समावेश' त्रिकशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है,[४] जिसका अर्थ सीमित जीव का शिव तत्त्व में लीन होना है। काश्मीर-शैवदर्शन में, समावेश के अन्तर्गत चार उपायों का निर्देश है। ये उपाय, आणवोपाय, शाक्तोपाय, शाम्भवोपाय तथा अनुपाय हैं। आणव उपाय के अन्तर्गत साधक बाह्य वस्तुओं के ऊपर स्वयं की भावना करते हुए, समस्त जगत् में शक्ति के प्रसार तथा व्यापकतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है। यह उपाय ध्यानादि क्रिया के द्वारा साध्य है, अत एव इसे 'क्रियोपाय' भी कहा गया है। सिद्धि के निमित्त क्रियमाण जपादि अनुष्ठान भी आणवोपाय के अन्तर्गत ही आते हैं। **शाक्तोपाय** के माध्यम से साधक शिव के साथ अद्वैतभाव की प्राप्ति करते हुए चरम अद्वैत ज्ञान की अनुभूति करता है।[५] यही कारण है, कि शाक्तोपाय को 'ज्ञानोपाय' भी कहते हैं। शाम्भवोपाय के अन्तर्गत साधक अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा शिवत्व की उपलब्धि करता है। इसीलिए इसे 'इच्छोपाय' भी कहते हैं। यह शाम्भवोपाय इसलिए कहलाता है, क्योंकि इसमें शम्भु अर्थात् शिव की प्राप्ति का प्रयत्न वर्त्तमान है।[६] शाम्भवोपाय की पराकाष्ठा 'अनुपाय' है।[७] वस्तुतः, यह कोई उपाय विशेष नहीं है, अत एव इसे अनुपाय कहा गया है।

---

१. देवः स्वतन्त्ररूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीडा योगदोऽस्त्वनेकशः।। तन्त्रालोक, ८।१।

२. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः। तन्त्रालोक।

३. मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः।। परमार्थसार, ६०।

४. उच्चारकरणध्यान-वर्ण-स्थान-प्रकल्पनैः।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते।। मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, २।२१।

५. विज्ञानभैरवविवृत्तिः, पृ० १६।

६. अविकल्पस्वरूपपरिशीलनात्मा शाम्भवावेशः।

७. स एव परांकाष्ठां प्राप्यानुपाय इति कथ्यते। तन्त्रालोक-टीका, पृ० १८२।

'अनुपाय' के अन्तर्गत वेदान्त के 'तत्त्वमसि' जैसे उपदेश के सदृश गुरूपदेश ही, साधक को शिवत्व का बोध कराने के लिए पर्याप्त होता है।

आचार्य परम्परा

इस सिद्धान्त के उद्गम के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि परम शिव ने अद्वैतमत के प्रचार के लिए दुर्वासा को अद्वैतपरक शैवदर्शन के प्रचार करने को कहा। कहा जाता है कि दुर्वासा ने अम्बकादित्य नामक मानस पुत्र को जन्म दिया। इस अम्बकादित्य द्वारा प्रवर्तित होने के कारण, इस शास्त्र का नाम अम्बकशास्त्र भी पड़ा। अम्बकादित्य की परम्परा में ही सोलहवें व्यक्ति संगमादित्य थे। संगमादित्य काश्मीर में बस गए थे। संगमादित्य की चौथी पीढ़ी में सोमानन्द नाम के प्रसिद्ध तान्त्रिक विद्वान् हुए। सोमानन्द ने ही सुप्रसिद्ध ग्रन्थ शिवदृष्टि का प्रणयन किया था। संगमादित्य की परम्परा में ही वर्षादित्य, अरुणादित्य, आनन्द एवं सोमानन्द थे।[४] इसी परम्परा में राजानक रामकण्ठ नामक आचार्य हुए। इन्होंने कल्लटप्रणीत स्पन्दकारिका की विवृत्ति तथा भगवद्गीता का विवरण प्रस्तुत किया है। भगवद्गीताविवरण से यह ज्ञान होता है कि वे मुक्ताकण के अनुज एवं उत्पलदेव के शिष्य थे। मुक्ताकण अवन्तिवर्मा (८५५-८८८ई०) के समकालीन थे। रामकण्ठ (पूर्वोक्त) का स्थिति-काल भी नवम शताब्दी का मध्यकाल है। रामकण्ठ के गुरु उत्पलदेव ८२५ई. के लगभग हुए थे। अतः उत्पलदेव के गुरु सोमानन्द का समय ८००ई० के आस-पास मानना संगत होगा। यहाँ यह तथ्य विचारणीय है कि अम्बकादित्य का समय, जिन्होंने उपर्युक्त त्रिकदर्शन की स्थापना की थी, सोमानन्द से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व होना चाहिए। इसका कारण यह है कि अम्बकादित्य सोमानन्द से बीस पीढ़ी पूर्व थे। इस प्रकार इस परम्परा के आधार पर यह सिद्ध होता है कि तीसरी शताब्दी के लगभग काश्मीर में प्रत्यभिज्ञादर्शन का उद्गम हुआ था।

वर्गीकरण की दृष्टि से अद्वैत-समर्थक त्रिक-साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–आगमशास्त्र, स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। आगमशास्त्र के प्रवर्त्तक स्वयं भगवान् शिव हैं। आगमशास्त्रीय ग्रन्थों में मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, विज्ञानभैरव, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र, स्वायम्भुवतन्त्र एवं रुद्रयामल गृहीत हैं।

सोमानन्द (८००ई. का प्रारम्भ)

ये प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रमुख ग्रन्थ शिवदृष्टि के प्रणेता हैं। शिवदृष्टि के सात सौ श्लोक सात आह्निकों में विभक्त हैं। शिवदृष्टि पर उत्पलाचार्य की अपूर्ण वृत्ति उपलब्ध होती है।

उत्पलदेव (८२५-८५०ई.)

जैसा कि कहा जा चुका है, उत्पलदेव सोमानन्द के शिष्य थे। उत्पलदेव के पिता का नाम उदयाकर एवं पुत्र का नाम विभ्रमाकर था। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका प्रत्यभिज्ञादर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

---

४. देखें, शिवदृष्टि, ६।११४-१२०।

ग्रन्थ है। इसमें चार अध्याय हैं। काश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान् अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञाकारिका पर विमर्शिनी नाम्नी वृत्ति का प्रणयन किया था। उत्पलदेवरचित एक स्तोत्र ग्रन्थ शिवस्तोत्र भी मिलता है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञादर्शन के आधारभूत पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है–

सूत्रं वृत्तिर्विवृत्तिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरण-विवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः।।

अभिनवगुप्त (८५०-१०००ई.)

अभिनवगुप्त के गुरु का नाम लक्ष्मणगुप्त था, एवं इनके परम गुरु उत्पलाचार्य थे। भारतीय वाङ्मय में अभिनवगुप्त ही एक ऐसे परमाचार्य हैं, जिन्होंने, काव्य शास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं तन्त्र के क्षेत्र में अद्भुत कीर्ति प्राप्त की थी। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोक पर लोचन का निर्माण करके, अभिनव गुप्त ने एक अक्षुण्ण देन प्रदान की है। काश्मीर शैवदर्शन (त्रिकदर्शन) के क्षेत्र में, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार मलिनी विजयवार्तिक, परमार्थसार एवं परात्रिंशिकावृत्ति की रचना करके अभिनवगुप्त अमर हो गए हैं। इसी प्रकार इनका तन्त्रालोक तन्त्र पर एक प्रौढ़ स्तम्भ हैं। इनके गुरु महान् मनीषी शम्भुनाथ के शिष्य थे। शम्भुनाथ अर्धत्र्यम्बक मत के आचार्य थे। यह कहा जाता है कि ये मत्स्येन्द्रनाथ मत के सिद्ध कौल थे।

क्षेमराज (८६५-१०२५ई.)

इनके प्रसिद्ध ग्रन्थों में, शिवसूत्रविमर्शिनी, स्वच्छन्दतन्त्र, विज्ञानभैरव, उद्योत टीका (नेत्रतन्त्र पर), प्रत्यभिज्ञाहृदय, स्पन्द-सन्दोह एवं शिवस्तोत्रावली की टीका हैं। काश्मीर शैवदर्शन के क्षेत्र में क्षेमराज का नाम अत्यन्त समादृत है।

यों तो प्रत्यभिज्ञादर्शन के क्षेत्र में, अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, किन्तु इनमें योगराज (१०६० ई०) प्रणीत परमार्थसार टीका, जयरथ (११८०) प्रणीत तन्त्रालोक की टीका भास्करकण्ठ (१६८०) कृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञा टीका, महेश्वरानन्दप्रणीत महार्थमञ्जरी (परिमल सहित) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

स्पन्ददर्शन की आचार्य परम्परा

वसुगुप्त

वसुगुप्त (८१०-८३५ई.) प्रणीत स्पन्दकारिका स्पन्ददर्शन का मौलिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में तीन निस्पन्द एवं इक्यावन कारिकाएँ हैं। स्पन्दकारिका सिद्धान्त ग्रन्थ है। इसमें किसी अन्य सिद्धान्त के सम्बन्ध में अनुनय नहीं है। स्पन्ददर्शन के प्राणग्रन्थ शिवसूत्र के रचयिता भी वसुगुप्त ही हैं। यह

भी प्रचलित है कि भगवान् श्रीकण्ठ ने वसुगुप्त को स्वप्न में यह आदेश दिया था कि वे महादेवगिरि की एक चट्टान पर लिखे शिवसूत्रों का उद्गार करें। क्षेमराज ने शिवसूत्र पर शिवसूत्रविमर्शिणी की रचना की थी।

कल्लट

कल्लट वसुगुप्त के शिष्य थे। इनका समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। कल्लट ने अपने गुरु वसुगुप्त द्वारा प्रवर्तित एवं प्रतिष्ठापित स्पन्द-सिद्धान्त को ही दृढ़ एवं प्रचारित किया था।

क्रमदर्शन

अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक में, यों तो प्रत्येक आदिम में ही क्रमदर्शन का वर्णन मिलता है, किन्तु चतुर्थ आह्निक के अन्तर्गत विशेष रूप से क्रम दर्शन सम्बन्धी उल्लेख मिलता है। यह एक अद्वैतवादी दर्शन है। क्रमदर्शन के अनुसार परम या पर तत्त्व निर्विकल्पक रूप है, एवं उसके ज्ञान स्वरूप मोक्ष का साधन 'विकल्प संस्कार' है, झटिति न होकर क्रमशः उत्पन्न होता है, अत एव इस दर्शन का नाम 'क्रमदर्शन' है। क्रमदर्शन, कालीनय, देवीनय एवं औत्तराम्नाय के रूप में भी प्रसिद्ध है। कालीनय के अनुसार, काली परमतत्त्व है,[१] जो शिव की शक्तिस्वरूपा देवी है, अतः इसे 'देवीनय' भी कहते हैं। क्योंकि क्षित्यादि पञ्चतत्त्व शिव के उत्तर मुख से उत्पन्न होते हैं इसीलिए क्रमदर्शन को औत्तराम्नाय भी कहते हैं। उत्तर मुख दक्षिण का विरोधी है, अतः क्रममार्ग वाममार्ग भी कहलाता है। क्रमदर्शन के औत्तराम्नाय कहलाने में यह भी एक कारण है कि काश्मीर का उल्लेख तन्त्र ग्रन्थों में उत्तरपीठ के नाम से मिलता हैं। अतः क्रमदर्शन के उत्तर पीठ में प्रचलित होने के कारण, क्रमदर्शन का नाम औत्तराम्नाय प्रसिद्ध हुआ है।

---

१. प्रकाशाख्या संवित् क्रमविरहिता शून्यमहतो,
बहिर्लीलायन्त्रं प्रसरति समाच्छादकतया।
ततोऽप्यन्तःसारे गलितरमसाहक्रमतया,
महाकाली सेयं मम कलयतां कालमखिलम् ।।

क्रमदर्शन के आचार्य एवं साहित्य

अभिनवगुप्त

जैसा कि ऊपर कहा गया है, अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक में कुल (कौलमार्ग) एवं त्रिकदर्शन के साथ-साथ क्रम दर्शन का उल्लेख यत्र तत्र उपलब्ध होता है। जयरथ ने भी तन्त्रालोक की टीका में 'क्रम' सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किया है। अभिनवगुप्त प्रणीत एक क्रम स्तोत्र भी मिलता है, जिसके अन्तर्गत, अनाख्य चक्र में उपास्य द्वादश देवियों का वर्णन उपलब्ध होता है।

क्षेमराज

ये अभिनवगुप्त के शिष्य थे। इन्होंने क्रमस्तोत्र पर एक समृद्ध टीका का प्रणयन किया था।

गोरक्ष

गोरक्ष का दूसरा नाम महेशानन्द था। ये चोलदेशीय थे। इसके द्वारा महार्थमञ्जरी का प्रणयन किया गया था। क्रमदर्शन का यह विशिष्ट ग्रन्थ है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त, शिवानन्दनाथ, एरफ, ह्रस्वनाथ एवं सोमराज के क्रम सम्बन्धी मतों का उल्लेख भी काश्मीर दर्शन के ग्रन्थों में मिलता है। क्रम दर्शन कतिपय अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं, जिनमें, क्रमसूत्र, पञ्चशतिक एवं महानयप्रकाश उल्लेखनीय हैं।

रसेश्वरदर्शन

माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह नकुलीश पाशुपात, शैव एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के रसेश्वर दर्शन का अतिरिक्त भी उल्लेख किया है। रसेश्वर दर्शन के अन्तर्गत रस शब्द का अर्थ पारद है। यही पारद ईश्वर है, क्योंकि यह पारह ही जीव को भवसागर से मुक्त करता है।[1] वस्तुतः पारद को शिव का वीर्य कहा गया है, एवं गन्धक को पार्वती का रज। इन दोनों के संयोग से निर्मित भस्म का प्रयोग मनुष्य शरीर को दिव्यता प्रदान करता है। पारे के स्पर्श से लौह भी स्वर्ण बन जाता है। वास्तविकता तो यह है कि जब तक मनुष्य के शरीर में दृढ़ता नहीं होगी, तब तक योगाभ्यास नहीं होगा, एवञ्च योगाभ्यास के बिना मोक्ष कहाँ सम्भव है।[2] इस प्रकार रसेश्वरदर्शन के अनुसार रस (पारद) स्वरूप ईश्वर के सेवन से दृढ़ एवं शक्तिशाली शरीर की प्राप्ति कर जीव जीवन्मुक्ति की प्राप्ति करता है। सत्यता यह है कि जो मनुष्य पारद रस का प्रयोग करते हैं वे जरामरण के भय से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं–

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।। भर्तृहरि।

---

१. संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः।

२. इति धनशरीरभोगान् ममत्वाऽनित्यान् सदैव हतवीर्यम्।
मुक्तौ सा च ज्ञानात् तच्चाभ्यासात् स च स्थिरे हे हे।। गोविन्द भगवत्पाद, रसहृदयतन्त्र।

समालोचक विद्वानों ने व्याकरण के प्रतिष्ठापक पाणिनि को शैव दार्शनिक माना है। पतञ्जलि के महाभाष्य से भी उनके दार्शनिक होने का परिचय मिलता है। पाणिनि के सिद्धान्तों के व्याख्याता होने के कारण, नागेश की भी दार्शनिक दृष्टि थी। किन्तु प्रमुख वैयाकरण दार्शनिक भर्तृहरि ही थे। भर्तृहरि ने शब्दब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा की थी। शब्दब्रह्मवाद एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है, जिसका उद्देश्य अक्षरस्वरूप शब्दतत्त्व की ब्रह्म रूप से प्रतिष्ठा करना है। शब्दब्रह्मवाद के अन्तर्गत जगत् शब्द ब्रह्म का 'विवर्त' है। वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिका के अन्तर्गत भर्तृहरि के शब्दब्रह्मवाद सिद्धान्त का बीजरूप स्पष्ट है–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम् ।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।। वाक्यपदीय, १।१।

विवर्त्तवाद के अनुसार जगत् स्फोटरूप शब्द का विवर्त्त है। इस प्रकार भर्तृहरि के दर्शन का प्रमुख तत्त्व वाक्तत्त्व है। उपर्युक्त कथन के अनुसार वाक् तत्त्व ही सृष्टि का मूल है–"वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे"। शब्दब्रह्मवादी वैयाकरणों ने वाक्तत्त्वों की चार रूपों में व्याख्या की है। ये चार तत्त्व, परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी हैं। किन्तु भर्तृहरि 'पश्यन्ती' पर ही विशेष बल देते हैं। पश्यन्ती वाक् ही "शब्दब्रह्मस्वरूपिनी है। जिस प्रकार अद्वैतदर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म अद्वैतवाद सिद्धान्त का आधार है, उसी प्रकार भर्तृहरि के शब्दाद्वैत के अनुसार वाक्स्वरूप शब्दब्रह्म द्वैतवाद का प्रमुख आधार तत्त्व है। इसीलिए भर्तृहरि को अद्वैतवादी कहा जाता है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, पाणिनि को भी विद्वानों ने अद्वैतवादी सिद्ध करने का प्रयास किया है। जहाँ तक भर्तृहरि का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है, कि ये, उपर्युक्त चार वाक्तत्त्वों में पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी को ही मानते हैं। भर्तृहरि के अनुसार पश्यन्ती ही शब्दब्रह्मस्वरूपिणी है। हेलाराज ने भी पश्यन्ती को ही 'संवित्' एवं 'परा' रूप स्वीकार करते हुए, 'परा' को ब्रह्मस्वरूप एवं 'वैखरी' को विवर्त्त कहा है–

"संविच्च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यते, विवर्त्तदशायां तु वैखर्यात्मना भेदः" (हेलाराज, वाक्यपदीय ३, द्रव्यसमुद्देश, ११)। नागेश ने भी लघुमञ्जूषा के अन्तर्गत वाक्तत्त्व के चार भेद स्पष्ट किए हैं, जिनमें 'परा' की व्याख्या कौलमर्स के अनुसार की गई है। इस प्रकार पश्यन्ती ही भर्तृहरि के मतानुसार शब्दब्रह्मस्वरूपिणी है। यदि भर्तृहरि के दर्शन का अद्वैतवादी दृष्टि से विचार करें तो कहना होगा, कि जिस प्रकार वेदान्त में जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है उसी प्रकार कण्ठ, तालु आदि स्थानों से उच्चारित वैखरी 'पश्यन्ती' वाक् की अर्थकारणस्वरूप है। यही भर्तृहरि का शब्दार्थदर्शन है। जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत घटपटादिस्वरूप नामरूपात्मक जगत् अविद्यामात्र है, उसी प्रकार, भर्तृहरि के अनुसार भी बाह्यार्थ (बाह्य विषयों) की वासना के आश्रय से अविद्या के द्वारा सांसारिक पदार्थों (घट-पटादि) के रूप विवर्त्त से उत्पन्न दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार शब्दब्रह्म ही

---

१. वैखर्या मध्यमायाञ्च पश्यन्त्याञ्चैतदद्‌भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्याः वाचः परं पदम् ।

वाक्यपदीय, १।१४४

वेदान्त के समान अनादि अविद्या की वासना के कारण नानारूपात्मक जागतिक स्वरूप को विवर्त्त भाव से प्राप्त होता है। जागतिक नाना नामों की प्रकटनकर्त्री वैखरीवाक् है, तथा जागतिक विषयों की जननी अविद्या है। जिस प्रकार वेदान्त के अनुसार ब्रह्मज्ञानी मुक्ति प्राप्त करता है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म का ज्ञाता भी मोक्षलाभ करता है। जहाँ तक **मध्यमा** वाक् का प्रश्न है, यह बुद्धिस्थ है, तथा इसमें शब्द क्रमशः आभासित होते हैं। समस्त बौद्धिक चिन्तन मध्यमा वाक् के द्वारा होता है, तथा यह वैखरी के समान प्रकट न होकर अप्रकट ही रहती है। मध्यमा वाक् का संचार प्रमुख रूप से प्राणशक्ति के द्वारा होता है। यह भी उल्लेखनीय है, कि शब्द की तीन वृत्तियाँ–द्रुत, मध्यम तथा विलम्बित बतलाई गई हैं, तथा शब्द के पाँच भेद–उच्च, मंद, उपांशु, परमोपांशु तथा संहत्त क्रम हैं। इनमें उपांशु एवं परमोपांशु का सम्बन्ध 'मध्यमा' वाक् से है। उपांशु में शब्द अन्तर्गत ही रहते हैं, मुख से बाहर नहीं निकलते। जप उपांशु में ही किया जाता है। परमोपांशु वह है, जिसमें शब्द मात्र बुद्धिस्थ होते हैं। ये अनुच्चारित ही होते हैं। उपांशु एवं परमोपांशु का सूक्ष्म अन्तर यह है, कि उपांशु में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्राणवृत्ति की प्रमुखता होती है, जबकि परमोपांशु में बुद्धिवृत्ति का प्राधान्य रहता है। वैसे, प्राण का आधार तो दोनों में ही स्वभावतः स्वीकृत है। संक्षेपतः यह कह सकते हैं, कि 'मध्यमा' विवक्षा (वक्ता के बोलने की इच्छा) की स्थिति है, तथा वैखरी, उसका परिणाम अर्थात् ध्वनिस्वरूपिणी। पश्यन्ती एवं मध्यमा का भी यह सूक्ष्म अन्तर अवलोकनीय है, कि पश्यन्ती 'प्रतिसंहृतक्रमा' है। इसका आशय यह है, कि 'पश्यन्ती' में वर्णों के क्रम का निर्धारण नहीं होता। वह मूलतया निस्पंदरूपिणी होते हुए भी, स्पन्दस्वरूपा इसलिए कहलाती है, कि शब्द की अभिव्यक्ति में गति होती है। यह गति भी स्पन्दन है। वैखरी के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। यह प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली ध्वनि की वाणी है। भर्तृहरि का पदार्थदर्शन न्याय-वैशेषिक के सदृश है। इसके अतिरिक्त व्याकरणदर्शन के अन्तर्गत शक्ति, मीमांसादर्शन के समान एक पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार की गई है। प्रस्तुत निरूपण से व्याकरणदर्शन का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है, जिसका प्रमुख सिद्धान्त शब्दब्रह्मवाद अथवा शब्दब्रह्मद्वैतवाद है, तथा जिसके प्रधानाचार्य भर्तृहरि हैं। व्याकरण दर्शन के अन्य आचार्य, पाणिनि, पतञ्जलि, नागेश एवं वैयाकरणभूषणसार के प्रणेता कौण्डभट्ट आदि विद्वान् कहे जा सकते हैं।

शक्तिसिद्धान्त

शक्त्यद्वैतवाद तन्त्रशास्त्र के ही अंगभूत शाक्ततन्त्र का दार्शनिक सिद्धान्त है। **'तन्यते वितार्यते**

---

१. तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ।। क्रमिक आगम ।

२. स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता–ब्र० सू० शा० भा० २।१।१।

३. न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः ।
यतयो योगतन्त्रेषु यानि स्तुवन्ति द्विजातयः ।।
–महाभारत–बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५११ से उद्धृत।

ज्ञानमनेन', 'इति तन्त्रम्' के आधार पर जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है, उसे तन्त्र कहते हैं। उपर्युक्त कथन के अन्तर्गत तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति विस्तारार्थक तनुधातु से औणादिक ष्ट्रन् प्रत्यय के योग से सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त शैव-सिद्धान्त के 'क्रमिक आगम' के अन्तर्गत प्रदत्त तन्त्र की परिभाषा के आधार पर जो तत्त्व एवं मन्त्रों से समन्वित विविध विषयों का विस्तार से वर्णन करता है और साधकों की रक्षा करता है उसे तन्त्र कहते हैं।[1] क्रमिक-आगम की उक्त परिभाषा के अन्तर्गत ज्ञान के साथ साधना पक्ष को भी सम्मिलित किया गया है। सामान्यतया तन्त्र शब्द का प्रयोग सांख्य,[2] योग, न्याय और धर्मशास्त्र आदि के लिए भी मिलता है।[3] परन्तु उसका साधनामूलक तन्त्रशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं सिद्ध किया जा सकता। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ विकासशील सिद्धान्तों के आशय का साथ नहीं देते। इसका फल यह होता है कि व्युत्पत्ति पीछे रह जाती है और सिद्धान्त विकसित होता जाता है। आगे चलकर तो सिद्धान्त से व्युत्पत्ति का सम्बन्ध कभी-कभी गवेषणा करने पर भी नहीं मिलता। अतः विस्तारार्थक 'तनु' धातु के आधार पर तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति वर्तमान तन्त्र शास्त्र के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं करती। मेरे विचार से **जिस शास्त्र के अन्तर्गत साधना विशेष के द्वारा भोग एवं मोक्ष प्राप्ति की चर्चा मिलती है उसे 'तन्त्र' कहते हैं।** और संक्षेप में, साधना विशेष को तन्त्र कहा जा सकता है। इस प्रकार तन्त्र के अन्तर्गत साधना पक्ष एवं दर्शन पक्ष या अध्यात्म पक्ष दोनों का योग है। यह बात दूसरी है कि तन्त्रशास्त्र के अन्तर्गत प्राधान्य साधना पक्ष का ही है। यही विशेषता तन्त्र और अद्वैत वेदान्तादि दर्शन पद्धतियों से उसे पृथक करती है। वैसे, कतिपय तन्त्रग्रन्थ और अद्वैतवेदान्त दोनों का ही मूल एवं चरमलक्ष्य एक ही है। दोनों का मूल वैदिक दर्शन[4] एवं चरम लक्ष्यमोक्ष है। इस प्रकार तन्त्र और अद्वैत वेदान्त दोनों ही शास्त्रों के अन्तर्गत वैदिक एवं उपनिषद् सिद्धान्तों का ही विकास किया गया है, परन्तु तन्त्र और अद्वैत वेदान्त का यह भेद द्रष्टव्य है कि जहां तन्त्र में योग और भोग की योजना है वहां वेदान्तिक योग के अन्तर्गत जीव की जगत् से निवृत्ति के विचार का बलपूर्वक समर्थन किया गया

---

१. *Dr. P. C. Chakravarti's* article : Philosophy of the Tantras (Jha commemoration volume p. 94-95).

२. Tantra is a union of Yoga and Bhoga.... The Vedantic yoga insists upon the withdrawal and aloofness of the conscious soul or Purusa from the world of nature.
(Shuddhanand Bharati's preface, Tantra Raj Tantra, Ganesh & Co. Madras 1954) :

३. देखिए, श्रीकण्ठाचार्य–शैवभाष्य २।२।३८, मनुस्मृति २।१ पर कुल्लूकभट्ट की टीका, कुलार्णवतन्त्र २।१४०।

४. तन्त्रशास्त्र के अन्तर्गत शाक्त मत में पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव–यह तीन भाव हैं ओर इन तीन भावों के वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार–यह सात आचार हैं।

है।[1] यहाँ यह कहना और समीचीन होगा कि जहाँ तन्त्र की वैदिकता के अनेक प्रमाण मिलते हैं,[2] वहाँ कुछ तन्त्र सम्प्रदाय ऐसे भी हैं जो वेदबाह्य हैं। इन वेदबाह्य तन्त्र-पद्धतियों में प्रायः साधक के लिए मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन के प्रयोग का समर्थन करने वाले कुलाचार[3] का विशेष रूप से उल्लेख किया जाता है, परन्तु तन्त्र-ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि मद्यादि की स्थिति बाह्य न होकर सूक्ष्म है।[4] यहाँ हमारे विवेचन का विषय तन्त्रशास्त्र की वैदिकता अथवा अवैदिकता का निर्णय न होकर तन्त्रदर्शन के शाक्त-सम्प्रदाय के अनुगत शक्त्यद्वैतवाद एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद की तुलना करना है। परन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि तन्त्रगत कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड का मूलाधार बहुत कुछ वैदिकदर्शन ही है।[5]

प्रायः बड़े-बड़े विद्वान् समालोचक तन्त्र से केवल शक्तिसम्प्रदाय का ही अर्थ ग्रहण करते हैं जो नितान्त अनुचित है। तन्त्रशास्त्र के, ब्राह्मणतन्त्र, बौद्धतन्त्र और जैनतन्त्र के रूप में तीन प्रधान भेद हैं। ब्राह्मण-तन्त्रों के भी पांचरात्र, शैवागम और शाक्तागम रूप से तीन भेद हैं।

शक्त्यद्वैतवाद के मूल तत्त्व शक्ति की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता के विषय में यह कहना उचित ही होगा कि शक्ति का सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितनी ऋग्वेदसंहिता। ऋग्वेदसंहिता के वागाम्भृणी सूक्त के अन्तर्गत वाग्देवी का जो उल्लेख किया गया है,[6] उसे शाक्त तंत्रों के महान् प्रासाद की भित्ति कहा जा सकता है। प्राचीन उपनिषदों में शक्ति को सर्वोच्च तथा संसार की पालनकर्त्री कहा गया है।[7] पुराणों में शक्ति का वर्णन चण्डी एवं अन्य विविध देवियों के रूप में मिलता है। सप्तशती के अन्तर्गत समस्त विद्याओं और स्त्रियों को भी देवी के ही भेद के रूप में चित्रित किया गया है।[8]

---

१. कुलार्णव और गन्धर्वतन्त्र के अनुसार मद्य का अर्थ बाह्य मदिरा न होकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्र-कमल से क्षारित सुधा है, जिसका पान साधक खेचरी मुद्रा के द्वारा करता है। कुलार्णवतन्त्र के अनुसार जो पुरुष पुण्य और पापरूपी पशुओं को ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा मारकर अपने मन को ब्रह्म में लीन करता है, वह मांसभोजी है। आगमसार के अनुसार जो साधक प्राणायाम के द्वारा श्वास-प्रश्वास को बन्द करके कुम्भक के द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना के भीतर ले जाता है, वही यथार्थ रूप से मत्स्य साधना करने वाला है। शरीरस्थ इडा तथा पिंगला (गंगा यमुना) में प्रवाहित होने वाले श्वास और-प्रश्वास ही दो मत्स्य हैं। विजयतन्त्र के अनुसार असत् संग के त्याग का नाम मुद्रा है। मैथुन सहस्रार में स्थित शिव तथा कुण्डलिनी या सुषुम्ना तथा प्राण के मिलन का नाम है।

२. Jha Commemoration Volume, p.96.

३. ऋग्वेद, सं. १०।१।२५।

४. छा० उ० ३।१२ तथा देखिए बृ० उ० ५।१४।

५. दुर्गा सप्तशती ११।५।

६. *D. G. Sen* : History of Bengali Language & Literature, p. 261.

७. E. R. E, V. p. 118, Article—Durga.

८. *Mahamahopadhyaya Har Prasad Shastri* : Modern Buddhism, p. 27.

शक्ति का यह मातृ-उपासना का रूप भी अत्यन्त प्राचीन है। आरम्भ में यह उपासना अर्द्धनारीश्वर के रूप में होती थी।[१] इसके अतिरिक्त शबर एवं पुलिन्द भी शक्ति के उपासक थे।[२] कतिपय विद्वानों का मत तो यह भी है कि शक्तिपूजा का विकास बौद्धधर्म के माध्यम से ही सम्पन्न हुआ था।[३] बौद्धधर्म के अन्तर्गत धर्म की पूजा स्त्री देवता के रूप में होती थी। बौद्धों के द्वारा आदि माता एवं बुद्ध-माता के रूप में स्त्री देवता की पूजा की जाती थी। आदिमाता समस्त तथागतों की माता समझी जाती थी।[४] इसके अतिरिक्त नेपाली बौद्धधर्म के अन्तर्गत हमें शाक्त तन्त्र की तरह देवी के कुमारी एवं माता आदि अनेक रूप मिलते हैं।[५]

अद्वैतवादी का ब्रह्म और शक्त्यद्वैतवादी का शक्तितत्त्व

अद्वैतवाददर्शन के अनुसार ब्रह्म सर्वोच्च सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। अद्वैतवादी का यह ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है। शाक्त-दर्शन-पद्धति के अन्तर्गत ब्रह्म का स्थान शक्ति ने ग्रहण किया है। शाक्तदर्शन में शक्ति स्वयं ब्रह्मस्वरूपिणी है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द रूप है, उसी प्रकार शक्ति भी सच्चिदानन्द स्वरूपिणी है।[६] यदि कहा जाए कि शक्ति तो शक्तिमान् शिव में रहती है, अतः शक्ति ब्रह्मस्वरूपिणी किस प्रकार हो सकती है ? तो यह उचित नहीं है। क्योंकि शक्ति एवं शक्तिमान् में अभेद है।[७] अतः शक्ति ब्रह्मस्वरूपिणी है।[८] ब्रह्म एवं शक्ति दोनों ही जगत् के निमित्तकारण एवं उपादानकारण हैं। परन्तु दोनों की कारणता में यह विशेष अन्तर है कि ब्रह्म स्वयं निमित्तकारण एवं अपनी अनिर्वचनीय माया शक्ति के द्वारा उपादानकारण है और शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति स्वयं ही उपादानकारण एवं निमित्त दोनों है। हाँ, यह शक्ति भी चित् शक्ति के रूप में निमित्तकारण एवं माया शक्ति के रूप में उपादानकारण है। इस प्रकार ब्रह्म की माया शक्ति एवं शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति में अन्तर होने के कारण दोनों पद्धतियों के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी पर्याप्त भेद की स्थापना हो गई है। अतः हम यहाँ पहले अद्वैतवादी की माया शक्ति और शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति की तुलनात्मक समीक्षा करेंगे और फिर जगत् की।

---

१. *Nical Macnical* : Indian Theism p. 183. (Oxford University Press)
२. Modern Buddhism, p. 127.
३. कुलचूडामणितन्त्र, १।१६।
४. सौन्दर्यलहरी, श्लोक, १, शारदातिलकतन्त्र, पृ० ३।
Mahamaya, Introduction, p. 5, The World As Power p. 76.,
५. It is Brahman then, for power (Shakti) & the possessor of power (Shaktiman) are one & the samẹ, Wood Roffe, Shakti & Shakta p. 370.
६. To the Shakta Maya is the mother power-MAHAMAYA-who in herself (Svarupa) is econciousness and who by her maya appears to be unconcious. (MAHAMAYA, p. 100, F.N.)
७. बन्धमोक्षोपदेशादिव्यवहारोऽपि मायया।–मानसोल्लास, २।५६, अड्यार, मद्रास।
८. देखिए–J.N. Mazumdar's paper, The Philosophy, religious and social significance of the Tantra Shastra, July, 1915.

अद्वैतवादी की माया और शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति

अद्वैतवादी की माया अचित्, एवं सत् तथा असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। इसके विपरीत शक्त्यद्वैतवाद के अनुरूप शक्ति, सत्-चित्—आनन्दरूपिणी माया ही अज्ञानी को जडवत् प्रतीत होती है।[१] वस्तुतः, वह अद्वैतवादी की माया की तरह जड एवं मिथ्या नहीं है। शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार शक्ति विद्या एवं अविद्यारूपिणी है। अपनी अविद्याशक्ति के द्वारा ही शक्ति अपने विद्या रूप या चित् रूप को आच्छन्न कर लेती है। इस स्थल पर अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद का यह अन्तर उल्लेखनीय है, कि अद्वैतवाद के मायावाद सिद्धान्त के अनुरूप मिथ्या एवं जड जगत् अध्यारोप के कारण सत्य प्रतीत होता है, जबकि शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत समस्त चित् रूप जगत् द्रष्टा को सत्य प्रतीत होता है। इस प्रकार अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद के शक्तिसम्बन्धी सिद्धान्तों में अन्तर होने के कारण दोनों के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी भेद मिलता है। यहाँ दोनों सिद्धान्तों के अनुरूप जगत्सम्बन्धित विवेचन किया जायेगा।

अद्वैतवादी और शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार जगत् का स्वरूप

अद्वैतवाद के पोषक शांकरवेदान्त के अन्तर्गत प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक रूप से तीन प्रकार की सत्ताएँ स्वीकार की गई हैं। प्रातिभासिक सत्ता का उदाहरण शुक्ति में भासित रजत, व्यावहारिक सत्ता का उदाहरण मायिक जगत् और पारमार्थिक सत्ता का यह **मौलिक भेद** द्रष्टव्य है कि अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुसार बन्धन और मोक्ष का विचार पारमार्थिक न होकर व्यावहारिक एवं मायिक है।[२] परमार्थतः, आत्मा शुद्ध एवं मुक्त है। समस्त बन्धन अज्ञानजन्य हैं। बन्धन और मोक्ष की चर्चा ठीक वैसी ही है, जैसे कि किसी वन्ध्या स्त्री का पुत्र खोजने पर उसका दुःख शान्त करने के लिए अनेक प्रकार की सान्त्वनाएँ दी जाय।[३] परन्तु अद्वैतवादी की उपर्युक्त विचारदृष्टि के विपरीत शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत बन्धन एवं मोक्ष का प्रश्न व्यावहारिक अथवा काल्पनिक न होकर पूर्णतया तात्त्विक है।

---

१. साधको ब्रह्मरूपी स्याद् ब्रह्मज्ञानप्रसादतः। रूद्रयामल–Jha Commemoration Volume, p. 96 से उद्धृत; तथा देखिए–बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन पृ० ५१३।

२. जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः। –कुलार्णवतन्त्र ६।१२।

३. ऐक्यं जीवात्मनोराहुः योगं योगविशारदाः। –कुलार्णव तन्त्र ६।३०।

४. यावन्न क्षीयते कर्म शुभं वाऽशुभमेववा।
तावन्नजायते मोक्षो नृणां कल्पशतैरपि।। –महानिर्वाणतन्त्र १४।१०६।
तथा देखिए–महानिर्वाणतन्त्र १४।१११।

५. देखिए–गीताभाष्य १२।१७, स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् (आत्मबोध)।
ज्ञानं तत्वविचारेण निष्कामेणापिकर्मणा।
जायते क्षीणतमसां विदुषां निर्मलास्यनाम् ।। –महानिर्वाणतन्त्र १४।११२।

६. देहान्ते शाश्वती मुक्तिरिति शंकरभाषितम्।
—Jha Commemoration Volume, p. 96 से उद्धृत

शक्त्यद्वैतवाद के मतानुसार बन्धन, मोक्ष और जगत्, सत्यरूप हैं। बन्धन और मोक्ष की दात्री, शक्ति है। साधक साधना के द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है।

दोनों पद्धतियों के सिद्धान्तों के बन्धनसम्बन्धी विचारों का यह सूक्ष्म अन्तर देखने योग्य है कि अद्वैतवाद के अनुसार जीव अविद्या के कारण मिथ्या जगत् को सत्य समझकर जगत् के ममत्वादि बन्धन में फँस जाता है, और शक्त्यद्वैतवादी के मतानुरूप जीव जगत् के वास्तविक रूप–चित् रूप का साक्षात्कार न करके उसे अचित् (जड) समझकर जगत् के जडबन्धनों में फँसता है। अन्ततोगत्वा अद्वैतवादी एवं शक्त्यद्वैतवादी दोनों ही के विचार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के रूप में पर्यवसित होते हैं। अद्वैतवाद के अनुसार मुक्त जीव स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है और शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार साधक स्वयं शक्तिरूप हो जाता है।[1]

मुक्ति की उपलब्धि में ज्ञान की प्रक्रिया अद्वैतवादी एवं शक्त्यद्वैतवादी दोनों की दृष्टि में समान ही है। अद्वैतवाद-सिद्धान्त के अनुसार जीव स्वरूपतः ब्रह्म ही है, उसकी जीवसंज्ञा अविद्याजन्य है। शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत भी जीव को शिव रूप बतलाया गया है।[2] अद्वैतवाददर्शन के अन्तर्गत जीव और परमात्मा के ऐक्यज्ञान के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति बतलायी गई है। इसी प्रकार शक्त्यद्वैतवाददर्शन के अन्तर्गत भी जीव और आत्मा के ऐक्यरूप योग का समर्थन मिलता है।[3] इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद-दर्शन के अन्तर्गत जिस प्रकार मुमुक्षु के लिए शुभाशुभ कर्म का त्याग एवं ज्ञान अनिवार्य साधन के रूप में बतलाए गए हैं, उसी प्रकार शाक्तदर्शन में भी उनका महत्त्व स्वीकार किया गया है।[4] अद्वैतवादी शंकराचार्य ने जैसे निर्मल अन्तःकरण वालों को मोक्ष का पात्र बतलाया है, उसी प्रकार शाक्तदर्शन में भी जिनका अज्ञान क्षीण हो गया है, ऐसे निर्मल अन्तःकरण वाले ज्ञानियों को ही मुक्ति का भाजन कहा है।[5] इस प्रकार शक्त्यद्वैतवादी के ज्ञानपक्ष पर शांकर अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह प्रभाव इससे और सिद्ध होता है कि शाक्त मत में विदेहमुक्ति को स्वीकार करते हुए शंकराचार्य के मत का संकेत भी दिया गया है।[6]

---

१. साधको ब्रह्मरूपी स्याद् ब्रह्मज्ञानप्रसादतः। रुद्रयामल–Jha Commemoration Volume, p. 96 से उद्धृत; तथा देखिए–बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन पृ० ५१३।

२. जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः। –कुलार्णवतन्त्र ९।१२।

३. ऐक्यं जीवात्मनोराहुः योगं योगविशारदाः। –कुलार्णव तन्त्र ९।३०।

४. यावन्न क्षीयते कर्म शुभं वाऽशुभमेववा।
तावन्नजायते मोक्षो नृणां कल्पशतैरपि।। –महानिर्वाणतन्त्र १४।१०९।
तथा देखिए–महानिर्वाणतन्त्र १४।१११।

५. देखिए–गीताभाष्य १२।१७, स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् (आत्मबोध)।
ज्ञानं तत्वविचारेण निष्कामेणापिकर्मणा।
जायते क्षीणतमसां विदुषां निर्मलास्यनाम्।। –महानिर्वाणतन्त्र १४।११२।

६. देहान्ते शाश्वती मुक्तिरिति शंकरभाषितम्।
—Jha Commemoration Volume, p. 96 से उद्धृत

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार हमें वेदान्तिक अद्वैतवाद एवं शक्त्यद्वैतवाद के सिद्धान्तों में भेद एवं अभेद दोनों मिले हैं। इसके अतिरिक्त शाक्ततन्त्र के दार्शनिक सिद्धान्त को शक्त्यद्वैतवाद के रूप में ग्रहण करने पर कुछ ऐसी समस्याएँ रह जाती हैं जो अनुत्तरित हैं। यहाँ, उनका निरूपण उपयुक्त होगा।

शक्त्यद्वैतवाद की कुछ समस्याएँ

शक्त्यद्वैतवाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन शाक्त तन्त्रों का प्रमुख विषय नहीं है। यह तो शाक्त तन्त्रों के दार्शनिक दृष्टि से किए गए समालोचन का फल है, कि उनमें शक्त्यद्वैतवाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त का विकास मिलता है। परन्तु शाक्त तन्त्रों में शक्त्यद्वैतवाद नाम के दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार करने में कुछ ऐसी समस्याएँ रह जाती हैं, जिनका उत्तर शाक्त तन्त्रों के अन्तर्गत अप्राप्त है। शाक्त तन्त्रों का उद्देश्य किसी दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना न होने के कारण, शक्त्यद्वैतवाद की इन समस्याओं को तन्त्रशास्त्र का दोष नहीं कहा जा सकता। शक्त्यद्वैतवाद की ये समस्याएँ अधोलिखित हैं–

(१) शक्त्यद्वैतवादी ने एक ही शक्ति के चित्शक्ति और जड्शक्ति[1] या विद्यामूर्त्ति और अविद्यामूर्त्ति के रूप में जो भेद बतलाए हैं, वे अद्वैतवाद की स्थापना में बाधक हैं।

(२) शक्ति के विद्यामूर्ति और अविद्यामूर्ति ये दो भेद मानने पर यह शंका स्वाभाविक है कि अविद्यामूर्ति परमार्थ सत्य है अथवा परिवर्तनशील है। यदि इसे परिवर्तनशील माना जाएगा तो यह नितान्त असमीचीन हैं, क्योंकि शक्ति, जो परमात्मस्वरूप है, उसे परिवर्तनशील कैसे माना जा सकता है ? इसके विपरीत यदि कहा जाय, कि अविद्यामूर्ति परमार्थ सत्य है तो यह भी असंगत है, क्योंकि अविद्यामूर्त्ति को परमार्थसत्य के रूप में स्वीकार कर लेने पर तो मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। इस प्रकार शाक्त मत की अविद्यामूर्ति की कल्पना पूर्णतया शक्त्यद्वैतवाद की विरोधिनी है।

(३) शक्त्यद्वैतवादी का कथन है, कि शुद्ध चित्शक्ति अपने चित् रूप को आच्छन्न कर लेती है, और द्रष्टा को अचित् रूप में दिखाई पड़ती है। परन्तु शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत शक्ति के अपने चित् रूप को आच्छन्न करने का कारण स्पष्ट नहीं है।

शक्त्यद्वैतवादी समालोचकों ने शाक्तमतसम्मत प्रकृति एवं विकृति के एकत्व को, द्वैत तथा अद्वैत मत के पक्षपातियों के महान् द्वन्द्व को निवारण करने वाली प्रमुख देन के रूप में माना है।[2] इन शाक्तमतानुयायी समालोचकों का विचार है कि जगत् प्रकृति शक्ति का विकार होने के कारण सत्य है। अतः शाक्त मत के अनुसार द्वैत भी है और अद्वैत भी। द्वैत, इसलिए है, कि जगत् के समस्त दृश्यमान पदार्थ सत्य हैं, और अद्वैत इसलिए है कि चित् शक्ति का अस्तित्व सर्वत्र एवं सर्वदा है। परन्तु यहाँ, यह कहना उपयुक्त होगा, कि शाक्तसम्प्रदाय उक्त सिद्धान्त की स्थापना में सफल नहीं हो सका है।

---

१. ललितासहस्रनाम, १४१।

२. *Shiv Chandra Bhattacharya* : Principle of Tantra, Ganesh & Co. Madras, p. 200.

मूलतया ब्रह्मरूपिणी चित् शक्ति से विकार की उत्पत्ति की कल्पना ही निरर्थक है। जहाँ तक साधना पक्ष की बात है, वहाँ न द्वैत सहायक है और न अद्वैत ही। कुलार्णवतन्त्र में शिव ने स्वयं कहा है कि कुछ द्वैत और कुछ अद्वैत प्रिय हैं, परन्तु ये दोनों ही मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं समझते, जो द्वैताद्वैतविवर्जित है।

तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में कलियुग में तान्त्रिक उपासना का विशेष महत्त्व बतलाया गया है। कहीं-कहीं तो यह भी कह दिया है, कि कलियुग में बिना आगममार्ग के गति ही नहीं है। कलियुग अन्य युगों की अपेक्षा पाप एवं अनाचार का युग है। ऐसे युग में ज्ञान के द्वारा मुक्ति की उपलब्धि अत्यन्त दुःसाध्य है। इसीलिए तन्त्र ग्रन्थों में, तान्त्रिक उपासना का कलियुग में विशेष महत्त्व बतलाया गया है। तन्त्रशास्त्र की शाक्त आराधना का विषय पारलौकिक होने के साथ-साथ लौकिक भी है। इस शास्त्र की इससे अधिक लौकिकता और क्या हो सकती है, कि इसमें मैथुन भी आराधना का अंग है। शाक्त-मत के अन्तर्गत, स्त्रीपूजा के समर्थकों का विचार है, कि जिस प्रकार रंगरेज रंग के द्वारा किसी वस्त्र के वर्णचिह्नों को दूर कर देता है, उसी प्रकार सम्भोगादि 'विषस्य विषमौषधम्' के अनुसार साधक की वृत्ति को शुद्ध करने में समर्थ होते हैं। अतः यह निःसंकोच रूप से स्वीकार किया जा सकता है, कि तन्त्र-मत की स्त्री-उपासना या शक्ति-उपासना के कारण, शाक्तसाधना ज्ञानपुष्ट अद्वैतसाधना की अपेक्षा अधिक सरल है। किसी-किसी समालोचक ने तो स्त्री-उपासना से सम्बन्धित कोमलता को ही शाक्त आराधना के प्रचार-प्रसार का प्रधान कारण माना है।[१]

शक्तिसिद्धान्त के विषय में, यह तथ्य विशेष रूप से विचारणीय है, कि निःसन्देह रूप से शक्ति-सिद्धान्त के सूत्र, यों तो ऋग्वेदकाल से ही प्राप्त होते हैं, किन्तु ऋग्वेद से गृह्यसूत्रों के समय तक शक्ति का स्वतन्त्र एवं सर्वातिशायिनी एवं असुर-विघातिनी शक्ति के रूप में विकास नहीं मिलता। गृह्यसूत्रों तक शक्ति, भवानी, रुद्राणी एवं उमा के रूपों में रुद्र-शिव की पत्नी के रूप में चित्रित हुई है। शक्ति का स्वतन्त्र एवं सर्वोच्च तथा शत्रुविधातिनी शक्ति के रूप में विकास महाभारत में उस स्थल पर देखने को मिलता है, जब श्रीकृष्ण अर्जुन को, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए दुर्गा की उपासना का परामर्श देते हैं,[२] एवं अर्जुन, देवी, दुर्गा से युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं। यहाँ, यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है, कि दुर्गा कुमारिका हैं, ये रुद्र-शिव की पत्नी नहीं हैं। महाभारत में देवी के काली-कापाली, चण्डी, कात्यायनी (कात्यों की देवी) कराला, विजया, कौशिकी (कौशिकी ब्राह्मणों की देवी) एवं उमा, कान्तारवासिनी, महिषासुरमर्दिनी (विन्ध्यवासिनी) आदि रूप मिलते हैं। पुराणों में, विशेष कर, मार्कण्डेयपुराण में तो, देवी के अम्बिका, चामुण्डा (चण्डमुण्डविनाशिनी) आदि अनेक नाम मिलते हैं। असुरों का वध करने के कारण, देवी का शक्ति के रूप में चित्रण करते हुए उन्हें ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही एवं ऐन्द्री इन सात नामों से सम्बोधित किया गया है। यह उल्लेखनीय है कि शक्ति के उपर्युक्त एवं अन्य जो रूप मिलते हैं, वे यद्यपि एक ही शक्ति के अनेक

---

१. S.K. Balvalkar & Ranade, History of Indian Philosophy, Vol. VXX, p. 5.

२. महाभारत, भीष्म पर्व, २३ अध्याय

रूप हैं,[1] किन्तु शक्ति के इन नामों के मूल में उनके कार्यकलाप की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी वर्तमान है। इसके अतिरिक्त मनोरथ के अनुसार भी देवी के स्वरूप का चित्रण पुराणों में मिलता है। उदाहरणार्थ, केशों की रक्षा की प्रार्थना करते हुए, देवी को "ऊर्ध्वकेशिनी" कहा गया है[2]।

संक्षेप में, देव्युपासना के तीन रूप प्राप्त होते हैं। प्रथम रूप, देवी का कोमल रूप है। यह उमा का रूप है। द्वितीय रूप, देवी का भयंकर रूप है। जिसमें, काली, महिषासुरमर्दिनी आदि रूप आते हैं।

आनन्दभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी एवं ललिता

आनन्दभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी एवं ललिता एक ही देवी-शक्ति के नाम हैं। इनमें, अत्यन्त प्रसिद्ध नाम त्रिपुर-सुन्दरी है। आनन्दभैरव शिव का ही नाम है, अत एव आनन्दभैरवी शिवपत्नी के रूप में वर्णित हुई हैं। आनन्दभैरव शिव उन नौ व्यूहों की आत्मा हैं, जिनसे संसार की उत्पत्ति होती है। ये नौ व्यूह, कालव्यूह, कुलव्यूह, ज्ञानव्यूह एवं चित्तव्यूह आदि हैं। आनन्दभैरव शिव, शक्ति, आनन्दभैरवी की भी आत्मा हैं, अतः आनन्दभैरवी भी नौव्यूहों की आत्मा ही हैं। इस प्रकार वस्तुतः शिव एवं शक्ति दोनों, एक ही हैं। जब शिव एवं शक्ति में सामरस्य की स्थिति आती है, तो सृष्टि होती है। परञ्च सृष्टि की प्रक्रिया में शक्ति आनन्दभैरवी का प्राधान्य होता है, एवं संहार की प्रक्रिया में आनन्दभैरव शिव का।[3] त्रिपुरासिद्धान्त के अन्तर्गत शिव, कामेश्वर एवं शक्ति कामेश्वरी हैं। कामेश्वर एवं कामेश्वरी का सामरस्य ही त्रिपुरसुन्दरी है। त्रिपुरसुन्दरी सच्चिदानन्दस्वरूपिणी 'ललिता' हैं। सौन्दर्य-लहरी के अन्तर्गत त्रिपुरसुन्दरी का सौन्दर्यवर्णन बोध्य है। एवञ्च ललितासहस्रनाम में ललिताम्बिका का कलात्मक स्वरूप द्रष्टव्य है। इन ग्रन्थों में त्रिपुरसुन्दरी एवं ललिता के मातृसौन्दर्य का रहस्यमय निरूपण है, जिसे शक्ति-उपासना के साधक ही समझ सकते हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, चन्द्रमा की भी नित्य षोडश कलाएँ हैं, इसीलिए इन्हें 'षोडशी' भी कहते हैं। प्रथम से पन्द्रह तक की कलाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, यही 'पञ्चदशी' का स्वरूप है। शाक्तसाधना के अन्तर्गत षोडशी एवं पञ्चदशी की साधना के पृथक्-पृथक् मन्त्र हैं, जो परमसिद्धि के दायक हैं। षोडशी त्रिपुरसुन्दरी साधकों के समक्ष सदा षोडशबर्षीया सुन्दरी के रूप में आराध्य हैं। षोडशी, त्रिपुरसुन्दरी एवं ललिता एक ही हैं, जो सौन्दर्य एवं आनन्द की अधिष्ठानस्वरूपिणी हैं। सौन्दर्यलहरी एवं आनन्दलहरी के अन्तर्गत इसी सौन्दर्यानन्द का दिव्य निरूपण वर्तमान है। षोडशी त्रिपुरसुन्दरी की साधना 'श्रीचक्र' की अराधना से सम्पन्न होती है, अतः यहाँ श्रीचक्र के सम्बन्ध में विचार करना भी अपेक्षित है।

श्रीचक्र

त्रिपुरसुन्दरी अथवा ललिता मातृशक्ति की उपासना श्रीचक्र नामक यन्त्र के द्वारा करने का

---

१. एकैवाऽहं जगत्यत्र द्वितीय का ममापरा। मा. पु.

२. केशांश्चैवोर्ध्वकेशिनी, दुर्गासप्तशती कवच, ३३, तथा छायां छत्रेश्वरी तथा दु. स., कवच ३६, आदि।

३. देखें, सौन्दर्य लहरी ३४, पर लक्ष्मीघर की टीका। (मैसूरसंस्करण)

विधान है। आजकल श्रीचक्र ताम्रपत्र एवं स्फटिक पर बनाया जाता है। काशी में श्रीचक्र का निर्माण करने वाले कुछ लोग आज भी हैं। ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत श्रीपुर के नाम से ललिता के धाम का वर्णन है। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार श्रीपुर के मध्य में चिन्तामणि नामक गृह है, जो ललिता का प्रासाद है। इस प्रासाद की २५ शाखाओं में देवी-देवता निवास करते हैं।[1] प्रासाद का आकार कमल के सदृश है। प्रासाद के मध्य में बिन्दुपीठ शोभित है, जो ललिता महाशक्ति का सिंहासन है। यह सिंहासन, दिव्यपीठ, महापीठ, श्रीपीठ एवं आनन्दपीठ के नाम से भी विदित है। बिन्दुपीठ (सिंहासन) में एक पर्यङ्क वर्त्तमान है, जिसके ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं ईश्वर, ये चार पाए हैं। सदाशिव शय्या के फलक के रूप में विराजित हैं। इसी पर्यङ्क पर कामेश्वर शिव एवं कामेश्वरी ललिता गाढालिंगन में बद्ध रहते हैं। श्रीचक्र यन्त्र में यही समग्र रूप चित्रित रहता है।[2]

त्रिपुरसुन्दरी की दीक्षा

त्रिपुरसुन्दरी की दीक्षा की तीन पद्धतियाँ हैं। प्रथम पद्धति के अनुसार साधक अपने चित्त को पूर्णतया देवी पर केन्द्रित करता है, जो महापद्मवन में विराजमान शिव के अङ्क में शोभित हैं। दूसरी पद्धति श्रीचक्रपूजा की है, जो एक प्रकार का बाह्य योग है। तीसरी दीक्षा-पद्धति के अन्तर्गत त्रिपुरसुन्दरी से सम्बन्धित सिद्धान्तों का अनुशीलन-अध्ययन एवं ज्ञान आता है।

शाक्तों का कौलमार्ग

शाक्तों के कौलमार्ग का प्रामाणिक ग्रन्थ परात्रिंशिका है। परात्रिंशिका पर प्रत्यभिज्ञादर्शन के विद्वान् सोमानन्द ने टीका लिखी है, जिसके अन्तर्गत कौल मत का प्रतिपादन किया गया है। कौलमत के अनुसार शाम्भवसाधना के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। वैसे, कौलमत के प्रस्थापक मत्स्येन्द्रनाथ (३०० ई.) अथवा मीननाथ माने जाते हैं।

कौलदर्शन का अर्थ कुलसम्बन्धी दर्शन है, एवं कुल शब्द का अर्थ, शिव एवं शक्ति का सामरस्यरूप संयोग है। तन्त्रालोक के अन्तर्गत 'कुल' की परिभाषा का विशद निरूपण है[3] तथा सोमानन्द ने शिवदृष्टि के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रतिपादन किया है।

शाम्भवदर्शन

शाम्भवदर्शन शाक्त उपासना का आध्यात्मिक स्वरूप है। शाम्भवदर्शन के अन्तर्गत शम्भु (शिव) एवं शक्ति मूलतत्त्व हैं। प्रकाशस्वरूप शिव, विमर्श अथवा स्फूर्तिस्वरूपिणी शक्ति में प्रवेश करते हैं, तथा

---

१. ब्रह्माण्डपुराण, चतुर्थखण्ड, ३०-३८ अध्याय।

२. शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयाम्।
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ।। सौ. ल. ८ तथा इस पर देखें, लक्ष्मीधर की टीका (मैसूर संस्करण १८५३)।

३. कुले शिवशक्त्यात्मनि, परात्रिंशिका, ३६।

बिन्दु का रूप ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार शक्ति शिव में प्रवेश करती है। इसी स्थिति में, बिन्दु का विकास होकर उससे स्त्रीतत्त्व के रूप में नाद की उत्पत्ति होती है। इस नादबिन्दु से एक समन्वित बिन्दु रूप की उत्पत्ति होती है। यह बिन्दुतत्त्व स्त्री एवं पुरुष की शक्ति का द्योतक है, एवञ्च यही काम है। इसके अतिरिक्त दो बिन्दु, श्वेत एवं रक्त क्रमशः पुरुष एवं स्त्री तत्त्व के बोधक हैं। इनसे 'कला' की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् समन्वित बिन्दु एवं श्वेत तथा रक्त बिन्दु से कामकला की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार शाम्भवदर्शन के अन्तर्गत शक्तिचतुष्टय का संयोग होता है, जो इस प्रकार है–

१. प्रथम शक्ति मूल बिन्दु (शिव-शक्ति-स्वरूप) का आह्वान स्वरूप है तथा जगत् का उपादान-कारण है।

२. दूसरी शक्ति नाद है, जिस पर बिन्दु का विकास निर्भर है, जैसा कि ऊपर कहा गया है।

३. तृतीय शक्ति पुरुष का श्वेत बिन्दु है, जो स्वयं अकेला सृष्टि की उत्पत्ति में सक्षम है।

४. चतुर्थ शक्ति स्त्री का रक्त बिन्दु है, जिसमें पुरुष बिन्दु, उत्पन्न करने की क्षमता प्रदान करता है।

जब उपर्युक्त चारों शक्तियों का काम के रूप में संयोग होता है,[१] तो शब्दार्थस्वरूपिणी सृष्टि की उत्पत्ति होती है। जिसमें यह चित्र-विचित्र विश्व उत्पन्न होता है, तथा जिसमें अस्त होता है, एवं जो शिव शक्ति से ऊर्ध्वतम है, वह परतत्त्व रूप कुल है। कौलमत का आधार यही कुल है[२] यह कहना अपेक्षित है कि कौलमत के अन्तर्गत आचार-विचार की गरिमा का निर्वाह नहीं है। इसीलिए तन्त्रालोक में कहा है–

वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद् वामं च दक्षिणम्।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात् परतरं नहि ।।

कौलमार्ग को 'ऊर्ध्वाम्नाय' भी कहते हैं। इसके ऊर्ध्वाम्नाय नाम के दो कारण हैं। एक तो यह, कि यह पञ्चमुख शिव के ऊर्ध्वमुख से उत्पन्न होने वाले तन्त्र पर आश्रित है, तथा दूसरा कारण यह है, कि समस्त धर्मों में ऊर्ध्व होने के कारण इसे ऊर्ध्वाम्नाय कहते हैं।[३]

कौलमार्ग के सम्बन्ध में यह विषय विशेष रूप से विचारणीय है, कि क्या इस मत में मद्य-मांसादि का आहार उचित है। वस्तुतः, कुलार्णवतन्त्र के अनुसार कौलसाधक के लिए इस प्रकार का

---

१. विशेष देखें, R.G. Bhandarkar, Report on the search for sanskrit Manuscripts (1983-84), pp. 89-891.

२. यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेतिच।
तत् कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम् ।।
–तन्त्रालोक, भाग २, टी० ६५।

३. ऊर्ध्वत्वात् सर्वधर्माणामूर्ध्वाम्नायः प्रशास्यते।
ऊर्ध्वं नयत्यधःस्थं चेत्यूर्ध्वाम्नाय इति स्मृतः।। कुलार्णवतन्त्र, ३।१८।

आहार निषिद्ध ही कहा जाएगा। किन्तु कौलमार्ग के ग्रन्थों में, पञ्च मका मद्य, मांस, मीन, मुद्रा एवं मैथुन का सेवन बतलाया गया है। जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में ही कहा जा चुका है, मद्य आदि का आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण करना चाहिए। निदर्शनार्थ, मद्य का अर्थ मदिरा न होकर, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रकमल से क्षरित सुधारस है।

कौलसाहित्य

कौलतन्त्र का विशाल साहित्य उपलब्ध होता है। कौलतन्त्रसाहित्य के अन्तर्गत आगमसाहित्य प्रधान है। आगमसाहित्य में सिद्धयोगीश्वरीतन्त्र, रुद्रयामल, कुलार्णवतन्त्र, ज्ञानार्णवतन्त्र, नित्याषोडशिकार्णव एवं सौन्दर्यलहरी प्रमुख ग्रन्थ हैं। कौलसाहित्यविषयक टीकाग्रन्थों में, जयरथविवरण, भास्कररायरचित सेतुबन्ध, शिवानन्दरचित ऋजुविमर्शिनी एवं विद्यानन्दरचित अर्थरत्नावली विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। यों तो, कौलमतानुयायी, न्यूनाधिक समस्त भारतवर्ष में रहे हैं, किन्तु काश्मीर एवं केरल में कौलमत की विशेष परम्पराएँ प्राप्त होती हैं। काश्मीर में शंकरराशि एवं ईश्वरशिव, ये दो आचार्य कौलमत के विशेष अनुसर्त्ता एवं प्रसारक हुए हैं।

कौलसाहित्य निर्माताओं में, भास्करराय, (१६००–१६६०ई.) जिनका उल्लेख ऊपर भी किया गया है, विशिष्ट कौल हैं। इनके पिता का नाम गम्भीरराय था। भास्करराय का ललितासहस्रनामभाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस प्रकार कौलशाक्तदर्शनविषयक प्रचुर साहित्यराशि उपलब्ध होती है।

शाक्तसाधना के केन्द्र एवं शाक्ततन्त्र के आचार्य

जैसा कि अभी तक देखा जा चुका है, शाक्त साधना के अन्तर्गत श्रीविद्या एवं कौलसाधना परम विशिष्ट हैं। इनमें, श्रीविद्या के केन्द्र काश्मीर एवं काञ्ची हैं। काञ्ची में कामाक्षी का विशिष्ट पीठ है। इसके अतिरिक्त वहाँ अनेक, जैन-बौद्ध एवं शैव-मन्दिर भी हैं। कौल साधना का विशेष केन्द्र कामाख्या है।

शाक्तसाधना के अनेक सिद्धान्तों का निरूपण एवं प्रतिपादन कौलोपनिषद्, त्रिपुरामतोपनिषद्, अरुणोपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद्, कालिकोपनिषद् एवं तारा उपनिषद् में भी प्राप्त है।

दत्तात्रेय ने अपने ग्रन्थ, अष्टादशसाहस्रीदत्तसंहिता में त्रिपुरारहस्य का उद्घाटन किया है। परशुराम ने इसका संक्षिप्त एवं अपेक्षाकृत सरल रूप प्रस्तुत किया है, एवं परशुराम के संक्षिप्त ग्रन्थ को हारितायन सुमेधा ने परशुरामकल्पसूत्र के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। शाक्त-साहित्य में, अगस्त्यरचित शक्तिसूत्र का नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। इसमें एक सौ ग्यारह सूत्र हैं। इसका प्रकार एवं पद्धति ब्रह्मसूत्र की ही है। जहाँ, ब्रह्मसूत्र का प्रथमसूत्र, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' है, वहाँ शक्तिसूत्र का प्रथम सूत्र, 'अथातो शक्तिजिज्ञासा' है। दुर्वासा ने भी शाक्तसूत्रों का प्रणयन किया था, किन्तु ये अनुपलब्ध हैं। दुर्वासारचित शक्तिमहिम्नस्तोत्र मिलता है, जो शिवमहिम्नस्तोत्र की प्रणाली पर विरचित है।

शंकराचार्य के परमगुरु गौडपादाचार्य भी परम शाक्त थे। इनके द्वारा प्रणीत सुभगोदयस्तोत्र एवं श्रीविद्यारत्नसूत्र प्राप्त होते हैं। गौडपाद श्रीविद्या के उपासक थे। शाक्तसाहित्य के क्षेत्र में, शंकराचार्य

का भी अत्यन्त उल्लेखनीय योगदान है। शंकराचार्यप्रणीत सौन्दर्यलहरी एवं ललिता-त्रिशतीभाष्य, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। सौन्दर्यलहरी की ३५ टीकाएँ हैं। कैवल्याश्रम, नरसिंह, अच्युतानन्द एवं कामेश्वरसूरि सौन्दर्यलहरी के विशेष टीकाकार हैं। लक्ष्मीधर प्रणीत सौन्दर्यलहरी की टीका विशिष्ट है। पुण्यानन्द का काम-कलाविलास भी शाक्तसाधना का एक विशेष ग्रन्थ है, जिस पर नटनानन्द ने चिद्वल्ली नाम्नी टीका का प्रणयन किया है। वामकेश्वरतन्त्र पर अमृतानन्दनाथ की योगिनीहृदय नाम्नी टीका भी शाक्त-साधना का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। किन्तु यह टीका अपूर्ण है। शाक्तसाधनासाहित्य के प्रणेताओं में भास्करराय (१८००ई.) शिरोमणि हैं। इन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया है, जिनमें वरिवस्यारहस्य, ललितासहस्रनामभाष्य, सौभाग्यभास्कर, नित्याषोडशिकार्णव की टीका सेतुबन्ध, दुर्गासप्तशती की टीका गुप्तवती एवं कालोपनिषद् त्रिपुरोपनिषद् तथा भावनोपनिषद् की टीकाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उमानन्दराय ने जो भास्करराय के शिष्य थे, नित्योत्सव एवं रामेश्वरसूरि ने परशुरामकल्पसूत्र की टीका सौभाग्यसुधोदय का प्रणयन किया था। पूर्णानन्द (१५००–१६००ई.) भी कौलमार्ग के एक विशिष्ट आचार्य थे। इन्होंने श्री तत्त्वचिन्तामणि नामक एक विशिष्ट ग्रन्थ का प्रणयन किया था। पूर्णानन्दरचित ग्रन्थों में श्यामारहस्य, शक्तिक्रम एवं तत्त्वानन्दतरङ्गिणी भी प्रमुख रूप से निर्देश करने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त सदानन्दप्रणीत, ईशावास्योपनिषद् का भाष्य, एवं सर्वानन्दप्रणीत सर्वोल्लास, शाक्तसाधना का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

निष्कर्ष-सूत्र

यदि देखा जाय तो रुद्र-शिव की विचारधारा का महत्त्व विष्णु की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। वेदों, उपनिषदों एवं पुराणों में शिव के अनेक रूप मिलते हैं। ऋग्वेद के शिव, यदि ब्रह्मस्वरूप एवं सर्वोच्च शक्ति के रूप में वर्णित हैं, तो यजुर्वेद के शिव सर्वलोकहितकारी महादेव हैं, जो 'औषधानां पतिः' आदि अनेक रूपों में लोकमंगल का विधान करते हैं। माण्डूक्योपनिषद् का तुरीय अद्वैत तत्त्व भी मङ्गलस्वरूप शिव ही है : "शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते"। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्तर्गत शिव महेश्वर–'महादेव' रूप में वर्णित हुए हैं। पुराणों में शैव, पाशुपत, कालदमन एवं कापालिक का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। किन्तु शिवलिंग की उपासना का स्पष्ट उल्लेख महाभारत में ही मिलता है। वीरशैव लिंगायत सम्प्रदाय भी शैवदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है, जिसके अनुयायी गले या भुजा में शिवलिंग धारण करते हैं। वीरशैव मत के अनुयायी विशेषतः कर्नाटक में पाए जाते हैं। यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण में शैवदर्शन का विशेष प्रचार हुआ था। जैसा कि इस अध्ययन से स्पष्ट हुआ है, शैवदर्शन के क्षेत्र में काश्मीर के सामरस्यपूर्ण प्रत्यभिज्ञादर्शन का सर्वाधिक महत्त्व एवं योगदान है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के सम्बन्ध में जैसा प्रामाणिक एवं विपुल साहित्य मिलता है, वैसा, किसी अन्य शैवमत का नहीं। यह भी सुस्पष्ट एवं सुविदित है, कि प्रत्यभिज्ञादर्शन की अद्वैतमत से मायाविषयक यत्किंचिद् भिन्नता होते हुए भी प्रत्यभिज्ञादर्शन एवं अद्वैतमत के सिद्धान्तों में पर्याप्त समानता है। इसी प्रकार स्पन्ददर्शन एवं इतर गम्भीर शैवमतों पर अद्वैतदर्शन का प्रभाव स्पष्टरूप से परिलक्षित है। इसका कारण यह है, कि शैवसिद्धान्त के मूल में वैदिक शिव-ब्रह्मवाद "शिवद्वैत" की दृष्टि ही प्रधान थी, उसी के आधार पर शैवदर्शन के विशाल प्रासाद का निर्माण हुआ था। यह स्वाभाविक ही है, कि पौराणिक शैव-दर्शन के अन्तर्गत शैव सिद्धान्तों की व्याख्या एवं विस्तार विभिन्न रूपों में हुआ था। स्कन्द एवं गाणपत्य सम्प्रदाय, शैवदर्शन के ही विस्तार के रूप

थे। शैवदर्शन का विकास एवं विस्तार इतना अधिक हो गया था कि रसेश्वरदर्शन के अन्तर्गत पारद (पारे) को शिव वीर्य का रूप प्रदान किया गया। मैं समझता हूँ, कालामुख एवं कापाल आदि अनेक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव शिवभक्तों की तामसिक वृत्ति के कारण हुआ था, जिसके मूल में शिव के बनवासी, कराल, महाकाल एवं मुण्डमाली आदि रूप भी थे।

शैवदर्शन का शिवशक्तिवाद एवं सामरस्यदर्शन, एक विलक्षण देन है। सामरस्यदर्शन के अन्तर्गत शिव-शक्ति के ऐक्य का प्रतिपादन बड़े सुदृढ़ ढंग से किया गया है। शक्ति के सर्वातिशायी एवं शिवातिशायी स्वरूप की प्रतिष्ठा, शिव-शक्तिवाद का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत शक्ति का महत्त्व इतना अधिक शीर्ष पर पहुँच गया, कि शक्ति के अभाव में शिव, शव एवं निस्पन्द ही रह गए (न चेदेवं दिवो न खलु, कुशलः स्पन्दितुमपि, सौन्दर्यलहरी, १)। अतः यह कथन नितान्त सारपूर्ण है कि शाक्तदर्शन की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा में, शैव-दर्शन का उपर्युक्त शक्तिविषयक दृष्टिकोण ही प्रधान रूप से वर्त्तमान था। शाक्तदर्शन के स्वतन्त्र सिद्धान्त के अन्तर्गत शक्ति-दुर्गा, शिवपत्नी न होकर कुमारिका हैं, जिनके महिषासुरमर्दिनी आदि अनेक रूप हैं। वास्तविकता तो यह है, कि स्वतन्त्र शाक्तदर्शन के अन्तर्गत 'सर्व-ब्रह्ममयं जगत्' एवं 'सर्वं शिवमयं जगत्' के स्थान पर 'सर्वं शक्तिमयं जगत्' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो गई थी–"स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु"। यहाँ भारतीय दर्शन का यह विरोधाभास अवेक्षणीय है, कि जहाँ ऋग्वेद के अन्तर्गत "पुरुष एव इदं सर्वं" एवं छान्दोग्योपनिषद् में "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" कहा था, पुराणों में आकर सारा जगत् स्त्रीमय किस प्रकार कह दिया–"या देवी सर्वभूतेषु स्त्रीरूपेण संस्थिता"। वस्तुस्थिति यह है, कि शाक्तदर्शन का शक्ति-सिद्धान्त वैदिक-औपनिषद ब्रह्मवाद एवं आत्मवाद से भिन्न नहीं है। "एषाऽहं ब्रह्मस्वरूपिणी" (अथर्ववेद) आदि प्रमाण शक्ति के ब्रह्मस्वरूप के ही परिचायक हैं। अतः वैदिक-औपनिषद ब्रह्मवाद-आत्मवाद एवं शाक्तदर्शन के शक्तिसिद्धान्त में मौलिक भेददर्शन का प्रयास नहीं करना चाहिए।

त्रयोदश अध्याय

गाणपत्य, स्कन्द एवं सौर सम्प्रदाय

गाणपत्य-सम्प्रदाय

गाणपत्य-सम्प्रदाय भी शैवसम्प्रदाय है। रुद्र शिव के मरुतसमुदाय गण कहलाते थे। इन गणों के स्वामी गणपति थे। गण शब्द एक सामान्य समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। इसी प्रकार गणपति शब्द भी रुद्र के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता था। इसीलिए यजुर्वेदसंहिता में अनेक गणों एवं गणपतियों का उल्लेख मिलता है–"नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमः।" महाभारत में गणपति के साथ विनायक शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[1] विनायक समस्त विघ्नों एवं बाधाओं को दूर करने वाले हैं। मानवगृह्यसूत्र के अनुसार विनायक के चार नाम हैं–शालकटंकट, कूष्मांडराजपुत्र, स्मित तथा देवयजन। किन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति में विनायक के छः नाम बतलाए गए हैं। ये छः नाम–मित, सम्मित, शाल, कटंकट, कूष्मांड तथा राजपुत्र हैं। आनन्दगिरि ने शङ्करदिग्विजय के अन्तर्गत गाणपत्य सम्प्रदाय के छः भेदों का उल्लेख किया है। प्रथम सम्प्रदाय के अन्तर्गत महागणपति स्रष्टा हैं। द्वितीय सम्प्रदाय के अनुसार गणपति कुमार आराध्य हैं। तृतीय सम्प्रदाय में, उच्छिष्टगणपति के उपासक हेरम्बसुत इष्ट के रूप में पूज्य हैं, तथा चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ सम्प्रदाय में गणपति, नवनीत, स्वर्ण एवं संतान रूप में वन्द्य हैं। शिव के पुत्र गणेश भी गणाध्यक्ष हैं। इस प्रकार गाणपत्य सम्प्रदाय भी शैव-सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही आता है। वैसे तो, गणेशपूजा समस्त हिन्दू समाज के द्वारा सर्वत्र ही सम्पन्न होती है, किन्तु महाराष्ट्र में इसका विशेष प्रचलन है, भाद्रपद मास में गणेशचतुर्थी के अवसर पर तो महाराष्ट्र में विशेष उत्सव आयोजित होते हैं।

स्कन्दपूजा

स्कन्द की पूजा के संकेत प्राचीन काल से मिलते हैं। ४६४ शताब्दी में ध्रुव शर्मा ने बिलसाड़ में स्वामी महासेन के मन्दिर में एक प्रतोलिका (Gallery) का निर्माण किया था, जिसमें स्कन्द के पर्याप्त संकेत मिलते हैं।[2] हेमाद्रि के व्रत-खंड में भी कार्तिकेय के सम्बन्ध में अनेक विचार उपलब्ध हैं।

---

१. महाभारत, अनु. प. १५२।२६।

२. देखें, Journal, Bombay branch, Royal Asiatic, Society Bombay growel, Vol, XX, P. 385.

सामान्यतया, स्कन्द, शिव-पार्वती के पुत्र के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। किन्तु रामायण के अनुसार स्कन्द अग्नि एवं गंगा के पुत्र कहे गए हैं।[१] कहते हैं, गङ्गा ने भ्रूण को हिमवान् पर्वत पर झेंक दिया था, जहाँ उसका पालन, कृत्तिका (नक्षत्रों के समूह) ने किया था। यही कारण है, कि स्कन्द कृत्तिका के पुत्र अर्थात् कार्त्तिकेय के रूप में प्रख्यात हुए। किन्तु महाभारत (वन पर्व, अ० २२०) के अनुसार कार्त्तिकेय अग्निपुत्र हैं। इस सन्दर्भ के अनुसार कार्त्तिकेय की माता अग्नि की पत्नी स्वाहा हैं। यह भी उल्लेख करने योग्य है, कि इसी स्थल पर कार्त्तिकेय शिव के पुत्र भी कहे गए हैं, क्योंकि अग्नि भी शिव का रूप है। एक लिङ्गायत सम्प्रदाय के अनुसार उन्हें शिव कहा गया है। इस तथ्य के समर्थन में, यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है, कि जिन वनों-जंगलों में शिव भ्रमण करते थे, उनमें मयूर भी विहार करते थे। मयूर कार्त्तिकेय के वाहन हैं, अतः इस तर्क के अनुसार कार्त्तिकेय शिव ही हैं। वे देवताओं के सेनापति भी हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें रुद्र-शिव के गणों का स्वामी भी कहा गया है। पतञ्जलि ने शिव, स्कन्द एवं विशाख की पूजा का उल्लेख किया है। कनिष्क के सिक्के के उल्टी ओर चार चित्र हैं, जिनके नाम ग्रीकभाषा में, स्कन्दो, महासेनो, कोमारो तथा बिज़ागो हैं।[२] ये स्कन्द, महासेन, कुमार एवं विशाख हैं। इनमें, प्रथम तीन कार्त्तिकेय के ही रूप हैं। चतुर्थ विशाख, स्कन्द के दक्षिण भाग से, इन्द्र द्वारा वज्रपात करने पर उत्पन्न हुए हैं। जो भी हो, इतना स्पष्ट है, कि शिव-पार्वती के पुत्र के रूप में स्कन्द की पूजा, जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में ही कहा गया है, प्राचीन काल से चली आ रही है।

सौरसम्प्रदाय एवं सूर्यपूजा

सूर्यसम्बन्धी प्रार्थना अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। ऋग्वेद में सूर्य प्रकाश प्रदान करने वाले कोई काल्पनिक देव नहीं हैं, अपितु वे एक वैदिक देवता हैं। ऋग्वेद का ऋषि उदित होते हुए सूर्य से कामना करता है, कि वह मित्र, वरुण एवं दूसरे देवताओं के प्रति कोई पाप न करे।[३] कौशीतकि-ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार सूर्य की उपासना का विधान प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल में है।[४] सूर्य की उपासना के लिए जल, पुष्प एवं चन्दन पर्याप्त है। यही अर्घ्य है। अर्घ्य के बिना भी सूर्य की उपासना संगत बतलायी गई है। आश्वलायन-गृह्यसूत्र[५] एवं तैत्तिरीय आरण्यक[६] के अनुसार ऐसा विधान मिलता है कि सूर्योपासक आगमन करने के पश्चात् सूर्य से प्रार्थना करे कि वह उसकी पापों से रक्षा करें। इसके पश्चात् वह गायत्री मन्त्र से सूर्य को अर्घ्य दे और फिर 'असावादित्यो ब्रह्म' ऐसा कहते हुए अपने शिर के चारों ओर जल डाले। आश्वलायन-गृह्यसूत्र में कहा गया है, कि सूर्योदय के समय पूर्व की ओर मुख करके गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हुए, तब तक जल देते रहना चाहिए, जब तक

---

१. रामायण, १-१६।
२. Journal of Royal Asiatic Society—Bombay Branch, Vol. XX, p. 385.
३. ऋग्वेद, ६।६०।२, ६२.२।
४. कौ. ब्रा. उ. २।६।
५. आ. गृ. सू. परि. १.३।
६. तै. आ. १०।२५।१।

पूर्ण सूर्योदय न हो जाय। इसी प्रकार सूर्यास्त के समय भी पश्चिमाभिमुख होकर तब तक सूर्य को जल देते रहना चाहिए, जब तक कि सूर्यास्त न हो जाय।[१] आश्वलायनगृह्यसूत्र के अनुसार उपनयन संस्कार के समय पुरोहित सविता (सूर्य) से प्रार्थना करता है, कि वह ब्रह्मचारी विद्यार्थी की रक्षा करे।[२] खादिर-गृह्यसूत्र[३] में सम्पत्ति के उपभोग एवं यशःप्राप्ति के प्रयोजन से सूर्योपासना कही गई है। सप्तम शताब्दी में मयूर कवि ने कुष्ठरोगों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए मयूरशतक की रचना की थी। अष्टम शताब्दी के आरम्भ में भवभूतिप्रणीत मालतीमाधव नाटक में सूत्रधार पापों की मुक्ति के लिए सूर्य की प्रार्थना करता है। इस प्रकार यह सुविदित है। कि वैदिक काल से ही सूर्य की उपासना पापों से छुटकारा पाने के लिए, एवं सुखसमृद्धि के भोग की कामना से की जाती रही है।

सूर्य की उपासना करनेवाला सम्प्रदाय सौर सम्प्रदाय था। आनन्दगिरि के कथनानुसार शङ्कराचार्य दक्षिण में सुब्रह्मण्य नामक स्थान पर सौरसम्प्रदाय के अनुयायियों से मिले थे। इस सम्प्रदाय के एक प्रमुख नेता दिवाकर थे। दिवाकर के अनुसार सूर्य ब्रह्म का ही स्वरूप है। सूर्य जगत् का स्रष्टा एवं सौरों का संरक्षक देवता है। सूर्योपासक सौरमस्तक पर गोलाकार में लाल चन्दन लगाते हैं, तथा रक्तपुष्पों की माला धारण करके सूर्य के मन्त्र का जाप करते हैं।

सौरों के प्रमुख रूप से छः भेद बतलाए जाते हैं। एक प्रकार के सौर तो वे हैं, जो उदित हुए सूर्य की ब्रह्मा एवं स्रष्टा के रूप में उपासना करते हैं। दूसरे वे हैं, जो मध्याह्न में ईश्वर की संहर्ता के रूप में उपासना करते हैं। मध्याह्न के सूर्य के संहर्ता इसलिए कहा गया है कि वह मध्याह्न में आतप से लोगों को कष्ट देता है। तीसरे प्रकार के सूर्योपासक वे हैं, जो अस्त होते हुए सूर्य की रक्षक एवं संहारक विष्णु एवं सर्वोच्च शक्ति के रूप में उपासना करते हैं। चतुर्थ प्रकार के सूर्योपासक वे हैं, जो प्रातःकालीन, मध्याह्नकालीन एवं सायंकालीन सूर्य की उपासना, एक ही सूर्य के तीन रूप मानकर करते हैं। पाँचवें प्रकार के सूर्योपासक वे हैं, जो सूर्य के स्वर्णिम केशों एवं मूँछों से शोभित शरीर में परमात्मतत्त्व का दर्शन करते हुए, उसकी अर्चना करते हैं। छठें, अन्तिम प्रकार के सूर्योपासक वे हैं, जो सूर्यबिम्ब की पूजा करते हैं। ये उपासक सूर्योदय के दर्शन के पूर्व कुछ भी नहीं खाते। ये सूर्यबिम्बोपासक, लोहे के गरम तकुए से मस्तक, बाहुओं एवं वक्ष पर सूर्यचक्र को गोदते हैं, तथा सूर्य का ध्यान करते हैं। अन्य सम्प्रदायियों के समान सौर सम्प्रदाय के अनुयायी भी अपने सम्प्रदाय की स्थापना के लिए वेदों का आश्रय लेते हैं।

सूर्य की उपासना के स्पष्ट संकेत विदेशों में भी मिलते हैं। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है, कि वराहमिहिर के अनुसार मगस लोग सूर्य के विशेष उपासक एवं पुजारी थे। भविष्यपुराण[४] में एक कथा के अनुसार, साम्ब ने, जो जाम्बवती से कृष्ण के पुत्र थे, पंजाब में चन्द्रभागा (सम्प्रति चिनाव) नदी के तट पर सूर्यमन्दिर का निर्माण कराया था। साम्ब ने पहले गौरमुख को इस मन्दिर के पुजारी का

---

१. आ. गृ. सू. ३।६, ४-६।
२. आ. गृ. सू. १।२०, ६।
३. खा. गृ. सू. ४।१, १४-२३।
४. भविष्य-पुराण, १३८ अध्ययन।

कार्य सौंपा था। इसके पश्चात् साम्ब ने गौरमुख से कहा था कि शाकद्वीप से मन्दिर में पूजा के लिए मगस बुलाए जाँय। मगस लोगों की उत्पत्ति के विषय में यह कहा जाता है, कि सुजिह नाम का एक ब्राह्मण था, जिसकी निक्षुभा नाम की पुत्री थी। निक्षुभा का सूर्य के साथ प्रेम सम्बन्ध हो गया था। इन दोनों से जरशब्द या जरशान्त नाम के पुत्र की उत्पत्ति हुई थी। इसी जरशब्द से मगस उत्पन्न हुए थे। यही मगस चन्द्रभागा के तट पर स्थित सूर्य मन्दिर के पुजारी बनाए गए थे। इस सम्बन्ध में गया जिले में, गोविन्दपुर के एक शिलालेख में, जो ११३६-३८ई. का है, साम्ब द्वारा मगसों के, उस मन्दिर की पूजा के लिए, लाने का उल्लेख है। मगस ब्राह्मण राजपूताना में भी रहते थे। यहाँ, यह संकेत अपेक्षित है, कि मगी लोग प्राचीन परशिया में भी रहते थे। इसके अतिरिक्त जिस जरशान्त (सूर्यपुत्र) का उल्लेख ऊपर किया गया है, अवेस्ता के सिद्ध जरथुष्ट्र (Jarathushtra) से मिलता है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि आज भी पारसी कमर में कुस्टी धारण करते हैं। अलबेरुनी का कहना है, कि मगस भारत में रहते थे। मगस परशिया से आए थे, एवं विदेशी थे, इस सम्बन्ध में भण्डारकर का कहना है, कि जिस प्रकार शक विदेशी थे, उसी प्रकार मगस भी विदेशी थे।[१] जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, उन्हें शकद्वीप में पाया गया था। किन्तु भारत में मिहिर अथवा सूर्य की पूजा एशिया के मागी पादरियों के साथ आई थी।

इस सम्बन्ध में, यह तथ्य भी उल्लेखनीय है, कि ऊपर, चन्द्रभागा के तट पर स्थित जिस सूर्य मन्दिर का उल्लेख किया गया है, वह पहले मुल्तान (मूलस्थान) में था। इस प्रकार मुल्तान (मूलस्थान) सूर्यपूजा का मूलस्थान था। औरंगज़ेब ने १६वीं शताब्दी में इस मन्दिर को नष्ट कर दिया था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस तथ्य को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। यह कहना समीचीन होगा कि सूर्य की उपासना कुषाणकाल में प्रचलित थी, क्योंकि कुषाणकाल के सिक्कों पर मिहिर (सूर्य) शब्द का उल्लेख एवं सूर्य की मूर्त्ति मिलती है। इसी समय मुलतान में भी सूर्य मन्दिर का निर्माण हुआ होगा। कुषाण काल के सिक्के पर मिहिर शब्द का उल्लेख एक और दृष्टि से भी सूर्योपासना की प्राचीनता को सिद्ध करता है। वह, यह कि मिहिर शब्द परशियन के मिहर (Mihr) शब्द का संस्कृत रूप है। मिहर (Mihr) अवेस्ता के मिथर (Mithra) का अपभ्रंश है, तथा मिथर (Mithra) वेद का मित्र शब्द है। इस प्रकार यह सूर्य सिद्धान्त परशिया से प्रारम्भ होकर एशिया माइनर एवं पूर्व की ओर तक पहुँच गया था।

सूर्योपासना के सम्बन्ध में शिलालेखसम्बन्धी कुछ अन्य तथ्य भी मिलते हैं। मन्दसौर के एक शिलालेख के अनुसार ४३६ई. में एक सूर्यमन्दिर का निर्माण हुआ था, जिसका पुनरुद्धार ४६३ई. में हुआ था। एक प्रमाण यह भी मिलता है, कि उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर ज़िले के इन्दौर में एक ताम्रपत्र के अनुसार देवविष्णु ने ४६४ई. में, सूर्यमन्दिर में दीपप्रज्वलन के लिए दान दिया था। एक अन्य शिला लेख के अनुसार ५११ई. में सूर्यमन्दिर के निमित्त आर्थिक सहायता का उल्लेख मिलता है। सूर्य की उपासना के सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने की बात है, कि उत्तर भारत के अतिरिक्त, पश्चिमी भारत में भी मुल्तान से लेकर कच्छ (cutch) तक, एवं उत्तरगुजरात तक अनेक सूर्य मन्दिर देखने में आते

---

१. Vaiṣṇavism Saivism, p. 154.

हैं। इसके अतिरिक्त पाटन (गुजरात) से दक्षिण की ओर मोढेरा में सूर्य मन्दिर के कुछ भग्नावशेष मिलते हैं, जो १०२६ई. के हैं। भारतवर्ष में सूर्योपासना के सम्बन्ध में यह कथन अपेक्षित है, कि हर्षवर्द्धन (सातवीं शताब्दी का मध्य) के समय के ताम्रलेख में हर्षवर्द्धन के पिता प्रभाकरवर्द्धन, पितामह आदित्य वर्द्धन तथा उनके प्रपितामह राज्यवर्द्धन सूर्य के उपासक एवं भक्त के रूप में चित्रित किए हैं।[1] यहाँ यह तथ्य भी अवलोकनीय है, कि प्रभाकरवर्द्धन एवं आदित्यवर्द्धन नामों में सूर्यवाचक प्रभाकर एवं आदित्य शब्द का प्रयोग भी सूर्य के प्रति आस्था का द्योतक है। इससे यह सुस्पष्ट है कि भारतवर्ष में सूर्य की उपासना छठीं शताब्दी के आरम्भ में विकसित हो चुकी थे।

१. परमादित्यभक्त, Epigraphia Indica Vol. 1, pp. 72&73।

चतुर्दश अध्याय

आधुनिक युग

(१९वीं-२०वीं शताब्दी)

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी वैचारिक क्रान्ति का युग है। इस युग में साहित्य हो या दर्शन, सभी क्षेत्रों में परम्परा से हटकर विचार करने की प्रवृत्ति आरम्भ हुई। संस्कृतसाहित्य के क्षेत्र में भी पंडित अम्बिकादत्त व्यास एवं पण्डिता क्षमाराव प्रभृति विद्वान् एवं विदुषियों ने समसामयिक विषयों पर विचार करने एवं लेखन का कार्य सम्पन्न किया। इस युग के विचारक प्रमुखतया एवं लेखक परम्परावादी न होकर तत्कालीन सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में पूर्णतया दत्तचित्त प्रतीत होते हैं। अब वे केवल ब्रह्मतत्त्व चिन्तक न होकर, बौद्धिक गवाक्ष से, धर्म-दर्शन के साथ-साथ वर्त्तमान जीवन की राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक एवं इतर समस्याओं का प्रत्यक्ष करने के कारण तत्तद्विषयों पर विचार करने के लिए विवश थे। अथ च इस युग के विवेकशील भारतीय चिन्तकों की दृष्टि के मूल में पश्चिम का राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं वैज्ञानिक विकास भी कारण कहा जा सकता है। यही कारण है, कि वर्तमान युग के संस्कृत लेखकों ने महाभारत, रामायण, कालिदास एवं भवभूति की परम्परा से बहुत कुछ विमुख होकर अपना ध्यान सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं वैज्ञानिक तथा एतादृश समस्याओं की ओर आकृष्ट किया है। इस युग के स्वतन्त्रता आन्दोलन (१९९२-१८३३) का प्रभाव भी भारतीय चिन्तकों एवं दार्शनिकों पर स्वाभाविक था। महात्मा गांधी, राममोहन राय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, पंडित बालगंगाधर तिलक (१८५६-१९२०) एवं विनोबा प्रभृति अनेक महापुरुष एवं चिन्तक उपर्युक्त राजनैतिक, सामाजिक एवं इसी प्रकार की विविध परिस्थितियों की देन थे। यदि इतिहास के पृष्ठों को उल्टा जाए, तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि किसी भी युग के अवतार एवं महापुरुषों के मूलकारण के रूप में तत्कालीन परिस्थितियाँ ही होती हैं–"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। गीता।। यही कारण है, कि महापुरुष युगपुरुष कहलाते हैं, क्योंकि वस्तुतः युग ही उनका जन्मदाता है। यहाँ, यह संकेत करना समुचित होगा, कि महात्मा गांधी, प० बालगंगाधर तिलक, विनोबा भावे आदि युगपुरुषों का मन्तव्य एवं गन्तव्य राजनैतिक एवं सामाजिक होते हुए भी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्तर से आपूरित था। निदर्शनार्थ, विनोबा ने 'भूटान यज्ञ' नामक पत्रिका में स्पष्ट शब्दों में कहा था–"हमारा मिशन कुल दुनिया को अद्वैत बनाना है।" इसी प्रकार गांधी, टैगोर एवं तिलक आदि की विचारधारा में भी आध्यात्मिक पुट देखा जा सकता है। कहना होगा, कि आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता एकात्मवाद के दृष्टिकोण के द्वारा राजनीति, समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सर्वांगीण एवं सार्वभौम विकास के साथ-साथ मानवमात्र के कल्याण की भावना को स्थापित करती है। दर्शन का एकात्मवाद ही 'वसुधैव

कुटुम्बकम्' की भावना का मूल है। इससे यह प्रश्नचिह्न भी समाप्त हो जाता है, कि साम्प्रतिक वैज्ञानिक युग में अध्यात्म एवं दर्शन की क्या उपयोगिता है। यहाँ, यह निर्देश भी अतिशयोक्ति न होगा कि आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि के ह्रास के कारण आधुनिक समाज एवं राजनैतिक क्षेत्र में नैतिक मूल्यों का उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है। निदर्शनार्थ, आज तो पश्चिमी दार्शनिक विचारक भी इस तथ्य को स्वीकारने लगे हैं, कि वेदान्त दर्शन का दृष्टिकोण, समाज की घरेलू आर्थिक विषमताओं के निराकरण में सर्वथा समर्थ है।[१] आर्थिक विषमताओं के निराकरण एवं विविध सामाजिक एवं प्रस्तुत प्रकरण के अन्तर्गत, यह वक्तव्य है, कि उन्नीसवीं शती के रामकृष्ण परमहंस एवं विवेकानन्द प्रभृति दार्शनिकों के संदेश में धर्म-दर्शन एवं सामाजिक दृष्टि का मिश्रित स्वर गुंजायमान था। यहाँ, इन दार्शनिकों की विचारधारा का मूल्यांकन किया जाएगा। यह कहना सङ्गत होगा, कि तत्कालीन सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप ही इन दार्शनिकों ने एक व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक रूप से समन्वित जीवन दर्शन को प्रस्तुत किया था। लोक एवं परलोक का समन्वय भारतीयदर्शन की विशेषता है।

अब यहाँ, रामकृष्ण परमहंस एवं विवेकानन्द प्रभृति उन्नीसवीं-बीसवीं शती के दार्शनिकों की चिन्तनधारा के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

रामकृष्ण परमहंस

स्वामी रामकृष्ण परमहंस सर्वधर्मसमन्वयकर्त्ता थे। इसीलिए उनके हृदय में ज्ञानी, भक्त, निर्गुणोपासक, सगुणोपासक, प्राचीन ब्रह्मवेत्ताओं एवं आज के नवीन ज्ञाताओं के लिए समान आदर-भाव था। काली के भक्त होते हुए भी स्वामी जी अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन करते थे। उनका विचार था, कि माँ काली की कृपा से जीव असीम आत्मा एवं ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता है। अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहंस माया को ईश्वर की शक्ति के रूप में स्वीकार करते थे। जिस प्रकार कि शांकर वेदान्त के अनुसार ईश्वर माया से अस्पृष्ट एवं अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार स्वामी जी के मतानुसार भी ईश्वर कभी मायाबद्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी ने कहा है, कि जैसे, सर्प जिसको काटता है, वह मर जाता है, सर्प के मुँह में सर्वथा विष रहता है, वह उसी मुँह से सदा खाता तथा निगलता रहता है, किन्तु वह स्वयं मरता नहीं है, इसी प्रकार माया

---

१. It Would not be difficult to complete literally hundreds of statements asserting that Advaita Vedānta has practical i.e., ethical, social and political relevance for India as well as even more fundamental relevance for the future of all mankind. It has been invoked against poverty, injustice of the dangers of the nuclear age. It has bean associated with such concepts as tolerance, equality, peaceful co-existence, brotherhood, internationalism the community of nations, democracy, the social and economic justice as well as with proclamation of cultural or national identity superionity, utopion notions of anarchy and so forth." Practical Vedānta. Some observations and questions, Page 2-3, paper wilhelm habitors).

भी दूसरों के लिए है, न कि ईश्वर के लिए।

रामकृष्ण परमहंस के अनुसार अद्वैतभाव में सुप्रतिष्ठित होना ही समस्त साधनों का लक्ष्य है। यही मुक्ति का स्वरूप है। इसके अतिरिक्त लोकसेवा के तत्त्व को भी स्वामी जी अद्वैतभाव का ही रूप मानते थे।

रामकृष्ण परमहंस ने मूर्त्तिपूजा एवं निर्गुण तत्त्व में एक प्रकार का समन्वय सिद्ध किया था। यों तो, उनका कहना था, कि किसी भी साकार रूप में ईश्वर को देखना ईश्वर की निन्दा ही है, किन्तु अन्ततः उनका विश्वास था कि मूर्त्तिपूजा से अद्वैत परमात्मतत्त्व का बोध होता है। परमहंस काली के भक्त एवं अद्वैती थे। विवेकानन्द ने कहा है, कि परमहंस सभी को समान उपदेश नहीं करते थे। प्रायः वे सामान्य जनों के लिए द्वैत का ही उपदेश करते थे। अपने कुछ विशेष शिष्यों के लिए ही, वे अद्वैत का उपदेश करते थे। उनके कुछ अन्तरंग शिष्य होते थे, तथा कुछ बहिरंग। नितान्त रहस्य के तथ्य, वे अपने अन्तरंग शिष्यों को ही उद्घाटित करते थे। शिष्यों के चरित्र का आकलन, परमहंस अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा करते थे, तर्क-वितर्क के आधार पर नहीं। अपने अनधिकारी शिष्यों को वे स्पष्ट कह दिया करते थे, कि तुम्हें इस जीवन में मोक्ष नहीं मिल सकता। एक वैज्ञानिक के रूप में परमहंस का विचार था, कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान उपचार सम्भव नहीं है। अत एव वे सामान्य जिज्ञासुओं को नारद-भक्ति का रहस्य समझाया करते थे।[१]

स्वामी विवेकानन्द (१८५३-१६०२) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

स्वामी विवेकानन्द, श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे। इन्होंने स्वामी रामकृष्ण के ही विचारों का विशेष रूप से प्रचार-प्रसार किया था। विवेकानन्द ने वेदान्तदर्शन को एक लोकोपयोगी एवं व्यावहारिक दर्शन का रूप दिया था। व्यावहारिक वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत विवेकानन्द का विचार था कि शान्त एवं निश्चल चिन्तन की अपेक्षा मानवसेवा प्रशस्त है।[२] जहाँ तक विवेकानन्द के अद्वैतवाद दर्शन की समस्या है, वे स्वयं यह जानते थे कि वे कोई नई बात नहीं कह रहे हैं।[३] इसके अतिरिक्त वे स्वयं को शंकर (शंकराचार्य) भी कहते थे।[४] इससे यह निश्चय करना अत्यंत सरल है कि वे शांकर-दर्शन के कितने समीप थे।

शांकर अद्वैतवादी की ही तरह विवेकानन्द भी एक अद्वैततत्त्व की सत्यता में विश्वास करते

---

१. The complete wars of Swami Vivekananda, Vol. VII, P. 413-414.

२. *D.M. DUTTA* : Contemporary Philosophy, p. 526. (The University of Calcutta, 1950).

३. And Vivekanand, though more intellectual and therefore more conscious of his doctrine, knew and maintained that there was nothing new in it. *Romain Rolland* : The Life of Vivekanand and The Universal Gospel, p. 189. (Advaita Ashram Mayavati, Almora)

४. The life of Vivekanand and the Universal Gospel, p. 189.

थे। इसीलिए विवेकानंद के अद्वैतवाद दर्शन के अनुरूप मनुष्य एवं पशु में भेद नहीं है। इसी आधार पर वे मनुष्यों द्वारा पशुओं के भोजन का भी निराकरण करते थे।[1] शांकर वेदान्त के ही समान विवेकानन्द द्वारा स्वीकृत अद्वैत तत्त्व भी ब्रह्म ही है। विवेकानन्द के विचारानुसार एक ब्रह्म ही अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है।[2] जगत् की अनेकरूपता के विषय में विवेकानन्द का विचार है, कि नाम एवं रूप की सहायता से अज्ञान द्वारा सृष्ट जगत् में ही पत्नी, बालक, शरीर एवं मन के भेद दिखाई पड़ते हैं। जब नामरूपात्मक उक्त अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तो अनन्त एवं असीम ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है।[3] जगत् की भ्रान्ति एवं परमसत्य के बोध के सम्बन्ध में, स्वामी विवेकानन्द ने प्रसिद्ध, रज्जु एवं सर्प का दृष्टान्त भी दिया है।[4] इस प्रकार स्वामी जी जगत् को अध्यारोप भी मानते हैं।[5] माया को स्वामी विवेकानन्द सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय स्वीकार करते हैं। परन्तु माया को विवेकानन्द जगत् की व्याख्या के लिए उपयुक्त नहीं मानते।[6] स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार माया कोई सिद्धान्त विशेष न होकर जगत् की स्थिति मात्र की बोधक है। इसके अतिरिक्त विवेकानन्द माया का मिथ्या अर्थ भी नहीं ग्रहण करते। जगत् को स्वामी विवेकानन्द परमार्थ सत्य के रूप में नहीं स्वीकार करते। परन्तु वे जगत् को पूर्णतया असत् भी नहीं कहते। इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद एवं विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद प्रायः समान ही है। परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया है। अद्वैतवेदान्त को व्यावहारिक दर्शन का रूप देकर स्वामी विवेकानन्द ने मानवसेवा एवं विश्वबन्धुत्व के भाव को उन्नत किया है। दर्शन की व्यावहारिकता पर प्रकाश डालते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है–

It is absolutely impracticable, no theory is of any value what ever, except as intellectual gymnastics.

---

१. That the one central ideal of Vedānta is oneness. There are no two in any thing, no two lives, nor even two different kinds of life for the two worlds... The Vedānta entirely denies such ideas as that animals are separate from man, and that they were made and created by God to be used for our food. (The Complete Works of Swami Vivekanand, Vol. II, p. 295)-Advaita Ashram, Calcutta.

२. Brahman is one, but at the same time appearing to us as may, on the relative plane. (Vivekanand's conversation with a disciple at Belur Math, 1898)—The Complete works of Swami Vivekanand Vol. VII—Advaita Ashram, Almora, 1947.

३. As Soon as this nescience is removed, the realisation of Brahman which eternally exists is the result.

४. Complete works of Swami Vivekanand, Vol. VII, p. 32.

५. वही, भाग-७, पृ० १६४।

६. "It is not" said Vivekanand, a theory for the explanation of world. *Romain Rolland* : The Life of Vivekanand & the Universal Gospel. p. 197.

अर्थात् व्यावहारिकता के अभाव में किसी सिद्धान्त का कुछ महत्त्व नहीं है। विवेकानन्द का कथन है, कि व्यावहारिकता के अभाव में तो कोई भी सिद्धान्त केवल बौद्धिक व्यायाम मात्र ही है।

स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक दर्शन का यह प्रबल पक्ष था, कि वे साध्य की ही तरह साधन को भी विशेष महत्त्व देते थे। उनका विचार था कि साधन का महत्त्व समझने पर ही साध्य की प्राप्ति होती है।

मोक्ष के सम्बन्ध में विवेकानन्द के मतानुसार आत्मज्ञान ही मोक्ष है, एवं आत्मज्ञान प्रत्यक्ष का विषय न होकर अनुभव का विषय है, यह कार्य कदापि नहीं है।[१] विवेकानन्द मोक्ष को नित्य ज्ञानस्वरूप मानते हुए कहते हैं, कि जब व्यक्ति को आत्मा के नित्य स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तो इसका परिणाम यह होता है, कि प्राकृतिक नियम ज्ञानी पर चरितार्थ नहीं होते। ज्ञानदशा में ज्ञानी समस्त इच्छाओं से विनिर्मुक्त होता है, सर्वथा स्वातन्त्र्यस्वरूप मोक्ष का अनुभव करता है। मोक्ष की स्थिति शुद्ध एवं शाश्वत तथा स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूप होने के कारण देश एवं काल की सीमा से अतीत है। वैदिक एवं क्रिश्चियन धर्म की तुलना करते हुए विवेकानन्द ने कहा है, कि वैदिक धर्म जहाँ आत्मा की नित्यता एवं शाश्वतता का पक्षपाती है, क्रिश्चियन धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा का संसार में जन्म होता है–

One of the Chief distinction between the Vedānta the christian religious is that each human soul had its beginning at its birth in to this world.[2]

स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२५–१८८३)

स्वामी दयानन्द सरस्वती वेदों में एकेश्वरवाद को न मानकर बहुदेववाद का समर्थन करते थे। वे ईश्वर को साकार न मानकर निराकार ही स्वीकार करते हैं। यही ईश्वर सृष्टि का रचयिता है। ईश्वर सृष्टि में व्यापक है, किन्तु अनन्त होने से सृष्टि से परे है। स्वामी जी सृष्टि में प्रकृति को ही उपादान के रूप में स्वीकार करते हैं। ईश्वर निमित्तकारण है। परमात्मा पूर्व विद्यमान प्रकृति से ही सृष्टि की उत्पत्ति करता है। यह पूर्व विद्यमान प्रकृति, स्वामी जी के मतानुसार अव्यक्त अथवा मूल प्रकृति है। प्रकृति को स्वामी जी ने परमेश्वर की सामर्थ्य माना है। इधर शंकराचार्य जी के अद्वैतवाद के अन्तर्गत भी माया परमेश्वर की शक्ति है। फिर, वेदान्त में भी माया को अव्यक्त कहा गया है–"अव्यक्तशब्दनिर्देश्या"। शांकर-वेदान्त में माया को प्रकृति भी कहा है–"ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिः" (शा. भा. श्वेता. उ. १।४।३)। जिस प्रकार शांकर वेदान्त में माया अथवा प्रकृति उपादानकारण है, उसी प्रकार स्वामी जी भी प्रकृति को उपादान कारण के रूप में स्वीकार करते हैं। शंकराचार्य जी ने सर्वोच्च तत्त्व को माया-विरहित ब्रह्म की संज्ञा दी है, यह निराकार एवं नीरूप है। इसी प्रकार स्वामी जी भी ईश्वर को

---

१. It is self caused. If we can find in ourself, something that is not acted on by any cause, then we have known the self. The complete works of Smani Vivekananda, Vol. vi, P. 84.

२. The complete works of Swami Vivekananda, Vol. vi, p. 85.

सर्वव्यापक, निराकार एवं नीरूप स्वीकार करते हैं। दोनों में, विशेषतः अन्तर सम्प्रदायवाद का है। सम्प्रदायवाद के अनुसार वेदान्त का अपरब्रह्म एवं सगुण (मायोपहित) ईश्वर, स्वामी जी को स्वीकार्य नहीं है, जिसका आधार उपनिषदें हैं। यहाँ, एक प्रश्न उत्पन्न होता है, कि निराकार एवं नीरूप ईश्वर में सिसृक्षा (सृष्टि को उत्पन्न करने की इच्छा) किस प्रकार उत्पन्न होगी, इसी प्रश्न का समाधान वेदान्त में सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर तत्त्व की स्वीकृति के द्वारा किया गया है।

दयानन्ददर्शन के अनुसार जीव भोक्ता, प्रकृति-सृष्टि भोग्य एवं ईश्वर स्रष्टा है। इस प्रकार, जीव, प्रकृति एवं ईश्वर, इस सिद्धान्तत्रय को स्वीकार करने के कारण ही, स्वामी जी का दार्शनिक सिद्धान्त त्रैतवाद के नाम से प्रख्यात है। अद्वैतवादियों ने भी इन तीनों को स्वीकार किया है, अन्तर केवल इतना है, कि अद्वैतदर्शन के अनुसार मोक्ष की स्थिति में, जीव ब्रह्म के साथ अद्वैतभाव को प्राप्त हो जाता है, एवञ्च प्रकृति अथवा माया, व्यवहार में सत्य, किन्तु परमार्थ दृष्टि से अनित्य है। मेरे विचार से स्वामी जी प्रधानतया एक समाज सुधारक थे।

स्वामी जी के दार्शनिक–सामाजिक विचारों के सम्बन्ध में विचार करते समय उनके मूर्त्तिपूजा-विषयक विचार के सम्बन्ध में भी ध्यान देना आवश्यक है। यहाँ एक सामान्य तथ्य विचारणीय है, और वह यह कि क्या, हम सभी अपने माता-पिता तथा शिशुओं एवं आदर्श पुरुषों के चित्र अपने घरों में नहीं रखते। क्या हम, यह नहीं जानते, कि किसी चित्र में कागज़ आदि नश्वर वस्तुएँ ही हैं। अभिप्राय यह है, कि चित्रस्थ देव एवं आदर्श पुरुषादि के प्रति, चित्र के माध्यम से हमारी श्रद्धा–आदरादि भावना, अभिव्यक्त होती है। अतः मूर्त्तिपूजा का खंडन स्वामी जी का प्रशस्त सिद्धान्त नहीं है। मूर्त्तिपूजा में भावस्थिति देखनी चाहिए, स्थूल तत्त्व नहीं।

बौद्धिक-अध्यात्मवादी युग

जैसा कि ऊपर स्पष्ट हुआ है, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, एवं अरविन्दघोष प्रभृति दार्शनिकों के सिद्धान्त को विवेचकों ने नव-अध्यात्मवाद के अन्तर्गत कोष्ठित किया है। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग अन्त से तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक पद्धति के प्रभाव के कारण, जिस परतत्त्व को बुद्धि से अतीत कहा गया था, जे. कृष्णमूर्त्ति एवं के.सी. भट्टाचार्य आदि विद्वानों ने उसे बौद्धिक तर्कनाओं के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के इस युग को बौद्धिक अध्यात्मवाद का नाम देना समीचीन ही होगा। इस युग के दार्शनिक विचारकों में प्रधान रूप से जे.कृष्णमूर्त्ति एवं के.सी.भट्टाचार्य (१८६५-१८८६) आदि आचार्यों के नाम गृहीत हैं।

एनीबेसेन्ट (१८४७-१६३३)

भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म ने विदेशियों को भी सदा आकृष्ट किया है। आधुनिक युग की इसी प्रकार की महान् गौरवशालिनी योरपीय महिला एनीबेसेन्ट हैं। वस्तुतः, एनीबेसेन्ट का नाम एनी वुड (Annie Wood) था। किन्तु इनका विवाह फ्रैंक बेसेन्ट (Frank Besant), एक पादरी (clergymen) से होने का कारण, यह एनीबेसेन्ट कहलाती थीं। एनीबेसेंट भारत में, १८६३ में आई थीं। वे जाति-पाँति एवं विविध रूढ़ियों का विरोधिनी थीं। भारत में अंग्रेज़ों के आधिपत्य

का एनीबेसेंट विरोध करती थीं। ये भारत में 'होमरूल' (Home Rule) की समर्थक थीं। इसीलिए इन्होंने १८१६ में 'होमरूललीग' की स्थापना की थी। अंग्रेजों ने इन्हें कारागार में बन्दी बनाया था।

भारतीय ईश्वरीय ज्ञान एवं अध्यात्म से भी एनीबेसेंट विशेष रूप से प्रभावित थीं। इसीलिए ये 'थियोसोफीकल सोसायटी' (Theosophical society) की अध्यक्ष नियुक्त की गई थीं। जे. कृष्णमूर्त्ति से, जो उस समय, केवल चौदह वर्ष के थे, वे विशेष प्रभावित थीं। उन्हें वे जोरोस्टर (Zoroaster) के समकक्ष मानती थीं। के. एम. मुन्शी ने उन्हें आधुनिक भारत के निर्माताओं में से एक मानते हुए कहा था, "One of the makers of modern India the greatest fareign and the only Europeon who threw her lot completely and unresearvedly with India."

यह अतिशयोक्ति न होगी कि एनीबेसेन्ट ने अनेक भारतीयों से भी अधिक हिन्दूधर्म, संस्कृति एवं दर्शन के महत्त्व को समझा था। इसीलिए उन्होंने हिन्दूधर्म के सम्बन्ध में लिखा है :

"Hindisum is the soul in which India's roots are stuck."[1]

एनीबेसेन्ट मानवसेवा को विशेष महत्त्व देती थीं। उन्होंने लिखा है :-

"Those are the true bests of the value of any man or woman, white or eolouled merit of character, merit of ability, merit of service to country.... These who canserve the best, those who help the most those who sacrifice most, these are the people, who will be loved in life & honoured in death."

सिस्टर निवेदिता (१८६७-१६११)

सिस्टरनिवेदिता का मूल नाम, मारगरेट नोबिल (Margaret Noble) था। ये आयरिश थीं। किन्तु जब कुमारी नोबिल १८६८ में कलकत्ता आईं, तो वे रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आईं, और उन्होंने रामकृष्ण परमहंस की विचारधारा को स्वीकार किया, तभी से वे अपने आप को निवेदिता कहने लगीं। कु. निवेदिता लन्दन में विवेकानन्द का भाषण सुनकर उनकी विचारधारा से विशेषरूप से प्रभावित हुई थीं। उन्हें शरीर, मन एवं आत्मा की आध्यात्मिकता का सिद्धान्त अत्यन्त आकर्षक प्रतीत हुआ। भारतीय अवतारवाद का सिद्धान्त भी कु. निवेदिता को औचित्यपूर्ण लगा। विवेकानन्द के इस सिद्धान्त से कु. निवेदिता अत्यधिक प्रभावित हुई थीं, कि व्यक्ति सत्य से सत्य की ओर जाता है, न कि भ्रान्ति से सत्य की ओर ("Man proceeds from truth to truth and not from wrong to truth.)। वे विवेकानन्द की उच्चविचारधारा, समर्पित सेवाभावना एवं आध्यात्मिक दृष्टि की भक्त थीं। कु. निवेदिता ने स्वयं को भारतीय धर्म, दर्शन, आध्यात्मिकता एवं मानवसेवा तथा भारतीय

---

१. Varadarāja V. Raman; Hamdred great names from India's past. Popular Prakashan, Bombay, 1989, से उद्धृत।

नारी के अभ्युत्थान के लिए समर्पित किया था। वे मानवसेवा को आध्यात्मिकता से ऊपर मानती थीं। कु. निवेदिता ने भारतवर्ष एवं विदेशों में भारतीय धर्म एवं दर्शन पर अनेक भाषण दिए थे। इस प्रकार कु. निवेदिता एनीबेसेंट की तरह पूर्णतया भारतीय ही हो गई थीं। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कु. निवेदिता के सम्बन्ध में कहा था "She was an Indian through and through an Indian to the very marrow of her' bones."

कु. निवेदिता ने भारतीय धर्म, संस्कृति एवं दर्शन पर बहुत कुछ लिखा था। उनका मानना था, कि पश्चिमी विद्वानों के द्वारा भारतीय सभ्यता का सही आकलन नहीं किया गया, वस्तुतः भारतीय सभ्यता सर्वोच्च है।[१].

पूर्वी बंगाल के एक गाँव में जब बाढ़ आ गई थी, एवं अकाल पड़ गया था, तो कु. निवेदिता वहाँ लोगों की सहायता के लिए गई थीं। वहीं वे मलेरिया से ग्रस्त हो गईं और इस प्रकार मानवसेवा में तत्पर निवेदिता का अन्त हो गया।

अरविन्द (१८६२-१८५०) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

भारतवर्ष के आधुनिक काल के दार्शनिकों में अरविन्द घोष एक योगी एवं दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध हैं। हम यहाँ, उनकी चर्चा एक अद्वैतवादी के रूप में कर रहे हैं। अद्वैतवादी तो वे थे, परन्तु उनका अद्वैतवाद ब्रह्माद्वैतवाद से भिन्न था। अरविन्द के दार्शनिक सिद्धान्त को शिवाद्वैतवाद का रूप देना समुचित होगा। अरविन्द के शिवाद्वैत-दर्शन के अनुरूप शिवतत्त्व ब्रह्म रूप है, और उसकी चित् शक्ति अपृथग्भूता है। जगत् शिव की चित्शक्ति का ही परिणाम है। इसीलिए अरविन्द दर्शन में भी जगत् शिव रूप है। यहाँ, यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अरविन्ददर्शन के अनुसार जगत् अद्वैतवेदान्त की तरह मिथ्या न होकर सत्य है। अरविन्द घोष ने जगत् के मिथ्यात्व का निराकरण करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है–

I do not agree with the view that the world is an illusion mithyā.[2]

अरविन्द घोष जगत् को चित्शक्ति का कार्य मानने के कारण, चेतन रूप भी मानते थे। यही सिद्धान्त अरविन्द घोष का जड़-चेतनवाद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन वस्तुओं को हम जड कहते हैं, वे भी स्वरूपतः चेतन ही हैं। इस प्रकार जगत् के भौतिक पदार्थों को भी अरविन्द चेतनता का ही गुण मानते थे। अरविन्ददर्शन के अन्तर्गत जगत् की इस चिद्रूपता का दर्शन जीव को

---

१. विशेष देखें, Varadarāja V. Raman, Hundred great names from India's past.

२. Letters of Sri Aurobindo (Second series), p. 3, Sri Aurobindo Circle, Bombay.

अज्ञान के कारण नहीं होता। अरविन्द घोष का विचार है, कि अज्ञान ही जगत् के ब्रह्म रूप से दर्शन करने में बाधक है। वस्तुतः ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र वर्तमान है। अतः जगत् के मिथ्यात्व का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है, कि अरविन्द घोष, शांकर अद्वैतवादियों के समान जगत् को मायिक एवं मिथ्या नहीं स्वीकार करते। जगत् को वे मिथ्या माया न कहकर, अज्ञानस्वरूपिणी माया को जगत् के वास्तविक स्वरूपज्ञान में बाधक मानते थे। जगत् की समस्या को सुलझाने के लिए अरविन्द घोष 'माया' शब्द के स्थान पर 'लीला' शब्द को अधिक उपयोगी मानते थे। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सृष्टि परमात्मा की लीलामात्र है। परमात्मा की लीलारूप सृष्टि को कदापि मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

ऊपर किए गये विवेचन के आधार पर, अरविन्ददर्शन पर शाक्त दर्शन का साक्षात् प्रभाव कहना अनुचित न होगा। अरविन्ददर्शन के समान ही शक्त्यद्वैतवाद मत में भी जगत् चित् शक्ति का परिणाम होने के कारण, चित् रूप एवं सत्य है। इसके अतिरिक्त शक्ति एवं शक्तिमान् का अविनाभाव भी शाक्त दर्शन एवं अरविन्ददर्शन में समान ही है। इस प्रकार शाक्त साधना के दार्शनिक पक्ष एवं अरविन्द घोष के दार्शनिक सिद्धान्त में पर्याप्त समानता है। अरविन्द घोष के ही निम्नलिखित कथन से, उन पर पड़े शाक्त दर्शन के प्रभाव का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है–

> I am a tāntrik, I regard the world as born of Ānanda (bliss) and living by Ānanda, wheeling from Ānanda to Ānanda. Ānanda and Shakti, these are the two real terms of existence.

अरविन्द घोष के उपर्युक्त कथन से उनका तान्त्रिक होना तो स्पष्ट ही है। इसके साथ-साथ उपर्युक्त कथन से यह भी सिद्ध होता है, कि जगत् पूर्णतया आनन्द रूप है। जगत्, आनन्द से ही उत्पन्न, आनन्द से ही जीवित एवं आनन्द के ही क्षेत्र में घूमता रहता है। इस प्रकार अरविन्द घोष के मतानुसार जगत् की सत्ता आनन्द एवं शक्ति रूप है। कर्म के सम्बन्ध में श्री अरविन्द गीता की विचारधारा के समान आत्मसमर्पण के पक्षपाती हैं। उनका कहना है, कि हमें अपनी संपूर्ण प्रकृति को भगवान् के हाथों में समर्पित कर देना चाहिए। हमें अपनी प्रत्येक वस्तु अपने अन्तर्यामी ईश्वर, विश्वमयसत्ता तथा विश्वातीत परमात्मा को समर्पित करनी होगी। इस प्रक्रिया से व्यक्ति का "अहं" उस "तत्" (परमात्मा) की ओर केन्द्रित होगा, जो उससे अनन्तगुण महान् है।[१] यही, श्री अरविन्ददर्शन में व्यक्ति का आत्मदान एवं आत्मसमर्पण है।

कर्म एवं मोक्ष के सम्बन्ध में श्री अरविन्द का विचार है, कि कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, अपितु प्रकृति अपनी अन्तःस्थ शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए, उसके द्वारा कार्य करती है, और वह शक्ति अनन्त असीम से उद्भूत होती है। इस तथ्य का ज्ञान, तथा कामना एवं अहंमूलक प्रेरणा के भ्रम से मुक्त होकर प्रकृति के स्वामी की उपस्थिति में, तथा उसकी सत्ता में निवास करना ही आवश्यक है।

---

१. Shri Aurobindo, the synthesis of Yoga, Part 1, chapter, III, Pondicherry., 1969.

श्री अरविन्द कहते हैं, कि यही वास्तविक मोक्ष है। कर्म का त्याग मोक्ष नहीं है। किन्तु मोक्षलाभ के पश्चात् व्यक्ति कर्म करता है, अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का मत है, कि मुक्त व्यक्ति उसी प्रकार कर्म करता है, जिस प्रकार भगवान् कर्म करते हैं, बिना किसी आवश्यकता और बिना किसी दुर्धर्ष अज्ञान के। वह कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता, तथा वह व्यक्तिगत रूप से कोई कार्य आरम्भ नहीं करता। भागवत शक्ति ही उसके अन्दर उसके द्वारा कर्म कराती है। संक्षेप में, श्री अरविन्द की दार्शनिक चिन्तनधारा के यही सूत्र हैं।

स्वामी रामतीर्थ (१८७३–१९०६ई.)

स्वामी रामतीर्थ विवेकानन्द के समान वेदान्त के व्यावहारिक रूप के अनुयायी, समर्थक एवं प्रचारक थे। इनका जन्म पंजाब के गुजरांवाला जिले के मुरारीवाला ग्राम में हुआ था। आरम्भ में, ये गोस्वामी तीर्थराम के नाम से विख्यात थे। इनकी आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा उर्दू में हुई थी। फारसी की दो प्रसिद्ध पुस्तकों–गुलिस्तां एवं बोस्ता का अध्ययन, इन्होंने बचपन में ही कर लिया था।

स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त को आधार मानते हुए कहा था, "वेदों की आत्मा सत् ज्ञान है"।[१] इसी सत् रूप ज्ञान की व्याख्या वेदान्त में अनेक रूपों में हुई है। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार वेदान्त का अर्थ स्वाधीनता एवं स्वतन्त्रता है।[२] वस्तुतः वेदान्तसम्मत मोक्ष आत्मा की स्वतन्त्रता अर्थात् संसार से सम्बन्धाभाव का ही समर्थन करता है। स्वामी रामतीर्थ ने समुचित ही कहा है, कि वेदान्त की दुर्दशा का कारण वेदान्त का अभाव है।[३] वेदान्त की विचारधारा को स्पष्ट करते हुए, स्वामी जी ने कहा है, कि संसार नामरूप का परिणाम है।[४] स्वामी जी के अनुसार वेदान्त हमें शक्ति प्रदान करता है, न कि दुर्बलता। आध्यात्मिक शिक्षा पर बल देते हुए उन्होंने कहा है, कि बौद्धिक शिक्षा, आध्यात्मिक शिक्षा के अभाव में निष्फल है। वस्तुतः आध्यात्मिकता हमें दृढ़ता प्रदान करती है।

शांकर-वेदान्त में माया को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है। इसी तथ्य को रामतीर्थ ने अपनी भाषा में स्पष्ट करते हुए कहा है, कि "जिस बात की हम पूर्ण रूप से व्याख्या न कर सकें, उसी का नाम माया है।"[५] वेदान्त में कर्म (यज्ञादि) चित्तशुद्धि का साधन तो है, किन्तु मोक्ष का हेतु नहीं। इसी की पुष्टि करते हुए, स्वामी रामतीर्थ ने भी कहा है, कि "ज्ञानवान् पुरुष ही इस विश्व के पदार्थों और बंधनों से मुँह मोड़कर मुक्ति के अमृत को प्राप्त करते हैं।"[६]

---

१. व्यावहारिक वेदान्त, भाग, ११, पृ० १४५।
२. वेदान्तशिखर, भाग, ६, पृ. ५००।
३. वेदान्तशिखर, भाग ६, पृ० ६०।
४. माया, भाग, ८, पृ० १०।
५. उन्नति का मार्ग, भाग, १६, पृ० १६।
६. व्यावहारिक वेदान्त और राष्ट्रिय उत्थान, पृ० ३६।

राष्ट्रियता का आधार स्वामी रामतीर्थ की दृष्टि में वेदान्त की दृष्टि है। स्वामी जी का विचार है, कि राष्ट्रहित के लिए प्रयास करना ही विश्व की शक्तियों अर्थात् देवताओं की आराधना करना है।[1] इस प्रकार वेदान्त की व्याख्या स्वामी रामतीर्थ ने समाज, धर्म, संस्कृति, दर्शन एवं आध्यात्मिकता के आधार पर की थी। संक्षेप में, ये व्यावहारिक वेदान्त के पक्षपाती थे।

के. सी. भट्टाचार्य (१८७५–१९४८)

के. सी. भट्टाचार्य आधुनिक युग के मौलिक विचारकों में प्रसिद्ध हैं। भट्टाचार्य के ग्रन्थों का प्रकाशन, Studies in philosophy नामक ग्रन्थ के दो भागों में सम्पन्न हुआ है।[2] जहाँ तक भट्टाचार्य की दार्शनिक विचारधारा का प्रश्न है, मूलतया ये अद्वैतवादी ही थे, किन्तु उन्होंने अद्वैतवादी दृष्टि को रूपान्तरित करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। सामान्यरूप से भट्टाचार्य की दार्शनिक विचारधारा के तीन पक्ष कहे जा सकते हैं। प्रथम पक्ष के अन्तर्गत भट्टाचार्य ने ज्ञातता के ज्ञान की विषयिता के अनेक स्तर स्वीकार किए हैं। उनके इस सिद्धान्त का आधार अद्वैत वेदान्त ही है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक ज्ञान की चरम कोटि से पूर्व प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक ज्ञान के रूप में ज्ञानी की अनेक कोटियाँ स्वीकार की गई हैं। भट्टाचार्य के दर्शन का द्वितीय पक्ष सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने मानसिक चेतना के–व्यावहारिक (Empirical), शुद्धविषयात्मक (para objective), आध्यात्मिक (Spiritual) एवं सर्वातिशायी-सर्वोच्च विचार (transcendental thought), ये चार स्तर स्वीकार करते हुए, अन्ततः पूर्ण निर्गुण सत्य (Absolute) की सत्ता अंगीकार की थी। भट्टाचार्य ने ज्ञान, इच्छा एवं संवेदन (Knowing, Willing & Feeling), के प्रतिरूप सत्य, स्वतन्त्रता एवं मूल्य (truth, freedom & value) को पूर्ण सत्य के आन्तरिक भेदों के रूप में माना था। इस प्रकार एक अद्वैतवादी के रूप में वे पूर्ण सत्य (Absolute) के समर्थक थे। पूर्ण सत्य को वे मानसिक चेतना एवं विषयता के द्वैत से अतीत मानते थे। भट्टाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त के तृतीय पक्ष के अनुसार ज्ञान से चित् का साक्षात् होता है, इच्छा से विषय के रूप में चिदाभास होता है, तथा अनुभूति के द्वारा विषयी एवं विषय की एकता के द्वारा आनन्द का अनुभव होता है। भट्टाचार्य द्वारा स्वीकृत आनन्दानुभव की यही स्थिति अद्वैत वेदान्त की अद्वैतानुभूति अथवा अपरोक्षानुभूति ही कही जाएगी। इस प्रकार भट्टाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त पर अद्वैतवेदान्त का पूर्ण अभाव कहना सर्वथा समीचीन है।[3] भट्टाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह टिप्पणी करना अनुचित न होगा, कि उन्होंने सत्य, स्वतन्त्रता एवं मूल्य (Truth, freedom & Value) को पूर्ण सत्य (Absolute) के तीन आन्तरिक भेद कहकर सैद्धान्तिक जटिलता उत्पन्न कर दी है। जो पूर्ण सत्य (Absolute) है, उसके भावभेद किस प्रकार सम्भव हैं। इस प्रकार यह कहना

---

१. भारतमाता, पृ० १।

२. कलकत्ता, १८५६, १८५८।

३. (Bhattacharya) drew inspiration from Advaita, gave it 'a new look' adding a luminous chapter to that immortal work of the Vedānta, T.M.P. Mahadervan & G. V. Saroja, Contemporary Indian Philosophy, (production), P.47, New Delhi, 1981.

समीचीन होगा, कि भट्टाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त में बौद्धिक व्यायाम अधिक, किन्तु दार्शनिक गाम्भीर्य न्यून है। दयाकृष्ण ने भी भट्टाचार्य के सिद्धान्त में जटिलता पाते हुए लिखा है–

Bhaṭṭachārya's style is difficult abstract, obscure and ambiguous; he was too much of a technical philosopher; and his thought has 'dark corners and tartuous paths.'

संस्कृति के सम्बन्ध में भट्टाचार्य का यह मत सर्वथा समुचित है, कि भारतीय संस्कृति का वास्तविक स्वरूप दर्शन में प्राप्त हो सकता है।[1] भट्टाचार्य के इस मत के सम्बन्ध में, यह कहा जा सकता है, कि अद्वैतवाद की दार्शनिक दृष्टि में जिस सार्वभौम संस्कृति के दर्शन होते हैं, वही सच्ची भारतीय संस्कृति है। अतः भट्टाचार्य का अनेक संस्कृतियों के सिद्धान्त को न स्वीकार कर एक समन्वित संस्कृति को स्वीकार करना सर्वथा न्याय्य है।[2]

रमण (१८७९-१९५०)

रमण महर्षि के दार्शनिक एवं मानवीय उपदेश १९२० के पश्चात् मिलते हैं। इन्होंने 'परिचयपुराणम्' से प्रेरणा लेकर निःस्वार्थ मानव सेवा का उपदेश दिया था, तथा मानव सेवा को ही मोक्ष का कारण सिद्ध किया था। इस प्रकार रमण महर्षि सत्कर्म को मोक्ष का हेतु स्वीकार करते थे। वस्तुतः ये एक कर्मयोगी एवं तपस्वी सन्त थे। अध्यात्म की तो ये साक्षात् प्रतिमूर्त्ति ही थे। आज समाज में इसी प्रकार के समाजसेवी आध्यात्मिकों की आवश्यकता है। महर्षि की यह सहनशीलता अवलोकनीय है, कि ये कभी भी जूते या किसी प्रकार के पादत्राण नहीं ग्रहण करते थे। पैरों के काँटों से भरे होने पर भी बीहड़ जंगलों में महर्षि नंगे पैरों ही प्रसन्नता से चलते थे। सिद्धान्ततः ये अद्वैती ही थे, तथा ब्रह्म को औपनिषद वेदान्त के समान सर्वव्यापी मानते थे। महर्षि का विश्वास था, कि व्यक्ति में मैं (अहम्) का अनुभव ब्रह्म तत्त्व का ही अनुभव है–"अहं ब्रह्मास्मि"। महर्षि का उपदेश है, कि ब्रह्मज्ञान के लिए जिज्ञासु को अपने भीतर ही "मैं कौन हूँ" ऐसी आत्मजिज्ञासा करनी चाहिए।

रमण महर्षि एक व्यावहारिक अद्वैतवादी थे।[3] विवेकानन्द के समान, उनकी दृष्टि में, मनुष्य एवं पशु में भेद नहीं था। उनका मानना था, कि सभी में एक आत्मा वर्त्तमान है।[4]

महर्षि रमण, पुरुषोत्तम रमण एवं भगवान् रमण के नाम से भी प्रसिद्ध थे। मुसरूगनर ने

---

१. Dayakrishna and B. V. Kishan, what is living & what is dead in Indian philosophy—p. 304, 365 Andhra-University, Welter's 1978.

२. देखें, के. सी. भट्टाचार्य का प्रकाशित भाषण, Swaraj in India, Viśvabhāratī, Journal, Vol. XX, 1954 PP. 103-14.

३. देखें पुरुषोत्तम रमण, रमणगीता, (बंग्लौर)।

४. विशेष देखें, राममूर्त्ति शर्मा, Encyclopaedia of Vedānta EBL, Delhi, 1992.

तमिल में महर्षि रमण की रचनाओं–उपदेशसारम् उल्लादु नरपदु (४० पद्यों का संग्रह) एवं गुरुवचक कोवई (गुरु उपदेशों का हार) का संग्रह किया था।

जे. कृष्णमूर्त्ति (१८६४)

जिद्दू कृष्णमूर्ति अद्वैतवेदान्त से पूर्णतया प्रभावित थे। वे सत्य को किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय से प्राप्तव्य नहीं मानते थे।[1] वे सत्य को एक ऐसे देश (Pathless land) के समान मानते थे, जिसके लिए किसी मार्ग की अपेक्षा नहीं है। यह औपनिषद वेदान्त की वही दृष्टि है, जिसके अनुसार आत्मा न प्रवचन का विषय है, न बुद्धि का और न बहुधा श्रवण का[2], वह तो मात्र अनुभवस्वरूप है। सत्य की तुलना मार्गरहित देश (Pathless land) से करते हुए वे कहते हैं कि जब सर्वत्र कण-कण में परम सत्य परमेश्वर व्याप्त है तो उस तक पहुँचने के लिए मार्ग, साधन का प्रश्न ही कहाँ उठता है, क्योंकि वह तो साधन में भी है। इस सिद्धान्त का स्पष्ट आधार छान्दोग्योपनिषद् का "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" सिद्धान्त है। कृष्णमूर्त्ति का तर्क है कि सत्यस्वरूप ईश्वर की प्राप्ति के लिए, किसी साधन की अपेक्षा न होकर, चित्त की एकाग्रता, आत्मस्वरूपबोध, सत्यस्वरूप के स्मरण एवं आचारव्यवहार की अपेक्षा है।[3] सत्य को (Pathless land) मार्गरहित देश कहते हुए भी, कृष्णमूर्त्ति ध्यान (Meditation) को वर्तमान एवं उसके ऊपर जो कुछ है, उसका प्रत्यक्ष मानते हैं।[4] किन्तु यहाँ, यह तथ्य विचारणीय है कि ध्यान साध्यप्राप्ति की प्रक्रिया है, साधन है, साध्य नहीं। साध्य तो समाधि ही है। उपनिषद् भी यही कहती है–"श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" अर्थात् आत्मा श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का विषय है। इस प्रकार सत्य अथवा आत्मा अथवा परमात्मा परमेश्वर की प्राप्ति के लिए सामान्यतया श्रवणादि की साधनता स्वीकार करनी ही चाहिए।

अपने कोलम्बो भाषण (नवम्बर, १८२०) में आत्मनिरीक्षण पर बल देते हुए, कृष्णमूर्त्ति ने कहा है, कि मनुष्य को स्वयं का निरीक्षण (Self observation) करना चाहिए, तथा स्वयं को जो

---

१. "I maintain that truth is a pathless land and you cannot approach it, by any path whats ever, by any religion, by any such ...३ अगस्त, १८२८ को, ओमन में दिए गए कृष्णमूर्त्ति के भाषण से।

२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। कठ. उ. २।२३।

३. What it reguires is concentration, awareness, recollectedness, conduct, behaviour. Krishnamurti, on the Path.

४. "Meditation is the seeing of what is and it going beyond it." Susunaga Veeraperuma, That Pathless Iddukrih Motilal Banarasidas, Delhi.

५. It should not be overlooked that the reader of the look is not an entity separate from the book itself because "THe Book is you" Krishnamurti; Columbo speech, 1980.

वह एक पुस्तक है, पढ़ना चाहिए। इस प्रक्रिया से अन्तर्यामी ईश्वर की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। कृष्णमूर्ति कहते हैं, कि व्यक्ति जो स्वयं एक पुस्तक है, तथा उसका पाठक, पृथक्-पृथक् नहीं हैं, अपितु एक ही हैं[१]। इस प्रकार स्वयंबोध ही आत्मबोध एवं ईश्वरीय ज्ञान है। यही अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव, जगत् एवं ब्रह्म का अद्वैतभाव है।

मोक्ष के सम्बन्ध में भी कृष्णमूर्त्ति की धारणा वेदान्त जैसी ही है। कृष्णमूर्त्ति मोक्ष को अनिर्वचनीय, असीम, सत्य, कालातीत एवं सृजनात्मक कहते हैं। यही आशय उनकी कविता की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होता है, जो उन्होंने **सत्य** को परिभाषित करते हुए लिखी हैं–

It is as the air, Free, limitless, Indestructible Immeasurable ! Krishnamurti, The Song of Life.

जहाँ तक, बन्धन का प्रश्न है, वेदान्त में बन्धन का कारण ममत्व एवं परत्वमूलक अज्ञान है। इस अहंकारमूलक, अज्ञान के कारण ही जीव अहंकारवश अपने स्वरूप अर्थात् आत्मा का बोध नहीं कर पाता। इसी प्रकार कृष्णमूर्त्ति ने भी अहंकार को बन्धन का कारण स्वीकार करते हुए कहा है, कि जब तक मनुष्य में 'अहं' है, तभी तक भ्रष्ट आचार, संशय एवं दुःख हैं। एवं च, क्या इस 'अहं' स्वरूप अज्ञान के नाश के बिना, परमार्थ एवं पूर्ण सत्य की प्राप्ति संभव है।[२]

जैसा कि सुसुनागा वीरापेरुमा (Susunaga Veeraperuma) ने अपनी पुस्तक, (That Pathless land) पृ० ६२ में लिखा है, कृष्णमूर्त्तिलिखित छोटी-बड़ी सात सौ रचनाएँ मिलती हैं। इन रचनाओं में उनके लघु-बृहत् ग्रन्थ, लेख, भाषण एवं कविताएँ भी सम्मिलित हैं। यहाँ इनमें से प्रमुख रचनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है।

१. Krishnamurti's note book (London : Victor Gollancy, 1976). इसके अन्तर्गत कृष्णमूर्ति के जून, १८६१ से आरम्भ होकर सात मास के आध्यात्मिक अनुभव वर्त्तमान हैं।

२. The first and last freedom (London : Victor Gollancy, 1954) कृष्णमूर्त्ति का अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के लगभग आधे भाग में प्रश्नोत्तर हैं, जो ३८ विषयों पर आधारित हैं।

---

१. So long as the 'I' exists, there is corruption, confusion and sorrow. In understanding that 'I' and not killing it, earn man come to the realisation, of that ultimate Reality, Which is completeness X. Krishnamurti

२. M.B. Delhi, 1996, A bibliography of the life & teachings of jdduprihmamurti (kriden, E.J. Bill, 1974).

३. शिक्षा से सम्बन्धित कृष्णमूर्त्ति का ग्रन्थ, Education and the significance of life (New York] Harper and Row, 1953) महत्त्वपूर्ण है। कृष्णमूर्ति स्वयं के बोध को ही शिक्षा का प्रारम्भ स्वीकार करते हैं।

४. कृष्णमूर्त्ति की कविता के तीन भाग, The Search (1927), The Immortal, Friend (1928) तथा The song of life (1931) दुर्लभ हो गए थे, १८८६ में Poems & Parables,[1] तथा From darkness to light : Poems and Parbles[2] के अन्तर्गत पुनः प्रकाशित हुए थे।

५. कृष्णमूर्त्ति के ग्रन्थ, The three volumes of commentaries on living, from the notebooks of J. Krishnamurti, में उनके उन वार्त्तालापों के सार हैं, जो परामर्श के रूप में अनेक व्यक्तियों के साथ हुए थे।[3]

६. The Only Resolution (London : V.G. 1970) के अन्तर्गत कृष्णमूर्त्ति ने प्रकृति एवं ध्यान (Meditation) जैसे विषयों पर प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ में, कृष्णमूर्त्ति के भारत, अमरीका (केलीफ़ोर्निया) एवं योरप में दिए गए साक्षात्कार (interviews) भी सम्मिलित हैं।

७. कृष्णमूर्त्ति का ग्रन्थ, Meditation,[4] ध्यान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कृष्णमूर्त्ति के अनुसार ध्यान मौन की क्रिया है। यही कृष्णमूर्त्ति के समग्र आध्यात्मिक उपदेश का प्रमुख तत्त्व है।

आचार्य विनोबाभावे (१८९५ ई०) और उनका दर्शन

विनोबा जी का दार्शनिक सिद्धान्त सर्वोदय दर्शन है। सर्वोदय शब्द के ही अन्तर्गत विनोबा जी की अद्वैतनिष्ठा का परिचय मिल जाता है। विनोबा जी पर औपनिषद वेदान्त का भी पूर्ण प्रभाव है। विनोबा जी पर पड़े, गीता एवं उपनिषदों के प्रभाव का परिज्ञान, उनके निम्नोद्धृत कथन से पूर्णतया हो जाता है :

'मेरे जीवन में गीता ने माँ का स्थान लिया है । वह स्थान तो उसी का है । लेकिन मैं जानता हूँ कि उपनिषद् मेरी माँ की माँ है ।'[5]

उपर्युक्त कथन के अनुरूप विनोबा जी पर वेदान्त विद्या के आधारग्रन्थ–गीता एवं उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु इसके साथ-साथ यह कह देना और न्यायसंगत होगा कि उपनिषदों के ब्रह्म

---

१. London : Victor Gollancy, 1981.
२. New York : Harper & Row, 1980.
३. Gollancy, 1956-1961, London.
४. Sen Francisco, Harper & Row, 1979.
५. विनोबा : उपनिषदों का अध्ययन, प्रस्तावना (सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९६१)।

एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन विनोबा जी ने अपने स्वतन्त्र एवं नवीन दृष्टिकोण के आधार पर किया है।

कहना न होगा, कि विनोबा जी ने अद्वैतदर्शन को पूर्ण रूप से व्यावहारिक दर्शन का रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। शांकर अद्वैतवादी की तरह विनोबा जी भी ब्रह्म को सर्वोच्च तत्त्व मानते हैं। विनोबा जी ने ब्रह्म शब्द का अर्थ–विशाल एवं व्यापक किया है[1]।

अद्वैतवेदान्त की ब्रह्मरूपता को स्पष्ट करते हुए विनोबा जी का कथन है, कि संकुचित जीवन को छोड़कर ब्रह्मरूप होना ही मनुष्य का ध्येय है। इस प्रकार विनोबा जी के अनुसार व्यापकतम स्थिति प्राप्त होने का नाम ही ब्रह्मनिर्वाण है।[2] गीतादर्शन के आधार पर विनोबा जी का मत है, कि वस्तुतः जीव ब्रह्मरूप है, परन्तु देह के पर्दे के कारण वह अपने ब्रह्मस्वरूप का अनुभव नहीं करता। विनोबा जी के मतानुसार देह साधन तो है, परन्तु साध्य नहीं।[3] विनोबा जी जीवन्मुक्ति के पक्षपाती हैं। उन्होंने जीवन्मुक्ति के विचार को स्पष्ट करते हुए कहा है : मेरा तो ख्याल है कि मनुष्य इसी जीवन में ब्रह्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार कर सकता है।"[4] परन्तु एक दूसरे स्थल पर विनोबा जी ने यह भी कहा है कि इस जीवन में जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त करना सम्भव तो है, किन्तु शरीर रहते हुए उसकी पूर्णता होना कठिन है। विनोबा जी का विचार है कि ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होते ही शरीर छूट जाना चाहिए।[5]

ब्रह्मलोक से विनोबा जी का आशय साम्यावस्था है। समत्व की स्थिति प्राप्त करना ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। इस साम्य दर्शन को विनोबा जी ने अपने साम्यसूत्र के अन्तर्गत विशद रूप से स्पष्ट किया है।[6] साम्ययोग सिद्धान्त के अन्तर्गत विनोबा जी का विचार है कि सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा स्थित है। अतः मनुष्य–मनुष्य में भेद नहीं है। यहीं तक नहीं, विनोबा जी का कथन है कि मनुष्य और दूसरे पशुओं में भी आत्मिक दृष्टि से भेद नहीं है।[7] विनोबा जी का उक्त विचार ही उनका अद्वैतवादी विचार कहा जा सकता है। साम्ययोग के अन्तर्गत विनोबा जी ने आर्थिक, राजनैतिक एवं अन्य सभी क्षेत्रों में साम्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। इसी साम्ययोग के आधार पर विनोबा जी ने समस्त संसार को अद्वैत

---

१. विनोबा : स्थितप्रज्ञदर्शन, पृष्ठ १६५, (सस्ता साहित्य मण्डल, १६५६)।

२. वही, पृष्ठ १६५।

३. विनोबा, गीताप्रवचन, पृष्ठ १७३, (हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनूदित, सर्वसेवासंघ राजघाट, वाराणसी)।

४. विनोबा संवाद : त्यौहार राजेन्द्र सिंह, पृष्ठ १५।
(अखिलभारत सर्वसेवा-संघ, राजघाट, काशी, १६५७)।

५. त्यौहार राजेन्द्रसिंह : विनोबा-संवाद, पृष्ठ ३२।

६. साम्यसूत्र (विनोबा लिखित)।

७. Sāmya Yoga holds that there in dwells in every man the same Spirit. It, therefore makes no distinction between man and man. It even goes further & recognizes no ultimate difference in spirit of man and other animals." (Post Prayer Speech of Vinobha in Bihar)—quoted from Vinoba and his mission, *Suresh Ram Bhai*, p. 208.

रूप बनाने का संकल्प किया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर विनोबा जी की अद्वैतवादिता पूर्ण रूप से परिलक्षित हो जाती है। विनोबा जी का सर्वोदयदर्शन भी उनकी अद्वैतनिष्ठा का ही परिणाम है। सर्वोदयदर्शन का मूलाधार 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु' का भाव है। दादा धर्माधिकारी ने सर्वोदय के आशय को प्रकट करते हुए कहा है-

'एक साथ समान रूप से सबका उदय हो, यही सर्वोदय का उद्देश्य है'[2]।

आधुनिक युग समालोचना का युग है। इसीलिए इस युग में अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित मौलिक ग्रन्थों के स्थान पर समालोचनात्मक ग्रन्थ ही अधिक लिखे जा रहे हैं। हिन्दी, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं में आज अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित समालोचना का सर्जन हो रहा है।

जहाँ तक, पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई समालोचना की बात है, १९वीं[3] शताब्दी के कोलब्रुक, विल्सन, चार्ल्स विल्किन्स, रोअर, काबेल, बोथलिंक, मैक्समूलर, डायसन, वेवर, थीबो, जैकब, गफ, वेनिस एवं विलियमजोन्स द्वारा अद्वैत वेदान्त की महत्त्वपूर्ण समालोचनायें प्रस्तुत की गई हैं।

यदि हम निष्पक्ष भाव से कहें तो यह कथन ही होगा कि अद्वैत वेदान्त पर उपलब्ध भारतीय आलोचनात्मक देन की अपेक्षा उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानों की देन किसी प्रकार कम नहीं है। हमें, यह स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अद्वैतवेदान्त ही नहीं, अपितु समग्र संस्कृतसाहित्य के भारतीय समालोचकों ने पाश्चात्य समालोचकों की समालोचना प्रणाली से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के सहस्रों विद्वानों ने भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा का विविध रूप से आलोडन-विलोडन किया है। इनमें, संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी एवं उर्दू सभी भाषाओं के विद्वान् हैं। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय भाषाओं में भी दार्शनिक ग्रन्थों का अनुशीलन एवं अनुवाद हुआ है।

भारतीय दर्शन के मौलिक विवेचकों की दीर्घ सूची है। इनमें[4] आदि ब्रह्म समाज के संस्थापक,

---

१. देखिए-विनोबा जी का लेख-हमारा मिशन कुल दुनिया को अद्वैत बनाना है। 'भूदान यज्ञ' (साप्ताहिक) १९ मार्च, १९६५।

२. दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय दर्शन, पृष्ठ २३।
(अखिल भारत सर्वसेवासंघ, राजघाट, काशी-१९५७ ई०)
तथा देखिए-*Dr. V. N. Tandon* : The Social & Political Philosophy of Sarvodaya after Gandhiji, Introduction.

३. पाश्चात्य विद्वानों का यह समय आशुतोष शास्त्री के वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद नामक ग्रन्थ के आधार पर दिया गया है।

४. राममोहन राय ने उपनिषदों के आधार पर हिन्दूधर्म की प्रस्थापना की थी। इनका सिद्धान्त था, कि उपनिषददर्शन एक शाश्वत दर्शन है, तथा यह प्राचीन होते हुए भी आधुनिक जगत् की समस्याओं के समाधान में सक्षम है, एवं आधुनिक विज्ञान का समर्थक है। राममोहन राय ने चार उपनिषदों का अनुवाद भी किया था।

राममोहन राय (१७६२-१८३३), एम. एन.राय[1] एवं पण्डित बालगंगाधर तिलक,[2] एनीबेसेंट आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह भी स्पष्ट है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी भी भारतीय दर्शन की विचारधारा–वेदान्त से प्रभावित हुए हैं। भारतीय दर्शन के अंग्रेजी लेखकों में सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, धीरेन्द्रमोहनदत्त एवं चटर्जी तथा चन्द्रधर शर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखयोग्य हैं। इन विद्वानों, **टी. आर. वी. मूर्त्ति एवं भीखनलाल आत्रेय** आदि विद्वानों का भारतीयदर्शन को योगदान अद्वितीय है। यह उल्लेखनीय है, कि समस्त विश्व में भारतीय दर्शन को पहुँचाने वाले डा. राधाकृष्णन् ही थे। ये भारतीय दर्शन के मात्र लेखक न होकर, सच्चे अर्थ में दार्शनिक थे। इनकी ग्रन्थगत अभिव्यक्ति से भी इनकी दार्शनिकता स्पष्ट झलकती है। इस प्रकार एक दार्शनिक मनीषी के रूप में, वर्त्तमान युग में डा. राधाकृष्णन् का स्थान सर्वोपरि कहा जाएगा। अंग्रेजी के माध्यम से लिखने वाले आधुनिक युग के समालोचक विद्वानों में रानाडे, टी. एम. पी. महादेवन, देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, पी. टी. राजू, बी. एन. के. शर्मा, सच्चिदानन्दमूर्त्ति, बालसुब्रह्मण्यम् तथा गोविन्द चन्द्र पाण्डेय प्रभृति विद्वानों का योगदान स्तुत्य है। हिन्दी, अंग्रेजी एवं संस्कृत, तीनों ही भाषाओं के माध्यम से भारतीय दर्शन के क्षेत्र में मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का नाम शिरोधर्म है। ये काशी में रहते थे, तथा एक सच्चे साधक थे। प्रधानतः ये शाक्त एवं योगी थे। कविराज जी प्राचीन एवं अर्वाचीन, दोनों ही पद्धतियों के विद्वान् थे। संस्कृत एवं अंग्रेजी में लिखने वाले भारतीय विद्वानों में डा. हरदत्त शर्मा का नाम अग्रगण्य है। भारतीय दर्शन के कतिपय ऐसे चिन्तक हैं, जिन्होंने हिन्दी एवं अंग्रेजी, दोनों ही भाषाओं में ग्रन्थ लिखकर भारतीय दर्शन की श्रीवृद्धि की है। इन विद्वानों में म.म. डा. उमेश मिश्र जैसे विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस युग के हिन्दी–लेखकों एवं विद्वानों ने भारतीय दर्शन की विचारधारा से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस युग के हिन्दी में लिखने वाले प्रतिष्ठित विद्वानों में, आचार्य नरेन्द्रदेव, राहुल सांकृत्यायन, पण्डित बलदेव उपाध्याय, भरतसिंह उपाध्याय एवं पंडित उदयवीर शास्त्री आदि के नाम समादरणीय हैं। वर्त्तमान युग के भारतीय दर्शन के हिन्दी लेखकों में पण्डित बलदेव उपाध्याय का इस दृष्टि से सर्वाधिक योगदान है कि इन्होंने भारतीय दर्शन को हिन्दी पाठक तक पहुँचाने का स्तुत्य कार्य

---

१. एम. एन. राय औपनिषद ब्रह्मवाद के समर्थक थे।

२. प० बाल गंगाधर तिलक (१८५६–१८२०) ने १६१४ में गीता की स्वतन्त्र व्याख्या प्रकाशित कर विश्व के लिए अद्वैतपरक आचारसंहिता प्रदान की थी। इस व्याख्या के पश्चात् गीता, मात्र एक धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थ न होकर, समस्त विश्व के लिए एक नैतिक एवं आचारप्रधान ग्रन्थ के रूप में भी सम्मानित हुई थी। भारतवर्ष के स्वतन्त्रता आन्दोलनकर्त्ताओं पर भी पंडित बालगंगाधर तिलक के गीताविषयक दृष्टिकोण का प्रभाव परिलक्षित है।

किया है। आत्मश्लाघा न हो जाय, इस लेखक ने भी भारतीय दर्शन, विशेषतः वेदान्त के क्षेत्र में यत्किञ्चित् कार्य किया है।

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत वेदान्तदर्शन के चिन्तक एवं प्रसारक के रूप में डा. कर्णसिंह (१९३१) बीसवीं शताब्दी के एक मूर्धन्य मनीषी हैं। डा. कर्णसिंह ने वेदान्त पर देश-विदेश में अनेक महत्त्वपूर्ण भाषण दिए हैं। इनकी ओजस्वी वाणी एवं उद्दाम व्यक्तित्व श्रोताओं को स्वभावतः आकृष्ट कर लेते हैं। डा. कर्णसिंह विवेकानन्द द्वारा प्रदर्शित वेदान्तपथ के अनुसर्ता, एवं शैवदर्शन के विशेष अनुयायी हैं। श्री अरविन्द के दर्शन में भी इनकी आस्था है। अरविन्ददर्शन पर इन्होंने एक ग्रन्थ भी लिखा है–वैसे तो, इन्होंने अठारह ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु उनमें Humanity at the cross reads, तथा हिन्दूदर्शन (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९९८, द्वितीय सं.) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डा. कर्णसिंह ने वेदान्त पर देश-विदेश में अनेक महत्त्वपूर्ण भाषण दिए हैं। इनके भाषणों में, इनका विज्ञानभवन (दिल्ली) में अन्तरराष्ट्रीय शंकराचार्य संगोष्ठी[1] (१९८६) में दिया गया, Vedānta and Physics भाषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वर्त्तमान में, भारतीय दर्शन के प्रचारकों में डा. किरीट जोशी का नाम भी सर्वथा आदरणीय है। डा. जोशी श्री अरविन्द के दार्शनिक सिद्धान्त के पण्डित एवं भक्त हैं। पाण्डिचेरी के श्री अरविन्द के आश्रम में दीर्घकाल तक रहकर, डा. जोशी ने आध्यात्मिक साधना की थी। सम्प्रति ये 'धर्म हिन्दुजा इन्टरनेशनल सेन्टर फ़ार इन्डिक रिसर्च' नामक संस्था के अध्यक्ष के रूप में वेदविद्या एवं भारतीय दर्शन का प्रचार-प्रसार, संगोष्ठियों, विद्वानों के भाषणों, अधिवेशनों, कार्यशालाओं आदि के आयोजन के द्वारा अत्यन्त सुचारु रूप से कर रहे हैं। अरविन्द दर्शन के विद्वान् के रूप में, इन्होंने दो प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे हैं–Shri Aurobindo and the Mother तथा Shri Aurobindo and Integral Yoga. इसके अतिरिक्त इनके शताधिक महत्त्वपूर्ण शोधलेख भी हैं।

मुस्लिम, ईसाई एवं पारसी दार्शनिक

भारतीय दर्शन, विशेषतः अद्वैतवेदान्त की, एकात्मवाद पर आधारित, यह विशेषता रही है, कि इस सार्वभौम दर्शन को प्रायः समस्त विश्व ने सराहा है, तथा इसका अनुशीलन किया है। भारत में भी मुस्लिम, ईसाई एवं पारसी विचारकों ने इसका गम्भीरता से अध्ययन किया है। जहाँ तक, मुस्लिम विचारकों की बात है, **मोहम्मद इक़बाल** (१८७३-१९३८) ने अपने काव्यात्मक ग्रन्थों–The secrets of the self, The mysteries of selflessness[1] एवं Reconstruction religious thought in Islam' में अपने दार्शनिक विचार अभिव्यक्त किए हैं। इक़बाल सक्रिय आत्मवाद के

१. अन्तरराष्ट्रिय शंकराचार्य संगोष्ठी का संयोजन, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली एवं संस्कृति विभाग, भारत सरकार के तत्त्वावधान में किया गया था। डा. सच्चिदानन्द मूर्त्ति, इसके संयोजक एवं डा. राममूर्त्ति शर्मा कोआर्डिनेटर थे।

समर्थक हैं। ये, रूमी एवं नीत्से तथा वर्गसां की विचारधारा से प्रभावित थे। काल आत्मा का व्यवहार क्षेत्र है। मनुष्य का जीवन चेतना की एक अनन्त लहर है, जिसमें सातत्य एवं शाश्वतता है, यह इक़बाल की प्रमुख मान्यता थी। इक़बाल की दार्शनिक समझ का यह पक्ष महत्त्वपूर्ण है, कि वे ईश्वर के प्रति प्रेम को ईश्वर का रूप देते थे। क्या उनका यह सिद्धान्त वेदान्त के 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है) सिद्धान्त का सरलीकरण नहीं है। इक़बाल ईश्वर भक्ति को ही सत्कर्म, सद्ज्ञान एवं उच्चादर्शों का प्रेरक मानते हैं। इक़बाल ने दर्शन एवं विधिशास्त्र (Law) का अध्ययन इंगलैण्ड एवं जर्मनी में किया था। इक़बाल एक अच्छे कवि एवं दार्शनिक थे। यों तो, भारत में, सैयद अबुल अला मौददी, सैयद अब्दुललतीफ़ (हैदराबाद), अबुलहसन अलीनदवी, ज़फरुलहसन, एम. एम. शरीफ़, ज़ैड. ए. सिद्दीकी, ख़लीफा अबुलहसन, श्री वहीदुद्दीन भी भारतवर्ष के प्रमुख मुसलमान दार्शनिक थे, किन्तु इन पर भारतीय दर्शन का प्रभाव न होकर कुरान का ही प्रभाव था। आधुनिकतम दार्शनिकों में, जिन पर भारतीय दर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित कहा जा सकता है, श्री वहीदुद्दीन हैं। ये दिल्ली विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के प्रोफेसर-अध्यक्ष रह चुके हैं। उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में भी ये दर्शन विभाग के प्रोफ़ेसर थे। इन्होंने चेतना (consciousness) के, धार्मिक, कलात्मक एवं ऐतिहासिक पक्षों पर विशेष बल देते हुए, इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में गवेषणा की है। प्रोफ़ेसर वहीदुद्दीन की मान्यता थी, कि इस्लामी परम्परा पर आज के सन्दर्भ में पुनर्विचार अत्यन्त आवश्यक है। इन्होंने अपने विचार, अपने ग्रन्थ, Religion at the cross road, (Delhi, 1980) नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत विशेष रूप से अभिव्यक्त किए गए हैं।

आधुनिक युग के मुसलमान दार्शनिकों में, के.जी. सईदान का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने इक़बाल के शिक्षाविषयक विचारों पर लिखा था। ये भारतीयशासन के शिक्षासचिव भी रहे थे। उर्दू भाषा पर इनका विशेष अधिकार था। इनकी उर्दू सदा समृद्ध एवं कर्णप्रिय होती थी।

वर्तमान युग में, जिन मुस्लिम दार्शनिकों ने विशेष कार्य किया है, उनमें आबिद हुसैन का नाम भी उल्लेख करने योग्य है। आबिद हुसैन ने महात्मा गांधी एवं जवाहरलाल नेहरू के दर्शन एवं भारतीय संस्कृति पर कार्य किया है। आबिद हुसैन ने प्लेटो के रिपब्लिक एवं कान्ट के 'ए क्रिटिक आफ़ प्योर रीज़न' का अनुवाद उर्दू में किया था। एक दूसरे मुस्लिम विचारक ए. एस. अयूब ने, जिन्होंने टैगोर की विचारधारा का विशेष मन्थन किया है, कला, आचार एवं धर्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में विशेष रूप से अपने विचार स्पष्ट किए हैं। आधुनिक युग के दार्शनिक विचारकों में हुमायूँ, कबीर भी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने भारतीय सांस्कृतिक संपत् के सम्बन्ध में विशेष रूप से लिखा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने राजनीति, समाजशास्त्र एवं शिक्षासम्बन्धी तथा मानवाधिकार एवं गांधीदर्शनविषयक भाषण भी प्रकाशित किए हैं।

---

१. इस ग्रन्थ का प्रथम अनुवाद R.A. Nicolson द्वारा दिया गया था (लाहौर १६८८), तथा दूसरा अनुवाद A.J. Arbrry ने किया था। (लन्दन, १६५३)

२. इस लेखक को प्रोफ़ेसर वहीदुद्दीन के साथ अनेक विषयों पर विवेचन के, दिल्ली विश्वविद्यालय में अनेक अवसर मिले थे। (१६६६-७०)

ऊपर किए गए निर्देश से यह स्पष्ट है कि मुस्लिम विचारक भी भारतीय दर्शन की विशेषताओं से न्यूनाधिक रूप से प्रभावित थे, अतः भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा में, उनका योगदान भी महत्त्वपूर्ण है।

जहाँ तक ईसाइयों का प्रश्न है, इनमें भी बहुत से भारतीय दर्शन के प्रति आस्थावान् थे। भारतीय दर्शन के ईसाई भक्तों में साधु सुन्दर सिंह (१८८९-१९३०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मूलतः, सुन्दर सिंह सिक्ख थे, किन्तु ईसाई धर्म से प्रभावित होकर, इन्होंने दोनों में समन्वय करते हुए गुरुनानक एवं ईसाई धर्म को ईश्वर-भय का फल कहा था। इनका विश्वास था, कि ईश्वर से डर कर ही मनुष्य सत्कर्म में प्रवृत्त होता था। सुन्दर सिंह साधु हो गए थे। ये चिन्तन एवं कर्म के योग के पक्षपाती थे। वेदान्त के समान ईश्वर को ये अवर्णनीय स्वीकार करते थे। भक्ति-वेदान्त के अनुयायी होने के कारण, साधु सुन्दर सिंह ईश्वर को प्रेम एवं करुणा के अथाह सागर के रूप में मानते थे। उनका कहना था, कि ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का प्राण, एवं उसकी आत्मा का आत्मा है। ईश्वर को, वे अपनी माँ के रूप में देखते थे। ईश्वर के मातृत्व में उसका रक्षकस्वरूप विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है। विनोबा भी गीता को माँ, एवं उपनिषदों को माँ की माँ, अर्थात् दादी कहते थे। जगत् के सम्बन्ध में, सुन्दर सिंह का विचार था, कि यह ईश्वर की प्रतिमूर्त्ति ही है। उनका यह मत वेदान्त के विवर्त्तवाद पर आधारित है। वे वेदान्त के कर्मवाद के समर्थक थे, जिसके अनुसार व्यक्ति अपने सत् एवं असत् कर्मों के फल का भोग जीवन में भोगता है।

एक दूसरे क्रिश्चियन विद्वान् ब्रह्मबान्धव उपाध्याय (१८६१–१९०७) हैं। मूलतया ये बंगाली ब्राह्मण थे। इन्होंने हिन्दुधर्म एवं ईसाईधर्म के समन्वय का प्रयास किया था। उपाध्याय का विचार था, कि हिन्दूदर्शन में मानवसेवा की प्रेरणा ईसाई धर्म से लेनी चाहिए। किन्तु यदि देखा जाय तो, वर्तमान युग के रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द एवं रामतीर्थ प्रभृति दार्शनिकों ने भी मानवसेवा पर विशेष बल दिया था। इसके अतिरिक्त क्रिश्चियन दार्शनिकों में, जी.सी. चटर्जी, भारतन कुमारप्पा,[१] देवानन्दन[२], रायमुण्डा पथिक्कर[३] तथा पोलोस ग्रिगोरिओस (Paulos grigarios) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त जॉर्ज चम्पार्थी तथा एम. धवमोनी के नाम भी क्रिश्चियन दार्शनिकों की सूची में, महत्त्वपूर्ण हैं। चम्पार्थी ने न्याय-अध्यात्मविद्या एवं धवमोनी ने शैव सिद्धान्त पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध पारसी विद्वान् ए. आर. वाडिया हैं। वाडिया भारतीय दर्शन के साथ-साथ पाश्चात्य दर्शन के भी श्रेष्ठ विद्वान् थे। इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में, जो स्टीफननिर्मलेन्दु भाषण दिए थे, उनसे इनकी धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि का परिचय मिलता है। एक दूसरे पारसी दार्शनिक,

---

१. भारतन कुमारप्पा ने रामानुज के देवतावाद के सम्बन्ध में विशेष रूप से कार्य किया था।

२. देवानन्दन ने अपने लघु ग्रन्थ Concept of Māya के अन्तर्गत वेदान्त के मायावाद का महत्त्वपूर्ण अध्ययन किया था।

३. रायमुण्डा पथिक्कर ने, The Vedic experience (califormed, 1980) नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था।

जे. एन. छब (J.N. Chubb) का नाम भी उल्लेखनीय है। ये अरविन्द दर्शन के प्रशंसक थे। छब, पूर्ण सत्य की तर्कनाओं (Logic of Infinite) के आधार पर आध्यात्मिक अनुभूति का समर्थन करते थे। यह अरविन्द दर्शन का ही मार्ग था।

ऊपर किए गए विवेचन से यह सुविदित हो जाता है कि भारतीय दर्शन ने भारतीय मुस्लिम, ईसाई एवं पारसी दार्शनिकों को भी आकृष्ट किया था। इसका कारण भारतीय दर्शन की व्यापकता एवं मानवमात्र की हितैषिता है।

स्वरूप, समस्याएँ एवं समाधान

वर्त्तमान स्वरूप

भारतीय दर्शन के वर्तमान स्वरूप, समस्याओं एवं उनके समाधान एवं परिष्कार के सम्बन्ध में विचार करना इसकी सही दिशा निश्चित करने के लिए परम अपेक्षित है। आरम्भ में, यह स्वीकार करना होगा, कि आज के युग में भारतीय दर्शन ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक अध्येय विषय-शास्त्र का अध्ययन, प्रतिदिन ह्रास को प्राप्त हो रहा है। इस ह्रास के कारणों, स्वरूप एवं परिणाम पर स्वतन्त्र विचार आवश्यक है। किन्तु इतना कहा जा सकता है, कि बेरोज़गारी इसका प्रधान कारण है। इसके अतिरिक्त सभी पदों पर नियुक्तियों में, जब योग्य व्यक्तियों की अवहेलना होती है, जिसके अनन्त कारण हैं, वह भी तत्तद् विषयों के अध्येताओं को समुचित अध्ययन-अध्यापन से विमुख कर, उनमें हीन भावनाओं को उत्पन्न करते हुए जोड़-तोड़ की बुद्धि उत्पन्न करती है। यह स्थिति केवल बेरोज़गार युवकों के सम्बन्ध में ही नहीं है, अपितु आज का अध्यापक भी प्रायः अपने पावन अध्यापन-कर्त्तव्य पथ से च्युत होकर बहुधन्धी एवं व्यावहारिक रूप से राजनैतिक अधिक हो गया है। मैं अध्यापकों के व्यावहारिक राजनीति में पूर्णतया भाग लेने का विरोधी नहीं हूँ। किसने दिया है कि कितने अध्यापकों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लिया था। किन्तु मेरा निवेदन केवल यही है कि जो अध्यापक व्यावहारिक राजनीति या व्यापार में प्रवेश करते हैं, उन्हें अध्यापकत्व छोड़कर उधर ही जाना चाहिए, क्योंकि वे विद्यार्थियों के साथ न्याय नहीं कर सकते। इसके भी अनेक स्वरूप एवं कारण हैं। इस सम्बन्ध में, मैं आज के अध्येता विद्यार्थी की अपेक्षा, अध्यापक को अधिक उत्तरदायी मानता हूँ। क्योंकि समस्त समाज का पथप्रदर्शक अध्यापक ही है। रोज़गार के अवसर न होने पर अध्येता विद्यार्थी का उद्विग्न एवं तत्फलस्वरूप अध्ययनपथ से च्युत होना स्वाभाविक है–"बुभुक्षितः किं न करोति पापम्"। अस्तु, जहाँ तक भारतवर्ष में भारतीय दर्शन के अध्ययन-अध्यापन के वर्त्तमान स्वरूप का प्रश्न है, भारतीय दर्शन का अध्ययन, संस्कृतपाठशालाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों, संस्कृत विश्वविद्यालयों, मानित विश्वविद्यालयों, आधुनिक विश्वविद्यालयों, विश्वविद्यालयों के दर्शनविभाग एवं संस्कृतविभाग तथा धार्मिकविभाग, शोधसंस्थानों एवं आश्रमों आदि के अन्तर्गत सम्पन्न हो रहा है। यह अध्ययन विषय के स्वतन्त्र अध्ययन एवं शोध के रूप में सम्पन्न हो रहा है।

अब विचार करें, कि उपर्युक्त संस्थाओं में सम्पन्न हो रहे भारतीय दर्शन के अध्यपन की स्वरूपस्थिति क्या है? पाठशालाओं, संस्कृतमहाविद्यालयों में पायः भारतीय दर्शन-मूल के ग्रन्थों, न्यायसूत्र-भाष्य, वैशेषिकसूत्रभाष्य एवं ब्रह्मसूत्रभाष्य आदि का अध्यापन होता है। इन संस्थाओं का

योगदान इसलिए स्तुत्य है कि इनमें कार्यरत विद्वानों के द्वारा दर्शनशास्त्र की जिन गूढ़ ग्रन्थियों का रहस्य उद्घाटित किया जाता है, वह सामान्यतया न आधुनिक विश्वविद्यालयो के संस्कृतविभागीय अध्यापकों के द्वारा सम्भव है, और न तत्संबद्ध कालेजों के अध्यापकों के द्वारा। इस प्रकार की पाठशालाओं में, शंकराचार्यसंस्कृतपाठशाला धारवाड़, गोयनका पाठशाला काशी, सांगवेद महाविद्यालय नरवर एवं गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस, निदर्शित किये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में, जहाँ तक, संस्कृतविश्वविद्यालयों का प्रश्न है, वहाँ समस्त दर्शनशास्त्र का एक विभाग न होकर, वेदान्त, न्याय एवं व्याकरणादि के स्वतन्त्र विभाग हैं। इस प्रकार, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रभृति इन विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन के मूल शास्त्रों के अध्ययन की सुचारु व्यवस्था है। यह बात दूसरी है, कि अब इन विश्वविद्यालयों में भी शास्त्राध्ययन की रुचि दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। जहाँ तक, आधुनिक पद्धति के विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों में दर्शनशास्त्र के अध्ययन की व्यवस्था का प्रश्न है, एतदनुसार एम. ए. (उत्तरार्द्ध) में दर्शनशास्त्र का अध्ययन, विशेष वर्ग (Group) के अन्तर्गत किया जाता है। इस वर्ग में वेदान्त एवं न्यायादि से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ होते हैं। इस पद्धति की यह विशेषता है, कि इसमें प्राचीन एवं नवीन, दोनों ही पद्धतियों के अन्तर्गत दर्शनशास्त्र का अध्ययन एवं अध्यापन होता है। क्योंकि, इन विश्वविद्यालयों के अध्यापक संस्कृत की प्राचीन एवं अर्वाचीन, दोनों पद्धतियों से परिचित होते हैं, एवं अधिकतम संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं के विज्ञ होते हैं, अतः इन विभागों में भारतीय दर्शनशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का सुचारु एवं यथापेक्षित रूप से चलना स्वाभाविक है। इन संस्कृत विभागों के पाठयक्रम की यह विशेषता उल्लेखनीय है, कि एम.ए. संस्कृत का विद्यार्थी, प्रथम वर्ष में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त की पृष्ठभूमि के रूप में, तर्कभाषा, सांख्यकारिका, अर्थसंग्रह एवं वेदान्तसार तथा भारतीय दर्शन के इतिहास का अध्ययन कर लेता है। उक्त पाठय-ग्रन्थों के सम्बन्ध में, विश्वविद्यालयों में कुछ भिन्नता हो सकती है। एम. ए. पूर्वार्द्ध में, उक्त ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् विद्यार्थी को उत्तरार्द्ध में दर्शनशास्त्र 'वर्ग' को स्वीकार करना संगत एवं सुविधाजनक होता है। फिर, एम. ए. उत्तरार्द्ध में दर्शनशास्त्र-वर्ग ऐच्छिक होता है। इस प्रकार जिस विद्यार्थी की दर्शनशास्त्र में रुचि नहीं है, वह अलंकारशास्त्र आदि कोई अन्य विषय ले सकता है। प्रशस्त यही है, कि विद्यार्थी, एम. ए. के विशेषवर्ग के अनुसार ही एम. फिल़. एवं पी-एच. डी. का विषय निर्धारित करे। विश्वविद्यालयों में एम. फ़िल. की एक अच्छी व्यवस्था है, क्योंकि इससे पी-एच. डी. उपाधि के लिए शोध करते समय अनुसन्धित्सु का बहुत समय नष्ट होने से बच जाता है। मेरे विचार से, एम. फिल. उत्तीर्ण व्यक्ति को महाविद्यालय में अध्यापन के लिए योग्य समझा जाना चाहिए। यहाँ, यह कहना समीचीन होगा, कि आधुनिक परिपाटी के विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों का दर्शनशास्त्रविषयक योगदान, मौलिक, सम्पादनात्मक एवं आलोचनात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन के रूप में सर्वथा स्तुत्य है। निदर्शनार्थ, कलकत्ता विश्वविद्यालय, मद्रास विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ एवं लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृतविभागों एवं उनके अध्यापकों द्वारा प्रकाशित दर्शनशास्त्रविषयक ग्रन्थों की ओर संकेत किया जा सकता है।

भारतीय विश्वविद्यालयों के दर्शनविभागों की बात है, देश के पूर्वीभाग में, सर्वप्रथम, कलकत्ता विश्वविद्यालय में लगभग एक सौ चालीस वर्ष पूर्व दर्शन विभाग का आरम्भ हुआ था। दक्षिण भारत में, १९१६ में, मैसूर विश्वविद्यालय में, उसके पश्चात् १९२७ में, मद्रास विश्वविद्यालय में, पश्चिमी भारत

में, बम्बई के सुप्रतिष्ठित महाविद्यालयों, विल्सन कालेज एवं एलफिन्स्टन कालेज में दर्शन विषय का अध्यापन सम्पन्न होता था। किन्तु, जिस बम्बई विश्वविद्यालय से ये कालेज सम्बद्ध थे, उसमें दर्शन विषय के अध्यापन की व्यवस्था नहीं थी। उत्तरभारत में सर्वाधिक प्राचीन दर्शनविभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय का है। इसका आरम्भ १८८७ में हुआ था। इसके पश्चात् १६१६ में, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में, १६२१ में, लखनऊ विश्वविद्यालय में, तथा १६२६ में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग का आरम्भ हुआ था। सुदूर उत्तरभारत में दिल्ली विश्वविद्यालय का दर्शनविभाग (१६५३) सुप्रतिष्ठित है। इस विभाग में भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के विविध क्षेत्रों में शोध कार्य सम्पन्न हुआ है। इसमें सन्देह नहीं, कि आधुनिक विश्वविद्यालयों के दर्शनविभागों द्वारा भारतीयदर्शन का सर्वाधिक एवं विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार हुआ है। इसके अतिरिक्त इन विभागों में पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन-अध्यापन भी होता है। किन्तु इन विभागों की एक कठिनाई यह है, कि इनके अध्यापक प्रायः, संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण, भारतीय दर्शन का अध्ययन-अध्यापन दार्शनिक ग्रन्थों के अनुवादों का आश्रय लेकर करते हैं; जिससे कई बार अनर्थ होते देखे जाते हैं। इस सम्बन्ध में, यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत करना समुचित होगा। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने जो भारतीय दर्शन के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित इतिहास लेखक एवं विवेचक हैं, आत्मतत्त्व का विवेचन करते समय बृहदारण्यक के 'अस्ति न व्यथते' का अनुवाद किया है, "He can not suffer by stroke of the sward"[1] अर्थात् आत्मा को खड्ग से भी आघात नहीं पहुँचाया जा सकता। यह अर्थ दासगुप्त ने गीता "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि" के आधार पर किया है। इस प्रकार उक्त मन्त्रांश में, दासगुप्त ने "असितः" का अर्थ "खड्ग" से किया है। दासगुप्त का कहना है, कि 'असित' (खड्ग) के साथ लगा 'तसि' प्रत्यय सार्वविभक्तिक है, जिसका अर्थ 'खड्ग' के द्वारा ग्रहण करना समीचीन है। यह अर्थ न प्रकरणसिद्ध है, और न संगत। समस्त बृहदारण्यक उपनिषद् में कहीं भी सार्वविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय का प्रयोग नहीं हुआ है। अतः यहाँ 'असितः' का अबद्ध बन्धन से रहित (सितः बद्धः, न सितः असितः, अबद्धः) अर्थात् मुक्त (Liberated) अर्थ ही समुचित है। ऐसा प्रायः देखने में आता है। इसका कारण यही है, कि रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य का अध्ययन किये बिना यदि कोई दर्शनविभाग का अध्यापक रामानुजदर्शन का अध्यापन करेगा, या शोध-निर्देशन करेगा, तो उससे विद्यार्थी के साथ न्याय कैसे सम्भव होगा। इसी परिस्थिति का अनुभव करते हुए अब दर्शन विभागों में संस्कृत के अध्यापक की नियुक्ति आरम्भ हुई है। इस सम्बन्ध में अभी आगे विचार किया जाएगा।

आधुनिक विश्वविद्यालयों के दर्शन-विभागों में यह प्रश्न विचारणीय है, कि जिन अध्यापकों को पाश्चात्य जीवन की पद्धति, मान्यताओं एवं तत्तद् विदेशी भाषाओं, जर्मन, फ्रेंच एवं चीनी आदि का बोध नहीं है, उनके द्वारा किया गया पाश्चात्यदर्शन का अध्ययन-अध्यापन कितना सार्थक हो सकता है। इस सम्बन्ध में विचार करते हुए, कालिदास भट्टाचार्य ने भी कहा है-

"Western philosophers he (Kālidasa Bhaṭṭācārya) thinks, can not be correctly grasped and therefore properly assessed by Indian philosophers 'with no solid roots in western life principles', as Indian life in essentials & even in ideas is of different pattern from the western."[1]

---

१. S.N. Das Gupta, A History of Indian Philosophy, Vol. 1, p. 44, 45.

एक दूसरे दार्शनिक विद्वान् डा. सुरेशचन्द्र ने भी भारतीय दार्शनिकों की संशयग्रस्त दयनीय स्थिति के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है, कि ये भ्रमित हैं कि इन्हें दर्शन के प्राचीन विद्वानों की पद्धति अपनानी चाहिए, अथवा पाश्चात्य पद्धति। इनकी दयनीय स्थिति यह है, कि ये भारतीय धर्म एवं दर्शन पर जो अंग्रेजी में लिखते हैं, उसकी पूछ भारत में नहीं है। जहाँ तक विदेशी विद्वानों की बात है, उन्हें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है, कि इन दार्शनिकों के विचार भारतीय दार्शनिक विचारधारा का सही प्रतिनिधित्व करते हैं, अथवा नहीं।[२]

उपर्युक्त संक्षिप्त दिङ्निर्देश से यह स्पष्ट है, कि विश्वविद्यालयों के दर्शनविभागों द्वारा अनेक कारणों से, पूर्ण दायित्व का निर्वाह नहीं हो पा रहा है। मैं इस तथ्य पर पुनः बल देना चाहता हूँ, कि यह दर्शन के अध्यापकों का दोष न होकर, वर्त्तमान पद्धति की न्यूनताओं के कारण है, जिनका उल्लेख अभी आगे किया जाएगा।

हाँ, देश के कई-एक शोधसंस्थानों में दर्शनसम्बन्धी ग्रन्थों का प्रकाशन एवं शोधकार्य समुचित रूप से चल रहा है। इन संस्थानों में पार्श्वनाथशोधसंस्थान, वाराणसी, गंगानाथ झा शोधसंस्थान (सम्प्रति केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ) इलाहाबाद, भण्डारकर शोधसंस्थान, पूना मानित विश्वविद्यालय, लाडनूं (राजस्थान), मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ, जोधपुर, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, शोध-संस्थान, वाई (महाराष्ट्र), ओरियन्टल इंन्स्टीट्यूट, बड़ौदा तथा एल.डी. इन्स्टीट्यूट अहमदाबाद तथा अड्यार रिसर्च सेन्टर मद्रास के नाम विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त उच्च अध्ययन केन्द्रों (centre of advance studies) जैसे, मद्रास में, centre of advance study in philosophy का योगदान भी स्तुत्य है।

ऊपर प्रस्तुत भारतीयदर्शन के अध्ययन एवं अध्यापन के स्वरूप से अनेक प्रकार की समस्याओं के संकेत भी स्पष्ट हुए हैं। यहाँ इन समस्याओं का निरूपण आवश्यक है।

---

१. K.S. Murty, Philosophy, in India, p. 149.

१. Those .... may be divided in to the groups. .. the second group he says is be mild red as it is not certain wheather it ought to follow the Pandit style of philsophying or the western style. This group is in a pitiable state', because what they rite in English on 'Indian religion or philosophy, has no market in India, and it translated in to an Indian language, their writings will he hardly taken cognizance of by the Pandits. So, their stuff he says is meant, only for the foreigners who can not judge wheather this group has represented or—Indian though K.S. Murty, Philosophy in India, (M.B. Delhi, 1985) P. 151.

वर्त्तमान युग में, भारतीय दर्शन के अध्ययन एवं अध्यापन की समस्याएँ :

१. आधुनिक युग का भारतीय दर्शन का विद्यार्थी एवं अध्यापक दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन से विमुख, मात्र अनूदित ग्रन्थों के अध्ययन पर आश्रित है।

२. विश्वविद्यालयों के दर्शनविभागों में संस्कृतपृष्ठभूमि के अध्यापकों की न्यूनता है।

३. भारतीयदर्शनशास्त्र का मौलिक अध्ययन शनैःशनैः ह्रास पर है।

४. शोध-कार्य (पी-एच.डी., डी. लिट्०) वृद्धि पर है, किन्तु स्तर अवनति की ओर है। शोध-पत्रों का स्तर भी घट रहा है। किन्तु स्तर पर भी स्तर हीन हो गया है।

५. शोध-कार्य में पिष्टपेषण प्रचुरता की ओर है।

६. आधुनिक विद्यार्थी की दर्शनशास्त्र के अध्ययन में हार्दिक रुचि का प्रायशः अभाव है। दर्शनविषयक पाठय-क्रम प्रायः सुगठित एवं समयानुकूल नहीं हैं।

७. पुस्तकालयों में उपयोगी ग्रन्थ एवं शोध पत्रिकाएँ (Research journals) अपर्याप्त हैं।

८. विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों (कालेजों) के दर्शन-विभागों, संस्कृत विभागों एवं देश के संस्कृत विश्वविद्यालयों एवं संस्कृत महाविद्यालयों एवं पाठशालाओं में यथापेक्षित सम्पर्क एवं सहयोग का अभाव है।

६. भारतीय दर्शन के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद अनुपलब्ध है। उपलब्ध अनुवादों में से बहुत से दोषपूर्ण भी हैं।

समाधान

अब यहाँ वर्त्तमान समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में दृष्टिपात करना उपयुक्त है।

१. जहाँ तक, आज के विद्यार्थी एवं अध्यापक के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों से विमुख होने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में, यह कहा जाएगा, कि जब वर्त्तमान दर्शन विभागों के अध्यापकों की पृष्ठभूमि ही संस्कृत की नहीं है, तो विद्यार्थी मूल ग्रन्थों की ओर किस प्रकार आकृष्ट हो सकता है। अतः यह अभीष्ट है, कि अध्यापक एवं विद्यार्थी, दोनों की ही संस्कृत की पृष्ठभूमि हो।

२. वस्तुतः आज के विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों की यह एक भारी न्यूनता है, कि इनमें प्रायः भारतीय दर्शन के अध्यापक संस्कृतज्ञ नहीं हैं। इस सम्बन्ध में यह व्यावहारिक सुझाव है, कि भारतीय दर्शन के अध्यापक पद पर उसी व्यक्ति की नियुक्ति हो, जिसकी संस्कृत की अच्छी योग्यता हो। इससे भारतीय दर्शन का अध्यापक न्याय-वेदान्तादि दर्शनों के मूल ग्रन्थों का यथापेक्षित आश्रय ले सकेगा,

एवं मात्र अनुवाद पर निर्भर नहीं होगा। यह समुचित होगा, कि एम.ए. (दर्शन) में उसी विद्यार्थी को प्रवेश दिया जाए, जिसने बी.ए. में संस्कृत का अध्ययन किया हो। इससे अध्यापक की सहायता से विद्यार्थी भी भारतीय दर्शन के मूल ग्रन्थों के अवलोकन में सक्षम होगा। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण सुझाव यह है, कि दर्शनविभाग में कम से कम एक प्राच्यपद्धति के विशेषज्ञ प्रोफ़ेसर की नियुक्ति होनी चाहिए। विश्वविद्यालयों में यह शुभारम्भ हुआ है, किन्तु प्रोफ़ेसर पद पर नियुक्ति नहीं हुई है।

३. विद्यार्थी को स्तर की अध्ययन सामग्री न मिलने के कारण, वह सस्ते स्तर के ग्रन्थों का सहारा लेता है। विद्यार्थी की इस प्रवृत्ति को अनुत्साहित करना चाहिए, तथा विभाग के अध्यापकों को उच्च्व कोटि के ग्रन्थों के लेखन का भार स्वतः लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त दर्शनविभागों को अच्छे ग्रन्थों का प्रकाशन करना चाहिए। विश्वविद्यालयों के अनेक दर्शनविभागों में यह कार्य आज भी चल रहा है।

४. दर्शन के विद्यार्थियों का पाठ्यक्रम सुगठित एवं समयानुकूल होना चाहिए। भारतीय दर्शन का अध्ययन मात्र व्यवसाय बुद्धि से नहीं किया जाता, अपितु जीवनदर्शन की दृष्टि से भी वेद-वेदान्तादि भारतीय दर्शनों की महत्ता स्वीकृत है। अनेक विद्यार्थी इस दृष्टि से दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते हैं। अतः पाठ्यक्रम में दर्शनशास्त्र के मूल-ग्रन्थों एवं सिद्धान्तों के अध्ययन की अपेक्षा के साथ-साथ, वर्त्तमान परिस्थितियों के अनुसार लोकोपयोगी पाठ्य विषय भी निर्धारित होने चाहिए।

५. शोध का स्तर बहुत निम्न स्थिति तक पहुँच गया है, यह हम सभी अध्यापक अनुभव करते हैं। किसी भी दर्शन-विभाग एवं संस्कृत-विभाग में पी-एच. डी. उपाधि विभूषित विद्वानों की संख्या तो बहुत अधिक है, किन्तु पी-एच. डी. के शोध-प्रबन्ध स्तर से दिन-प्रतिदिन नीचे आ रहे हैं। इस सम्बन्ध में एक सुझाव तो यह है कि शोध निर्देशक को सावधानी से शोधप्रबन्ध का अवलोकन करना चाहिए। संस्कृतविभागों में शोधार्थियों को, उनके एम. ए. के दर्शनशास्त्र एवं अलंकारशास्त्र आदि विशेष अध्ययन के आधार पर ही पी-एच.डी. का विषय देना चाहिए। निदर्शनार्थ, यदि किसी शोधार्थी ने एम. ए. में अलंकारशास्त्र का विशेष अध्ययन किया है, तो उसे दर्शनशास्त्र से सम्बद्ध विषय नहीं देना चाहिए। इसके अतिरिक्त शोधार्थी को अनुसन्धानपद्धति का पूर्ण निर्वाह करना चाहिए। मूल तथ्य तो यह है, कि शोधार्थी एवं शोध निर्देशक दोनों का ही मन्तव्य वास्तविक शोध की ओर होना चाहिए, यथा-कथञ्चित् पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त करने के लिए नहीं।

७. जहाँ तक शोध के विषयों में पिष्टपेषण का प्रश्न है, वहाँ यह समुचित होगा कि विश्वविद्यालय का प्रत्येक विभाग अपने यहाँ स्वीकृत पी-एच.डी. एवं डी. लिट्. के शोधप्रबन्धों की सूची अनुसन्धाता एवं शोध निर्देशक के नाम के साथ तत्संबद्ध वर्ष देते हुए तैयार करे तथा उसे प्रकाशित करे। इसका सुपरिणाम यह होगा, कि जब कोई शोधार्थी शोध में प्रवृत्त होगा, तो वह यह सरलता से जान सकेगा, किन विषयों पर शोध-कार्य सम्पन्न हो चुका है, तथा किन पर शोध-कार्य सम्पन्न हो रहा है। इससे पिष्टपेषण से बचा जा सकेगा।

८. आधुनिक विद्यार्थी की भारतीय दर्शन के अध्ययन में वास्तविक रुचि किस प्रकार हो, यह भी चिन्त्य है। इस सम्बन्ध में दर्शन के अध्यापकों को चाहिए, कि वे अपने भाषणों से बी.ए. एवं शास्त्री के अध्ययन काल से ही विद्यार्थियों को इस तथ्य से अवगत करायें, कि दर्शन का अध्ययन मनुष्य

को एक अच्छा मानव भी बनाता है। यह वास्तविकता अविस्मरणीय है, कि आदर्शजीवनदर्शन का पाठ भारतीय दर्शन ही सिखाता है। जीवन के चरम लक्ष्य–अध्यात्मलाभ एवं मोक्ष की प्राप्ति में भी भारतीय दर्शन का योगदान अनिवार्य है। इस प्रकार लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही दृष्टियों से, भारतीय दर्शन की महत्ता से भारतीय दर्शन के विद्यार्थी को आरम्भ से ही अवगत कराना चाहिए।

९. आज अनेक विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के पुस्तकालयों में भारतीय दर्शन से सम्बन्धित उच्चस्तरीय ग्रन्थों एवं शोध-पात्रिकाओं (Research Journals) की न्यूनता देखने में आती है। अतः पुस्तकालयों में भारतीय दर्शन का उच्चस्तरीय एवं शोधस्तरीय साहित्य उपलब्ध हो। इस सम्बन्ध में यह भी वक्तव्य है, कि पुस्तकालय में पुस्तकों का क्रय विभागीय विद्वानों के परामर्श के बिना नहीं होना चाहिए।

१०. यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है, कि नगर के विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों, संस्कृत-विभागों, संस्कृत विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों, संस्कृत महाविद्यालयों एवं पाठशालाओं में पारस्परिक सम्पर्क एवं सहयोग की भावना का यथापेक्षित विकास नहीं हो पा रहा है। इस पारस्परिक सहयोग के लिए, विश्वविद्यालय के दर्शनविभागों को संस्कृत महाविद्यालयों एवं पाठशालाओं के अध्यापकों से भाषणादि के रूप में सहयोग लेना चाहिए। यह परस्पर सहयोग अत्यन्त अपेक्षित है।

११. यह समस्या भी दिन-प्रतिदिन अनुभव की जाती है, कि भारतीय दर्शनशास्त्र के अपेक्षित ग्रन्थों का अनुवाद दुर्लभ है। जो अनुवाद आज प्राप्त हैं, स्तरानुकूल नहीं हैं। जहाँ तक हो, अनुवाद का कार्य उन्हीं विद्वानों के द्वारा सम्पन्न होना चाहिए, जो उस विषय के मर्मज्ञ हों। दर्शनविभागों को अनुवादकार्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

उपर्युक्त के अतिरिक्त भारतीय दर्शन के अध्ययन के सम्बन्ध में कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य भी विचारणीय हैं। उदाहरण के लिए, क्षेत्रीय भाषाओं, जैसे तमिल, तेलगू, कन्नड़ एवं बंगाली तथा गुजराती आदि भाषाओं में, भारतीय दर्शन से सम्बन्धित जो महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है, उसका अनुवाद हिन्दी एवं अंग्रेजी में होना चाहिए। इस कार्य में भारतीय शासन को सहयोग करना चाहिए। इस सम्बन्ध में मानित संस्कृत विश्वविद्यालय (Deemed to be Sanskrit Universities) विशेष योगदान कर सकते हैं, क्योंकि इनका उद्देश्य ही, अध्यापन के साथ-साथ विशेष अनुसन्धानकार्य एवं विशिष्ट योजनाओं (Projects) पर कार्य करना है। उदाहरणार्थ, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति, तमिल आदि दक्षिण की भाषाओं में उपलब्ध भारतीय दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों के अनुवाद एवं तद्विषयक पाण्डुलिपियों के अध्ययन एवं प्रकाशन का भार ले सकता है। इसी प्रकार लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली एवं राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग भी सहायता कर सकता है। इस कार्य में इन्डियन कांउन्सिल आफ् फिलासाफिकल रिसर्च, दिल्ली भी महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकती है। भारतीय दर्शन के विविध क्षेत्रों में विशेष, शोधकार्य सम्पन्न करने के लिए, विश्वविद्यालय में विशेष पीठों (चेयर्स), जैसे, व्यासपीठ एवं शङ्कराचार्यपीठ आदि की स्थापना अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

एक महत्त्वपूर्ण सुझाव अखिल भारतीय प्राच्य अधिवेशन (All India oriental conference) जैसी संस्थाओं के सम्बन्ध में भी अपेक्षित है, वह यह कि इन संस्थाओं के धर्मदर्शन आदि अनुभागों के अध्यक्ष निर्वाचित होते हैं।

ये अध्यक्ष तत्तद् विषयों के विशेषज्ञ ही होने चाहिए। निदर्शनार्थ, व्याकरण का विशेषज्ञ व्याकरण, अनुभाग का ही अध्यक्ष होना चाहिए।

भारतीय दर्शन-एक समग्र दृष्टि

प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत प्रायः सभी प्रमुख भारतीय दर्शनपद्धतियों की चिन्तन दृष्टि के सम्बन्ध में विचार किया गया है। जैसा कि स्पष्ट किया गया है, यों तो भारतीय दर्शन की चिन्तनदृष्टि के स्रोत वैदिक संहिताओं में ही मिलने आरम्भ हो जाते है, किन्तु भारतीय दर्शन की गंगोत्री उपनिषदें ही हैं। इस प्रकार, इस अनुशीलन में, वैदिकदर्शन की चिन्तनधारा से आरम्भ कर ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्‌भगवद्‌गीता चार्वाकदर्शन, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदान्त), वैष्णव दर्शन, शैवदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन, रसेश्वर दर्शन, गाणपत्य सम्प्रदाय, स्कन्द सिद्धान्त, सौर्यसम्प्रदाय, शाक्तदर्शन एवं आधुनिक युग की चिन्तनधारा के अन्तर्गत रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द घोष, महर्षि रमण, के. सी. भट्टाचार्य, जे. कृष्णमूर्ति, रामतीर्थ, एनीबेसेंट एवं सिस्टर निवेदिता की दार्शनिक विचारधारा की समीक्षा की गई है। इसके साथ-साथ, मुस्लिम-ईसाई एवं पारसी दार्शनिकों द्वारा दिए गए भारतीय दर्शन का मूल्यांकन भी इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त जिन संस्कृत-हिन्दी एवं अंग्रेजी के विद्वानों ने भारतीय दर्शन का अध्ययन एवं समीक्षा की है, उनके योगदान का दिग्दर्शन भी इस ग्रन्थ में प्रस्तुत है। अन्त में, भारतीय दर्शन के अध्ययन के वर्तमान स्वरूप, समस्याओं एवं उनके समाधान के सम्बन्ध में भी, ऊपर विचार किया गया है।

जहाँ तक, वैदिक संहिताओं का प्रश्न है, संहिताओं के अन्तर्गत निःसन्देह परवर्ती दार्शनिक सिद्धान्तों के बीज उपलब्ध होते हैं, किन्तु किसी दार्शनिक सिद्धान्त विशेष का विकसित रूप संहिताओं में मिलता है, पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों के साथ तुलना कठिन है। इसका कारण यह है, कि वैदिक ऋषि ने किसी सम्प्रदाय विशेष की दृष्टि से नहीं, अपितु स्वतन्त्ररूप से सर्वोच्चसत्ता, देवता एवं सृष्टि आदि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए थे। इस प्रकार संहिताओं की दार्शनिक दृष्टि के अनुसार समस्त सृष्टि का आधार एक परम सत् था–"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"। यही एक सत् अनेक अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ था। यही वैदिक दृष्टि का मूल सूत्र था–"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"। यदि विचारकर देखा जाय, तो उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त का मूल स्रोत इसी वैदिक दृष्टि में वर्त्तमान था, जो उपनिषदों की गंगोत्री से प्रस्फुटित होकर सतत रूप से प्रवहमान स्रोतस्विनी के रूप में आज तक प्रवहमान है, "तिलेषु तैलमिव वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः"। जहाँ तक, उपनिषदों का प्रश्न है, यह सुस्पष्ट है, कि ये भारतीय दर्शन की मुख्य आधारशिलाएँ हैं। यों, इन्हें किसी सम्प्रदायविशेष का प्रस्थापक नहीं कहा जा सकता, अत एव पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने उपनिषदों के अन्तर्गत षड्दर्शन के बीजान्वेषण का प्रयास किया है, किन्तु निष्कर्षतः, यह स्वीकार करने में सङ्कोच नहीं करना चाहिए, कि उपनिषदों की मुख्य चिन्तनधारा वेदान्तपरक ही है–"वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्"।

भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा का पर्यालोचन करते समय, एक तथ्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुआ है, कि प्रत्येक प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त के मूल में, एक ओर उसके पूर्ववर्ती प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त की न्यूनाधिक रूप में पृष्ठभूमि वर्त्तमान है, तो दूसरी ओर पूर्ववर्ती सिद्धान्त की प्रतिक्रिया भी परवर्त्ती प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त में वर्त्तमान है। यह तथ्य प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में चरितार्थ होता है। निदर्शनार्थ, आस्तिक न्यायदर्शन का तार्किक एवं प्रमाणचिन्तन उपनिषदों के अध्यात्मवाद की प्रतिक्रिया है, किन्तु यह भी स्वीकार करना होगा, कि न्याय में, उपनिषदों में वर्त्तमान मोक्षादि की पृष्ठभूमि भी वर्त्तमान है। आपाततः, यह भी कहना होगा, कि भारतीय आस्तिक दर्शनों, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा में, उपसंहृत पूर्णता की दृष्टि से विरोध न होकर परमापेक्षित समन्वय है। ये दर्शन परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। निदर्शनार्थ, यदि न्याय, वैशेषिक में प्रमुख रूप से, प्रमाण-प्रमेय पदार्थचिन्तन है, तो सांख्य में प्रकृति-पुरुष का चिन्तन प्रमुख रूप से हुआ है, किन्तु सांख्य में भी न्यायगत प्रमाणचिन्तन की उपयोगिता बनी रही है। इसी प्रकार सांख्यदर्शन की साधनापरक आवश्यकता योगदर्शन में पूर्ण हुई है, तो योग में सांख्यगत प्रकृति-पुरुषचिन्तन भी वर्त्तमान है–"एकं योगं च सांख्यं च"। इसी प्रकार पूर्वमीमांसा में जिस कर्मकाण्ड एवं आचारशुद्धि पर विशेष बल दिया गया है, उसके सांख्य में सूत्र वर्त्तमान थे। जहाँ तक, उत्तरमीमांसा (वेदान्त) का प्रश्न है, यह सभी दर्शनों का उपसंहृत रूप है। इसमें न्याय तथा वैशेषिक का प्रमाणप्रमेयचिन्तन भी अपेक्षित है, तथा सांख्य-योग का प्रकृति-पुरुषचिन्तन एवं निदिध्यासनभी। इसी प्रकार मीमांसा का आचार एवं उपासना पक्ष भी, वेदान्तसम्मत मोक्षाभिप्राय से चित्तशुद्धि के लिए अपेक्षित है। इस प्रकार विकासोन्मुख भारतीय दर्शन की यह विशेषता कही जा सकती है, कि वह किसी ऐसे धर्म व दर्शन के समान नहीं है, जिसके कट्टरपंथी अनुयायी लकीर के फकीर होकर अन्धानुकरण मात्र करते हैं। यह भी विचारणीय है कि यद्यपि वेदान्तदर्शन भारतीय दर्शन का शिरोमणि है, किन्तु वैष्णवदर्शन के रूप में उसकी प्रतिक्रिया भी दर्शनीय है। इस प्रकार दार्शनिक प्रतिक्रिया एवं विकास का यह क्रम आज तक चला आ रहा है। यह क्रम भारतीय प्रतिभा की गतिशीलता, विकासोन्मुखता एवं चिन्तन की स्वतन्त्रता का द्योतक है। यही कारण है, कि भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा समयानुकूल परिवर्तित होती रही है। इतना ही नहीं, यहाँ व्यास एवं वाल्मीकि के उपदेश भी समय-सन्दर्भ के अनुसार पुनः पुनः विचारित होते हैं। जैसा कि कहा गया है, यह भारतीय मनीषा का व्यापक दृष्टिकोण है, सङ्कुचित नहीं। भारतीय षड्दर्शन की मौलिकता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है, कि गोतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि एवं वादरायण व्यास ने न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, सांख्यसूत्र, योगसूत्र, मीमांसासूत्र एवं ब्रह्मसूत्र का प्रणयन नितान्त स्वतन्त्र रूप से किया था। हाँ, जैसा कि इस ग्रन्थ के अन्तर्गत षड्दर्शनों के सम्बन्ध में विचार करते समय देखा गया है, उपनिषदों में, षड्दर्शन के बीज अवश्य वर्त्तमान थे। जहाँ तक नास्तिक दर्शनों की बात है, षड्दर्शन के समान, क्रिया-प्रतिक्रिया एवं पूर्वापर पृष्ठभूमि का स्वरूप, वहाँ भी अवेक्षणीय है। चार्वाकदर्शन की भौतिकता उपनिषदों के अध्यात्मवाद की ही घोर प्रतिक्रिया थी। इसी प्रकार सम्यक् आचारवादी बौद्ध एवं जैनदर्शन भी, उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रादुर्भूत हुए थे। किन्तु यहाँ, इस तथ्य का उद्घाटन आवश्यक है, कि बौद्धों के अनात्मवाद का आधार उपनिषदों का 'नेति-नेति' का विचार था। यह कहना भी अत्युक्ति न होगा, कि बौद्धों के शून्यवाद एवं विज्ञानवाद का आधार भी बहुत कुछ औपनिषद आत्मवाद ही है। इस प्रकार शङ्कराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध न कहकर बुद्ध को ही प्रच्छन्न आत्मवादी कहना चाहिए। यहाँ शङ्कराचार्य के सम्बन्ध में भी दो शब्द निवेदन करना आवश्यक है।

ये, शङ्कराचार्य ही थे, जिन्होंने भारतीय दर्शन को अद्वैतवादी विचारधारा के रूप में प्रस्तुत करके वेदों एवं उपनिषदों के आधार पर एक सार्वभौम दर्शन का प्रतिपादन किया था, और ये भी शङ्कराचार्य ही थे, जिन्होंने चार मठों की स्थापना करके समस्त भारतवर्ष को एक सांस्कृतिक सूत्र में ग्रथित करने का सफल प्रयास किया था। शङ्कराचार्य की इस दार्शनिक विचारधारा के अतिरिक्त उनके प्रस्थानत्रयीभाष्य की प्रसन्न-गम्भीर शैली, प्रतिपाद्य विषय का सुगठित एवं सुस्पष्ट विशदीकरण, पूर्वोत्तरपक्षपद्धति तथा अन्त में, सुग्राह्य एवं सरल-व्यावहारिक संस्कृत भी उनके महान् दार्शनिक व्यक्तित्व का परिचायक है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि विश्व में शङ्कराचार्य जैसे सार्वभौम दार्शनिक आज तक नहीं हुए। यह शांकर दर्शन की सार्वभौमिकता एवं सैद्धान्तिक व्यापकता के कारण ही है, कि शाङ्करवेदान्त का अनुशीलन प्रायः समस्त विश्व में उत्सुकता के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि, इस ग्रन्थ के अन्तर्गत समीक्षित हुआ है, अद्वैतवेदान्त एवं ग्रीकदर्शन के अनेक विचार, जैसे ग्रीक की 'आइडिया' की कल्पना एवं वेदान्त का 'विज्ञान' विचार समान हैं। इसके अतिरिक्त शोपेनहार, डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लाइब्निम्, बर्कले, काण्ट, फिक्ते, शेलिंग, हेगल, बर्गसा एवं ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्यों के अनेक दार्शनिक विचार भी वेदान्त के समान हैं। इससे एक ओर जहाँ, वेदान्तदर्शन की व्यापकता सिद्ध होती है, वहाँ दूसरी ओर इन पाश्चात्य विद्वानों की दार्शनिक दृष्टि पर वेदान्त की चिन्तनधारा का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। एक तथ्य और स्पष्ट होता है, और वह यह, कि औपनिषद वेदान्त का प्रभाव किसी न किसी रूप में, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग एवं पूर्वमीमांसा पर भी परिलक्षित होता है, जैसा कि इस ग्रन्थ में प्रदर्शित किया जा चुका है। षड्दर्शन के समन्वयात्मक बोध की दिशा में, यह कहना भी समीचीन होगा, कि सर्वोच्च सत्ता–ईश्वर, कार्यकारणवाद, जगत्, कर्म एवं मोक्षसम्बन्धी सिद्धान्त सभी दर्शनों में निरूपित-विवेचित मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि सभी षड्दर्शनों का लक्ष्य एक (मोक्ष) ही है, यह बात दूसरी है, कि इनकी विचारपद्धतियाँ पृथक् पृथक् हैं तथा इन सभी का स्वतन्त्र महत्त्व स्पष्ट है। आस्तिक षड्दर्शन ही क्या, जैन एवं बौद्ध, नास्तिक दर्शनों ने भी जगत्, जीव, कार्यकारणवाद, कर्म (कम्म) एवं निर्वाण के सम्बन्ध में विचार किया है। यहाँ यह निर्देश करना भी संगत होगा, कि जैन एवं बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत अहिंसा का जो सिद्धान्त उपलब्ध होता है, वह मानवीय होने के कारण एक सार्वभौम सिद्धान्त है। अत एव इस सिद्धान्त का विश्व भर में समादर हुआ है। किन्तु यहाँ यह तथ्य अविस्मरणीय है, कि अहिंसासिद्धान्त का मूलाधार भी उपनिषदों का एकात्मवाद ही है। यह तथ्य, वैष्णव, शैव एवं शाक्त आदि दर्शनों के सम्बन्ध में भी अवलोकनीय है। उपर्युक्त, ईश्वर, जीव, जगत्, जगत् कारणता, कर्म एवं मोक्ष आदि सिद्धान्तों का निरूपण एवं व्याख्या, षड्दर्शन आदि के समान इन दर्शनों में भी की गई है। इससे निःसन्देह समस्त भारतीय दर्शन के लक्ष्य की एकरूपता सिद्ध होती है।

प्रत्येक दर्शन की मूल चिन्तनदृष्टि के सम्बन्ध में विचार करते समय यह देखा गया है, कि क्रिया-प्रतिक्रिया एवं पूर्वापर पृष्ठभूमि प्रत्येक दर्शन के स्वतन्त्र विकास में अनिवार्य रूप से कारण रही है। यह तर्क-तथ्य, वैष्णव, शैव एवं शाक्तदर्शन के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होता है। निदर्शनार्थ वेदान्त के प्रतिपाद्य निर्गुण एवं परमार्थ ज्ञान की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप ही, सगुण भक्तिपरक वैष्णव दर्शन का विकास हुआ था। यहाँ, यह स्वीकार करना होगा, कि सामान्य व्यक्ति के लिए, वेदान्त कुछ कठिन अवश्य था। यह भी एक कारण था, कि सामान्य व्यक्ति की जिज्ञासा वेदान्त के ब्रह्मज्ञान से विमुख होकर भक्ति की ओर केन्द्रित हुई। इसी प्रकार शैवदर्शन के विकास के मूल में भी वैष्णव दर्शन की प्रतिक्रिया

ही प्रधान थी। जैसा कि कहा जा चुका है, वैष्णव धर्म का साधक राधाकृष्ण की श्रृंगारपरक लीलाओं-रासलीलाओं एवं श्रृंगारिक क्रीड़ाओं में इतना रम गया था, कि उसकी दृष्टि में लोकमंगल का भाव, प्रायः उपेक्षित-सा हो गया था। इतना ही नहीं, सखीभाव के अन्तर्गत कृष्ण का स्थान भी राधा ने ले लिया था। इसके परिणामस्वरूप राधा के भक्तों में भी स्त्रैण प्रवृत्ति का विकास हुआ था। विधायी शैव सिद्धान्त का विकास हुआ था। शैवसिद्धान्त का विकास शिव एवं शक्ति के सामरस्य के रूप में हुआ था। शिव-शक्ति के सामरस्य में, शिव एवं शक्ति का ऐक्य तो था, भाव नहीं। किन्तु अद्वैतभाव नहीं। शिवशक्तिसामरस्य के अनुसार शिव शक्ति के बिना शव मात्र है। अतः स्पन्दन में भी असमर्थ है। यहाँ, यह भी वक्तव्य है कि शैवदर्शन की शक्ति का आधार भी वैष्णवदर्शन का राधातत्व ही है। वैसे, रुद्र-शिव का स्वरूप विष्णु से भी प्राचीन है। यह विचारयोग्य है, कि जिस प्रकार वैष्णव दर्शन में, अन्त में, कृष्ण का स्थान भी राधा ने ले लिया था, तथा राधा तत्त्व की प्रधानता हो गई थी उसी प्रकार शाक्त दर्शन में शक्ति तत्त्व की प्रधानता हो गई थी। एक तथ्य और विचारणीय है, कि चाहे, वैष्णवदर्शन हो, चाहे, शैवदर्शन और चाहे, शाक्तदर्शन, सभी में विष्णु, शिव एवं शक्ति को ब्रह्म का स्वरूप प्रदान किया गया है। इससे इन सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में औपनिषद एवं शाङ्कर ब्रह्मवाद की सर्वोच्चता स्वीकृत सिद्ध होती है। शाक्तदर्शन के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है, कि जिस प्रकार ऋग्वेद के अनुसार जगत् में 'पुरुष एवेदं सर्वम्' कहकर सर्वत्र पुरुष की सत्ता सिद्ध की गई थी, एवं छान्दोग्योपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहकर सर्वत्र ब्रह्म का व्यापकत्व व्याख्यात हुआ था, उसी प्रकार शाक्तदर्शन में सर्वत्र शक्ति की सत्ता एवं व्यापकत्व सिद्ध किया गया था—"स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु"। शक्ति का युग सदा रहा और रहेगा। शक्ति के रूप-स्वरूप परिवर्तित होते रहे हैं। तदनुसार शक्ति के उपासकों की जीवनपद्धति एवं उद्देश्यों में अन्तर आया है। आधुनिक युग (उन्नीसवीं-बीसवीं शती) के आध्यात्मिकों में सामाजिक चेतना की विशेष जागृति मिलती है, इसीलिए इससे नव-अध्यात्मवादी (Neo-Vedantism) युग का आरम्भ माना जाता है।

इसी प्रकार, स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं ब्रह्मसमाज के संस्थापक राममोहनराय आदि गम्भीर विचारकों ने भी, यद्यपि त्रैतवाद (स्वामी जी द्वारा प्रतिष्ठित) आदि, एवं नव अध्यात्मवादी-वेदान्ती रामकृष्ण परमहंस काली (शक्ति) के भक्त तो थे ही, साथ ही, उनमें विविध रूपों में समाज सेवा का भाव भी प्रमुख था। समाज-सेवा एवं सामाजिक उत्थान की यह दृष्टि विवेकानन्द, रामतीर्थ, महर्षि रमण एवं आगे चलकर विनोबा में भी देखने को मिलती है। वस्तुतः, नव-अध्यात्मवाद एवं नव-वेदान्त, अध्यात्म एवं सर्वव्यापक ब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादक वेदान्त का ही सामाजिक एवं व्यावहारिक क्रियान्वयन है, जिसके अनुसार समस्त विश्व एवं मानवमात्र में एक आत्मा की सत्ता मानकर निष्पक्ष भाव से समाजसेवा पर विशेष बल दिया गया है। सामाजिक चेतनाप्रधान इस युग में, अध्यात्मवाद की मूल चेतना कुछ हल्की पड़ने लगी थी, जैसा कि विवेकानन्द आदि व्यावहारिक वेदान्तियों के जीवन-व्यवहार से प्रतीत होता है। इसी की प्रतिक्रिया के अनुरूप वर्त्तमान बौद्धिक युग में कतिपय ऐसे दार्शनिक हुए, जिन्होंने प्रायः सुप्रतिष्ठित ब्रह्मवाद से हटकर विशेषतः बुद्धिगत तर्कों एवं मनोवैज्ञानिकता के आधार पर आध्यात्मिकता की प्रतिष्ठा का प्रयास किया था। इस युग को हमने बौद्धिक-अध्यात्मवादी युग की संज्ञा दी है। इस युग के दार्शनिकों में जे. कृष्णमूर्ति एवं के. सी. भट्टाचार्य आदि दार्शनिक आते हैं। ये दार्शनिक भी सामाजिकों की मानसिक व्याधियों की आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक चिकित्सा करते थे। यही कारण था, कि जे. कृष्णमूर्ति के पास

मानसिक व्याधियों के अनेक लोग आते थे, और उनके दुःख दूर होते थे। जे. कृष्णमूर्ति उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं देते थे, अपितु मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर बौद्धिक तर्कों के आधार पर उनकी समस्याओं का समाधान करते थे।

साम्प्रतिक विश्व समाज यह अनुभव करने लगा है, कि मनोवैज्ञानिक एवं योग-वेदान्तपरक विचारों से अनेक आधुनिक मानसिक व्याधियों का निवारण किया जा सकता है, विघटित परिवारों को संगठित किया जा सकता है, एवं समाज के विभिन्न राजनैतिक एवं आर्थिक संकटों एवं संघर्षों को दूर किया जा सकता है। यही कारण है, कि विश्व में योग एवं वेदान्त के प्रति, दिन-प्रतिदिन आस्था बढ़ती जा रही है।

●

परिशिष्ट–१

सहायक-ग्रन्थ-सूची
(संस्कृत-हिन्दी)

अग्निपुराण, अच्युतग्रन्थमाला, काशी
'अथर्ववेद संहिता', सायणभाष्य
सनातनधर्मयन्त्रालय, मुरादाबाद, सं. १९८७
अथर्वशीर्षोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर
अद्वैतचन्द्रिका, सुदर्शनाचार्य (बनारस संस्करण)
'अद्वैततत्त्वसुधा' (भूमिका)
अनन्तकृष्णशास्त्री
(तारा मुद्रणालय, वाराणसी)
'अद्वैतवाद' गंगाप्रसाद,
(कलाप्रेस, इलाहाबाद-१९५७)

अद्वैत वेदान्त (तृ. सं.) राममूर्ति शर्मा
ईस्टर्न बुक लिंकर्स, १९९८
अणुभाष्य, प्रकाशटीका (पुरुषोत्तमाचार्य)
अन्वचार्थप्रकाशिका, संक्षेपशारीरक
अभिधावृत्तिमातृका (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई)
अवच्छेदकत्वनिरुक्ति, जगदीश तर्कालङ्कार,
चौखम्बा, वाराणसी, १९६८
अहिर्बुध्न्यसंहिता (अड्यार, मद्रास)
आत्मतत्त्वविवेक, उदयन, वाराणसी, १९८३
आत्मोपनिषद्, आगमप्रामाण्य
आश्रमोपनिषद्

ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र
ईश्वरसंहिता (सुदर्शन प्रेस काञ्ची)
ईशावास्योपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२५
उपदेशसाहस्री, शंकराचार्य, निर्णयसागर, १९१४
'उपनिषदों का अध्ययन' विनोबा, प्रस्तावना
(सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली १९६१)
उन्नति का मार्ग (भाग १६)
ऋग्वेद, सायणभाष्य,
वैदिक संशोधन मण्डल, पूना संस्करण
ऋग्वेद, वै.शो.सं. होशियारपुर, १९६१
ऐतरेय आरण्यक
ऐतरेयारण्यकपर्यालोचनम्, डा. मंगलदेव शास्त्री
'ऐतरेय भाष्य', मध्व
ऐतरेय ब्राह्मण
कठरुद्रोपनिषद्
कठोपनिषद् राधाकृष्णन्, सं. लन्दन, १९५३
कर्पूरादिस्तवराज १० की व्याख्या
(गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास)
काशिका
कुलचूड़ामणितन्त्र
गणेश एण्ड कं. मद्रास १८५६
कुलार्णव तंत्र
कूर्मपुराण, क्लाइन रोड, कलकत्ता
कृष्णोपनिषद्

केनोपनिषद्
गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. १९९४
कैवल्योपनिषद्
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९८०
कौषीतकी उपनिषद्
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९८०
क्रमिक आगम
'खण्डनखण्डखाद्य', श्री हर्ष
लक्ष्मणशास्त्री सम्पादित, बनारस १९१४
गदाधरी, गदाधराचार्य चौ. वाराणसी, १९७०
गन्धर्वतन्त्र
गरुड़पुराण
काशी संस्कृत सिरीज़, वाराणसी
गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर
'गीताप्रवचन' विनोबा
(हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनुदित, सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी)
गीतारहस्य, तिलक बालगङ्गाधर
गृह्यसूत्र, आश्वलायन
गृह्यसूत्र, पारस्कर
'गृह्यसूत्र' हिरण्यकेशी
गोपीचन्दनोपनिषद्
गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्, गोविन्दभाष्य
गौतम धर्म सूत्र
चिद्गगनचन्द्रिका
आगमानुसन्धान-समिति, कलकत्ता १९३७
चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला
छान्दोग्योपनिषद्, आनन्दाश्रम, पूना १९८०
छान्दोग्योपनिषद्, श्रीरंगम्
जयमंगला, भूमिका
जयाख्यसंहिता
गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज़ (४५), बड़ौदा
'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' बेचरदास दोषी (पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी)
तत्त्वकौमुदी
तत्त्वचिन्तामणि, गंगेश उपाध्याय वाराणसी, १९८३
'तत्त्वदीपन', बल्लभाचार्य
'तत्त्वनिर्णय', मध्वाचार्य
'तत्त्वरत्नाकर'
तत्त्वरहस्य दीपिका
तत्त्ववैशारदी, वाचस्पति मिश्र
हार्वर्ड ओरियन्टल सीरिज़
तत्त्वशेखर
तत्त्वार्थदीप
Edited by: Hari Shanker Omkarji Shastri (Bombay, 1993)
तत्त्वार्थदीप
(आवरण भंग टीका)
तत्त्वार्थसूत्र
'तत्त्वार्थ सूत्र की भूमिका' सुखलाल
तर्कभाषा, अय्यर एस. आर.,
चौखम्बा, वाराणसी, १९७९
तर्कभाषा (केशवमिश्र), गजानन शास्त्री,
चौखम्बा, वाराणसी, १९८९
तर्कभाषा, विश्वेश्वर
चौखम्बा, वाराणसी १९५३
तर्करहस्यदीपिका
तर्कसंग्रह, अन्नभट्ट (बोदास सं.)
भ. ओ. रि. इ., पूना १९७६
तात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, काशी
तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवल्ली, गीताप्रेस, गोरखपुर
तैतरेय आरण्यक
'तंत्रालोक', अभिनवगुप्त
थेरीगाथा, गाथा
दर्शनदिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन (किताब महल) इलाहाबाद १९४७
'दर्शनशास्त्र का इतिहास', डा. देवराज
हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहबाद, १९५०
'दशश्लोकी की टीका', हरिव्यास देव
दुर्गासप्तशती, गीताप्रेस गोरखपुर
देवीभागवत
द्रव्यसंग्रह

धम्पद
धर्मशर्माभ्युदय
नामलिंगानुशासन
नारदपाञ्चरात्र
नारदीयपुराण, क्लाइन रोड, कलकत्ता
'निघण्टु', सीमारामशास्त्री सम्पादित दिल्ली
निम्बार्कभाष्य
निरुक्त
नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्,
मोतीलाल बनारसीदास
नैषधीयचरित, श्रीहर्ष, चौखम्बा, वाराणसी
न्यायकुसुमाञ्जलि, उदयन
(दुर्गाधर झा सं.) वाराणसी, १९७३
न्यायमकरंद (चौखम्बा संस्करण)
'न्यायपरिशुद्धि', वेंकटनाथ
न्यायभाष्य, वात्स्यायन
न्यायमंजरी, जयन्तभट्ट
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७८
न्यायवार्तिक, उद्योतकर, काशी
न्यायवार्तिक, उद्योतकर
इन्डोविज़न, गाज़ियाबाद, १९८६
'न्याय सिद्धाञ्जन', वेंकटनाथ
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, विश्वनाथ पञ्चानन
मधुवनी, दरभंगा, १९३६
न्यायसूत्र, गंगानाथ झा
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८४
पंचदशी, चित्रदीप प्रकरण,
विद्यारण्य, बुद्धिसेवाश्रम, बिजनौर
पुष्टिप्रवाह-मर्यादाभेद-टीका
पंचदशी, तत्त्वविवेकप्रकरण, विद्यारण्य,
निर्णयसागर मुद्रणालय, १९४६.
पंचपादिकाविवरण, प्रकाशात्म यति,
गवर्नमेण्ट ओरिण्टल सीरिज़, मद्रास १९५८
पंचविंशति ब्राह्मण
'प्रकाशटीका, अणुभाष्य', पुरुषोत्तमाचार्य
पञ्चास्तिकाय
पद्मपुराण, क्लाइन रोड, कलकत्ता
पद्मसंहिता
परमार्थसार
'पराप्रवेशिका', क्षेमराज
पराशरसंहिता
(बाम्बे संस्कृत सीरिज़ संस्करण)
पाराशरस्मृति
प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
राजानक क्षेमराजाचार्य (त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित)
अड्यार, १९३८
प्रपंचहृदय
'प्रमाणमीमांसा', हेमचन्द्र
'प्रमेयसंग्रह', वेंकटनाथ
'प्रवचनसार की भूमिका', ए. एन. उपाध्याय
प्रभाकरविजय
प्रशस्तपादभाष्य (Indo Vision, Gaziabad)
प्रस्थानरत्नाकर
बुद्धवचन
बृहद्ब्रह्मसंहिता, आनन्द आश्रम, ग्रन्थमाला, काशी
बृहदारण्यक उपनिषद्, राधाकृष्णन्, लन्दन, १९५३
बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक,
सुरेश्वराचार्य, निर्णयसागर प्रेस, १८७३
बोधिचर्यावतारपंजिका, प्रज्ञाकरमूर्ति
'बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन', द्वितीयभाग
भरतसिंह उपाध्याय (बंगाल हिन्दी-मण्डल, कलकत्ता)
'बौद्धधर्मदर्शन', आचार्य नरेन्द्रदेव
(बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५६)
बौधायनधर्मसूत्र
ब्रह्मगीता, क्लाइन रोड, कलकत्ता
ब्रह्मोपनिषद्
ब्रह्मवैवर्तपुराण, मोतीलाल बनारसीदास १९२०
'ब्रह्मसूत्रचतुःसूत्री', डा. हरदत्त शर्मा
Oriental Book Agency, Poona, 1940
ब्रह्मसिद्धि मंडनमिश्र, मद्रास, १८३७
ब्रह्मसूत्र मध्वभाष्य
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य शंकराचार्य

निर्णयसागर, १९१७
ब्रह्मसूत्र, शा. भा. रत्नप्रभा
अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी संवत् १९९३
ब्रह्माण्डपुराण, क्लाइन रोड, कलकत्ता
भक्तमाल
भक्तिवर्धिनी (श्लोक ५). पुरुषोत्तमाचार्य
भक्तिवर्धिनी, श्लोक ६ बालकृष्ण (टीका)
भगवदज्जुक
भविष्यपुराण (मध्व भाष्य)
भामती, वाचस्पति मिश्र
निर्णय सागर, बम्बई, १९१६
'भारतीय दर्शन', उमेश मिश्र (लखनऊ १९५७)
भारतमाता
'भारतीय दर्शन', बलदेव उपाध्याय
शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९७१
भारतीय दर्शन
भावप्रदीप, वाक्पदीय ब्रह्मकाण्ड
(चौखम्बा, संस्कृत सिरीज़)
भास्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र
मनुस्मृति परिमल, दिल्ली, १९९२
'मनुस्मृति पर टीका', कुल्लुक भट्ट
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९०
मध्वविजय
मध्यमकावतार, चन्द्रकीर्ति
मज्झिम
महानिर्वाणतंत्र, गणेश एण्ड कं. मद्रास
महाभारत, सूक्थांकर
भ. ओ. रि. इ., पूना, १९६८
महाभाष्य (पतञ्जलि) शिवनारायण शास्त्री सं.
परिमल दिल्ली, १९९१
माध्यमिककारिका, नागार्जुन
माध्यमिकवृत्ति
Bib. Buddhika St. Petersburg
मानमेयोदयनारायण सूर्यनारायण शास्त्री एवं
अडयार, मद्रास, १९७५
मानसोल्लास, सुरेश्वराचार्य
(अड्यार, मद्रास, १९२०)
माया (भाग ६)
'मालिनीविजयोत्तर तंत्र'
मुण्डकोपनिषद, गीताप्रेस, गोरखपुर, २००८
मैत्रायिणीसंहिता
यजुर्वेदसंहिता, परोपकारिणी सभा
संवत् १९९९, षष्ट संस्करण
यतीन्द्रमतदीपिका, (पूना संस्करण)
युक्तिदीपिका, रामचन्द्र पाण्डेय सं.
वाराणसी, १९६७
योगभाष्य, व्यास, वाराणसी १९७९
योगसूत्र, पतञ्जलि, वाराणसी १९७९
योगवासिष्ठ, वसिष्ठ अ. ग्र., काशी १९६१
रत्नप्रभा, ब्रह्मसूत्र गोविन्दानन्द
अच्युत ग्रन्थमाला, काशी सं. १९९३
'रस हृदय तंत्र', गोविन्द भगवत्पाद
रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
रामोत्तरतापिन्युपनिषद् मोतीलाल बनारसीदास १९२०
लघुचन्द्रिका, गौड ब्रह्मानन्द
'लोकायत', देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय
वाक्यपदीय, भर्तृहरि,
पूना विश्वविद्यालय, पूना १९६५
वाजसनेय संहिता
वात्स्यायनभाष्य, वात्स्यायन, वाराणसी, १९८६
वामनपुराण, क्लाइन रोड, कलकत्ता
वायुपुराण
वाल्मीकिरामायण
मुन्शीराम मनोहर लाल, दिल्ली, १९७६
'विज्ञानभैरवविकृति'
'विनोबा संवाद' व्यौहार राजेन्द्रसिंह
अखिल भारत सर्व सेवा संघ, वाराणसी
विवरणप्रमेयसंग्रह
विद्यारण्य, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, सं. १९९६
विवेकचूड़ामणि, शंकराचार्य
भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९७३
विष्णुपुराण

विष्णुसहस्रनाम (शांकरभाष्य)
विष्णुसंहिता, अनंतसयन ग्रन्थमाला
वेदान्तकल्पतरु, अमलानन्द
नि. सा. बम्बई १८३२
'वेदान्तकौमुदी', रामाद्वयाचार्य, मद्रास १८५५
वेदान्तकौस्तुभ, श्रीनिवासाचार्य
वेदान्ततत्त्वबोध
'वेदान्तदर्शन. अद्वैतवाद', आशुतोष शास्त्री
वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, वाराणसी, १६३७
वेदान्तपारिजातसौरभ, निम्बार्काचार्य
वेदान्तरत्नमंजूषा, पुरुषोत्तमाचार्य
वेदान्तशिखर (भाग ६)
'वेदान्तसार', सदानन्द
(सम्पा. डा. राममूर्ति शर्मा, E.B.L. Delhi)
'वेदान्तसार', रामतीर्थकृत विद्वन्मनोरञ्जनी टीका सहित, (जैकब द्वारा सम्पादित) बम्बई, १८६३
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली
प्रकाशानन्द, कलकत्ता, १६३१
'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली'
जीवानन्द विद्यासागर (१६३५)
वेदान्तसिद्धान्तसूक्तिमंजरी
वेदान्ताङ्क (कल्याण), गीताप्रेस, गोरखपुर
वेदार्थसंग्रहरामानुज
भगवद्रामानुज ग्रन्थमाला, १६५६
वैखानसागम (अनन्त सयन ग्रन्थमाला, १६२२)
वैशेषिकसूत्र, कणाद, काशी
व्यावहारिक वेदान्त
'व्यावहारिक वेदान्त और राष्ट्रीय उत्थान'
शक्तिसंगमतंत्र
शंकरदिग्विजय माधवाचार्य
(Gaekwad oriental series) Vol. CIV
शतपथब्राह्मण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
शाङ्करभाष्य गीता
गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् १६६४
शाण्डिल्यसूत्र तथा स्वप्नेश्वर की टीका
शान्तिपर्व
शारदातिलकतंत्र
'शास्त्रदर्पण'
अमलानन्द (वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम)
शास्त्रदर्पण
(वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम् १६१३)
शास्त्रदीपिका पार्थसारथि
चौखम्बा, वाराणसी, १६२६
शिवपुराण क्लाइव रोड, कलकत्ता
शिवदृष्टि
शिवसूत्रविमर्शिणी क्षेमराज
(*Published by* Kashmir Government)
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, गिरिधर, चौखम्बा, बनारस
श्वेताश्वतरोपनिषद्, राधाकृष्णन्, सं. लन्दन, १६५३
'शैवभाष्य', कण्ठाचार्य
'शैव सिद्धान्तदीपिका', शम्भुदेव (शोलापुर, १६०६)
'शंकरविजय', आनन्द गिरि
शंकराचार्यग्रन्थावली, श्रीरंगम्
शंखायनारण्यकम्, (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली)
श्रीमद्भागवत
श्रीभाष्य, रामानुज (निर्णयसागर, बम्बई)
'षड्दर्शनसमुच्चय' गुणरत्न
षड्विंशब्राह्मण
षट्सन्दर्भ, जीवगोस्वामी
षष्टितन्त्र
सात्वतसंहिता, (काशी)
सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य
भ.ओ.रि.इ.पूना १६७८
सर्वसारोपनिषद्
सर्वसंवादिनी, जीवगोस्वामी
सर्वार्थसिद्धि
'सर्वोदयदर्शन', दादा धर्माधिकारी
(अखिल भारत सर्व सेवा संघ राजघाट, काशी-१६५७)
सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण नेशनल, दिल्ली १६७२
'सांख्यदर्शन पर्यालोचन', आद्याप्रसाद मिश्र
(राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली)
सांख्यप्रवचनभाष्य, विज्ञानभिक्षु, भा. वि. प्र., काशी

सांख्यप्रवचनभाष्य अवतरणिका

'सामवेद', श्रीराम शर्मा आचार्य सम्पादित (गायत्री तपोभूमि, मथुरा)

'साम्वसूत्र', विनोवा

सिद्धान्तजाह्नवी

'सिद्धान्तलेशसंग्रह', अप्पयदीक्षित अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, संवत् २०११

सिद्धान्तरत्नटीका

सिद्धान्तसार मध्व

सुबोधिनी (श्रीमद्भागवत)

'सौन्दर्यलहरी', लक्ष्मीधर की टीका (मैसूर संस्करण)

स्कन्दपुराण

स्पन्दकारिका

'स्थितप्रज्ञदर्शन' विनोवा (सस्ता साहित्य मण्डल १९५६)

'संक्षेपशारीरकम्' सर्वज्ञात्ममुनि चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी १९२४

हरिगुरुस्तवमाला

(अंग्रेजी ग्रन्थ)

'A bibliography of the Life and Teachings of J. Krishna Murti', Leiden, E.J. Brill 1974

'A Critical Study of the Sāṅkhya System' Sovani, V.V.

'Āgam Śāstra of Gauḍpāda, Introduction' B. Bhattacharya University of Calcutta, 1943

'A History of Indian Philosophy' Sinha, J.N. Central Agency, Calcutta.

'Allgomlive Geschichite Des Philosophic, Vol. II' Deussen

'An Introduction to Ancient Philosophy' Armstrong, A.H. Mathuen & Co.' London, 1947

'Appearance & Reality' Oxford Clarendan, London, 1951.

'A Review of Deussen's Translation of the Upaniṣads' Deutshe Literature

'Aristotle' Ross, Mathuen, London, 1953.

'A Study of Kant' J. Ward

'A Study of Saṅkara' N. Shastri (Calcutta 1942)

'A Vedic Reader' Macdonell Bibl. Ind. Ed. 94-95

Bibliothica

'Bibliothica India', Buddhist Society

Dr. Bulhler's Report for Sanskrit (1875-76) Agency, Poona, 1940

Catalogue of Mss of India office Part IV

'Collected Works of Sir R.G. Bhandarker' Vol. IV

'Commemoration Volume' K.B. Pathak

'Concept of Māyā' Devanandan, P.D.

'Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy' Ranade, R.D. Oriental Book Agency, Poona, 1926

'Contemporary Indian Philosophy' Mahadevan T.M.P. Saroja & G.V. New Delhi 1981

'Critique of Pure Reason' Kant (Translated by J.M.D. Meiklejohn, London, G.Ball & Sons, 1930)

'Daśapadārthaśāstra' Thomas, Varanasi, 1962.

'Doctrine of Māyā' Ray Choudhari, A.K. Calcutta, 1950.

'Discourse of Swami Vivekananda' (Los Angeles California, Jan 4, 1900)

'Early Sāṅkhya' Johson

'East and West', Radha Krishnan (London, Allen & Unwin 1954)

Education and the Significance of Life, Harper & Roe New York 1937

Śatapath Brāhmaṇa, Translation by Eggeling

'Encyclopaedia of Religion & Ethics'

'Encyclopaedia of Vedanta' (E.B.L. Delhi) 1992

'Sharma, Dr. Ram Murti' Epigraphia Indica Vol. I.

'Essays in Zen Buddhism' (Third Series) Dr. Suzuki

'Essays on Truth and Reality' F.H. Bradley.

'The Ethics of Spinoza & De Emenda Tiene' (New York : Dutton & Co. 1930)

'Evolution of Religion' Vol. I. Edward Caird

'From Darkness to Light : Poems & Parables' Harper & Roe New York 1980

'Glory of Knowledge' (Pub. E.B.L. Delhi, 1990) Sharma, Dr. Ram Murti

Historical Survey of India Bodas Varanasi

'History of Bengali Language and Literature' Sen, D.C.

'History of Dharma Śāstra' P.V. Kane Bhandarkar Oriental Research Instt. Poona.

'History of Indian Literature' Weber'

'History of Indian Logic' Vidyā Bhushan S.C. Motilal Banarasidas, 1971

'History of Indian Philosophy' Vol. VII Belvalkar, S.K. & Ranade (Poona 1933)

'History of Indian Philosophy' Vol.I-V Dasgupta S.N. Cambridge London, 1922.

'History of Indian Philosophy' Mishra, Umesh.

'History of Indian Philosophy' (Vol. I&II) Radhakrishnan London, 1929

'History of Philosophy' Eastern and Western (Edited by Radhakrishnan, S. Allen & Unwin, London)

'History of the Word 'Īśwar' (Proceedings of A.I.O.E) Mangal Dev Shastri

'Hundred Great Names from India's Past' Raman, V.V. (Popular Prakashan, Bombay 1989)

'Idealistic Thought of India' Raju, P.T. (London, Allen & Unwin 1952)

'Imperial Gazetteer of India' Vol. I.

Indian Antiquary (1924)

'Indian Historical Quarterly' Vol. IX

'Indian Philosophy' Vol. I. Dasgupta, S.N. Cambridge University Press

'Indian Philosophy' Vol. I
Radha Krishnan, S.
Allen & Unwin, London.

'Indian Theism' Macmical, Nical
(Oxford University Press)

'Introduction to Panchrātra'
Shrader
Introduction to Jha, Ganganath
Varanasi-1967

Introduction S.B.E. Vol. XXXIV
Thibaut

'Introduction to Iśtasiddhi'
Hiriyanna
J. Krishna Murti's Notebook.
London, Victor, Gollancy 1976

Journal, B.B.R.A.S. Vol. XXII
Journal of Ancient Research
Vol.III Journal of Oriental Society
1913

'Journal of American Oriental
Society' (1911)

'Journal of Royal Asiatic Society'
(Bombay Branch) Vol. XX

'Journal of the Buddhist Text'
Society, Vol. 2

Shastri, M.M. Harprasad.

'Kant's Metaphysics of Experience' Vol. I. H.J. Paten
(London, Allen & Unwin 1951)

'Krishna Murti's Notebook'
Gollancy, Victor' London 1976

Dr. Krishna Swami Aiyangar
Commemoration Volume

'Lectures on the Philosophy of
Religion' Vol. I' Hegal

'Letters of Sri Aurobindo'
(Second Series, Sri Aurobindo
Circle, Bombay)

'Lights on Vedānta'.

Dr. Virmani Prasad Upadhyaya
Chaukhamba Sanskrit Series
Varanasi, 1952

'Mckenna's English Translation'
Vol. II Enneads

'Meditation' Krishna Murti, J.

'Modern Buddhism'
Shastri, Harprasad

'Mysteries of Selflessness' Iqbal
(Tr.—Vq calson) Lahore 1944

'Notice of Sanskrit Manuscript'
(N.S. No. 2826)

Mitra, Rajendra Lal
Objective of Māyā
(Jha commemoration, 1937)

Kokileshwar Shastri

'Pathway to Reality' Vol. 2 Haldane
Gifford Lectures for 1902 Murray.

'Philosophy of Ancient India'

'Philosophy in India' Murty, K.S.
Motilal Banarasidas, Delhi.

'Philosophy of Religion' Pfleiderer
Williams and Norgate, 1887

'Philosophy of the Tantras' (Jha
Commemoration volume)
Chakravarti, D.P.C.'s article

'Philosophy of Upaniṣads'
Deussen, p. Edinburgh

'Philosophy of the Upaniṣads'
Gough, E—Cosmo Publications,
Ansari Road, New Delhi, 1979

'Poems and Parables' Gollancy,
Victor, London 1981

'Principles of Human Knowledge'
Berkaley

'Principles of Nature & Grace'
Leibriz (Translated by
Dr. Robert, Latter, Oxford
clarendon 1892)

'Principles of Tantra' (Ganesh & Co., Madras) Bhattacharya, Shiv Chandra

'Proceedings of the Indian Philosophy Congress' (1925-36)

'Proceedings of Third oriental conference'

'Proceedings and Transactions of the Third oriental Conference' Madras 1925

Poussin's Opinions

'Reconstruction of Religious thoughts in Islam' Iqbal

'Relation of Brahma & Jagat. Indian Culture' P.M. Modi (Vol. VIII)

'Religion and Philosophy of the Veda' P. 433 Keith, A.B. Harward Series Vol. 12.

'Religion and the Cross Roads' Vahiduddin Delhi 1980

'Report of the search for Sanskrit Manuscripts' (1882-83) R.G. Bhandarkar

'Report on search for Sanskrit' for 1983-84 N.B. Utagikar

'Sacred Books of the East' Vol. XXXIV Dr. Thibaut Oxford Clarenden Press, 1890

'Sāṅkhya System' Keith, A.B.

'Sāṅkhya Tattva Prawachan Bhāṣya'

'Sanskrit Texts, P. 358, Eggling's Translation of S.B.S.B.E. Vol. XLIII p. 374, 375 Dr. Muir

'Śatapatha Brāhmaṇa' Eggeling

'Śakti & Śākta' Wood Roffe. J.

'Shri Aurobindo, an Integral Yoga' Joshi, Kirit.

'Shri Aurobindo and the Mother' Joshi, Kirit

'Some Problems of Identity in the Cultural History of Ancient India'Kuppu Swami Shastri. (Journal of Oriental Research, Madras) Vol. I.

'Studies in Philosophy' Bhattacharya, K.C. Calcutta 1952-1958

'Studies in Vedānta' J. Kirtikar Taraporewala Bombay in 1924

Swarg in India (article) Bhattacharya, K.C. Vishva Bharati journal Vol. XX, 1954 (Shanti Niketan)

'Systems of Buddhistic Thought' Sozen, Yamakani, Calcutta

'Tantra Raj Tantra' (Ganesh & Com.) Bharati, Shuddhanand's Preface

'Tarkabhāṣā' (Ed. D.R. Bhandarkar) B.O.R.I. Poona, 1937

'Tattvasaṁgraha' (Ganganath Jha ed.,) Delhi 1937

'Tarkabhāṣā' Sacred Books of the East Vol. XXXXV

'The Complete Works of Swami Vivekananda' Vol. VII

'The Doctrine of Maya' P. 7 Shastri, P.D.—Luzac & Co., London 1911

'The First & Last Freedom' Gollancy, Victor London 1954

'The Human Presence' Grigorias Palos Janeva 1978

'The Hymns of the Ṛgveda' Peterson

'The Hymns of the Sāmveda' Griffith, R.T.H. (Lazaras & Co. Banaras 1926)

The Immortal Friend' (Porem) Krishna Murti, J. 1928

'The Indian Antiquary' (1873-74)

'The Life of Vivekanand and the Universal Gospel' Rolland, Romain (Advaita Ashram, Mayavati, Almora)

'The Only Revolution' Krishna Murti, J. London 1970

'The Origin of Buddhism' Pandya, G.C. (University of Allahabad)

'The Pathless Land' Krishna Murti, J.

'That Pathless Land' Susunaga Veera Peruma 1928

'The Doctrine of Māyā' A.K. Ray Chaudhury Das Gupta and Co. Calcutta, 1950

'The Doctrine of Māyā' Shankar Chaitanya Bharati

'The Great Philosophers (Eastern World)' (Skeffington— London 1952)

'The Monodology' Leibniz (Translated by Dr. Robert, latter, Oxford Clarendon)

'The Philosophical, Religious and Social Significance of the Tantra Shastra' J.N. Mazumdar's paper

'The Philosophy of the Upaniṣads' Deussen, P. New York, Dover Pub. 1966.

'The Positive Sciences of the Hindus' Dr. B.N. Seal Longman 1912.

'The Religion of the Veda' Bloomfield Indological Book House 1972.

'The Ṛgveda' Kaegi, Adolf.

'The Search' (Poem) Krishna Murti, J. 1927

'The Secret of Self' Iqbal

'The Six Systems of Indian Philosophy, Vol. II' Max Muller

'The Social and Political Philosophy of Sarvodaya after Gandhiji' Tondon, Dr. V.N. Rajghat Kashi

'The Song of Life' Krishna Murti, J.

'The Synthesis of Yoga' Shri Aurobindo (Part I, Pondicherry, 1969)

'The Teaching Vedānta according to Rāmāyaṇa' Sukhtankar (S.B.E. Vol. XXXIV)

'Three Lectures on the Vedānta' Philosophy' Maxmuller (Longman's Green, London 1894)

'The Three Volumes of Commentary on Living from the notebook of J. Krishna Murti' by Gollancy, Victor, London 1956-1961

'Trinity' (Vol. VIII)

'The Vaiśeṣika Philosophy' Ui, H. Journal of oriental Research Vol. X (with Chinese text)

'The Vedānta' Ghate Bhandarkar Oriental Instt. Poona

'Vedānta Philosophy' Maxmuller Longman's Green, London

'The Vedic Experience' Panikkar, R.M. California 1980

'The World as Power' Woodroffe, J. Ganesh & Co., Madras.

'The World as Power' Woodroffe, John Ganesh & Co., Madras.

'The Yoga & its object'

'Vaishnavism & Shaivism' R.G. Bhandarkar

'Vālmīki Rāmāyaṇa'

'Was Pāṇini an Advaitin' Shastri, Dr. Satyavrat

'What is living & What is dead in Indian Philosophy' Dayakrishna & Krishna V.V. Andhra University Waltair 1978

'Yogasūtra' Keilhorn Vol. II (Govt. Central Book Depot, Bombay, 1833)

'Yoga System of Patanjali' Woods (Harward Oriental Series No. 17)

Yogic Sādhana

'Yogavāśiṣṭha and Modern thought' Atreya, B.L. Indian Book Shop Banaras 1954.

परिशिष्ट–२

विशिष्ट शब्दपरिचय

वैदिकदर्शन

अमृत शब्द का अर्थ, अमर अर्थात् मरणरहित शाश्वत है। इस प्रकार समस्त देव अमृतस्वरूप हैं।

आर्य शब्द का अर्थ मित्र, उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ है। आर्य शब्द किसी जातिविशेष का वाचक नहीं है।

ऋत्विक् निशिचत समय पर यज्ञकर्ता ऋत्विक् कहलाता है।

आरण्यक वानप्रस्थों के द्वारा अरण्य अर्थात् वन में अनुशीलनीय होने के कारण इन्हें आरण्यक कहते हैं। आरण्यकों में विशेषतः यज्ञों के आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया गया है।

ऋषि वैदिकमन्त्रों के द्रष्टा, अर्थात् साक्षात्कार करने वाले ऋषि कहलाते हैं।

दास शब्द का अर्थ निकृष्ट है। दास किसी जातिविशेष का बोधक नहीं है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में, ब्रह्म अर्थात् यज्ञ एवं कर्मकाण्डपरक विवेचन का प्राचुर्य होने के कारण, ब्राह्मण ग्रन्थ कहे जाते हैं।

मन्त्र ऋषियों के द्वारा अनुभूत एवं साक्षात्कृत लौकिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रहस्य मन्त्र कहलाते हैं।

यज्ञ देवों के निमित्त सम्पाद्यमान, समस्त धार्मिक कर्मकाण्ड, जैसे स्तुति, प्रार्थना एवं हवनादि क्रियाएँ, यज्ञ कहलाती हैं।

वेद शब्द का सामान्य अर्थ ज्ञान है, किन्तु वेद वे हैं, जिनमें, ऋषियों के द्वारा साक्षात्कृत लौकिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक रहस्य (मन्त्र), तथा कर्मकाण्ड एवं यज्ञपरक वर्णन वर्तमान हैं। (मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्)

होतृ देवों का आह्वान करने वाला, अथवा उनके निमित्त होम करने वाला, होतृ (होता) कहलाता है।

चार्वाकदर्शन

चार्वाक मे, भोग-भक्षण (चर्वण) परक (चार्वी) बुद्धि का प्राधान्य है, अतः इसे चार्वाक कहते हैं। या फिर, इस दर्शन मे, भोगसम्बन्धी चारु (प्रिय) वाणी होने के कारण, इसका नाम चार्वाक है।

लोकायत सांसारिक भोग मात्र के विश्वासी एवं भौतिकवादी सामान्य जनों (लोकों) के द्वारा स्वीकृत होने के कारण, चार्वाकदर्शन को लोकायत कहा जाता है।

स्वभाव चार्वाक के अनुसार सृष्टि पञ्चतत्त्वों का स्वभाव है। जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश, दोनों ही स्वभाव हैं। जिस प्रकार मयूरों का चित्र-विचित्र होना स्वाभाविक है, उसी प्रकार जगत् में सभी स्वभाव से घटित होता है। न कोई कारण है, और न कार्य।

जैनदर्शन

अधर्म जीव एवं पुद्गल की स्थिति के लिए, अधर्म, जो एक द्रव्य विशेष है, सहकारी कारण के रूप में कार्य करता है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि, थके राहगीर के लिए वृक्ष की छाया उसके ठहरने में सहायक होती है, उसी प्रकार जीव की स्थिति के लिए अधर्मास्तिकाय सहायक होता है।

अर्हत्, जैन एवं बौद्ध दर्शन में बुद्धत्व प्राप्ति की स्थिति है। जब तक व्यक्ति में भावास्रव एवं अविद्यास्रव वर्त्तमान रहते हैं, तब तक अर्हत्व की प्राप्ति नहीं होती। विसुद्धिमग्ग (निदानादिकथा) के अनुसार, जब तृष्णा की निवृत्ति होने पर प्रज्ञा (पञ्ञा) का उदय होता है, तो अर्हत्व की प्राप्ति होती है। अर्हत् होने के लिए चित्तविमुक्ति (चित्तविकारों का सर्वथा शान्त होना) अनिवार्यतः आवश्यक है। (मुज्झिम निकाय, १, पृ० २८६) अर्हत् को कर्मफल की आसक्ति नहीं होती। और न वह फलभोगी होता है।

आस्रव मन, वचन एवं काय की क्रिया को आस्रव कहते हैं। मन, वचन एवं काय की क्रिया के द्वारा ही जीव के साथ, कर्म का संयोग होता है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि सरोवर में जल का प्रवेश कराने वाले नाले का मुख होता है, जिसे आस्रव कहते हैं। जैन सम्प्रदाय में आस्रव के दो भेद हैं–भावास्रव (कर्म का उत्पादक रागादिभाव) तथा द्रव्यास्रव। जिस प्रकार तैल लिप्त शरीर पर धूलि चिपक जाती है, उसी प्रकार कर्म पुद्गल जीव पर चिपक जाते हैं। यहाँ, शरीर का तैल से लिप्त होना भावास्रव एवं धूलि से लिप्त होना द्रव्यासव का उदाहरण है।

दिगम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन साधु वस्त्र धारण नहीं करते थे। इनके वस्त्र दिशाऐं ही थी। इसीलिए ये दिगम्बर कहलाते थे। श्वेताम्बरों की अपेक्षा ये कट्टरपन्थी अधिक थे। ये स्त्री को मोक्ष का अधिकारी नहीं मानते थे–"भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।" जिनसूरि

धर्म जैन धर्म में, गतिशील जीव एवं पुद्‌गल के सहकारी कारण को धर्म कहा गया है। यह द्रव्यविशेष है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार जल में तैरने वाली मछली के लिए, जल सहकारी कारण है। यह धर्मास्तिकाय है।

नय 'नय' का अर्थ दृष्टि भेद है। 'नय' के अनुरूप एक दृष्टि से तथा अनेक दृष्टियों से तत्वज्ञान आवश्यक है। नय के दो मुख्य भेद हैं–एक निश्चय नय तथा दूसरा व्यावहारिक नय। निश्चय नय के द्वारा तत्त्वज्ञान, एवं व्यावहारिक नय के द्वारा सांसारिक विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है।

निर्जरा जीव से चिपके अतीत के कर्म पुद्‌गलों का विनाश, जिस क्रिया के द्वारा होता है, वह 'निर्जरा' है। निर्जरा, मोक्षप्रक्रिया के अन्तर्गत है। निर्जरा के भी दो भेद हैं–भावनिर्जरा एवं द्रव्यनिर्जरा।

रत्नत्रय जैन दर्शन की नियमावली के अनुसार सम्यक्‌ज्ञान, सम्यक्‌चरित्र एवं सम्यक्‌दर्शन, ये तीन मोक्ष के साधन हैं। ये ही रत्नत्रय कहलाते हैं।

श्वेताम्बर जैनधर्म के प्राचीन संघ में, वस्त्रों का धारण न करना एक उच्च आदर्श समझा जाता था। किन्तु इसके अनन्तर लगभग ई. पू. द्वितीय शतक से मगधसंघ ने श्वेतवस्त्रों का धारण करना समुचित सिद्ध किया। यहीं से श्वेताम्बरसम्प्रदाय का आरम्भ हुआ।

संवर पूर्वकृत कर्मों को निःशेष करके भावी कर्मों के मार्ग को अवरूद्ध करना 'संवर' है। अत एव संवर मोक्ष का कारण है। भावसंवर एवं द्रव्यसंवर, ये, संवर के दो भेद हैं।

स्वपराभासी जैनदर्शन के अनुसार प्रमाण 'स्वपराभासी' कहलाता है। प्रमाण वह ज्ञान है, जो स्वयं एवं पर को निर्बाध रूप से प्रकाशित करता है। इसीलिए, जैनदर्शन में प्रमाण को स्वपराभासी कहा गया है।

बौद्ध दर्शन

आलयविज्ञान चित्त, आलयविज्ञान है। इसप्रकार समस्त विज्ञानविचार चित्तस्वरूप हैं। चेतनक्रिया से सम्बद्ध होने के कारण, चित्त मनन से सम्बद्ध होने से मन, एवं विषयों को ग्रहण करने के कारण चित्त, मन एवं विज्ञान, ये तीन आलयविज्ञान के ही नाम है "चित्तमालयविज्ञानमनोह्यत् मननात्मकम्।" गृह्णति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते। लंकावतारसूत्र।

हीनयान तथता बुद्धत्व की प्राप्ति ;ैंजदमेद्ध तथता कहलाती हैं। इसका तात्पर्य यह है, कि बुद्धत्व का कोई स्वरूप विशेष नहीं है। वह स्थिति जैसी है, वैसी ही है, इसीलिए इसे 'तथता' कहते है। यह वेदान्त की तत्त्वमसि जैसी ही है।

धातु वे शक्तियाँ हैं, जिनके एकीकरण से घटनाक्रम का सन्तान (प्रवाह) निष्पन्न होता है। धातुओं के अन्तर्गत, द्वादश आयतन (छः इन्द्रिय एवं छः विषय) तथा चक्षुविज्ञानधातु, श्रोत्रविज्ञानधातु, घ्राणविज्ञानधातु, जिह्वविज्ञानधातु, कायविज्ञानधातु एवं मनोविज्ञानधातु गृहीत हैं।

प्रतिसंख्यानिरोध प्रतिसंख्या का अर्थ प्रज्ञा है। प्रज्ञा के द्वारा सास्रव धर्मों का पृथक् -पृथक् वियोग (पार्थक्य) होता है। इस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा रागद्वेष का नाश होने पर प्रतिसंख्यानिरोध की स्थिति आरम्भ होती है। "प्रतिसंख्यानिरोधो यो विप्रयोगः पृथक्-पृथक्"।

प्रतीत्यसमुत्पाद प्रतीत्यसमुत्पादवाद के अनुसार समस्त वस्तुऐं प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। इस का आशय यह है, कि सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति प्रतीत्य है, वस्तुतः वे अनुत्पन्न ही हैं। वस्तुओं की उत्पत्ति एवं विनाश, विच्छिन्नप्रवाह के समान है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पादवाद अनात्मवाद एवं शून्यवाद का पोषक है–"**यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते**"। माध्यमिक कारिका, २४।१८।

प्रत्येकबुद्ध गुरु के बिना ही, स्वतः बुद्धत्व की प्राप्ति करने वाला प्रत्येकबुद्ध कहलाता है।

बोधिसत्व का अर्थ बोधि को प्राप्त करने की इच्छा वाला व्यक्ति है। बोधिसत्त्व के लक्षण, महामैत्री तथा महाकरूणा हैं। बोधिसत्व को, बोधिचित्त अर्थात् सम्बोधिनिष्ठचित्त होना चाहिए। बोधिचित्त का लक्षण है–"निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यंनिरालयम्। प्रपञ्चसमतिक्रान्तं बोधि चित्तस्य लक्षणम्। (नैरात्म्य परिपृच्छासूत्र, १२)

महायान हीनयान से उत्तरवर्त्ती है। हीनयान की अपेक्षा महायान के अनुयायी अपने सिद्धान्त को श्रेष्ठ मानते हैं, इसीलिए इस सिद्धान्त का नाम महायान है। महायान का उद्देश्य 'बोधिसत्त्व' की प्राप्ति है। जहाँ, हीनयान निवृत्तिमार्गी है, वहाँ महायान प्रवृत्तिमार्गी है। अत एव बुद्ध की प्रतिमा एवं पूजा का महायान में विशेष महत्त्व है। इसप्रकार महायान में भक्ति के लिए पूरा स्थान है।

योगाचार बौद्धों के योगाचार का अर्थ योगाभ्यास है। योगाचार अर्थात् योगाभ्यास के द्वारा परम सत्य की उपलब्धि होती है। इस प्रकार योगाचार साधना पक्ष के अन्तर्गत आता है। दार्शनिक पक्ष विज्ञानवाद है।

संवृत्ति विज्ञानवादी एवं शून्यवादी के अनुसार संवृत्ति सत्य एवं परमार्थ सत्य, ये दो प्रकार के सत्य स्वीकार किए गए हैं। संवृत्ति सत्य लौकिक पदार्थों की सत्यता का व्याख्याता है, जो मिथ्या हैं। इस प्रकार संवृत्ति सत्य मिथ्या दृष्टि का विषय है। परमार्थ सत्य सम्यक् दृष्टि है, जो शून्यता है–"**द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृत्ति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः**। मा. का. २४।८।

हीनयान बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं को स्वीकार करने वालों को हीनयान का अनुसर्त्ता कहा जाता है। यह नाम इन्हें महायानियों ने दिया था। हीनयान का प्रचार सिंहल, वर्मा, स्याम एवं जावा आदि में था। हीनयान के अनुसार किसी की अपेक्षा न होकर बुद्ध की–अष्टांगिक मार्ग आदि की शिक्षाओं का अनुसरण ही निर्वाण के लिए पर्याप्त है। हीनयान का अनुयायी अर्हत् प्राप्ति को अपना लक्ष्य मानता है। अर्हत् अपने ही निर्वाण के लिए प्रयत्नशील रहता है। हीनयान निवृत्ति मार्ग है।

संस्कृत अनेक पदार्थों के संघात से जो धर्म उत्पन्न होते हैं, वे अनित्य एवं संस्कृत कहलाते हैं। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में संस्कृत का अर्थ क्षणिक है–"संस्कृत क्षणिकं यतः"।

न्याय-वैशेषिक दर्शन

अतिव्याप्ति लक्ष्यतावच्छेदक (गोत्व) के किसी (आश्रय) में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी होना ही, अतिव्याप्ति दोष होता है। (लक्ष्यतावच्छेदकाभावसमानाधिकरणत्वम् , अतिव्याप्तिः)

अनुव्यवसाय ज्ञान (यह घट है) की सत्यता का निश्चय करने के लिए, तत्पश्चात्, मैंने घट को जान लिया है (अहं घटज्ञानवान्, इस प्रकार का निश्चयात्मकज्ञान अनुव्यवसाय कहलाता है।

अपवर्ग दुःख से सदैव के लिए मुक्ति अपवर्ग कहलाता है। (तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। (न्या सू. १।१।२२)

अयुतसिद्ध जिन दो पदार्थों में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे पदार्थ के आश्रित ही रहता है, वे दो पदार्थ अयुतसिद्ध (अपृथक्सिद्ध) कहलाते हैं (ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपरांश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। (तर्कभाषा)

इन्द्रिय भोग के साधन एवं अपने अपने विषय का ग्रहण ही इन्द्रियों का लक्षण है। (स्वविषयग्रहणलक्षणनि इन्द्रियाणि। (वात्स्यायनभाष्य, १।१।१२)

उदारहरण साध्य के सादृश्य से साध्य के धर्म से सम्बद्ध धर्म का भाव जिसमें हो, वह दृष्टान्त उदाहरण कहलाता है। साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावो दृष्टान्त उदाहरणम् (न्यायसूत्र, १।१।३६)

उपाधि जो धर्म साध्य का व्यापक हो, और साधन का अव्यापक हो, उसे उपाधि कहते हैं। (साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः) (तर्कभाषा)

जल्प के लक्षणों से युक्त तथा छल, जाति, निग्रहस्थानों से स्थापना एवं प्रतिषेध वाले, पक्ष एवं प्रतिपक्षों का परिग्राहक वाक्यसमूह जल्प कहलाता है। (यथोक्तोत्पन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः। (न्या. सू. १।२।२)

जाति नित्यरूप से अनेक पदार्थों में व्याप्त भाव को जाति या सामान्य कहते हैं, जैसे, मनुष्यत्व एवं गोत्वादि। (नित्यमनेकानुगतं सामान्यम्), (साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः। (न्यायसूत्र, १।२।१८।)

तर्क सम्यक् रूप से अविज्ञात अर्थ में कारणोपपत्तिद्वारा उसके तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा करना, तर्क कहलाता है। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः। (न्या. सू. १।१।४०)

निगमन हेतुकथन के पश्चात् प्रतिज्ञा को पुनः दुहराना निगमन कहलाता है। (हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्। न्यायसूत्र, १।१।३६)

निर्णय विचार कर पक्ष–प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निश्चय निर्णय कहलाता है। (न्यायसूत्र, १/१/४१)

परामर्श साध्यव्याप्तिविशिष्ट हेतु में पक्षवृत्तित्वावगाही ज्ञान परामर्श कहलाता है। (व्याप्यरूपपक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते। कारिकावली–६८)

प्रतिज्ञा वाक्य में साध्य का निर्देश 'प्रतिज्ञा' कहलाती है। (साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा। (न्यायसूत्र, १।१।३३)

प्रतियोगी जिसका अभाव होता है, उसे प्रतियोगी कहते हैं। अत्यन्ताभाव में प्रतियोगिता संसर्गावच्छिन्न होती है। इसका तात्पर्य यह है, कि किसी संसर्गविशेष का अवलम्बन करके ही, किसी वस्तु का अन्य वस्तु में अभाव स्वीकार किया जाता है।

बुद्धि 'अर्थ' के ज्ञान को बुद्धि कहते हैं। (अर्थप्रकाशो बुद्धि, तर्कभाषा)

मन सुखादि के प्रत्यक्ष का कारण मन कहलाता है। (साक्षात्कारे सुखादीनां कारणं मन उच्यते, कारिकावली–६५), सुख-दुःखाद्युपलब्धिसाधनेन्द्रियं मनः (तर्कसंग्रह)

रस रसना द्वारा ग्राह्य, प्रत्यक्ष का विषयरस कहलाता है। (रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा (कारिकावली–१०१) रसनाग्राह्यो गुणो रसः। (तर्क संग्रह)

लक्षणा शक्य सम्बन्ध का नाम लक्षणा है। जहाँ तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है, वहाँ लक्षणा से पदार्थ की स्मृति एवं शाब्दबोध होता है। (लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः। कारिकावली–८२)

वाद प्रमाण एवं तर्क द्वारा स्वपक्षप्रस्थापन एवं परपक्षनिषेध से युक्त, तथा सिद्धान्तानुकूल, प्रतिज्ञादि पञ्चावयवसम्पन्न, पक्ष-प्रतिपक्षसहित वाक्यसमूह को 'वाद' कहते हैं। (प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नपक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। (न्या. सू. १।२।२)

वितण्डा जल्प, जब प्रतिपक्षस्थापनाहीन होता है, तो उसे वितण्डा कहते हैं। (स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा, (न्या. सू. १।२।३)

व्यापार घटपटादिविषयों के साथ नेत्रादि इन्द्रियों का जो प्रत्यक्षानुकूल सम्बन्ध होता है, उसे व्यापार कहते है। (कारिकावली–४८)

व्याप्ति साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। (साहचर्यनियमो व्याप्तिः)। जैसे, जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है (तर्कभाषा), अथवा साध्याधिकरण से भिन्न में हेतु का सम्बन्ध न रहना व्याप्ति है। (व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्न सम्बन्ध उदाहृतः, कारिकावली, ६८)

शरीर चेष्टाश्रय, इन्द्रियाश्रय तथा अर्थाश्रय, शरीर कहलाता है। (चेष्टेन्द्रियाश्रयः शरीरम्। न्या. सू. १।१।११)

समवाय अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो, वह समवायिकारण है। (यत् समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिकं जनकं तत्। कारिकावली-१८)।

हेतु उदाहरण सादृश्य से साध्य (धर्म) का साधक हेतु कहलाता है।

सांख्यदर्शन

अव्यक्त व्यक्त के विपरीत, कारणरहित, व्यापक, निष्क्रिय, नित्य एवं निरवयव है। अव्यक्त ही 'प्रधान' है। प्रधान ही अव्यक्त प्रकृति का रूप है।

कैवल्य आत्यन्तिक रूप से दुःखत्रय की निवृत्ति कैवल्य है। सांख्य में, कैवल्य का अर्थ प्रकृति एवं पुरुष का असंपृक्त भाव है। ये दोनों मुक्तावस्था (कैवल्यावस्था) में पृथक्भाव से रहते हैं। इस प्रकार सांख्य का कैवल्य वेदान्त के कैवल्य से भिन्न है, क्योंकि वेदान्त में, कैवल्यावस्था में जीव, जगत् एवं ब्रह्म की अद्वैतता है।

सत्कार्य कार्य का कारण में वर्त्तमान (सत्) रहना, सत्कार्य है। ("कारणभावाच्च, सत्कार्यम" सांख्यकारिका ६)।

गुण सत्त्व, रजस् एवं तमोगुण रूप गुण ही सुख, दुःख एवं मोह के कारण हैं। इनका कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति एवं नियमन है। गुण कभी भी एकाकी नहीं रहते। ये त्रिगुणात्मक प्रकृति के स्वभाव हैं।

तन्मात्रा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द, ये पाँच तन्मात्राएँ पृथिव्यादि पञ्च महाभूतों को जन्म देती हैं। तन्मात्र पद का अर्थ, स्वरूपमात्र (उतना मात्र) है। इसका तात्पर्य यह है, कि गन्धादि तन्मात्राओं में पृथिव्यादि भूतों का स्पर्श नहीं है। (तन्मात्रः शब्दादिस्वरूपमात्रः)

पुरुष सांख्य का पुरुष, वेदान्त के जीव के समान कर्मफल का भोक्ता है। अनेकजीववाद के समान ही पुरुषबहुत्ववाद है–'पुरुषबहुत्वं सिद्धम्" पुरुष 'ज्ञः' ज्ञ एवं अनासक्त है–"असङ्गो ह्ययं पुरुषः"। (सांख्यसूत्र)

प्रधान प्रधान, प्रकृति का ही रूप है। प्रकृति को प्रधान इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें समस्त भौतिक तत्त्वों का निधान है। यही अव्यक्त एवं मूलप्रकृति है।

प्रकृति सांख्य के पच्चीस तत्त्वों में, प्रकृति प्रमुख है। मूलप्रकृति किसी का विकार नहीं है, प्रत्युत महत् (बुद्धि) आदि प्रकृति के विकार हैं, अत एव इसका नाम प्रकृति है। प्रकृति की दो अवस्थाएँ हैं–व्यक्त एवं अव्यक्त।

महान्, महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि है। मूल प्रकृति से सर्वप्रथम बुद्धि की उत्पत्ति होती है, एवं महत्तत्त्व से अहंकारादि की उत्पत्ति होती है। बुद्धि को 'महत्' इसलिए कहा गया है, क्योंकि 'अध्यवसाय' इसका असाधारण धर्म है। यही इसकी महानता हैं।

लिङ्ग का अर्थ सूक्ष्म शरीर है। यह प्रत्येक शरीर में नियत एवं जन्म-जन्मान्तर में पुरुष के साथ जाता है। लिङ्ग शरीर के अन्तर्गत, महत्तत्त्व, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, एवं पञ्च तन्मात्राऐं गृहीत हैं।

व्यक्त सुख-दुःख, मोहात्मक, भोग्य, विषयस्वरूप, अचेतन, उत्पादनशील, अनित्य एवं विनाशशील व्यक्त है (प्रकृति) है।

योगदर्शन

अष्टांगयोग पातञ्जल योग में योग के आठ साधन-बतलाए गऐ हैं। ये साधन, यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि हैं।

ऋतम्भरा निर्विचार समाधि के वैशारद्य से उत्पन्न चित्त वाले योगियों की प्रज्ञा को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। इसे ऋतम्भरा इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह ऋतं अर्थात् सत्य को धारण करती है 'सत्यं'

"ऋतं सत्यं विभर्त्ति, इति ऋतम्भरा"।

कैवल्य बुद्धिसत्व एवं पुरुष की शुद्धि एवं सादृश्य, कैवल्य कहलाता है– सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये–कैवल्यम् यो. सू. ३।५६, समस्त कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति के द्वारा अपने कारण में लय हो जाना, बुद्धि-सत्व की शुद्धि है। पुरुष की शुद्धि, उपचरित भोगों का अभाव है। इस अवस्था में पुरुष 'चिति' शक्ति के रूप में वर्त्तमान रहता है तथा आधिदैविक, आधिभौतिक कैवल्य एवं आध्यात्मिक दुःखों से सर्वथा मुक्त होता है। यही कैवल्य की स्थिति है।

चित्तभूमियाँ चित्तभूमियाँ चित्त की अवस्थाएँ हैं। प्रधानतया, चित्तभूमियाँ पाँच हैं–क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध।

पुरुषविशेष पञ्चक्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश) पुण्य-पाप स्वरूप **कर्म**, इनके फलस्वरूप–जाति एवं आयु भोग रूप, **विपाक** एवं सुख, दुःखात्मक भोग से जन्य अनेक प्रकार की वासना रूप **आशय**, इन चार से असम्बद्ध पुरुषविशेष कहलाता है। यही ईश्वर है।

योग चित्त के व्यापार (वृत्ति) को रोकना ही योग है। (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः) यो. सू. १।१।

वृत्ति चित्त के परिणाम विशेष को वृत्ति कहते हैं। (अन्तःकरणस्य परिणामविशेषो वृत्तिः) वृत्तियाँ पाँच हैं–प्रमाण, विकल्प, विपर्यय, निद्रा एवं स्मृति।

वैराग्य दृष्ट, अर्थात् चन्दन एवं वनिता आदि तथा **आनुश्रविक**, स्वर्गादि एवं विदेहभावादि वेदोक्त पारलौकिक विषयों में तृष्णा न होना, वैराग्य कहलाता है।

संस्कार जब चित्तवृत्तियाँ क्षीण होकर चित्त में सूक्ष्म रूप से स्थित रहती हैं, तो वे संस्कार कहलाती है। परिस्थितिवश, जब ये संस्कार उद्‌बुद्ध होते हैं, तो वृत्ति का रूप ग्रहण करते हैं। इस प्रकार संस्कार एवं वृत्ति का चित्र चित्त पर सदा प्रतिबिम्बित होता रहता है।

समाधि चित्त की वह स्थिति समाधि कहलाती है, जिस में चित्त अविचलित एवं अविक्षुब्ध भाव से स्थित रहता है। जब चित्त का कोई ध्येय रहता है, तो यह सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है, किन्तु जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है, तथा कोई ध्येय एवं आलम्बन नहीं होता, तो उसे निर्बीज अथवा असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

सिद्धि योगाभ्यास से साधक विशिष्ट शक्तियों की प्राप्ति करता है। यही शक्तियाँ सिद्धियाँ हैं। ये सिद्धियाँ आठ हैं–अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व एवं वशित्व।

मीमांसादर्शन

अख्याति प्रभाकर मीमांसक शुक्ति में रजतज्ञान को भ्रम (ख्याति) न स्वीकार कर सत्य ही मानते हैं।

इस प्रकार अख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति में ज्ञात रजत, पूर्वज्ञात रजत की स्मृति है। परिणामतः, 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इसके अन्तर्गत 'इदं' (यह) रूप पुरोवर्त्ती विषय (शुक्ति) के ज्ञान एवं स्मृति पर आधारित रजत के ज्ञान में भेद का ग्रहण न होने के कारण, द्रष्टा, शुक्ति का रजतरूप से ज्ञान प्राप्त करता है।

अपूर्व कुमारिल के अनुसार अपूर्व, यज्ञादिकर्म में अथवा यागादि के कर्त्ता में, एक योग्यता अथवा शक्ति है, जो कर्म सम्पादन के पूर्व नहीं थी। इसीलिए इसे 'अपूर्व' कहते हैं। इस प्रकार कर्म से उत्पन्न निश्चित शक्ति जो परिणाम तक पहुँचाती है, वह 'अपूर्व' है। किन्तु प्रभाकर कर्त्ता में योग्यता न मानकर कर्ता के प्रयत्न में योग्यता स्वीकार करते हैं, क्योंकि कर्त्ता के प्रयत्न से ही कर्म उत्पन्न होता है–"यागादिजन्यः स्वर्गादिजनकः कश्चन गुणविशेषः", (भीमाचार्यन्यायकोश)

अभिहितान्वयवाद कुमारिल के अनुयायियों द्वारा स्वीकृत अभिहितान्वयवदियों के अनुसार अर्थज्ञान शब्द पर आधारित है। शब्दार्थज्ञान का कारण स्मरण अथवा बोधग्रहण न होकर द्योतन है। इसप्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार, शब्द अर्थ को प्रकट करते हुए, संयुक्त रूप से वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। निदर्शनार्थ, 'गामानय' (गौ को लाओ) इस वाक्य में, 'ग्राम्' का अर्थ गो का कर्म कारक है। इसी प्रकार 'आनय' का अर्थ 'लाओ' भी स्पष्ट है। अत एव 'ग्राम्' एवं 'आनय' दोनों शब्द संयुक्त रूप से 'गाय को लाओ' इस अर्थ को स्पष्ट करते हैं।

अर्थवाद विधि के अतिरिक्त वेद का दूसरा भाग अर्थवाद है। ज्ञान प्रतिपादक वाक्य क्रिया की स्तुति या निषेध के प्रतिपादक होने के कारण, परम्परया क्रियापरक हैं। इन्हीं वाक्यों को अर्थवाद वाक्य कहते हैं। अर्थवाद वाक्य कहीं विधेय क्रिया की साक्षात् प्रशंसा करते हुए, तो कहीं, उससे सम्बन्धित द्रव्य तथा देवता आदि की प्रशंसा करते हुए प्रमाण बनते हैं।

धर्म चोदना के द्वारा लक्षित अर्थ, धर्म कहलाता है–"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः"। भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों के बोध कराने में, चोदना ही एक मात्र समर्थ है।

भावना उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल प्रयोजकनिष्ठ व्यापार या प्रेरणा, भावना कहलाती है–**"भवितु र्भावनानुकूलः भावकव्यापारविशेषः"** (मी. न्या. प्र.)। दूसरे शब्दों में, वैदिक वाक्यों के श्रवण के पश्चात् , तत् -तत् क्रियाओं के अनुष्ठान के लिए, जो प्रेरणा होती है, उसे 'भावना' कहते हैं। शाब्दी एवं आर्थी भावना के रूप में, भावना के दो रूप हैं। "स्वर्गकामो यजेत" (स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ करे) इस में 'यजेत' इस क्रिया रूप में दो अंश हैं–एक यज् धातु, तथा दूसरा लिङ् लकार। लिङ् लकार जन्य भावना शाब्दी भावना है, एवं आख्यातजन्य भावना आर्थी भावना है।

मन्त्र मन्त्र वे कहलाते हैं, जो तत् -तत् कर्मों का अनुष्ठान करते समय, उनसे सम्बन्धित क्रियाओं, अंगों, द्रव्यों एवं देवताओं का प्रकाशन करते हैं। इसी रहस्य के द्योतक होने के कारण, इन्हें मन्त्र कहते हैं।

विधि विधि के द्वारा अलौकिक कल्याण के साधन यज्ञादि का विधान किया जाता है। अत एव, विधि

कर्म में प्रमाण है। वेद वाक्यों का प्रमुख उद्देश्य विधि का प्रतिपादन है।

स्वतःप्रामाण्य प्राभाकर मीमांसक नैयायिक के समान प्रामाण्य को परतः न मानकर, स्वतः स्वीकार करता है। स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान, पहिले इन्द्रियसन्निहित पदार्थ को, इसके पश्चात्, अपने आपको, और फिर ज्ञान के आश्रयस्वरूप आत्मा को प्रकट करता है। यही स्वतःप्रामाण्य है।

वेदान्तदर्शन

अद्वैत शब्द का अर्थ द्वैतविरोधी एवं भेदरहित तत्त्व है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार अद्वैततत्त्व प्रमाण आदि का विषय नहीं है। "नह्यदेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति।।" (ब्रह्मसूत्र–शाङ्करभाष्य १।१।४)

अधिकारी जिसने इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में वेदों एवं वेदार्थों का विधिपूर्वक अध्ययन कर समस्त वेदान्त के अर्थ को समझ लिया है, तथा काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्यागपूर्वक, नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासना कर्मों का अनुष्ठान करने से समस्त पापों के दूर हो जाने के कारण, जिसका अन्तःकरण निर्मल हो गया है तथा जो साधन-चतुष्टय से सम्पन्न है, उसे ही (ब्रह्मविद्या के अध्ययन का) अधिकारी कहते हैं। "अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवे- दाद्यत्वेनापाततोऽ- धिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चितो- पासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता"। (वेदान्तसार ४)

अनिर्वचनीय वेदान्त में, सत् एवं असत् से विलक्षण को अनिवर्चनीय कहते हैं। सत् का अर्थ परमार्थ सत् , एवं असत् का अर्थ अलीक असत् (शशशृंङ्ग या आकाशकुसुम) है। जो इन दोनों से विलक्षण है, वह अनिर्वचनीय है। माया एवं मायिक जगत् अनिर्वचनीय है, क्योंकि वह न तो पारमार्थिक सत् ब्रह्म की तरह सत् , और न शशशृंङ्ग की तरह सर्वथा असत्।

अन्तर्यामी अन्तर्यामी का अर्थ है, भीतर से नियमन करने वाला। अज्ञान की समष्टि उपाधि से उपहित चैतन्य को वेदान्त में अन्तर्यामी कहा जाता है।

अहं ब्रह्मास्मि वेदान्तसार में 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य को 'अनुभव वाक्य' संज्ञा से अभिहित किया गया है। जब आचार्य के द्वारा अध्यारोप और अपवाद के माध्यम से अधिकारी 'शिष्य को तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थबोध करा दिया जाता है, तो अधिकारी शिष्य के चित्त में "मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाववाला अद्वितीय ब्रह्म हूँ" इस प्रकार की ऐक्यबोधक चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। एवंविध अनुभूति के बोधक वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' है, 'अहं ब्रह्मास्मि' अलौकिक वृत्ति ही है, ब्रह्मसाक्षात्कार की स्थिति नहीं।

अहिंसा वाणी, मन और शरीर से दूसरों को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। "वाङ्मनःकायैः परपीडावर्जनमहिंसा"। (विद्वन्मनोरञ्जनी)

आत्मविद् अद्वैत का निश्चय (ज्ञान) हो जाने के कारण जो जागरणकाल में भी सुषुप्ति में सोए हुए पुरुष के समान अद्वैत को देखते हुए भी नहीं देखता, तथा जो कार्यों को करता हुआ भी, निष्क्रिय रहता है अर्थात् उन कार्यों में लिप्त नहीं होता, उसे आत्मविद् (जीवन्मुक्त) कहते हैं। (सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।। तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः।। (उपदेशसाहस्री १०।१३)

आनन्दमयकोश ईश्वर के उपाधिभूत समष्टिरूप ज्ञान को आनन्द के प्राचुर्य से युक्त होने के कारण और कोश के समान चैतन्य का आच्छादक होने के कारण, आनन्दमयकोश कहते हैं। " आनन्दप्रचुरत्वात्कोशव दाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः ..." (वेदान्तसारः ७)

उपरति श्रवण-मननादि से अतिरिक्त विषयों से हटाई गई मन-रूप अन्तरिन्द्रिय एवं चक्षु-श्रोत्रप्रभृति बाह्येन्द्रियों का पुनः श्रवण आदि से अतिरिक्त विषयों में प्रवृत्त न होना, उपरति कहलाता है, अथवा शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग (संन्यास) भी उपरति है।

उपादानकारण वह सामग्री है, जिससे कार्य का निर्माण होता है। उदाहरणतः, तन्तु पट का उपादान कारण है। वेदान्त में स्वोपाधिभूत अज्ञान की प्रधानता से ईश्वर ही उपादान कारण है। "अज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति"। (वेदान्तसार ११)

जीवन्मुक्ति जब जीव को शरीर रहते हुए भी ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है, तो उस स्थिति को जीवन्मुक्ति की स्थिति कहते हैं। प्रारब्धकर्मों का नाश न होने के कारण तत्त्वज्ञानी भी जीवन्मुक्तावस्था में शरीर धारण करता है। "तर्हि तत्त्वसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्या जीवन्मुक्तिरस्तु"। (वि.प्र.स. ११)

तत्त्वमसि अर्थात् 'तुम वही हो'। प्रकृत में 'तत्' पद परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य का वाचक है एवं 'त्वम्' पद अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य का बोधक है। सदानन्द ने सामानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव तथा लक्ष्यलक्षणभाव नामक सम्बन्धों के आश्रयण से 'तत्त्वमसि' वाक्य को अखण्ड (निगुर्णब्रह्मरूप) अर्थ का बोधक सिद्ध किया है।

प्रायश्चित शास्त्रों में विहित कर्म को न करने से तथा शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मों को करने से जो पाप उत्पन्न होता है, उसके निवारणार्थ जो कर्म किए जाते हैं, उन्हें प्रायश्चित कर्म कहते हैं। "विहितान्तःकरणप्रतिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चितानि"। विद्वन्मनोरञ्जनी

फलव्याप्ति अन्तःकरण के विषयाकार में परिणत हो जाने पर उससे अवच्छिन्न या उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य (चिदाभास) के द्वारा उस विषय का अभिव्यक्तीकरण फलव्याप्ति है। "बाह्येन्द्रियसन्निकृष्टार्थाकारबाह्यधीपरिणामावच्छिन्नचिदंशकृतप्राकट्याद्याश्रयत्वं फलव्याप्यत्वम्"। (विद्वन्मनोरञ्जनी)

बुद्धि निश्चय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति को बुद्धि कहते हैं।

ब्रह्मचर्य पुरुष या नारी का अपनी उपस्थेन्द्रिय को नियन्त्रण में रखना ब्रह्मचर्य है।

"ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुनवर्जनम् । (विद्वन्मनोरञ्जनी) "ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।" (व्यासभाष्य २।३०)

ब्रह्मनिष्ठ एकमात्र ब्रह्म में निष्ठा (आस्था) रखने वाले पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ कहा गया है। सदानन्द ने वेदान्तसार में ब्रह्मनिष्ठ को ही 'जीवन्मुक्त' संज्ञा दी है।

मनस् आन्तरिक भावनाओं की कारणभूत इन्द्रिय अन्तःकरण में जब "मैं चिद्रूप हूँ, मैं देह हूँ"–इस प्रकार की संकल्पयुक्त अथवा "मैं पढूँ या न पढूँ"–इस प्रकार की विकल्पात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है तो उसे मन कहते है– "मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः।" (वेदान्तसार १३) "एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणों मनो दूतम् ।" (कौषीतकी उपनिषद् २।१)

मनोमयकोश ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मन को मनोमयकोश कहते हैं। "मनोमयः प्राणशरीरः"। (छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।२) "सात्विकैरिन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः"। (पञ्चदशी १।३५)

महाप्रपञ्च स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रपञ्चों का समुदाय महाप्रपञ्च कहलाता है।

महावाक्य महान् अखण्ड ब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादक वाक्यों को वेदान्त में महावाक्य की संज्ञा दी गयी है। विना महावाक्य के अद्वैत ब्रह्म को जानना असम्भव ही है। इसीलिए संक्षेपशारीरिककार सर्वज्ञात्ममुनि ने कहा है–

"विनाग्रमहावाक्यमतो न कश्चित् पुमासमद्वैतमवैति जन्तुः। संक्षेपशारीरिक ३।३०२

तत्त्वमसि आदि महावाक्यों की संख्या १२ मानी गयी है। (देखिए विवेक तत्त्वमसि निरूपण)

माया ईश्वर की शक्ति का नाम माया है। माया सत् तथा असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। माया का एक रूप विषयात्मक भी है। जिसके अनुरूप जगत् माया मात्र है–

"ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिः।" (शा० भा० श्वे० उ० १।४।३१)

"मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थता।" (गौडपादकारिका)

रसास्वाद अखण्डवस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न करने पर भी चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करना 'रसास्वाद' कहलाता है अथवा निर्विकल्पकसमाधि के प्रारम्भिक काल में सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन 'रसास्वाद' कहलाता है।

विश्व स्थूल शरीरों की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को, सूक्ष्म के अभियान का परित्याग किए बिना स्थूल शरीर आदि में प्रविष्ट होने के कारण, 'विश्व' कहते हैं।

वृत्ति अन्तःकरण के चक्षु आदि द्वारा घटादि विषय देश में जाकर तत्तदाकार में परिवर्तित होने को वृत्ति कहते हैं। "यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादि द्वारा घटादि विषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते"। (वेदान्तपरिभाषा, परिच्छेद १)

वेदान्त जो दर्शन उपनिषदों पर आधारित है उसे वेदान्त कहते हैं। ब्रह्मसूत्र, गीता एवं प्रस्थानत्रयी का शाङ्करभाष्य वेदान्त का उपकारक साहित्य है। यद्यपि रामानुज, निम्बार्क एवं वल्लभ का दर्शन भी वेदान्त है, किन्तु आज प्रायः वेदान्त शब्द से शङ्कराचार्य के अद्वैत वेदान्त का ही आशय ग्रहण किया जाता है।

श्रद्धा गुरु के द्वारा कहे गए वेदान्त वाक्यों में विश्वास रखना श्रद्धा है।

श्रवण छः प्रकार के लिङ्गों (उपक्रम और उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उपपत्ति) द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म में मानना श्रवण कहलाता है–

श्रोत्रिय वेद एवं वेदाङ्गों के विद्वान् को श्रोत्रिय कहते हैं। श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार श्रोत्रिय को पाप एवं कामना से रहित होना चाहिए। 'यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः।' (बृ० उ० ४।३।३३) इस सम्बन्ध में एक अन्य श्लोक भी मिलता है– जन्मना जायते शूद्रः संस्कारेण द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।।

संसर्ग किसी वाक्य में आए हुए पदों से निर्दिष्ट पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध को संसर्ग कहते हैं। यह संसर्ग दो प्रकार का होता है–भेदरूपसंसर्ग और अभेदरूपसंसर्ग। जहाँ पर वाक्यगत पदों में भिन्न-भिन्न विभक्तियों का प्रयोग होने से सामानाधिकरण्य का अभाव होता है, वहाँ पर वाक्यार्थ अभेद रूपसंसर्ग माना जाता है।

सत्य वस्तुस्थिति का बिना अतिक्रमण किए हुए बोलना सत्य है। "सत्यं यथार्थभाषणम्"। विद्वन्मनोरञ्जनी "सत्यं यथार्थे वाङ् मनसे यथा इष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ् मनश्चेति"। (व्यासभाष्य, २।३०)

वैष्णवदर्शन

अंशांशिभाव जीव ब्रह्म का अंश है, एवं ब्रह्म अंशी है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि अग्नि के स्फुल्लिंग (चिनगारियाँ) अग्नि के अंश हैं। यही अंशांशिभाव है।

अचिन्त्यभेदाभेद अचिन्त्यभेदाभेद के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति अचिन्त्य है। इस प्रकार भगवान् और जगत् में भेद है, या अभेद, यह अचिन्त्य है। इसीलिए यह सिद्धान्त अचिन्त्यभेदाभेद के नाम से प्रख्यात है। जीव गोस्वामी के कथनानुसार प्रलयकाल में जगत् भगवान् में उसी प्रकार लीन रहता है, जिस प्रकार कि रात्रि में पक्षी वन में लीन रहते हैं।

द्वैत सिद्धान्त के अन्तर्गत ईश्वर, जीव एवं जगत् की स्वतन्त्र एवं सत्य सत्ता स्वीकार की गई है। इसीलिए यह सिद्धान्त द्वैतवाद के नाम से प्रख्यात है। इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य मध्व हैं।

द्वैताद्वैत अद्वैत एवं द्वैत सिद्धान्त का मध्यम मार्ग द्वैताद्वैत है। ईश्वर, अपने स्वतन्त्र स्वरूप में अद्वैत स्वरूप है, एवं जीव तथा जगत् का आश्रय होने के कारण द्वैत रूप है। अत एव यह सिद्धान्त "द्वैताद्वैत" कहलाता है। इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक निम्बार्काचार्य हैं।

नवधाभक्ति जीवगोस्वामी ने भक्ति का निरूपण करते हुए, भक्ति के नौ भेद बतलाए हैं। ये नौ भेद, श्रवण, कीर्तन, विष्णुस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन हैं।

पुष्टि वल्लभाचार्य के अनुसार भगवान् का अनुग्रह ही पुष्टि है–पोषणं तदनुग्रहः (श्रीमद् भागवत, २।१०) यही मुक्ति का साधन है। वल्लभाचार्य पुष्टिमार्गी हैं।

प्रकार प्रकारीभाव रामनुजदर्शन में जगत् के अनेक रूप ब्रह्म के प्रकार हैं, तथा चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म प्रकारी हैं। इसीलिए यह प्रकार प्रकारीभाव कहलाता है।

प्रवृत्ति प्रवृत्ति का अर्थ, शरणागति (भगवान् की पूर्ण शरण प्राप्त करना है – न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणविन्दे ।। अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये। (आलवन्दारस्तोत्र)

भक्ति शाण्डिल्यसूत्र (१।१) के अनुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति भक्ति है। (परानुरक्तिरीश्वरे)

विशिष्टाद्वैत रामानुज दर्शन के अन्तर्गत चित् एवं अचित् से विशिष्ट ब्रह्म अद्वैत स्वरूप है। इसीलिए, इस सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत प्रसिद्ध हुआ है। जीव चित् , एवं जगत् जड है।

विशेष 'विशेष' सिद्धान्त के प्रवर्त्तक बलदेव विद्याभूषण हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, ईश्वर एवं उसके गुणों, अथवा ईश्वर एवं उसके स्वभाव में भेद न होने पर भी भेद की प्रतीति होती है। 'विशेष-सिद्धान्त, इसी विलक्षण भेद का प्रतिनिधि है। 'विशेष' सिद्धान्त के अनुसार भगवान् के स्वरूपभूत चित् एवं आनन्द भगवान् के विशेषण अथवा शरीर कहलाते हैं।

शरीर-शरीरीभाव रामानुज दर्शन के अनुरूप जीव (चित्) एवं जगत् (अचित्) ब्रह्म के शरीरी हैं, तथा ब्रह्म शरीर हैं। इसीलिए, इसे शरीरशरीरीभाव कहते हैं।

शुद्धाद्वैत वल्लभदर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म माया से असम्वद्ध है। इसीलिए यह शुद्ध कहलाता है–"माया-सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः" (शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड)। शुद्धाद्वैतदर्शन में, माया मिथ्या न हो सत्य है, मायिक जगत् भी सत्य है। इस प्रकार परमार्थ में ब्रह्म अद्वैतस्वरूप (निर्गुण) है, किन्तु व्यवहार में सगुण है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार एक ही सर्प कुण्डलीस्वरूप होने पर अनेकरूपता धारण करता है–**"अहिकुण्डलन्याय"**।

सायुज्य भगवान् की पूर्ण भक्ति प्राप्त करने के पश्चात् भक्त भगवत्प्रेम के द्वारा ईश्वरसायुज्य की प्राप्ति करता है। सायुज्य की स्थिति में भक्त भगवान के साथ, तद्युक्त भाव से रहता है। इतना ही नहीं, भक्त भगवान् के शरीर में प्रवेश करके, उन्हीं के शरीर से आनन्द भोग प्राप्त करता है। भगवान् के भक्त भी सर्वज्ञ एवं आनन्दस्वरूप हो जाता है, किन्तु भगवान् की सृष्टिशक्ति एवं नियन्ताशक्ति भक्त को प्राप्त नहीं होती।

सारूप्य भक्ति के अनुसार जीव, बाह्य रूप से भगवान् का सादृश्य प्राप्त करता है।

सार्ष्टि मुक्ति सायुज्य मुक्ति का ही एक रूप है। जब, जीव मुक्तावस्था में, ईश्वर सदृश शक्तियों का उपभोग करते हैं, तथा इस प्रकार, देवों अथवा ईश्वर के समान हो जाते हैं, तो उनकी इस मुक्तावस्था को सार्ष्टि मुक्ति कहते हैं।

सालोक्य सालोक्य के अनुसार भक्त स्वर्ग में निवास करता हुआ, आनन्द भोग से सन्तुष्ट हो, सदा ईश्वर साक्षात्कार प्राप्त करता है।

सामीप्य सामीप्य मुक्ति के अनुसार भक्त सदा भगवान् का सामीप्यलाभ करता है।

शैव-शाक्त दर्शन

कुल शाक्तदर्शन के अन्तर्गत कुल शब्द का अर्थ शिवशक्ति से ऊर्ध्वतम परतत्त्व है। इसी परतत्त्व के उपासक कौल कहलाते हैं। कौलमत को वैदिक एवं शैवादि मतों से भी ऊपर कहा है– वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद् वामं च दक्षिणम्। दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात् परतरं नहि।।

दीक्षा आचार्य द्वारा शिष्य को भवबन्धन से मुक्ति का उपदेश 'दीक्षा' कहलाता है–"आचार्यसंस्थितो देवो दीक्षा शक्तमैव मुञ्चति। (मोक्षकारिका)

पति शैव सिद्धान्त के अनुसार पति का अर्थ शिव है। पति अर्थात् शिव परमैश्वर्यसम्पन्न, सर्वथा स्वतन्त्र एवं सर्वज्ञ है। समस्त जीवों का स्वामी होने के कारण ही, उसे "पशूनां पतिः" (यजुर्वेद) कहा गया है।

पशु पशु का अर्थ बन्धन में फँसा जीव है। पृथिव्यादि पञ्च भूत, उनके गन्ध आदि गुण तथा त्रयोदश इन्द्रियाँ, इन पाशों से जीव सांसारिक बन्धन में फँसा रहता है।

पारद रसेश्वरदर्शन के अनुसार पारद व्यक्ति को भवसागर से पार लगाता है। "संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः"। पारद (पारा) की अलौकिक शक्ति है। यह भगवान् शंकर का वीर्य कहा जाता है।

विन्दु, शिव की 'परिग्रहरूपा शक्ति है। इसके दो भेद हैं–एक शुद्ध एवं दूसरा अशुद्ध। शुद्ध बिन्दु महामाया एवं अशुद्ध बिन्दु माया कहलाती है। महामाया, सात्विक एवं माया प्राकृत जगत् का उपादान कारण है। विन्दु, रत्नत्रय–शिव, शक्ति एवं बिन्दु, में से एक है।

विमर्श, शिव की शक्ति है। विमर्शशक्ति शिव के स्वाभाविक 'अहं' की स्फूर्ति है, जो सृष्टि काल में, विश्वाकार स्थिति में विश्वप्रकाश रूप से, तथा सृष्टि के संहारकाल में, विश्वसंहरण रूप में परिणत होती है–"विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाऽहमिति स्फुरणम्,। (पराप्रवेशिका)

वीरशैव सिद्धान्त के अनुसार, जीव एवं शिव के ऐक्य का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार 'वीर' के अन्तर्गत 'वी' जीव एवं शिव के ऐक्य की विद्या का बोधक है, एवं 'र' उस विद्या में रमण कर्त्ता शैवों का बोध कराता है–"वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका। तस्यां रमन्ते ये शैवाः वीर शैवास्तु ते मताः।। (तत्त्वप्रकाशिका)।

शक्तिपात शैवसिद्धान्त के अनुसार मलापनयन का उपाय परमशिव की अनुग्रह शक्ति है। यही अनुग्रह-शक्ति शाक्ततन्त्र में "शक्तिपात" कहलाती है।

संवित् त्रिक दर्शन के अन्तर्गत शिव एवं शक्ति का सामरस्य कामेश्वर एवं कामेश्वरी के रूप में है। एतदनुसार चैतन्यस्वरूप आत्मा समस्त जगत् में व्याप्त है। यही चैतन्यस्वरूप आत्मा, चैतन्य, परा संवित् अनुत्तर, परमेश्वर तथा परम शिव है। इस प्रकार परा-संवित् 'पराशक्ति' है– विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णं हृदयं परमेशितुः। परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संविदं नुमः।।

सदाशिव कार्यशक्ति के अन्तर्निमेष को सदाशिव एवं बाह्यनिमेष को ईश्वर कहते हैं। "ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदा शिवः" (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)। आन्तरिक निमेष को सदाशिव, इसलिए कहते हैं, क्योंकि सत् ता का आरम्भ सदाशिव से ही होता है–"सदाख्यायां भवं सदाख्यं यतः प्रभृति सदिति प्रख्या"। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ३।१२)।

स्थल शब्द का अर्थ ब्रह्म है। क्योंकि चराचर जगत् ब्रह्म में अधिष्ठित है, एवं उसी में लीन हो जाता है, इसीलिए इसे 'स्थल' कहते हैं।

सामरस्य शिव एवं शक्ति में सामरस्य अर्थात् ऐक्य है। ये दोनों उसी प्रकार एक हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा एवं उसकी चाँदनी–"न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः। नानयोरन्तरं किञ्चित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।।

परिशिष्ट–३

षड्दर्शन सूत्रावली

अथ न्यायदर्शनम्

प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति-निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः ।।१।। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।।२।। प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ।।३।। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।।४।। अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ।।५।। प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।।६।। आप्तोपदेशः शब्दः ।।७।। स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ।।८।। आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ।।६।। इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।।१०।। चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ।।११।। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ।।१२।। पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि ।।१३।। गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ।।१४।। बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।।१५।। युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।।१६।। प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः ।।१७।। प्रवर्तनालक्षणा दोषाः ।।१८।। पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ।।१६।। प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ।।२०।। बाधनालक्षणं दुःखम् ।।२१।। तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।।२२।। समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ।।२३।। यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् ।।२४।। लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ।।२५।। तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ।।२६।। स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाऽभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ।।२७।। सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ।।२८।। समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ।।२६।। यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ।।३०।। अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ।।३१।। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ।।३२।। साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ।।३३।। उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः ।।३४।। तथा वैधर्म्यात् ।।३५।। साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ।।३६।। तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ।।३७।। उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ।।३८।। हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ।।३६।। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ।।४०।। विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ।।४१।।

।। इति न्यायदर्शने प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ।।

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्तविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ।।१।। यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ।।२।। स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ।।३।। सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः ।।४।। अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ।।५।। सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ।।६।। यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ।।७।। साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः ।।८।। कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ।।९।। वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम् ।।१०।। तत्त्रिविधं–वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति ।।११।। अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ।।१२।। सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यछलम् ।।१३।। धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ।।१४।। वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ।।१५।। न, तदर्थान्तरभावात् ।।१६।। अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः ।।१७।। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ।।१८।। विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।।१९।। तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ।।२०।।

।। इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ।।१।। विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ।।२।। विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ।।३।। अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ।।४।। तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ।।५।। यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ।।६।। यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ।।७।। प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ।।८।। पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः ।।९।। पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ।।१०।। युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ।।११।। त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ।।१२।। सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ।।१३।। तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ।।१४।। त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः ।।१५।। प्रमेयता च तुला प्रामाण्यवत् ।।१६।। प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः ।।१७।। तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणान्तरसिद्धिवत्प्रमेयसिद्धिः ।।१८।। न, प्रदीपप्रकाशवत्तत्सिद्धेः ।।१९।। क्वचिन्निवृत्तिदर्शनादनिवृत्तिदर्शनाच्च क्वचिदेकान्तः ।।२०।। प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ।।२१।। नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ।।२२।। दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः ।।२३।। ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नाऽनवरोधः ।।२४।। तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः ।।२५।। प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम् ।।२६।। सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात् ।।२७।। तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ।।२८।। व्याहतत्वादहेतुः ।।२९।। नार्थविशेषप्राबल्यात् ।।३०।। प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ।।३१।। न, प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ।।३२।। न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ।।३३।। साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ।।३४।। सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ।।३५।। धारणाऽऽकर्षणोपपत्तेश्च ।।३६।। सेनावनवद्ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ।।३७।। रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ।।३८।। न, एकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ।।३९।। वर्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः ।।४०।। तयोरप्यभावो वर्तमानाभावे

तदपेक्षत्वात् ।।४१।। नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ।।४२।। वर्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ।।४३।। कृततकर्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथाग्रहणम् ।।४४।। अत्यन्तप्रायैकदेश- साधर्म्यादुपमानासिद्धिः ।।४५।। प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ।।४६।। प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षसिद्धेः ।।४७।। नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः ।।४८।। तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ।।४९।। शब्दोऽनुमानमर्थमस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ।।५०।। उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ।।५१।। सम्बन्धाच्च ।।५२।। आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः ।।५३।। पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ।।५४।। शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ।।५५।। न, सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ।।५६।। जातिविशेषे चानियमात् ।।५७।। तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ।।५८।। न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ।।५९।। अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ।।६०।। अनुवादोपपत्तेश्च ।।६१।। वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ।।६२।। विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ।।६३।। विधिर्विधायकः ।।६४।। स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ।।६५।। विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ।।६६।। नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ।।६७।। शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ।।६८।। मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ।।६९।।

।। इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ।।

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ।।१।। शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ।।२।। अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ।।३।। अनर्थापत्तावर्थापत्त्याभिमानात् ।।४।। प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ।।५।। तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् ।।६।। नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ।।७।। लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः ।।८।। असत्यर्थे नाभाव इति चेन्न, अन्यलक्षणोपपत्तेः ।।९।। तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ।।१०।। न, लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः ।।११।। प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ।।१२।। आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ।।१३।। न, घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ।।१४।। तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः ।।१५।। सन्तानानुमानविशेषणात् ।।१६।। कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्यव्यभिचारः ।।१७।। प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ।।१८।। तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ।।१९।। अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भावान्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ।।२०।। अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ।।२१।। अस्पर्शत्वात् ।।२२।। न, कर्मानित्यत्वात् ।।२३।। न, अणु नित्यत्वात् ।।२४।। सम्प्रदानात् ।।२५।। तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ।।२६।। अध्यापनादप्रतिषेधः ।।२७।। उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ।।२८।। अभ्यासात् ।।२९।। नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ।।३०।। अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः ।।३१।। तदभावे नास्त्यनन्यता, तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ।।३२।। विनाशकारणानुपलब्धेः ।।३३।। अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ।।३४।। उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्वादनपदेशः ।।३५।। पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छशब्दाभावे नानुपलब्धिः ।।३६।। विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ।।३७।। अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ।।३८।। विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ।।३९।। विकारादेशोपदेशात्संशयः ।।४०।। प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ।।४१।। न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ।।४२।। द्विविधस्यापि हेतोरभावादसाधनं दृष्टान्तः ।।४३।। नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ।।४४।। द्रव्यविकार-

वैषम्याद् वर्णविकारविकल्पः ।।४५।। न, विकारधर्मानुपपत्तेः ।।४६।। विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः ।।४७।। सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ।।४८।। न, तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात् ।।४९।। वर्णत्वयाव्यतिरेका-द्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ।।५०।। सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य ।।५१।। नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ।।५२।। नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ।।५३।। अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः ।।५४।। विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ।।५५।। प्रकृत्यनियमाद् वर्णविकाराणाम् ।।५६।। अनियमे नियमान्नानियमः ।।५७।। नियमानियम-विरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः ।।५८।। गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकाराः ।।५९।। ते विभक्त्यन्ताः पदम् ।।६०।। तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्संशयः ।।६१।। या शब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्युपचयवर्णसमासाऽनुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः ।।६२।। न तदनवस्थानात् ।।६३।। सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ।।६४।। आकृतिस्तद-पेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ।।६५।। व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ।।६६।। न, आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ।।६७।। व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ।।६८।। व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः ।।६९।। आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ।।७०।। समानप्रसवात्मिका जातिः ।।७१।।

।। इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ।।१।। न, विषयव्यवस्थानात् ।।२।। तद्व्यवस्थानादेवात्म-सद्भावादप्रतिषेधः ।।३।। शरीरदाहे पातकाभावात् ।।४।। तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ।।५।। न, कार्याश्रयकर्तृवधात् ।।६।। सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ।।७।। नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ।।८।। एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ।।९।। अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ।।१०।। दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ।।११।। इन्द्रियान्तरविकारात् ।।१२।। न, स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ।।१३।। तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ।।१४।। अपरिसङ्ख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ।।१५।। न, आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ।।१६।। ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ।।१७।। नियमश्च निरनुमानः ।।१८।। पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ।।१९।। पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः ।।२०।। नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ।।२१।। प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ।।२२।। अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ।।२३।। नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ।।२४।। वीतरागजन्मादर्शनात् ।।२५।। सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ।।२६।। न, सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ।।२७।। पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ।।२८।। निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ।।२९।। गन्धक्लेदपाक-व्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम् ।।३०।। पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ।।३१।। श्रुतिप्रामाण्याच्च ।।३२।। कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ।।३३।। महदणुग्रहणात् ।।३४।। रश्म्यर्थसन्निकर्ष-विशेषात्तद्ग्रहणम् ।।३५।। तदनुपलब्धेरहेतुः ।।३६।। नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ।।३७।।

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ।।३८।। अनेक द्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ।।३९।। कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ।।४०।। अव्यभिचाराच्च प्रतिघातो भौतिकधर्मः ।।४१।। मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलिब्धवत्तदनुपलब्धिः ।।४२।। न, रात्रावप्यनुपलब्धेः ।।४३।। बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ।।४४।। अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ।।४५।। नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ।।४६।। अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ।।४७।। कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ।।४८।। अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ।।४९।। आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात् ।।५०।। नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ।।५१।। आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ।।५२।। दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ।।५३।। स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः ।।५४।। त्वगव्यतिरेकात् ।।५५।। न युगपदर्थानुपलब्धेः ।।५६।। विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ।।५७।। इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ।।५८।। न, तदर्थबहुत्वात् ।।५९।। गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः ।।६०।। विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम् ।।६१।। न, बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ।।६२।। भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ।।६३।। गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ।।६४।। अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ।।६५।। न सर्वगुणानुपलब्धेः ।।६६।। एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ।।६७।। विष्टं ह्यपरं परेण ।।६८।। न, पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ।।६९।। पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ।।७०।। तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ।।७१।। सगुणानामिन्द्रियभावात् ।।७२।। तेनैव तस्याग्रहणाच्च ।।७३।। न, शब्दगुणोपलब्धेः ।।७४।। तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ।।७५।।

।। इति तृतीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ।।

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

कर्माकाशसाधर्म्यात्संशयः ।।१।। विषयप्रत्यभिज्ञानात् ।।२।। साध्यसमत्वादहेतुः ।।३।। न, युगपदग्रहणात् ।।४।। अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ।।५।। क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ।।६।। अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात् ।।७।। न गत्यभावात् ।।८।। स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ।।९।। स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनामहेतुः ।।१०।। नियमहेत्वभावाद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ।।११।। नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ।।१२।। क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्च तदुत्पत्तिः ।।१३।। लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ।।१४।। न पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् ।।१५।। व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ।।१६।। क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ।।१७।। नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ।।१८।। युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ।।१९।। तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ।।२०।। इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः ।।२१।। नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ।।२२।। विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ।।२३।। अनित्यत्वग्रहाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ।।२४।। ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ।।२५।। नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ।।२६।। साध्यत्वादहेतुः ।।२७।। स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ।।२८।। न, तदाशुगतित्वान्मनसः ।।२९।। न स्मरणकालानियमात् ।।३०।। आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च

न संयोगविशेषः ।।३१।। व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ।।३२।। प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद् भावादयुगपत्स्मरणम् ।।३३।। प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्ते यौगपद्यप्रसङ्गः ।।३४।। ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ।।३५।। तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ।।३६।। परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ।।३७।। कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ।।३८।। नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ।।३९।। यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ।।४०।। परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ।।४१।। स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् ।।४२।। प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाऽऽश्रयाऽऽश्रितसम्बन्धाऽऽनन्तर्यवियोगैककार्यविरोधाऽतिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माऽधर्मनिमित्तेभ्यः ।।४३।। कर्मानवस्थायिग्रहणात् ।।४४।। अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद्विद्युत्सम्पाते रूपाद्यव्यक्तग्रहणवत् ।।४५।। हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ।।४६।। प्रदीपार्चिः सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ।।४७।। द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ।।४८।। यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ।।४९।। न, पाकगुणान्तरोत्पत्तेः ।।५०।। प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ।।५१।। शरीरव्यापित्वात् ।।५२।। न, केशनखादिष्वनुपलब्धेः ।।५३।। त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशखादिष्वप्रसङ्गः ।।५४।। शरीरगुणवैधर्म्यात् ।।५५।। न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ।।५६।। ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ।।५७।। ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ।।५८।। न, युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ।।५९।। अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ।।६०।। यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ।।६१।। पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ।।६२।। भूतेभ्यो मूर्त्त्युपादानवत्तदुपादानम् ।।६३।। न, साध्यसमत्वात् ।।६४।। नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ।।६५।। तथाऽऽहारस्य ।।६६।। प्राप्तौ चानियमात् ।।६७।। शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ।।६८।। एतेना नियमः प्रत्युक्तः ।।६९।। उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ।।७०।। तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ।।७१।। मनः कर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ।।७२।। नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायेणानुपपत्तेः ।।७३।। अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ।।७४।। नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ।।७५।।

।। इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ।।१।। तथा दोषाः ।।२।। तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ।।३।। नैकप्रत्यनीकभावात् ।।४।। व्यभिचारादहेतुः ।।५।। तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ।।६।। निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावो दोषेभ्यः ।।७।। न, दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ।।८।। निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ।।९।। आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ।।१०।। व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ।।११।। न घटाद् घटनिष्पत्तेः ।।१२।। व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ।।१३।। अभावाद् भावोत्पत्तिः नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ।।१४।। व्याघातादप्रयोगः ।।१५।। नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ।।१६।। न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ।।१७।। क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ।।१८।। ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।।१९।। न, पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ।।२०।। तत्कारितत्वादहेतुः ।।२१।। अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ।।२२।। अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ।।२३।। निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ।।२४।। सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ।।२५।। नानित्यतानित्यत्वात् ।।२६।। तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ।।२७।। नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ।।२८।।

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ।।२९।। नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ।।३०।। तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ।।३१।। नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः।।३२।। न, व्यवस्थानुपपत्तेः।।३३।। सर्वं पृथग्भावलक्षणपृथक्त्वात् ।।३४।। नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ।।३५।। लक्षणव्यवस्थानादेवाऽप्रतिषेधः ।।३६।। सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ।।३७।। न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ।।३८।। न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ।।३९।। व्याहतत्वादयुक्तम् ।।४०।। संख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ।।४१।। न कारणावयवभावात् ।।४२।। निरवयवत्वादहेतुः ।।४३।। सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ।।४४।। न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ।।४५।। कालान्तरेणाऽनिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ।।४६।। प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात् ।।४७।। नासन्न सन्न सदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात् ।।४८।। उत्पादव्ययदर्शनात् ।।४९।। बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ।।५०।। आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ।।५१।। प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ।।५२।। न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छेदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ।।५३।। तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ।।५४।। विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ।।५५।। न सुखस्याप्यन्तरालनिष्पत्तेः ।।५६।। बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ।।५७।। दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ।।५८।। ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ।।५९।। प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ।।६०।। समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ।।६१।। पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः ।।६२।। सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ।।६३।। न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ।।६४।। न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ।।६५।। प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत्स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् ।।६६।। अणुश्यामतानित्यत्ववद्वा ।।६७।। न सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ।।६८।।

।। इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ।।

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ।।१।। दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ।।२।। तन्निमित्तंत्त्वमवयव्यभिमानः ।।३।। विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् संशयः ।।४।। तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ।।५।। वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ।।६।। कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ।।७।। तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ।।८।। पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ।।९।। न चावयव्यवयवाः ।।१०।। एकस्मिन् भेदाभावात् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ।।११।। अवयवान्तरभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ।।१२।। केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ।।१३।। स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ।।१४।। अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ।।१५।। न प्रलयोऽणुसद्भावात् ।।१६।। परं वा त्रुटेः ।।१७।। आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः ।।१८।। आकाशासर्वगतत्वं वा ।।१९।। अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः ।।२०।। शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ।।२१।। अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ।।२२।। मूर्तिमतां च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ।।२३।। संयोगोपपत्तेश्च ।।२४।। अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ।।२५।। बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः ।।२६।। व्याहतत्वादहेतुः ।।२७।। तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ।।२८।। प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः ।।२९।। प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ।।३०।।

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ।।३१।। मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ।।३२।। हेत्वभावादसिद्धिः ।।३३।। स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ।।३४।। मिथ्योपलब्धेर्विनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्न-विषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ।।३५।। बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ।।३६।। तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ।।३७।। समाधिविशेषाभ्यासात् ।।३८।। नार्थविशेषप्राबल्यात् ।।३९।। क्षुदादिभिः प्रवर्तनाच्च ।।४०।। पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ।।४१।। अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ।।४२।। अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ।।४३।। न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ।।४४।। तदभावश्चापवर्गे ।।४५।। तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ।।४६।। ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ।।४७।। तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् ।।४८।। प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ।।४९।। तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ।।५०।। ताभ्यां विगृह्य कथनम् ।।५१।।

।। इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ पञ्चमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशय-प्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ।।१।। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ।।२।। गोत्वाद् गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः ।।३।। साध्य- दृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पा-दुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ।।४।। किञ्चित्साधर्म्यादुप- संहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ।।५।। साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ।।६।। प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याऽविशिष्टत्वादप्राप्त्याऽसाध-कत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ।।७।। घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ।।८।। दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ।।९।। प्रदीपोपादानप्रसङ्गनिवृत्ति-वत्तद्विनिवृत्तिः ।।१०।। प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ।।११।। प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ।।१२।। तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ।।१३।। सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमः ।।१४।। साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ।।१५।। उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ।।१६।। प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ।।१७।। त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ।।१८।। न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ।।१९।। प्रतिषेधानुपपत्तेश्च प्रतिषेध्याप्रतिषेधः ।।२०।। अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ।।२१।। अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ।।२२।। एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्सद्भावो- पपत्तेरविशेषसमः ।।२३।। क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ।।२४।। उभय- कारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ।।२५।। उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ।।२६।। निर्दिष्ट- कारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ।।२७।। कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ।।२८।। तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ।।२९।। अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ।।३०।। ज्ञानविकल्पानां च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ।।३१।। साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः ।।३२।। साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्य-

साधर्म्याच्च ।।३३।। दृष्टान्ते च साध्यसाधनाभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः ।।३४।। नित्य- मनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः ।।३५।। प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये ऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ।।३६।। प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ।।३७।। कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ।।३८।। प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ।।३९।। सर्वत्रैवम् ।।४०।। प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधसमानो दोषवद्दोषः ।।४१। प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ।।४२।। स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात्समानो दोष इति ।।४३।।

।। इति पञ्चमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ।।

अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभाविक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ।।१।। प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ।।२।। प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ।।३।। प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ।।४।। पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ।।५।। अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ।।६।। प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ।।७।। वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ।।८।। परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ।।९।। पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ।।१०।। अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ।।११।। हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ।।१२।। हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ।।१३।। शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ।।१४।। अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः ।।१५।। अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ।।१६।। विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ।।१७।। अविज्ञातं चाज्ञानम् ।।१८।। उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ।।१९।। कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपः ।।२०।। स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ।।२१।। निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ।।२२।। अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ।।२३।। सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ।।२४।। हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ।।२५।।

।। इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।।

।। समाप्तं चेदं न्यायदर्शनम् ।।

वैशेषिकदर्शनम्

प्रथमाध्याये प्रथममाह्निकम्

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ।।१।। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।।२।। तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ।।३।। धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।।४।। पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।।५।। रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ।।६।। उत्क्षेपणमपक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ।।७।। सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः ।।८।। द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ।।९।। द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ।।१०।। कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ।।११।। न द्रव्यं कार्यं कारणं च वधति ।।१२।। उभयथा गुणाः ।।१३।। कार्यविरोधि कर्म ।।१४।। क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ।।१५।। द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ।।१६।। एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ।।१७।। द्रव्यगुणकर्माणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ।।१८।। तथा गुणः ।।१९।। संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ।।२०।। न द्रव्याणां कर्म ।।२१।। व्यतिरेकात् ।।२२।। द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ।।२३।। गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ।।२४।। द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ।।२५।। असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ।।२६।। संयोगानां द्रव्यम् ।।२७।। रूपाणां रूपम् ।।२८।। गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ।।२९।। संयोगविभागाश्च कर्मणाम् ।।३०।। कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ।।३१।।

।। इति प्रथमाध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

कारणाभावात्कार्याभावः ।।१।। न तु कार्याभावात्कारणाभावः ।।२।। सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ।।३।। भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ।।४।। द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ।।५।। अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ।।६।। सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ।।७।। द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ।।८।। गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ।।९।। सामान्यविशेषाभावेन च ।।१०।। अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ।।११।। सामान्यविशेषाभावेन च ।।१२।। तथा गुणेषु भावाद् गुणत्वमुक्तम् ।।१३।। सामान्यविशेषाभावेन च ।।१४।। कर्मसु भावात्कर्मत्वमुक्तम् ।।१५।। सामान्यविशेषाभावेन च ।।१६।। सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः ।।१७।।

।। इति प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ द्वितीयाध्याये प्रथममाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ।।१।। रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ।।२।। तेजो रूपस्पर्शवत् ।।३।। स्पर्शवान् वायुः ।।४।। त आकाशे न विद्यन्ते ।।५।। सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ।।६।। त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ।।७।। विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिः सास्नावानिति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम् ।।८।। स्पर्शश्च वायोः ।।९।। न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः ।।१०।। अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ।।११।। क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ।।१२।। अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ।।१३।। वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वं लिङ्गम् ।।१४।। वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ।।१५।। सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ।।१६।। तस्मादागमिकम् ।।१७।। संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ।।१८।। प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ।।१९।। निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ।।२०।। तदलिङ्गमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः ।।२१।। कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ।।२२।। संयोगादभावः कर्मणः ।।२३।। कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ।।२४।। कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ।।२५।। परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनो गुणः ।।२६।। परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ।।२७।। द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।२८।। तत्त्वं भावेन ।।२९।। शब्दलिङ्गविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च ।।३०।। तदनुविधानादेकपृथक्त्वं चेति ।।३१।।

।। इति द्वितीयाऽध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तरप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिङ्गम् ।।१।। एतेनाप्सूष्णता व्याख्याता ।।२।। व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ।।३।। तेजस्युष्णता ।।४।। अप्सु शीतता ।।५।। अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ।।६।। द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।७।। तत्त्वं भावेन ।।८।। नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति ।।९।। इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम् ।।१०।। द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।११।। तत्त्वं भावेन ।।१२।। कार्यविशेषेण नानात्वम् ।।१३।। आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ।।१४।। तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च ।।१५।। एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ।।१६।। सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः ।।१७।। दृष्टं च दृष्टवत् ।।१८।। यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ।।१९।। विद्याविद्यातश्च संशयः ।।२०।। श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः ।।२१।। तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् ।।२२।। एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ।।२३।। नापि कर्माऽचाक्षुषत्वात् प्रत्ययस्य ।।२४।। गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ।।२५।। सतो लिङ्गाभावात् ।।२६।। नित्यवैधर्म्यात् ।।२७।। अनित्यश्चायं कारणतः ।।२८।। न चासिद्धं विकारात् ।।२९।। अभिव्यक्तौ दोषात् ।।३०।। संयोगाद् विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ।।३१।। लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः ।।३२।। द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ।।३३।। प्रथमाशब्दात् ।।३४।। सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ।।३५।। सन्दिग्धाः सति बहुत्वे ।।३६।। संख्याभावः सामान्यतः ।।३७।।

।। इति द्वितीयाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ तृतीयाध्याये प्रथममाह्निकम्

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ।।१।। इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ।।२।। सोऽनपदेशः ।।३।। कारणाज्ञानात् ।।४।। कार्येषु ज्ञानात् ।।५।। अज्ञानाच्च ।।६।। अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ।।७।। अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः ।।८।। संयोगि समवाय्येकार्थसमवायिविरोधि च ।।९।। कार्यं कार्यान्तरस्य ।।१०।। विरोध्यभूतं भूतस्य ।।११।। भूतमभूतस्य ।।१२।। भूतो भूतस्य ।।१३।। प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ।।१४।। अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ।।१५।। यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ।।१६।। यस्माद्विषाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ।।१७।। आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत् ।।१८।। प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ।।१९।।

।। इति तृतीयाध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ।।१।। तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।२।। प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ।।३।। प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवन-मनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नश्चात्मनो लिङ्गानि ।।४।। तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।५।। यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ।।६।। सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ।।७।। तस्मादागमिकः ।।८।। अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ।।९।। यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ।।१०।। दृष्ट आत्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ।।११।। देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ।।१२।। सन्दिग्धस्तूपचारः ।।१३।। अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ।।१४।। देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरंप्रत्यक्षोऽहङ्कारः ।।१५।। सन्दिग्धस्तूपचारः ।।१६।। न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ।।१७।। अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचाराद् विशेषसिद्धेर्नागमिकः ।।१८।। सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ।।१९।। व्यवस्थातो नाना ।।२०।। शास्त्रसामर्थ्याच्च ।।२१।।

।। इति तृतीयाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

चतुर्थाध्याये प्रथममाह्निकम्

सदकारणवन्नित्यम् ।।१।। तस्य कार्यं लिङ्गम् ।।२।। कारणाभावात् कार्याभावः ।।३।। अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ।।४।। अविद्या ।।५।। महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः ।।६।। सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ।।७।। अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ।।८।। तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ।।९।। तस्याभावादव्यभिचारः ।।१०।। संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि ।।११।।

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ।।१२।। एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ।।१३।।

।।इति चतुर्थाध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

तत्पुनः पृथिव्यादिकार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ।।१।। प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ।।२।। गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम् ।।३।। अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ।।४।। तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ।।५।। अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ।।६।। धर्मविशेषाच्च ।।७।। समाख्याभावाच्च ।।८।। संज्ञाया आदित्वात् ।।९।। सन्त्ययोनिजाः ।।१०।। वेदलिङ्गाच्च ।।११।।

।। इति चतुर्थाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ पञ्चमाध्याये प्रथममाह्निकम्

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ।।१।। तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ।।२।। अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ।।३।। तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ।।४।। अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ।।५।। आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ।।६।। संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम् ।।७।। नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्व न तिर्यग्गमनम् ।।८।। प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ।।९।। नोदनविशेषादुदसनविशेषः ।।१०।। हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ।।११।। तथा दग्धस्य विस्फोटने ।।१२।। प्रयत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ।।१३।। तृणे कर्म वायुसंयोगात् ।।१४।। मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणम् ।।१५।। इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ।।१६।।नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च ।।१७।। संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ।।१८।।

।। इति पञ्चमाध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ।।१।। तद्विशेषेणादृष्टकारितम् ।।२।। अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ।।३।। द्रवत्वात् स्यन्दनम् ।।४।। नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् ।।५।। नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ।।६।। वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ।।७।। अपां सङ्घातो विलयनं च तेजः संयोगात् ।।८।। तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ।।९।। वैदिकं च ।।१०।। अपां संयोगाद् विभागाच्च स्तनयित्नोः ।।११।। पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ।।१२।। अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमणूनां

मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ।।१३।। हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ।।१४।। आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ।।१५।। तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः संयोगः ।।१६।। अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ।।१७।। तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावाश्च मोक्षः ।।१८।। द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ।।१९।। तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ।।२०।। दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ।।२१।। एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ।।२२।। निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ।।२३।। कारणं त्वसमवायिनो गुणाः ।।२४।। गुणैर्दिग्व्याख्याता ।।२५।। कारणेन कालः ।।२६।।

।। इति पञ्चमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ षष्ठाध्याये प्रथममाह्निकम्

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ।।१।। ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ।।२।। बुद्धिपूर्वो ददातिः ।।३।। तथा प्रतिग्रहः ।।४।। आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ।।५।। तद्दुष्टभोजने न विद्यते ।।६।। दुष्टं हिंसायाम् ।।७।। तस्य समभिव्याहारतो दोषः ।।८।। तद्दुष्टे न विद्यते ।।९।। पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ।।१०।। समे हीने वा प्रवृत्तिः ।।११।। एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ।।१२।। तथा विरुद्धानां त्यागः ।।१३।। हीने परे त्यागः ।।१४।। समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ।।१५।। विशिष्टे आत्मत्याग इति ।।१६।।

।। इति षष्ठाध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथ षष्ठाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ।।१।। अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय ।।२।। चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ।।३।। भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ।।४।। यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितं च तच्छुचिः ।।५।। अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ।।६।। अर्थान्तरं च ।।७।। अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावाद्विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद्यमस्य ।।८।। असति चाभावात् ।।९।। सुखाद्रागः ।।१०।। तन्मयत्वाच्च ।।११।। अदृष्टाच्च ।।१२।। जातिविशेषाच्च ।।१३।। इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः ।।१४।। तत्संयोगो विभागः ।।१५।। आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ।।१६।।

।। इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयममाह्निकम् ।।

अथ सप्तमाध्याये प्रथममाह्निकम्

उक्ता गुणाः ।।१।। पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ।।२।। एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ।।३।। अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ।।४।। अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात् ।।५।। कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ।।६।। एकद्रव्यत्वात् ।।७।। अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ।।८।। कारणबहुत्वाच्च ।।६।। अतो विपरीतमणु ।।१०।। अणु महदिति तस्मिन् विशेषभावाद् विशेषाभावाच्च ।।११।। एककालत्वात् ।।१२।। दृष्टान्ताच्च ।।१३।। अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः ।।१४।। कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ।।१५।। अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ।।१६।। एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ।।१७।। अनित्येऽनित्यम् ।।१८।। नित्ये नित्यम् ।।१६।। नित्यं परिमण्डलम् ।।२०।। अविद्या च विद्यालिङ्गम् ।।२१।। विभवान् महानाकाशस्तथा चात्मा ।।२२।। तदभावादणु मनः ।।२३।। गुणैर्दिग् व्याख्याता ।।२४।। कारणे कालः ।।२५।।

।। इति सप्तमाध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथ सप्तमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ।।१।। तथा पृथक्त्वम् ।।२।। एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ।।३।। निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं च विद्यते ।।४।। भ्रान्तं तत् ।।५।। एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु य विद्यते ।।६।। कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ।।७।। एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ।।८।। अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगश्च संयोगः ।।६।। एतेन विभागो व्याख्यातः ।।१०।। संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ।।११।। कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति ।।१२।। युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ।।१३।। गुणत्वात् ।।१४।। गुणोऽपि विभाव्यते ।।१५।। निष्क्रियत्वात् ।।१६।। असति नास्तीति च प्रयोगात् ।।१७।। शब्दार्थावसम्बन्धौ ।।१८।। संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ।।१६।। सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः ।।२०।। एकदिक्कालाभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च ।।२१।। कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ।।२२।। परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ।।२३।। कर्मभिः कर्माणि ।।२४।। गुणैर्गुणाः ।।२५।। इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ।।२६।। द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ।।२७।। तत्त्वमभावेन ।।२८।।

।। इति सप्तमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथाष्टमाध्याये प्रथममाह्निकम्

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ।।१।। तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ।।२।। ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ।।३।। गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ।।४।। सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात्तत एव ज्ञानम् ।।५।। सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ।।६।। द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ।।७।। गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ।।८।। समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते कार्यकारणभूते ।।९।। द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ।।१०।। कारणायौगपद्यात् कारणक्रमाच्च घटपटादिबुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ।।११।।

।। इत्यष्टमाध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथाष्टमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

अयमेष त्वया कृतं भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ।।१।। दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ।।२।। अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ।।३।। द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ।।४।। भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ।।५।। तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात् ।।६।।

।। इत्यष्टमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ नवमाध्याये प्रथममाह्निकम्

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ।।१।। सदसत् ।।२।। असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ।।३।। सच्चासत् ।।४।। यच्चान्यदसदस्तदसत् ।।५।। असदिति भूतप्रत्यक्षाभावाद् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ।।६।। तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ।।७।। एतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ।।८।। अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ।।९।। नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ।।१०।। आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ।।११।। तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ।।१२।। असमाहितान्तःकरणा उपसंहतसमाधयस्तेषां च ।।१३।। तत्समवायात् कर्मगुणेषु ।।१४।। आत्मसमवायादात्मगुणेषु ।।१५।।

।। इति नवमाध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथ नवमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ।।१।। अस्येदं कार्यकारणसम्बन्धश्चावयवाद्भवति ।।२।। एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ।।३।। हेतुरपदेशो लिङ्गप्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ।।४।। अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात् ।।५।। आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ।।६।। तथा स्वप्नः ।।७।। स्वप्नान्तिकम् ।।८।। धर्माच्च ।।९।। इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या

।।१०।। तद् दुष्टज्ञानम् ।।११।। अदुष्टं विद्या ।।१२।। आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ।।१३।।

।। इति नवमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ दशमाध्याये प्रथममाह्निकम्

इष्टानिष्टकारणविशेषाद् विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ।।१।। संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ।।२।। तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ।।३।। अभूदित्यपि ।।४।। सति च कार्यादर्शनात् ।।५।। एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ।।६।। एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ।।७।।

।। इति दशमाध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथ दशमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् ।।१।। संयोगाद्वा ।।२।। कारणे समवायात् कर्माणि ।।३।। तथा रूपे कारणैकार्थसमवायाच्च ।।४।। कारणसमवायात् संयोगः पटस्य ।।५।। कारणकारणसमवायाच्च ।।६।। संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् ।।७।। दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ।।८।। तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति ।।९।।

।। इति दशमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

।। समाप्तं चेदं वैशेषिकदर्शनम् ।।

अथ साङ्ख्यदर्शनम्

प्रथमोऽध्यायः

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।।१।। न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात् ।।२।। प्रात्यहिकक्षुत्प्रतिकारवत् तत्प्रतिकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् ।।३।। सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्त्वासम्भवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः ।।४।। उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ।।५।। अविशेषश्चोभयोः ।।६।। न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ।।७।। स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ।।८।। नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ।।९।। शुक्लपटवद् बीजवच्चेत् ।।१०।। शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ।।११।। न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ।।१२।। न देशयोगतोऽप्यस्मात् ।।१३।। नावस्थातो देहधर्मत्वात् तस्याः ।।१४।। असङ्गोऽयं पुरुष इति ।।१५।। न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ।।१६।। विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ।।१७।। प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ।।१८।। न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ।।१९।। तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ।।२०।। नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ।।२१।। प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् ।।२२।। वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ।।२३।। युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ।।२४।। अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ।।२५।। सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ।।२६।। स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य ।।२७।। बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य ।।२८।। तेनान्तःकरणस्य ।।२९।। ततः प्रकृतेः ।।३०।। संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ।।३१।। मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ।।३२।। पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ।।३३।। समानः प्रकृतेर्द्वयोः ।।३४।। अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ।।३५।। महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ।।३६।। चरमोऽहङ्कारः ।।३७।। तत्कार्यत्वमन्येषाम् ।।३८।। आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ।।३९।। पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ।।४०।। परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ।।४१।। तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ।।४२।। नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ।।४३।। अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ।।४४।। भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः ।।४५।। न कर्मण उपादानत्वायोगात् ।।४६।। नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम् ।।४७।। तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ।।४८।। दुःखददुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ।।४९।। काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ।।५०।। निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ।।५१।। द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिछित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् ।।५२।। तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ।।५३।। यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।।५४।। योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ।।५५।। लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ।।५६।। ईश्वरासिद्धेः ।।५७।। मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ।।५८।। उभयथाप्यसत्करत्वम् ।।५९।। मुक्तात्मनः प्रशंसोपासानासिद्धस्य वा ।।६०।। तत्सन्निधानादधिष्टातृत्वं मणिवत् ।।६१।। विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ।।६२।। सिद्धरूपबोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः ।।६३।। अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ।।६४।। प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञान-मनुमानम् ।।६५।। आप्तोपदेशः शब्दः ।।६६।। उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः ।।६७।। सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ।।६८।। चिदवसानो भोगः ।।६९।। अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ।।७०।। अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः ।।७१।। नोभयं च तत्वाख्याने ।।७२।। विषयोऽविषयोऽ-

प्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य ।।७३।। सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ।।७४।। कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ।।७५।। वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् ।।७६।। तथाप्येकतरदृष्ट्या एकतरसिद्धेर्नापलापः ।।७७।। त्रिविधविरोधापत्तेश्च ।।७८।। नासदुत्पादो नृशृङ्गवत् ।।७९।। उपादाननियमात् ।।८०।। सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात् ।।८१।। शक्तस्य शक्यकारणात् ।।८२।। कारणाभावाच्च ।।८३।। न भावे भावयोगश्चेत् ।।८४।। न, अभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ ।।८५।। नाशः कारणलयः ।।८६।। पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत् ।।८७।। उत्पत्तिवद्वाऽदोषः ।।८८।। हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।।८९।। आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ।।९०।। त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः ।।९१।। प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम् ।।९२।। लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ।।९३।। उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ।।९४।। परिमाणात् ।।९५।। समन्वयात् ।।९६।। शक्तितश्चेति ।।९७।। तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा ।।९८।। तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ।।९९।। कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् ।।१००।। अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात् ।।१०१।। तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ।।१०२।। सामान्येन विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम् ।।१०३।। शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ।।१०४।। संहतपरार्थत्वात् ।।१०५।। त्रिगुणादिविपर्ययात् ।।१०६।। अधिष्ठानाच्चेति ।।१०७।। भोक्तृभावात् ।।१०८।। कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।।१०९।। पुरुष जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः ।।११०।। निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ।।१११।। श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात् ।।११२।। सुषुप्त्याद्यस्यसाक्षित्वम् ।।११३।। जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।।११४।। उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ।।११५।। उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् ।।११६।। एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः ।।११७।। अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात् ।।११८।। नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ।।११९।। विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम् ।।१२०।। नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ।।१२१।। वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् ।।१२२।। अनादावद्य यावदभावाद् भविष्यदप्येवम् ।।१२३।। इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ।।१२४।। व्यावृत्तोभयरूपः ।।१२५।। साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम् ।।१२६।। नित्यमुक्तत्वम् ।।१२७।। औदासीन्यं चेति ।।१२८।। उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात् ।।१२९।।

।। इति प्रथमोऽध्यायः ।।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ।।१।। विरक्तस्य तत्सिद्धेः ।।२।। न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्वात् ।।३।। बहुभृत्यवद् वा प्रत्येकम् ।।४।। प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ।।५।। कार्यतस्तत्सिद्धेः ।।६।। चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ।।७।। अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ।।८।। रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ।।९।। महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम् ।।१०।। आत्मार्थत्वात् सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ।।११।। दिक्कालावाकाशादिभ्यः ।।१२।। अध्यवसायो बुद्धिः ।।१३।। तत्कार्यं धर्मादि ।।१४।। महदुपरागाद् विपरीतम् ।।१५।। अभिमानोऽहङ्कारः ।।१६।। एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ।।१७।। सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात् ।।१८।। कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ।।१९।। आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ।।२०।। देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य ।।२१।। तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ।।२२।। अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ।।२३।। शक्तिभेदेऽपि

भेदसिद्धौ नैकत्वम् ।।२४।। न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ।।२५।। उभयात्मकं मनः ।।२६।। गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ।।२७।। रूपादिरसमलान्त उभयोः ।।२८।। द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् ।।२९।। त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ।।३०।। सामान्याकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ।।३१।। क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ।।३२।। वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ।।३३।। तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ।।३४।। कुसुमवच्च मणिः ।।३५।। पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ।।३६।। धेनुवद्वत्साय ।।३७।। करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ।।३८।। इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठारवत् ।।३९।। द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु ।।४०।। अव्यभिचारात् ।।४१।। तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ।।४२।। स्मृत्यानुमानाच्च ।।४३।। सम्भवेन्न स्वतः ।।४४।। आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ।।४५।। तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ।।४६।। समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ।।४७।।

।।इति द्वितीयोऽध्यायः ।।

अथ तृतीयोऽध्यायः

अविशेषाद् विशेषारम्भः ।।१।। तस्माच्छरीरस्य ।।२।। तद्बीजात् संसृतिः ।।३।। आविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम् ।।४।। उपभोगादितरस्य ।।५।। सम्प्रति परिमुक्तो द्वाभ्याम् ।।६।। मातापितृजं स्थूलं प्रायशः इतरन्न तथा ।।७।। पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ।।८।। सप्तदशैकं लिङ्गम् ।।९।। व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ।।१०।। तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः ।।११।। न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ।।१२।। मूर्त्तत्वेऽपि न सङ्घातयोगात् तरणिवत् ।।१३।। अणुपरिमाणं तत् कृतिश्रुतेः ।।१४।। तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ।।१५।। पुरुषार्थं संसृतिलिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ।।१६।। पाञ्चभौतिको देहः ।।१७।। चातुर्भौतिकमित्येके ।।१८।। एकभौतिकमित्यपरे ।।१९।। न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ।।२०।। प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च ।।२१।। मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सौक्ष्म्यात् सांहत्ये तदुद्भवः ।।२२।। ज्ञानान्मुक्तिः ।।२३।। बन्धो विपर्ययात् ।।२४।। नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ।।२५।। स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ।।२६।। इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ।।२७।। सङ्कल्पितेऽप्येवम् ।।२८।। भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ।।२९।। रागोपहतिर्ध्यानम् ।।३०।। वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ।।३१।। धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ।।३२।। निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ।।३३।। स्थिरसुखमासनम् ।।३४।। स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ।।३५।। वैराग्यादभ्यासाच्च ।।३६।। विपर्ययभेदाः पञ्च ।।३७।। अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु ।।३८।। तुष्टिर्नवधा ।।३९।। सिद्धिरष्टधा ।।४०।। अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ।।४१।। एवमितरस्याः ।।४२।। आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ।।४३।। ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा ।।४४।। नेतरादितरहानेन विना ।।४५।। दैवादिप्रभेदा ।।४६।। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ।।४७।। ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ।।४८।। तमोविशाला मूलतः ।।४९।। मध्ये रजोविशाला ।।५०।। कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ।।५१।। आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ।।५२।। समानं जरामरणादिजं दुःखम् ।।५३।। न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ।।५४।। अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ।।५५।। स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ।।५६।। ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ।।५७।। प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वात् उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ।।५८।। अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ।।५९।।

कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः ।।६०।। स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत् ।।६१।। कर्माकृष्टेर्वानादितः ।।६२।। विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ।।६३।। इतर इतरवत्तद्दोषात् ।।६४।। द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ।।६५।। अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जु तत्वस्येवोरगः ।।६६।। कर्मनिमित्तयोगाच्च ।।६७।। नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ।।६८।। नर्तकीवत् प्रवृतस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ।।६९।। दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् ।।७०।। नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ।।७१।। प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत् ।।७२।। रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद् विमोचयत्येकेन रूपेण ।।७३।। निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टिहानिः ।।७४।। तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेकसिद्धिः ।।७५।। अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ।।७६।। बाधितानुवृत्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ।।७७।। जीवन्मुक्तश्च ।।७८।। उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ।।७९।। श्रुतिश्च ।।८०।। इतरथाऽन्धपरम्परा ।।८१।। चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः ।।८२।। संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ।।८३।। विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ।।८४।।

।। इति तृतीयोऽध्यायः ।।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

राजपुत्रवत् तत्वोपदेशात् ।।१।। पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ।।२।। आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।।३।। पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ।।४।। श्येनवत् सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ।।५।। अहिर्निर्ल्वयिनीवत् ।।६।। छिन्नहस्तवद्वा ।।७।। असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ।।८।। बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशङ्खवत् ।।९।। द्वाभ्यामपि तथैव ।।१०।। निराशः सुखी पिङ्गलावत् ।।११।। अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ।।१२।। बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ।।१३।। इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ।।१४।। कृतनियमलङ्घनादानर्थक्यं लोकवत् ।।१५।। तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ।।१६।। नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ।।१७।। दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ।।१८।। प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ।।१९।। न कालनियमो वामदेववत् ।।२०।। अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ।।२१।। इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पञ्चाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ।।२२।। विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ।।२३।। लब्धातिशययोगात् तद्वत् ।।२४।। न कामचारित्वं रागोपहते ।।२५।। गुणयोगाद् बन्धः शुकवत् ।।२६।। न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ।।२७।। दोषदर्शनादुभयोः ।।२८।। न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ।।२९।। नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ।।३०।। न तज्जस्यापि तद्रूपता पङ्कजवत् ।।३१।। न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत् ।।३२।।

।। इति चतुर्थोऽध्यायः ।।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति ।।१।। नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ।।२।। स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ।।३।। लौकिकेश्वरवदितरथा ।।४।। पारिभाषिको वा ।।५।। न, रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ।।६।। तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ।।७।। प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ।।८।। सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ।।९।। प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ।।१०।। सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ।।११।। श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ।।१२।। नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य ।।१३।। तद्योगे तत्सिद्धावन्योऽन्याश्रयत्वम् ।।१४।। न बीजाङ्कुरवत् सादिसंसारश्रुतेः ।।१५।। विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसङ्गः ।।१६।। अबाधे नैष्फल्यम् ।।१७।। विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ।।१८।। तद्रूपत्वे सादित्वम् ।।१९।। न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ।।२०।। श्रुतिलिङ्गादिभिस्तत्सिद्धिः ।।२१।। न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ।।२२।। उभयत्राप्येवम् ।।२३।। अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ।।२४।। अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ।।२५।। गुणादीनाञ्च नात्यन्तबाधः ।।२६।। पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ।।२७।। न सकृद्ग्रहणात् सम्बन्धसिद्धिः ।।२८।। नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ।।२९।। न तत्त्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः ।।३०।। निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ।।३१।। आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ।।३२।। न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ।।३३।। विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ।।३४।। पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ।।३५।। आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात् ।।३६।। वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः ।।३७।। त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः ।।३८।। न कार्ये नियम उभयथादर्शनात् ।।३९।। लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः ।।४०।। न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्याप्यतीन्द्रियत्वात् ।।४१।। न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात् ।।४२।। निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ।।४३।। योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः ।।४४।। न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ।।४५।। न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ।।४६।। न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ।।४७।। नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत् ।।४८।। तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ।।४९।। यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम् ।।५०।। निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् ।।५१।। नासतः ख्यानं नृशृङ्गवत् ।।५२।। न सतो बाधदर्शनात् ।।५३।। नानिर्वचनीयस्य तदभावात् ।।५४।। नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात् ।।५५।। सदसत्ख्यातिर्बाधा-बाधात् ।।५६।। नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात् तद्भेदप्रतीतेः ।।५७।। नानात्मनाऽपि प्रत्यक्षबाधात् ।।५८।। नोभाभ्यां तेनैव ।।५९।। अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ।।६०।। नात्माऽविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात् ।।६१।। नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ।।६२।। दुःखनिवृत्तेर्गौणः ।।६३।। विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ।।६४।। न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा वास्यादिवच्चक्षुरादिवत् ।।६५।। सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः ।।६६।। न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटादिवत् ।।६७।। प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ।।६८।। न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ।।६९।। नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मकत्वात् ।।७०।। न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ।।७१।। न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ।।७२।। नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ।।७३।। न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ।।७४।। न देशादिलाभोऽपि ।।७५।। न भागियोगो भागस्य ।।७६।। नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात् तदुच्छित्तेरितरयोगवत् ।।७७।। नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ।।७८।। समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ।।७९।। द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः ।।८०।। द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ ।।८१।। वासनयानार्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् ।।८२।। न देहमात्रतः कर्माधिकारित्वं वैशिष्ट्यश्रुतेः ।।८३।। त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्म

देहोपभोगदेहोभयदेहाः ।।८४।। न किञ्चिदप्यनुशयिनः ।।८५।। न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत् ।।८६।। आश्रयासिद्धेश्च ।।८७।। योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ।।८८।। न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च ।।८९।।

।। इति पञ्चमोऽध्यायः ।।

अथ षष्ठोऽध्याय

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ।।१।। देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ।।२।। षष्ठीव्यपदेशादपि ।।३।। न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात् ।।४।। अत्यन्तदुःखनिवृत्या कृतकृत्यता ।।५।। यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः ।।६।। न कुत्रापि कोऽपि सुखीति ।।७।। तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ।।८।। सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्न, द्वैविध्यात् ।।९।। निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गत्वादि-श्रुतेः ।।१०।। परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ।।११।। अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः ।।१२।। न नित्यः स्यादात्मवदन्यथाऽनुच्छित्तिः ।।१३।। प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ।।१४।। अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ।।१५।। प्रकारान्तरासम्भवादविवेक एव बन्धः ।।१६।। न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यानावृत्तिश्रुतेः ।।१७।। अपुरुषार्थत्वमन्यथा ।।१८।। अविशेषापत्तिरुभयोः ।।१९।। मुक्तिरन्तराय-ध्वस्तेर्न परः ।।२०।। तत्राप्यविरोधः ।।२१।। अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ।।२२।। दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम् ।।२३।। स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ।।२४।। ध्यानं निर्विषयं मनः ।।२५।। उभयथाऽप्यविशेष-श्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ।।२६।। निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात् ।।२७।। जपास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः ।।२८।। ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ।।२९।। लयविक्षेपयोर्व्यावृत्येत्याचार्याः ।।३०।। न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ।।३१।। प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां कार्यत्वश्रुतेः ।।३२।। नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाभावात् ।।३३।। श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः ।।३४।। पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ।।३५।। सर्वत्र कार्यदर्शनाद् विभुत्वम् ।।३६।। गतियोगेऽप्याद्यकारणताहानिरणुवत् ।।३७।। प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ।।३८।। सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ।।३९।। अनुपभोगेऽपि पुमर्थ सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ।।४०।। कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ।।४१।। साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ।।४२।। विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ।।४३।। नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ।।४४।। पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ।।४५।। उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ।।४६।। द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ।।४७।। द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात् ।।४८।। प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः ।।४९।। जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ।।५०।। न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ।।५१।। जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद् बाधकाभावात् ।।५२।। प्रकारान्तरासम्भवात् सदुत्पत्तिः ।।५३।। अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः ।।५४।। चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ।।५५।। चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्त-सद्भावात् ।।५६।। लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ।।५७।। पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तश्रुतिः ।।५८।। गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद् भोगदेशकाललाभो व्योमवत् ।।५९।। अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसङ्गान्न तत्सिद्धिः ।।६०।। अदृष्टद्वारा चेदसम्बद्धस्य तदसम्भवाज्जलादिवदङ्कुरे ।।६१।। निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहङ्कारधर्मा ह्येते ।।६२।। विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ।।६३।। अहङ्कारकर्त्रधीनाः

कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात् ।।६४।। अदृष्टोद्भूतिवत् समानत्वम् ।।६५।। महतोऽन्यत् ।।६६।। कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादिर्बीजाङ्कुरवत् ।।६७।। अविवेकानिमित्तो वा पञ्चशिखः ।।६८।। लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ।।६९।। यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ।।७०।।

।। इति षष्ठोऽध्यायः ।।

।। समाप्तं चेदं सांख्यदर्शनम् ।।

योगदर्शनम्

अथ प्रथमः समाधिपादः

अथ योगानुशासनम् ।।१।। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।।२।। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।।३।। वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।।४।। वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।।५।। प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।।६।। प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।।७।। विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।।८।। शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।।६।। अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।।१०।। अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ।।११।। अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।।१२।। तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।।१३।। स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।।१४।। दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।।१५।। तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।।१६।। वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ।।१७।। विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ।।१८।। भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ।।१६।। श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।।२०।। तीव्रसंवेगानामासन्नः ।।२१।। मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ।।२२।। ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।।२३।। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।।२४।। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।।२५।। स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।।२६।। तस्य वाचकः प्रणवः ।।२७।। तज्जपस्तदर्थभावनम् ।।२८।। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।।२६।। व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।।३०।। दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।।३१।। तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ।।३२।। मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।।३३।। प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।।३४।। विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।।३५।। विशोका वा ज्योतिष्मती ।।३६।। वीतरागविषयं वा चित्तम् ।।३७।। स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ।।३८।। यथाभिमतध्यानाद्वा ।।३६।। परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ।।४०।। क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता-समापत्तिः ।।४१।। तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।।४२।। स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।।४३।। एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।।४४।। सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ।।४५।। ता एव सबीजः समाधिः ।।४६।। निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।।४७।। ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।।४८।। श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।।४६।। तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ।।५०।। तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।।५१।।

।। इति प्रथमः समाधिपादः ।।

अथ द्वितीयः साधनपादः

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।।१।। समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।।२।। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।।३।। अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।।४।। अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।।५।। दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।।६।।

सुखानुशयी रागः ।।७।। दुःखानुशयी द्वेषः ।।८।। स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।।६।। ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ।।१०।। ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ।।११।। क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।।१२।। सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।।१३।। ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।।१४।। परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।।१५।। हेयं दुःखमनागतम् ।।१६।। द्रष्ट्रीदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।।१७।। प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।।१८।। विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।।१६।। द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।।२०।। तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ।।२१।। कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।।२२।। स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ।।२३।। तस्य हेतुरविद्या ।।२४।। तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ।।२५।। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।।२६।। तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।।२७।। योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।।२८।। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।।२६।। अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।।३०।। जाति-देशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।।३१।। शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।।३२।। वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।।३३।। वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।।३४।। अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।।३५।। सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।।३६।। अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।।३७।। ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।।३८।। अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ।।३६।। शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।।४०।। सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।।४१।। सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ।।४२।। कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ।।४३।। स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।।४४।। समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।।४५।। स्थिरसुखमासनम् ।।४६।। प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।।४७।। ततो द्वन्द्वानभिघातः ।।४८।। तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।।४६।। बाह्याभ्यन्तर-स्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।।५०।। बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।।५१।। ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।।५२।। धारणासु च योग्यता मनसः ।।५३।। स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।।५४।। ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ।।५५।।

।। इति द्वितीयः साधनपादः ।।

अथ तृतीयो विभूतिपादः

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।।१।। तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।।२।। तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।।३।। त्रयमेकत्र संयमः ।।४।। तज्जयात्प्रज्ञाऽलोकः ।।५।। तस्य भूमिषु विनियोगः ।।६।। त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ।।७।। तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ।।८।। व्युत्थान- निरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।।६।। तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ।।१०।। सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ।।११।। ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ।।१२।। एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ।।१३।। शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।।१४।। क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ।।१५।। परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ।।१६।।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ।।१७।। संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ।।१८।। प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ।।१६।। कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ।।२०।। सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ।।२१।। मैत्र्यादिषु बलानि ।।२२।। बलेषु हस्तिबलादीनि ।।२३।। प्रवत्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ।।२४।। भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।।२५।। चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।।२६।। ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ।।२७।। नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।।२८।। कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ।।२६।। कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ।।३०।। मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।।३१।। प्रातिभाद्वा सर्वम् ।।३२।। हृदये चित्तसंवित् ।।३३।। सत्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ।।३४।। ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शास्वादवार्ता जायन्ते ।।३५।। ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।।३६।। बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ।।३७।। उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ।।३८।। समानजयाज्ज्वलनम् ।।३६।। श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ।।४०।। कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ।।४१।। बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ।।४२।। स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद् भूतजयः ।।४३।। ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिधातश्च ।।४४।। रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ।।४५।। ग्रहणस्वरूपाऽस्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रियजयः ।।४६।। ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।।४७।। सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ।।४८।। तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।।४६।। स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ।।५०।। क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम् ।।५१।। जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ।।५२।। तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ।।५३।। सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ।।५४।।

।। इति तृतीयो विभूतिपादः ।।

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ।।१।। जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ।।२।। निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।।३।। निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।।४।। प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।।५।। तत्र ध्यानजमनाशयम् ।।६।। कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।।७।। ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।।८।। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ।।६।। तासामनादित्वं चाऽऽशिषो नित्यत्वात् ।।१०।। हेतुफलाश्रयालम्बनैः सङ्गृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ।।११।। अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ।।१२।। ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ।।१३।। परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ।।१४।। वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ।।१५।। न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।।१६।। तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ।।१७।। सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।।१८।। न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ।।१६।। एकसमये चोभयानवधारणम् ।।२०।। चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ।।२१।। चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।।२२।। द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ।।२३।। तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि

परार्थं संहत्यकारित्वात् ।।२४।। विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ।।२५।। तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।।२६।। तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।।२७।। हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ।।२८।। प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ।।२९।। ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।।३०।। तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ।।३१।। ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ।।३२।। क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ।।३३।। पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।।३४।।

।। इति चतुर्थः कैवल्यपादः ।।

।। समाप्तं चेदं योगदर्शनम् ।।

अथ मीमांसादर्शनम्

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अथातो धर्मजिज्ञासा ।।१।। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।।२।। तस्य निमित्तपरीष्टिः ।।३।। सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।।४।। औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ।।५।। कर्मैके तत्र दर्शनात् ।।६।। अस्थानात् ।।७।। करोति शब्दात् ।।८।। सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात् ।।९।। प्रकृतिविकृत्योश्च ।।१०।। वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ।।११।। समं तु तत्र दर्शनम् ।।१२।। सतः परमदर्शनं विषयानागमात् ।।१३।। प्रयोगस्य परम् ।।१४।। आदित्यवद्यौगपद्यम् ।।१५।। वर्णान्तरमविकारः ।।१६।। नादवृद्धिपरा ।।१७।। नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ।।१८।। सर्वत्र यौगपद्यात् ।।१९।। संख्याभावात् ।।२०।। अनपेक्षत्वात् ।।२१।। प्रख्याभावाच्च योगस्य ।।२२।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२३।। उत्पत्तौ वाऽवचनास्स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ।।२४।। तद्भूतानां क्रियार्थेन, समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ।।२५।। लोके सन्नियमात्प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ।।२६।। वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ।।२७।। अनित्यदर्शनाच्च ।।२८।। उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ।।२९।। आख्याः प्रवचनात् ।।३०।। परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ।।३१।। कृते वा विनियोगस्स्यात् कर्मणस्सम्बन्धात् ।।३२।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते ।।१।। शास्त्रदृष्टविरोधाच्च ।।२।। तथा फलाभावात् ।।३।। अन्यानर्थक्यात् ।।४।। अभागिप्रतिषेधाच्च ।।५।। अनित्यसंयोगात् ।।६।। विधीना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ।।७।। तुल्यं च साम्प्रदायिकम् ।।८।। अप्राप्ता चानुपपत्तिः, प्रयोगे हि विरोधस्स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ।।९।। गुणवादस्तु ।।१०।। रूपात्प्रायात् ।।११।। दूरभूयस्त्वात् ।।१२।। अपराधात्कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनम् ।।१३।। आकालिकेप्सा ।।१४।। विद्याप्रशंसा ।।१५।। सर्वत्वमाधिकारिकम् ।।१६।। फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात् ।।१७।। अन्त्ययोर्यथोक्तम् ।।१८।। विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम् ।।१९।। लोकवदिति चेत् ।।२०।। न, पूर्वत्वात् ।।२१।। उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् ।।२२।। विधिश्चानर्थकः क्वचित्तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत, तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम् ।।२३।। प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षो न कल्प्येत, विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति ।।२४।। विधौ च वाक्यभेदः स्यात् ।।२५।। हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् ।।२६।। स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य ।।२७।। अर्थे स्तुतिरन्याय्येति चेत् ।।२८।। अर्थस्तु विधिशेषत्वाद्यथा लोके ।।२९।। यदि च

हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात्सामान्यादिति चेदव्यवस्थाविधीनां स्यात् ।।३०।। तदर्थशास्त्रात् ।।३१।। वाक्यनियमात् ।।३२।। बुद्धशास्त्रात् ।।३३।। अविद्यमानवचनात् ।।३४।। अचेतनेऽर्थबन्धनात् ।।३५।। अर्थविप्रतिषेधात् ।।३६।। स्वाध्यायवद्वचनात् ।।३७।। अविज्ञेयात् ।।३८।। अनित्य- संयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ।।३९।। अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ।।४०।। गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ।।४१।। परिसंख्या ।।४२।। अर्थवादो वा ।।४३।। अविरुद्धं परम् ।।४४।। सम्प्रैषे कर्मगर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात् ।।४५।। अभिधानेऽर्थवादः ।।४६।। गुणादप्रतिषेधः स्यात् ।।४७।। विद्यावचनमसंयोगात् ।।४८।। सतः परमविज्ञानम् ।।४९।। उक्तश्चाऽनित्यसंयोगः ।।५०।। लिङ्गोपदेशश्च तदर्थत्वात् ।।५१।। ऊहः ।।५२।। विधिशब्दाश्च ।।५३।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात् ।।१।। अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात् ।।२।। विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ।।३।। हेतुदर्शनाच्च ।।४।। शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत् ।।५।। न शास्त्रपरिमाणत्वात् ।।६।। अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ।।७।। तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् ।।८।। शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् ।।९।। चोदितं तुवा प्रतीयेताऽविरोधात् प्रमाणेन ।।१०।। प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ।।११।। नाऽसन्नियमात् ।।१२।। अवाक्यशेषाच्च ।।१३।। सर्वत्र च प्रयोगात्सन्निधानशास्त्राच्च ।।१४।। अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात् ।।१५।। अपि वा सर्वधर्मः स्यात्तन्न्यायत्वाद्विधानस्य ।।१६।। दर्शनाद्विनियोगः स्यात् ।।१७।। लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ।।१८।। आख्या हि देशसंयोगात् ।।१९।। न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत् ।।२०।। स्याद्योगाख्या हि माथुरवत् ।।२१।। कर्मधर्मो वा प्रवणवत् ।।२२।। तुल्यं तु कर्तृधर्मेण ।।२३।। प्रयोगोत्पत्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् ।।२४।। शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ।।२५।। अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ।।२६।। तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात्स्यात् ।।२७।। तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ।।२८।। एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात् ।।२९।। प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात् ।।३०।। अद्रव्यशब्दत्वात् ।।३१।। अन्यदर्शनाच्च ।।३२।। आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् ।।३३।। न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरं विधानं न, द्रव्यमिति चेत् ।।३४।। तदर्थत्वात्प्रयोगस्याविभागः ।।३५।।

।। इति पूर्वमीमांसा दर्शने प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं, तस्मात्सर्वं तदर्थं स्यात् ।।१।। अपि वा नामधेयं स्याद्यदुत्पत्ताव-पूर्वमविधायकत्वात् ।।२।। यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः ।।३।। तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम् ।।४।।

तद्व्यपदेशं च ।।५।। नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानमिति चेत् ।।६।। तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ।।७।। ऐकशब्द्ये परार्थवत् ।।८।। तद्गुणास्तु विधीयेरन्न विभागाद्विधानार्थे, न चेदन्येन शिष्टाः ।।९।। बर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः ।।१०।। प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् ।।११।। तथनिर्मन्थ्ये ।।१२।। वैश्वदेवे विकल्प इति चेत् ।।१३।। न वा प्रकरणात् प्रत्यक्षविधानाच्च, नहि प्रकरणं द्रव्यस्य ।।१४।। मिथश्चानर्थसम्बन्धः ।।१५।। परार्थत्वाद् गुणानाम् ।।१६।। पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये ।।१७।। गुणस्य तु विधानार्थे, तद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति ।।१८।। तच्छेषो नोपपद्यते ।।१९।। अविभागाद्विधानार्थे स्तुत्यर्थे नोपपद्येरन् ।।२०।। कारणं स्यादिति चेत् ।।२१।। आनर्थक्यादकारणं; कर्त्तुर्हि कारणानि गुणार्थो हि विधीयते ।।२२।। तत्सिद्धिः ।।२३।। जातिः ।।२४।। सारूप्यात् ।।२५।। प्रशंसा ।।२६।। भूमा ।।२७।। लिङ्गसमवायात् ।।२८।। सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ।।२९।। अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् ।।३०।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।। इति प्रथमोऽध्यायः ।।

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते ।।१।। सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ।।२।। येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि; तस्मात् तेभ्यः पराकाङ्क्षाभूतत्वात्स्वे प्रयोगे ।।३।। येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते, तान्याख्यातानि, तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताऽऽश्रितत्वात् प्रयोगस्य ।।४।। चोदना, पुनरारम्भः ।।५।। तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ।।६।। यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ।।७।। यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते, गुणस्तत्र प्रतीयेत, तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् ।।८।। धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिवृत्तेः प्रयाजवत् ।।९।। तुल्यश्रुतित्वाद्वेतरैः सधर्मः स्यात् ।।१०।। द्रव्योपदेश इति चेत् ।।११।। न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात् ।।१२।। स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो, याज्यावद्देवताभिधानत्वात् ।।१३।। अर्थेन त्वपकृष्येत, देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात् ।।१४।। वशावद्वाऽगुणार्थं स्यात् ।।१५।। न, श्रुतिसमवायित्वात् ।।१६।। व्यपदेशभेदाच्च ।।१७।। गुणश्चानर्थकः स्यात् ।।१८।। तथा याज्यापुरोरुचोः ।।१९।। वशायामर्थसमवायात् ।।२०।। यत्रेति वाऽर्थवत्वात् स्यात् ।।२१।। न त्वाम्नातेषु ।।२२।। दृश्यते ।।२३।। अपि वा श्रुतिसंयोगात् प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ।।२४।। शब्दपृथक्त्वाच्च ।।२५।। अनर्थकं च तद्वचनम् ।।२६।। अन्यश्चार्थः प्रतीयते ।।२७।। अभिधानं च कर्मवत् ।।२८।। फलनिर्वृत्तिश्च ।।२९।। विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् ।।३०।। अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ।।३१।। तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ।।३२।। शेषे ब्राह्मणशब्दः ।।३३।। अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वामाम्नातेषु विभागः ।।३४।। तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।।३५।। गीतिषु सामाख्या ।।३६।। शेषे यजुःशब्दः ।।३७।। निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ।।३८।। व्यपदेशाच्च ।।३९।। यजूंषि

वा तद्रूपत्वात् ।।४०।। वचनाद्धर्मविशेषः ।।४१।। अर्थाच्च ।।४२।। गुणार्थो व्यपदेशः ।।४३।। सर्वेषामिति चेत् ।।४४।। न, ऋग्व्यपदेशात् ।।४५।। अर्थैकत्वादेकं वाक्यं, साकाङ्क्षंचेद् विभागे स्यात् ।।४६।। समेषु वाक्यभेदः स्यात् ।।४७।। अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ।।४८।। व्यवायान्नानुषज्येत ।।४९।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ।।१।। एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ।।२।। प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ।।३।। विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ।।४।। गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ।।५।। चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्रात् चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्यते ।।६।। व्यपदेशश्च तद्वत् ।।७।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।८।। पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ।।९।। चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ।।१०।। गुणोपबन्धात् ।।११।। प्राये वचनाच्च ।।१२।। आधाराग्निहोत्रमरूपत्वात् ।।१३।। संज्ञोपबन्धात् ।।१४।। अप्रकृतत्वाच्च ।।१५।। चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ।।१६।। द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ।।१७।। अचोदकाश्च संस्काराः ।।१८।। तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद्भेदो द्रव्यगुणीभावात् ।।१९।। संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वाद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ।।२०।। पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदः स्यात् ।।२१।। संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ।।२२।। गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे, वाक्ययोः समत्वात् ।।२३।। अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ।।२४।। फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ।।२५।। अतुल्यत्वात्तु वाक्योर्गुणे तस्य प्रतीयेत ।।२६।। समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ।।२७।। सौभरे, पुरुषश्रुतेर्निधनं, कामसंयोगः ।।२८।। सर्वस्य वोक्तकामत्वात्तस्मिन्कामश्रुतिः स्यान्निधानार्था पुनः श्रुतिः ।।२९।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

गुणस्तु क्रतुसंयोगात् कर्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोगस्याशेषभूतत्वात् ।।१।। एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं सगुणवाक्यत्वात् ।।२।। अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते ।।३।। आधाने सर्वशेषत्वात् ।।४।। अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ।।५।। अगुणाच्च कर्मचोदना ।।६।। समाप्तं च फले वाक्यम् ।।७।। विकारो वा प्रकरणात् ।।८।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।९।। गुणात्संज्ञोपबन्धः ।।१०।। समाप्तिरविशिष्टा ।।११।। संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ।।१२।। यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिमूलत्वात् ।।१३।। यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात् ।।१४।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१५।। विशये प्रायदर्शनात् ।।१६।। अर्थवादोपपत्तेश्च ।।१७।। संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ।।१८।। पार्त्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः

।।१६।। अद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेषः स्यात् ।।२०।। अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत ।।२१।। द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ।।२२।। तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ।।२३।। प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ।।२४।। फलं चाकर्मसन्निधौ ।।२५।। सन्निधौ त्वविभागात्फलार्थेन पुनः श्रुतिः ।।२६।। आग्नेयसूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ।।२७।। अविभागात्तु कर्मणो द्विरुक्तेर्न विधीयते ।।२८।। अन्यार्था वा पुनः श्रुतिः ।।२६।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ।।१।। कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् ।।२।। लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत् स्यात् ।।३।। व्यपवर्गं च दर्शयति कालश्चेत् कर्मभेदः स्यात् ।।४।। अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् ।।५।। विरोधश्चापि पूर्ववत् ।।६।। कर्तुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ।।७।। नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्ताऽन्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ।।८।। एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात् ।।६।। न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात् ।।१०।। सर्वेषां चैककर्म्यं स्यात् ।।११।। कृतकं चाभिधानम् ।।१२।। एकत्वेऽपि परम् ।।१३।। विद्यायां धर्मशास्त्रम् ।।१४।। आग्नेयवत्पुनर्वचनम् ।।१५।। अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ।।१६।। वाक्यासमवायात्, अर्थासन्निधेश्च ।।१७।। न चैकं प्रति शिष्यते ।।१८।। समाप्तिवच्च सम्प्रेक्षा ।।१६।। एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि ।।२०।। प्रायश्चित्तं निमित्तेन ।।२१।। प्रक्रमाद्वा नियोगेन ।।२२।। समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद्यथाज्ञाते प्रतीयेत ।।२३।। लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्न हि तत्र कर्मचोदना तस्माद् द्वादशाह-स्याहारव्यपदेशः स्यात् ।।२४।। द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद्व्यवतिष्ठेत, तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ।।२५।। विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात् ।।२६।। सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेति स्यात् ।।२७।। उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ।।२८।। गुणार्था वा पुनः श्रुतिः ।।२६।। प्रत्ययञ्चापि दर्शयति ।।३०।। अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ।।३१।। विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्ये, तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् ।।३२।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।। इति द्वितीयोऽध्यायः ।।

तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अथातः शेषलक्षणम् ।।१।। शेषः परार्थत्वात् ।।२।। द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ।।३।। कर्माण्यपि

जैमिनिः, फलार्थत्वात् ।।४।। फलं च पुरुषार्थत्वात् ।।५।। पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ।।६।। तेषामर्थेन सम्बन्धः ।।७।। विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च ।।८।। अर्थलोपादकर्म स्यात् ।।९।। फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावाद्विप्रयोगे स्यात् ।।१०।। द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्येत ।।११।। अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ।।१२।। एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ।।१३।। सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ।।१४।। चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुति प्रतीयेत ।।१५।। संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ।।१६।। व्यवस्था वाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात् तस्य शब्दप्रमाणत्वात् ।।१७।। आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ।।१८।। कर्तृगुणे तु कर्मासमवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ।।१९।। साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण ।।२०।। सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ।।२१।। गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात् ।।२२।। मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ।।२३।। आनन्तर्यमचोदना ।।२४।। वाक्यानां च समाप्तत्वात् ।।२५।। शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत, मिथस्तेषामसम्बन्धात् ।।२६।। व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धाल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः ।।२७।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ।।१।। संस्कारकत्वादचोदितेन स्यात् ।।२।। वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ।।३।। गुणाद्वाऽप्यभिधानं स्यात्सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् ।।४।। तथाह्वानमपीति चेत् ।।५।। न कालविधिश्चोदितत्वात् ।।६।। गुणाभावात् ।।७।। लिङ्गाच्च ।।८।। विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ।।९।। तथोत्थानविसर्जने ।।१०।। सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ।।११।। उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ।।१२।। स देवतार्थस्तत्संयोगात् ।।१३।। प्रतिपत्तिरिति चेत्स्विष्टकृद्वदुभयसंस्कारः स्यात् ।।१४।। कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् ।।१५।। यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ।।१६।। वचनादिति चेत् ।।१७।। प्रकरणविभागादुभे प्रति कृत्स्नशब्दः ।।१८।। लिङ्गक्रमसमाख्यानात्काम्ययुक्तं समाम्नानम् ।।१९।। अधिकारे च मन्त्रविधिस्तदाख्येषु शिष्टत्वात् ।।२०।। तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ।।२१।। अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसम्बन्धात्फलवताह्युपस्थानम् ।।२२।। सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ।।२३।। लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ।।२४।। तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य, चोदितत्वात् ।।२५।। गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात्तयोरेकार्थसंयोगात् ।।२६।। लिङ्गविशेष- निर्देशात्समानविधानेष्वनैन्द्राणाममन्त्रत्वम् ।।२७।। यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ।।२८।। पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ।।२९।। अपनयाद्वा पूर्वस्याऽनुपलक्षणम् ।।३०।। ग्रहणाद्वाऽपनयः स्यात् ।।३१।। पात्नीवते तु पूर्ववत् ।।३२।। ग्रहणाद्वाऽपनीतं स्यात् ।।३३।। त्वष्टारं तूपलक्षयेत्पानात् ।।३४।। अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात् ।।३५।। त्रिंशच्च परार्थत्वात् ।।३६।। वषट्कारश्च कर्तृवत् ।।३७।। छन्दःप्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात् ।।३८।। ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात्स्यात् ।।३९।। एकस्मिन् वा

देवतान्तराद्विभागवत् ।।४०।। छन्दश्च देवतावत् ।।४१।। सर्वेषु वाऽभावादेकछन्दसः ।।४२।। सर्वेषां त्वैकमन्त्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात्सवनाधिकारो हि ।।४३।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ।।१।। वेदो वा प्रायदर्शनात् ।।२।। लिङ्गाच्च ।।३।। धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ।।४।। त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ।।५।। व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ।।६।। न सर्वस्मिन्निवेशात् ।।७।। वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत ।।८।। गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ।।९।। भूयस्त्वेनोभयश्रुति ।।१०।। असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्त्तव्यतार्थित्वात् ।।११।। क्रमश्च देशसामान्यात् ।।१२।। आख्या चैवं तदर्थत्वात् ।।१३।। श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ।।१४।। अहीनो वा प्रकरणाद् गौणः ।।१५।। असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्येत ।।१६।। द्वित्वबहुत्वयुक्तं वा चोदनात्तस्य ।।१७।। पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ।।१८।। न, प्रकृतेरेकसंयोगात् ।।१९।। जाघनी चैकदेशत्वात् ।।२०।। चोदना वाऽपूर्वत्वादेकदेश इति चेत् ।।२१।। न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ।।२२।। सन्तर्दनं प्रकृतौ, क्रयणवदनर्थलोपात् स्यात् ।।२३।। उत्कर्षो वा ग्रहणाद्विशेषस्य ।।२४।। कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ।।२५।। क्रतुतो वाऽर्थवादानुपपत्तेः स्यात् ।।२६।। संस्थाश्च कर्तृवद्धारणार्थाविशेषात् ।।२७।। उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ।।२८।। अविशेषात् स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ।।२९।। स्यादनित्यत्वात् ।।३०।। संख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात् ।।३१।। नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ।।३२।। पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताऽचोदनात्प्रकृतौ ।।३३।। तत्सर्वार्थमविशेषात् ।।३४।। चरौ वाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ स्यात् ।।३५।। चरावपीति चेत् ।।३६।। न, पक्तिनामत्वात् ।।३७।। एकस्मिन्नेकसंयोगात् ।।३८।। धर्मविप्रतिषेधाच्च ।।३९।। अपि वा सद्वितीये स्याद्देवतानिमित्तत्वात् ।।४०।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।४१।। वचनात्सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावात् द्विचरावपेषणं भवति ।।४२।। एकस्मिन्वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न स्यादचोदितत्वात् ।।४३।। हेतुमात्रमदन्तत्वम् ।।४४।। वचनं परम् ।।४५।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

निवीतमिति मनुष्यधर्मः, शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ।।१।। अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ।।२।। विधिस्त्वपूर्वत्वत् स्यात् ।।३।। स प्रायात्कर्म धर्मः स्यात् ।।४।। वाक्यशेषत्वात् ।।५।। तत्प्रकरणे यत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ।।६।। तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसंख्यानादितरस्य तदर्थत्वात् ।।७।। अर्थवादो वा प्रकरणात् ।।८।। विधिना चैकवाक्यत्वात् ।।९।। उपवीतं लिङ्गदर्शनात्सर्वधर्मः स्यात् ।।१०।। परुषि

दितपूर्णघृतविदग्धं च तद्वत् ।।११।। अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ।।१२।। विधिर्वा संयोगान्तरात् ।।१३।। अहीनवत्पुरुषस्तदर्थत्वात् ।।१४।। प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत् ।।१५।। व्यपदेशादपकृष्येत ।।१६।। शंयौ च सर्वपरिदानात् ।।१७।। प्रागुपरोधान्मलवद्वाससः ।।१८।। अन्नप्रतिषेधाच्च ।।१६।। अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ।।२०।। अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात् ।।२१।। वेदसंयोगात् ।।२२।। द्रव्यसंयोगाच्च ।।२३।। स्याद्वाऽस्य संयोगवत्फलेन सम्बन्धस्तस्मात्कर्मैतिशायनः ।।२४।। शेषोऽप्रकरणेऽविशेषात्सर्वकर्मणाम् ।।२५।। होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात् ।।२६।। शेषश्च समाख्यानात् ।।२७।। दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात् ।।२८।। अर्थवादो वाऽनुपपातात्तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत ।।२६।। अचोदितं च कर्मभेदात् ।।३०।। सालिङ्गदार्त्विजे स्यात् ।।३१।। पानव्यापच्च तद्वत् ।।३२।। दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात् ।।३३।। तत्सर्वत्राविशेषात् ।।३४।। स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ।।३५।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।३६।। सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ।।३७।। निरवदानात्तु शेषः स्यात् ।।३८।। उपायो वा तदर्थत्वात् ।।३६।। कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत्स्याद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ।।४०।। शेषदर्शनाच्च ।।४१।। अप्रयोजकत्वादेकस्मात्क्रियेरञ्छेषस्य गुणभूतत्वात् ।।४२।। संस्कृतत्वाच्च ।।४३।। सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।४४।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।४५।। एकस्माच्चेद्याथाकाम्यमविशेषात् ।।४६।। मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात् ।।४७।। भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये ।।४८।। तत्संस्तवाच्च ।।४६।। भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ।।५०।। व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः ।।५१।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

पञ्चमः पादः

आज्याच्च सर्वसंयोगात् ।।१।। कारणाच्च ।।२।। एकस्मिन्समवत्तशब्दात् ।।३।। आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य ।।४।। अशेषत्वात्तु नैवं स्यात्सर्वादानादशेषता ।।५।। साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ।।६।। अक्तत्वाच्च जुह्वं तस्य च होमसंयोगात् ।।७।। चमसवदिति चेत् ।।८।। चोदनाविरोधाद्धविः प्रकल्पनाच्च ।।६।। उत्पन्नाधिकारात्सति सर्ववचनम् ।।१०।। जातिविशेषात्परम् ।।११।। अन्त्यमरेकार्थे ।।१२।। साकम्प्रस्थाय्ये स्विष्टकृदिडञ्च तद्वत् ।।१३।। सौत्रामण्यां च ग्रहेषु ।।१४।। तद्वच्च शेषवचनम् ।।१५।। द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन् ।।१६।। अविभागाच्च शेषस्य सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ।।१७।। ऐन्द्रवायवे तु वचनात्प्रतिकर्म भक्षः स्यात् ।।१८।। सोमेऽवचनाद् भक्षो न विद्यते ।।१६।। स्याद्वाऽन्यार्थदर्शनात् ।।२०।। वचनानि त्वपूर्वत्वात्तस्माद्यथोपदेशं स्युः ।।२१।। चमसेषु समाख्यानात्संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ।।२२।। उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ।।२३।। सर्वे वा सर्वसंयोगात् ।।२४।। स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगाद्बहुश्रुतेः ।।२५।। सर्वे तु वेदसंयोगात्कारणादेकदेशे स्यात् ।।२६।। ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ।।२७।। हारियोजने वा सर्वसंयोगात् ।।२८।। चमसिनां वा सन्निधानात् ।।२६।। सर्वेषां तु विधित्वात्तदर्था चमसिश्रुतिः ।।३०।। वषट्काराच्च भक्षयेत् ।।३१।। होमाऽभिषवाभ्यां च ।।३२।। प्रत्यक्षोप- देशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ।।३३।। स्याद्वा कारणभावादनिर्देशश्चमसानां कर्तुस्तद्वचनत्वात् ।।३४।। चमसे चान्यदर्शनात् ।।३५।। एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ।।३६।। होता वा मन्त्रवर्णात् ।।३७।। वचनाच्च ।।३८।। कारणानुपूर्व्याच्च ।।३६।। वचनादनुज्ञातभक्षणम् ।।४०।। तदुपहूत उपहूयस्वेत्यनेनानुज्ञा- पयेल्लिङ्गात् ।।४१।।

तत्रार्थात्प्रतिवचनम् ।।४२।। तदेकपात्राणां समवायात् ।।४३।। याज्यापनयेनापनीतो भक्षः प्रवरवत् ।।४४।। यष्टुर्वा कारणागमात् ।।४५।। प्रवृत्तत्वात्प्रवरस्यानपायः ।।४६।। फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ।।४७।। इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।४८।। होमात् ।।४६।। चमसेश्च तुल्यकालत्वात् ।।५०।! लिङ्गदर्शनाच्च ।।५१।। अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ।।५२।। ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ।।५३।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य पञ्चमः पादः ।।

षष्ठः पादः

सर्वार्थमप्रकरणात् ।।१।। प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् ।।२।। तद्वर्जं तु वचनप्राप्ते ।।३।। दर्शनादिति चेत् ।।४।। चोदनैकार्थ्यात् ।।५।। उत्पत्तिरिति चेत् ।।६।। न तुल्यत्वात् ।।७।। चोदनार्थकात्स्न्यात्तु मुख्यविप्रतिषेधात्प्रकृत्यर्थः ।।८।। प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विराधि स्यात् ।।६।। नैमित्तकं तु, प्रकृतौ तद्विकारः, संयोगविशेषात् ।।१०।। इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ।।११।। न वा तासां तदर्थत्वात् ।।१२।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१३।। तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यवादाः ।।१४।। सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ।।१५।। तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् स्यात् ।।१६।। न वा तासां तदर्थत्वात् ।।१७।। तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ।।१८।। स्थानाच्च पूर्वस्य ।।१६।। श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक्श्रुतिर्गुणार्था ।।२०।। तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ।।२१।। नैकदेशत्वात् ।।२२।। अर्थेनेति चेत् ।।२३।। न, श्रुतिविप्रतिषेधात् ।।२४।। स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।२५।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२६।। अचोदना गुणार्थेन ।।२७।। दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात् ।।२८।। प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ।।२६।। तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ।।३०।। रशना च लिङ्गदर्शनात् ।।३१।। आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैः सन्निधानात् ।।३२।। संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् ।।३३।। निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत ।।३४।। अग्न्यङ्गमप्रकरणे तद्वत् ।।३५।। नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात् ।।३६।। प्रतिनिधिश्च तद्वत् ।।३७।। तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् ।।३८।। अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ।।३६।। नियमार्था गुणश्रुतिः ।।४०।। संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् ।।४१।। व्यपदेशश्च तुल्यवत् ।।४२।। विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य समत्वात् ।।४३।। अपि वा द्विरुक्तत्वात्प्रकृतेर्भविष्यन्तीति ।।४४।। वचनात्तु समुच्चयः ।।४५।। प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् ।।४६।। गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ।।४७।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य षष्ठः पादः ।।

सप्तमः पादः

प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ।।१।। सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ।।२।। आरादपीति चेत् ।।३।। न, तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात् ।।४।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।५।। फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य

।।६।। चिकीर्षया च संयोगात् ।।७।। तथाऽभिधानेन ।।८।। तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वचिकीर्षा स्यात् ।।९।। गुणाऽभिधानात्सर्वार्थमभिधानम् ।।१०।। दीक्षादक्षिणं तु वचनात्प्रधानस्य ।।११।। निवृत्तिदर्शनाच्च ।।१२।। तथा यूपस्य वेदिः ।।१३।। देशमात्रं वा शिष्येणैकवाक्यत्वात् ।।१४।। सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्द्धानयोर्वचनात्सामिधेनीनाम् ।।१५।। देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ।।१६।। समाख्यानं च तद्वत् ।।१७।। शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् ।।१८।। उत्सर्गे तु प्रधानत्वाच्छेषकारी प्रधानस्य तस्मादन्यः स्वयं वा स्यात् ।।१९।। अन्यो वा स्यात् परिक्रयाम्नानाद्विप्रतिषेधात्प्रत्यगात्मनि ।।२०।। तत्रार्थात्कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ।।२१।। अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्युः ।।२२।। एकस्य कर्मभेदादिति चेत् ।।२३।। नोत्पत्तौ हि ।।२४।। चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात् ।।२५।। उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः ।।२६।। दशत्वं लिङ्गदर्शनात् ।।२७।। शमिता च शब्दभेदात् ।।२८।। प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात् ।।२९।। उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ।।३०।। विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ।।३१।। कर्मकार्यात्सर्वेषामृत्विक्त्वमविशेषात् ।।३२।। न वा परिसंख्यानात् ।।३३।। पक्षेणेति चेत् ।।३४।। न सर्वेषामधिकारः ।।३५।। नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ।।३६।। उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ।।३७।। स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ।।३८।। ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात् ।।३९।। तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात्, संयोगस्यार्थवत्त्वात् ।।४०।। तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ।।४१।। तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ।।४२।। प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ।।४३।। पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ।।४४।। प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ।।४५।। चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ।।४६।। अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात् ।।४७।। चमसे चान्यदर्शनात् ।।४८।। अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ।।४९।। वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ।।५०।। तद्गुणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात्सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे ।।५१।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य सप्तमः पादः ।।

अष्टमः पादः

स्वामिकर्मपरिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ।।१।। वचनादितरेषां स्यात् ।।२।। संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद्व्यतिष्ठेरन् ।।३।। याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात्कर्मवत् ।।४।। व्यपदेशाच्च ।।५।। गुणत्वेन तस्य निर्देशः ।।६।। चोदनां प्रति भावाच्च ।।७।। अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः ।।८।। तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ।।९।। वाक्यशेषश्च तद्वत् ।।१०।। वचनादितरेषां स्यात् ।।११।। गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ।।१२।। तथा कामोऽर्थसंयोगात् ।।१३।। व्यपदेशादितरेषां स्यात् ।।१४।। मन्त्राश्चाऽकर्मकारणास्तद्वत् ।।१५।। विप्रयोगे च दर्शनात् ।।१६।। द्व्याम्नातेषूभौ द्व्याम्नानस्याऽर्थवत्त्वात् ।।१७।। ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति ।।१८।। याजमाने समाख्यानात्कर्माणि याजमानं स्युः ।।१९।। अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम् ।।२०।। विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात् ।।२१।। प्रैषेषु च पराधिकारात् ।।२२।। अध्वर्युस्तु दर्शनात् ।।२३।। गौणो वा कर्मसामान्यात् ।।२४।। ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात् ।।२५।। स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ।।२६।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२७।। कर्मार्थं तु फलं तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्त्वात् ।।२८।। व्यपदेशाच्च ।।२९।। द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाऽविशेषात् सर्वकर्मणाम् ।।३०।। निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्याऽनधिकारः ।।३१।। विरोधे च

श्रुतिविशेषाद्व्यक्तः शेषे ।।३२।। अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात् ।।३३।। विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् ।।३४।। मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात् ।।३५।। सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम् ।।३६।। आधानेऽपि तथेति चेत् ।।३७।। नाऽप्रकरणत्वादङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ।।३८।। तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् ।।३९।। सर्वेषां वाऽविशेषात् ।।४०।। न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम् ।।४१।। मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् ।।४२।। भक्तिरसन्निधावन्याय्येति चेत् ।।४३।। स्यात् प्रकृतिलिङ्गाद्वैराजवत् ।।४४।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्याष्टमः पादः ।।

।। इति तृतीयोऽध्यायः ।।

चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा ।।१।। यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात् ।।२।। तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय शास्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वान्न च द्रव्यं चिकीर्ष्यते, तेनार्थेनाभिसम्बन्धात् क्रियायां पुरुषश्रुतिः ।।३।। अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुति फलानि स्युः ।।४।। अपि वा कारणाऽग्रहणे तदर्थमर्थस्याऽनभिसम्बन्धात् ।।५।। तथा च लोकभूतेषु ।।६।। द्रव्याणि त्वविशेषेणाऽऽनर्थक्यात् प्रदीयेरन् ।।७।। स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्तस्माद्यथाश्रुति स्युः ।।८।। चोद्यन्ते चार्थकर्मसु ।।९।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१०।। तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् ।।११।। एकश्रुतित्वाच्च ।।१२।। प्रतीयत इति चेत् ।।१३।। नाऽशब्दं तत्प्रमाणत्वात्पूर्ववत् ।।१४।। शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तद् दृश्यते तस्य ज्ञानं हि यथाऽन्येषाम् ।।१५।। तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ।।१६।। तथा च लिङ्गम् ।।१७।। आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत ।।१८।। चोदनायां त्वनारम्भो विभक्तत्वान्न ह्यन्येन विधीयते ।।१९।। स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां भावोऽर्थे च गुणभूतत्वाऽऽश्रयाद्धिगुणीभावः ।।२०।। अर्थे समवैषम्यमतो द्रव्यकर्मणाम् ।।२१।। एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् ।।२२।। संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात् ।।२३।। मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च ।।२४।। पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् ।।२५।। अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात्तदर्थो हि विधीयते ।।२६।। पशावना- लम्भाल्लोहितशकृतोरकर्मत्वम् ।।२७।। एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगात् ।।२८।। निर्देशात्तस्यान्यदर्थादिति चेत् ।।२९।। न शेषसन्निधानात् ।।३०।। कर्म कार्यात् ।।३१।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।३२।। अभिधारणे विप्रकर्षादनुयाजवत् पात्रभेदः स्यात् ।।३३।। न वाऽपात्रत्वादपात्रत्वं त्वेकदेशत्वात् ।।३४।। हेतुत्वाच्च सहप्रयोगस्य ।।३५।। अभावदर्शनाच्च ।।३६।। सति सव्यवचनम् ।।३७।। न तस्येति चेत् ।।३८।। स्यात्तस्य मुख्यत्वात् ।।३९।। समानयनं तु मुख्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ।।४०।। वचने हि हेत्वसामर्थ्यम् ।।४१।। तत्रोत्पत्तिरविभक्ता स्यात् ।।४२।। तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् ।।४३।। औपभृतं तथेति चेत् ।।४४।। स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः ।।४५।। तदष्टसंख्यं श्रवणात् ।।४६।। अनुग्राहाच्च जौहवस्य ।।४७।। द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं श्रवणं च समानयने ।।४८।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ।।१।। जात्यन्तराच्च शङ्कते ।।२।। तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात् ।।३।। शकलश्रुतेश्च ।।४।। प्रतियूपं च दर्शनात् ।।५।। आदाने करोतिशब्दः ।।६।। शाखायां तत्प्रधानत्वात् ।।७।। शाखायां तत्प्रधानत्वादुपवेषेण विभागः स्याद्वैषम्यात् ।।८।। श्रुत्यपायाच्च ।।९।। हरणे तु जुहोतिर्योगसामान्याद् द्रव्याणां चार्थशेषत्वात् ।।१०।। प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ।।११।। अर्थेऽपीति चेत् ।।१२।। न तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात् ।।१३।। उत्पत्त्यसंयोगात्प्रणीतानामाज्यवद्विभागः स्यात् ।।१४।। संयवनार्थानां या प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात् ।।१५।। प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात् ।।१६।। अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात्स्रग्वत् ।।१७।। कर्मयुक्ते च दर्शनात् ।।१८।। उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तत्, श्रुतिहेतुत्वात्तस्यार्थान्तरगमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात् ।।१९।। सौमिके च कृतार्थत्वात् ।।२०।। अर्थकर्म वाऽभिधानसंयोगात् ।।२१।। प्रतिपत्तिर्वा तन्न्यायत्वाद्देशार्थाऽवभृथश्रुतिः ।।२२।। कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात् ।।२३।। नियमार्था वाः श्रुतिः ।।२४।। तथा द्रव्येषु गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात् ।।२५।। संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ।।२६।। यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात् ।।२७।। तदुक्तेः श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात् ।।२८।। विधेः कर्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात् ।।२९।। अपि वोत्पत्तिसंयोगादर्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्वहेतुः स्यात् ।।३०।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ।।१।। उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ।।२।। फलं तु तत्प्रधानायाम् ।।३।। नैमित्तिके विकारत्वात्क्रतुप्रधानमन्यत्स्यात् ।।४।। एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् ।।५।। शेष इति चेत् ।।६।। नार्थपृथक्त्वात् ।।७।। द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात् ।।८।। पृथक्त्वाद्व्यवतिष्ठेत ।।९।। चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत न ह्यशब्दं प्रतीयते ।।१०।। अपि वाऽऽम्नानसामर्थ्याच्चोदनार्थेन गम्येतार्थानामर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतोऽप्यसमर्थानामानन्तर्येऽप्यसम्बन्धस्तस्माच्छ्रुत्येकदेशः सः ।।११।। वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् ।।१२।। तत्सर्वार्थमनादेशात् ।।१३।। एकं वा चोदनैकत्वात् ।।१४।। स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ।।१५।। प्रत्ययाच्च ।।१६।। क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्ष्णाजिनिः ।।१७।। फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात् ।।१८।। अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात् ।।१९।। काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो यथा यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थः ।।२०।। वीते च कारणे नियमात् ।।२१।। कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते ।।२२।। अङ्गे गुणत्वात् ।।२३।। वीते च नियमस्तदर्थम् ।।२४।। सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात् ।।२५।। फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंयोगात् ।।२६।। तत्र सर्वेऽविशेषात् ।।२७।। योगसिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पत्त्यसंयोगात् ।।२८।। समवाये चोदनासंयोगस्यार्थवत्त्वात् ।।२९।। कालश्रुतौ काल इति चेत् ।।३०।। नासमवायात्प्रयोजनेन स्यात् ।।३१।। उभयार्थमिति चेत् ।।३२।। न शब्दैकत्वात् ।।३३।। प्रकरणादिति चेत् ।।३४।। नोत्पत्तिसंयोगात् ।।३५।। अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात्प्रयोजनेन सम्बन्धात् ।।३६।। उत्पत्तिकालविषये

कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात् ।।३७।। फलसंयोगस्त्वचोदिते, न स्यादशेषभूतत्वात् ।।३८।। अङ्गानां तूपघातसंयोगे निमित्तार्थः ।।३६।। प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम् ।।४०।। अप्रवृत्ते तु चोदना तत्सामान्यत्स्वकाले स्यात् ।।४१।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्त्वम् ।।१।। अपि वाऽङ्गमनिज्याः स्युस्ततो विशिष्टत्वात् ।।२।। मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ।।३।। सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्न हि तस्य प्रकरणं देशार्थमुच्यते मध्ये ।।४।। प्रकरणाविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभयम् ।।५।। अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनाद्विशेषस्य ।।६।। फलवद्वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात् ।।७।। दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् ।।८।। नित्यश्च ज्येष्ठशब्दत्वात् ।।६।। सार्वरूप्याच्च ।।१०।। नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः कर्मण्यसम्बन्धाद्भङ्गित्वाच्चान्तरायस्य ।।११।। वैश्वानरश्च नित्यः स्यान्नित्यः समानसंख्यत्वात् ।।१२।। पक्षे वोत्पन्नसंयोगात् ।।१३।। षट्चितिः पूर्ववत्त्वात् ।।१४।। ताभिश्च तुल्यसंख्यानात् ।।१५।। अर्थवादोपपत्तेश्च ।।१६।। एकचितिर्वा स्यादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन ।।१७।। विप्रतिषेधात्ताभिः समानसंख्यत्वम् ।।१८।। पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात् ।।१६।। तुल्यवच्चाप्रसंख्यानात् ।।२०।। विप्रतिषिद्धे च दर्शनात् ।।२१।। पश्वङ्गं रशना स्यात्तदागमे विधानात् ।।२२।। यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात् ।।२३।। अर्थवादश्च तदर्थवत् ।।२४।। स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात् ।।२५।। निष्क्रयश्च तदङ्गवत् ।।२६।। पश्वङ्गं वार्थकर्मत्वात् ।।२७।। भक्त्या निष्क्रियवादः स्यात् ।।२८।। दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् ।।२६।। अपि वाङ्गानि कानिचिद्येष्वङ्गत्त्वेन संस्तुतिः सामान्यादभिसंस्तवः ।।३०।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।३१।। अवशिष्टं तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात् ।।३२।। नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् ।।३३।। पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः श्रुतितो व्यपदेशाच्च, तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्वं तत्सन्निधावसंयुक्तं तदङ्गं स्याद् भागित्वात् कारणस्याश्रुतेश्चान्यसम्बन्धः ।।३४।। गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते नाङ्गेषूपपद्यन्ते ।।३५।। तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाङ्गिसम्बन्धः ।।३६।। उत्पत्तावभिसम्बन्ध-स्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात् ।।३७।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।३८।। ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् ।।३६।। गुणानां तूत्पत्तिवाक्येन सम्बन्धात् कारणश्रुतिस्तस्मात् सोमः प्रधानं स्यात् ।।४०।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।४१।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।। इति चतुर्थोऽध्यायः ।।

पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रधानत्वात् ।।१।। अर्थाच्च ।।२।। अनियमोऽन्यत्र ।।३।। क्रमेण वा नियम्येत, क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् ।।४।। अशाब्द इति चेत् स्याद्वाक्यशब्दत्वात् ।।५।। अर्थकृते वानुमानं

स्यात्क्रत्वेकत्वे, परार्थत्वात्स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धस्तस्मात्स्वशब्दमुच्यते ।।६।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।७।। प्रवृत्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ।।८।। सर्वमिति चेत् ।।९।। नाकृतत्वात् ।।१०।। क्रत्वन्तरवदिति चेत् ।।११।। नासमवायात् ।।१२।। स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ।।१३।। मुख्यक्रमेण वाङ्गानां तदर्थत्वात् ।।१४।। प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वाद्यथाक्रमं प्रतीयेत ।।१५।। मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात्प्रयोगरूपासामर्थ्यात् तस्मादुत्पत्तिदेशः सः ।।१६।। तद्वचनाद्विकृतौ यथाप्रधानं स्यात् ।।१७।। विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद्यथाप्रकृति ।।१८।। विकृतिः प्रकृतिधर्मत्वात्तत्काला स्याद्यथाशिष्टम् ।।१९।। अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्यः क्रियेत, तत्र विधेरनुमानात्प्रकृतिधर्मलोपः स्यात् ।।२०।। कालोत्कर्ष इति चेत् ।।२१।। न, तत्सम्बन्धात् ।।२२।। अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्यथोक्तमुत्कर्षे स्यात् ।।२३।। तदादि वाऽभिसम्बन्धात्तदन्तमपकर्षे स्यात् ।।२४।। प्रवृत्या कृतकालानाम् ।।२५।। शब्दविप्रतिषेधाच्च ।।२६।। असंयोगात्तु वैकृतं तदेव प्रतिकृष्येत ।।२७।। प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेदसंयोगात् ।।२८।। तथाऽपूर्वम् ।।२९।। सान्तपनीया तूत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद्वैगुण्यात् ।।३०।। अव्यवायाच्च ।।३१।। असम्बन्धात्तु नोत्कर्षेत् ।।३२।। प्रापणाच्च निमित्तस्य ।।३३।। सम्बन्धात् सवनोत्कर्षः ।।३४।। षोडशी चोक्थ्यसंयोगात् ।।३५।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्वकर्म स्यात् ।।१।। सर्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्वत्वात् ।।२।। कारणादभ्यावृत्तिः ।।३।। मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु चैकैन ।।४।। सर्वाणि त्वेककार्यत्वादेषां तद्गुणत्वात् ।।५।। संयुक्ते तु प्रक्रमात्तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात् ।।६।। वचनात्तु परिव्याणान्तमञ्जनादिः स्यात् ।।७।। कारणाद्वाऽनवसर्गः स्याद्यथा पात्रवृद्धिः ।।८।। न वा शब्दकृतत्वान्न्यायमात्रमितरदर्थात्पात्रविवृद्धिः ।।९।। पशुगणे तस्य तस्यापवर्जयेत् पश्वेकत्वात् ।।१०।। दैवतैर्वैककर्म्यात् ।।११।। मन्त्रस्य चार्थवत्वात् ।।१२।। नानाबीजेष्वेकमुलूखलं विभवात् ।।१३।। विवृद्धिर्वा नियमानुपूर्व्यस्य तदर्थत्वात् ।।१४।। एकं वा तण्डुलभावाद्धन्तेस्तदर्थत्वात् ।।१५।। विकारे त्वनुयाजानां पात्रभेदोऽर्थभेदात् स्यात् ।।१६।। प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचोदितस्य शेषाम्नानम् ।।१७।। मुख्यानन्तर्यमात्रेयस्तेन तुल्यश्रुतित्वादशब्दत्वात्प्राकृतानां व्यवायः स्यात् ।।१८।। अन्ते तु बादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ।।१९।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।२०।। कृतदेशात्तु पूर्वेषां सन्देशः स्यात् तेन प्रत्यक्षसंयोगान्न्यायमात्रमितरत् ।।२१।। प्राकृताच्च पुरस्ताद्यत् ।।२२।। सन्निपातश्चेद्यथोक्तमन्ते स्यात् ।।२३।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

विवृद्धिः कर्मभेदात्पृषदाज्यवत्तस्य तस्योपदिश्येत ।।१।। अपि वा सर्वसंख्यत्वाद्विकारः प्रतीयेत ।।२।। स्वस्थानात्तु विवृध्येरन्कृतानुपूर्व्यत्वात् ।।३।। समिध्यमानवर्ती समिद्धवर्ती चान्तरेण धाय्याः

स्युर्द्यावापृथिव्योरन्तराले समर्हणात् ।।४।। तच्छब्दो वा ।।५।। उष्णिक्ककुभोरन्ते दर्शनात् ।।६।। स्तोमविवृद्धौ बहिष्पवमाने पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः स्युस्तथा हि दृष्टं द्वादशाहे ।।७।। पर्यास इति चान्ताख्या ।।८।। अन्ते वा तदुक्तम् ।।९।। वचनात्तु द्वादशाहे ।।१०।। अतद्विकारश्च ।।११।। तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ।।१२।। अन्ते तूत्तरयोर्दध्यात् ।।१३।। अपि वा गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु वचनात् ।।१४।। ग्रहेष्टिक्रमौपानुवाक्यं सवनचितिशेषः स्यात् ।।१५।। क्रत्वग्निशेषो वा चोदितत्वादचोदनानुपूर्वस्य ।।१६।। अन्ते स्युरव्यवायात् ।।१७।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१८।। मध्यमायां तु वचनाद् ब्राह्मणवत्यः ।।१९।। प्राग्लोकम्पृणायास्तस्याः सम्पूरणार्थत्वात् ।।२०।। संस्कृते कर्म संस्काराणां तदर्थत्वात् ।।२१।। अनन्तरं व्रतं तद्भूतत्वात् ।।२२।। पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् ।।२३।। अर्थवादो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ।।२४।। न्यायविप्रतिषेधाच्च ।।२५।। सिञ्चिते त्वग्निचियुक्तं प्रापणान्निमित्तस्य ।।२६।। क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात् ।।२७।। अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात् ।।२८।। परेणाऽवेदनाद्दीक्षितः स्यात्, सर्वैर्दीक्षाभिसम्बन्धात् ।।२९।। इष्ट्यन्ते वा तदर्थो ह्यविशेषार्थसम्बन्धात् ।।३०।। समाख्यानं च तद्वत् ।।३१।। अङ्गवत्क्रतूनामानुपूर्व्यम् ।।३२।। न वाऽसम्बन्धात् ।।३३।। काम्यत्वाच्च ।।३४।। आनर्थक्यान्नेति चेत् ।।३५।। स्याद्विद्यार्थत्वाद्यथा परेषु सर्वस्वारात् ।।३६।। य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् ।।३७।। लिङ्गाच्च ।।३८।। अथान्येनेति संस्थानां सन्निधानात् ।।३९।। तत्प्रकृतेर्वाऽऽपत्तिविहारौ हि न तुल्येषूपपद्येते ।।४०।। प्रशंसा च विहरणाभावात् ।।४१।। विधिप्रत्ययाद्वा न ह्यकस्मात् प्रशंसा स्यात् ।।४२।। एकस्तोमे वा क्रतुसंयोगात् ।।४३।। सर्वेषां वा चोदनाविशेषात् प्रशंसा स्तोमानाम् ।।४४।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

क्रमको योऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्च ।।१।। अवदानाभिधारणाऽऽसादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्या स्यात् ।।२।। यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात् ।।३।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।४।। वचनादिष्टिपूर्वत्वम् ।।५।। सोमश्चैकेषामग्न्याधेयस्यर्तुनक्षत्राऽतिक्रमवचनात् तदन्तेनानर्थकं हि स्यात् ।।६।। तदर्थवचनाच्च नाविशेषात्तदर्थत्वम् ।।७।। अयक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां कालविधानादानन्तर्याद्विशङ्का स्यात् ।।८।। इष्टिरयक्ष्यमाणस्य तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम् ।।९।। उत्कर्षाद् ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् ।।१०।। पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ।।११।। सर्वस्य चैककर्मत्वात् ।।१२।। स्याद्वा विधिस्तदर्थेन ।।१३।। प्रकरणात्तु कालः स्यात् ।।१४।। स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् ।।१५।। अपनयो वाऽऽधानस्य सर्वकालत्वात् ।।१६।। पौर्णमास्यूर्ध्वं सोमाद्ब्राह्मणस्य वचनात् ।।१७।। एवं शब्दसामर्थ्यात्प्राक् कृत्स्नविधानम् ।।१८।। पुरोडाशस्त्वनिर्देशे तद्युक्ते देवताभावात् ।।१९।। आज्यमपीति चेत् ।।२०।। न मिश्रदेवतात्वादैन्द्राग्नवत् ।।२१।। विकृतेः प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा विकृतिस्तयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।।२२।। द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम् ।।२३।। वचनाद्वैककाल्यं स्यात् ।।२४।। सान्नाय्याग्नीषोमीयविकारादूर्ध्वं सोमात्प्रकृतिवत् ।।२५।। तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्याम् ।।२६।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।। इति पञ्चमोऽध्यायः ।।

षष्ठोऽध्यायः

प्रथमः पादः

द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाऽभिसम्बन्धः ।।१।। असाधकं तु तादर्थ्यात् ।।२।। प्रत्यर्थं चाऽभिसंयोगात् कर्मतो ह्यभिसम्बन्धः, तस्मात्कर्मोपदेशः स्यात् ।।३।। फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ।।४।। कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कात्स्न्र्येन गम्यते ।।५।। लिङ्गविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायनः ।।६।। तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ।।७।। जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याऽविशिष्टत्वात् ।।८।। चोदितत्वाद्यथाश्रुति ।।९।। द्रव्यवत्वात्तु पुंसां स्याद् द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयाभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात् ।।१०।। तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ।।११।। तादर्थ्यात्कर्मतादर्थ्यम् ।।१२।। फलोत्साहाऽविशेषात्तु ।।१३।। अर्थेन च समवेतत्वात् ।।१४।। क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् ।।१५।। स्ववत्तामपि दर्शयति ।।१६।। स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् ।।१७।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१८।। क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ।।१९।। फलार्थित्वात्तु स्वामित्वेनाऽभिसम्बन्धः ।।२०।। फलवत्तां च दर्शयति ।।२१।। द्व्याधानं च द्वियज्ञवत् ।।२२।। गुणस्य तु विधानत्वात्पत्न्या द्वितीयशब्दः स्यात् ।।२३।। तथा यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात् ।।२४।। चातुर्वर्ण्यमविशेषात् ।।२५।। निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः ।।२६।। निमित्तार्थेन बादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारः स्यात् ।।२७।। अपि वाऽन्यार्थदर्शनाद्यथाश्रुति प्रतीयेत ।।२८।। निर्देशात्तु पक्षे स्यात् ।।२९।। वैगुण्यान्नेति चेत् ।।३०।। न काम्यत्वात् ।।३१।। संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ।।३२।। अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत ।।३३।। गुणर्थित्वान्नेति चेत् ।।३४।। संस्कारस्य तदर्थत्वाद्विद्यायां पुरुषश्रुतिः ।।३५।। विद्यानिर्देशान्नेति चेत् ।।३६।। अवैद्यत्वादभावः कर्मणि स्यात् ।।३७।। तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ।।३८।। त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नः कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ।।३९।। अनित्यत्वात्तु नैवं स्यादर्थाद्धि द्रव्यसंयोगः ।।४०।। अङ्गहीनश्च तद्धर्मा ।।४१।। उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् ।।४२।। अत्र्यार्षेयस्य हानं स्यात् ।।४३।। वचनाद्रथकारस्याधाने सर्वशेषत्वात् ।।४४।। न्यायो वा कर्मसंयोगाच्छूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात् ।।४५।। अकर्मत्वात्तु नैवं स्यात् ।।४६।। आनर्थक्यं च संयोगात् ।।४७।। गुणार्थमिति चेत् ।।४८।। उक्तमनिमित्तत्वम् ।।४९।। सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्र-वर्णात् प्रतीयेरन् ।।५०।। स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात् ।।५१।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।५२।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

पुरुषार्थैकसिद्धित्वात्तस्य तस्याधिकारः स्यात् ।।१।। अपि वोत्पत्तिसंयोगाद्यथा स्यात् सत्त्वदर्शनं तथाभावोऽविभागे स्यात् ।।२।। प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात् ।।३।। प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत् ।।४।। तादर्थ्ये न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वात्कर्तुः प्रधानभूतत्वात् ।।५।। अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात् प्रयोगायोपदिश्येत प्रत्यर्थं हि विधिश्रुतिर्विषाणवत् ।।६।। अन्यस्यापीति चेत् ।।७।। अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः ।।८।। फलकामो निमित्तमिति चेत् ।।९।। न; नित्यत्वात् ।।१०।। कर्म तथेति

चेत् ।।११।। न समवायात् ।।१२।। प्रक्रमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात् ।।१३।। फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथानुपक्रान्ते ।।१४।। नियमो वा तन्निमित्तत्वात्कर्तुस्तत्कारणं स्यात् ।।१५।। लोके कर्मणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम् ।।१६।। अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम् ।।१७।। अशास्त्रात्तूपसम्प्राप्तिः शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं तस्मादर्थेन गम्येताप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत् ।।१८।। देवताश्रये च ।।१९।। प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात्क्रिया स्यात् प्रतिषिद्धानां विभक्तत्वादकर्मणाम् ।।२०।। शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते, तयोरसमवायित्वात्तादर्थ्ये विध्यतिक्रमः ।।२१।। तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेरन् ।।२२।। अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्तेरन् ।।२३।। अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो विधीयते ।।२४।। एतस्मिन्नसम्भवन्नर्थात् ।।२५।। न कालेभ्य उपदिशयन्ते ।।२६।। दर्शनात् काललिङ्गानां कालविधानम् ।।२७।। तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्तेत ।।२८।। तथा हि लिङ्गदर्शनम् ।।२९।। तथान्तः क्रतुप्रयुक्तानि ।।३०।। आचारादगृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात् ।।३१।। ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात् ।।३२।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथाभूतोपदेशात् ।।१।। अपि वाऽप्येकदेशे स्यात्प्रधाने ह्यर्थनिवृत्तिर्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ।।२।। तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषः स्यात् प्रधानेनाऽभिसम्बन्धात् ।।३।। कर्माऽभेदं तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात् सर्वेषामुपदेशः स्यात् ।।४।। अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्यापि प्रयोगे स्याद्यथा क्रत्वन्तरेषु ।।५।। विध्यपराधे च दर्शनात्समाप्तेः ।।६।। प्रायश्चित्तविधानाच्च ।।७।। काम्येषु चैवमर्थित्वात् ।।८।। असंयोगात्तु नैवं स्याद्विधेः शब्दप्रमाणत्वात् ।।९।। अकर्मणि चाप्रत्यवायात् ।।१०।। क्रियाणामाश्रितत्वाद् द्रव्यान्तरे विभागः स्यात् ।।११।। अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दाविभागाच्च गोत्ववदैककर्म्यं स्यान्नामधेयं च सत्त्ववत् ।।१२।। श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावेऽनागमोऽन्यस्याऽशिष्टत्वात् ।।१३।। क्वचिद्विधानाच्च ।।१४।। आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् ।।१५।। नियमार्थः क्वचिद्विधिः ।।१६।। तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि ।।१७।। न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात् ।।१८।। देवतायां च तदर्थत्वात् ।।१९।। प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तच्छ्रुतिः ।।२०।। तथा स्वामिनः फलसमवायात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ।।२१।। बहूनां तु प्रवृत्तावन्यमागमयेदवैगुण्यात् ।।२२।। स स्वामी स्यात्संयोगात् ।।२३।। कर्मकरो वा भृतत्वात् ।।२४।। तस्मिंश्च फलदर्शनात् ।।२५।। स तद्धर्मा स्यात्तत्कर्मसंयोगात् ।।२६।। सामान्यं तच्चिकीर्षा हि ।।२७।। निर्देशात्तु विकल्पे यत्प्रवृत्तम् ।।२८।। अशब्दमिति चेत् ।।२९।। नाऽनङ्गत्वात् ।।३०।। वचनाच्चाऽन्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिरभावादितरस्य ।।३१।। न प्रतिनिधौ समत्वात् ।।३२।। स्याच्छ्रुतिलक्षणे नियतत्वात् ।।३३।। न तदीप्सा हि ।।३४।। मुख्याधिगमे मुख्यमागमो हि तदभावात् ।।३५।। प्रवृत्तेऽपीति चेत् ।।३६।। नानर्थकत्वात् ।।३७।। द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात् ।।३८।। अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेषत्वात् ।।३९।। विधिरप्येकदेशे स्यात् ।।४०।। अपि वाऽर्थस्य शक्यत्वादेकदेशेन निवर्तेतार्थानामविभक्तत्वाद् गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ।।४१।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

शेषाद् द्रव्यवदाननाशे स्यात्तदर्थत्वात् ।।१।। निर्देषाद्वाऽन्यदागमयेत् ।।२।। अपि वा शेषभाजां स्याद्विशिष्टकारणात् ।।३।। निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैः प्रधानवत् ।।४।। सर्वैर्वा समवायात्स्यात् ।।५।। निर्देशस्य गुणार्थत्वम् ।।६।। प्रधाने श्रुतिलक्षणम् ।।७।। अर्थवदिति चेत् ।।८।। न चोदनाविरोधात् ।।९।। अर्थसमवायात्प्रायश्चित्तमेकदेशेऽपि ।।१०।। न त्वशेषे वैगुण्यात्तदर्थं हि ।।११।। स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगान्न हि तस्य गुणार्थत्वेनानित्यत्वात् ।।१२।। गुणानां च परार्थत्वाद्वचनाद्व्यपाश्रयः स्यात् ।।१३।। भेदार्थमिति चेत् ।।१४।। नाशेषभूतत्वात् ।।१५।। अनर्थकश्च सर्वनाशे स्यात् ।।१६।। क्षामे तु सर्वदाहे स्यादेकदेशस्याऽवर्जनीयत्वात् ।।१७।। दर्शनाद्वैकदेशे स्यात् ।।१८।। अन्येन वैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः ।।१९।। तद्धविः शब्दान्नेति चेत् ।।२०।। स्यादिज्यागामी हविः शब्दस्तल्लिङ्गसंयोगात् ।।२१।। यथाश्रुतीति चेत् ।।२२।। न तल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम् ।।२३।। होमाभिषवभक्षणं च तद्वत् ।।२४।। उभाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मशास्त्रम् ।।२५।। पुनराधेयमोदनवत् ।।२६।। द्रव्योत्पत्तेश्चोभयोः स्यात् ।।२७।। पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात् ।।२८।। चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाच्ये हि ।।२९।। स प्रत्यामनेत्स्थानात् ।।३०।। अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् ।।३१।। विश्वजिदप्रवृत्ते भावः कर्मणि स्यात् ।।३२।। निष्क्रयवादाच्च ।।३३।। वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् ।।३४।। कालो वोत्पन्नसंयोगाद्यथोक्तस्य ।।३५।। अर्थापरिमाणाच्च ।।३६।। वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात् तदङ्गं स्यात् ।।३७।। कालस्तु स्यादचोदना ।।३८।। अनर्थकश्च कर्मसंयोगे ।।३९।। अवचनाच्च स्वशब्दस्य ।।४०।। कालश्चेत्सन्नयत्पक्षे तल्लिङ्गसंयोगात् ।।४१।। कालार्थत्वाद्वोभयोः प्रतीयेत ।।४२।। प्रस्तरे शाखाश्रयणवत् ।।४३।। कालविधिर्वोभयोविद्यमानत्वात् ।।४४।। अतत्संस्कारार्थत्वाच्च ।।४५।। तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् ।।४६।। उपवेषश्च पक्षे स्यात् ।।४७।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

पञ्चमः पादः

अभ्युदये कालापराधादिज्याचोदना स्याद्यथा पञ्चशरावे ।।१।। अपनयो वा विद्यमानत्वात् ।।२।। तद्रूपत्वाच्च शब्दानाम् ।।३।। आतञ्चनाभ्यासस्य च दर्शनात् ।।४।। अपूर्वत्वाद्विधानं स्यात् ।।५।। पयोदोषात्पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत् ।।६।। सान्नाय्येऽपि तथेति चेत् ।।७।। न तस्यादुष्टत्वादवशिष्टं हि कारणम् ।।८।। लक्षणार्था शृतश्रुतिः ।।९।। उपांशुयागेऽवचनाद्यथा प्रकृति वा ।।१०।। अपनयो वा प्रवृत्या यथेतरेषाम् ।।११।। निरुप्ते स्यात्तत्संयोगात् ।।१२।। प्रवृत्ते वाप्रापणान्निमित्तस्य ।।१३।। लक्षणमात्रमितरत् ।।१४।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।१५।। अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्यस्तण्डुलभूतेष्वपनयात् ।।१६।। व्यूर्ध्वभाग्भ्यस्त्वालेखनस्तत्कारित्वाद्देवतापनयस्य ।।१७।। विनिरुप्ते न मुष्टीनामपनयस्तद्गुणत्वात् ।।१८।। अप्राकृतेन हि संयोगस्तत्स्थानीयत्वात् ।।१९।। अभावाच्चेतरस्य स्यात् ।।२०।। सान्नाय्यसंयोगात्सन्नयतः स्यात् ।।२१।। औषधसंयोगाद्वोभयोः ।।२२।। वैगुण्यान्नेति चेत् ।।२३।। नातत्संस्कारत्वात् ।।२४।। साभ्युत्थाने विश्वजित् क्रीते विभागसंयोगात् ।।२५।। प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ।।२६।। आदेशार्थेतरा श्रुतिः ।।२७।। दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् ।।२८।। द्वादशाहस्तु

लिङ्गात् स्यात् ।।२६।। पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ।।३०।। आनन्तर्यात्तु चैत्री स्यात् ।।३१।। माघी वैकाष्टकाश्रुतेः ।।३२।। अन्या अपीति चेत् ।।३३।। न भक्तित्वादेषा हि लोके ।।३४।। दीक्षापराधे चानुग्रहात् ।।३५।। उत्थाने चानुप्ररोहात् ।।३६।। अस्यां च सर्वलिङ्गानि ।।३७।। दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात् ।।३८।। उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम् ।।३९।। तत्र प्रतिहोमो न विद्यते यथा पूर्वेषाम् ।।४०।। कालप्राधान्याच्च ।।४१।। प्रतिषेधाच्चोर्ध्वमवभृथादिष्टेः ।।४२।। प्रतिहोमश्चेत्सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि हूयेरन् ।।४३।। प्रातस्तु षोडशिनि ।।४४।। प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र दोषसामान्यात् ।।४५।। प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् ।।४६।। अतद्विकाराच्च ।।४७।। व्यापन्नस्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्याणां तत्प्रतीयेत ।।४८।। विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते ।।४९।। स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्कालमात्रमेकम् ।।५०।। तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात् ।।५१।। प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात् ।।५२।। न चैकसंयोगात् ।।५३।। पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् ।।५४।। यद्युद्गाता जघन्यः स्यात्पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्याद्यथेतरस्मिन् ।।५५।। अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्त्तेत कर्मपृथक्त्वात् ।।५६।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य पञ्चमः पादः ।।

षष्ठः पादः

सन्निपातेऽवैगुण्यात्प्रकृतिवत्तुल्यकल्पा यजेरन् ।।१।। वचनाद्वा शिरोवत्स्यात् ।।२।। न वाऽनारभ्यवादत्वात् ।।३।। स्याद्वा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् ।।४।। न तत्प्रधानत्वात् ।।५।। औदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत् ।।६।। अन्येनापीति चेत् ।।७।। नैकत्वात्तस्य चानधिकाराच्छब्दस्य चाविभक्तत्वात् ।।८।। सन्निपातात्तु निमित्तविघातः स्यात् बृहद्रथन्तरवद्विभक्तशिष्टत्वाद्वसिष्ठनिर्वर्त्ये ।।९।। अपि वा कृत्स्नसंयोगादविघातः प्रतीयेत स्वामित्वेनाभिसम्बन्धात् ।।१०।। साम्नोः कर्मवृद्ध्यैकदेशेन संयोगो गुणत्वेनाभिसम्बन्धस्तस्मात्तत्र विघातः स्यात् ।।११।। वचनात्तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणित्वम् ।।१२।। अर्थाभावात्तु नैवं स्यात् ।।१३।। अर्थानां च विभक्तत्वान्न तच्छ्रुतेन सम्बन्धः ।।१४।। पाणेः प्रत्यङ्गभावादसम्बन्धः प्रतीयेत ।।१५।। सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात् ।।१६।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१७।। ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात् ।।१८।। वचनादिति चेत् ।।१९।। न स्वामित्वं हि विधीयते ।।२०।। गार्हपते वा स्यातामविप्रतिषेधात् ।।२१।। न वा कल्पविरोधात् ।।२२।। स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम् ।।२३।। वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्वनियमात् ।।२४।। सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ।।२५।। विश्वामित्रस्य होत्रनियमाद्भृगुशुनकवसिष्ठानामनधिकारः ।।२६।। विहारस्य प्रभुत्वादनग्नीनामपि स्यात् ।।२७।। सारस्वते च दर्शनात् ।।२८।। प्रायश्चित्तविधानाच्च ।।२९।। साग्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात् ।।३०।। स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् ।।३१।। सन्निवापं च दर्शयति ।।३२।। जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात्सन्देहे यथाकामी प्रतीयते ।।३३।। अपि वाऽन्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्वीरन्विप्रतिषेधाच्छास्त्रकृतत्वात् ।।३४।। प्रायश्चित्तमापदि स्याद् ।।३५।। पुरुषकल्पेन वा विकृतौ कर्तृनियमः स्याद्यज्ञस्य तद्गुणत्वादभावादितरान्प्रत्येकस्मिन्नधिकारः स्यात् ।।३६।। लिङ्गाच्चेज्याविशेषवत् ।।३७।। न वा संयोगपृथक्त्वाद् गुणस्येज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि चोदना ।।३८।। इज्यायां तद्गुणत्वाद्विशेषेण नियम्येत ।।३९।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य षष्ठः पादः ।।

सप्तमः पादः

स्वदाने सर्वमविशेषात् ।।१।। यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याऽशक्यत्वात् ।।२।। न भूमिः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ।।३।। अकार्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः स्यात् ।।४।। नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः ।।५।। शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात् ।।६।। दक्षिणाकाले यत्स्वं तत्प्रतीयेत तद्दानसंयोगात् ।।७।। अशेषत्वात्तदन्तः स्यात्कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ।।८।। अपि वा शेषकर्म स्यात्क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।।९।। तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ।।१०।। अशेषं तु समञ्जसमादाने शेषकर्म स्यात् ।।११।। नादानस्य नित्यत्वात् ।।१२।। दीक्षासु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन संयोगस्तस्मादविरोधः स्यात् ।।१३।। अहर्गणे च तद्धर्मः स्यात्सर्वेषामविशेषात् ।।१४।। द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् ।।१५।। अतद्गुणत्वात्तु नैवं स्यात् ।।१६।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१७।। विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात् ।।१८।। अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ।।१९।। अनुग्रहाच्च पादवत् ।।२०।। अपरिमिते शिष्टस्य संख्याप्रतिषेधस्तच्छ्रुतित्वात् ।।२१।। कल्पान्तरं वा तुल्यवत्प्रसंख्यानात् ।।२२।। अनियमोऽविशेषात् ।।२३।। अधिकं वा स्याद्बह्वर्थत्वादितरेः सन्निधानात् ।।२४।। अर्थवादश्च तदर्थवत् ।।२५।। परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम् ।।२६।। तद्युक्ते च प्रतिषेधात् ।।२७।। निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात्पञ्चावत्तवत् ।।२८।। विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात् ।।२९।। अर्थवादो वा विधिशेषत्वात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ।।३०।। सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु ।।३१।। अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्मः स्यात् ।।३२।। नासामर्थ्यात् ।।३३।। सम्बन्धादर्शनात् ।।३४।। स कुलकल्पः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसम्भवात् ।।३५।। अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् ।।३६।। विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्यतरः स्यादिति लावुकायनः ।।३७।। संवत्सरो वा विचालित्वात् ।।३८।। सा प्रकृतिः स्यादधिकारात् ।।३९।। अहानि वाऽभिसंख्यत्वात् ।।४०।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्टाध्यायस्य सप्तमः पादः ।।

अष्टमः पादः

इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमः संस्कृतेष्वग्निषु स्यादपूर्वोऽप्याधानस्य सर्वशेषत्वात् ।।१।। इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतृनसंस्कृतेषु दर्शयति ।।२।। उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ।।३।। स सर्वेषामविशेषात् ।।४।। अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्नेरशेषभूतनिर्देशः ।।५।। जपो वाऽनग्निसंयोगात् ।।६।। इष्टित्वेन संस्तुते होमः स्यादनारभ्याग्निसंयोगादितरेषामवाच्यत्वात् ।।७।। उभयोः पितृयज्ञवत् ।।८।। निर्देशो वाऽनाहिताग्नेरनारभ्याग्निसंयोगात् ।।९।। पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम् ।।१०।। उपनयन्नाधीत होमसंयोगात् ।।११।। स्थपतीष्टिवल्लौकिके वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् ।।१२।। आधानं च भार्यासंयुक्तम् ।।१३।। अकर्म चोर्ध्वमाधानात्तत्समवायो हि कर्मभिः ।।१४।। श्राद्धवदिति चेत् ।।१५।। न श्रुतिविप्रतिषेधात् ।।१६।। सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् ।।१७।। सोमपानात्तु प्रापणं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत् ।।१८।। पितृयज्ञे तु दर्शनात्प्रागाधानात्प्रतीयेत ।।१९।। स्थपतीष्टिः प्रजावदग्न्याधेयं प्रयोजयेत्तादर्थ्याच्चापवृज्येत ।।२०।। अपि वा लौकिकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्वशेषत्वात् ।।२१।। अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात् ।।२२।। उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेषु दैवानि स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ।।२३।। अहनि च कर्मसाकल्यम् ।।२४।। इतरेषु

तु पित्र्याणि ।।२५।। याच्ञाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् ।।२६।। नियतं वार्थवत्वात्स्यात् ।।२७।। तथा भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम् ।।२८।। अनर्थकं त्वनित्यं स्यात् ।।२९।। पशुचोदनायाम-नियमोऽविशेषात् ।।३०।। छागो वा मन्त्रवर्णात् ।।३१।। न चोदनाविरोधात् ।।३२।। आर्षेयवदिति चेत् ।।३३।। न तत्र ह्यचोदितत्वात् ।।३४।। नियमो वैकार्थ्यं ह्यर्थभेदाद् भेदः पृथक्त्वेनाभिधानात् ।।३५।। अनियमो वार्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकशब्दभेदाभ्याम् ।।३६।। न वा प्रयोगसमवायित्वात् ।।३७।। रूपाल्लिङ्गाच्च ।।३८।। छागेन कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्याम् ।।३९।। रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यात् ।।४०।। विकारो नौत्पत्तिकत्वात् ।।४१।। स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात् ।।४२।। जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्वाभ्याम् ।।४३।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्याष्टमः पादः ।।

।। इति षष्ठोऽध्यायः ।।

सप्तमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुख्यभेदे यथाधिकारं भावः स्यात् ।।१।। उत्पत्त्यर्थविभागाद्वा सत्त्ववदेकधर्म्यं स्यात् ।।२।। चोदनाशेषभावाद्वा तद्भेदाद्व्यवतिष्ठेरन्नुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ।।३।। सत्त्वे लक्षणसंयोगात्सार्वत्रिकं प्रतीयेत ।।४।। अविभागात्तु नैवं स्यात् ।।५।। द्व्यर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम् ।।६।। उत्पत्तौ विध्यभावाद्वा चोदनायां प्रवृत्तिः स्यात्ततश्च कर्मभेदः स्यात् ।।७।। यदि वाऽप्यभिधानवत्सामान्यात् सर्वधर्मः स्यात् ।।८।। अर्थस्य त्वविभक्तत्वात्तथा स्यादभिधानेषु पूर्ववत्वात्प्रयोगस्य कर्मणः शब्दभाव्यत्वाद्विभागाच्छेषाणामप्रवृत्तिः स्यात् ।।९।। स्मृतिरिति चेत् ।।१०।। न पूर्ववत्त्वात् ।।११।। अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात्प्रकरणनिबन्ध-नाच्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात् ।।१२।। समानेऽपूर्ववत्त्वादुत्पन्नाधिकारः स्यात् ।।१३।। श्येनस्येति चेत् ।।१४।। नासन्निधानात् ।।१५।। अपि वा यद्यपूर्वत्वादितरदधिकार्थे ज्यौतिष्टोमिकाद्विधेस्तद्वाचकं समानं स्यात् ।।१६।। पञ्चसञ्चरेष्वर्थवादातिदेशः सन्निधानात् ।।१७।। सर्वस्य वैकशब्द्यात् ।।१८।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१९।। विहिताम्नानान्नेति चेत् ।।२०।। नेतरार्थत्वात् ।।२१।। एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत् ।।२२।। एककपालानां वैश्वदेविकः प्रकृतिराग्रयणे सर्वहोमापरिवृत्तिदर्शनादवभृथे च सकृद् द्व्यवदानस्य वचनात् ।।२३।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिः स्याद्यथाशिष्टम् ।।१।। शब्दैस्त्वर्थविधित्वादर्थान्तरेऽप्रवृत्तिः स्यात् पृथग्भावात्क्रियाया ह्यभिसम्बन्धः ।।२।। स्वार्थे वा स्यात्प्रयोजनं क्रियायास्तदङ्गभावेनोपदिश्येरन् ।।३।।

शब्दमात्रमिति चेत् ।।४।। तेनोत्पत्तिकत्वात् ।।५।। शास्त्रं चैवमनर्थकं स्यात् ।।६।। स्वरस्येति चेत् ।।७।। नार्थाभावाच्छ्रुतेरसम्बन्धः ।।८।। स्वरस्तूत्पत्तिषु स्यान्मात्रावर्णाविभक्तत्वात् ।।९।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१०।। अश्रुतेस्तु विकारस्योत्तरासु यथाश्रुति ।।११।। शब्दानां चासामञ्जस्यम् ।।१२।। अपि तु कर्मशब्दः स्याद्भावोऽर्थः प्रसिद्धग्रहणत्वाद्विकारो ह्यविशिष्टोऽन्यैः ।।१३।। अद्रव्यं चापि दृश्यते ।।१४।। तस्य च क्रिया ग्रहणार्था नानार्थेषु विरूपित्वादर्थो ह्यासामलौकिको विधानात् ।।१५।। तस्मिन्संज्ञाविशेषाः स्युर्विकार-पृथक्त्वात् ।।१६।। योनिशस्याश्च तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते ।।१७।। अयोनौ चापि दृश्यतेऽतथायोनिः ।।१८।। एकार्थ्ये नास्ति वैरूप्यमिति चेत् ।।१९।। स्यादर्थान्तरेष्वनिष्पत्तेर्यथा लोके ।।२०।। शब्दानाञ्च सामञ्जस्यम् ।।२१।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

उक्तं क्रियाभिधानं तच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात् ।।१।। अपूर्वे वापि भागित्वात् ।।२।। नाम्नस्त्वौत्पत्तिकत्वात् ।।३।। प्रत्यक्षाद्गुणसंयोगात् क्रियाभिधानं स्यात्तदभावेऽप्रसिद्धं स्यात् ।।४।। अपि वा सर्वत्र कर्मणि गुणार्थैषा श्रुतिः स्यात् ।।५।। विश्वजिति सर्वपृष्ठे तत्पूर्वकत्वाज्ज्यौतिष्टोमिकानि पृष्ठान्यस्ति च पृष्ठशब्दः ।।६।। षडहाद्वा तत्र हि चोदना ।।७।। लिङ्गाच्च ।।८।। उत्पन्नाधिकारो ज्योतिष्टोमः ।।९।। द्वयोर्विधिरिति चेत् ।।१०।। न व्यर्थत्वात्सर्वशब्दस्य ।।११।। तथावभृथः सोमात् ।।१२।। प्रकृतेरिति चेत् ।।१३।। न भक्तित्वात् ।।१४।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१५।। द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः श्रुतिसंयोगात् पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात् ।।१६।। गुणविधिस्तु न गृह्णीयात्समत्वात् ।।१७।। निर्मन्थ्यादिषु चैवम् ।।१८।। प्रणयनन्तु सौमिकमवाच्यं हीतरत् ।।१९।। उत्तरवेदिप्रतिषेधश्च तद्वत् ।।२०।। प्राकृतं वाऽनामत्वात् ।।२१।। परिसंख्यार्थ श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा ।।२२।। प्रथमोत्तमयोः प्रणयनमुत्तरवेदिप्रतिषेधात् ।।२३।। मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात् ।।२४।। औत्तरवेदिकोऽनारभ्यवादप्रतिषेधः ।।२५।। स्वरसामैककपालामिक्षं च लिङ्ग-दर्शनात् ।।२६।। चोदनासामान्याद्वा ।।२७।। कर्मजे कर्म यूपवत् ।।२८।। रूपं वाऽशेषभूतत्वात् ।।२९।। विशये लौकिकं स्यात्सर्वार्थत्वात् ।।३०।। न वैदिकमर्थनिर्देशात् ।।३१।। तथोत्पत्तिरितरेषां समत्वात् ।।३२।। संस्कृतं स्यात्तच्छब्दत्वात् ।।३३।। भक्त्या वाऽयज्ञशेषत्वाद्गुणानामभिधानत्वात् ।।३४।। कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात्तथाभूतोपदेशात् ।।३५।। अभिधानोपदेशाद्वा विप्रतिषेधाद् द्रव्येषु पृष्ठशब्दः स्यात् ।।३६।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम् ।।१।। स लौकिकः स्याद्दृष्टप्रवृत्तित्वात् ।।२।। वचनात्तु ततोऽन्यत्वम् ।।३।। लिङ्गेन वा नियम्येत लिङ्गस्य तद्गुणत्वात् ।।४।। अपि वाऽन्यायपूर्वत्वाद्यत्र

नित्यानुवादवचनानि स्युः ।।५।। मिथो वा विप्रतिषेधाच्च गुणानां यथार्थकल्पना स्यात् ।।६।। भागित्वात् नियम्येत गुणानामभिधानत्वात्सम्बन्धादभिधानवद्यथा धेनुः किशोरेण ।।७।। उत्पत्तीनां समत्वाद्वा यथाधिकारं भावः स्यात् ।।८।। उत्पत्तिशेषवचनं च विपतिषिद्धमेकस्मिन् ।।९।। विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्त्तेत तथा हि लिङ्गदर्शनम् ।।१०।। लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गे लौकिकं स्यात् ।।११।। लिङ्गस्य पूर्ववत्वाच्चोदना-शव्दसामान्यादेकेनापि निरूप्येत यथा स्थालीपुलाकेन ।।१२।। द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वा-दैकाहिकमधिकागमात् तदाख्यं स्यादेकाहवत् ।।१३।। लिङ्गाच्च ।।१४।। न वा क्रत्वभिधानादधिका-नामशब्दत्वम् ।।१५।। लिङ्गं सङ्घातधर्मः स्यात्तदर्थापत्तेर्द्रव्यवत् ।।१६।। न वार्थधर्मत्वात् संङ्घातस्य गुणत्वात् ।।१७।। अर्थापत्तेर्द्रव्येषु धर्मलाभः स्यात् ।।१८।। प्रवृत्या नियतस्य लिङ्गदर्शनम् ।।१९।। विहारदर्शनं विशिष्टस्यानारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वात् ।।२०।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।। इति सप्तमोऽध्यायः ।।

अष्टमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अथ विशेषलक्षणम् ।।१।। यस्य लिङ्गमर्थसंयोगादभिधानवत् ।।२।। प्रवृत्तित्वादिष्टेः सोमे प्रवृत्तिः स्यात् ।।३।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।४।। कृत्स्नविधानाद्वाऽपूर्वत्वम् ।।५।। स्रुगभिधारणाभावस्य च नित्यानुवादात् ।।६।। विधिरिति चेत् ।।७।। न वाक्यशेषत्वात् ।।८।। शङ्कते चानुपोषणात् ।।९।। दर्शनमैष्टिकानां स्यात् ।।१०।। इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात् ।।११।। पशौ च लिङ्गदर्शनात् ।।१२।। दैक्षस्य चेतरेषु ।।१३।। ऐकादशिनेषु सौत्यस्य द्वैरशन्यस्य दर्शनात् ।।१४।। तत्प्रवृत्तिर्गणेषु स्यात्प्रतिपशु यूपदर्शनात् ।।१५।। अव्यक्तासु तु सोमस्य ।।१६।। गणेषु द्वादशाहस्य ।।१७।। गव्यस्य च तदादिषु ।।१८।। निकायिनां च पूर्वस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यात् ।।१९।। कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात्फलनियमकर्तृसमुदाय-स्यानन्वयस्तद्बन्धनत्वात् ।।२०।। प्रवृत्तौ चापि तादर्थ्यात् ।।२१।। अश्रुतित्वाच्च ।।२२।। गुणकामेष्वाश्रितत्वात्प्रवृत्तिः स्यात् ।।२३।। निवृत्तिर्वा कर्मभेदात् ।।२४।। अपि वाऽतद्विकारत्वात्क्रत्वर्थत्वात् प्रवृत्तिः स्यात् ।।२५।। एककर्मणि विकल्पोऽविभागो हि चोदनैकत्वात् ।।२६।। लिङ्गसाधारण्याद्विकल्पः स्यात् ।।२७।। ऐकार्थ्याद्वा नियम्येत पूर्ववत्वाद्विकारो हि ।।२८।। अश्रुतित्वान्नेति चेत् ।।२९।। स्याल्लिङ्गभावात् ।।३०।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।३१।। विप्रतिपत्तौ हविषा नियम्येत कर्मणस्तदुपाख्यत्वात् ।।३२।। तेन च कर्मसंयोगात् ।।३३।। गुणत्वेन देवताश्रुतिः ।।३४।। हिरण्यमाज्यधर्मस्तेजस्त्वात् ।।३५।। धर्मानुग्रहाच्च ।।३६।। औषधं वा विशदत्वात् ।।३७।। चरुशब्दाच्च ।।३८।। तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः ।।३९।। मधूदके द्रव्यसामान्यात्पयोविकारः स्यात् ।।४०।। आज्यं वा वर्णसामान्यात् ।।४१।। धर्मानुग्रहाच्च ।।४२।। पूर्वस्य चाविशिष्टत्वात् ।।४३।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

वाजिनेषु सोमपूर्वत्वं सौत्रामण्यां ग्रहेषु ताच्छब्द्यात् ।।१।। अनुवषट्काराच्च ।।२।। समुपहूय भक्षणाच्च ।।३।। क्रयणश्रपणपुरोरुगुपयामग्रहणासादनवासोपनहनञ्च तद्वत् ।।४।। हविषा वा नियम्येत तद्विकारत्वात् ।।५।। प्रशंसा सोमशब्दः ।।६।। वचनानीतराणि ।।७।। व्यपदेशश्च तद्वत् ।।८।। पशु पुरोडाशस्य च लिङ्गदर्शनम् ।।६।। पशुः पुरोडाशविकारः स्याद्देवतासामान्यात् ।।१०।। प्रोक्षणाच्च ।।११।। पर्यग्निकरणाच्च ।।१२।। सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वात् ।।१३।। तस्य च पात्रदर्शनात् ।।१४।। दध्नः स्यान्मूर्तिसामान्यात् ।।१५।। पयो वा कालसामान्यात् ।।१६।। पश्वानन्तर्यात् ।।१७।। द्रवत्वं चाविशिष्टम् ।।१८।। आमिक्षोभयभाव्यत्वादुभयविकारः स्यात् ।।१६।। एकं वा चोदनैकत्वात् ।।२०।। दधिसङ्घातसामान्यात् ।।२१।। पयो वा तत्प्रधानत्वाल्लोकवद्दध्नस्तदर्थत्वात् ।।२२।। धर्मानुग्रहाच्च ।।२३।। सत्रमहीनश्च द्वादशाहस्तस्योभयथा प्रवृत्तिरेककर्म्यात् ।।२४।। अपि वा यजतिश्रुतेरहीनभूतप्रवृत्तिः स्यात्प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात् ।।२५।। द्विरात्रादीनामैकादशरात्रादहीनत्वं यजतिचोदनात् ।।२६।। त्रयोदशरात्रादिषु सत्रभूतस्तेष्वासनोपायिचोदनात् ।।२७।। लिङ्गाच्च ।।२८।। अन्यतरतोऽतिरात्रत्वात्पञ्चदशरात्रस्याहीनत्वं कुण्डपायिनामयनस्य च तद्भूतेष्वहीनत्वस्य दर्शनात् ।।२६।। अहीनवचनाच्च ।।३०।। सत्रे वोपायि-चोदनात् ।।३१।। सत्रलिङ्गं च दर्शयति ।।३२।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

हविर्गणे परमुत्तरस्य देशसामान्यात् ।।१।। देवतया नियम्येत शब्दवत्त्वादितरस्याश्रुतित्वात् ।।२।। गणचोदनायां यस्य लिङ्गं तदावृत्तिः प्रतीयेताग्येवत् ।।३।। नानाहानि वा संङ्घातत्वात् प्रवृत्तिलिङ्गेन चोदनात् ।।४।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।५।। कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात् ।।६।। तदावृत्तिं तु जैमिनिरह्नमप्रत्यक्षसंख्यत्वात् ।।७।। संस्थागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत कृतलक्षणग्रहणात् ।।८।। अधिकाराद्वा प्रकृतिस्तद्विशिष्टा स्यादभिधानस्य तन्निमित्तत्वात् ।।६।। गणादुपचयस्तत्प्रकृतित्वात् ।।१०।। एकाहाद्वा तेषां समत्वात्स्यात् ।।११।। गायत्रीषु प्राकृतीनामवच्छेदः प्रकृत्यधिकारात्संख्यात्वादग्निष्टोमव- दव्यतिरेकात्तदाख्यत्वम् ।।१२।। तन्नित्यवच्च पृथक्सतीषु तद्वचनात् ।।१३।। न विंशतौ दशेति चेत् ।।१४।। ऐकसंख्यमेव स्यात् ।।१५।। गुणाद्वा द्रव्यशब्दः स्यादसर्वविषयत्वात् ।।१६।। गोत्ववच्च समन्वयः ।।१७।। संख्यायाश्च शब्दवत्त्वात् ।।१८।। इतरस्याश्रुतित्वाच्च ।।१६।। द्रव्यान्तरेऽनिवेशादुक्थ्यलोपैर्विशिष्टं स्यात् ।।२०।। अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ।।२१।। उत्पत्तिनामधेयत्वाद् भक्त्या पृथक्सतीषु स्यात् ।।२२।। वचनमिति चेत् ।।२३।। यावदुक्तम् ।।२४।। अपूर्वे च विकल्पः स्याद्यदि संख्याविधानम् ।।२५।। ऋग्गुणत्वान्नेति चेत् ।।२६।। तथा पूर्ववति स्यात् ।।२७।। गुणावेशश्च सर्वत्र ।।२८।। निष्पन्नग्रहणान्नेति चेत् ।।२६।। तथेहापि स्यात् ।।३०।। यदि वाऽविषये नियमः प्रकृत्युपबन्धाच्छब्देष्वपि प्रसिद्धः स्यात् ।।३१।। दृष्टः प्रयोग इति चेत् ।।३२।। तथा शरेष्वपि ।।३३।। भक्त्येति चेत् ।।३४।। तथेतरस्मिन् ।।३५।। अर्थस्य चासमाप्तत्वान्न तासामेकदेशे स्यात् ।।३६।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात् ।।१।। स लौकिकानां स्यात् कर्तुस्तदाख्यत्वात् ।।२।। सर्वेषां वा दर्शनाद्वास्तुहोमे ।।३।। जुहोतिचोदनानां वा तत्संयोगात् ।।४।। द्रव्योपदेशाद्वा गुणाभिधानं स्यात् ।।५।। न लौकिकानामाचारग्रहणत्वाच्छब्दवतां चान्यार्थविधानात् ।।६।। दर्शनाच्चान्यपात्रस्य ।।७।। तथाग्निहविषोः ।।८।। उक्तश्चार्थेऽसम्बन्धः ।।९।। तस्मिन् सोमः प्रवर्त्तेताव्यक्तत्वात् ।।१०।। न वा स्वाहाकारेण संयोगाद् वषट्कारस्य च निर्देशात्तन्त्रे तेन विप्रतिषेधात् ।।११।। शब्दान्तरत्वात् ।।१२।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१३।। उत्तरार्थस्तु स्वाहाकारो यथा साप्तदश्यं तत्राविप्रतिषिद्धा पुनः प्रवृत्तिर्लिङ्ग- दर्शनात्पशुवत् ।।१४।। अनुत्तरार्थो वाऽर्थवत्त्वादानर्थक्याद्धि प्राथम्यस्योपरोधः स्यात् ।।१५।। न प्रकृतावपीति चेत् ।।१६।। उक्तं समवाये पारदौर्बल्यम् ।।१७।। तच्चोदना वेष्टेः प्रवृत्तित्वाद्विधिः स्यात् ।।१८।। शब्दसामर्थ्याच्च ।।१९।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२०।। तत्राभावस्य हेतुत्वाद् गुणार्थे स्याददर्शनम् ।।२१।। विधिरिति चेत् ।।२२।। न वाक्यशेषत्वाद् गुणार्थे च समाधानं नानात्वेनोपपद्यते ।।२३।। येषां वाऽपरयोर्होमस्तेषां स्यादविरोधात् ।।२४।। तत्रौषधानि चोद्यन्ते तानि स्थानेन गम्येरन् ।।२५।। लिङ्गाद्वा शेषहोमयोः ।।२६।। सन्निपाते विरोधिनामप्रवृत्तिः प्रतीयेत विध्युत्पत्तिव्यवस्थानादर्थस्यापरिणेयत्वाद् वचनादतिदेशः स्यात् ।।२७।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।। इत्यष्टमोऽध्यायः ।।

नवमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु संस्कारस्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वात् ।।१।। संस्कारे युज्यमानानां तादर्थ्यात्तत्प्रयुक्तं स्यात् ।।२।। तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद्धर्मसम्बन्धस्तस्माद्यज्ञप्रयुक्तं स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।३।। फलदेवतयोश्च ।।४।। न चोदनातो हि ताद्गुण्यम् ।।५।। देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात् ।।६।। आर्थपत्याच्च ।।७।। ततश्च तेन सम्बन्धः ।।८।। अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्म प्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुतिः ।।९।। अतिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात्तस्य प्रीतिप्रधानत्वात् ।।१०।। द्रव्यसंख्याहेतुसमुदायं वा श्रुतिसंयोगात् ।।११।। अर्थकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यात् ।।१२।। अर्थो वा स्यात्प्रयोजनमितरेषामचोदनात्तस्य च गुणभूतत्वात् ।।१३।। अपूर्वत्वाद्व्यवस्था स्यात् ।।१४।। तत्प्रयुक्तत्वं च धर्मस्य सर्वविषयत्वम् ।।१५।। तद्युक्तस्येति चेत् ।।१६।। नाश्रुतित्वात् ।।१७।। अधिकारादिति चेत् ।।१८।। तुल्येषु नाधिकारः स्यादचोदितश्च सम्बन्धः पृथक् सतां यज्ञार्थेनाभिसम्बन्ध- स्तस्माद्यज्ञप्रयोजनम् ।।१९।। देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्यात्, श्रुतिनिर्देशात्तस्य च तत्र भावात् ।।२०।। यज्ञस्य वा तत्संयोगात् ।।२१।। अनुवादश्च तदर्थवत् ।।२२।। प्रणीतादि तथेति चेत् ।।२३।। न यज्ञस्या- श्रुतित्वात् ।।२४।। तद्देशानां वा सङ्घातस्याचोदितत्वात् ।।२५।। अग्निधर्मः प्रतीष्टकं सङ्घातात्पौर्ण- मासीवत् ।।२६।। अग्नेर्वा स्याद् द्रव्यैकत्वादितरासां तदर्थत्वात् ।।२७।। चोदनासमुदायात्तु पौर्णमास्यां

तथात्वं स्यात् ।।२८।। पत्नीसंयाजान्तत्वं सर्वेषामविशेषात् ।।२९।। लिङ्गाद्वा प्रागुत्तमात् ।।३०।। अनुवादो वा दीक्षा यथा नक्तं संस्थापनस्य ।।३१।। स्याद्वाऽनारभ्य विधानादन्ते लिङ्गविरोधात् ।।३२।। अभ्यासः सामिधेनीनां प्राथम्यात्स्थानधर्मः स्यात् ।।३३।। इष्ट्यावृतौ प्रयाजवदावर्त्तेताऽऽरम्भणीया ।।३४।। सकृद्वाऽऽरम्भसंयोगादेकः पुनरारम्भो यावज्जीवप्रयोगात् ।।३५।। अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तत्राचोदितमप्राप्तं चोदिताभिधानात् ।।३६।। ततश्चावचनं तेषामितरार्थं प्रयुज्यते ।।३७।। गुणशब्दस्तथेति चेत् ।।३८।। न समवायात् ।।३९।। चोदिते तु परार्थत्वाद्विधिवद्विकारः स्यात् ।।४०।। विकारस्तत्प्रधाने स्यात् ।।४१।। असंयोगात्तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत ।।४२।। कर्माभावादेवमिति चेत् ।।४३।। न परार्थत्वात् ।।४४।। लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वप्राप्ता सारस्वती स्त्रीत्वात् ।।४५।। पश्वभिधानाद्वा तद्धि चोदनाभूतं पुंविषयं पुनः पशुत्वम् ।।४६।। विशेषो वा तदर्थनिर्देशात् ।।४७।। पशुत्वं चैकशब्द्यात् ।।४८।। यथोक्तं वा सन्निधानात् ।।४९।। आम्नातादन्यदधिकारे वचनाद्विकारः स्यात् ।।५०।। द्वैधं वा तुल्यहेतुत्वात्सामान्याद्विकल्पः स्यात् ।।५१।। उपदेशाच्च साम्नः ।।५२।। नियमो वा श्रुतिविशेषादितरत्साप्तदश्यवत् ।।५३।। अप्रगाणाच्छब्दान्यन्वे तथाभूतोपदेशः स्यात् ।।५४।। यत्स्थाने वा तद्गीतिः स्यात्पदान्यत्वप्रधानत्वात् ।।५५।। गानसंयोगाच्च ।।५६।। वचनमिति चेत् ।।५७।। न तत्प्रधानत्वात् ।।५८।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ।।१।। तदुक्तदोषम् ।।२।। कर्म वा विधिलक्षणम् ।।३।। तदृग्द्रव्यं वचनात्पाकयज्ञवत् ।।४।। तत्राविप्रतिषिद्धो द्रव्यान्तरे व्यतिरेकः प्रदेशश्च ।।५।। शब्दार्थत्वात्तु नैवं स्यात् ।।६।। परार्थत्वाच्च शब्दानाम् ।।७।। असम्बन्धश्च कर्मणा शब्दयोः पृथगर्थत्वात् ।।८।। संस्कारश्चाप्रकरणेऽग्निवत्स्यात् प्रयुक्तत्वात् ।।९।। अकार्यत्वाच्च शब्दानामप्रयोगः प्रतीयेत ।।१०।। आश्रितत्वाच्च ।।११।। प्रयुज्यत इति चेत् ।।१२।। ग्रहणार्थं प्रतीयेत ।।१३।। तृचे स्यात् श्रुतिनिर्देशात् ।।१४।। शब्दार्थत्वाद्विकारस्य ।।१५।। दर्शयति च ।।१६।। वाक्यानां तु विभक्तत्वात्प्रतिशब्दं समाप्तिः स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।१७।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।१८।। अनवानोपदेशश्च तद्वत् ।।१९।। अभ्यासेनेतराश्रुतिः ।।२०।। तदभ्यासः समासः स्यात् ।।२१।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२२।। नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात्प्रतीयेत ।।२३।। ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः ।।२४।। प्रागाथिकं तु ।।२५।। स्वे च ।।२६।। प्रगाथे च ।।२७।। लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ।।२८।। अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यात् ।।२९।। अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यादृक्सामयोस्तदर्थत्वात् ।।३०।। वचनाद्विनियोगः स्यात् ।।३१।। समप्रदेशे विकारस्तदपेक्षः स्याच्छास्त्रकृतत्वात् ।।३२।। वर्णे तु बादरिर्यथाद्रव्यं द्रव्यव्यतिरेकात् ।।३३।। स्तोभस्यैके द्रव्यान्तरे निवृत्तिर्वा मृग्वत् ।।३४।। सर्वातिदेशस्तु सामान्याल्लोकवद्विकारः स्यात् ।।३५।। अन्वयं चापि दर्शयति ।।३६।। निवृत्तिऽर्थलोपात् ।।३७।। अन्वयो वार्थवादः स्यात् ।।३८।। अधिकं च विवर्णं च जैमिनिः स्तोभशब्दत्वात् ।।३९।। धर्मस्यार्थकृतत्वाद् द्रव्यगुणविकारव्यतिक्रमप्रतिषेधे चोदनानुबन्धः समवायात् ।।४०।। तदुत्पत्तेस्तु निवृत्तिस्तत्कृतत्वात् स्यात् ।।४१।। आवेश्येरन् वाऽर्थवत्त्वात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।४२।। आख्या चैवं तदावेशाद्विकृतौ स्यादपूर्वत्वात् ।।४३।। परार्थे न त्वर्थसामान्यं संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।४४।। क्रियेरन् वाऽर्थनिवृत्तेः ।।४५।। एकार्थत्वादविभागः स्यात् ।।४६।। निर्देशाद्वा व्यवतिष्ठेरन् ।।४७।। अप्राकृते तद्विकाराद्विरोधाद्व्यवतिष्ठेरन् ।।४८।। उभयसाम्नि

चैवमेकार्थापत्तेः ।।४६।। स्वार्थत्वाद्वा व्यवस्था स्यात्प्रकृतिवत् ।।५०।। पार्वणहोमयोस्त्वप्रवृत्तिः समुदायार्थ संयोगात्तदभीज्या हि ।।५१।। कालस्येति चेत् ।।५२।। नाप्रकरणत्वात् ।।५३।। मन्त्रवर्णाच्च ।।५४।। तदभावेऽग्निवदिति चेत् ।।५५।। नाधिकारिकत्वात् ।।५६।। उभयोरविशेषात् ।।५७।। यदभीज्या वा तद्विषयौ ।।५८।। प्रयाजेऽपीति चेत् ।।५९।। नाचोदितत्वात् ।।६०।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

प्रकृतौ यथोत्पत्तिवचनमर्थानां तथोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वादर्थे चाकार्यत्वात् ।।१।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२।। जातिर्नैमित्तिकं यथास्थानम् ।।३।। अविकारमेकेऽनार्षत्वात् ।।४।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।५।। विकारो वा तदुक्ते हेतुः ।।६।। लिङ्गं मन्त्रचिकीर्षार्थम् ।।७।। नियमो वोभयभागित्वात् ।।८।। लौकिके दोषसंयोगादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ।।९।। अन्यायस्त्वविकारेणादृष्टप्रतिघातित्वादविशेषाच्च तेनास्य ।।१०।। विकारो वा तदर्थत्वात् ।।११।। अपि त्वन्यायसम्बन्धात्प्रकृतिवत्परेष्वपि यथार्थं स्यात् ।।१२।। यथार्थं त्वन्यायस्याचोदितत्वात् ।।१३।। छन्दसि तु यथादृष्टम् ।।१४।। अन्यायस्याचोदितत्वात् ।।१५।। विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात्तत्समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेशत्वात् ।।१६।। प्रकरणविशेषाच्च ।।१७।। उत्कर्षो वा द्वियज्ञवत् ।।१८।। अर्थाभावात्तु नैवं स्याद् गुणमात्रमितरत् ।।१९।। द्यावोस्तथेति चेत् ।।२०।। नोत्पत्तिशब्दत्वात् ।।२१।। अपूर्वे त्वविकारोऽप्रदेशात्प्रतीयेत ।।२२।। विकृतौ चापि तद्वचनात् ।।२३।। अध्रिगुः सवनीयेषु तद्वत्समानविधानाश्चेत् ।।२४।। प्रतिनिधौ चाविकारात् ।।२५।। अनाम्नानादशब्दत्वमभावाच्चेतरस्य स्यात् ।।२६।। तादर्थ्याद्वा तदाख्यं स्यात्संस्कारैरविशिष्टत्वात् ।।२७।। उक्तं च तत्त्वमस्य ।।२८।। संसर्गिषु चार्थस्यास्थितपरिमाणत्वात् ।।२९।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।३०।। एकधेत्येकसंयोगादभ्यासेनाभिधानं स्यादसर्वविषयत्वात् ।।३१।। अविकारो वा बहूनामेककर्मवत् ।।३२।। सकृत्त्वं चैकध्यं स्यादेकत्वात्त्वचोऽनभिप्रेतं तत्प्रकृतित्वात् परेष्वभ्यासेनैवं विवृद्धावभिधानं स्यात् ।।३३।। मेघपतित्वं स्वामिदेवतस्य समवायात्सर्वत्र च प्रयुक्तत्वात् तस्यान्यायनिगदत्वात्सर्वत्रैवाविकारः स्यात् ।।३४।। अपि वा द्विसमवायोऽर्थान्यत्वे यथासंख्यं प्रयोगः स्यात् ।।३५।। स्वामिनो वैकशब्द्यादुत्कर्षो देवतायां स्यात् पत्न्यां द्वितीयशब्दः स्यात् ।।३६।। देवता तु तदाशीष्ट्वात्सम्प्राप्तत्वात्स्वामिन्यनर्थिका स्यात् ।।३७।। उत्सर्गाच्च भक्त्या तस्मिन् पतित्वं स्यात् ।।३८।। उत्कृष्येतैकसंयुक्तौ द्वि देवते सम्भवात् ।।३९।। एकस्तु समवायात्तस्य तल्लक्षणत्वात् ।।४०।। संसर्गित्वाच्च तस्मात्तेन विकल्पः स्यात् ।।४१।। एकत्वेऽपि न गुणानपायात् ।।४२।। नियमो बहुदेवते विकारः स्यात् ।।४३।। विकल्पो वा प्रकृतिवत् ।।४४।। अर्थान्तरे विकारः स्याद्देवतापृथक्त्वादेकाभिसमवायात्स्यात् ।।४५।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

षड्विंशतिरभ्यासेन पशुगणे तत्प्रकृतित्वाद् गुणस्य प्रविभक्तत्वादविकारो हि तासामकार्त्स्न्येनाभिसम्बन्धो विकारान्न समासः स्यादसंयोगाच्च सर्वाभिः ।।१।। अभ्यासेऽपि तथेति चेत् ।।२।। न गुणादर्थकृतत्वाच्च ।।३।। समासेऽपि तथेति चेत् ।।४।। नासम्भवात् ।।५।। स्वाभिश्च वचनं प्रकृतौ तथेह स्यात् ।।६।। वङ्क्रीणा तु प्रधानत्वात्समासेनाभिधानं स्यात् प्राधान्यमध्रिगोस्तदर्थत्वात् ।।७।। तासां च कृत्स्नवचनात् ।।८।। अपि त्वसन्निपातित्वात्पत्नीवदाम्नातेनाभिधानं स्यात् ।।९।। विकारस्तु प्रदेशत्वाद्यजमानवत् ।।१०।। अपूर्वत्वात्तथा पत्न्याम् ।।११।। आम्नातस्त्वविकारात्संख्यासु सर्वगामित्वात् ।।१२।। संख्या त्वेयं प्रधानं स्याद्वैक्रयः पुनः प्रधानम् ।।१३।। अभ्यासो वाऽविकारात् स्यात् ।।१४।। पशुस्त्वेवं प्रधानं स्यादभ्यासस्य तन्निमित्तत्वात् तस्मात्समासशब्दः स्यात् ।।१५।। अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्तस्य वचनाद्वैशेषिकम् ।।१६।। तत्प्रतिषिध्य प्रकृतिर्नियुज्यते सा चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वात् ।।१७।। ऋग्वा स्यादाम्नातत्वादविकल्पश्च न्याय्यः ।।१८।। तस्यां तु वचनादेरवत्पदविकारः स्यात् ।।१९।। सर्वप्रतिषेधो वाऽसंयोगात्पदेन स्यात् ।।२०।। वनिष्ठुसन्निधानादुरूकेण वपाभिधानम् ।।२१।। प्रशंसाऽस्याभिधानम् ।।२२।। बाहुप्रशंसा वा ।।२३।। श्येन-शला- कश्यप-कवषोरु-स्रेकपर्णेष्वाकृतिवचनं प्रसिद्धसन्निधानात् ।।२४।। कार्त्स्न्यं वा स्यात्तथाभावात् ।।२५।। प्रासङ्गिके प्रायश्चित्तं न विद्यते परार्थत्वात्तदर्थे हि विधीयते ।।२६।। धारणे च परार्थत्वात् ।।२७।। क्रियार्थत्वादितरेषु कर्म स्यात् ।।२८।। न तूत्पन्ने यस्य चोदनाऽप्राप्तकालत्वात् ।।२९।। प्रदानदर्शनं श्रपणे तद्धर्मभोजनार्थत्वात्संसर्गाच्च मधूदकवत् ।।३०।। संस्कारप्रतिषेधश्च तद्वत् ।।३१।। तत्प्रतिषेधे च तथाभूतस्य वर्जनात् ।।३२।। अधर्मत्वमप्रदानात्प्रणीतार्थे विधानादतुल्यत्वादसंसर्गः ।।३३।। परो नित्यानुवादः स्यात् ।।३४।। विहितप्रतिषेधो वा ।।३५।। वर्जने गुणभावित्वात्तदुक्तप्रतिषेधात्स्यात्कारणात्केवलाशनम् ।।३६।। व्रतधर्माच्च लेपवत् ।।३७।। रसप्रतिषेधो वा पुरुषधर्मत्वात् ।।३८।। अभ्युदये दोहापनयः स्वधर्मा स्यात्प्रवृत्तत्वात् ।।३९।। श्रृतोपदेशाच्च ।।४०।। अपनयो वार्थान्तरे विधानाच्चरुपयोवत् ।।४१।। श्रपणानां त्वपूर्वत्वात्प्रदानार्थे विधानं स्यात् ।।४२।। गुणो वा श्रपणार्थत्वात् ।।४३।। अनिर्देशाच्च ।।४४।। श्रुतेश्च तत्प्रधानत्वात् ।।४५।। अर्थवादश्च तदर्थवत् ।।४६।। संस्कारं प्रतिभावाच्च तस्मादन्यप्रधानम् ।।४७।। पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे तादर्थ्यमुपधानवत् ।।४८।। शेषप्रतिषेधो वाऽर्थाभावादिडान्तवत् ।।४९।। पूर्ववत्त्वाच्च शब्दस्य संस्थापयतीति चाप्रवृत्ते नोपपद्यते ।।५०।। क्रिया वा स्यादवच्छेदादकर्म सर्वहानं स्यात् ।।५१।। आज्यसंस्थाने प्रतिनिधिः स्याद् द्रव्योत्सर्गात् ।।५२।। समाप्तिवचनात् ।।५३।। चोदना वा कर्मोत्सर्गादन्यैः स्यादविशिष्टत्वात् ।।५४।। अनिज्यां च वनस्पतेः प्रसिद्धांतेन दर्शयति ।।५५।। संस्था तद्देवतात्वात् स्यात् ।।५६।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।। इति नवमोऽध्यायः ।।

दशमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

विधेः प्रकरणान्तरेऽतिदेशात्सर्वकर्म स्यात् ।।१।। अपि वाऽभिधानसंस्कारद्रव्यमर्थे क्रियते तादर्थ्यात् ।।२।। तेषामप्रत्यक्षविशिष्टत्वात् ।।३।। इष्टिरारम्भसंयोगादङ्गभूतान्निवर्तेतारम्भस्य प्रधानसंयोगात् ।।४।। प्रधानाच्चान्यसंयुक्तात्सर्वारम्भान्निवर्तेतानङ्गत्वात् ।।५।। तस्यां तु स्यात्प्रयाजवत् ।।६।। न वाऽङ्गभूतत्वात् ।।७।। एकवाक्यत्वाच्च ।।८।। कर्म च द्रव्यसंयोगार्थमर्थाभावान्निवर्तेत तादर्थ्यं श्रुतिसंयोगात् ।।६।। स्थाणौ तु देशमात्रत्वादनिवृत्तिः प्रतीयेत ।।१०।। अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कारः प्रतीयेत ।।११।। समाख्यानं च तद्वत् ।।१२।। मन्त्रवर्णश्च तद्वत् ।।१३।। प्रयाजे च तन्न्यायत्वात् ।।१४।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१५।। तथाऽऽज्यभागाग्निरपीति चेत् ।।१६।। व्यपदेशाद्देवतान्तरम् ।।१७।। समत्वाच्च ।।१८।। पशावपीति चेत् ।।१६।। न तद्भूतवचनात् ।।२०।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२१।। गुणो वा स्यात्कपालवद्गुणभूतविकाराच्च ।।२२।। अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कारः प्रतीयेत स्वाहाकारवदङ्गानामर्थसंयोगात् ।।२३।। वृद्धवचनं च विप्रतिपत्तौ तदर्थत्वात् ।।२४।। गुणेऽपीति चेत् ।।२५।। नासंहानात्कपालवत् ।।२६।। ग्रहाणां च सम्प्रतिपत्तौ तद्वचनं तदर्थत्वात् ।।२७।। ग्रहाभावे च तद्वचनम् ।।२८।। देवतायाश्च हेतुत्वे प्रसिद्धं तेन दर्शयति ।।२६।। अविरुद्धोपपत्तिरर्थापत्तेःशृतवद् गुणभूतविकारः स्यात् ।।३०।। स द्व्यर्थः स्यादुभयोः श्रुतिभूतत्वाद्विप्रतिपत्तौ तादर्थ्याद्विकारत्वमुक्तं तस्यार्थवादत्वम् ।।३१।। विप्रतिपत्तौ तासामाख्याविकारः स्यात् ।।३२।। अभ्यासो वा प्रयाजवदेकदेशोऽन्यदेवत्यः ।।३३।। चरुर्हविर्विकारः स्यादिज्यासंयोगात् ।।३४।। प्रसिद्धग्रहणत्वाच्च ।।३५।। ओदनो वाऽन्नसंयोगात् ।।३६।। न द्व्यर्थत्वात् ।।३७।। कपालविकारो वा विषयेऽर्थोपपत्तिभ्याम् ।।३८।। गुणमुख्यविशेषाच्च ।।३६।। तच्छ्रुतौ चान्यहविष्ट्वात् ।।४०।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।४१।। ओदनो वा प्रयुक्तत्वात् ।।४२।। अपूर्वव्यपदेशाच्च ।।४३।। तथा च लिङ्गदर्शनम् ।।४४।। स कपाले प्रकृत्या स्यादन्यस्य चाश्रुतित्वात् ।।४५।। एकस्मिन् वा विप्रतिषेधात् ।।४६।। न वाऽर्थान्तरसंयोगादपूपे पाकसंयुक्तं धारणार्थं चरौ भवति तत्रार्थात्पात्रलाभः स्यादनियमोऽविशेषात् ।।४७।। चरौ वा लिङ्गदर्शनात् ।।४८।। तस्मिन्पेषणमनर्थलोपात्स्यात् ।।४६।। अक्रिया वा अपूपहेतुत्वात् ।।५०।। पिण्डार्थत्वाच्च संयवनम् ।।५१।। संवपनं च तादर्थ्यात् ।।५२।। सन्तापनमधःश्रपणार्थत्वात् ।।५३।। उपधानं च तादर्थ्यात् ।।५४।। पृथुश्लक्ष्णे चाऽनपूपत्वात् ।।५५।। अभ्यूहश्चोपरिपाकार्थत्वात् ।।५६।। तथाऽवज्वलनम् ।।५७।। व्युद्धृत्याऽऽसादनं च प्रकृतावश्रुतित्वात् ।।५८।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

कृष्णलेष्वर्थलोपादपाकः स्यात् ।।१।। स्याद्वा प्रत्यक्षशिष्टत्वात्प्रदानवत् ।।२।। उपस्तरणाभिधारणयोरमृतार्थत्वादकर्म स्यात् ।।३।। क्रियेत वाऽर्थवादत्वात्तयोः संसर्गहेतुत्वात् ।।४।। अकर्म वा चतुर्भिराप्तिवचनात्सह पूर्णं पुनश्चतुरवत्तम् ।।५।। क्रिया वा मुख्यावदानपरिमाणात् सामान्यात्तद्गुणत्वम् ।।६।। तेषां चैकावदानत्वात् ।।७।। आप्तिः संख्या समानत्वात् ।।८।। सतोस्त्वाप्तिवचनं व्यर्थम् ।।६।।

विकल्पस्त्वेकावदानत्वात् ।।१०।। सर्वविकारे त्वभ्यासानर्थक्यं हविषो हीतरस्य स्यादपि वा स्विष्टकृतः स्यादितरस्यान्यायत्वात् ।।११।। अकर्म वा संसर्गार्थनिवृत्तित्वात् तस्मादाप्तिसमर्थत्वम् ।।१२।। भक्षाणां तु प्रीत्यर्थत्वादकर्म स्यात् ।।१३।। स्याद्वा निर्द्धानदर्शनात् ।।१४।। वचनं त्वाज्यभक्षस्य प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ।।१५।। वचनं वा हिरण्यस्य प्रदानवदाज्यस्य गुणभूतत्वात् ।।१६।। एकधोपहारे सहत्वं ब्रह्मभक्षाणां प्रकृतौ विहितत्वात् ।।१७।। सर्वत्वं च तेषामधिकारात्स्यात् ।।१८।। पुरुषापनयो वा तेषामवाच्यत्वात् ।।१६।। पुरुषापनयात्स्वकालत्वम् ।।२०।। एकार्थत्वादविभागः स्यात् ।।२१।। ऋत्विग्दानं धर्ममात्रार्थं स्याद्ददाति सामर्थ्यात् ।।२२।। परिक्रयार्थं वा कर्मसंयोगाल्लोकवत् ।।२३।। दक्षिणायुक्तवचनाच्च ।।२४।। परिक्रीतवचनाच्च ।।२५।। सनिवन्येव भृतिवचनात् ।।२६।। नैष्कर्तृकेण संस्तवाच्च ।।२७।। शेषभक्षाश्च तद्वत् ।।२८।। संस्कारो वा द्रव्यस्य परार्थत्वात् ।।२६।। शेषे च समत्वात् ।।३०।। स्वामिनि च दर्शनात्तत्सामान्यादितरेषां तथात्वम् ।।३१।। वरणमृत्विजामानमनार्थत्वात्सत्रे न स्यात्स्वकर्मत्वात् ।।३२।। परिक्रयश्च तादर्थ्यात् ।।३३।। प्रतिषेधश्च कर्मवत् ।।३४।। स्याद्वा प्रासर्पिकस्य धर्ममात्रत्वात् ।।३५।। न दक्षिणाशब्दात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ।।३६।। उदवसानीयाः सत्रधर्मा स्यात्तदङ्गत्वात्तत्र दानं धर्ममात्रं स्यात् ।।३७।। न त्वेतत्प्रकृतित्वाद्विभक्तचोदितत्वात् ।।३८।। तेषां तु वचनाद्द्वियज्ञवत्सहप्रयोगः स्यात् ।।३६।। तत्रान्यानृत्विजो वृणीरन् ।।४०।। एकैकशस्त्वविप्रतिषेधात्प्रकृतेश्चैकसंयोगात् ।।४१।। कामेष्टौ च दानशब्दात् ।।४२।। वचनं वा सत्रत्वात् ।।४३।। द्वेष्ये वा चोदनाद्दक्षिणापनयात् ।।४४।। अस्थियज्ञोऽविप्रतिषेधादितरेषां स्याद्विप्रतिषेधादस्थ्नाम् ।।४५।। यावदुक्तमुपयोगः स्यात् ।।४६।। यदि तु वचनात्तेषां जपसंस्कारमर्थलुप्तं सेष्टि तदर्थत्वात् ।।४७।। क्रत्वर्थं तु क्रियेत गुणभूतत्वात् ।।४८।। काम्यानि तु न विद्यन्ते कामाज्ञानाद्यथेतरस्यानूच्यमानानि ।।४६।। ईहार्थाश्चाभावात्सूक्तवाकवत् ।।५०।। स्युर्वाऽर्थवादत्वात् ।।५१।। नेच्छाभिधानात्तदभावादितरस्मिन् ।।५२।। स्युर्वा होतृकामाः ।।५३।। न तदाशीष्ट्वात् ।।५४।। सर्वस्वारस्य दिष्टगतौ समापनं न विद्यते कर्मणो जीवसंयोगात् ।।५५।। स्याद्वोभयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।।५६।। गते कर्मास्थियज्ञवत् ।।५७।। जीवत्यवचनमायुराशिषस्तदर्थत्वात् ।।५८।। वचनं वा भागित्वात्प्राग्यथोक्तात् ।।५६।। क्रिया स्याद्धर्ममात्राणाम् ।।६०।। गुणलोपे तु मुख्यस्य ।।६१।। मुष्टिलोपात्तु संख्यालोपस्तद्गुणत्वात् ।।६२।। न निर्वापशेषत्वात् ।।६३।। संख्या तु चोदनां प्रति सामान्यात्तद्विकारः संयोगाच्च परं मुष्टेः ।।६४।। न चोदनाभिसम्बन्धात्प्रकृतौ संस्कारसंयोगात् ।।६५।। औत्पत्तिके तु द्रव्यतो विकारः स्यादकार्यत्वात् ।।६६।। नैमित्तिके तु कार्यत्वात्प्रकृतेः स्यात्तदापत्तेः ।।६७।। विप्रतिषेधे तद्वचनात्प्राकृतगुणलोपः स्यात्तेन कर्मसंयोगात् ।।६८।। परेषां प्रतिषेधः स्यात् ।।६६।। विप्रतिषेधाच्च ।।७०।। अर्थाभावे संस्कारत्वं स्यात् ।।७१।। अर्थेन च विपर्यासे तादर्थ्यात्तत्त्वमेव स्यात् ।।७२।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

विकृतौ शब्दवत्त्वात्प्रधानस्य गुणानामधिकोत्पत्तिः सन्निधानात् ।।१।। प्रकृतिवत्त्वस्य चानुपरोधः ।।२।। चोदनाप्रभुत्वाच्च ।।३।। प्रधानं त्वङ्गसंयुक्तं तथाभूतमपूर्वं स्यात्तस्य विध्युपलक्षणात्सर्वो हि पूर्ववान्विधिरविशेषात्प्रवृत्तिः ।।४।। न चाङ्गविधिरनङ्गे स्यात् ।।५।। कर्मणश्चैकशब्द्यात् सन्निधाने विधेराख्या संयोगो गुणेन तद्विकारः स्याच्छब्दस्य विधिगामित्वाद्गुणस्य चोपदेश्यत्वात् ।।६।। अकार्यत्वाच्च नाम्नः

।।७।। तुल्या च प्रभुता गुणे ।।८।। सर्वमेवं प्रधानमिति चेत् ।।६।। तथाभूतेन संयोगाद्यथार्थविधयः स्युः ।।१०।। विधित्वं चाविशिष्टं वैकृतेः कर्मणा योगात्तस्मात्सर्वं प्रधानार्थम् ।।११।। समत्वाच्च तदुत्पत्तेः संस्कारैरधिकारः स्यात् ।।१२।। हिरण्यगर्भः पूर्वस्य मन्त्रलिङ्गात् ।।१३।। प्रकृत्यनुपरोधाच्च ।।१४।। उत्तरस्य वा मन्त्रार्थित्वात् ।।१५।। विध्यतिदेशात्तच्छ्रुतौ विकारः स्याद्गुणानामुपदेश्यत्वात् ।।१६।। पूर्वस्मिश्चामन्त्रदर्शनात् ।।१७।। संस्कारे तु क्रियान्तरं तस्य विधायकत्वात् ।।१८।। प्रकृत्यनुपरोधाच्च ।।१६।। विधेस्तु तत्र भावात्सन्देहे यस्य शब्दस्तदर्थं स्यात् ।।२०।। संस्कारसामर्थ्याद्गुणसंयोगाच्च ।।२१।। विप्रतिषेधात्क्रियाप्रकरणे स्यात् ।।२२।। षड्भिर्दीक्षयतीति तासां मन्त्रविकारः श्रुतिसंयागात् ।।२३।। अभ्यासात्तु प्रधानस्य ।।२४।। आवृत्या मन्त्रकर्म स्यात् ।।२५।। अपि वा प्रतिमन्त्रत्वात्प्राकृतानामहानिः स्यादन्यायश्च कृतेऽभ्यासः ।।२६।। पौर्वापर्यञ्चाभ्यासे नोपपद्यते नैमित्तिकत्वात् ।।२७।। तत्पृथक्त्वं च दर्शयति ।।२८।। न चाविशेषाद्व्यपदेशः स्यात् ।।२६।। अग्न्याधेयस्य नैमित्तिके गुणविकारे दक्षिणादानमधिकं स्याद् वाक्यसंयोगात् ।।३०।। शिष्टत्वाच्चेतरासां यथास्थानम् ।।३१।। विकारस्त्वप्रकरणे हि काम्यानि ।।३२।। शङ्कते च निवृत्तेरुभयत्वं हि श्रूयते ।।३३।। वासो वत्सं च सामान्यात् ।।३४।। अर्थापत्तेस्तद्धर्मः स्यान्निमित्ताख्याभिसंयोगः ।।३५।। दाने पाकोऽर्थलक्षणः ।।३६।। पाकस्य चान्नकारितत्वात् ।।३७।। तथाभिधारणस्य ।।३८।। द्रव्यविधिसन्निधौ संख्या तेषां गुणत्वात्स्यात् ।।३६।। समत्वात्तु गुणानामेकस्य श्रुतिसंयोगात् ।।४०।। यस्य वा सन्निधाने स्याद्वाक्यतो ह्यभिसम्बन्धः ।।४१।। असंयुक्तास्तु तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते तस्मात्सर्वाधिकारः स्यात् ।।४२।। असंयोगाद्विधिश्रुतादेकजाताधिकारः स्यात् श्रुत्याकोपात्क्रतोः ।।४३।। शब्दार्थश्चापि लोकवत् ।।४४।। सा पशूनामुत्पत्तितो विभागात् ।।४५।। अनियमोऽविशेषात् ।।४६।। भागित्वाद्वा गवां स्यात् ।।४७।। प्रत्ययात् ।।४८।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।४६।। तत्र दानं विभागेन प्रदानानां पृथक्त्वात् ।।५०।। परिक्रयाच्च लोकवत् ।।५१।। विभागं चापि दर्शयति ।।५२।। समं स्यादश्रुतित्वात् ।।५३।। अपि वा कर्मवैषम्यात् ।।५४।। अतुल्याः स्युः परिक्रये विषमाख्या विधिश्रुतौ परिक्रयान्न कर्मण्युपपद्यते दर्शनाद्विशेषस्य तथाभ्युदये ।।५५।। तस्य धेनुरिति गवां प्रकृतौ विभक्तं चोदितत्वात्तत्सामान्यात्तद्विकारः स्याद्यथेष्टिर्गुणशब्देन ।।५६।। सर्वस्य वा क्रतुसंयोगादेकत्वं दक्षिणार्थस्य गुणानां कार्यैकत्वादर्थे विकृतौ श्रुतिभूतं स्यात्तया समवायाद्धि कर्मभिः ।।५७।। चोदनानामनाश्रयाल्लिङ्गेन नियमः स्यात् ।।५८।। एकां पञ्चेति धेनुवत् ।।५६।। त्रिवत्सश्च ।।६०।। तथा च लिङ्गदर्शनम् ।।६१।। एके तु श्रुतिभूतत्वात्संख्यया गवां लिङ्गविशेषेण ।।६२।। प्राकाशौ च तथेति चेत् ।।६३।। अपि त्ववयवार्थत्वाद्विभक्तप्रकृतित्वाद्गुणेदन्ताविकारः स्यात् ।।६४।। धेनुवच्चाश्वदक्षिणा स ब्रह्मण इति पुरुषापनयो यथा हिरण्यस्य ।।६५।। एके तु कर्तृसंयोगात्स्रग्वत्तस्य लिङ्गविशेषेण ।।६६।। अपि वा तदधिकाराद्धिरण्यवद्विकारः स्यात् ।।६७।। तथा च सोमचमसः ।।६८।। सर्वविकारो वा क्रत्वर्थे पशूनां प्रतिषेधात् ।।६६।। ब्रह्मदानेऽविशिष्टमिति चेत् ।।७०।। उत्सर्गस्य क्रत्वर्थत्वात्प्रतिषिद्धस्य कर्मत्वान्न च गौणः प्रयोजनमर्थः स दक्षिणानां स्यात् ।।७१।। यदि तु ब्रह्मणस्तदूनं तद्विकारः स्यात् ।।७२।। सर्वं वा पुरुषापनयात्तासां क्रतुप्रधानत्वात् ।।७३।। यजुर्युक्तेऽध्वर्योर्दक्षिणा विकारः स्यात् ।।७४।। अपि वा श्रुतिभूतत्वात्सर्वासां तस्य भागो नियम्यते ।।७५।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

प्रकृतिलिङ्गसंयोगात्कर्मसंस्कारं विकृतावधिकं स्यात् ।।१।। चोदनालिङ्गसंयोगे तद्विकारः प्रतीयेत प्रकृतिसन्निधानात् ।।२।। सर्वत्र तु ग्रहाम्नातमधिकं स्यात्प्रकृतिवत् ।।३।। अधिकश्चैकवाक्यत्वात् ।।४।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।५।। प्राजापत्येषु चाम्नानात् ।।६।। आमने लिङ्गदर्शनाच्च ।।७।। उपगेषु शरवत्स्यात्प्रकृतिलिङ्गसंयोगात् ।।८।। आनर्थक्यात्त्वधिकं स्यात् ।।९।। संस्कारे चान्यसंयोगात् ।।१०।। प्रयाजवदिति चेन्नार्थान्यत्वात् ।।११।। आच्छादने त्वैकार्थ्यात्प्राकृतस्य विकारः स्यात् ।।१२।। अधिकं वाऽन्यार्थत्वात् ।।१३।। सामस्वर्थान्तरश्रुतेरविकारः प्रतीयेत ।।१४।। अर्थे त्वश्रूयमाणे शेषत्वात्प्राकृतस्य विकारः स्यात् ।।१५।। सर्वेषामविशेषात् ।।१६।। एकस्य वा श्रुतिसामर्थ्यात्प्रकृतेश्चाविकारात् ।।१७।। स्तोमविवृद्धौ त्वधिकं स्यादविवृद्धौ द्रव्यविकारः स्यादितरस्याश्रुतित्वाच्च ।।१८।। पवमाने स्यातां तस्मिन्नावापोद्वापदर्शनात् ।।१९।। वचनानि त्वपूर्वत्वात् ।।२०।। विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्तेन चोदना ।।२१।। शेषाणां वा चोदनैकत्वात्तस्मात् सर्वत्र श्रूयते ।।२२।। तथोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वात् ।।२३।। प्राकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणेनाभिधानं स्यात् ।।२४।। अविकारो वाऽर्थशब्दानपायात् स्याद् द्रव्यवत् ।।२५।। आरम्भासमवायाद्वा चोदितेनाभिधानं स्यादर्थस्य श्रुतिसमवायित्वादवचने च गुणशासनमनर्थकं स्यात् ।।२६।। द्रव्येष्वारम्भगामित्वादर्थे विकारः सामर्थ्यात् ।।२७।। बुधन्वान्पवमानवद्विशेषनिर्देशात् ।।२८।। मन्त्रविशेषनिर्देशान्न देवताविकारः स्यात् ।।२९।। विधिनिगमभेदात्प्रकृतौ तत्प्रकृतित्वाद्विकृतावपि भेदः स्यात् ।।३०।। यथोक्तं वा विप्रतिपत्तेर्न चोदना ।।३१।। स्विष्टकृद्देवतान्यत्वे तच्छब्दत्वान्निवर्त्तेत ।।३२।। संयोगो वाऽर्थापत्तेरभिधानस्य कर्मजत्वात् ।।३३।। सगुणस्य गुणलोपे निगमेषु यावदुक्तं स्यात् ।।३४।। सर्वस्य वैककर्म्यात् ।।३५।। स्विष्टकृदावापिकोऽनुयाजे स्यात् प्रयोजनवदङ्गानामर्थसंयोगात् ।।३६।। अन्वाहेति च शस्त्रवत् कर्म स्याच्चोदनान्तरात् ।।३७।। संस्कारो वा चोदितस्य शब्दस्य वचनार्थत्वात् ।।३८।। अवाच्यत्वान्नेति चेत् ।।३९।। स्याद् गुणार्थत्वात् ।।४०।। मनोतायां तु वचनादविकारः स्यात् ।।४१।। पृष्ठार्थेऽन्यद्रथन्तरात्तद्योनिपूर्वत्वात् स्यादृचां प्रविभक्तत्वात् ।।४२।। स्वयोनौ वा सर्वाख्यत्वात् ।।४३।। यूपवदिति चेत् ।।४४।। न कर्मसंयोगात् ।।४५।। कार्यत्वादुत्तरयोर्यथाप्रकृति ।।४६।। समानदेवते वा तृचस्याविभागात् ।।४७।। ग्रहाणां देवतान्यत्वे स्तुतशस्त्रयोः कर्मत्वादविकारः स्यात् ।।४८।। उभयपानात्पृषदाज्ये दध्नोऽप्युपलक्षणं निगमेषु पातव्यस्योपलक्षणत्वात् ।।४९।। न वा परार्थत्वाद्यज्ञपतिवत् ।।५०।। स्याद्वा आवाहनस्य तादर्थ्यात् ।।५१।। न वा संस्कारशब्दत्वात् ।।५२।। स्याद्वा द्रव्याभिधानात् ।।५३।। दध्नस्तु गुणभूतत्वादाज्यपानिगमाः स्युर्गुणत्वं श्रुतेराज्यप्रधानत्वात् ।।५४।। दधि वा स्यात्प्रधानमाज्ये प्रथमान्त्यसंयोगात् ।।५५।। अपि वाऽऽज्यप्रधानत्वाद्गुणार्थे व्यपदेशे भक्त्या संस्कारशब्दः स्यात् ।।५६।। अपि वाऽख्याविकारत्वात्तेन स्यादुपलक्षणम् ।।५७।। न वा स्याद् गुणशास्त्रत्वात् ।।५८।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

पञ्चमः पादः

आनुपूर्व्यवतामेकदेशग्रहणेष्वागमवदन्त्यलोपः स्यात् ।।१।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२।। विकल्पो वा समत्वात् ।।३।। क्रमादुपसर्जनोऽन्ते स्यात् ।।४।। लिङ्गमविशिष्टं संख्याया हि तद्वचनम् ।।५।। आदितो

वा प्रवृत्तिः स्यादारम्भस्य तदादित्वाद्वचनादन्त्यविधिः स्यात् ।।६।। एकत्रिके तृचादिषु माध्यन्दिनछन्दसां श्रुतिभूतत्वात् ।।७।। आदितो वा तन्न्यायत्वादितरस्यानुमानिकत्वात् ।।८।। यथानिवेशञ्च प्रकृतिवत्संख्यामात्रविकारत्वात् ।।६।। त्रिकस्तृचेषु धुर्ये स्यात् ।।१०।। एकस्यां वा स्तोमस्यावृत्तिधर्मत्वात् ।।११।। चोदनासु त्वपूर्वत्वाल्लिङ्गेन धर्मनियमः स्यात् ।।१२।। प्राप्तिस्तु रात्रिशब्दसम्बन्धात् ।।१३।। अपूर्वासु तु संख्यासु विकल्पः स्यात्सर्वासामर्थवत्वात् ।।१४।। स्तोमविवृद्धौ प्राकृतानामभ्यासेन संख्यापूरणमविकारात्संख्यायां गुणशब्दत्वादन्यस्य चाश्रुतित्वात् ।।१५।। आगमेन वाऽभ्यासस्याश्रुतित्वात् ।।१६।। संख्यायाश्च पृथक्त्वनिवेशात् ।।१७।। पराक्छब्दत्वात् ।।१८।। उक्ताविकाराच्च ।।१६।। अश्रुतित्वादिति चेत् ।।२०।। स्यादर्थचोदितानां परिमाणशास्त्रम् ।।२१।। आवापवचनं वाऽभ्यासे नोपपद्यते ।।२२।। साम्नां चोत्पत्तिसामर्थ्यात् ।।२३।। धुर्येष्वपीति चेत् ।।२४।। नावृत्तिधर्मत्वात् ।।२५।। बहिष्पवमाने तु ऋगागमः सामैकत्वात् ।।२६।। अभ्यासेन तु संख्यापूरणं सामिधेनीष्वभ्यासप्रकृतित्वात् ।।२७।। अविशेषान्नेति चेत् ।।२८।। स्याद्धर्मत्वात् प्रकृतिवदभ्यस्येताऽसंख्यापूरणात् ।।२६।। यावदुक्तं वा कृतपरिमाणत्वात् ।।३०।। अधिकानाञ्च दर्शनात् ।।३१।। न कर्मस्वपीति चेत् ।।३२।। न चोदितत्वात् ।।३३।। षोडशिनो वैकृतत्वं तत्र कृत्स्नविधानात् ।।३४।। प्रकृतौ चाऽभावदर्शनात् ।।३५।। अयज्ञवचनाच्च ।।३६।। प्रकृतौ वा शिष्टत्वात् ।।३७।। प्रकृतिदर्शनाच्च ।।३८।। आम्नातं परिसंख्यार्थम् ।।३६।। उक्तमभावदर्शनम् ।।४०।। गुणादयज्ञत्वम् ।।४१।। तस्याग्रयणाद्ग्रहणम् ।।४२।। उक्थ्याच्च वचनात् ।।४३।। स तृतीयसवने वचनात्स्यात् ।।४४।। अनभ्यासे पराक्छब्दस्य तादर्थ्यात् ।।४५।। उक्थ्याविच्छेदवचनाच्च ।।४६।। आग्रयणाद्वा पराक्छब्दस्य देशवाचित्वात्पुनराधेयवत् ।।४७।। विच्छेदः स्तोमसामान्यात् ।।४८।। उक्थ्याऽग्निष्टोमसंयोगादस्तुतशस्त्रः स्यात्सति हि संस्थान्यत्वम् ।।४६।। सस्तुतशस्त्रो वा तदङ्गत्वात् ।।५०।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।५१।। वचनात्संस्थान्यत्वम् ।।५२।। अभावादतिरात्रेषु गृह्यते ।।५३।। अन्वयो वाऽनारभ्य विधानात् ।।५४।। चतुर्थे चतुर्थेऽहन्यहीनस्य गृह्यत इत्यभ्यासेन प्रतीयेत भोजनवत् ।।५५।। अपि वा संख्यावत्त्वान्नाहीनेषु गृह्यते पक्षवदेकस्मिन्संख्यार्थभावात् ।।५६।। भोजने च तत्संख्यं स्यात् ।।५७।। जगत्साम्नि सामाभावादृक्तः साम तदाख्यं स्यात् ।।५८।। उभयसाम्नि नैमित्तिकं विकल्पेन समत्वात्स्यात् ।।५६।। मुख्येन वा नियम्येत ।।६०।। निमित्तविघाताद्वा क्रतुयुक्तस्य कर्म स्यात् ।।६१।। ऐन्द्रावायवस्याग्रवचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ।।६२।। अपि वा धर्माविशेषात्तद्धर्माणां स्वस्थाने प्रकरणादग्रत्वमुच्यते ।।६३।। धारासंयोगाच्च ।।६४।। कामसंयोगे तु वचनानादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ।।६५।। तद्देशानां वाऽग्रसंयोगात्तद्युक्ते कामशास्त्रं स्यान्नित्यसंयोगात् ।।६६।। परेषु चाग्रशब्दः पूर्ववत् स्यात्तदादिषु ।।६७।। प्रतिकर्षो वा नित्यार्थेनाग्रस्य तदसंयोगात् ।।६८।। प्रतिकर्षञ्च दर्शयति ।।६६।। पुरस्तादैन्द्रवायवादग्रस्य कृतदेशत्वात् ।।७०।। तुल्यधर्मत्वाच्च ।।७१।। तथा च लिङ्गदर्शनम् ।।७२।। सादनं चापि शेषत्वात् ।।७३।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।७४।। प्रदानं चापि सादनवत् ।।७५।। न वा प्रधानत्वाच्छेषत्वात्सादनं तथा ।।७६।। त्र्यनीकायां न्यायोक्तेष्वाम्नानं गुणार्थं स्यात् ।।७७।। अपि वाऽहर्गणेष्वग्निवत्समानविधानं स्यात् ।।७८।। द्वादशाहस्य व्यूढसमूढत्वं पृष्ठवत्समानविधानं स्यात् ।।७६।। व्यूढो वा लिङ्गदर्शनात्समूढविकारः स्यात् ।।८०।। कामसंयोगात् ।।८१।। तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात् ।।८२।। एकादशिनवत् त्र्यनीका प्रवृत्तिः स्यात् ।।८३।। स्वस्थानविवृद्धिर्वाऽह्नामप्रत्यक्षसंख्यत्वात् ।।८४।। पृष्ठ्यावृत्तौ चाग्रयणस्य दर्शनात् त्रयस्त्रिंशे परिवृत्तौ पुनरैन्द्रवायवः स्यात् ।।८५।। वचनातपरिवृत्तिरैकादशिनेषु ।।८६।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।८७।। छन्दोव्यतिक्रमाद् व्यूढे भक्षपवमानपरिधिकपालमन्त्राणां यथोत्पत्तिवचनमूहवत्स्यात् ।।८८।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ।।

षष्ठः पादः

एकर्च्वस्थानानि यज्ञे स्युः स्वाध्यायवत् ।।१।। तृचे वा लिङ्गदर्शनात् ।।२।। स्वर्दृशं प्रति वीक्षणं कालमात्रं परार्थत्वात् ।।३।। पृष्ठ्यस्य युगपद्विधेरेकाहवद्द्विसामत्वम् ।।४।। विभक्ते वाऽसमस्तविधानात्तद्विभागेऽप्रतिषिद्धम् ।।५।। समासस्त्वेकादशिनेषु तत्प्रकृतित्वात् ।।६।। विहारप्रतिषेधाच्च ।।७।। श्रुतितो वा लोकवद्विभागः स्यात् ।।८।। विहारप्रकृतित्वाच्च ।।९।। यावच्छक्यं तावद्विहारस्यानुग्रहीतव्यं विशये च तदासत्तेः ।।१०।। त्रयस्तथेति चेत् ।।११।। न समत्वात्प्रयाजवत् ।।१२।। सर्वपृष्ठे पृष्ठशब्दात्तेषां स्यादेकदेशत्वं पृष्ठस्य कृतदेशत्वात् ।।१३।। विधेस्तु विप्रकर्षः स्यात् ।।१४।। वैरूपसामा क्रतुसंयोगात् त्रिवृद्वदेकसामा स्यात् ।।१५।। पृष्ठार्थे वा प्रकृतिलिङ्गसंयोगात् ।।१६।। त्रिवृद्वदिति चेत् ।।१७।। न प्रकृतावकृत्स्नसंयोगात् ।।१८।। विधित्वान्नेति चेत् ।।१९।। न स्याद्विशये तन्न्ययत्वात्कर्माविभागात् ।।२०।। प्रकृतेश्चाविकारात् ।।२१।। त्रिवृति संख्यात्वेन सर्वसंख्याविकारः स्यात् ।।२२।। स्तोमस्य वा तल्लिङ्गत्वात् ।।२३।। उभयसाम्नि विश्वजिद्विभागः स्यात् ।।२४।। पृष्ठार्थे वाऽतदर्थत्वात् ।।२५।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२६।। पृष्ठे रसभोजनमावृत्ते संस्थिते त्रयस्त्रिंशेऽहनि स्यात्तदानन्तर्यात् प्रकृतिवत् ।।२७।। अन्ते वा कृतकालत्वात् ।।२८।। अभ्यासे च तदभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् ।।२९।। अन्ते वा कृतकालत्वात् ।।३०।। आवृत्तिस्तु व्यवाये कालभेदात् ।।३१।। मधु न दीक्षिता ब्रह्मचारित्वात् ।।३२।। प्राश्येते वा यज्ञार्थत्वात् ।।३३।। मानसमहरन्तरं स्याद् द्वादशाहे व्यपदेशात् ।।३४।। तेन च संस्तवात् ।।३५।। अहरन्ताच्च परेण चोदना ।।३६।। पक्षे संख्या सहस्रवत् ।।३७।। अहरङ्गं वांशुवच्चोदनाभावात् ।।३८।। दशमविसर्गवचनाच्च ।।३९।। दशमेऽहन्नीति च तद्गुणशास्त्रात् ।।४०।। संख्यासामञ्जस्यात् ।।४१।। पश्वतिरेके चैकस्य भावात् ।।४२।। स्तुतिव्यपदेशमङ्गेनविप्रतिषिद्धं व्रतवत् ।।४३।। वचनादतदन्तत्वम् ।।४४।। सत्रमेकः प्रकृतिवत् ।।४५।। बहुवचनात्तु बहूनां स्यात् ।।४६।। अपदेशः स्यादिति चेत् ।।४७।। नैकव्यपदेशात् ।।४८।। सन्निवापं च दर्शयति ।।४९।। बहूनामिति चैकस्मिन्विशेषवचनं व्यर्थम् ।।५०।। अन्ये स्युर्ऋत्विजः प्रकृतिवत् ।।५१।। अपि वा यजमानाः स्युर्ऋत्विजामभिधानसंयोगात्तेषां स्याद्यजमानत्वम् ।।५२।। कर्तृसंस्कारो वचनादाधातृवदिति चेत् ।।५३।। स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्प्रकृतिवत् ।।५४।। स्वाम्याख्याः स्युर्गृहपतिवदिति चेत् ।।५५।। न प्रसिद्धग्रहणत्वादसंयुक्तस्य तद्धर्मेण ।।५६।। बहूनामिति तुल्येषु विशेषवचनं नोपपद्यते ।।५७।। दीक्षिताऽदीक्षितव्यपदेशश्च नोपपद्यतेऽर्थयोर्नित्यभावित्वात् ।।५८।। अदक्षिणत्वाच्च ।।५९।। द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायिचोदनेन यजमानबहुत्वेन च सत्रशब्दाभिसंयोगात् ।।६०।। यजतिचोदनादहीनत्वं स्वामिनां चाऽस्थितपरिमाणत्वात् ।।६१।। अहीने दक्षिणाशास्त्रं गुणत्वात् प्रत्यहं कर्मभेदः स्यात् ।।६२।। सर्वस्य वैककर्म्यात् ।।६३।। पृषदाज्यवद्वाऽह्नां गुणशास्त्रं स्यात् ।।६४।। ज्योतिष्टोम्यस्तु दक्षिणाः सर्वासामेककर्मत्वात्प्रकृतिवत् तस्मात्तासां विकारः स्यात् ।।६५।। द्वादशाहे तु वचनात्प्रत्यहं दक्षिणाभेदस्तत्प्रकृतित्वात्परेषु तासां संख्याविकारः स्यात् ।।६६।। परिक्रयाविभागाद्वा समस्तस्य विकारः स्यात् ।।६७।। भेदस्तु गुणसंयोगात् ।।६८।। प्रत्यहं सर्वसंस्कारः प्रकृतिवत् सर्वासां सर्वविशेषत्वात् ।।६९।। एकार्थत्वान्नेति चेत् ।।७०।। उत्पत्तौ कालभेदात् ।।७१।। विभज्य तु संस्कारवचनाद्द्वादशाहवत् ।।७२।। लिङ्गेन द्रव्यनिर्देशे सर्वत्र प्रत्ययः स्याल्लिङ्गस्य सर्वगामित्वात् ।।७३।। यावदर्थं वाऽर्थशेषत्वादतोऽर्थेन परिमाणं स्यात्तस्मिंश्च लिङ्गसामर्थ्यम् ।।७४।। आग्नेये कृत्स्नविधिः ।।७५।। ऋजीषस्य प्रधानत्वादहर्गणे सर्वस्य प्रतिपत्तिः स्यात् ।।७६।। वाससि मानोपावहरणे प्रकृतौ सोमस्य वचनात् ।।७७।। तत्राहर्गणेऽर्थाद्वासः सः प्रकृतिः स्यात् ।।७८।। मानं पत्युत्पादयेत्प्रकृतौ तेन दर्शनादुपावहरणस्य ।।७९।। हरणे वा

श्रुत्यसंयोगादर्थाद्विकृतौ तेन ।।८०।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य षष्टः पादः ।।

सप्तमः पादः

पशारेकहविष्ट्वं समस्तचोदितत्वात् ।।१।। प्रत्यङ्गं वा ग्रहवदङ्गानां पृथक्कल्पनत्वात् ।।२।। हविर्भेदात्कर्मणोऽभ्यासस्तस्मात्तेभ्योऽवदानं स्यात् ।।३।। आज्यभागाद्वा निर्देशात्परिसंख्या स्यात् ।।४।। तेषां वा द्व्यवदानत्वं विवक्षन्नभिनिर्दिशेत्पशोः पञ्चावदानत्वात् ।।५।। अंसशिरोनूकसक्थिप्रतिषेधश्च तदन्यपरिसंख्याने ऽनर्थकः स्यात् प्रदानत्वात्तेषां निरवदानप्रतिषेधः स्यात् ।।६।। अपि वा परिसंख्या स्यादनवदानीयशब्दत्वात् ।।७।। अब्राह्मणे च दर्शनात् ।।८।। शृताशृतोपदेशाच्च तेषामुत्सर्गवदयज्ञशेषत्वं सर्वेषां न श्रपणं स्यात् ।।६।। इज्याशेषात्स्विष्टकृदिज्येत प्रकृतिवत् ।।१०।। त्र्यङ्गैर्वा शरवद्विकारः स्यात् ।।११।। अध्यूध्नी होतुस्त्र्यङ्गवदिडाभक्षविकारः स्यात् ।।१२।। शेषे वा समवैति तस्माद्रथवन्नियमः स्यात् ।।१३।। अशास्त्रत्वात्तु नैवं स्यात् ।।१४।। अपि वा दानमात्रं स्याद्भक्षशब्दानभिसम्बन्धात् ।।१५।। दातुस्त्वविद्यमानत्वादिडाभक्षविकारः स्याच्छेषं प्रत्यविशिष्टत्वात् ।।१६।। आग्नीध्रश्च वनिष्ठुरध्यूध्नीवत् ।।१७।। अप्राकृतत्वान्मैत्रावरुणस्याभक्षत्वम् ।।१८।। स्याद्वा होत्रध्वर्युविकारत्वात्तयोः कर्माभिसम्बन्धात् ।।१६।। द्विभागः स्याद्द्विकर्मत्वात् ।।२०।। एकत्वाद्वैकभागः स्याद् भागस्याश्रुतिभूतत्वात् ।।२१।। प्रतिप्रस्थातुश्च वपाश्रपणात् ।।२२।। अभक्षो वा कर्मभेदात्तस्याः सर्वप्रदानत्वात् ।।२३।। विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्ग्रहणात्पुनः श्रुतिरनर्थिका स्यात् ।।२४।। अपि वाऽऽग्नेयवद्द्विशब्दत्वं स्यात् ।।२५।। न वा शब्दपृथक्त्वात् ।।२६।। अधिकं वाऽर्थवत्वात् स्यादर्थवादगुणाभावे वचनादविकारे तेषु हि तादर्थ्यं स्यादपूर्वत्वात् ।।२७।। प्रतिषेधः स्यादिति चेत् ।।२८।। नाश्रुतत्वात् ।।२६।। अग्रहणादिति चेत् ।।३०।। न तुल्यत्वात् ।।३१।। तथा तद्ग्रहणे स्यात् ।।३२।। अपूर्वतां तु दर्शयेद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वात् ।।३३।। ततोऽपि यावदुक्तं स्यात् ।।३४।। स्विष्टकृद् भक्षप्रतिषेधः स्यात्तुल्यकारणत्वात् ।।३५।। अप्रतिषेधो वा दर्शनादिडायां स्यात् ।।३६।। प्रतिषेधो वा विधिपूर्वस्य दर्शनात् ।।३७।। शंय्विडान्तत्वे विकल्पः स्यात् परेषु पत्न्यनुयाजप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ।।३८।। नित्यानुवादो वा कर्मणः स्यादशब्दत्वात् ।।३६।। प्रतिषेधार्थवच्चोत्तरस्य परस्तात्प्रतिषेधः स्यात् ।।४०।। प्राप्तेर्वा पूर्वस्य वचनादतिक्रमः स्यात् ।।४१।। प्रतिषेधस्य त्वरायुक्तत्वात्तस्य च नान्यदेशत्वम् ।।४२।। उपसत्सु यावदुक्तकर्म स्यात् ।।४३।। स्रौवेण वाऽगुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ।।४४।। अप्रतिषेधो वा प्रतिषिध्य प्रतिप्रसवात् ।।४५।। अनिज्या वा शेषस्य मुख्यदेवतानभीज्यत्वात् ।।४६।। अवभृथे बर्हिषः प्रतिषेधाच्छेषकर्म स्यात् ।।४७।। आज्यभागयोर्वा गुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ।।४८।। प्रयाजानां त्वेकदेशप्रतिषेधाद्वाक्यशेषत्वं तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ।।४६।। आज्यभागयोर्ग्रहणं नित्यानुवादो वा गृहमेधीयवत्स्यात् ।।५०।। विरोधिनामेकश्रुतौ नियमः स्याद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वाच्छरवच्च श्रुतितो विशिष्टत्वात् ।।५१।। उभयप्रदेशान्नेति चेत् ।।५२।। शरेष्वपीति चेत् ।।५३।। विरोध्यग्रहणात्तथा शरेष्विति चेत् ।।५४।। तथेतरस्मिन् ।।५५।। श्रुत्यानर्थक्यमिति चेत् ।।५६।। ग्रहणस्यार्थवत्वादुभयोरप्रतिपत्तिः स्यात् ।।५७।। सर्वासाञ्च गुणानामर्थवत्त्वाद् ग्रहणमप्रवृत्ते स्यात् ।।५८।। अधिकं स्यादिति चेत् ।।५६।। नार्थाभावात् ।।६०।। तथैकार्थविकारे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः प्रवृत्तौ हि विकल्पः स्यात् ।।६१।। यावच्छ्रुतीति चेत् ।।६२।। न प्रकृतावशब्दत्वात् ।।६३।। विकृतौ त्वनियमः स्यात्पृषदाज्यवद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वादुभयोश्च प्रदिष्टत्वाद् गुणशास्त्रं

यदेति स्यात् ।।६४।। ऐकार्थ्याद्वा नियम्येत श्रुतितो विशिष्टत्वात् ।।६५।। विरोधित्वाच्च लोकवत् ।।६६।। क्रतोश्च तद्गुणत्वात् ।।६७।। विरोधिनाञ्च तच्छ्रुतावशब्दत्वाद्विकल्पः स्यात् ।।६८।। पृषदाज्ये समुच्चयाद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वम् ।।६९।। क्रत्वन्तरे वा तन्न्यायत्वात्कर्मभेदात् ।।७०।। यथाश्रुतीति चेत् ।।७१।। न चोदनैकत्वात् ।।७२।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य सप्तमः पादः ।।

अष्टमः पादः

प्रतिषेधः प्रदेशेऽनारभ्यविधाने प्राप्तप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः स्यात् ।।१।। अर्थप्राप्तवदिति चेत् ।।२।। न, तुल्यहेतुत्वादुभयं शब्दलक्षणम् ।।३।। अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्यायत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात् ।।४।। अपूर्वे चार्थवादः स्यात् ।।५।। शिष्ट्वा तु प्रतिषेधः स्यात् ।।६।। न चेदन्यं प्रकल्पयेत्प्रक्लृप्तावर्थवादः स्यादानर्थक्यात्परसामर्थ्यात् ।।७।। पूर्वैश्च तुल्यकालत्वात् ।।८।। उपवादश्च तद्वत् ।।९।। प्रतिषेधादकर्मेति चेत् ।।१०।। न शब्दपूर्वत्वात् ।।११।। दीक्षितस्य दान-होम-पाक-प्रतिषेधोऽविशेषात्सर्व-दान-होम-पाक-प्रतिषेधः स्यात् ।।१२।। अक्रतुयुक्तानां वा धर्मः स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।।१३।। तस्य वाऽप्यानुमानिकमविशेषात् ।।१४।। अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात् प्रतिषेधे विकल्पः स्यात् ।।१५।। अविशेषेण यच्छास्त्रमन्यायत्वाद्विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद्विशेषाशिष्टं स्यात् ।।१६।। अप्रकरणे तु यच्छास्त्रं विशेषे श्रूयमाणमविकृतमाज्यभागवत् प्राकृतप्रतिषेधार्थम् ।।१७।। विकारे तु तदर्थं स्यात् ।।१८।। वाक्यशेषो वा क्रतुनाऽग्रहणात् स्यादनारभ्यविधानस्य ।।१९।। मन्त्रेष्ववाक्यशेषत्वं गुणोपदेशात्स्यात् ।।२०।। अनाम्नाते दर्शनात् ।।२१।। प्रतिषेधाच्च ।।२२।। अग्न्यतिग्राह्यस्य विकृतावुपदेशादप्रवृत्तिः स्यात् ।।२३।। मासि ग्रहणं च तद्वत् ।।२४।। ग्रहणं वा तुल्यत्वात् ।।२५।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२६।। ग्रहणं समानविधानं स्यात् ।।२७।। मासि ग्रहणमभ्यासप्रतिषेधार्थम् ।।२८।। उत्पत्तितादर्थ्याच्चतुरवत्तं प्रधानस्य होमसंयोगादधिकमाज्यमतुल्यत्वाल्लोकवदुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ।।२९।। तत्संस्कारश्रुतेश्च ।।३०।। ताभ्यां वा सह स्विष्टकृतः सहत्वे द्विरभिधारणेन तदाप्तिवचनात् ।।३१।। तुल्यवच्चाभिधाय सर्वेषु भक्त्यनुक्रमणात् ।।३२।। साप्तदश्यवन्नियम्येत ।।३३।। हविषो वा गुणभूतत्वात्तथाभूतविवक्षा स्यात् ।।३४।। पुरोडाशाभ्यामित्यधिकृतानां पुरोडाशयोरुपदेशस्तच्छ्रुतित्वाद्वैश्यस्तोमवत् ।।३५।। न त्वनित्याधिकारोऽस्ति विधेर्नित्येन सम्बन्धस्तस्मादवाक्यशेषत्वम् ।।३६।। सति च नैकदेशेन कर्त्तुः प्रधानभूतत्वात् ।।३७।। कृत्स्नत्वात्तु तथा स्तोमे ।।३८।। कर्त्तुः स्यादिति चेत् ।।३९।। न गुणार्थत्वात्प्राप्ते न चोपदेशार्थः ।।४०।। कर्मणोस्तु प्रकरणे तन्न्यायत्वाद् गुणानां लिङ्गेन न कालशास्त्रं स्यात् ।।४१।। यदि तु सान्नाय्यं सोमयाजिनो न ताभ्यां समवायोऽस्ति विभक्तकालत्वात् ।।४२।। अपि वा विहितत्वाद्गुणार्थायां पुनः श्रुतौ सन्देहे श्रुतिर्द्विदेवतार्था स्याद्यथाऽनभिप्रेतस्तथाऽऽग्नेयो दर्शनादेकदेवते ।।४३।। विधिं तु बादरायणः ।।४४।। प्रतिषिद्धविज्ञानाद्वा ।।४५।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।४६।। उपांशुयाजमन्तरा यजतीति हविर्लिङ्गाश्रुतित्वाद्यथाकामी प्रतीयेत ।।४७।। ध्रौवाद्वा सर्वसंयोगात् ।।४८।। तद्वच्च देवतायां स्यात् ।।४९।। तन्त्रीणां प्रकरणात् ।।५०।। धर्माद्वा स्यात्प्रजापतिः ।।५१।। देवतायास्त्वनिर्वचनं तत्र शब्दस्येह मृदुत्वं तस्मादिहाधिकारेण ।।५२।। विष्णुर्वा स्याद्धौत्राम्नानादमावास्याहविश्च स्याद्धौत्रस्य तत्र दर्शनात् ।।५३।। अपि वा पौर्णमास्यां स्यात्प्रधानशब्दसंयोगाद् गुणत्वान्मन्त्रो यथाप्रधानं स्यात् ।।५४।। आनन्तर्यं च सान्नाय्यस्य पुरोडाशेन दर्शयत्यमावास्याविकारे ।।५५।। अग्नीषोमविधानात्तु पौर्णमास्यामुभयत्र

विधीयते ।।५६।। प्रतिषिद्ध्य विधानाद्वा विष्णुः समानदेशः स्यात् ।।५७।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।५८।। न चानङ्गं सकृच्छ्रुतावुभयत्र विधीयेतासम्बन्धात् ।।५६।। विकारे चाश्रुतित्वात् ।।६०।। द्विपुरोडाशायां स्यादन्तरालगुणार्थत्वात् ।।६१।। अजामिकरणार्थत्वाच्च ।।६२।। तदर्थमिति चेन्न, तत्प्रधानत्वात् ।।६३।। अशिष्टेन च सम्बन्धात् ।।६४।। उत्पत्तेस्तु निवेशः स्याद् गुणस्यानुपरोधेनार्थस्य विद्यमानत्वाद्विधानादन्तरार्थस्य नैमित्तिकत्वात्तदभावेऽश्रुतौ स्यात् ।।६५।। उभयोस्तु विधानात् ।।६६।। गुणानाञ्च परार्थत्वादुपवेषवद् यदेति स्यात् ।।६७।। अनपायश्च कालस्य लक्षणं हि पुरोडाशौ ।।६८।। प्रशंसार्थमजामित्वम् ।।६६।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य अष्टमः पादः ।।

।। इति दशमोऽध्यायः ।।

एकादशोऽध्यायः

प्रथमः पादः

प्रयोजनाभिसम्बन्धात्पृथक् सतां ततः स्यादैककर्म्यमेकशब्दाभिसंयोगात् ।।१।। शेषवद्वा प्रयोजनं प्रतिकर्म विभज्येत ।।२।। अविधानात्तु नैवं स्यात् ।।३।। शेषस्य हि परार्थत्वाद्विधानात्प्रतिप्रधानभावः स्यात् ।।४।। अङ्गानां तु शब्दभेदात्क्रतुवत्स्यात् फलान्यत्वम् ।।५।। अर्थभेदस्तु तत्रार्थे हैकार्थ्यादैककर्म्यम् ।।६।। शब्दभेदान्नेति चेत् ।।७।। कर्मार्थत्वात्प्रयोगे ताच्छब्द्यं स्यात्तदर्थत्वात् ।।८।। कर्तृविधेर्नानार्थत्वाद्गुणप्रधानेषु ।।६।। आरम्भस्य शब्दपूर्वत्वात् ।।१०।। एकेनापि समाप्येत कृतार्थत्वाद् यथा क्रत्वन्तरेषु प्राप्तेषु चोत्तरावत्स्यात् ।।११।। फलाभावादिति चेत् ।।१२।। न कर्मसंयोगात्प्रयोजनमशब्ददोषं स्यात् ।।१३।। ऐकशब्द्यादिति चेत् ।।१४।। नार्थपृथक्त्वात्समत्वादगुणत्वम् ।।१५।। विधेस्त्वेकश्रुतित्वादपर्यायविधानान्नित्यवच्छ्रुतिभूताभिसंयोगार्थेन युगपत्प्राप्तेर्यथा क्रमं स्वशब्दो निवीतवत्तस्मात्सर्वप्रयोगे प्रवृत्तिः स्यात् ।।१६।। तथा कर्मोपदेशः स्यात् ।।१७।। क्रत्वन्तरेषु पुनर्वचनम् ।।१८।। उत्तरास्वश्रुतित्वाद्विशेषाणां कृतार्थत्वात्स्वदोहे यथाकामी प्रतीयेत ।।१६।। कर्मण्यारम्भभाव्यत्वात्कृषिवत् प्रत्यारम्भं फलानि स्युः ।।२०।। अधिकारश्च सर्वेषां कार्यत्वादुपपद्यते विशेषः ।।२१।। सकृत्तु स्यात्कृतार्थत्वादङ्गवत् ।।२२।। शब्दार्थश्च तथा लोके ।।२३।। अपि वा सम्प्रयोगे यथाकामीप्रतीयेताश्रुतित्वाद्विधिषु वचनानि स्युः ।।२४।। ऐकशब्द्यात्तथाङ्गेषु ।।२५।। लोके कर्माऽर्थलक्षणम् ।।२६।। क्रियाणामर्थशेषत्वात्प्रत्यक्षमतस्तन्निर्वृत्याऽपवर्गः स्यात् ।।२७।। धर्ममात्रे त्वदर्शनाच्छब्दार्थेनापवर्गः स्यात् ।।२८।। क्रतुवच्चानुमानेनाभ्यासे फलभूमा स्यात् ।।२६।। सकृद्वा कारणैकत्वात् ।।३०।। परिमाणे चानियमे न स्यात् ।।३१।। फलारम्भनिर्वृत्तेः क्रतुषु स्यात् फलान्यत्वम् ।।३२।। अर्थवांस्तु नैकत्वादभ्यासः स्यादनर्थको यथा भोजनमेकस्मिन्नर्थस्यापरिमाणत्वात्प्रधाने च क्रियार्थत्वादनियमः स्यात् ।।३३।। पृथक्त्वाद्विधितः परिमाणं स्यात् ।।३४।। अनभ्यासो वा प्रयोगवचनैकत्वात्सर्वस्य युगपच्छास्त्रादफलत्वाच्च कर्मणः स्यात्क्रियार्थत्वात् ।।३५।। अभ्यासो वा छेदनसम्मार्गाऽवदानेषु वचनात्सकृत्त्वस्य ।।३६।। अनभ्यासस्तु वाच्यत्वात् ।।३७।। बहुवचनेन सर्वप्राप्तेर्विकल्पः स्यात् ।।३८।। दृष्टः प्रयोग इति

चेत् ।।३६।। तथेह ।।४०।। भक्त्येति चेत् ।।४१।। तथेतरस्मिन् ।।४२।। प्रथमं वा नियम्येत कारणादतिक्रमः स्यात् ।।४३।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।४४।। प्रकृत्या च पूर्ववत्तदासत्तेः ।।४५।। उत्तरासु न यावत्स्वमपूर्वत्वात् ।।४६।। यावत्स्वं वाऽन्यविधानेनानुवादः स्यात् ।।४७।। साकल्यविधानात् ।।४८।। बह्वर्थत्वाच्च ।।४६।। अग्निहोत्रे चाशेषवद्यवागूनियमः ।।५०।। तथा पयः प्रतिषेधः कुमाराणाम् ।।५१।। सर्वप्रापिणापि लिङ्गेन संयुज्य देवताभिसंयोगात् ।।५२।। प्रधानकर्मार्थत्वादङ्गानां तद् भेदात् कर्मभेदः प्रयोगे स्यात् ।।५३।। क्रमकोपश्च यौगपद्ये स्यात् ।।५४।। तुल्यानां तु यौगपद्यमेकशब्दोपदेशात् स्याद्विशेषाग्रहणात् ।।५५।। एकार्थ्यादव्यवायः स्यात् ।।५६।। तथा चान्यार्थदर्शनं कामुकायनः ।।५७।। तन्न्यायत्वादशक्तेरानुपूर्व्यं स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।५८।। असंसृष्टोऽपि तादर्थ्यात् ।।५६।। विभवाद्वा प्रदीपवत् ।।६०।। अर्थात्तु लोके विधिः प्रतिप्रधानं स्यात् ।।६१।। सकृदिज्यां कामुकायनः परिमाणविरोधात् ।।६२।। विधेस्त्वितरार्थत्वात् सकृदिज्याश्रुतिव्यतिक्रमः स्यात् ।।६३।। विधिवत्प्रकरणाविभागे प्रयोगं बादरायणः ।।६४।। क्वचिद्विधानान्नेति चेत् ।।६५।। न विधेश्चोदितत्वात् ।।६६।। व्याख्यातं तुल्यानां यौगपद्यमगृह्यमाणविशेषाणाम् ।।६७।। भेदस्तु कालभेदाच्चोदनाव्यवायात् स्याद्विशिष्टानां विधिः प्रधानकालत्वात् ।।६८।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।६६।। विधिरिति चेन्न वर्तमानापदेशात् ।।७०।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

एकदेशकालकर्तृत्वं मुख्यानामेकशब्दोपदेशात् ।।१।। अविधिश्चेत्कर्मणामभिसम्बन्धः प्रतीयेत तल्लक्षणार्थाभिसंयोगाद् विधित्वाच्चेतरेषां प्रतिप्रधानं भावः स्यात् ।।२।। अङ्गेषु च तदभावः प्रधानं प्रति निर्देशात् ।।३।। यदि तु कर्मणो विधिसम्बन्धः स्यादैकशब्द्यात्प्रधानार्थाभिसंयोगात् ।।४।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।५।। श्रुतिश्चैषां प्रधानवत्कर्मश्रुतेः परार्थत्वात्कर्मणोऽश्रुतित्वाच्च ।।६।। अङ्गानि तु विधानत्वात्प्रधानोपदिश्येरंस्तस्मात्स्यादेकदेशत्वम् ।।७।। द्रव्यदेवतं तथेति चेत् ।।८।। न चोदना विधिशेषत्वान्नियमार्थो विशेषः ।।६।। तेषु समवेतानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि भेदस्तु तद्भेदात्कर्मभेदः प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात्तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।१०।। इष्टिराजसूयचातुर्मास्येष्वैककर्म्यादङ्गानां तन्त्रभावः स्यात् ।।११।। कालभेदान्नेति चेत् ।।१२।। नैकदेशत्वात्पशुवत् ।।१३।। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां तन्त्रविधानात्साङ्गानामुपदेशः स्यात् ।।१४।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।१५।। तदऽवयवेषु स्यात् ।।१६।। पशौ तु चोदनैकत्वात्तन्त्रस्य विप्रकर्षः स्यात् ।।१७।। तथा स्यादध्वरकल्पेष्टौ विशेषैककालत्वात् ।।१८।। इष्टिरिति चैकवच्छ्रुतिः ।।१६।। न वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां च तन्त्रविधानात्साङ्गानामुपदेशः स्यात् ।।२०।। प्रथमस्य वा कालवचनम् ।।२१।। फलैकत्वादिष्टिशब्दो यथान्यत्र ।।२२।। वसाहोमस्तन्त्रमेकदेवत्येषु स्यात् प्रदानस्यैककालत्वात् ।।२३।। कालभेदात्त्वावृत्तिर्देवताभेदे ।।२४।। अन्ते यूपाहुतिस्तद्वत् ।।२५।। इतरप्रतिषेधो वा अनुवादमात्रमन्तिकस्य ।।२६।। अशास्त्रत्वाच्च देशानाम् ।।२७।। अवभृथे प्रधानेऽग्निविकारः स्यान्न हि तद्धेतुरग्निसंयोगः ।।२८।। द्रव्यदेवतावत् ।।२६।। साङ्गो वा प्रयोगवचनैकत्वात् ।।३०।।

लिङ्गदर्शनाच्च ।।३१।। शब्दविभागाच्च देवतानपनयः ।।३२।। दक्षिणेऽग्नौ वरुणप्रधासेषु देशभेदात्सर्वं विक्रियते ।।३३।। अचोदनेति चेत् ।।३४।। स्यात्पौर्णमासीवत् ।।३५।। प्रयोगचोदनेति चेत् ।।३६।। तथेह ।।३७।। आसादनमिति चेत् ।।३८।। नोत्तरेणैकवाक्यत्वात् ।।३९।। अवाच्यत्वात् ।।४०।। आम्नायवचनं तद्वत् ।।४१।। कर्तृभेदस्तथेति चेत् ।।४२।। न समवायात् ।।४३।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।४४।। वेदिसंयोगादिति चेत् ।।४५।। न देशमात्रत्वात् ।।४६।। एकाग्नित्वादपरेषु तन्त्रैः स्यात् ।।४७।। नाना वा कर्तृभेदात् ।।४८।। पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे प्राजापत्यानां कर्मोत्सर्गः श्रुतिसामान्यादारण्यवत्तस्माद् ब्रह्मसाम्नि चोदनापृथक्त्वं स्यात् ।।४९।। संस्कारप्रतिषेधो वा वाक्यैकत्वे क्रतुसामान्यात् ।।५०।। वपानां चानभिधारणस्य दर्शनात् ।।५१।। पञ्चशारदीयास्तथेति चेत् ।।५२।। न चोदनैकवाक्यत्वात् ।।५३।। संस्कारणां च दर्शनात् ।।५४।। दशपेये क्रयप्रतिकर्षात्प्रतिकर्षस्ततः प्राचां तत्समानं तन्त्रं स्यात् ।।५५।। समानवचनं तद्वत् ।।५६।। अप्रतिकर्षो वाऽर्थहेतुत्वात्सहत्वं विधीयते ।।५७।। पूर्वस्मिश्चावभृथस्य दर्शनात् ।।५८।। दीक्षाणां चोत्तरस्य ।।५९।। समानः कालसामान्यात् ।।६०।। निष्कासस्यावभृथे तदेकदेशत्वात्पशुवत्प्रदानविप्रकर्षः स्यात् ।।६१।। अपनयो वा प्रसिद्धेनाभिसंयोगात् ।।६२।। प्रतिपत्तिरिति चेन्न; कर्मसंयोगात् ।।६३।। उदयनीये च तद्वत् ।।६४।। प्रतिपत्तिर्वाऽकर्मसंयोगात् ।।६५।। अर्थकर्म वा शेषत्वाच्छयणवत्तदर्थेन विधानात् ।।६६।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्वचनादन्यकालत्वम् ।।१।। द्रव्यस्याकर्मकालनिष्पत्तेः प्रयोगः सर्वार्थः स्यात्स्वकालत्वात् ।।२।। यूपश्चाकर्मकालत्वात् ।।३।। संस्कारास्त्वावर्तेरन्नर्थकालत्वात् ।।४।। तत्कालस्तु यूपकर्मत्वात्तस्य धर्मविधानात्सर्वार्थानां च वचनादन्यकालत्वम् ।।५।। सकृन्मानं च दर्शयति ।।६।। स्वरुस्तन्त्रापवर्गः स्यादस्वकालत्वात् ।।७।। साधारणे वाऽनुनिष्पत्तिस्तस्य साधारणत्वात् ।।८।। सोमान्ते च प्रतिपत्तिदर्शनात् ।।९।। तत्कालो वा प्रस्तरवत् ।।१०।। न चोत्पत्तिवाक्यत्वात्प्रदेशात्प्रस्तरे तथा ।।११।। अहर्गणे विषाणाप्रासनं धर्मविप्रतिषेधादन्त्ये प्रथमे वाहनि विकल्पः स्यात् ।।१२।। पाणेस्त्वश्रुतिभूतत्वाद्विषाणानियमः स्यात्प्रातःसवन-मध्यात्वाच्छिष्टे चाभिप्रवृत्तत्वात् ।।१३।। वाग्विसर्गो हविष्कृता बीजभेदे तथा स्यात् ।।१४।। पशौ च पुरोडाशे समानतन्त्रं भवेत् ।।१५।। अग्नियोगः सोमकाले तदर्थत्वात् संस्कृतकर्मणः परेषु साङ्गस्य तस्मात्सर्वापवर्गे विमोकः स्यात् ।।१६।। प्रधानापवर्गे वा तदर्थत्वात् ।।१७।। अवभृथे च तद्वत्प्रधानार्थस्य प्रतिषेधोऽपवृक्तार्थत्वात् ।।१८।। अहर्गणे च प्रत्यहं स्यात्तदर्थत्वात् ।।१९।। सुब्रह्मण्या तु तन्त्रं दीक्षावदन्यकालत्वात् ।।२०।। तत्कालत्वादावर्तेत प्रयोगवती विशेषसम्बन्धात् ।।२१।। अप्रयोगाङ्गमिति चेत् ।।२२।। स्यात्प्रयोगनिर्देशात्कर्तृ-भेदवत् ।।२३।। तद्भूतस्थानादग्निवदिति चेत्तदपवर्गस्तदर्थत्वात् ।।२४।। अग्निवदिति चेत् ।।२५।। न प्रयोगसाधारण्यात् ।।२६।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२७।। तद्धि तथेति चेत् ।।२८।। नाशिष्टत्वादितरन्यायत्वाच्च ।।२९।। विध्येकत्वादिति चेत् ।।३०।। न कृत्स्नस्य पुनः प्रयोगात् प्रधानवत् ।।३१।। लौकिकेषु यथाकामी संस्कारानर्थलोपात् ।।३२।। यज्ञायुधानि धार्येरन्प्रतिपत्तिविधानादृजीषवत् ।।३३।। यजमानसंस्कारो वा तदर्थः श्रूयते तत्र यथाकामी तदर्थत्वात् ।।३४।। मुख्यसाधारणं वा मरणस्यानियतत्वात् ।।३५।। यो वा यजनीयेऽहनि म्रियेत सोऽधिकृतः स्यादुपवेषवत् ।।३६।। न शास्त्रलक्षणत्वात् ।।३७।। उत्पत्तिर्वा प्रयोजकत्वादाशिरवत् ।।३८।।

शब्दसामञ्जस्यमिति चेत् ।।३६।। तथाऽऽशिरे ।।४०।। शास्त्रात्तु विप्रयोगस्तत्रैकद्रव्यचिकीर्षा प्रकृतावथेहापूर्वार्थवद् भूतोपदेशः ।।४१।। प्रकृत्यर्थत्वात्पौर्णमास्याः क्रियेरन् ।।४२।। अग्न्याधेये वा विप्रतिषेधात्तानि धारयेन्मरणस्यानिमित्तत्वात् ।।४३।। प्रतिपत्तिर्वा यथान्येषाम् ।।४४।। उपरिष्टात्सोमानां प्राजापत्यैश्चरन्तीति सर्वेषामविशेषादवाच्यो हि प्रकृतिकालः ।।४५।। अङ्गविपर्यासो विना वचनादिति चेत् ।।४६।। उत्कर्षः संयोगात्कालमात्रमितरत्र ।।४७।। प्रकृतिकालासत्तेः शस्त्रवतामिति चेत् ।।४८।। न श्रुतिप्रतिषेधात् ।।४९।। विकारस्थान इति चेत् ।।५०।। न चोदना- पृथक्त्वात् ।।५१।। उत्कर्षे सूक्तवाकस्य न सोमदेवतानामुत्कर्षः पश्वनङ्गत्वाद्यथा निष्कर्षेऽनन्वयः ।।५२।। वाक्यसंयोगाद्वोत्कर्षः समानतन्त्रत्वादर्थलोपादनन्वयः ।।५३।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

चोदनैकत्वाद्राजसूयेऽनुक्तदेशकालानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि ।।१।। प्रतिदक्षिणं वा कर्तृसम्बन्धादिष्टि-वदङ्गभूतत्वात्समुदायो हि तन्निर्वृत्या तदेकत्वादेकशब्दोपदेशः स्यात् ।।२।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।३।। अनियमः स्यादिति चेत् ।।४।। नोपदिष्टत्वात् ।।५।। लाघवातिपत्तिश्च ।।६।। प्रयोजनैकत्वात् ।।७।। विशेषार्था पुनः श्रुतिः ।।८।। अवेष्टौ चैकतन्त्र्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ।।९।। वचनात्कामसंयोगेन ।।१०।। क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णसंयोगात् ।।११।। पवमानहविष्वैकतन्त्र्यं प्रयोगवचनैकत्वात् ।।१२।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१३।। वचनात्तु तन्त्रभेदः स्यात् ।।१४।। सहत्वे नित्यानुवादः स्यात् ।।१५।। द्वादशाहे तत्प्रकृतित्वा-देकैकमहरपवृज्येत कर्मपृथक्त्वात् ।।१६।। अह्नं वा श्रुतिभूतत्वात्तत्र साङ्गं क्रियेत तथा माध्यन्दिने ।।१७।। अपि वा फलकर्तृसम्बन्धात् सहप्रयोगः स्यादाग्नेयाग्नीषोमीयवत् ।।१८।। साङ्गकालश्रुतित्वाद्वा स्वस्थानानां विकारः स्यात् ।।१९।। तदपेक्षं च द्वादशत्वम् ।।२०।। दीक्षोपसदां च संख्या पृथक् पृथक् प्रत्यक्षसंयोगात् ।।२१।। वसतीवरीपर्यन्तानि पूर्वाणि तन्त्रमन्यकालत्वादवभृथादीन्युत्तराणि दीक्षाविसर्गार्थत्वात् ।।२२।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।२३।। चोदनापृथक्त्वे त्वैकतन्त्र्यं समवेतानां कालसंयोगात् ।।२४।। भेदस्तु तद्भेदात्कर्मभेदः प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ।।२५।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।२६।। श्वःसुत्यावचनं च तद्वत् ।।२७।। पश्वतिरेकश्च ।।२८।। सुत्याविवृद्धौ सुब्रह्मण्यायां सर्वेषामुपलक्षणं प्रकृत्यन्वयादावाहनवत् ।।२९।। अपि वेन्द्राभिधानत्वात्सकृत्स्यादुपलक्षणं कालस्य लक्षणार्थत्वादविभागाच्च ।।३०।। पशुगणे कुम्भीशूलवपाश्रपणीनां प्रभुत्वात्तन्त्रभावः स्यात् ।।३१।। भेदस्तु सन्देहाद्देवतान्तरे स्यात् ।।३२।। अर्थाद्वा लिङ्गकर्म स्यात् ।।३३।। अयाज्यत्वाद्वसानां भेदः स्यात्स्वयाज्याप्रदानत्वात् ।।३४।। अपि वा प्रतिपत्तित्वात्तन्त्रं स्यात् स्वत्वस्याश्रुतिभूतत्वात् ।।३५।। सकृदिति चेत् ।।३६।। न कालभेदात् ।।३७।। जात्यन्तरेषु भेदः पंक्तिवैषम्यात् ।।३८।। वृद्धिदर्शनाच्च ।।३९।। कपालानि च कुम्भीवत्तुल्यसंख्यानाम् ।।४०।। प्रतिप्रधानं वा प्रकृतिवत् ।।४१।। सर्वेषां चाभिप्रथमं स्यात् ।।४२।। एकद्रव्ये संस्काराणां व्याख्यातमेककर्मत्वम् ।।४३।। द्रव्यान्तरे कृतार्थत्वात्तस्य पुनः प्रयोगान्मन्त्रस्य च तद्गुणत्वात् पुनः प्रयोगः स्यात्तदर्थेन विधानात् ।।४४।। निर्वपणलवनस्तरणाज्यग्रहणेषु च एकद्रव्य- वत्प्रयोजनैकत्वात् ।।४५।। द्रव्यान्तरवद्वा स्यात्तत्संस्कारात् ।।४६।। वेदिप्रोक्षणे मन्त्राभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् ।।४७।। एकस्य वा

गुणविधिर्द्रव्यैकत्वात्तस्मात्सकृत्प्रयोगः स्यात् ।।४८।। कण्डूयने प्रत्यङ्गं कर्मभेदात् स्यात् ।।४६।। अपि वा चोदनैककालमेककर्म्यं स्यात् ।।५०।। स्वप्ननदीतरणाभिवर्षणामेध्यप्रतिमन्त्रणेषु चैवम् ।।५१।। प्रयाणे त्वार्थनिर्वृत्तेः ।।५२।। उपरवमन्त्रस्तन्त्रं स्याल्लोकवद्बहुवचनात् ।।५३।। न सन्निपातित्वादसन्निपातिकर्मणां विशेषग्रहणे कालैकत्वात्सकृद् वचनम् ।।५४।। हविष्कृदध्रिगुपुरोऽनुवाक्यामनोतस्यावृत्तिः कालभेदात्स्यात् ।।५५।। अध्रिगोश्च विपर्यासात् ।।५६।। करिष्यद्वचनात् ।।५७।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।। इति एकादशोऽध्यायः ।।

द्वादशोऽध्यायः

प्रथमः पादः

तन्त्रिसमवाये चोदनातः समानामेकतन्त्रत्वमतुल्येषुतु भेदः स्यात्, विधिप्रक्रमतादर्थ्यात्तादर्थ्ये श्रुतिकालनिर्देशात् ।।१।। गुणकालविकाराच्च तन्त्रभेदः स्यात् ।।२।। तन्त्रमध्ये विधानाद्वा मुख्यतन्त्रेण सिद्धिः स्यात्तन्त्रार्थस्याविशिष्टत्वात् ।।३।। विकाराच्च न भेदः स्यादर्थस्याविकृतत्वात् ।।४।। एकेषां चाशक्यत्वात् ।।५।। एकाग्निवच्च दर्शनम् ।।६।। जैमिनेः परतन्त्रत्वापत्तेः स्वतन्त्रप्रतिषेधः स्यात् ।।७।। नानार्थत्वात्सोमे दर्शपूर्णमासप्रकृतीनां वेदिकर्म स्यात् ।।८।। अकर्म वा कृतदूषा स्यात् ।।६।। पात्रेषु च प्रसङ्गः स्याद्धोमार्थत्वात् ।।१०।। न्याय्यानि वा प्रयुक्तत्वादप्रयुक्ते प्रसङ्गः स्यात् ।।११।। शामित्रे च पशुपुरोडाशो न स्यादितरस्य प्रयुक्तत्वात् ।।१२।। श्रपणं चाग्निहोत्रस्य शालामुखीये न स्यात्प्राजहितस्य विद्यमानत्वात् ।।१३।। हविर्धाने निर्वपणार्थं साधयेतां प्रयुक्तत्वात् ।।१४।। अप्रसिद्धिर्वाऽन्य देशत्वात्प्रधानवैगुण्यादवैगुण्ये प्रसङ्गः स्यात् ।।१५।। अनसां च दर्शनात् ।।१६।। तद्युक्तं च कालभेदात् ।।१७।। मन्त्राश्च सन्निपातित्वात् ।।१८।। धारणार्थत्वात्सोमेऽग्न्यन्वाधानं न विद्यते ।।१६।। तथा व्रतमुपेतत्वात् ।।२०।। विप्रतिषेधाच्च ।।२१।। सत्यवदिति चेत् ।।२२।। न संयोगपृथक्त्वात् ।।२३।। ग्रहार्थं च पूर्वमिष्टेस्त-दर्थत्वात् ।।२४।। शेषवदिति चेत् ।।२५।। न वैश्वदेवो हि ।।२६।। स्याद्व्यपदेशात् ।।२७।। न; गुणार्थत्वात् ।।२८।। सन्नहनञ्च वृत्तत्वात् ।।२६।। अन्यविधानादारण्यभोजनं न स्यादुभयं हि वृत्यर्थम् ।।३०।। शेषभक्षास्तथेति चेन्नान्यार्थत्वात् ।।३१।। भृतत्वाच्च परिक्रयः ।।३२।। शेषभक्षास्तथेति चेत् ।।३३।। न कर्मसंयोगात् ।।३४।। प्रवृत्तवरणात्प्रतितन्त्रं वरणं होतुः क्रियेत ।।३५।। ब्रह्मापीति चेत् ।।३६।। न प्राङ् नियमात्तदर्थं हि ।।३७।। निर्दिष्टस्येति चेत् ।।३८।। नाश्रुतत्वात् ।।३६।। होतुस्तथेति चेत् ।।४०।। न कर्मसंयोगात् ।।४१।। यज्ञोत्पत्युपदेशे निष्ठितकर्मप्रयोगभेदात्प्रतितन्त्रं क्रियेत ।।४२।। न वा कृतत्वात्तदुपदेशो हि ।।४३।। देशपृथक्त्वान्मन्त्रोऽभ्यावर्तते ।।४४।। सन्नहनहरणे तथेति चेत् ।।४५।। नान्यार्थत्वात् ।।४६।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्याय प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

विहारो लौकिकानामर्थं साधयेत् प्रभुत्वात् ।।१।। मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत् ।।२।। निर्देशाद्वा वैदिकानां स्यात् ।।३।। सति चोपासनस्य दर्शनात् ।।४।। अभावदर्शनाच्च ।।५।। मांसपाको विहितप्रतिषेधः स्याद् वाऽऽहुतिसंयोगात् ।।६।। वाक्यशेषो वा दक्षिणास्मिन्नानारभ्यविधानस्य ।।७।। सवनीये छिद्रापिधानार्थत्वात् पशुपुरोडाशो न स्यादन्येषामेवमर्थत्वात् ।।८।। क्रिया वा देवतार्थत्वात् ।।९।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१०।। हविष्कृत्सवनीयेषु न स्यात्प्रकृतौ यदि सर्वार्था पशुं प्रत्याहूता सा कुर्याद्विद्यमानत्वात् ।।११।। पशौ तु संस्कृते विधानात्तार्तीयसवनिकेषु स्यात्सौम्याश्विनयोश्चापवृक्तार्थत्वात् ।।१२।। योगाद्वा यज्ञाय तद्विमोके विसर्गः स्यात् ।।१३।। निशि यज्ञे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः स्यात्प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।।१४।। कालवाक्यभेदाच्च तन्त्रभेदः स्यात् ।।१५।। वेद्युद्धननव्रतं विप्रतिषेधात्तदेव स्यात् ।।१६।। तन्त्रमध्ये विधानाद्वा तत्तन्त्रा सवनीयवत् ।।१७।। वैगुण्यादिध्माबर्हिर्नं साधयेदग्न्याधानं च यदि देवतार्थम् ।।१८।। आरम्भणीया विकृतौ न स्यात्प्रकृतिकालमध्यत्वात्कृता पुनस्तदर्थेन ।।१९।। स्याद्वा कालस्याशेषभूतत्वात् ।।२०।। प्रारम्भविभागाच्च ।।२१।। विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम् ।।२२।। मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत् ।।२३।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।२४।। अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यात् ।।२५।। परिधिर्द्व्यर्थत्वादुभयधर्मा स्यात् ।।२६।। यौप्यस्तु विरोधे स्यान्मुख्यानन्तर्यात् ।।२७।। इतरो वा तस्य तत्र विधानात् ।।२८।। उभयोश्चाङ्गसंयोगः ।।२९।। पशुसवनीयेषु विकल्पः स्याद्वैकृतश्चेदुभयोरश्रुतिभूतत्वात् ।।३०।। पाशुकं वा तस्य वैशेषिकाम्नानात्तदनर्थकं विकल्पे स्यात् ।।३१।। पशोश्च विप्रकर्षस्तन्त्रमध्ये विधानात् ।।३२।। अपूर्वं च प्रकृतौ समानतन्त्रा चेदनित्यत्वादनर्थकं हि स्यात् ।।३३।। अधिकश्च गुणः साधारणेऽविरोधात्कांस्य- भोजिवदमुख्येऽपि ।।३४।। तत्प्रवृत्या तु तन्त्रस्य नियमः स्याद्यथा पाशुकं सूक्तवाकेन ।।३५।। न वाऽविरोधात् ।।३६।। शास्त्रलक्षणाच्च ।।३७।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

विश्वजिति वत्सत्वङ्नामधेयादितरथा तन्त्रभूयस्त्वादहतं स्यात् ।।१।। अविरोधो वा उपरिवासो हि वत्सत्वक् ।।२।। अनुनिर्वाप्येषु भूयस्त्वेन तन्त्रनियमः स्यात् ।।३।। आगन्तुकाद्वा स्वधर्मा स्यात् श्रुतिविशेषादितरस्य च मुख्यत्वात् ।।४।। स्वस्थानत्वाच्च ।।५।। स्विष्टकृच्छ्रवणान्नेति चेत् ।।६।। विकारः पवमानवत् ।।७।। अविकारो वा प्रकृतिवच्चोदनां प्रति भावाच्च ।।८।। एककर्मणि शिष्टत्वाद्गुणानां सर्वकर्म स्यात् ।।९।। एकार्थास्तु विकल्पेरन् समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यात्प्रधानस्य ।।१०।। अभ्यस्येतार्थवत्त्वादिति चेत् ।।११।। नाश्रुतित्वात् ।।१२।। सति चाभ्यासशास्त्रत्वात् ।।१३।। विकल्पवच्च दर्शयति ।।१४।। कालान्तरेऽर्थवत्त्वं स्यात् ।।१५।। प्रायश्चित्तेषु चैकार्थ्यान्निष्पन्नेनाभिसंयोगस्तस्मात्सर्वस्य निर्घातः ।।१६।। समुच्चयस्त्वदोषो निर्घातार्थेषु ।।१७।। मन्त्राणां कर्मसंयोगात्स्वधर्मेण प्रयोगः स्याद्धर्मस्य तन्निमित्तत्वात् ।।१८।। विद्यां प्रतिविधानाद्वा सर्वकालं प्रयोगः स्यात्कर्मार्थत्वात् प्रयोगस्य ।।१९।। भाषास्वरोपदेशेषु ऐरवत्प्रवचनप्रतिषेधः स्यात् ।।२०।। मन्त्रोपदेशो वा न भाषिकस्य प्रायोपपत्तेर्भाषिकश्रुतिः ।।२१।। विकारः कारणाग्रहणे ।।२२।। तन्न्यायत्वाददृष्टोऽप्येवम् ।।२३।। तदुत्पत्तेर्वा प्रवचनलक्षणत्वात् ।।२४।। मन्त्राणां करणार्थत्वान्मन्त्रान्तेन

कर्मादिसन्निपातः स्यात्सर्वस्य वचनार्थत्वात् ।।२५।। सन्ततवचनाद्धारायामादिसंयोगः ।।२६।। कर्मसन्तानो वा नानाकर्मत्वादितरस्याशक्यत्वात् ।।२७।। आधारे च दीर्घधारत्वात् ।।२८।। मन्त्राणां सन्निपातित्वादेकार्थानां विकल्पः स्यात् ।।२९।। संख्याविहितेषु समुच्चयोऽसन्निपातित्वात् ।।३०।। ब्राह्मणविहितेषु च संख्यावत् सर्वेषामुपदिष्टत्वात् ।।३१।। याज्यावषट्कारयोश्च समुच्चयदर्शनं तद्वत् ।।३२।। विकल्पो वा समुच्चयस्याश्रुतित्वात् ।।३३।। गुणार्थत्वादुपदेशस्य ।।३४।। वषट्कारे नानार्थत्वात्समुच्चयः ।।३५।। हौत्रास्तु विकल्प्येरन्नेकार्थत्वात् ।।३६।। समुच्चयो वा क्रियमाणानुवादित्वात् ।।३७।। समुच्चयं च दर्शयति ।।३८।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

जपाश्चाकर्मसंयुक्ता स्तुत्याशीरभिधानाच्च याजमानेषु समुच्चयः स्यादाशीः पृथक्त्वात् ।।१।। समुच्चयं च दर्शयति ।।२।। याज्यानुवाक्यासु तु विकल्पः स्याद्दैवतोपलक्षणार्थत्वात् ।।३।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।४।। क्रयणेषु त्वविकल्पः स्यादेकार्थत्वात् ।।५।। समुच्चयो वा प्रयोगे द्रव्यसमवायात् ।।६।। समुच्चयं च दर्शयति ।।७।। संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ।।८।। संख्यासु तु विकल्पः स्यात् श्रुतिविप्रतिषेधात् ।।९।। द्रव्यविकारं तु पूर्ववदर्थकर्म स्यात्तथा विकल्पे न नियमः प्रधानत्वात् ।।१०।। द्रव्यत्वेऽपि समुच्चयो द्रव्यस्य कर्मनिष्पत्तेः प्रतिपशु कर्मभेदादेवं सति यथाप्रकृति ।।११।। कपालेऽपि तथेति चेत् ।।१२।। न कर्मणः परार्थत्वात् ।।१३।। प्रतिपत्तिस्तु शेषत्वात् ।।१४।। शृतेऽपि पूर्ववत्त्वात् स्यात् ।।१५।। विकल्पे त्वर्थकर्म नियमप्रधानत्वात् शेषे च कर्मकार्यसमवायात्तस्मात्तेनार्थकर्म स्यात् ।।१६।। उखायां काम्यनित्यसमुच्चयो नियोगे कामदर्शनात् ।।१७।। असति चासंस्कृतेषु कर्म स्यात् ।।१८।। तस्य च देवतार्थत्वात् ।।१९।। विकारो वा तदुक्तहेतुः ।।२०।। वचनादसंस्कृतेषु कर्म स्यात् ।।२१।। संसर्गे चापि दोषः स्यात् ।।२२।। वचनादिति चेत् ।।२३।। तथेतरस्मिन् ।।२४।। उत्सर्गेऽपि परिग्रहः कर्मणः कृतत्वात् ।।२५।। स आहवनीयः स्यादाहुतिसंयोगात् ।।२६।। अन्यो वोद्धृत्याऽऽहरणात् ।।२७।। तस्मिन् संस्कारकर्म शिष्टत्वात् ।।२८।। स्थानाद्वा परिलुप्येरन् ।।२९।। नित्यधारणे विकल्पो न ह्यकस्मात्प्रतिषेधः स्यात् ।।३०।। नित्यधारणाद्वा प्रतिषेधो गतश्रियः ।।३१।। परार्थान्येको यजमानगणे ।।३२।। अनियमोऽविशेषात् ।।३३।। मुख्यो वाविप्रतिषेधात् ।।३४।। सत्रे गृहपतिरसंयोगाद्धौत्रवत् ।।३५।। आम्नायवचनाच्च ।।३६।। सर्वैर्वा तदर्थत्वात् ।।३७।। गृहपतिरिति च समाख्यासामान्यात् ।।३८।। विप्रतिषेधे परम् ।।३९।। हौत्रे परार्थत्वात् ।।४०।। वचनं परम् ।।४१।। प्रभुत्वादार्त्विज्यं सर्ववर्णानां स्यात् ।।४२।। स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम् ।।४३।। फलचमसविधानाच्चेतरेषाम् ।।४४।। सान्नाय्येऽप्येवं प्रतिषेधः सोमपीथहेतुत्वात् ।।४५।। चतुर्धाकरणे च निर्देशात् ।।४६।। अन्वाहार्ये च दर्शनात् ।।४७।।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।। इति द्वादशोऽध्यायः ।।

।। समाप्तं चेदं मीमांसादर्शनम् ।।

वेदान्तदर्शनम्

अथ प्रथमाध्याये प्रथमः पादः

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।।१।। जन्माद्यस्य यतः ।।२।। शास्त्रयोनित्वात् ।।३।। तत्तु समन्वयात् ।।४।। ईक्षतेर्नाशब्दम् ।।५।। गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।।६।। तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।।७।। हेयत्वावचनाच्च ।।८।। स्वाप्यात् ।।९।। गतिसामान्यात् ।।१०।। श्रुतत्वाच्च ।।११।। आनन्दमयोऽभ्यासात् ।।१२।। विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ।।१३।। तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।।१४।। मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ।।१५।। नेतरोऽनुपपत्तेः ।।१६।। भेदव्यपदेशाच्च ।।१७।। कामाच्च नानुमानापेक्षा ।।१८।। अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ।।१९।। अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।।२०।। भेदव्यपदेशाच्चान्यः ।।२१।। आकाशस्तल्लिङ्गात् ।।२२।। अत एव प्राणः ।।२३।। ज्योतिश्चरणाभिधानात् ।।२४।। छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम् ।।२५।। भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।।२६।। उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्य-विरोधात् ।।२७।। प्राणस्तथाऽनुगमात् ।।२८।। न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ।।२९।। शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ।।३०।। जीवमुख्यप्राणिलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ।।३१।।

।। इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।।१।। विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।।२।। अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।।३।। कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।।४।। शब्दविशेषात् ।।५।। स्मृतेश्च ।।६।। अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।।७।। सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ।।८।। अत्ता चराचरग्रहणात् ।।९।। प्रकरणाच्च ।।१०।। गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।।११।। विशेषणाच्च ।।१२।। अन्तर उपपत्तेः ।।१३।। स्थानादिव्यपदेशाच्च ।।१४।। सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।।१५।। श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।।१६।। अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।।१७।। अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।।१८।। न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ।।१९।। शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।।२०।। अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।।२१।। विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ ।।२२।। रूपोपन्यासाच्च ।।२३।। वैश्वानरः साधारणशब्द-विशेषात् ।।२४।। स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।।२५।। शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेन्नः, तथादृष्ट्युपदेशादसम्भवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ।।२६।। अत एव न देवता भूतञ्च ।।२७।। साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।।२८।। अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।।२९।। अनुस्मृतेर्बादरिः ।।३०।। सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ।।३१।। आमनन्ति चैनमस्मिन् ।।३२।।

।। इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

अथ प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।।१।। मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।।२।। नानुमानमतच्छब्दात् ।।३।। प्राणभृच्च ।।४।। भेदव्यपदेशात् ।।५।। प्रकरणात् ।।६।। स्थित्यदनाभ्याञ्च ।।७।। भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।।८।। धर्मोपपत्तेश्च ।।९।। अक्षरमम्बरान्तधृतेः ।।१०।। सा च प्रशासनात् ।।११।। अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।।१२।। ईक्षति कर्मव्यपदेशात् सः ।।१३।। दहर उत्तरेभ्यः ।।१४।। गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गञ्च ।।१५।। धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।।१६।। प्रसिद्धेश्च ।।१७।। इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ।।१८।। उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।।१९।। अन्यार्थश्च परामर्शः ।।२०।। अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ।।२१।। अनुकृतेस्तस्य च ।।२२।। अपि च स्मर्यते ।।२३।। शब्दादेव प्रमितः ।।२४।। हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।।२५।। तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ।।२६।। विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।।२७।। शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।।२८।। अत एव च नित्यत्वम् ।।२९।। समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ।।३०।। मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ।।३१।। ज्योतिषि भावाच्च ।।३२।। भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।।३३।। शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि ।।३४।। क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।।३५।। संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च ।।३६।। तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ।।३७।। श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ।।३८।। प्राणः कम्पनात् ।।३९।। ज्योतिर्दर्शनात् ।।४०।। आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।।४१।। सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।।४२।। पत्यादिशब्देभ्यः ।।४३।।

।। इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

अथ प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न; शरीररूपकविन्यस्तगृहीते दर्शयति च ।।१।। सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।।२।। तदधीनत्वादर्थवत् ।।३।। ज्ञेयत्वावचनाच्च ।।४।। वदतीति चेन्न; प्राज्ञो हि प्रकरणात् ।।५।। त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।।६।। महद्वच्च ।।७।। चमसवदविशेषात् ।।८।। ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ।।९।। कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।।१०।। न संख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।।११।। प्राणादयो वाक्यशेषात् ।।१२।। ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ।।१३।। कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः ।।१४।। समाकर्षात् ।।१५।। जगद्वाचित्वात् ।।१६।। जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ।।१७।। अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ।।१८।। वाक्यान्वयात् ।।१९।। प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ।।२०।। उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ।।२१।। अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।।२२।। प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।।२३।। अभिध्योपदेशाच्च ।।२४।। साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।।२५।। आत्मकृतेः परिणामात् ।।२६।। योनिश्च हि गीयते ।।२७।। एतेन सर्वे व्याख्याताः व्याख्याताः ।।२८।।

।। इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाश दोषप्रसङ्गात् ।।१।। इतरेषाञ्चानुपलब्धेः ।।२।। एतेन योगः प्रत्युक्तः ।।३।। न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात् ।।४।। अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।।५।। दृश्यते तु ।।६।। असदिति चेन्न; प्रतिषेधमात्रत्वात् ।।७।। अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ।।८।। न तु दृष्टान्तभावात् ।।९।। स्वपक्षदोषाच्च ।।१०।। तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ।।११।। एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ।।१२।। भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ।।१३।। तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।।१४।। भावे चोपलब्धेः ।।१५।। सत्वाच्चावरस्य ।।१६।। असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ।।१७।। युक्तेः शब्दान्तराच्च ।।१८।। पटवच्च ।।१९।। यथा च प्राणादि ।।२०।। इतरव्यपदेशाद् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।।२१।। अधिकं तु भेदनिर्देशात् ।।२२।। अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ।।२३।। उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवृद्धि ।।२४।। देवादिवदपि लोके ।।२५।। कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ।।२६।। श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ।।२७।। आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ।।२८।। स्वपक्षदोषाच्च ।।२९।। सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।।३०।। विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।।३१।। न प्रयोजनवत्त्वात् ।।३२।। लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।।३३।। वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ।।३४।। न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ।।३५।। उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।।३६।। सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।।३७।।

।। इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।।१।। प्रवृत्तेश्च ।।२।। पयोऽम्बुवच्चेत् तत्रापि ।।३।। व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ।।४।। अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।।५।। अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ।।६।। पुरुषाश्मवदिति चेत् तथापि ।।७।। अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ।।८।। अन्यथानुमित्तौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ।।९।। विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ।।१०।। महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।।११।। उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ।।१२।। समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ।।१३।। नित्यमेव च भावात् ।।१४।। रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ।।१५।। उभयथा च दोषात् ।।१६।। अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ।।१७।। समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ।।१८।। इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ।।१९।। उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ।।२०।। असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ।।२१।। प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ।।२२।। उभयथा च दोषात् ।।२३।। आकाशे चाविशेषात् ।।२४।। अनुस्मृतेश्च ।।२५।। नासतोऽदृष्टत्वात् ।।२६।। उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ।।२७।। नाभाव उपलब्धेः ।।२८।। वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।।२९।। न भावोऽनुपलब्धेः ।।३०।। क्षणिकत्वाच्च ।।३१।। सर्वथानुपपत्तेश्च ।।३२।। नैकस्मिन्न सम्भवात् ।।३३।। एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ।।३४।। न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ।।३५।। अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ।।३६।। पत्युरसामञ्जस्यात् ।।३७।। सम्बन्धानुपपत्तेश्च ।।३८।। अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।।३९।। करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।।४०।। अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।।४१।।

उत्पत्त्यसम्भवात् ।।४२।। न च कर्तुः करणम् ।।४३।। विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।।४४।। विप्रतिषेधाच्च ।।४५।।

।। इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

न वियदश्रुतेः ।।१।। अस्ति तु ।।२।। गौण्यसम्भवात् ।।३।। शब्दाच्च ।।४।। स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ।।५।। प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ।।६।। यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ।।७।। एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।।८।। असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।।९।। तेजोऽतस्तथा ह्याह ।।१०।। आपः ।।११।। पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ।।१२।। तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ।।१३।। विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।।१४।। अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ।।१५।। चराचरव्यपाश्रयस्तु तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ।।१६।। नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।।१७।। ज्ञोऽत एव ।।१८।। उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ।।१९।। स्वात्मना चोत्तरयोः ।।२०।। नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।।२१।। स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ।।२२।। अविरोधश्चन्दनवत् ।।२३।। अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युमगमाद् हृदि हि ।।२४।। गुणाद्वा लोकवत् ।।२५।। व्यतिरेको गन्धवत् ।।२६।। तथा च दर्शयति ।।२७।। पृथगुपदेशात् ।।२८।। तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।।२९।। यावदात्मभावित्वाच्च न दोष-स्तद्दर्शनात् ।।३०।। पुंस्त्वादिवत्तस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ।।३१।। नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ।।३२।। कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ।।३३।। विहारोपदेशात् ।।३४।। उपादानात् ।।३५।। व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।।३६।। उपलब्धिवदनियमः ।।३७।। शक्तिविपर्ययात् ।।३८।। समा-ध्यभावाच्च ।।३९।। यथा च तक्षोभयथा ।।४०।। परात्तु तत् श्रुतेः ।।४१।। कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।।४२।। अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ।।४३।। मन्त्रवर्णाच्च ।।४४।। अपि च स्मर्यते ।।४५।। प्रकाशदिवन्नैवं परः ।।४६।। स्मरन्ति च ।।४७।। अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।।४८।। असन्ततेश्चाव्यतिकरः ।।४९।। आभास एव च ।।५०।। अदृष्टानियमात् ।।५१।। अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ।।५२।। प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ।।५३।।

।। इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः

तथा प्राणाः ।।१।। गौण्यसम्भवात् ।।२।। तत्प्राक् श्रुतेश्च ।।३।। तत्पूर्वकत्वाद् वाचः ।।४।। सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।।५।। हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।।६।। अणवश्च ।।७।। श्रेष्ठश्च ।।८।। न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।।९।। चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।।१०।। अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि

दर्शयति ।।११।। पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ।।१२।। अणुश्च ।।१३।। ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।।१४।। प्राणवता शब्दात् ।।१५।। तस्य च नित्यत्वात् ।।१६।। त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।।१७।। भेदश्रुतेः ।।१८।। वैलक्षण्याच्च ।।१९।। संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ।।२०।। मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।।२१।। वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ।।२२।।

।। इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

अथ तृतीयाध्याये प्रथमः पादः

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।।१।। त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।।२।। प्राणगतेश्च ।।३।। अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ।।४।। प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ।।५।। अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।।६।। भाक्तं वाऽनात्मवित्वात् तथा हि दर्शयति ।।७।। कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ।।८।। चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।।९।। आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।।१०।। सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ।।११।। अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।।१२।। संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ।।१३।। स्मरन्ति च ।।१४।। अपि च सप्त ।।१५।। तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ।।१६।। विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।।१७।। न तृतीये तथोपलब्धेः ।।१८।। स्मर्यतेऽपि च लोके ।।१९।। दर्शनाच्च ।।२०।। तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।।२१।। साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ।।२२।। नातिचिरेण विशेषात् ।।२३।। अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ।।२४।। अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।।२५।। रेतः सिग्योगोऽथ ।।२६।। योनेः शरीरम् ।।२७।।

।। इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।।१।। निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।।२।। मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।।३।। सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।।४।। पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।।५।। देहयोगाद्वा सोऽपि ।।६।। तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।।७।। अतः प्रबोधोऽस्मात् ।।८।। स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।।९।। मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ।।१०।। न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।।११।। न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।।१२।। अपि चैवमेके ।।१३।। अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।।१४।। प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।।१५।। आह च तन्मात्रम् ।।१६।। दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ।।१७।। अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ।।१८।। अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्त्वम् ।।१९।। वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ।।२०।। दर्शनाच्च ।।२१।। प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।।२२।। तदव्यक्तमाह हि ।।२३।। अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।।२४।। प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।।२५।। अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।।२६।। उभयव्यपेदशात्वहिकुण्डलवत् ।।२७।। प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।।२८।। पूर्ववद्वा ।।२९।। प्रतिषेधाच्च

।।३०।। परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।।३१।। सामान्यात्तु ।।३२।। बुद्ध्यर्थः पादवत् ।।३३।। स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ।।३४।। उपपत्तेश्च ।।३५।। तथाऽन्यप्रतिषेधात् ।।३६।। अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।।३७।। फलमत उपपत्तेः ।।३८।। श्रुतत्वाच्च ।।३९।। धर्मं जैमिनिरत एव ।।४०।। पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ।।४१।।

।। इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।।१।। भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ।।२।। स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ।।३।। दर्शयति च ।।४।। उपसंहारोऽर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च ।।५।। अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ।।६।। न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ।।७।। संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।।८।। व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।।९।। सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।।१०।। आनन्दादयः प्रधानस्य ।।११।। प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ।।१२।। इतरे त्वर्थसामान्यात् ।।१३।। आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।।१४।। आत्मशब्दाच्च ।।१५।। आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।।१६।। अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ।।१७।। कार्याख्यानादपूर्वम् ।।१८।। समान एवं चाभेदात् ।।१९।। सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ।।२०।। न वा विशेषात् ।।२१।। दर्शयति च ।।२२।। सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।।२३।। पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नात् ।।२४।। वेधाद्यर्थभेदात् ।।२५।। हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दः स्तुत्युपगानवत् तदुक्तम् ।।२६।। साम्पराये तर्त्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ।।२७।। छन्दत उभयाविरोधात् ।।२८।। गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ।।२९।। उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।।३०।। अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।।३१।। यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।।३२।। अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम् ।।३३।। इयदामननात् ।।३४।। अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ।।३५।। अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ।।३६।। व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ।।३७।। सैव हि सत्यादयः ।।३८।। कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।।३९।। आदरादलोपः ।।४०।। उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।।४१।। तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ।।४२।। प्रदानवदेव तदुक्तम् ।।४३।। लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।।४४।। पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत् ।।४५।। अतिदेशाच्च ।।४६।। विद्यैव तु निर्धारणात् ।।४७।। दर्शनाच्च ।।४८।। श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।।४९।। अनुबन्धादिभ्य प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ।।५०।। न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ।।५१।। परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।।५२।। एक आत्मनः शरीरे भावात् ।।५३।। व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ।।५४।। अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।।५५।। मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ।।५६।। भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ।।५७।। नाना शब्दादिभेदात् ।।५८।। विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ।।५९।। काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ।।६०।। अङ्गेषु यथाश्रयभावः ।।६१।। शिष्टेश्च ।।६२।। समाहारात् ।।६३।। गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ।।६४।। न वा तत्सहभावाश्रुतेः ।।६५।। दर्शनाच्च ।।६६।।

।। इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

अथ तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।।१।। शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।।२।। आचारदर्शनात् ।।३।। तच्छ्रुतेः ।।४।। समन्वारम्भणात् ।।५।। तद्वतो विधानात् ।।६।। नियमाच्च ।।७।। अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।।८।। तुल्यं तु दर्शनम् ।।९।। असार्वत्रिकी ।।१०।। विभागः शतवत् ।।११।। अध्ययनमात्रवतः ।।१२।। नाविशेषात् ।।१३।। स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।।१४।। कामकारेण चैके ।।१५।। उपमर्दं च ।।१६।। ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ।।१७।। परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ।।१८।। अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।।१९।। विधिर्वा धारणवत् ।।२०।। स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।।२१।। भावशब्दाच्च ।।२२।। पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ।।२३।। तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ।।२४।। अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।।२५।। सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।।२६।। शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।।२७।। सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।।२८।। अवाधाच्च ।।२९।। अपि च स्मर्यते ।।३०।। शब्दश्चातोऽकामकारे ।।३१।। विहितत्वाच्चाश्रमकर्माऽपि ।।३२।। सहकारित्वेन च ।।३३।। सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ।।३४।। अनभिभवं च दर्शयति ।।३५।। अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ।।३६।। अपि च स्मर्यते ।।३७।। विशेषानुग्रहश्च ।।३८।। अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ।।३९।। तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ।।४०।। नाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ।।४१।। उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत् तदुक्तम् ।।४२।। बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ।।४३।। स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।।४४।। आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ।।४५।। श्रुतेश्च ।।४६।। सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।।४७।। कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।।४८।। मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।।४९।। अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।।५०।। ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।।५१।। एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थाधृतेस्तदवस्थाधृतेः ।।५२।।

।। इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

अथ चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।।१।। लिङ्गाच्च ।।२।। आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।।३।। न प्रतीके न हि सः ।।४।। ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।।५।। आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ।।६।। आसीनः सम्भवात् ।।७।। ध्यानाच्च ।।८।। अचलत्वं चापेक्ष्य ।।९।। स्मरन्ति च ।।१०।। यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।।११।। आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ।।१२।। तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।।१३।। इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।।१४।। अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ।।१५।। अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।।१६।। अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ।।१७।। यदेव विद्ययेति हि ।।१८।। भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ।।१९।।

।। इति चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः ।।

अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।।१।। अत एव च सर्वाण्यनु ।।२।। तन्मनः प्राण उत्तरात् ।।३।। सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ।।४।। भूतेषु तत् श्रुतेः ।।५।। नैकस्मिन् दर्शयतो हि ।।६।। समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।।७।। तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ।।८।। सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।।९।। नोपमर्देनातः ।।१०।। अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ।।११।। प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ।।१२।। स्पष्टो ह्येकेषाम् ।।१३।। स्मर्यते च ।।१४।। तानि परे तथा ह्याह ।।१५।। अविभागो वचनात् ।।१६।। तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।।१७।। रश्म्यनुसारी ।।१८।। निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च ।।१९।। अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।।२०।। योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्त्ते चैते ।।२१।।

।। इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

अथ चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।।१।। वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ।।२।। तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ।।३।। आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।।४।। उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ।।५।। वैद्युतेनैव ततस्तत् श्रुतेः ।।६।। कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।।७।। विशेषितत्वाच्च ।।८।। सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।।९।। कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।।१०।। स्मृतेश्च ।।११।। परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ।।१२।। दर्शनाच्च ।।१३।। न च कार्ये प्रतिपत्यभिसन्धिः ।।१४।। अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात् तत्क्रतुश्च ।।१५।। विशेषं च दर्शयति ।।१६।।

।। इति चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।।१।। मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।।२।। आत्मा प्रकरणात् ।।३।। अविभागेन दृष्टत्वात् ।।४।। ब्राह्मणे जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।।५।। चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।।६।। एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ।।७।। सङ्कल्पादेव तु तत् श्रुतेः ।।८।। अत एव चानन्याधिपतिः ।।९।। अभावं बादरिराह ह्येवम् ।।१०।। भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।।११।। द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।।१२।। तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।।१३।। भावे जाग्रद्वत् ।।१४।। प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ।।१५।। स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ।।१६।। जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।।१७।। प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्योक्तेः ।।१८।। विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह ।।१९।। दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।।२०।। भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ।।२१।। अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।।२२।।

।। इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।। समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।।

परिशिष्ट—४

शब्दानुक्रमणी

परिशिष्ट–५

नामानुक्रमणी

प्रकाशित ग्रन्थ

- शंकराचार्य : उनके मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन (पुरस्कृत)। प्रथम संस्करण, साहित्य भण्डार, मेरठ, १६६३। द्वितीय संस्करण, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १६८८।
- विश्वसंस्कृति, साधना प्रेस, मुरादाबाद, १६६४।
- वैदिक साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, साहित्य भण्डार, मेरठ, १६६७। द्वितीय संस्करण ई. बी. एल., १६८७।
- अभिज्ञानशाकुन्तलम् (सम्पादित), साहित्य भण्डार, मेरठ, १६६६। द्वितीय संस्करण, ई. बी.एल., दिल्ली, १६८६।
- अद्वैत वेदान्त : इतिहास तथा सिद्धान्त (डी. लिट्. का शोधप्रबन्ध), नेशनल, दिल्ली, १६७८। द्वितीय संस्करण, ई.बी.एल., दिल्ली, १६८७। तृतीय संस्करण, ई.बी. एल., दिल्ली, १६६७। (पुरस्कृत)
- वेदान्तसार (सम्पादित), प्रथम संस्करण, नेशनल, दिल्ली, १६७८ (पुरस्कृत)। द्वितीय संस्करण, ई.बी.एल., दिल्ली, १६८७।
- ध्वनिसिद्धान्त, अजन्ता इन्टरनेशनल, दिल्ली, १६७८। (सम्पादित)
- संस्कृतनिबन्धादर्शः साहित्यनिकेतन, कानपुर, १६७६।
- Some Aspects of Advaita Philosophy ई.बी.एल., दिल्ली, १६८५।
- Glimpses of Vedanta, ई.बी.एल., दिल्ली, १६८६।
- Encyclopaedia of Vedanta, ई.बी.एल., दिल्ली, १६६३ (Foreword by Dr. Shanker Dayal Sharma, Former President of India)
- The Veda and Vedanta, ई.बी.एल., दिल्ली, १६६४।
- Vedic Cosmogony, धर्म हिन्दुजा इन्टरनेशनल सेन्टर फॉर वैदिक रिसर्च, दिल्ली, १६६४।
- वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप एवं जीवनदर्शन, ई.बी.एल., दिल्ली, १६६७।
- न्याय-वैशेषिक–एक चिन्तन, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, १६६७।
- वेदान्तसूक्तयः, संस्कृत अकादमी, दिल्ली, १६६६।
- संस्कृतश्वेतपत्रम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २०००।

SOME OPINIONS

DR. RADHAKRISHNAN writes about his Ph.D. Thesis on Sankaracarya : 'Best wishes for the publication of the work which I hope will be read widely'.

PRESIDENT DR. SHANKAR DAYAL SHARMA comments on his Encyclopaedia of Vedanta : 'The preparation of an encyclopaedia of Vedanta is an extremely challanging task. Few would be equal to it. This volume compiled by Prof. Rammurti Sharma and his eminent colleagues is an endeavour representing international academic co-operation and years of painstaking labour'.

PROF. HAJIME NAKAMURA (Tokyo, Japan) mentions him as : 'One of the leading scholars of Asian religion philosophy in India'.

सम्माननीय प्रधानमन्त्री, श्री अटल बिहारी वाजपेयी की संस्कृतश्वेतपत्रम् पर सम्मति– संस्कृत श्वेतपत्र के माध्यम से आपने साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक क्षेत्र में संस्कृत भाषा के बहुमूल्य योगदान का जो विवेचन किया है वह निःसंदेह सराहनीय है।

PROF. FERNANDO TOLA (Argentina) describes him as : 'Among the modern significant philosophers'.

M.M. DR. UMESH MISHRA writes on his book 'Advaita Vedanta' : 'He had for the first time given a systematic exposition of the development of Advaita from the earliest time till up-to-date.'

PROF. NELSON LUNG (Director, Asian Research Service, Hong Kong) : 'You are among a selected group of scholars to be specially invited to join the International Centre of Asian Studies as a Fellow.'

PROF. GERALD LARSON (California) writes on the book, Some Aspects of Advaita Philosophy : The book, "Some Aspects of Advaita Philosophy" because of its clear and systematic presentation of the subtleties of Vedanta, will be especially welcome to the scholars of Advaita Vedanta. It shows the eminence of Professor Rammurti Sharma whom I consider one of the top most scholars of the field. As I also have seen at the International Conferences, his deliberations have been of a very high calibre.'

PROF. JUAN MIGUEL DE MORA (President, International Sanskrit Symposium, Mexico City) : 'He (Prof. Rammurti Sharma) presented his paper on Drstisrstivada and also delivered a Conference on Advaita Philosophy. His papers were of very high calibre and he made an impression during the deliberations of the symposium.'

"MANIDWEEPA"

BS-5, Shalimar Bagh, Delhi - 110 052 (INDIA)

PH # (011) 7473572